



आचार्यश्री शिवार्य विरचित

# भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित स्वरि रचित विजयोदया टीका  
तथा तदनुसारी हिन्दी टीका सहित

भाग १

पूर्व ग्रंथमाला सम्पादक  
स्व० डॉ० हीरालाल जैन  
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

विद्यमान ग्रंथमाला सम्पादक  
श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री  
सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

सम्पादक एवं अनुवादक  
सिद्धान्ताचार्य श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक  
सेठ लालचन्द हीराचन्द,  
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर

वीर संवत् २५०४ ]

मूल्य २०००

[ ई० सन् १९७८



प्रकाशक  
श्रीमान् सेठ लालचद हीराचंद  
अध्यक्ष-जैन सस्कृति संरक्षक संघ  
सोलापुर

प्रथमावृत्ति  
प्रति ११००

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक  
वर्द्धमान मुद्रणालय,  
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड, रोड,  
वाराणसी-२२१००१

JIVARAJA JAINA, GRANTHAMALA, No. 37

ACHARYA SHRI SHIVARAY'S

# **BHAGVATI—ARADHANA**

With

The Samskrit tika Vijayo-daya of Aparajit surj

Ex. General Editors

**Late Dr H L Jain**

**Late Dr A N Upadhye**

General Editor

**Pt Kailaschandra Shastri**

Edited along with the Hindi Translation etc

*By*

**Pandit Kailaschandra Shastri**

published by  
Lalchand Hirachand

**Jain Samskriti Samrakshaka Sangha**

**Sholapur**

**1978**

Price Rs 20-00

First Edition . 1100 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samraksak  
Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs 20-00 per copy, exclusive of postage

## श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतम चन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कायमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायो पाजित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी समूहीत की, कि कौनसे कार्यमें सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमे स्फुट मत संचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ में श्री० कालमे सिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल बातावरणमे अनेक विद्वानोको आमत्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सन्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन सस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका संरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन सस्कृति संरक्षक सघ' इस नामकी सस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त रु० ३०००० का वृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ मे उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति सघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी सस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन सस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमे ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ-प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वा पुष्प प्रकाशित हो रहा है।



स्व स जीधराज गीतमचंद बोशी  
स्व रो ता १६-१-५७ (पौष शु १५)

## प्रधान सम्पादकीय

प्रस्तुत भगवती आराधना ग्रन्थ जैन साधुके आचारसे सम्बद्ध एक प्राचीन ग्रन्थ है और उसकी टीका विजयोदया भी इस दृष्टिसे अपना विशेष महत्त्व रखती है। ये दोनों एक तीसरे जैन सम्प्रदायके माने जाते हैं जो न दिगम्बर या और न श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय आगम ग्रन्थोंको मान्य नहीं करता और श्वेताम्बर सम्प्रदाय साधुओंके वस्त्र पात्रवादका समर्थक ही नहीं किन्तु पोषक है। किन्तु इस ग्रन्थ और इसकी टीकासे स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ओर इनके रचयिता आगम ग्रन्थोंको मान्य करते हैं तो दूसरी ओर वे वस्त्र पात्रवादके घोर विरोधी प्रतीत होते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि वे ऐसे सम्प्रदायके अनुयायी हैं जो न आगम ग्रन्थोंको अमान्य ही करता है और न वस्त्रपात्र वादको स्वीकार करता है। ऐसा सम्प्रदाय यापनीय ही हो सकता है। किन्तु इस ग्रन्थमें न तो स्त्रीमुक्तिका ही समर्थन है और न केवली भुक्तिका प्रत्युत अन्तमें स्त्रीसे भी वस्त्र त्याग करानेकी इसमें चर्चा है। और यापनीय सधकी ये दोनों मान्यताएं बतलाई जाती हैं। अतः हम नहीं मान सकते कि इस ग्रन्थके कर्ता और टीकाकार वस्त्र-मुक्ति या स्त्री मुक्तिके समर्थक होंगे।

इसमें आगत गाथा न० ४२३ ऐसी गाथा है जो दिगम्बर मूलाचारमें भी आती है और श्वेताम्बरीय आगम साहित्यमें भी आती है। उसमें साधुके दस कल्प बतलाये हैं। कल्प कहते हैं करणीय आचारको। उसमें प्रथम ही कल्प है अचेलक्य। चेल कहते हैं वस्त्रको और अचेलक कहते हैं वस्त्र रहितको। इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने आगमोंके प्रमाण देकर साधुओंके नग्न रहने का ही समर्थन किया है।

आचाराग सूत्रमें (१८२) में कहा है—

‘जो साधु अचेल रहता है उसे यह चिन्ता नहीं होती मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया मैं वस्त्रकी याचना करूंगा। उसे सीनेके लिये धामा और सुईको याचना करूंगा। उसे सीऊंगा। . . . वह अचेलकपनेमें लाघव मानता है, आदि’ आचाराग सूत्र २०९ में कहा है—

‘शीत ऋतु बीत जानेपर, गीष्मऋतु आनेपर यदि वस्त्र जीर्ण न हो तो उन्हें कहीं स्थापित कर दे। अथवा सान्त्तरोत्तर हो जाये या ओमचेल या एक शाटक या अचेल हो जाये।’

टीकाकारने सान्त्तरोत्तरका अर्थ किया है—‘सान्तर है उत्तर-प्रावरणीय जिसका’ अर्थात् शीतको आशकासे वस्त्रको त्यागता नहीं है, कभी ओढ़ लेता और कभी उतारकर पार्श्वमें रख लेता है।

ओमचेलका अर्थ किया है—धीरे धीरे शीतके जाने पर द्वितीयादि वस्त्रको त्याग एक-शाटक हो जाये। अथवा शीत बिल्कुल चले जाने पर उसे भी छोड़कर अचेल हो जाये।

सूत्र २१ में कहा है—निर्ग्रन्थ श्रमणोंके लिये पांच कारणोंसे अचेलपना प्रशस्त है—प्रति-लेखना अल्प होती है, स्वामाविक रूप है, तप होता है लाघव है, विपुल इन्द्रिय निग्रह होता है।

स्थानाग सूत्र १७१ में वस्त्र धारणके तीन कारण कहे हैं—लज्जा, शरीरका अग विकृत होना, परीषद् सहनमें असमर्थता ।

इस प्रकारसे आगमानुसार भी विशेष अवस्थामें ही वस्त्र को अनुज्ञा थी । किन्तु उत्तरकाल के ग्रन्थकारों और टीकाकारोंने इस प्रकारके वचनोंको जिनकल्पका करार देकर तथा अचेलका अर्थ बदल कर मूल मार्गको तिरोहित ही जैसा कर दिया । जैसे जीतकल्प सूत्रमें आचेलव्य का अर्थ करते हुए कहा है—

दुविहा होति अचेल सताचेल असतचेल य ।

तित्थगरऽसंतचेल सताचेल भवे सेसा ॥१९७५॥

अचेल दो प्रकारके होते हैं एक वस्त्रके रहते हुए अचेल और एक वस्त्ररहित अचेल । तीर्थंकर वस्त्ररहित अचेल हैं । शेष सब वस्त्र सहित अचेल हैं ।

परीषदोमें एक नाग्न्य परीषद् है । निरुक्तमें नाग्न्यका अर्थ इस प्रकार किया है—

यो हताश प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमुचिरे ।

यः सर्वसङ्ग सन्त्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः ॥

अर्थात् जो सर्व परिग्रहसे रहित है उसे नग्न कहते हैं । टीकाकारोंने अल्प वस्त्रधारीको भी नग्न कहा है ।

आगममें परिग्रहका लक्षण मूर्छाभ्रमत्व भाव कहा है । इसको ओटमें परिग्रह रखकर भी यह कहा जाता है कि हमारा ममत्व भाव नहीं है अतः हम अपरिग्रही हैं ।

आराधना और उसकी टीकामें परिग्रह भावका विस्तार से निराकरण किया है । आजकल दिगम्बर परम्परामें भी साधु मात्र शरीरसे तो नग्न रहते हैं किन्तु अन्तरगसे नग्न तो विरल हैं । परिग्रहसे ममत्व छूटना बहुत कठिन है । वही ससारका कारण है । अतः यदि साधु बनकर भी परिग्रहका मोह नहीं छूटता तो साधुपना ही विडम्बना है । यह आवश्यक नहीं है कि सामर्थ्य न होते हुए भी साधु बनना ही चाहिये । साधु पद स्वयं एक साधना है । उसकी साधना गृहस्थाश्रममें की जाती है । गृहस्थाश्रम उसीके लिये है । जो पाच अणुव्रत पालनका भी अभ्यास नहीं करते वे महाव्रती बन जाते हैं । शरीरकी नग्नताको ही दिगम्बरत्व समझ लिया गया है । दिगम्बरत्वका बेष धारण करके तदनुसार आचरण न करनेसे क्या गति होती है, इसे भी शायद नहीं जानते हैं । सब अपनेको स्वर्गामी मान लेते हैं । किन्तु गृहस्थाश्रमका पाप जो फल देता है । मुनिपदका पाप उससे भयानक फल देता है । अतः मुनिपद धारण करते हुए सबसे प्रथम उस महान् पापसे डरना चाहिए ।

आचार्य शिवायं महाराजने और उनके अन्यतम टीकाकार अपराजित सूरिने आगम ग्रन्थों को आंख बन्द करके स्वीकार नहीं किया यह प्रसन्नताकी बात है । ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आगमोंकी वाचना बलभी वाचनासे, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मानी जाती है अवश्य भिन्न होगी । क्योंकि टीकाकारने जो उद्धरण दिये हैं वे आजके आगमोंमें कम ही मिलते हैं ।

जिस सम्प्रदायका पन्द्रहवीं शताब्दी तक पता लगता है और जिसमें शाकटायन और

स्वयंभू जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् हुए हैं उसका साहित्य सर्वथा नष्ट हो गया हो, इस बातपर सहसा विश्वास नहीं होता। प्राचीन भण्डारोंमें वह अवश्य ज्ञात अज्ञात रूपमें पड़ा होगा।

श्रीयुक्त प्रेमीजीके इस कथनको भुलाना नहीं चाहिये। अकेले भ० आ० पर ही अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं और वे विक्रमकी १३वीं शताब्दी तक वर्तमान थी। उनकी खोज होना आवश्यक है। अभीतक छोटे-छोटे स्थानोंके शास्त्र भण्डारोंकी छान बीन नहीं की गई है। ऐसे स्थानोंसे भी कभी कभी ग्रन्थरत्नोंकी प्राप्ति हो जाती है। एकबार सब शास्त्र भण्डारोंकी छानबीन होना आवश्यक है। स्थानीय शास्त्र स्वाध्याय प्रेमी इस ओर यदि ध्यान दे तो यह खोज सरलतासे हो सकती है। प्राचीन शास्त्रोंकी पाण्डुलिपियोंकी सुरक्षाका प्रबन्ध होना चाहिये।

कैलाशचन्द्र शास्त्री  
ग्रन्थमाला सम्पादक

## प्रस्तावना

### १. प्रतियोगिका परिचय

भगवती आराधना या मूलाराधनाका प्रथम संस्करण ५० सदासुखदासजीकी हूँदारी भाषाकी टीकाके साथ सन् १९०९ में प्रकाशित हुआ था। उसका दूसरा संस्करण १९३२ में श्री अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। किन्तु विजयोदया टीका, मूलाराधनादर्पण और आचार्य अमितगति रचित संस्कृत पद्योके साथ उसका प्रथम संस्करण शोलापुरसे १९३५ में प्रकाशित हुआ था। उसका सम्पादन भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूनासे प्राप्त प्रतियोगिका आधारपर ५० जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्रीने हिन्दी अनुवादके साथ किया था।

हमने उसी संस्करणको आधार बनाकर उसका पुन सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद किया है। उसके सम्पादनके लिये हस्तलिखित प्रतियोगिका खोज करते हुए हमें दो प्रतियाँ शुद्ध प्राप्त हो सकी। उनका परिचय इस प्रकार है—

अ प्रति—यह प्रति आमेर शास्त्रभण्डार जयपुर की है जो श्री महावीरजी अतिशयक्षेत्रके महावीर भवन जयपुरसे डा० कस्तूरचन्द काशलीवाल द्वारा प्राप्त हुई थी। प्रतिका लेख अति-सुन्दर और स्पष्ट है। यद्यपि कागज मटमैला हो गया है और छूनेसे टूटता है किन्तु लिपिपर समयका प्रभाव नहीं पड़ा है। प्रति प्राचीन और प्रामाणिक प्रतीत हुई। पृष्ठ संख्या ४९८ है। प्रत्येक पत्रमें १० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ४०-४२ अक्षर है। दूसरी आ प्रतिसे उसमें वैशिष्ट्य है अनेक पाठभेद हैं। इसमें गाथा संख्या २१४८ है। पूर्ण संख्या सौ पूरी होनेपर पूर्ण संख्या दी है और आगे एक दोसे प्रारम्भ किया है। इसका लेखनकाल सम्बत् १७६० है यथा—

‘सम्बत् १७६० वर्षे माघमासे कृष्णपक्षे दशम्या तिथौ गुरुवासरे श्री सयामपुरमध्ये लिखितमिदम्।’

वि० सं० १९१५ मे पण्डित जगन्नाथने इसे भट्टारक देवेन्द्रकीतिको भेंटमे दिया था।

‘आ’-प्रति—यह प्रति धर्मपुरा दिल्लीमे स्थित लाला हरसुखराय शुगनचन्दके मन्दिरके वि० जैन सरस्वती भण्डारसे लाला पन्नालालजी अग्रवाल द्वारा प्राप्त हुई थी। इसका नम्बर ऊ ४ (क) है। पृष्ठ संख्या ३१२ है। प्रत्येक पत्रमें १५ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ४५ अक्षर हैं। गाथा संख्या २१४८ है। इसमें भी जहाँ संख्या सौ पूरी होती है वहाँ पूर्णाङ्क देकर आगे एक दोसे प्रारम्भ किया है। साधारणतया शुद्ध है किन्तु सयुक्त अक्षर स्पष्टरूपसे नहीं लिखे गये हैं। इसका लेखनकाल १८६३ सम्बत् है। यथा—

सम्बत् १८६३ मिति फाल्गुन शुक्लपक्षे तृतीया तिथौ सनिवासरे जैनाश्रमिणा तुलसी-रामेण लिलेख। श्रीरस्तु।

इस तरह इन दो प्रतियोंका ही पूर्णरूपसे उपयोग हो सका है। इनके सिवाय भी जिन प्रतियोंका उपयोग किया जा सका उनका परिचय भी दिया जाता है।

प्रति टोडारार्यासिंह—हम सन् ७५ मे दशलाक्षपीपर्वमें अजमेर गये थे। केकड़ीके प०



रतनलालजी कटारियासे पत्रव्यवहार द्वारा इस प्रतिके पाठादि प्राप्त होते थे। किन्तु अजमेरमें हमे यह प्रति कुछ समयके लिए प्राप्त हो गयी थी।

इसकी पत्र संख्या ३७९ है। प्रत्येक पृष्ठमें पन्द्रह पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें छत्तीस अक्षर है। गाथा संख्या २१४८ है। लेख अगुद्ध है। यथा—सम्यक्के स्थानमें प्रायः सस्यक् लिखा है इसका लेखनकाल सम्बत् १९९९ है। यथा—

अथ संवत्सरे १९९९ वर्षे मासाना मासोत्तममासे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे तिथी ५ बुधवासरे लिपिकृतं महात्मा गुमानरावदेव गाव वास्तव्यं । शुभभूयात् ।'

अजमेरमें ही हमे भट्टारकजीके मन्दिरके भण्डारसे एक प्रति सेठ भागचन्दजी सोनी तथा पं० सुजानमलजी सोनीके प्रयत्नसे जिस किसी तरह कुछ समयके लिए प्राप्त हो सकी थी। उसमें मूलगाथाके ऊपर उसके सस्कृत शब्द भी लिखे हैं। इसकी पत्र संख्या २८१ है।

यह प्रति सम्बत् १९११ की सालमें सेठ जवाहरमलजीके पुत्र मूलचन्दजी सोनीकी माताने भट्टारक रत्नभूषणजीको दी थी। इसमें गाथा संख्या २१६२ है।

ज-प्रति—यह प्रति भी आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर की है। इसका नम्बर ७७८ है। प्रत्येक पत्रमें पंक्तिगाथा प्रायः १४ है, किसी पत्रमें १३ और किसीमें १५ है। प्रत्येक पंक्तिमें ४१ से ४४ तक अक्षर हैं। आमेर शास्त्रभण्डारकी ही 'अ' प्रतिसे प्रायः एकरूपता है। किन्तु लिपि न वैसी सुन्दर है और न सुस्पष्ट। प्रतिके अन्तमें लेखनकाल स० १५१४ दिया है। अन्तिम लेखक प्रशस्ति इस प्रकार है—

सम्बत् १५२१ वर्षे आषाढ वदी १३ बुधदिने गोपाल शुभस्थाने श्रीमूलसधे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीवादिराज श्रीप्रभाचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे श्रीजिनचन्द्रदेवा तत्सिध्दक्षणी क्षुल्लिकी बाई घात्री मात्रा सुनषत लिषापितं इद पुस्तकं ज्ञानावरणीकर्मक्षय निमित्त । ज्ञान वा (न्) ज्ञानदानेन नृभयो (निर्भयो) भयदानत । अन्नदाता सुखी नित्यं न व्याधी भेषजा(न्) भवेत् । यावज्जिनस्य धर्मोऽय लोको स्थिति दयापरा । यावत्सुरनदीवाह तावन्नन्दतु पुस्तक ।

इसमें गाथा स० २१४८ है। पृ० १९१ स २३१ तक नहीं है। पिण्डो उवधि सेज्जाण आदि गाथा ६०६ तक है। फिर 'कामाउरो णरो पुण' आदि गा० ८७७ से प्रारम्भ होता है।

भगवनी आराधनाकी ऐसी कोई प्रति नहीं मिल सकी जिसमें केवल मूलगाथाएँ ही हों। जितनी भी प्रतियाँ उपलब्ध हुईं वे सब विजयोदया टीकाके साथ ही उपलब्ध हुईं। और उनमें ऐसी भी अनेक गाथाएँ सम्मिलित हैं जिनपर विजयोदया टीका नहीं है। पं० आशाधरजीने तो अपने मूलाराधना दर्पण नामक टीकामें ऐसी गाथाओंके सम्बन्धमें प्रायः यह लिख दिया है कि विजयोदयाका कर्ता इस गाथाको मान्य नहीं करता।

विजयोदयाके अध्ययनसे प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूल ग्रन्थ उपस्थित था, उसमें और वर्तमानमें उपलब्ध मूलमें अन्तर है। अनेक गाथाओंमें वे शब्द नहीं मिलते जिनकी व्याख्या टीकामें है। अतः ग्रन्थके मूल पाठका संशोधन प्रायः तब तक संभव नहीं है जब तक केवल मूल ग्रन्थका पाठ उपलब्ध न हो। इसीसे डा० ए० ए० उपाध्येके

परामर्शके अनुसार हमने प्रायः सभी उपलब्ध गाथाओंको स्थान दिया है। ऐसी भी कुछ गाथाएँ मूलमें सम्मिलित हो गई हैं जो विजयोदयामे उद्धृत हैं। हमने उन्हें मूलसे अलग करके टीकामे ही स्थान दिया है। जैसे गाथा ८०० की टीकाके अन्तर्गत हिसाके प्रकरणमे पाँच गाथाएँ 'उक्त च' करके उद्धृत हैं। इसी तरह पाँच परावर्तनके वर्णनमें भी कुछ गाथाएँ उद्धृत हैं। वे सब मूलमें सम्मिलित हो गई हैं। इन दोनोंकी संख्या आठ हो जाती है। फिर भी शोलापुरसे मुद्रित प्रतिमें गाथा संख्या २१७० है और इस संस्करणमे गाथा संख्या २१६४ है। इस तरह केवल छह का अन्तर है।

हमारी अ और आ० प्रतिमें अन्तिम संख्या २१४८ है। इसका कारण यह भी है कि कुछ गाथाओंको क्रमसे सम्मिलित नहीं किया गया है। कही क्रम संख्या छूट गई है।

शोलापुरसे मुद्रित प्रति और उक्त हस्तलिखित प्रतियोंके गाथा क्रमांकका अन्तर नोचे दिया जाता है—

मुद्रित प्रति—२०१, ३०३, ४०४, ५०४, ६०३, ७०७, ८१३, ९१२, १०११, १११४, १२१५, १३१४, १५१५, १६१६, १७१३, १८१६, १९१९, २०२२, २१२०, २१७०। इनके स्थानमे हस्तलिखित प्रतियोमे प्रायः पूर्णाङ्क है अर्थात् जैसे २१२० के स्थान पर २१०० है। केवल २१७० के स्थानमे २१४८ है।

अब शोलापुरसे प्रकाशित संस्करण और वर्तमान प्रस्तुत संस्करणके गाथा अन्तरको स्पष्ट करना उचित होगा।

प्रारम्भसे २७ गाथा पर्यन्त दोनोंमे कोई अन्तर नहीं है। २७ के पश्चात् शोला० प्रतिमें जो गाथा दी है उसपर २८ नम्बर दिया है। किन्तु यह मूलकी नहीं है। आशाधरजीने इसके सम्बन्धमे अपनी टीकामे स्पष्ट लिखा है कि अन्यत्रसे लाकर इसे सूत्रमे पढते हैं। अतः यहाँसे एकका अन्तर प्रारम्भ होता है।

आगे शोला० प्रतिमें ११६ नम्बर दो बार पढ़ गया है। पहले ११६, ११७, ११८ है और पुनः ११६ से प्रारम्भ कर दिया है। इस तरह प्रस्तुत संस्करणमे जिस गाथा पर ११९ क्रमांक है उसमे शोला० मे ११७ है।

आगे 'मयतन्धिगाओ' आदि गाथाके पश्चात् प्रस्तुत संस्करणमे 'परिहर त मिच्छन्तं' इत्यादि गाथा है। इस पर ७२५ क्रमांक है। यह शोला० प्रतिमे नहीं है। इसपर न तो विजयोदया है और न आशाधरकी पंजिका है। फिर भी प्रतियोमे पाई जानेसे इसे दिया गया है। इस तरह एकका अन्तर रह जाता है।

'हिसादो अबिरमण' इत्यादि गाथाकी विजयोदया टीकामे स्पष्ट रूपसे 'उक्त च' लिखकर पाँच गाथाएँ उद्धृत हैं। शोला० मे इन सबको मूलमें सम्मिलित कर लेनेसे ६ का अन्तर पड़ जाता है।

प्रस्तुत संस्करणमे 'साकेदपुरे सीमधरस्य' आदि गाथा अधिक है। इसके कारण छहके स्थानमें पाँचका अन्तर रह जाता है।

पुनः शोला० प्रतिमें 'मन्वन्मि लोगखिते' इत्यादि गाथाकी, जो विजयोदयामे स्पष्ट रूपसे

'उक्त च' करके उद्धृत है मूलमे सम्मिलित कर लेनेसे अन्तर छहका हो जाता है। इतना ही दोनोंकी गाथा सख्यामे अन्तर है।

जिन पर विजयोदया टीका नहीं है। उन गाथाओंकी क्रमसंख्या प्रस्तुत संस्करणके अनुसार इस प्रकार है—

५३, १०८, ११५, ११६, ११७, १५०, १८०, ४३२ से ४३८ तक (इन पर आशाघर की टीका है किन्तु विजयाचार्य इन्हे मान्य नहीं करता, ऐसा भी उन्होंने नहीं लिखा है)—५९७, ६८०, ६८१, ७३६, ७३७ (७३६ का अनुवाद अमित गतिने किया है), ७६९, ८०३ (अमित गति का अनुवाद नहीं), ८०६ (अमित में है), ८१२ (अमित है), ८२६ (अमित में है), ८६९ (अमित में है) ९६२, ९६३ (अमित आशाघर दोनोंको स्वीकृत) ९६५ (आशाघर स्वीकृत, अमित नहीं) ९७३, ९७४, ९७५, ९८१ से ९९६ तक १०३८ (दोनोंसे स्वीकृत)। ११२५, ११२६, ११२७ (११२५, ११२६ में कुछ कथाओंके नाम हैं। इन दोनोंको अमितगति और आशाघरने स्वीकार नहीं किया है। ११२७ के विषयमे आशाघरने लिखा है कि संस्कृत टीकाकार इसे नहीं मानता। किन्तु शेष दोनोंके सम्बन्धमे चुप है। अतः ये दोनों प्रसिप्त है, किसी कथा' कोशकारने भी इनको उद्धृत नहीं किया है) १२३२, १२७४ (दोनोंसे स्वीकृत) १२८८ (स्वीकृत), १३४८, १३५८, १४२७, १५४०, १६००, १६०१, १६०२, १६३४, १६३५, १७१०, २०२२।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि इनके सिवाय भी ऐसी अनेक गाथाएँ है जिन्हे विजयोदयाके कर्तनि स्पष्टार्थ मानकर उनकी व्याख्या नहीं की है। किन्तु उन्हे उन्हीने स्वीकार किया है।

## २ भगवती-आराधना

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम आराधना है और उसके प्रति परम आदरभाव व्यक्त करनेके लिए उसी तरह भगवती विशेषण लगाया गया जैसे तीर्थकरो और महान आचार्योंके नामोके साथ भगवान विशेषण लगाया जाता है। ग्रन्थके अन्तमे ग्रन्थकारने 'आराधना भगवती' (गाथा २१६२) लिखकर आराधनाके प्रति अपना महत् पूज्यभाव व्यक्त करते हुए उसका नाम भी दिया है। फलत यह ग्रन्थ भगवती आराधनाके नामसे ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु यथार्थमे इसका नाम आराधना मात्र है। इसके टीकाकार श्री अपराजित सूरिने अपनी टीकाके अन्तमे उसका नाम आराधना टीका ही दिया है।

इस भगवती आराधनाको आधार बनाकर आचार्य देवसेनने जो एक ग्रन्थ रचा है उसका नाम उन्होंने आराधनासार<sup>२</sup> दिया है। इस भगवती आराधनाको संस्कृत पद्योमे निबद्ध करनेवाले आचार्य अमितगति<sup>३</sup> ने भी अपनी प्रशस्तिमे 'आराधनैषा' लिखकर उसका नाम आराधना ही रखा है। तथा उसका एक स्तवन भी साथमे रचा है। दूसरे पंजिकाकार पं० आशाघरने यद्यपि

१ देखो बृहत्कथाकोशकी डा० उपाध्येकी प्रस्तावना पृ० ७७। संस्करण १९४३।

२. मा० दि० ग्रन्थमाला बम्बईसे वि० स० १९७३ में प्रथम बार प्रकाशित।

३ सोलापुर संस्करणमें (१९३५) मुद्रित।

अपनी इस टीकाको 'मूलाराधना' दर्पण नाम दिया है तथापि उन्होंने भी उसकी स्तुति करनेसे पूर्व 'भगवतीमागधनामभिष्टौतुं' लिखकर भगवती आराधना नाम ही स्वीकार किया है।

'आराधना' के नामसे पाये जानेवाले ग्रन्थोंकी एक विस्तृत तालिका जिनरत्नकोशमें दी है तथा सीधी सिरीजसे प्रकाशित बृहत्कथाकोशकी अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनामें स्व० डा० ए० एन० उपाध्येने उसे विस्तारसे दिया है। उसे देखकर प्रतीत होता है कि जैन परम्परामें प्रारम्भसे ही आराधनाका कितना महत्त्व रहा है। यथार्थमें आराधना पूर्ण जीवन ही मन्त्रा जीवन है। दूसरे शब्दोंमें आराधना पूर्वक मरण ही यथार्थ मरण है। उसके अभावमें न जीवन, जीवन है और न मरण मरण है।

इस भगवती आगधनामें (गा० ६५२) कहा है कि चार निर्यापक समाधिग्रहण करनेवाले शपकको नित्य धर्मकथा सुनाते हैं। फलतः इसमें दृष्टान्त रूपमें अनेक कथा प्रमणोंका निर्देश है। जिनको सकलित करके अनेक कथाकोश रचे गये हैं। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने गद्यकथाकोशकी पुष्पिकामें उसका नाम आराधना कथा प्रबन्ध दिया है। ब्रह्म नेमिदत्तके भी कथाकोशका नाम आराधना कथाकोश है। एक कथाकोश प्राचीन कन्नड भाषामें भी है उसका नाम वड्डाराधना है। उसकी मूडविद्रीकी प्रतिमें उसका पुष्पिका वाक्य इस प्रकार है—

'ई पेल्द पत्तोवतु कथेगल शिवकोट्याचार्यर् पेल्द वोड्डाराधनेय कवचवु मगल महाश्री'। इसमें वड्डाराधनाको शिवकोटि आचार्यकी कृति कहा है। वड्डाराधनाका अर्थ होता है बड़ी आराधना। इसमें यह प्रकट होता है कि उत्तरकालमें आगधना विषयक अन्य ग्रन्थोंसे इसकी विशिष्टता बतलानेके लिये या उनसे इसका पृथक् अस्तित्व और महत्त्व प्रदर्शित करनेके लिए आगधना नामके माथ वृहत् या मूल विशेषण लगाकर इसे वड्डाराधना या मूलागधना नाम भी दिया गया है। किन्तु मूलनाम मात्र आराधना ही है।

### विषय परिचय

जैसा कि इस ग्रन्थके नामसे प्रकट है, इस ग्रन्थमें आगधनाका वर्णन है। ग्रन्थकी प्रथम गाथामें ग्रन्थकारने चार प्रकार की आगधनाके फलका प्राप्त सिद्धो और अहंत्तोंको नमस्कार करके आगधनाका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरी गाथामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य और तपके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तर्णको आराधना कहा है। टीकाकारने अपनी टीकामें इनको स्पष्ट किया है।

अन्य जैन ग्रन्थोंमें भी सम्यग्दर्शन आदिका कथन है किन्तु उनके साथ आराधना शब्दका प्रयोग तथा उद्योतन आदिरूपसे उनका कथन नहीं पाया जाता।

तीसरी गाथामें सक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं—प्रथम सम्यक्त्वााराधना और दूसरी चारित्र्यााराधना। चतुर्थ गाथामें कहा है कि दर्शनकी आराधना करने पर ज्ञानकी आगधना नियमसे होती है किन्तु ज्ञानकी आगधना करने पर दर्शनकी आराधना भजनीय है, वह होती भी है और नहीं भी होता, क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान नियमसे होता है परन्तु ज्ञानके होने पर सम्यग्दर्शनके होनेका नियम नहीं है।

गाथा ६ में कहा है कि संयमकी आराधना करने पर तपकी आराधना नियमसे होती है किन्तु तपकी आराधनामें चारित्रकी आराधना भजनीय है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि भी यदि अविरत है तो उसका तप हाथीके स्नानकी तरह व्यर्थ है। अतः सम्यक्त्वके साथ संयमपूर्वक ही तपश्चरण करना कार्यकारी होता है, इसलिये चारित्रकी आराधनामें सबकी आराधना होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् चारित्र होता है इसलिये सम्यक् चारित्रकी आराधनामें सबकी आराधना गर्भित है। इसीसे आगममें आराधनाको चारित्रका फल कहा है और आराधना परमागमका साग है ॥१४॥ क्योंकि बहुत समय तक भी ज्ञान दर्शन और चारित्रका निरतिचार पालन करके भी यदि मरते समय उनकी विराधना कर दी जाये तो उसका फल अनन्त संसार है ॥१६॥ इसके विपरीत अनादि मिथ्यादृष्टि भी चारित्रकी आराधना करके क्षणमात्रमें मुक्त हो जाते हैं। अतः आराधना ही सारभूत है ॥७॥

इसपरसे यह प्रश्न किया गया कि यदि मरते समयका आराधनाको प्रवचनमें सारभूत कहा है तो मग्नेम पूर्व जीवनमें चारित्रकी आराधना क्यों करना चाहिए ॥१८॥ उत्तरमें कहा है कि आराधनाके लिए पूर्वमें अभ्यास करना योग्य है। जो उसका पूर्वभ्यासी होता है उसकी आराधना सुखपूर्वक होता है ॥१९॥ यदि कोई पूर्वमें अभ्यास न करके भी मरते समय आराधक होता है तो उसे सर्वत्र प्रमाणरूप नहीं माना जा सकता ॥२४॥

इम कथनसे हमारे इस कथनका समाधान ही जाता है कि दर्शन ज्ञान चारित्र और तपका वर्णन जिनागममें अन्यत्र भी है किन्तु वहाँ उन्हें आराधना शब्दसे नहीं कहा है। इस ग्रन्थमें मुख्यरूपसे मरणसमाधिक कथन है। मरते समयकी आराधना ही यथाथं आराधना है उसीके लिए जीवन भर आराधना की जाती है। उस समय विराधना करनेपर जीवनभरकी आराधना निष्फल हो जाती है और उस समयकी आराधनासे जीवनभरकी आराधना सफल हो जाती है। अतः जो मरते समय आराधक होता है यथाथं उसीके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्त्वकी साधनाको आराधना शब्दसे कहा जाता है।

इस प्रकार चौबीस गाथाओंके द्वारा आराधनाके भेदोंका कथन करनेके पश्चात् इस विशालकाय ग्रन्थका मुख्य वर्ण्य विषय मरणसमाधि प्रारम्भ होता है। इसको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यद्यपि जिनागममें सतरह प्रकारके मरण कहे हैं किन्तु हम यहाँ सक्षेपसे पाँच प्रकारके मरणोंका कथन करेंगे ॥२५॥ वे हैं—पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल-पण्डितमरण, बालमरण और बाल-बालमरण ॥२६॥ क्षोणकषाय और केवलीका मरण पण्डित-पण्डितमरण है और विरताविरत श्रावकका मरण बालपण्डितमरण है ॥२७॥ अविरत सम्यग्दृष्टीका मरण बालमरण है और मिथ्यादृष्टिका मरण बाल-बालमरण है ॥२९॥

पण्डितमरणके तीन भेद हैं—भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इगिनी। यह मरण शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधुके होता है ॥२९॥

इसके अनन्तर ग्रन्थकारने सम्यक्त्वकी आराधनाका कथन किया है।

सम्यक्त्वाराधना—गाथा ४३ में सम्यक्त्वके पाँच अतीचार कहे हैं—शङ्का, काशा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा। तत्त्वार्थसूत्रमें अनायतन सेवाके स्थानमें 'सस्तव' नामक अतीचार कहा है।

टीकाकार अपराजितसूरिने अपनी टीकामें अतिचारोंको स्पष्ट करते हुए शंका अतिचार और सशयमिथ्यात्वके भेदको स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'शंका' तो अज्ञानके कारण होती है उसके मूलमे अश्रद्धान नहीं है। किन्तु सशयमिथ्यात्वके मूलमे तो अश्रद्धान है। इसी प्रकार मिथ्यात्वका सेवन अतिचार नहीं है, अनाचार है, मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा अतिचार है। द्रव्य-लोभादिकी अपेक्षा करके मिथ्याचारित्रवालोकी सेवा भी अतिचार है।

गाथा ४४ मे उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावनाको सम्यग्दर्शनका गुण कहा है।

गाथा ४५-४६ मे दर्शनविनयका वर्णन करते हुए अरहन्त, सिद्ध, जिनबिम्ब, श्रुत, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और दर्शनमे भक्ति, पूजा, वर्णजनन, तथा अवर्णवादका विनाश और आसादनाको दूर करना, इन्हे दर्शन विनय कहा है। टीकाकारने इन सबको स्पष्ट किया है। इनमे 'वर्णजनन' शब्दका प्रयोग दिग्गम्बर साहित्यमे नहीं पाया जाता। वर्णजननका अर्थ है महत्ता प्रदर्शित करना। टीकाकारने इसका कथन विस्तार से किया है।

गाथा ५५ मे मिथ्यात्वके तीन भेद कहे हैं संशय, अभिगूहीत, अनभिगूहीत।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आराधनाका कथन करनेके पश्चात् गाथा ६३ मे कहा है कि प्रशस्तमरणके तीन भेदोंमेसे प्रथम भक्तप्रतिज्ञाका कथन करेगे क्योंकि इसकालमे उसीका प्रचलन है। इसीका कथन इस ग्रन्थमे मुख्यरूपसे है, शेष दोका कथन तो ग्रन्थके अन्तमे संक्षेपसे किया है।

**भक्तप्रत्याख्यान**—गाथा ६४ मे भक्तप्रत्याख्यानके दो भेद किये हैं—सविचार और अविचार। यदि मरण सहसा उपस्थित हो तो अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है अन्यथा सविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है। सविचार भक्तप्रत्याख्यानके कथनके लिये चार गाथाओंसे चवालोस पद कहे हैं। और उनका क्रमसे कथन किया है।

उन चवालीस पदोंमेसे सबसे प्रथम पद 'अहं' का कथन करते हुए कहा है—

जिसको कोई असाध्य रोग हो, मुनिधर्मको हानि पहुँचानेवाली वृद्धावस्था हो, या देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो, अथवा चारित्रका विनाश करनेवाले शत्रु या मित्र हो, दुर्भिक्ष हो, या भयानक वनमे भटक गया हो, या आँखसे कम दिखाई देता हो, कानसे कम सुनाई देता हो, पैरोंमे चलने-फिरनेकी शक्ति न रही हो, इस प्रकारके अपरिहार्य कारण उपस्थित होने पर विरत अथवा अविरत भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७०-७३॥

जिसका मुनिधर्म चिरकाल तक निर्दोष रूपसे पालित हो सकता है, अथवा समाधिमरण करानेवाले निर्मापक सुलभ है या दुर्भिक्षका भय नहीं है, वह सामने भयके न रहने पर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य नहीं है। यदि ऐसी अवस्थामें भी कोई मरना चाहता है तो वह मुनिधर्मसे विरक्त हो गया है ऐसा मानना चाहिये ॥७४-७५॥

इससे आगे ग्रन्थकारने भक्त प्रत्याख्यानके योग्य व्यक्तिके लिंगका कथन करते हुए कहा है—

जो औत्सर्गिक लिंगके धारी हैं अर्थात् समस्त परिग्रहके त्यागी हैं उनका लिंग तो वही

होता है। किन्तु जो अपवादिक अर्थात् परिग्रह सहित लिंगके धारी है यदि उनके पुरुषविन्दुमें कोई दोष नहीं है तो उनके लिये भी औत्सर्गिक लिंग धारण करना ही उचित है। किन्तु जो महत् सम्पत्तिशाली है या लज्जाशील है, या जिसके बन्धु बान्धव मिथ्यामती है उसके लिये अपवादलिंग उचित है ॥७६-७८॥

**औत्सर्गिक लिंग**—अचेलता, हाथसे केशोंका उखाडना (केशलोच), शरीरसे निमंमत्व और पीछी ये चार औत्सर्गिक लिंग हैं। स्त्रियोमें भी जो औत्सर्गिक या अपवाद लिंग आगममें कहा है, भक्त प्रत्याख्यान करते समय परिग्रहको अल्प करते हुए औत्सर्गिक लिंग होता है। अर्थात् पुरुषोकी तरह स्त्री भी यदि सम्पत्तिशालिनी है या लज्जाशील है, या उसके बन्धु बान्धव विधर्मी हैं तो एकान्त स्थानमें उसे समस्त परिग्रहके त्यागरूप उत्सर्ग लिंग दिया जा सकता है ॥८७॥

आगे इन चार प्रकारक लिंगोंके लाभ बतलाते हुए सबसे प्रथम परिग्रह त्यागके गुण बतलाये हैं—

परिग्रह त्यागमें लाघव, अप्रतिलेखन, निर्भयता, सम्मूर्छन जीवोंकी रक्षा और परिकर्मका त्याग ये चार गुण कहे हैं। जो वस्त्रसहित लिंग धारण करते हैं, उन्हें उनके शोधनमें लगना होता है, वस्त्र न रहने पर उसकी याचना, वस्त्र फटने पर उसे सीना, धोने पर सुखाना आदि व्यापार करना पड़ता है। वस्त्रोंमें जूँ होंने पर उनको दूर करना होता है। वस्त्रादिके सद्भावमें शीतादि परिषह सहन करना नहीं होता, किन्तु आगममें कर्मोंकी निर्जराके लिए परिषह सहनेका विधान है ॥८२॥

वस्त्ररहित होनेमें दिग्म्बर वेगमें जनताका विश्वास प्राप्त होता है कि इनके पास छिपानेके लिए कुछ भी नहीं है। विषय सुखमें अनादरभाव प्रकट होता है। सर्वत्र स्वाधीनपना रहता है ॥८३॥

नग्नता जिनदेवका प्रतिरूप है। उससे वीर्याचार पलता है रागद्वेष नहीं होते ॥८४॥

जो अपवाद लिंग धारण करता है वह भी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए अपनी निन्दा गर्हा करते हुए जब परिग्रहको त्याग देता है तब शुद्ध हो जाता है ॥८६॥

इस प्रकार लिंग ग्रहण करनेके पश्चात् साधुको ज्ञानार्जन करना चाहिए। उसके लिए विनय करना आवश्यक है अतः ज्ञानविनयके आठ भेदोंका वर्णन है ॥११२॥

तदनन्तर दर्शनविनय, चारित्रविनय, उपचारविनय आदिका कथन है।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ लिंग स्वीकार करके जा श्रुतके अभ्यासमें तत्पर है, पाँच प्रकारकी विनयका पालक है उस साधुको अनियतवासी होना चाहिए, एक स्थान पर नहीं रहना चाहिये। अतः अनियतवासके गुण बतलाये हैं। किन्तु देशान्तरमें भ्रमण करनेसे ही साधु अनियत विहारी नहीं होता किन्तु वसति, उपकरण, ग्राम, नगर, सघ और धावक गण सबमें उसे ममत्वभावसे रहित होना चाहिये। तभी वह अनियत विहारी होता है।

इस तरहसे साधु जीवन बिताता हुआ साधु जब अपना कल्याण करना चाहता है तो विचारता है कि अथालन्दविधि, भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनी मरण, परिहार विशुद्धि चारित्र, पादोपगमन अथवा जिनकल्पमेंसे किसको मैं धारण करूँ ?

विजयोदयामें इन सबका वर्णन किया है जो अन्यत्र नहीं मिलता। इस प्रकार विचार कर यदि उसकी आयु अल्प शेष रहती है तो वह अपनी शक्तिको न छिपा कर भक्त प्रत्याख्यानका निश्चय करता है ॥१५८॥ तथा समयके साधनमात्र परिग्रह रखकर शेषका त्याग कर देता है ॥१६४॥ तथा पाँच प्रकारकी सकलेश भावना नहीं करता। इन पाँचों भावनाओंका स्वरूप ग्रन्थकारने स्वयं कहा है (१८२-१८६)।

आगे सल्लेखनाके दो भेद कहे हैं बाह्य और आभ्यन्तर। शरीरको कृश करना बाह्य सल्लेखना है और कषायोका कृश करना आभ्यन्तर सल्लेखना है। बाह्य मल्लेखनाके लिए छह प्रकारके बाह्य तपका कथन किया है।

विविक्तशय्यासन तपका कथन करते हुए गाथा २३२मे उद्गम उत्पादन आदि दोषोंसे रहित वसतिकामें निवास कहा है। टीकाकारने अपनी टीकामें इन दोषोंका कथन किया है। ये सर्वदोष मूलाचारमे भी कहे हैं। आगे बाह्य तपके लाभ बतलाये हैं।

गाथा २५१मे विविध भिक्षु प्रतिमाओका निर्देश है। टीकाकार अपराजित सूरिने तो उनका कथन नहीं किया किन्तु आशाधरजीने किया है। उनको संख्या बारह कही है। मूलाचारमे इनका कथन नहीं है।

इम भक्त प्रत्याख्यानका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष कहा है। चार वर्ष तक अनेक प्रकारके कायकलेश करता है। फिर दूध आदि रसोंको त्यागकर चार वर्ष बिताता है। फिर आचाम्ल और निर्विकृतिका सेवन करते हुए दो वर्ष बिताता है, एक वर्ष केवल आचाम्ल सेवन करके बिताता है। शेष रहे एक वर्षमेसे छह मास मध्यम तपपूर्वक और शेष छह मास उत्कृष्ट तपपूर्वक बिताता है (२५४-२५६)।

इम प्रकार शरीरकी सल्लेखना करते हुए वह परिणामोंको विगृह्यकी ओर मावधान रहता है। एक क्षणके लिए भी उस ओरसे उदासन नहीं होता।

इस प्रकारमे सल्लेखना करनेवाले या तो आचार्य होते हैं या मामान्य साधु होते हैं। यदि आचार्य होते हैं तो वे शुभमूर्तमें सब सधको बुलाकर योग्य शिष्यपर उसका भार सौंपकर सबसे क्षमा याचना करते हैं और नये आचार्यको शिक्षा देते हैं। उसके पश्चात् सधको शिक्षा देते हैं। यथा—

हे साधुओ! आपको विष और आगके तुल्य आर्याओका ससर्ग ज्योडना चाहिये। आर्याकि साय रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ॥३२३॥ महात् सयमी भी दुर्जनोंके द्वारा किये गये दोषसे अनर्थका भागी होता है अत दुर्जनोंकी सगतिसे बचो ॥३५०॥

सज्जनोंकी सगतिसे दुर्जन भी अपना दोष छोड़ देते हैं, जैसे मुमेरु पर्वतका आश्रय लेनेपर कौवा अपनी अमुन्दर छविको छोड़ देता है ॥३५०॥

जैसे गन्धरहित फूल भी देवताके ससर्गसे उसके आशीर्वाद्रूप सिरपर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोंके मध्यमे रहनेवाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥

गुरुके द्वारा हृदयको अप्रिय लगनेवाले वचन भी कहे जानेपर पथ्यरूपसे ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुँह खोल पिलाया गया घी हितकारी होता है ॥३६०॥



अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करना चाहिए। जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनोंके मध्यमें तुणकी तरह लघु होता है ॥३६१॥ इत्यादि।

इस प्रकार आचार्य संघको उपदेश देकर अपनी आराधनाके लिए अपना संघ त्यागकर अन्य सधमें जाते हैं। ऐसा करनेमें ग्रन्थकारने जो उपपत्तियाँ दी हैं वे बहुमूल्य है ॥३८५॥

समाधिका इच्छुक साधु निर्यापककी खोजमें पाँच सौ सात सौ योजन तक भी जाता है गेसा करनेमें उसे बारह वर्ष तक लग सकते हैं ॥४०३-४०४॥

इस कालमें यदि उसका मरण भी हो जाता है तो वह आराधक ही माना गया है ॥४०६॥

योग्य निर्यापकको खोजते हुए जब वह किसी सधमें जाता है तब उसकी परीक्षा की जाती है।

जिस प्रकारका आचार्य निर्यापक होता है उसके गुणोंका वर्णन विस्तारसे किया है। उसका प्रथम गुण है आचारवत्त्व।

जो दस प्रकारके स्थितिकल्पमें स्थित होता है वह आचारवान् होता है।

गाथा ४१३ में इनका कथन है—ये दस कल्प हैं—आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्यागृहका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पयुषणा।

श्वेताम्बर आगमोमें भी इन दस कल्पोंका विस्तारसे वर्णन मिलता है। विजयोदया टीकाकारने अपनी टीकामें इनका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है। सबसे प्रथम कल्प है आचेलक्य। चेल कहते हैं वस्त्रको, वस्त्रादि समस्त परिग्रहका त्याग आचेलक्य है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके साधु वस्त्र पात्र आदि परिग्रह रखते हैं। अतः टीकाकारने उनके मतका निरसन सप्रमाण किया है। और श्वेताम्बर आगमोंसे—आचारांग, उत्तराध्ययन, आवश्यक आदिसे अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं। किन्तु वर्तमान श्वेताम्बर आगमोमें उनसेसे अनेक प्रमाण नहीं मिलते। इस विषयमें आगे अलगसे चर्चा करेंगे।

टीकामें कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमें रात्रिभोजन त्याग नामक एक छोटा व्रत भी था। पूज्यपाद स्वामोने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें सातवें अध्यायके प्रथमसूत्रके व्याख्यानमें रात्रि भोजन नामक छोटे व्रतकी शका उठाकर समाधानमें कहा है कि उसका अन्तर्भाव अहिंसा व्रतकी भावनाओमें किया है।

प्रतिक्रमणके भेदोका कथन करते हुए भी टीकाकारने कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमें साधुओको प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थकरके तीर्थमें साधु दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते थे। इसका कारण भी कहा है कि मध्यम तीर्थकरके साधु दृढबुद्धि, एकाग्रचित्त, और अव्यर्थ लक्ष्यवाले थे इसलिए उनका आचरण गृही करनेमात्रसे शुद्ध हो जाता था। किन्तु शेष दो तीर्थकरके साधु चलचित्त होनेसे अपने अपराधपर दृष्टि नहीं देते। इसलिए उन्हें सब प्रतिक्रमण करनेका उपदेश है।

मूलाचारमें भी (७।१३२-१३३) यह कथन है।

गाथा ४४८ की टीकामें पंचपरावर्तनका वर्णन है किन्तु द्रव्यससार, क्षेत्रसंसार, और भावसंसारका स्वरूप सर्वार्थसिद्धिमें भिन्न है।

निर्यायक आचार्यके गुणोंमें एक गुण अवपीडक है। समाधि लेनेसे पूर्व दोषोंकी विशुद्धिके लिये आचार्य उस क्षपकसे उसके पूर्वकृतदोष बाहर निकालते है। यदि वह अपने दोषोंको छिपाता है तो जैसे सिंह स्यारके पेटमें गये मासको भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमें छिपे मायाशल्य दोषोंको बाहर निकालता है ॥४७९॥

गाथा ५२८ में आचार्यके छत्तीस गुण इस प्रकार कहे है—

आचारवत्त्व आदि आठ, दस प्रकारका स्थितिकल्प बाह्य तप, छह आवश्यक। किन्तु विजयोदयामें आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण कहे है। ५० आशाघरने अपनी टीकामें विजयोदयाके अनुसार छत्तीस गुण बतलाकर प्राकृत टीकाके अनुसार अट्टाईस मूलगुण और आचारवत्त्व आदि आठ इय तरह छत्तीस गुण कहे हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भगवती आराधना और विजयोदयामें अट्टाईस मूलगुणोंको नहीं गिनाया है। यद्यपि कथनमें आ जाते है।

आचार्यके सम्मुख अपने दोषोंकी आलोचना करनेका बहुत महत्त्व है उसके बिना समाधि सम्भव नहीं होती। अतः समाधिका इच्छुक क्षपक दक्षिण पाद्वंसे पीछेके माथ हाथोंकी अजलि मस्तकसे लगाकर मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक गुरुकी वन्दना करके सब दोषोंको त्याग आलोचना करता है। अतः गाथा ५६४ में आलोचनाके दस दोष कहे है। यह गाथा सर्वाथसिद्धि ( ९-२२ ) में भी आई है। आगे ग्रन्थकारने प्रत्येक दोषका कथन किया है।

आचार्य परीक्षाके लिये क्षपकसे तीन बार उसके दोषोंको स्वीकार कराते है। यदि वह तीनों बार एक ही बात कहता है तो उसे सरलहृदय मानते है। किन्तु यदि वह उलटफेर करता है तो उसे मायावी मानते है। और उसकी शुद्धि नहीं करते।

इस प्रकार श्रुतका पारगामी और प्रायश्चित्तके क्रमका ज्ञाता आचार्य क्षपककी विशुद्धि करता है। ऐसे आचार्यके न होनेपर प्रवर्तक अथवा स्थविर निर्यापकका कार्य करते हैं। जो अल्पशास्त्रज्ञ होते हुए भी सधकी मर्यादाको जानता है उसे प्रवर्तक कहते है। जिसे दीक्षा लिये बहुत समय बीत गया है तथा जो मार्गको जानता है उसे स्थविर कहते है।

**निर्यापक**—जो योग्य और अयोग्य भोजन पानकी परीक्षामें कुशल होते है, क्षपकके चित्तका समाधान करनेमें तत्पर रहते है, जिन्होंने प्रायश्चित्त ग्रन्थोंको सुना है और दूसरीका उद्धार करनेका महत्त्व जानते हैं ऐसे अडतालीस यति निर्यापक होते है ॥६४७॥

वे क्षपकके शरीरको सहलाते है, हाथ पैर दवाते है, चलने-फिरने, उठने-बैठनेमें सहायता करते हैं। उनमेंसे चार तो परिचर्या करते है। चार धर्मकथा करते है। चार खानपानकी व्यवस्था करते हैं। वह खानपान उद्गम आदि दोषोंसे रहित होता है और क्षपकके स्वास्थ्यके अनुकूल होता है। चार यति उस लाये गये खानपानकी रक्षा करते है। चार यति मलमूत्र उठाते है। चार यति क्षपकके द्वारकी रक्षा करते हैं असंयमी जनोको प्रवेशसे रोकते हैं। चार मुनि उस देशके अच्छे-बुरे समाचारो पर दृष्टि रखते है जिससे समाधिमें कोई बाधा उपस्थित न हो। चार यति जो स्वसिद्धान्त और पर सिद्धान्तके ज्ञाता होते हैं, धर्मश्रवणके लिये उपस्थित श्रोताओंको इस तरहसे उपदेश देते हैं कि उससे क्षपकको कोई बाधा न पहुँचे। अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता और

बाद करनेमें कुशल चार यति उस सभा में सिहके समान विचरण करते हैं कि यदि कोई विवाद करे तो उसका उत्तर दे सके ।

कालके अनुसार यतियोंके गुणो और सख्यामें भी परिवर्तन होता रहता है । कम से कम दो निर्यापक अवश्य होते हैं । एक बाहर जाये तो एक पासमें रहें ॥६७१-६७२॥

जब वह क्षपक स्नानपान त्यागकर संस्तर पर आरोहण करता है तब निर्यापक आचार्य उसके कानमें शिक्षा देते हैं ॥७१९॥

सबसे प्रथम सम्यक्त्वका माहात्म्य बतलाते हैं । कि शुद्ध सम्यक्त्वी अविरत भी तीर्थकर नामकर्मका बन्ध करता है । असयमी भी श्रेणिक भविष्यमें तीर्थकर होगा ॥७२९॥

सम्यक्त्वके पश्चात् ज्ञानका और तदनन्तर पाँच महाव्रतोंकी रक्षाका उपदेश देते हैं ।

गाथा ७७० में कहा है—जो ज्ञानरूप प्रकाशके बिना मोक्षमार्गको प्राप्त करना चाहता है वह अन्धा अन्धकारमें दुर्ग पर जाना चाहता है ।

गाथा ७७५ से ८१६ तक अहिंसाका वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण है । उसका प्रभाव अमृततन्त्रके पुरुषार्थसिद्धयुगायके अहिंसा वर्णन पर प्रतीत होता है ।

गाथा ७९१ में कहा है—यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्रीका वध न करना परमधर्म है । सर्व प्राणियों पर दया परमधर्म क्यों नहीं है ?

गाथा ८०४ में ८०९ तक तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायमें कहे जीवाधिकरण और अजीवाधि-करणके भेदोका विवेचन है ।

गाथा ८१७ से सत्याणुव्रतके चार भेद कहे हैं जो पुरुषार्थ सिद्धयुगायमें भी कहे हैं ।

गाथा ८७१ से ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है ।

गाथा ८७२ में कहा है—जीव ब्रह्म है उसमें चर्या ब्रह्मचर्य है ।

गाथा ८८७-८८९ में कामकी दस दशाओका वर्णन है ।

गाथा ९२१ में कहा है—

परमहिल सेवतो वेगं वधबंध-कलहधणनास ।

पावदि रायकुलादा तिससे णीयल्लयादो य ॥

सर्वार्थसिद्धिके सातवें अध्यायमें भो परस्त्री सेवनमें यही दोष कहे हैं—

यथा—‘पराङ्गनालिंगनसगकृतरतिश्चेद्देव वैरानुबन्धिनो लिंगच्छेदनवधबन्धसर्वस्वाप-  
हरणादीनपायान् प्राप्नोति ।

गाथा ९२३ में जो कहा है तत्त्वार्थवार्तिकमें भी ब्रह्मचर्यके प्रकरणमें वही शकशः कहा है—

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विष्ययम्मिकद ।

जह दुक्खमप्पणो होई तहा अण्णस्स वि णरस्स ॥९२३॥

त०वा०—‘यथा च मम कान्ता परिभवे परकृते सति मानसपीडाऽतितीव्रा जायते तथे-  
तरेषाम् ।

गाथा ८१६ में अहिंसापुत्रतमें चण्डालका उदाहरण दिया है। गाथा ८४३में असत्य भाषण के फलमें राजा वसुका उदाहरण है। गाथा ८८६ में चोरीके फलमें श्रीभूतिका उदाहरण है। गाथा ९२९ में परस्त्री गमनके फलमें कडारपिगका उदाहरण है।

गाथा ९३६ में कहा है कि स्त्रीके निमित्तसे ही महाभारत गमायण आदिमें वर्णित युद्ध हुए।

गाथा ९९४ में कहा है—

वयणे अमय चिट्टिदि हियए य विस महिलियाए।

इसी आशयका एक पद्य संस्कृतमें प्रसिद्ध है—

‘अधरेऽमृतमस्ति योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम्।’

गाथा ९७१ आदिमें स्त्रीके वाचक स्त्री, नारी, प्रमदा, विलया, युवती, योषा, अबला, कुमारी और महिला शब्दोंकी व्युत्पत्ति दोषपरक की गई है।

गाथा १००१ से गर्भमें शरीरकी रचनाका क्रम बतलाया है। तथा १००१ आदिमें शरीरके अवयवोंका परिमाण बतलाया है।

गाथा १०५७ १०५९ में सप्तरूपी वृक्षका चित्रण है जिसमें एक पुरुष वृक्षकी डाल पकड़कर मोहवश लटका हुआ है और दो चूहे उस डालको काट रहे हैं।

गाथा १०९५ में स्त्रीके कारण भ्रष्ट हुए रुद्र, पाराशर ऋषि, सात्यकि आदिके नाम आते हैं।

गाथा ११११ से परिग्रहत्याग महाव्रतका निरूपण करते हुए कहा है कि पहलें जो दस स्थिति कल्प कहे हैं उनमें प्रथम है वस्त्र आदि समस्त परिग्रहका त्याग। आचेलक्य शब्द देगामर्षक है अत आचेलक्यसे समस्त परिग्रहका त्याग अभीष्ट है। केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेसे समयी नहीं होता ॥१११८॥

गाथा ११२३ में लोभवश चोरोके द्वारा मद्य, मासमें विष मिलाकर परस्परमें एक दूसरेको मार डालनेका उदाहरण है, इस तरहके अनेक उदाहरण हैं।

गाथा ११७८ में महाव्रत शब्दकी व्युत्पत्ति दी है। यह मूलाचारमें भी है।

गाथा ११७९ में कहा है कि इन महाव्रतोंकी रक्षाके लिए ही रात्रिभोजन त्याग नामक व्रत कहा है। यह भी मूलाचारमें है।

भाषा समीक्षिका वर्णन करते हुए गाथा ११८७ में सत्यके दस भेद कहे हैं। तथा गाथा ११८९-९० में नौ प्रकारकी अनुभय भाषा कही है। ये दो गाथाएँ जीवकाण्ड गोममटसारमें भी हैं और मूलाचारमें भी हैं। गाथा ११९१ की टीकामें टीकाकार ने लिखा है कि दशवैकालिक सूत्रकी विजयोदया टीकामें उद्गम आदि दोषोंका कथन किया है इससे यहाँ नहीं कहा। यह टीका भी इन्हीं टीकाकारकी होनी चाहिये। उसका नाम भी विजयोदया ही है। किन्तु इस ग्रन्थमें भी गाथा २३२ की टीकामें उद्गम आदि दोषोंका कथन टीकाकारने किया है। किन्तु वह संक्षिप्त है अतः विस्तारसे कथन दूसरी टीकामें किया होगा।

गाथा ११९३ में प्रतिष्ठापन समितिका स्वरूप वही कहा है जो अन्य दिगम्बर ग्रन्थोंमें उत्सर्ग समितिके नाम से कहा है। केवल नाममें भेद है।

गाथा १२०० में अहिंसा व्रतकी भावना कही है। त०सू० ७४ में वाग्मुक्ति है और यहाँ एषणासमिति है इतना अन्तर है। सत्यव्रतकी भावना त०सू०के अनुरूप ही है। किन्तु तृतीय व्रतकी भावना भिन्न है। दोनोंमें किञ्चित् भी समानता नहीं है।

निदानका निषेध करते हुए गा० १२१८ में कहा है कि मोक्षका इच्छुक मुनि 'मैं मरकर पुरुष आदि होऊँ' ऐसा भी निदान नहीं करता क्योंकि यह पुरुष आदि पर्याय भी भवरूप ही है। अतः मुनिको केवल यही भावना करना चाहिये कि मेरे दुःखोका नाश हो, कर्मोंका क्षय हो, समाधिपूर्वक मरण हो आदि।

क्षपकको सम्बोधन करते हुए इन्द्रिय आदिकी आसक्तिमें नष्ट होनेवालोंके उदाहरणोंकी एक लम्बी तालिका इस ग्रन्थमें दी गई है। यथा—घ्राणेन्द्रियकी आसक्ति वश सरयू नदीमें अयोध्यापति गन्धमित्र विषपुष्य सूँघ कर मरा ॥१३४९॥

पाटलिपुत्रमें गन्धर्वदत्ता वेद्या पाचाल नामक गायकका गान सुनकर मूर्च्छित हो गई ॥१३५०॥

कपिलाका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी होनेसे मारा गया ॥१३५१॥

सुवेग नामक चोर स्त्रीके रूपमें आसक्त होनेसे मरा ॥१३५२॥

नासिक नगरमें ग्वालेश्वर आसक्त राष्ट्रकूटकी भार्याने अपने पुत्रको मार दिया। फिर उसकी पुत्रीने अपनी माँको मार दिया ॥१३५३॥

गोषसे द्वीपायनने द्वारिका नगरीको जला दिया ॥१३६८॥

मानके कारण सगरके साठ हजार पुत्र मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

माया दोषसे रुष्ट कुम्भकारने भरतर्षावके धान्यको सात वर्षतक जलाया ॥१३८२॥

कार्तवीर्यने लोभवश परशुरामकी गाये चुराई। वह परशुरामके द्वारा सुकुटुम्ब मारा गया ॥१३८८॥

अवन्ति सुकुमालको तीन रात तक शृगालीने पूर्ववर्षखाया ॥१५३४॥

पुद्गलगिरिपर सिद्धार्थके पुत्र सुकौशलमुनिको व्याघ्रीने खाया ॥१५३५॥

गजकुमार मुनिको पृथ्वीपर लिटाकर उसमें कीले ठोकी गई ॥१५३६॥

सनतकुमारने सौ वर्षतक अनेक गेग सहे ॥१५३७॥

एणिकापुत्र मुनि गगामे नावके डूब जानेपर मृत्युको प्राप्त हुए ॥१५३८॥

भद्रबाहु घोर अवमौदर्यके द्वारा उत्तमस्थानको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

कौशाम्बी नगरीमें ललितघट आदि मुनि नदीके प्रवाहमें बह गये ॥१५४६॥

चम्पा नगरीमें गगाके तटपर घोर प्याससे पीडित धर्मधोष मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

पूर्वजन्मके शत्रु द्वारा पीडित होकर श्रीदत्तमुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए। उष्णपरीषहको सहनकर वृषभसेन मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए। रोहेडय (रोहतक) नगरमें क्रौच राजाने अग्नि राजाके पुत्रको शक्तिसे मारा। वह उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

काकन्दी नगरीमें चण्डवेगने अश्वघोष मुनिका सर्वांग छेद डाला ॥१५४५॥  
 विलुच्चर मुनिने डाँस मच्छरीकी घोर परीषह सहन की ॥१५४६॥  
 हस्तिनापुरके गुरुदत्त मुनिके सिरपर द्रोणिमत पर्वतपर आग जलाई गई । चिलातपुत्र  
 मुनिके शरीरको चींटियोंने खा डाला ॥१५४८॥  
 दण्ड मुनिको यमुनावक्रने तीक्ष्ण बाणोसे छेद डाला ॥१५४९॥  
 कुम्भकारकट नगरमे अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि यन्त्रमे पेले गये ॥१५५०॥  
 चाणक्य मुनि कण्डोंकी आगमे जलाये गये ॥१५५१॥  
 कुणाला नगरीमे वृषभसेन मुनि वसतिकामे जलाकर मारे गये ॥१५५२॥  
 इस प्रकारके उदाहरणोके द्वारा निर्यापक आचार्य क्षपकको कष्ट-विपत्तिके समय दृढ  
 करते हैं ।

**धर्मध्यानका वर्णन**—गा० १७०३ मे धर्मध्यानके चार भेद कहे है । इसकी टीकामे चारोके स्वरूपका वर्णन करते हुए टीकाकारने आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप कहकर सर्वार्थसिद्धिमे ( ९।३९ ) मे कहे स्वरूपको 'अन्ये तु वदन्ति' कहकर लिखा है । इसी तरह धर्मध्यानके आलम्बन-रूपसे बारह अनुप्रेक्षाओके कथनके अन्तर्गत ससार अनुप्रेक्षाके कथनमे पंचपरिवर्तनका कथन है । गा० १७५७ की टीका मे 'अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव वदन्ति' लिखकर सर्वार्थसिद्धि ( २।१० ) मे प्रतिपादित भवपरिवर्तनका स्वरूप कहा है । इस तरह टीकाकार सर्वार्थसिद्धिकारका उल्लेख 'अन्ये' शब्दसे करते है ।

तथा गाथा १८२८ की टीकामे सातावेदनीय, शुभनाम, शुभगोत्र और शुभ आयुके साथ मोहनीय कर्मके भेद सम्यक्त्व, रति, हास्य, और पुरुषवेदको पुण्य प्रकृतियोंमे गिनाया है । तत्त्वार्थसूत्रके आठवें अध्यायके अन्तमे श्वेताम्बरीय सूत्र पाठमे ऐसा ही कथन है । पं० आशाधर जी ने भी अपनी टीकामे विजयोदया का ही अनुसरण किया है । उन्होंने भी इसपर कोई आपत्ति नहीं की है ।

**शुक्लध्यानका कथन**—धर्मध्यानके आलम्बनरूपसे बारह अनुप्रेक्षाओका कथन करनेके पश्चात् गाथा १८७१ मे शुक्लध्यानके चार भेदोंका कथन है ।

इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाके पालक केवल ज्ञानी होकर लोकके शिक्षरपर विराजमान होते है ॥१९२३॥ मध्यम आराधनाके पालक शरीर त्यागकर अनुत्तरवासी देव होते है ॥१९२७॥ तेजोलेख्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते है वे भी सौधर्मादि स्वर्गोंमे देव हांत है ॥१९३४॥ किन्तु जो आराधनासे गिरकर आर्त रौद्रध्यानी होते है वे सुगति प्राप्त नहीं करते ।

यहाँ ग्रथकारने प्रसंगवश अवसन्न आदि कुमुनियोंका स्वरूप कहा है । टीकाकार ने गा० १९४४ की टीकामे इन कुमुनियोंका स्वरूप स्पष्ट किया है ।

**अवसन्न**—जो उपकरण, वसतिका और सस्तरकी प्रतिलेखनामे, स्वाध्यायमे, विहारभूमिके शोधनमे, गोचरीकी शुद्धतामे, ईर्यासमिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमे तत्पर नहीं रहता, छह आवश्यकोमे आलस्य करता है, उसे अवसन्न कहते है ।

**पाश्वर्य**—जो उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है, नित्य एक ही वसतिकामे रहता है, एक ही सस्तरपर सोता है, एक ही क्षेत्रमें रहता है, गृहस्थोके घरके भीतर बैठता है, रातमे मनमाना सोता है, वह पाश्वर्य है ।

टीकाकारने उपकरणवकुश और शरीरवकुशको भी पार्श्वस्थमुनि कहा है। तत्त्वार्थसूत्रमें वकुशमुनिको भी निरग्रन्थके भेदोंमें कहा है और तदनुसार ही सर्वार्थसिद्धि और राजवातिक आदि टीकाओंमें कहा है। किन्तु विजयोदया टीकाकार लिखते हैं—जो रातमें मनमाना सोता है, संस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौड़ा बनाता है वह उपकरणवकुश है। जो दिनमें सोता है वह देहवकुश है। ये भी पार्श्वस्थ हैं। सारांश यह है कि जो सुखशील होनेके कारण ही अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है।

**कुशील**—जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है। उसके अनेक भेद टीकाकारने कहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओंमें कुशीलको भी निरग्रन्थ मुनियोंमें गिनाया है।

**संस्कृत**—जो नटकी तरह चारित्र्य प्रेमियोंमें चारित्र्य प्रेमी और चारित्र्यसे प्रेम न करनेवालोंमें चारित्र्यके अप्रेमी बनते हैं वे संस्कृत मुनि हैं। वे पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहते हैं। त्रिष्योके विषयमें रागभाव रखते हैं। ऋद्धिगारव, रसगारव, सातगारवमें लीन रहते हैं।

**यथाच्छन्द**—जो बात आगममें नहीं कही है उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिए पूरे ग्राममें भ्रमण करनेसे जीवनिकायकी विगधना होती है। जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है। आदि, जो क्षपक मरते समय सन्मार्गसे च्युत हो जाते हैं उसका कारण सात गाथाओंसे कहा है।

**मरणोत्तर विधि**—गा० १९६८ से मरणोत्तर विधिका वर्णन है जो आजके युगके लोगोंको विचित्र लग सकता है। यथा—

१ जिस समय साधु मरे उसे तत्काल वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमें मरा हो तो जागरण, बन्धन या च्छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

२ यदि ऐसा न किया जाये तो कोई विनोदी देवता मृतक को उठाकर दौड़ सकता है, क्रीडा कर सकता है, वाधा पहुँचा सकता है ॥१९७१॥

३ अनिष्टकालमें मरण होने पर शेष साधुओंमें से एक दो का मरण हां सकता है इसलिये सघकी रक्षाके लिये तृणोका पुतला बनाकर मृतकके साथ रख देना चाहिये।

४ शवको किसी स्थान पर रख देते हैं। जितने दिनों तक वह शव गीदड़ आदिसँ सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्यमें सुभिक्ष रहता है। इस प्रकार सविचार भक्त प्रत्याख्यानका कथन करके अन्तमें निर्यापकोकी प्रशंसा की है।

**अविचार भक्तप्रत्याख्यान**—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यानका समय नहीं रहता और सहसा मरण उपस्थित हो जाता है तब मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००॥ उसके तीन भेद हैं—निरुद्ध, निरुद्धतर और परम निरुद्ध। जो रोगसे ग्रस्त है, पैरोंमें शक्ति न होनेसे दूसरे सघमें जानेमें असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसी प्रकार शेषका भी स्वरूप और विधि कही है।

इस प्रकार सहसा मरण उपस्थित होनेपर कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाशकर मुक्त होते हैं। आराधनामें कालका बहुत होना प्रमाण नहीं है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भी बद्धन राजा

भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे बोधको प्राप्त होकर मुक्ति गया ॥२०२॥

आगे इंगिणीमरणका कथन है—

**इंगिणीमरण—**इंगिणीमरणका इच्छुक साधु सघसे अलग होकर गुफा आदिमे एकाकी आश्रय लेता है उसका कोई सहायक नहीं होता। स्वयं अपना सस्तरा बनाता है। स्वयं अपनी परिचर्या करता है। उपसर्गको सहन करता है क्योंकि उसके तीन शुभ सहननीममें कोई एक सहनन होता है। निरन्तर अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमे लीन रहता है। यदि पैरमे कांटा या आंखमें धूल चली जाये तो स्वयं दूर नहीं करता। भूखप्यामका भी प्रतीकार नहीं करता।

**प्रायोपगमन—**प्रायोपगमनकी भी विधि इंगिणीके समान है। किन्तु प्रायोपगमनमे तुणोंके सस्तरका निषेध है। उसमे स्वयं तथा दूसरेसे भी प्रतीकार निषिद्ध है। जो अस्थिचर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन करता है। यदि कोई उन्हे पृथ्वी जल आदिमें फेंक देता है तो वेसे ही पड़े रहते हैं।

**बाल पण्डितमरण—**भेद सहित पण्डित मरणका कथन करनेके पश्चात् बाल पण्डितमरणका कथन है। एक देश समयका पालन करनेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावकके मरणको बाल पण्डितमरण कहते हैं। उसके पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत होते हैं। दिग्दिवरति, देशदिवरति और अनर्थदण्डदिवरति ये तीन गुणव्रत हैं ॥२०७॥ और भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथि सविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत हैं। तत्त्वार्थसूत्रमे भी ये ही व्रत कहे हैं। किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचार्यसे इसमे अन्तर है।

श्रावक विधिपूर्वक आलोचना करके तीन शल्योको त्याग अपने घरमे ही सस्तर पर आरूढ होकर मरण करता है। यह बालपण्डितमरण है।

अन्तमे पण्डित पण्डित मरणका कथन है। जो मुनि क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके केवलज्ञानी होकर मोक्ष लाभ करता है उसका पण्डित पण्डित मरण है। उसकी सब विधि कही है कि किस गुणस्थानमे किन प्रकृतियोका क्षय करता है। केवलज्ञानी होनेपर क्या क्या करता है, आदि।

अन्तमे कहा है कि समस्त आराधनाका कथन श्रुतकेवली भी करनेमे असमर्थ है।

उक्त विषयपरिचयसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थका नाम आराधना क्यों रखा गया और क्यों उसके साथ भगवती जैसा आदरसूचक विशेषण लगाया गया।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रको अखण्ड जिनशासनने मोक्षका मार्ग माना है। सम्यक् चारित्रमे ही तप भी गभित है। इनका वर्णन अनेक जिनागमोमे है। किन्तु आराधना शब्दसे वहाँ उनका व्यवहार नहीं किया गया है। ग्रन्थकारने दूसरी गाथाके द्वारा आराधनाका स्वरूप कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरणको आराधना कहते हैं। टीकाकारने अपनी टीकामें इन पाँचोका स्वरूप स्पष्ट किया है।

अन्तिम निस्तरण शब्दका अर्थ किया है सम्यग्दर्शन आदिको भवान्तरमे भी साथ ले जाना। इस ग्रन्थके अन्य व्याख्याकारोंके मतकी आलोचना टीकाकारने यद्यपि की है। तथापि उससे यह स्पष्ट होता है कि यत्तः इस ग्रन्थमे मुख्य रूपसे मरण समाधिका वर्णन है और जीवन



भर आराधना करनेका सुफल मरणकालमें आगधना है। उसमे यदि आराधक चूक जाता है तो उसके जीवनभरकी आराधना निष्फल हो जाती है। इसीसे इस ग्रन्थमे आराधना नाम देकर उसके साथ अत्यन्त पूज्यता सूचक विशेषण भगवती लगाया है। जिस आराधनाके द्वारा आराधक शरीर त्यागकर अपुनर्जन्म जैसे निर्वाणका लाभ करता है और भगवान बनता है उसे भगवती कहना सर्वथा उपयुक्त है।

#### ४ ग्रन्थमें चर्चित मुख्य विषय

जैसा विषय परिचयसे स्पष्ट है इस ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है मरणके प्रकार। यद्यपि मरणके सतरह भेद कहे है किन्तु ग्रन्थकारने उनमेसे पाँच प्रकारके ही मरणोंका कथन किया है। वे हैं केवलज्ञानीका मरण अर्थात् निर्वाण लाभ पण्डितमरण है। विरताविरत अर्थात् देशसंयमीका मरण बाल पण्डितमरण है। अविरत सम्यग्दृष्टीका मरण बालमरण है और मिथ्यादृष्टिका मरण बालबालमरण है। तथा शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधुका मरण पंडितमरण है उसके तीन प्रकार हैं। उनमेसे भक्त प्रतिज्ञा नामक पण्डित मरणका ही इस ग्रन्थमें वर्णन विशेष रूपसे है।

गाथा २८ मे जो 'साहस्र' के साथ 'जहुत्तचारिस्म' विशेषण दिया है वह बहुत महत्त्वका है। जो साधु होकर शास्त्रानुसार आचरण करते हुए समाधिपूर्वक मरण करता है उसीका मरण पण्डितमरण है केवल साधुपद स्वीकार कर लेने मात्रसे पण्डितमरण नहीं होता।

**समाधिपूर्वक मरण और आत्मघात**—आजके अनेक विद्वान भी जो जिनागमसे पूर्णतया परिचित नहीं हैं किसी जैन साधूके समाधिपूर्वक मरणको भी आत्मघात जैसे दूषित शब्दसे कहते हुए सुने जाते हैं। उन्हें यह ध्यानमें रखना चाहिये कि जैन साधु किस दशामें समाधि लेनेके लिये तैयार होता है। गाथा ७०-७२ मे कहा है—

यदि किसीको साधुपदके लिये हानिकर असाध्य व्याधि हो गई हो, या अचानक कोई ऐसा उपसर्ग आ जावे जिसमें जीवन पर संकट हो, या अपने इष्टमित्र ही अपने चारित्रका घात करने पर उतर आवे, या भयंकर दुर्भिक्ष हो जिसमे साधुचर्याके योग्य गोचरी मिलना संभव न हो, या आँखोसे कम दिखाई देता हो, कानोसे कम सुनाई पडता हो, या पैरोमे चलने फिरनेकी शक्ति न हो, अन्य भी इस प्रकारके कारण उपस्थित होने पर ही साधु समाधि लेनेका सकल्प करता है।

इसके विपरीत जिसका मुनिधर्म निगतिचार पूर्वक पल रहा है, दुर्भिक्ष आदि भी नहीं हैं, वह भी यदि समाधिके लिये उत्सुक होता है तो समझना चाहिये कि उसे मुनिधर्मसे ही विरक्ति हो गई है ( ७५ )।

इतना स्पष्ट विधान होते हुए भी जैन समाधिको आत्मघातकी संज्ञा देना अत्यन्त अनुचित है। इसके विपरीत 'हिन्दू धर्मशास्त्रोमे जो धर्मके नामपर पर्वतसे गिरकर या आगमे जलकर मरनेका विधान है वह आत्मघातमे भी क्रूर है। इस तरहके मरणको किसी भी तरह धर्म नहीं कहा जा सकता।

समाधिमरणको सल्लेखना कहते हैं, सम्यक् रीतिमें शरीर और कषायको कृश करनेका नाम सल्लेखना है। शरीर बाह्य है और कषाय अभ्यन्तर है। शरीरका साधन भोजन है। धीरे-धीरे आहारको घटानेसे शरीर कृश होता है और कषायके कारणसे बचनेसे कषाय घटती है। शरीरको सुखा डाला और क्रोध मान माया लोभ नहीं घटे तो शरीरका शोषण निष्फल है। आत्मघात करनेवालेकी कषाय प्रबल होती है। क्योंकि जो रागद्वेष या मोहके आवेशमें आकर विष, शस्त्र, आग आदिके द्वारा अपना घात करता है वह आत्मघाती कहलाता है। सल्लेखना करनेवालेके रागादि नहीं होते। नत्त्वार्थसूत्र ७।२२ की टीका सर्वार्थसिद्धिमें एक उदाहरणके द्वारा इसे स्पष्ट किया।

जैसे व्यापारीको अपने व्यापारके केन्द्रका विनाश इष्ट नहीं होता क्योंकि उसके नष्ट होने पर उसका व्यापार ही नष्ट हो जायेगा। यदि किसी कारणवश उसके केन्द्रमें आग लग जाये तो वह उसको बुझाकर उमकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करता है। किन्तु यदि उसको बचाना शक्य नहीं देखता तो उसमें भरे हुए मालको बचानेका प्रयत्न करता है। इसी तरह व्रत शीलरूपी द्रव्यके संचयमें लगा हुआ साधु या गृहस्थ भी अपने शरीरको नष्ट करना नहीं चाहता, क्योंकि वह धर्मका साधन है। यदि शरीर नष्ट होनेके कारण उपस्थित होते हैं तो अपने धर्मके अविरुद्ध उपायोसे शरीरकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता है किन्तु यदि वह प्रयत्न सफल नहीं होता तो शरीरकी रक्षाका प्रयत्न त्यागकर अपने धर्मकी रक्षाका प्रयत्न करता है। ऐसी स्थितिमें उसे आत्मवध कैसे कहा जा सकता है ?

यथार्थमें मरण शरीरधारी प्राणियोंके लिये उत्तना ही सत्य है जितना जीवन सत्य है। जीवनके मोहमें पडकर मनुष्य उस सत्यको भुला देता है और जिम किसी भी उपायसे सदा जीवित रहनेका ही प्रयत्न करता है। किन्तु उसका यह प्रयत्न सफल नहीं होता। एक दिन मृत्यु उसके इस प्रयत्नको समाप्त कर देती है। अतः जीवनके साथ मृत्युके मुनिश्चित होनेसे मनुष्यको जीवनके साथ मरनेके लिये भी तैयारी करते रहना चाहिये। तथा जीवनमें हर्ष और मृत्युमें विषाद नहीं करना चाहिये। जिनकी मृत्यु शानदार होती है उनका जीवन भी शानदार होता है। रोते धोते हुए प्राणोका त्याग करना भी कायरता ही है। अतः मृत्युका आलिंगन भी साहसके साथ करना चाहिये। उसीका कथन इस ग्रथराजमें है।

#### ५ भ० आराधना और मरणसमाधि आदि

आगमोदय समितिसे १९२७ में 'चतुःशरणानि मरण समाध्यन्त प्रकीर्णक दशक' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसमें आतुर प्रत्याख्यान, भक्तपरिणय, सधारगपदण्य और मरण समाही इन चारमें प्रायः वही विषय है जो भ० आराधनामें मुख्य है। आतुर प्रत्याख्यानमें ७० गाथाएँ हैं। भक्तपरिणयमें १७२ गाथा हैं। सधारगपदण्यमें १२३ और मरण समाधिमें ६६३ गाथा हैं। इस तरह मरण समाधि बड़ा ग्रथ है और उसमें तथा भ०आ० में बहुत सी गाथाएँ समान हैं।

शिष्य आचार्यसे मरण समाधि जानना चाहता है। आचार्य उसे समझाते हैं—

भणइ य तिविहा भणिया सुविहित आराहणा जिण्णदेहि ।

सम्मत्तम्मि य पढमा नाणचरित्तेहि दो अण्णा ॥ १५ ॥

इस तरह इसमें तीन ही आराधना कही हैं। इसमें भी गाथा ४४ में पण्डितमरणको कहनेकी सूचना है—

इतो जह करणिज्जं पंडियमरणं तहा सुणह ।

आगे मरणसमाधिकी गा० ६० से ६६ तथा भ० आ० की गाथा १८१ से १८८ समान हैं। आचार्य कैसा होना चाहिये यह दो गाथा ८६-८७ में कहा है और भ०आ० ४१९-४२० गा० में कहा है। ये गाथाएँ समान नहीं हैं कथनी समान है।

भ० स० ९४-९५ में और भ०आ० ५३३-५३४ में आलोचनाका कथन है। तथा म०स० ९६-१०१ में और भ०आ० ५४०-५४२, ५४५, ५४८, ५४९ में शल्योका कथन है। गाथा ३०१ से आगे कहा है—

इति सिरिमरणविभक्तिसुए मलेहणसुयं सम्मन । अथ आराहणासुय लिख्यते ।

अर्थात् मरणविभक्तिश्रुतके अन्तर्गत सल्लेखना श्रुत समाप्त हुआ। अब आराधनाश्रुत लिखते हैं। इस तरह इसमें दो विभाग किये हैं।

भ० आ० की तरह इसमें भी साधना करनेवालोंके उदाहरण दिये हैं। यथा—कचनपुरमे श्रेष्ठ जिनधर्म श्रावक (४२३)। मेतार्यं मुनि (४२६), चिंलानी पुत्र (८२७), गज सुकुमाल (४३१), अवन्ति सुकुमाल (४३५), धन्य गालिभद्र (४४४), मुकोशल (४६६), वडर ऋषि (४६८), वडर स्वामी (४७२), चाणक्य (४७८), इलापुत्र (४८३), क्षमाश्रमण आर्यरक्षित (४८९), स्थूलभद्र ऋषि (४९०), अर्जुन मालाकार (४९४), आसाढ मूर्ति आचार्य (५०२) आदि।

अन्तिम गाथाओंमें कहा है—एक मरणविभक्ति, दो मरणविशुद्धि, तीसरी मरणसमाधि, चतुर्थ सल्लेखनाश्रुत, पाँच भक्तप्रतिज्ञा, छठा आतुर प्रत्याख्यान, सातवाँ महाप्रत्याख्यान, आठवाँ आराधना पद्धणा इन आठ श्रुतोंका भाव लेकर मरणविभक्तिकी रचना की है। इसका दूसरा नाम मरणसमाधि है।

आतुर प्रत्याख्यानका प्रारम्भ बालपण्डितमरणसे होता है। अतः भ० आ० की २०७२ से २०८१ तककी गाथाएँ इसमें एकसे दसतक वर्तमान हैं। इसमें आगे कुछ ऐसी गाथाएँ भी हैं जो कुन्दकुन्दके प्राभूतोमें पाई जाती हैं यथा ममन परिवज्जामि ॥२३॥ आया हू मह नाणे ॥२४॥ एगो मे सासदो अप्पा ॥२६॥ मंजोगमूला जीवेण ॥२७॥

भक्तपद्धणामे भी अनेक गाथाएँ भ० आ० के समान हैं। सस्तार पद्धणाका प्रारम्भ क्षपकके लिये आवश्यक सस्तारककी प्रशंसासे होता है। इसकी प्रथम गाथामें सस्तारकी प्रशंसामें वे ही उपमा दी है जो भ० आ० में ध्यानकी प्रशंसामें दी हैं। यथा—

वेरुलिउव्व मणीण गोसीसं चदण व गघाण ।

जह व रयणेसु वडर तह सथारो सुविहियाण ॥९॥

× × × × × ×

वडर रदणेसु जहा गोसीसं चदण च गघेसु ।

वेरुलिय व मणीण तह ज्जाण होइ खवयस्स ॥१८९॥

इसमें भी भ० आ० की तरह ही सुकोशल मुनि (६३), अवन्ति सुकुमाल (६५), रोहटक नगरमें कांब क्षत्रिय (६८) पाटलीपुत्रमें चन्द्रगुप्त (७०), कोलपुरमें गृद्धपृष्ठ (७१), पाटलीपुत्रमें चाणक्य (७३), काकन्दीपुरीमें अमृतचोष (७६), कौशाम्बीमें ललित घटा (७९), कुरुदत्त (गुरुदत्त) (८५), चिंलाती पुत्र (८६), गजसुकुमाल (८७), आदि उदाहरण दिये हैं।

जैसे भगवतीमें गुरु क्षपकको सम्बोधन करते हैं। इसमें भी कुछ उसी प्रकार है। कोई-कोई गाथा भी समान है।

इस तरह मरणसमाधि, भक्तपङ्कणा और संधारणमें तथा भगवती आराधनामें अनेक गाथाएँ समान हैं। किन्तु इनमें केवल समाधि सम्बन्धी कुछ आवश्यक कथन ही पाया जाता है। मरणोत्तर क्रियाका, ध्यानका, लिंगका तो वर्णन ही नहीं है। इसी प्रकार अपना सब छोड़कर निर्यापकाचार्यको खोजनेका भी कोई वर्णन नहीं है। भगवती आराधनामें आराधनासे लेकर निर्वाण तकका सब अविकल वर्णन विस्तारसे किया है। गाथाओंमें समानता होनेका प्रमुख कारण तो यह है कि तीनों ही सम्प्रदायोंका मूल तो भगवान् महावीरकी वाणी और गौतम गणधरके द्वारा रचित द्वादशांग ही रहे हैं। भेदका मूलकारण वस्त्रपात्रवाद रहा है। विधि तो पृथक्-पृथक् नहीं रही। अतः प्राचीन गाथाएँ उत्तराधिकारमें दोनोंको मिली हैं। वही सर्वत्र मेल खाती है उनमें सिद्धान्त भेदको बात नहीं है।

अतः अपनी रचनाके अन्तमें शिवार्यने जो कहा है कि मैंने अपनी शक्तिसे इसे उपजीवित करनेके पूर्वार्चायुक्तके समान रचा है वही इसपर पूर्ण प्रकाश डालता है। मरण समाधि भी इसी प्रकार रची गई है।

#### ६ भ० आ० तथा मूलाचार

दिगम्बर परम्परामें मूलाचार मुनि आचार विषयक प्राचीन मान्य ग्रन्थ है। टीकाकार अपराजित सूरिकी टीकामें उद्धृत कुछ गाथाएँ मूलाचारमें मिलती हैं। भगवती आराधनाके साथ मिलान करनेसे भी दोनोंकी कुछ गाथाएँ परस्परमें मेल खाती हैं। किन्तु ये गाथाएँ अधिकतर मूलाचारके पञ्चाचार प्रकरणसे सम्बद्ध हैं। मूलाचारमें समाधिमरणका कथन नहीं है केवल मुनिआचारका ही कथन है। श्वेताम्बरीय मरणसमाधि आदि प्रकरणोंमें केवल मरणसमाधिका ही कथन है। किन्तु भगवती आराधनामें मुनि आचार और मरणसमाधि दोनोंका ही कथन है क्योंकि पण्डितमरणमें ही भक्त प्रतिज्ञा आदि होती है और वह मुनिके ही होता है। इसलिये भ० आ० में मुनि आचारका भी कथन है। तथा भ० आ० में जो मुनिका आचार कहा है वह मूलाचारमें भी कहा है।

जिस 'आयार जीद कप्य' आदि गाथाके सम्बन्धमें कहा जाता है कि श्वेताम्बरीय हाना चाहिये, वह भी मूलाचारके पञ्चाचारमें है। इस प्रकरणकी लगभग सैतीस गाथाएँ भगवतीमें मेल खाती हैं। भ० आ० में जो लिंग प्रतिपादक गाथा है वह भी मूलाचारमें है। अच्चेलकं लोचो आदि समयसाराधिकारकी १७ वी गाथा है। इसी अधिकारमें दस कल्पवाली गाथा भी है। पीछीके गुण बतलानेवाली गाथा भी इसी अधिकारमें है उसका नम्बर १९ है। भ० आ० में इनका क्रमांक ७९, ४२३, ०७ है।

इसके समयसाराधिकार की ८, ९, १६, १९, ४९, ६० और ८१ नम्बर की गाथाएँ भ० आ० में ७६८, ७६९, २९०, ९७, ७, २९७ और १४३४ नम्बरमें पाई जाती हैं। इनमें साधुके लिये उपयोगी कथन है—यथा आचरणहीन ज्ञान निरर्थक है। ज्ञान प्रकाशक है और तप शोधक है। निद्राको जीतना चाहिये। जिस क्षेत्रमें राजा न हो या दुष्ट राजा हो, वहाँ समाधि या प्रव्रज्या नहीं लेना चाहिये। आदि।

पञ्चाचाराधिकारकी गा० ४०, ४२, ४८, ९८, ९९, ११०, ११७, १२३, १३०, १३१, १३२, १३३, १३५, १३६, १३८, १३९, १४०, १४३, १४५, १४६, १५६, १६२, १७०, १७२, १७४, १७७, १७८, १८२, १८९, १९०, १९४, १९९, २०४, २०५, २१०, २१२, २१३, भ० आ० मे क्रमशः १८१९, १८२९, १८४१, ११७२, ११८०, ११८६, ११८८, ८०८, ११९५, ११९६, ११९७, ११९८, ११८१, ११८२, ११८४, ११९९, १२००, १२०४, १२०६, १२०७, २१५, २३८, ११२, ११४, ११९, १२२, १२३, १०७, १३१, १३२, ३०७, १६९८, १७०८, १७०९, १११२, १०६, १०३ है।

दोनों ग्रन्थोंके गाथानुक्रमको देखते हुए यह कहना अति साहस होगा कि किसी एकने दूसरेसे लिया है या नकल की है। प्राचीन माने जानेवाले ग्रन्थोंमें इस प्रकारका क्वचित् साम्य देखकर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि प्राचीन गाथाएँ परम्परासे अनुस्यूत चली आती थी और उनका सकलन ग्रन्थकारोंने अपने-अपने ढंगसे किया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायमें वस्त्र और पात्रक कारण मुनि आचारमें भेद बड़ा है। किन्तु भ० आ० और मूलाचारके आचारमें साम्य देखकर यह कहना पड़ता है कि यदि भगवती आराधनाके कर्ता दिगम्बर सम्प्रदायक न होकर यापनीय थे तो भी यापनीय और दिगम्बर साधुओंके आचारमें भेद नहीं था। आगे इसका चर्चा करेंगे।

### ७ रचयिताका सम्प्रदाय

स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमी ने 'यापनीयोंका साहित्य' शीर्षक लेखमें भगवती आराधनाके रचयिता शिवायं और टीकाकार अपराजित मूरिको यापनीय सिद्ध किया है।

यहाँ प्रथम यापनीयोंके सम्बन्धमें प्रकाश डालना उचित होगा।

वि० सं० ९९० में रचे गये दर्शनसारमें<sup>१</sup> देवसेन ने वि० सं० २०५ में कल्याण नगरमें श्रीकलश नामके श्वेताम्बरसे यापनीय सघकी उत्पत्ति बतलाई है। उसीमें विक्रसं० १३६ में श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति बतलाई है। इस तरह दिगम्बर और श्वेताम्बरकी तरह तीसरा भी जैन सघ था। डा० उपाध्ये ने अपने एक लेखमें<sup>२</sup> यापनीय संघ पर विस्तारसे प्रकाश डाला था।

दिगम्बर साहित्यमें वि० को सोलह शताब्दीके ग्रन्थकार श्रुत सागरसूरि ने अपनी षट् प्राभूत टीकामें यापनीयोंका परिचय देते हुए लिखा है—

'यापनीयास्तु वसरा ? इवोभय मन्यते रत्नत्रय पूजयन्ति कल्प च वाचयन्ति। स्त्रीणां तद्भुवे मोक्ष केवलिजनाना कवलाहार परशासने सग्रन्थाना मोक्ष च कथयन्ति।'

अर्थात् यापनीय दोनोंको मानते हैं, रत्नत्रयको पूजते और कल्पसूत्र भी वाचते हैं। स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष, केवली जिनके कवलाहार, परशासनमें सग्रन्थोंको मोक्ष कहते हैं। यह सभी बातें श्वेताम्बर मानते हैं और इन्हींको लेकर श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदायमें मुख्य भेद है।

१. कल्लाणे वरणयरे दुण्णिणिए पच उतरे जादे। जावणियसघभावो। सिरिकलसाधो दु सेवडवो ॥ २९ ॥

२. बम्बई युनिवर्सिटी जर्नल लि० १, भाग २, मई १९३३ में प्रकाशित 'यापनीयसघ ए जैन सक्ट'।

किन्तु ललितविस्तरके कर्ता हरिभद्र और षड्दर्शन समुच्चयके टीकाकार गुणरत्न जो श्वेताम्बर हैं, कहते हैं कि यापनीय संघके मुनि नग्न रहते थे मारकी पीछी रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकोंको 'धर्मलाभ' देते थे। परन्तु वे मानते थे कि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष हो सकता है। केवली भोजन करते हैं और सग्रन्थ अवस्था और परशासनसे भी मुक्त होना सम्भव है।

हम इस कथनके प्रकाशमें सर्व प्रथम भ० आ० की परीक्षा करेंगे। प्रेमा जी ने लिखा है गाथा ७९-८३ में मुनिके उत्सर्ग अपवाद मागका विधान है जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है। अतः सबसे प्रथम हम इसी पर प्रकाश डालते हैं।

भक्त प्रत्याख्यानके योग्य लिंगका निरूपण करते हुए ग्रथकार कहते हैं—जो औत्सर्गिक लिंगका धारी है उसका तो वही लिंग होता है। किन्तु जो आपवादिक लिंगका धारी है उसके पुरुष चिह्नमें यदि दोष न हो तो उसके लिये भी औत्सर्गिकलिंग ही होता है ॥ ७६ ॥

इसकी टीकामें अपराजित सूरि ने औत्सर्गिकका अर्थ सकल परिग्रहके त्यागसे उत्पन्न हुआ किया है तथा अपवादिक लिंगका अर्थ परिग्रह सहित लिंग किया है; क्योंकि यतियोंके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि अपवादिक लिंगका धारी गृहस्थ ही होता है। मुनि तो औत्सर्गिक लिंगका ही धारी होता है।

जो अपवादिक लिंग में स्थित है और जिनके पुरुष चिह्नमें कोई दोष नहीं है क्या उन सबको ही औत्सर्गिक लिंग धारण करना चाहिये, इसके उत्तरमें कहा है—जो महान् सम्पत्तिशाली राजा आदि है, लज्जाशील है, जिनके कुटुम्बी मिथ्याधर्मावलम्ब्यो हैं उनको सार्वजनिक स्थानमें औत्सर्गिक लिंग नहीं देना चाहिये। वे सचेल लिंग पूर्वक ही समाधिमरण कर सकते हैं ॥ ७८ ॥

**आगे औत्सर्गिक लिंगका स्वरूप कहा है—**

अचेलता—वस्त्ररहितपना, केशलोच, शरीरसे ममत्वका त्याग और पीछी औत्सर्गिक लिंगमें ये चार बातें आवश्यक हैं ॥ ७९ ॥

प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें कुन्दकुन्द स्वामो ने भी औत्सर्गिक लिंगका यही स्वरूप कहा है। और मूलाचारमें तो यहाँ गाथा है। दोनों गाथाएँ समान हैं। यह तो हुआ पुरुषोंके सम्बन्धमें। स्त्रियोंके सम्बन्धमें कहा है—स्त्रियोंके भी जो औत्सर्गिक अथवा अन्य लिंग आगममें कहा है उनके वही लिंग अल्पपरिग्रह करते हुए होता है ॥ ८० ॥

इसकी टीकामें अपराजित सूरि ने स्पष्ट कर दिया है कि तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक लिंग होता है और 'इतर' का अर्थ श्राविका किया है। तथा लिखा है—भक्त प्रत्याख्यानमें तपस्विनियोंके औत्सर्गिक लिंग होता है। इतर अर्थात् श्राविकाओंके पुरुषोंकी तरह लगा लेना चाहिये। अर्थात् यदि स्त्री रानी वगैरह है, लज्जाशील है, उसके कुटुम्बी मिथ्यामती है तो उसको पूर्वोक्त औत्सर्गिक लिंग जो सकलपरिग्रह त्यागरूप है एकान्त स्थानमें देना चाहिये। इसपर प्रश्न किया गया कि स्त्रियोंके उत्सर्ग लिंग कैसे कहते हैं? उत्तरमें कहा है कि परिग्रह अल्प करने पर उनके भी उत्सर्गलिंग होता है। यहाँ यह ध्यान देना चाहिये कि यदि ग्रंथकार और टीकाकारको

सबस्त्र मुक्ति अभोष्ट होती तो वह भक्त प्रत्याख्यानके लिये औत्सर्गिक लिंग आवश्यक नहीं रखते और न टीकाकार उत्सर्गका अर्थ सकल परिग्रहका त्याग करते तथा परिग्रहको यतिजनोके अपवादका कारण होनेसे अपवादरूप न कहते। और न स्त्रियोंने ही अन्तिम समय एकान्त स्थानमें परिग्रहका त्याग करते।

द्वेताम्बर परम्परामें जो भक्तप्रत्याख्यान विषयक मरणसमाधि आदि ग्रंथ हैं, जिनके साथ इस ग्रंथकी अनेक गाथाएँ भी मेल खाती हैं उनमें भक्तप्रत्याख्यानके लिये आवश्यक लिंगका कथन ही नहीं है। किन्तु भगवती आगधनामें उसपर बहुत अधिक जोर दिया गया है और इस विषयमें ग्रंथकार और टीकाकारमें एकरूपता है। दोनों ही साधु आचारके विषयमें इतने कट्टर हैं कि दिग्म्बर आचार्योंको भी मात करते हैं।

आगे यह प्रश्न किया गया कि जो भक्तप्रत्याख्यानके योग्य है वह रत्नत्रयकी भावनाका प्रकर्ष होनेपर मरणको प्राप्त हो जायेगा, लिंग ग्रहण आवश्यक क्यों है ? इसके उत्तरमें ग्रन्थकार ने गा० ८१-८४ तक लिंग ग्रहणके गुण बतलाये हैं।

आगे प्रश्न किया गया क्या अपवाद लिंग का धारी शुद्ध नहीं ही होता ? इसके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते हैं—

अपवाद लिंगका धारी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए अपनी निन्दा गर्हा करते हुए परिग्रहका त्याग करने पर शुद्ध होता है ॥८६॥

इसकी टीकामें टीकाकारने निन्दा गर्हाको स्पष्ट करते हुए लिखा है—‘सकल परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है। मुझ पापीने परिग्रहके भयसे वस्त्रपात्र आदि परिग्रह स्वीकार की’ इस प्रकार अन्तरंगमें मन्नापको निन्दा कहते हैं। और दूसरोमें ऐसा कहनेको गर्हा कहते हैं। जो ऐसा करता है वह निन्दा गर्हा क्रियारूप परिणत होता है। अन्तमें लिखा है—

‘एवमचेलना व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता।’

अर्थात् इस प्रकार जिस अचेलताके गुणोका वर्णन किया गया है उसे मूल गुणरूपसे स्वीकार किया है।

जो सकल परिग्रहके त्यागको मुक्तिका मार्ग मानता है वह सबस्त्र मुक्ति या स्त्री मुक्ति कैसे स्वीकार कर सकता है ?

समाधिमरणके इच्छुक क्षपकको अपनी समाधिके लिए किस प्रकारका आचार्य खोजना चाहिये, इस प्रसंगसे कहा है जो दस कल्पोमें स्थित हो। अत गाथा ४२३ में दस कल्पोको कहा है। यह गाथा मूलाचारमें भी है और द्वेताम्बर आगमोंमें भी है। इसमें सबसे प्रथम कल्प है अचेलता। चेल वस्त्रको कहते हैं अत अचेलताका अर्थ होता है ‘वस्त्ररहितपना’। किन्तु टीकाकारने अचेलकपनेका अर्थ करते हुए लिखा है—‘चेल शब्दका परिग्रहका उपलक्षण है। अत आचेलक्यका अर्थ है समस्त परिग्रहका त्याग। दस धर्मोंमें त्याग नामका एक धर्म है। त्यागका अर्थ है समस्त परिग्रहसे विरक्तता। अचेलताका भी यही अर्थ है। अत ‘अचेल’ यति त्याग धर्मका पालक होता है आदि।

इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने अचेलताके गुणोका विस्तारसे समर्थन किया है। उसी

प्रसंगमें उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि पूर्वगिमोंमें वस्त्रपात्र आदि ग्रहण करनेका उपदेश है और उसको दिखलानेके लिए आचारंग, उत्तराध्ययन आदि आगमोंके प्रमाण उपस्थित किये हैं। तथा समाधानमें उन्हीं आगमोंके प्रमाण देकर यह बतलाया है कि आचारंग आदिमें विशेष अवस्थामें वस्त्रका ग्रहण बतलाया है लज्जाके कारण, शरीरके अग ग्लानियुक्त होनेपर तथा परिषद् महनेमें असमर्थ होनेपर वस्त्र ग्रहण करें।

इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें मुनिका वस्त्रपात्र ग्रहण मान्य है। वह तो आगमोंमें वर्णित वस्त्रपात्रको विशेष अवस्थामे ही बतलाया गया कहते हैं।

टीकाकार ने लिखा है—‘आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्र कारणापेक्षया भिक्षूणा ह्यिमान-योग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषद्ग्रहणे अक्षम स गृह्णाति अचेलता नाम परिग्रहत्याग पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणापेक्ष वस्त्रपात्र ग्रहणम् यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिर्गृहीतस्य च परिहरणमवश्य वक्तव्यम्। तस्माद् वस्त्रपात्र चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम् (पृ० ३२४-३२५)।

अर्थात् आगममें आर्यिकाओंको विशेष कारण होनेसे वस्त्रकी अनुज्ञा है। भिक्षुओंके शरीरका अवयव यदि लज्जाजनक हो लिंगके मुखपर चर्म न हो या अण्डकोष लम्बे हो, अथवा परिषद् ग्रहणमें असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण करता है। अचेलताका अर्थ है परिग्रह त्याग। पात्र भी परिग्रह है अतः उसका भी त्याग सिद्ध ही है। अतः कारण विशेष होनेपर ही वस्त्रपात्रका ग्रहण होता है तथा कारण विशेष होने पर जो उपकरण ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहणकी विधि, तथा ग्रहण किये हुए का त्याग अवश्य कहना चाहिये। इसलिये बहुतेसे सूत्रग्रन्थोंमें अर्थाधिकारकी अपेक्षासे जो वस्त्रपात्रका कथन किया है वह कारण विशेषकी अपेक्षा कहा है ऐसा मानना चाहिये।

उक्त उद्धरणोंसे टीकाकार की भी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। तथा दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीयका भी भेद स्पष्ट हो जाता है। दिगम्बर तो विशेष परिस्थितिमें भी वस्त्रपात्रका ग्रहण स्वीकार नहीं करते, न वे ऐसे आगमोंको मान्य करते हैं जिनमें वस्त्रपात्रका पोषण है। यापनीय उन आगमोंको अमान्य न करके उनके कथनको विशेष कारणकी अपेक्षा स्वीकार करते हैं। अतः कारण विशेषसे ग्रहण किये गये वस्त्रपात्रको वे त्याज्य ही मानते हैं। अतः जिसने अपनी असमर्थताके कारण वस्त्र ग्रहण किया है उसे अन्तमें वस्त्र त्याग करना ही होगा यह ग्रन्थकार और टीकाकार दोनोंका मन्तव्य है। अतः न वे वस्त्रग्रन्थको मानते हैं और न परशासनमें भुक्ति मानते हैं। किन्तु वे वस्त्रपात्रवादके समर्थक आगमोंको दिगम्बरोंकी तरह सर्वथा अमान्य नहीं करते। इसीसे वे यापनीय कहे जा सकते हैं। यापनीय आगम ग्रन्थोंको मानते थे यह शाकटायन व्याकरणके उदाहरणोंसे भी स्पष्ट है।

इस ग्रन्थकी सर्वप्रथम भाषा टीका प० सदासुखदास जी ने की थी। उनके सामने अपराजित मुरिकी टीका भी थी। उक्त प्रकरणको देखकर उन्होंने लिखा था कि इस ग्रन्थकी टीकाका कर्ता श्वेताम्बर है, वस्त्र पात्र आदिका पोषण करता है अतः अप्रमाण है।

तब तक यापनीय सबसे विद्वान भी अपरिचित थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दो ही जैन सम्प्रदाय सर्वत्र ज्ञात थे और पूर्वगिमोंको दिगम्बर स्वीकार नहीं करते थे, श्वेताम्बर ही स्वीकार



करते थे। अतः जो उन्हें स्वीकार करे उसे श्वेताम्बर मान लिया जाता था। इसी आधार पर डा० के० बी० पाठरुने शाकटायनको श्वेताम्बर मान लिया था और उनकी इस मान्यताको अनेक विदेशी विद्वानोंने भी स्वीकार कर लिया था, क्योंकि शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें अनेक श्वेताम्बर मान्य आगम ग्रन्थोंका निर्देश है।

डा० पाठरुकी इस मान्यताका निरसन श्रीयुत स्व० प्रेमी जीने 'शाकटायन'का शब्दानुशासन' शीर्षक अपने निबन्धके द्वारा किया था जो सन् १९१६ में जैन हितैषीमें प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने नन्दिसूत्रकी टोकामे आचार्य मलयगिरिके एक वाक्यकी ओर ध्यान दिलाया था। उसमें शाकटायनको यापनीय यतिग्रामाग्रणी लिखकर उनकी स्वोपज्ञ शब्दानुशासन वृत्तिके आदिम मंगल श्लोकको उद्धृत किया है। उसके पश्चात् डा० ए० एन० उपाध्येका यापनीयोंके सम्बन्धमें लेख बम्बई यूनिवर्सिटीके जर्नल ( जि० १, भाग ६ मई १९३३) में प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने बतलाया कि श्वेताम्बर और दिगम्बरकी तरह ही यापनीय भी एक स्वतन्त्र और प्रमुख सम्प्रदाय था। उसके अपने मन्दिर और मूर्तियाँ थी दक्षिणके अनेक राजवंशोंसे उन्हे संरक्षण प्राप्त था। शाकटायन इस सम्प्रदायका एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार था। उसके शब्दानुशासनको अमोघवृत्तिके साथ दिगम्बरोंने अपना लिया और शेष दो प्रकरणोंको श्वेताम्बरोंने।

ये दो प्रकरण हैं स्त्रीमुक्ति और केवलभुक्ति। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायके मौलिक भेदमें ये ही दोनो मान्यतायें प्रमुख कारण हैं।

भारतीय ज्ञानपीठसे अमोघवृत्तिका जो सम्स्करण प्रकाशित हुआ है उसके प्रारम्भमें जर्मनीके प्रो० डा० आर० बिरवेकी विद्वत्तापूर्ण अग्रेजी प्रस्तावना है। उसमें उन्होंने उक्त दोनो प्रकरणोंके शब्दानुशासनके रचयिता शाकटायनकृत होनेमें कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। ये दोनों प्रकरण भी इस सम्स्करणमें दिये गये हैं। प्रथम स्त्रीमुक्ति प्रकरण है। इसके प्रारम्भमें छपा है—

'यापनीय-यतिग्रामाग्रणि भदन्तशाकटायनाचार्य-विरचित  
स्त्रीमुक्ति-केवलभुक्तिप्रकरणयुग्मम् ।

स्त्रीमुक्ति प्रकरणके अन्तमें उसके कर्ताका नाम नहीं है। यथा—

इति स्त्रीमुक्ति प्रकरणं समाप्तम् ।

केवल भुक्ति प्रकरणका अन्त इस प्रकार है—

इति केवलभुक्ति प्रकरणम् ।

इति स्त्रीनिर्वाण-केवलीयभुक्ति प्रकरणम् ॥

कृतिरिय भगवदाचार्यशाकटायनभदन्तपादानमिति ।

इस परसे प्रो० डा० बिरवेने लिखा<sup>१</sup> है कि इसमें खटकने वाली बात यह है कि अन्तिम पुष्पिकामें केवल भगवदाचार्य शाकटायन लिखा है उसमें उनके सघका निर्देश नहीं है। किन्तु प्रारम्भिक वाक्यमें शाकटायनके साथ यापनीययतिग्रामाग्रणी पद लगा है जैसा कि मलयगिरिने लगाया है। यह मौलिक अन्तर उल्लेखनीय है।

१. जै० सा० इ०, पृ० १५५ ।

२. उक्त प्रस्तावना, पृ० १७ आदि ।

दोनों प्रकरणोंके प्रकाशित संस्करणमें ऐसा उल्लेख नहीं है कि यापनीय शाकटायनने स्त्रीमुक्ति और केवल भुक्ति प्रकरण तथा अमोघवृत्तिके साथ शब्दानुशासनकी रचना की। तथा मलयगिरि दोनों प्रकरणों और उनके कर्ताके सम्बन्धमें मीन है।

इस परसे यह संभावना होती है कि यद्यपि दोनों शाकटायन यापनीय थे। किन्तु एक नहीं थे। यह निष्कर्ष केवल इस बात पर निर्भर है कि दोनों प्रकरणोंकी हस्तलिखित मूल प्रति पर 'यापनीय' प्रकरण युग्मम् वाक्य पाया जाता है। किन्तु यदि उस पर यह वाक्य नहीं है जैसा कि मुझे (प्रो० विरवे) सन्देह है क्योंकि संस्कृत ग्रन्थोंके आधुनिक संस्करणोंके मुख्य पृष्ठोंका मुझे इससे स्मरण हो आता है, तो शाकटायनके यापनीय तथा दोनों प्रकरणोंके रचयिता होनेकी यह साक्षी मलयगिरिके कथनसे मेल नहीं खाती।

वृहत् टिप्पणिका (१५ वी० शती) के अज्ञात लेखकने लिखा है—

केवलभुक्ति-स्त्रीमुक्तिप्रकरणम् । शब्दानुशासनकृतशाकटायनाचार्यकृतम् । तत्सग्रह-  
श्लोकाः ।

इस परसे यह कहा जाता है कि शाकटायनने शब्दानुशासन और दोनों प्रकरणोंको रचा था। इस सूचनाको मलयगिरिकी सूचनाके साथ पढ़नेसे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दोनों प्रकरणोंका रचयिता शाकटायन यापनीय होना चाहिये क्योंकि उसने शब्दानुशासन भी रचा था। इत्यादि। इस प्रकार प्रो० डा० विरवेने उक्त दोनों प्रकरणोंके शब्दानुशासनके रचयिता शाकटायन कृत होनेमें सन्देह व्यक्त किया है।

आज जिन ग्रन्थकारोंको यापनीय कहा जाता है उनमेंसे किसीने भी अपनी कृतिमें अपने सम्प्रदायका निर्देश नहीं किया है। यहाँ तक शाकटायनने भी नहीं किया है। अपनी अमोघवृत्तिके प्रारम्भमें लिखते हैं—'महाश्रमण संघाधिपतिर्भगवानाचार्यशाकटायन ।' अपने व्याकरणके प्रत्येक पादकी अन्तिम सन्धिमें लिखते हैं—'श्रुतकेवलदेशीयाचार्यशाकटायन

यह तो उन ग्रन्थोंमें पाये जाने वाले आगमोंके निर्देश आदिके आधार पर उन्हें यापनीय कहा जाता है। इसी आधार पर आराधनाके कर्ता शिन्धु और उसके टीकाकार अपराजित सूरि भी यापनीय कहे जाते हैं। इन दोनोंकी ही गुरुपरम्परा न श्वेताम्बर सम्प्रदायमें पाई जाती है और न दिगम्बर सम्प्रदायमें। इससे भी उनकी भिन्नताका अनुमान किया जाता है। अस्तु, श्री प्रेमी जीने लिखा है 'दस स्थिति कल्पोंके नाम वाली गाथा जिसकी टीका पर अपराजितको यापनीय सिद्ध किया गया है, जीतकल्प भाष्यकी १९७२ नं० की गाथा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अन्य टीकाओं और नियुक्तियोंमें भी यह मिलती है और प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमल-मार्तण्डके स्त्रीमुक्ति विचार ( नया संस्करण पृ० १३१ ) प्रकरणमें इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धांतके रूपमें ही किया है।'

प्रेमीजीका यह लिखना यथार्थ है कि दसकल्पोंवाली गाथा श्वेताम्बर आगम साहित्यमें मिलती है। इसीसे आचार्य प्रभाचन्द्रने उसका उपयोग अपने पक्षकी सिद्धिमें किया है कि आप लोग आचेलक्य नहीं मानते हैं, ऐसी बात नहीं है आप भी मानते हैं और उन्होंने प्रमाणरूपसे वही गाथा उद्धृत की है। किन्तु इससे वह गाथा तो श्वेताम्बरीय सिद्ध नहीं होती। मूलाचार्यमें

भी (१०।१७) यह गाथा आई है। आशाधरके अनगारधर्मातृते (१।८०-८१) भी इसका सस्कृत-रूप मिलता है। दस कल्प तो दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल नहीं है किन्तु अनुकूल ही है। इसका प्रबल प्रमाण प्रथमकल्प आचेलक्य ही है। जिसका अर्थ स्वताम्बर टीकाकारोंने अल्पचेल या अल्पमूल्य चेल आदि किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र उक्त गाथाशको उद्धृत करके लिखते हैं 'पुरुष प्रति दशविधस्य स्थिति-कल्पस्य मध्ये तदुपदेशात्'। पुरुषके प्रति जो दस प्रकारके स्थितिकल्प कहे हैं उसमें आचेलक्यका उपदेश है। अतः वह दस स्थितिकल्पोंको अमान्य नहीं करते उन्हें मान्य करके ही अपने पक्षका समर्थन करते हैं।

आगे प्रेमोजीने लिखा है—'आराधनाकी ६६२ और ६६३ (इस सस्करणमें ६६१-६६२) नम्बरकी गाथाएँ भी दिगम्बर सम्प्रदायके साथ मेल नहीं खाती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लब्धियुक्त और मायाचाररहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक लावे। इसपर ५० सदासुखजोने आपत्ति को है और लिखा है कि यह भोजन लानेके बात प्रमाणरूप नाही।' इसी तरह 'सज्जामासणिसेज्जा' (गाथा ३०७) आदि गाथापर (जो मूलाचारमें ३९.१ न० पर है) कविबर बनारसीदासको शङ्का हुई थी और उसका समाधान करनेके लिए दीवान अमरचन्द्रजीको पत्र लिखा था। दीवानजीने उत्तर दिया था कि इसमें वैयावृत्ति करनेवाला मुनि आहार आदिसे उपकार करे। परन्तु वह स्पष्ट नहीं किया कि आहार स्वयं हाथसे बनाकर दे। मुनिकी ऐसी चर्चा आचारागमें नहीं बतलाई है।'

उक्त प्रकरण सस्तरपर समाधिमरणके लिए आरूढ़ क्षपकको वैयावृत्यसे सम्बद्ध है। पहली गाथामें कहा है कि चार परिचारक मुनि क्षपकको इष्ट भोजन लाते हैं जो प्रायोग्य अर्थात् उदगम आदि दोषसे रहित होता है। 'इष्ट' को टीकामें स्पष्ट किया है कि जो क्षपककी भूख प्यास परीषहको शान्त करनेमें समर्थ हो वह इष्ट है। तथा वह भोजन बात पित्त कफ-कारक न हो। लानेवाले मुनियोंके लिए एक विशेषण दिया है। वे मायाचार रहित होने चाहिए अर्थात् अयोग्यको योग्य मानकर लानेवाले न हों।'

ज्ञानीजन यह जानते हैं कि जब क्षपक संस्तरपर आरूढ़ होता है तब उसकी शारीरिक स्थिति कैसी होती है। वह गोचरी नहीं कर सकता। जबतक गोचरी करनेमें समर्थ होता है तबतक सस्तरारूढ़ नहीं किया जाता। ऐसी स्थितिमें यदि उसे भूखा प्यासा रखा जाये तो उसके परिणाम स्थिर नहीं रह सकते। अतः उस युगमें जब साधु वनोमें निवास करते थे तब ऐसे मरणासन साधुके लिए यही व्यवस्था सम्भव थी कि अन्य साधु उसके योग्य खान-पान-विधिपूर्वक लावें और उसे विधिपूर्वक देवें। आजकी तरह उस समय साधुओंके निवास स्थानपर जाकर श्रावकोंके चौके तो लगते नहीं थे। और लगते भी तो इस प्रकारके उर्द्विष्ट भोजनको वे स्वीकार नहीं कर सकते थे। गाथामें आहार लानेका स्पष्ट विधान है। अतः बनाकर देनेकी कोई बात ही नहीं है। इसलिए उक्त कथन दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध नहीं है। समाधि एक दो दिनमें नहीं होती। उसमें समय लगता है और वही समय वैयावृत्यका होता है। आगे प्रेमोजीने लिखा है कि 'गाथा १५४४ (इस सस्करणमें १५३९) में कहा है कि घोर अवमोदर्य या अल्पभोजनके कष्टसे विना संकलश बुद्धिके भद्रबाहु मुनि उत्तमस्थानको प्राप्त हुए। परन्तु

दिगम्बर सम्प्रदायकी किसी भी कथामें भद्रबाहुका इस ऊनोदर कण्ठसे समाधिमरणका उल्लेख नहीं है।

हरियेण कथाकोश सब कथा कोशोंसे प्राचीन है। इसमें १३१ नम्बर में बद्रबाहुकी कथा है। जब मगधमें दुर्भिक्ष पडा तो वह सम्राट चन्द्रगुप्तके साथ दक्षिणापथको चले। आगे लिखा है—

‘भद्रबाहुमुनिर्घोरो भयसप्तकवर्जित । पम्पाक्षुधाश्रम तीव्र जिगाय सहसोत्थितम् ॥४२॥  
प्राप्य भाद्रपद देश श्रीमदुज्जयिनीभवम् । चकारानशनं धीरः स दिनानि बहून्यत्नम् ॥४३॥  
आराधना समाराध्य विधिना स्वचतुर्विधाम् । समाधिमरण प्राप्य भद्रबाहुदिवं ययौ ॥४४॥

अर्थात् सात भयोसे रहित भद्रबाहु मुनिने सहसा उत्पन्न हुए भूख प्यासके श्रमको जीता। और उज्जयिनी सम्बन्धी भाद्रपद देशमें पहुँचकर उन्होंने बहुत समय तक अनशन किया। तथा चार प्रकारकी आराधना करके समाधिमरणको प्राप्त हो स्वर्गको गये।

इस गाथासे तो दिगम्बर मान्यताकी ही पुष्टि होती है कि मगधमें दुर्भिक्ष पड़नेपर भद्रबाहु सम्राट चन्द्रगुप्तके साथ दक्षिणापथ चले गये थे। श्वेताम्बर ऐसा नहीं मानते। इसीसे मरण समाधि आदिमें भद्रबाहुका उदाहरण नहीं है। अतः उक्त कथन भी ठीक नहीं है।

आगे लिखा है—‘तीसरी गाथाकी विजयोदया टीकामें ‘अनुयोगद्वारादीना बहूनामुपन्यास-मकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यास’ आदिमें अनुयोगद्वारसूत्रका उल्लेख किया है।

यह अनुयोगद्वार सूत्र नामक श्वे० ग्रंथका उल्लेख नहीं है, किन्तु निर्देश स्वामित्व आदि अनुयोग द्वारोंका उल्लेख है। जब विस्तारसे कथन करना होता है तो इन अनुयोग द्वारोंका आश्रय लिया जाता है। इसीलिये ‘दिङ्मात्रोपन्यास’ लिखा है। गा० ७५२ की टीकामें लिखा भी है—‘निर्देश-विधानैरनुयोगद्वारै’।

हाँ, विजहना नामक अधिकार अवश्य ही आजके युगमें विचित्र लग सकता है, जिसमें मुनिके मृत शरीरको रात्रिभर जागरण करके रखनेकी और दूसरे दिन किसी अच्छे स्थानमें वेसे ही बिना जलाये छोड़ आनेकी विधि वर्णित है।

उस समयका विचार कीजिये जब बड़े-बड़े साधु सध वनोमें विचरते थे। उस समय किसी साधुका मरण हो जानेपर वनमें शवको रख देनेके सिवाय दूसरा मार्ग क्या था? वे न जला सकते थे, न जलानेका प्रबन्ध कर सकते थे। अतः उसका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेषसे नहीं है। यह तो सामयिक परिस्थिति और प्रचलन पर ही निर्भर है। अतः प्रेमोजीका केवल इतना ही लिखना यथार्थ है कि ‘यापनीय संघ सूत्र या आगमग्रन्थोंको भी मानता था। और उनके आगमोंकी वाचना उपलब्ध बलभी वाचनासे, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मानी जाती है, शायद कुछ भिन्न थी। उसपर उनकी स्वतंत्र टीकाएँ भी हो सकती हैं जैसी अपराजितकी दशवैकालिक पर टीका थी जो अब अप्राप्य है।’

अतः इस बातको दृष्टिमें रखकर विचार करने पर आराधनाके कर्ता शिवार्य और टीकाकार अपराजित दोनों ही यापनीय हो सकते हैं। अपराजित सूरिने अपनी टीकामें आगमोंसे

अनेक उद्धरण दिये हैं किन्तु उनमेंसे कम ही उनमें मिलते हैं। अपराजितकी टीकाके सम्बन्धमें आगे विचार करेंगे। तब उनकी स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ सकेगा। किन्तु हमें वे सबस्त्र मुक्ति या स्त्री मुक्तिके समर्थक प्रतीत नहीं हुए।

### भगवती आराधना और कथाकोश

भगवती आराधनामें कहा है कि जब सस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल आता है तब अशुभ मनवचनकायको निर्मूल करनेके लिए चार परिचारक धर्मकथा कहते हैं (६५९)। फलतः इस ग्रन्थमें गाथाओंके द्वारा ऐसे अनेक उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु उनमें केवल व्यक्ति और घटनाका उल्लेख मात्र है कथाएँ नहीं दी हैं। विजयोदया टीकामें भी गाथामें आगत शब्दोंकी व्याख्यामात्र है। आशाधरने कही-कहीपर कुछ विशेष कहा है। शोलापुरसंस्करण पृ० ६४३ पर अपनी टीकामें वह लिखते हैं—

‘अति दुर्लभत्वे दश दृष्टान्ता सूत्रेऽनुश्रूयन्ते—

चुल्लय पासं घर्णं जूवा रदणाणि सुमिण चक्क वा ।

कुम्भ जुग परमाणु दस दिट्ठता मणुयल्लभे ॥

एते चुल्ली भोजनादि कथा सम्प्रदाया दशापि प्राकृतटीकादिषु विस्तरेणोक्तः प्रति-  
पत्तव्याः ।

अर्थात् मनुष्य जन्मकी दुर्लभताके सम्बन्धमें सूत्रमें दस दृष्टान्त सुने जाते हैं। ये चुल्ली आदिकी दसो कथायें प्राकृत टीका आदिमें विस्तारसे कही हैं। आशाधरके इस उल्लेखसे प्रकट है कि भगवती आराधनापर प्राकृतमें भी कोई टीका थी और उसमें ये कथाएँ विस्तारसे दी हुई थीं। सम्भवतया इसीसे विजयोदया आदिमें नहीं दी गई हैं।

स्व० डा० ए० एन० उपाध्येने हरिषेणकृत बृहत्कथाकोशकी अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें आराधनासे सम्बद्ध कथाकोशों और कथानकोपर विस्तारसे प्रकाश डाला है। यहाँ उसीके आधारपर सक्षेपमें ज्ञातव्य बातें दी जाती हैं। ऐसे कथाकोश हैं—१ हरिषेण कथाकोश (स०), २ श्रीचन्द्रका अपभ्रंश कथाकोश, ३ प्रभाचन्द्र कथाकोश (रा०), ४ नेमिदत्तका आराधना कथाकोश (सं० पद्य), ५ नयनन्दिका अपभ्रंश कथाकोश, तथा पुरानी कन्नडमें वट्टाराधना।

इन पाँचोंमें हरिषेण कथाकोशमें सबसे अधिक कथाएँ हैं, परिमाण और विस्तारमें भी यह सबसे बड़ा है और सबसे प्राचीन भी है।

श्रीचन्द्रकी विशेषता यह है कि प्रथम वह आराधनासे गाथा देते हैं उसका संस्कृतमें अर्थ देते हैं फिर उससे सम्बद्ध कथा कहते हैं। उनका लिखना है कि जैसे दीवारके बिना उसपर चित्रकारी सम्भव नहीं है उसी प्रकार गाथाकी शब्दशः व्याख्याके बिना पाठक कथाको नहीं समझ सकता। वह प्रथम गाथाके व्याख्यानसे अपना कथाकोश प्रारम्भ करते हैं।

प्रभाचन्द्रका कथाकोश संस्कृत गद्यमें है। भारतीय ज्ञानपीठसे इसका प्रकाशन हुआ है। ग्रन्थकारने इसका नाम आराधना कथा प्रबन्ध दिया है। प्रत्येक कथाके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने संस्कृत गद्यके साथ पद्य भाग भगवती आराधनाकी गाथाका अर्थ दिया है। प्रारम्भकी ९० कथाएँ प्रायः भ० आ० के गाथाक्रमके अनुसार हैं। इन कथाओं तक कोशका प्रथम भाग समाप्त होता

है। इसका नाम आराधना कथाप्रबन्ध है। इसके रचयिता प्रभाचन्द्र पण्डित है जो जयसिंह देवके राज्यमें धाराके निवासी थे। दूसरे भागके प्रारम्भमें मंगल तक नहीं है। तथा कुछ कथाओंमें पुनरुक्ति है। प्रथम भागकी कथा १, २, ४ पात्रकेसरी अकलक और समन्तभद्रसे सम्बद्ध हैं। हरिषेणके कथाकोशमें ये कथाएँ नहीं है।

ब्र० नेमिदत्त स्पष्टरूपमें स्वीकार करते हैं कि उनका संस्कृतपद्योमें रचित आराधना कथाकोश प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशका ऋणी है। किन्तु फिर भी दोनोंमें स्पष्ट अन्तर है। प्रभाचन्द्रमें कथा सख्या १२२ है और नेमिदत्तमें १४४। कुछ कथाएँ कम हैं और कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं जो प्रभाचन्द्रमें नहीं हैं।

कन्नडके वड्डाराधनेमें केवल १९ कथाएँ हैं जो भ० आ० की गाथा १५३४-१५५२ तक से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक कथाके प्रारम्भमें गाथा दी है और कन्नडमें उसका व्याख्यान भी है। ये उन्नीस कथाएँ किञ्चित् परिवर्तनके साथ हरिषेणके कथाकोशमें १२६ से १४४ नम्बरमें पाई जाती हैं और अन्य कथाकोशोंकी अपेक्षा उसके अधिक निकट है। किन्तु वड्डाराधनामें उनका विस्तार अधिक है।

हरिषेणका कथाकोश तो सबसे बड़ा और प्राचीन होनेसे अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें १५७ कथाएँ हैं। किन्तु भगवती आराधनाकी कोई गाथा या उसका अण इसमें नहीं है। केवल प्रशस्तिके श्लोक ८ में 'आराधनोद्घृत' पद आता है।

हरिषेण कथाकोशमें कथाओका शीर्षक उस व्यक्तिके नामसे दिया है जिसकी कथा है। किन्तु प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें शीर्षक भ० आ० की गाथाके आधारपर दिया गया है। दोनोंक कथानकोंमें भी अन्तर है।

#### ८ भगवती आराधनाकी टीकाएँ

यहाँ हम भगवती आराधनाकी टीकाओका परिचय देते हुए सबसे प्रथम विजयोदया टीकाके सम्बन्धमें प्रकाश डालेंगे जो इस संस्करणमें मुद्रित है।

१. **विजयोदया टीका**—विजयोदया टीकाके अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि उसके टीकाकार अपराजित सूरीका अध्ययन बहुत विस्तीर्ण तथा गम्भीर था। और उन्होंने आगम साहित्यका भी गहरा मंथन किया था। उनकी इस टीकामें प्राकृत और संस्कृतके उद्धरणोंकी बहुलता है। किन्तु उनमेंसे अधिकांशके स्थानका पता नहीं चलता। उनकी लेखन शैली सुलझी हुई है। जो कुछ लिखते हैं खूब खोलकर लिखते हैं। अपनी टीकामें उन्होंने गाथाके पदोंका शब्दार्थ तो दिया ही है किन्तु यथास्थान उससे सम्बद्ध विवेचन देकर विषयको स्पष्ट ही नहीं किया, किन्तु बहुत सी आवश्यक नवीन जानकारी भी दी है। उदाहरणके लिये—

१ गा० २५ में ग्रन्थकारने सतरह मरण कहे हैं। उसकी टीकामें टीकाकारने सतरह मरणोंके नाम और स्वरूप दिये हैं।

२ गा० ४६ में ग्रन्थकारने संक्षेपसे दर्शनविनयको कहा है। टीकाकारने दर्शनविनयके प्रत्येक अंगको स्पष्ट किया है। उसमें भक्ति और पूजाके साथ एक शब्द है 'वर्णजनन', उसका

अर्थ है महत्ता ख्यापन। इसका वर्णन संस्कृत गद्यशैलीमें विस्तारसे किया है। इसमें सांख्यादि दर्शनोंकी समीक्षा भी है। अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है पुरुष होनेसे। इस अनुमानका निरसन करते हुए कहा है—'जैमिनि आदि सकलवेदार्थज्ञ नहीं है पुरुष होनेसे' ऐसा भी कहा जा सकता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारिलने जो सर्वज्ञका खण्डन किया था, वह उनकी दृष्टिमें है। आगे यह भी लिखा है कि 'अर्हन्तके सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्यत्र कही है इसलिये यहाँ नहीं कहते है'। उनका यह कथन अकलंकके प्रकरणोंको लेकर भी हो सकता है। यद्यपि अकलंक आदि किसी दार्शनिक ग्रन्थकारका कोई संकेत नहीं है। किन्तु जिस प्रकार अकलंक देवने तत्त्वार्थ वार्तिकमें सूत्रके पदोका व्याख्यान किया है। उसी प्रकारकी शैली यहाँ देखनेमें आती है। जैसे वर्ण शब्द रूपवाची है, अक्षरवाची है, बाह्यणादि वर्णवाची है आदि।

३ गा० ११८ में ग्रन्थकारने साधुके उत्तरगुणका केवल निर्देश किया है। किन्तु उसकी टीकामें बाह्य तपो और छह आवश्यकोंका स्वरूप बहुत ही सुसूचितपूर्ण दिया है। इसमें जो दो गाथायें उद्धृत हैं वे मूलाचारके षडावश्यक प्रकरणमें पाई जाती हैं।

४ गाथा १४५ की टीकामें जिन भगवानके पञ्च कल्याणकोका वर्णन संस्कृत गद्यमें बहुत ही भक्तिपूर्ण है।

५ गाथा १५७ की टीकामें आलन्दविधि, परिहार संयम आदिका जो वर्णन किया है वह अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। उसमें हमें सिद्धान्त विरुद्ध कथन कोई प्रतीत नहीं हुआ। प्रत्युत उससे परिहार विशुद्धि संयमकी महत्ता और दुरुहताका ही बोध हुआ। श्वेताम्बर आगमके अनुसार तो जम्बूस्वामीके मुक्तिगमनके पश्चात् जिन कल्पका विच्छेद हो गया। किन्तु टीकाकारने लिखा है कि जिन कल्पी सर्व धर्म क्षेत्रोंमें सर्वदा होते हैं। इसमें भी कुछ गाथायें उद्धृत हैं जिनमें कल्पोक्त क्रम कहा है।

६ गाथा ४२३ की टीका में दस कल्पोंका वर्णन है। उसमें आचेलक्य कल्पका वर्णन करते हुए टीकाकारने आगमोंमें पाये जानेवाले वस्त्रपात्रवादकी समीक्षा करते हुए अचेलकताकी सिद्धि बड़े प्रभावक ढंगमें की है। वह सब उनके वैदुष्यका परिचायक तो है ही, यापनीयोकी दृष्टिका भी परिचायक है। वही दृष्टि उन्हे श्वेताम्बरोसे भिन्न करती है। इसमें भी उद्धरणोंकी बहुलता है।

७. गाथा ४४८ की टीकामें पंच परावर्तनका स्थूल वर्णन है। केवल भव-ससारका स्वरूप सर्वार्थसिद्धिसे मेल खाता है। इसमें एक श्लोक भर्तृहरिशतकसे उद्धृत है। कुछ श्लोक टीकाकारके भी हो सकते हैं उनमें चतुर्गतिका स्वरूप कहा है।

८ गाथा ४८९ में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके अतिचारोका संकेत है। इनमें से टीकामें जो तपके अतिचार कहे हैं वे उल्लेखनीय हैं क्योंकि अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आये।

९ गाथा ११८१ की टीकामें मनोगुप्ति आदिका स्वरूप शका समाधान पूर्वक स्पष्ट किया है। मनोगुप्तिमें मन शब्द ज्ञानका उपलक्षण है। अत रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है। यदि ऐसा न माना जाय तो मति आदि ज्ञानके समय मनोगुप्ति नहीं रहेगी।

इस प्रकार टीकाकार ने अपनी टीकामें आवश्यकतानुसार समागत विषयोंको स्पष्ट करके ग्रन्थकी गरिमामें वृद्धि की है।

उनकी टीकाके अवलोकनसे यह स्पष्ट है कि टीका लिखते समय उनके सामने इस ग्रन्थकी एकसे अधिक टीकायें वर्तमान थी। प्रथम गाथाकी टीकाका प्रारम्भ ही 'अत्रान्ये कथयन्ति' से होता है। इसीमें कहा है 'इति भाष्यपरिहारी केषांचित्।' और इन भाष्य और उसके परिहार दोनोंको ही टीकाकारने अनुचित कहा है।

इसी तरह दूसरी गाथाकी टीकामें भी 'अत्रान्ये आचक्षते' आता है।

तीसरी गाथाकी टीकामें आता है—'अस्य सूत्रस्योपोद्धातमेवमपरे वर्णयन्ति।'।

चौथी गाथाकी टीकामें आता है—'अत्रापरे सम्बन्धमारम्भयन्ति गाथाया।'।

'अत्रापरा व्याख्या',

इस अपर व्याख्याकी परीक्षा करते हुए कहा है कि यदि ऐसा मानेगे तो—'अरसमरूब-मगंध अव्वत्तं चेदणगुणमसद्' इसके साथ विरोध आता है।

यह उल्लेखनीय है कि यह आचार्य कुन्दकुन्दकी प्रसिद्ध गाथाका पूर्वाद्धं है जो ममयसार (४९) और प्रवचनसारमें (२।८०) भी आई है। प्रथम गाथाकी टीकामें भी टीकाकारने उदाहरणरूपमें कुन्दकुन्दके प्रवचनसारकी आद्य दो गाथा तथा पञ्चास्तिकायकी मंगल गाथाका पूर्वाद्धं उद्धृत किया है। उससे पूर्वमें सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रकी मंगलगाथाका पूर्वाद्धं उद्धृत किया है।

गाथा ११ की टीकामें समन्तभद्रके स्व० स्तो० का एक श्लोक उद्धृत है। इन्हीं तीन प्राचीन और प्रमुख जेनाचार्योंके उद्धरण ही पहचाननेमें आते हैं। इनके सिवाय पृ० ३०९ पर एक वरागचरितका पद्य उद्धृत है और पृ० ३४७ पर शृङ्गार शतकका एक पद्य उद्धृत है।

तथा तत्त्वार्थसूत्रसे अनेक सूत्र उद्धृत हैं। विद्वान् जानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं एक दिगम्बर सम्मत है, दूसरा श्वेताम्बर सम्मत। जितने सूत्र उद्धृत हैं वे दिगम्बर-सम्मत हैं। किन्तु गाथा १८२८ की टीकामें सातावेदनीय, सम्यक्त्वप्रकृति, रति, हास्य और पुवेदको पुण्य प्रकृति कहा है। श्वेताम्बर सम्मत सूत्रपाठमें आठवे अध्यायके अन्तमें इसी प्रकारका सूत्र है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें घातिकर्मोंकी प्रकृतियोंको पाप प्रकृतियोंमें ही गिनाया है। यहाँ टीकाकारने उस सूत्रको तो प्रमाणरूपसे उद्धृत नहीं किया है किन्तु कथन तदनुसार किया है। प० आशाधरजीने भी अपनी टीकामें विजयोदयाके अनुसार ही इन्हे पुण्य प्रकृति लिखा है, यह आश्चर्य ही है। तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि टीकाकारके सामने थी यह निविवाद है।

सर्वार्थसिद्धिमें चारित्रका लक्षण प्रथम सूत्रकी टीकामें—

'संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवत् कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमश्चारित्रम्' किया है। विजयोदयामें गा० ६ की टीकामें लिखा है—'यथाचाग्न्याधायि 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवत्श्चारित्रम्'।

अन्य (सि० स्थलोंमें) चारित्रका यही लक्षण टीकाकारने दिया है।

गाथा १७६७ में भवसंसारका कथन है। इसकी टीकामें टीकाकारने 'अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव वदन्ति' लिखकर सर्वार्थसिद्धि (२-१०) में कहे गये भवपरिवर्तनका स्वरूप उन्हीं शब्दोंमें कहा है।



गा० १६९४ में ध्यानके भेद कहे हैं। इसकी टीकामे सर्वार्थसिद्धिमे (१।२७) जो 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' की व्याख्या की है उसका खण्डन है। और चिन्ता शब्दका अर्थ चैतन्य किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वार्थसिद्धिको मानते हुए भी उसे एकान्ततः मान्य नहीं करते थे। 'अन्ये' शब्दसे उसका उल्लेख ही यह बतलाता है कि वह उनकी आत्मोय नहीं थी।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि आगमोंको छोड़कर अन्य आचार्यकृत साहित्यमे यापनीय ग्रन्थकार दिगम्बराचार्योंके साहित्यको प्रश्रय देते थे, क्योंकि जिस प्रकार इस टीकामे कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपादके ग्रन्थोंके प्रमाण मिलते हैं उस प्रकार एक भी किसी श्वेताम्बराचार्य प्रणीत ग्रन्थका उद्धरण नहीं मिलता।

श्वेताम्बर-दिगम्बरके मध्यमें तीन प्रमुख मत भेदोंमेसे स्त्री-मुक्ति और केवलमुक्ति तो सैद्धान्तिक है। आज न कोई मुक्ति प्राप्त कर सकता है और न केवली हो सकता है। किन्तु अचेलकत्व या दिगम्बरत्व तो सैद्धान्तिक होनेके साथ वर्तमानमें भी दृश्यरूपमें प्रवर्तित है। इस दृष्टिसे यापनीय दिगम्बर सम्प्रदायके निकट रहे हैं। इसके सिवाय दक्षिणमें दिगम्बर सम्प्रदायका प्राबल्य था, उबर ही यापनीय सम्प्रदाय भी था। उसके भी मन्दिर और मूर्तियाँ थी। वे भी नग्न मूर्तियोंके ही उपासक थे। नग्नतामे भेद कैसा। फलत वे सब दिगम्बरोंमे ही समा गये। उनके साहित्यमे नग्नत्वका ही पोषण था तथा स्त्री मुक्ति और केवलमुक्तिकी चर्चा नहीं थी। फलत (उक्त दो प्रकरणोंको छोड़कर) उनका साहित्य भी दिगम्बरोंमे समा गया। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीका है।

**मूलाराधना दर्पण**—भ० आराधनाकी दूसरी उपलब्धटीका मूलाराधना दर्पण है। शोलापुरसे १९३५ मे प्रकाशित संस्करणमे इसका प्रकाशन हुआ था। यह टीका विजयोदया आदि टीकाओंको सामने रखकर लिखी गई है। विजयोदयाका इसपर विशेष प्रभाव है। विशेष कथन क्वचित् ही है। अत हमने उसे इस संस्करणमे सम्मिलित न करके उसके विशेष कथनोंको विशेषार्थरूपमे ले लिया है। इसके रचयिता प्रसिद्ध ग्रन्थकार प० आशाधर है। उन्होंने वि० स० १२९५ मे रचे गये जिन यज्ञकल्पकी प्रशस्तिमे मूलाराधना टीकाका निर्देश किया है। अपनी इस टीकामे आशाधरजीने विजयोदया टीकाकारका निर्देश श्री विजयाचार्य, टीकाकार, या संस्कृत टीकाकारके नामसे किया है। जिन गाथाओपर विजयोदया नहीं है प्राय उनके लिए आशाधरजीने यह निर्देश किया है कि इसे टीकाकार नहीं मानता। उनके सामने भी कुछ अन्य टीकाएँ थी, ऐसा उनके उल्लेखोंसे प्रकट होता है। किन्तु उनमें उन्होंने प्राकृत टीकाको विशेष महत्त्व दिया है। उसके मतोंका निर्देश कई स्थानोंमे है और उसीको उन्होंने विशेष अपनाया है। कुछ टीकाएँ संस्कृत पद्यात्मक भी रही हैं। जैसे अमितगतिकी तो शोलापुर संस्करणमे प्रकाशित हो चुकी है। उसके अतिरिक्त भी एक दो पद्यात्मक टीका रही हैं जिनके पद्योंको भी प्रमाणरूपसे आशाधरजीने उद्धृत किया है। उनका विशेष परिचय इस प्रकार है—

१ गाथा १६ की टीकामे अपराजित सूरिने 'अन्ये व्याचक्षते' लिखकर अन्य व्याख्याका निर्देश किया है। आशाधरजीने उक्त मतान्तरका निर्देश करनेके पश्चात् लिखा है कि जय-नन्दिपाद इस गाथाको पूर्वगाथाकी संवाद गाथा मानते हैं।

२. गाथा १७ की टीकामे अपराजितसुरिने तो इतना ही लिखा है कि भूहण आदि राज-पुत्र जो अनादि मिथ्यादृष्टि थे उसी भवमे त्रसपर्यायिको प्राप्त करके प्रथम जिनदेवके पादमूलमें प्रव्रजित होकर सिद्ध हुए । आशाधरजीने उन्हें भरतचक्रवर्तीके पुत्र लिखा है तथा उनकी संख्या ९२३ लिखी है । किसी अन्य टीकामे ऐसा निर्देश होना चाहिए ।

३. गाथा पच्चीसमे सतरह मरण कहे है । आशाधरजीने दो आर्या द्वारा ये भेद कहे हैं—

आवींचितद्भवावध्याद्यन्तसशल्यगृध्रपृष्ठमती ।

जिघ्रासव्युत्सृष्टवलाका-सक्लिश्यमरणानि ॥१॥

शिशु शिशु शिशु शिशुपण्डितमतीः सभक्तोज्ज्वलैर्गिनीमरणम् ।

प्रायोपगमनपण्डितपण्डितमरणं च सप्तदश विद्यात् ॥२॥

ये दो आर्या किसके हैं यह ज्ञात नहीं होता ।

४ गाथा २७ की टीकामें 'टीकाकारस्तु' करके विजयोदयाका मत दिया है ।

५ गाथा ४३ (४४) की टीकामे लिखा है—'श्रीविजयाचार्य मिथ्यात्व सेवाको अतिचार नहीं मानते ।' आगे टीकाका उद्धरण भी दिया है ।

६ गाथा ४४ (४५) की टीकामें 'टीकाकारस्तु उवगूहणमित्यस्य उपवृहण वद्वेनमित्यर्थ-मकथयत्' । यहाँ 'टीकाकार' बहुवचन निर्देश होनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि विजयाचार्यके सिवाय अन्य टीकाकारोंने भी उवगूहणका अर्थ उपवृहण किया है ।

७ गाथा ४६ (४७) की टीकामें विजयोदयाका ही अनुसरण प्राय अक्षरश है ।

८ गा० १२१ (११९) की टीकामें लिखा है—

'टीकाकारस्तु पच्छिदसंसाहणा इति पठति । व्याख्याति च आचार्योंपाध्यायादिभि प्रार्थितस्य मनसाभिलषितस्य सम्यक्प्रसाधन अनाज्ञप्तस्यापीङ्गितेनैवावगम्य'

ऐसा कथन विजयोदयामे तो नहीं है । तब यह कोई अन्य संस्कृत टीकाकार होना चाहिए ।

९ गा० १५२ (१५०) की टीकामे लिखा है—इसका विस्तार टीकामे देखना चाहिए । यह टीका विजयोदया हो सकती है उसमे विस्तारसे इसका कथन है ।

१० गा० १५३ (१५१) को, जिसपर विजयोदया है, आशाधर प्रक्षिप्त लिखते हैं ।

११ गा० २५३ (२५१) की टीकामें आशाधरजीने उस गाथाके अनुवादरूप तीन संस्कृत अनुवाद उद्धृत किये हैं । उनमेंसे एक तो अमितगतिका है शेष दो इस प्रकार हैं—

षष्टाष्टमादिभक्तैरतिशयवद्भिर्बली हि भुंजान ।

मितलघुमाहारविधि विदधात्यमलाशन बहुश ॥

×

×

×

'समोऽथ षष्टाष्टमकैस्ततो विकृष्टैर्दशमै गमात्मक ।

तथा लघु द्वादशकैश्च संवते मितं मुदा चाम्लमनाविलो लघु ॥

१२. गा० २८२ (२८०) मे 'गाहुग' पद आया है । विजयोदयाके अर्थको देकर आशाधरने लिखा है—'ग्राह्यामित्यपरे पठन्ति । ये अपरे कोई अन्य टीकाकार होने चाहिए ।

१३ गा० ४०५ (४०३) में आये पाठको लेकर आशाधरजीने लिखा है ।

अन्ये तु 'थडिल' संभोगिय' इति पठित्वा 'स्थंडिल दृष्ट्वा' इति व्याख्यान्ति—

अध्ययन प्रदनविधौ निपुणोऽसावैकरात्रिक प्रतिम ।

स्थण्डिलशायी यायादप्रतिबद्धश्च सर्वत्र ॥

इतरे तु स्थाण्डिलः स्थाण्डिलशायी, सभोगीयुतः सधर्मयुक्त इति मत्वेद पेठु —

यह अमितगतिकृत पद्य है। इस तरह दो अनुवाद पाठभेद से हैं।

१४ इसी तरह गाथा ४१२-४१३ (४१०-४११) की टीकामें भी पाठभेदका उल्लेख कर संस्कृत पद्यानुवाद दिये हैं जो अमितगतिसे भिन्न है।

१५ गाथा ४२३ (४२३) की टीकामें टिप्पणका उल्लेख करके विजयोदयासे भिन्न अर्थ नवम और दसम कल्पका बतलाया है।

१६ गाथा ४३२ (४३०) की टीकामें मनुष्य जन्मकी दुर्लभतामें दस दृष्टान्त बतलाने वाली गाथा देकर लिखा है कि इनकी कथा प्राकृत टीका आदिमें विस्तरसे कही है। वहाँसे जानना।

१७ गा० ५११ (५०९) की टीकामें श्रीचन्द्रमुनिकृत निवन्धका उल्लेख है कि उसमें ऐसा ही व्याख्यान है।

१८ गा० ५२० (५०५) में आचार्यकी छत्तीस गुण सहित कहा है और गा० ५२८ (५२६) में छत्तीस गुण बतलाये हैं। किन्तु विजयोदयामें गाथासे सर्वथा भिन्न छत्तीस गुण कहे हैं। आशाधरजीने अपनी टीकामें उक्त संस्कृत टीका (विजयोदया) के छत्तीस गुण कहकर प्राकृत टीकामें कहे छत्तीस गुण भी बतलाये हैं जो उससे भिन्न है। उसमें २८ मूलगुण भी हैं। २८ मूलगुणोकी मान्यता दिगम्बर परम्परामें ही है। अतः प्राकृत टीकाकार दिगम्बर होना चाहिए।

१९ गा० ५५० (५५०) की टीकामें लिखा है कि सामायिक दण्डक स्तवपूर्वक वृहत् सिद्धभक्ति करके बैठकर लघुसिद्ध भक्ति करता है यह प्राकृत टीकाकी आम्नाय है।

२० गा० ५६० (५५८) की टीकामें अष्टप्रातिहार्य सहित प्रतिमा अरहन्तकी और आठ प्रातिहार्यरहित प्रतिमा सिद्ध की कही है।

२१ गा० ५६३ (५६१) की टीकामें कहा है कि श्रीचन्द्राचार्य सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शान्ति भक्तिपूर्वक वन्दनाका विधान करते हैं।

२२ गा० ५६९ (५६७) में कृमिरागकम्बलका दृष्टान्त आया है। आशाधरजीने अपनी टीकामें इसका अर्थ संस्कृत टीका (विजयोदया) टिप्पण तथा प्राकृत टीकाके अनुसार पृथक्-पृथक् दिया है।

२३ गा० ५९१ (५८९) में चन्द्रपरिवेषसे अन्नको प्राप्तिका उदाहरण आया है। उसकी कथा आशाधरजीने श्रीचन्द्रटिप्पणसे दी है। इससे ज्ञात होता है कि उसमें कुछ कथाएँ भी होनी चाहिए।

२४ गा० ९२५ (९३१) की टीकामें आशाधरजीने उस गाथाका अन्य भी अर्थ देकर तदनुसारी अनुवादरूप श्लोक भी दिया है—

अन्ये—'जमणिच्छतीं महिला अवसं परिभुजदेर्जहिच्छाए ।

तह वि किल्सिद जं सो'

इति पठित्वा एवं व्याचक्षते ।..... 'तथा चोक्तम्—

'यदयमकामयमाना कामयते योषिद बलादवशाम् ।

क्लेशमुपैति तथाऽसौ तदस्य परदारगमनफलम् ॥

अमितगतिका अनुवाद इस प्रकार है—

'भुज्यते यदनिच्छन्ती क्लिश्यमानागनावशा ।

तदेतस्या पुरातन्या परदाररते फलम् ॥

२५ गा० ९७० मे गोघाणुलुक्क के दो अर्थ बतला करके तदनुसार दो अनुवाद उद्धृत किये हैं—

न दृष्टमपि सद्भावं वक्रधी प्रतिपद्यते ।

गोघान्तद्वि विद्यते सा पुरुषे कुलपुत्र्यपि ॥—अमितगति ।

×

×

×

प्रत्येति न सद्भावं दृष्ट्वापि हि कपटनाटक तनुते ।

गोघागुप्ति योषा विदधाति नरस्य कुलजापि ॥

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विजयोदयामे 'गोघाणुलुक्क' का अर्थ नहीं है ।

२६ गा० ११८० (११८६) की टीकामे गाथाके 'आवज्जण' शब्दके प्राप्ति और सर्वथा विनाश ऐसे दो अर्थ लेकर दो संस्कृत श्लोक उद्धृत किये हैं जो उस गाथाके अनुवादरूप है तथा अमितगतिका अनुवाद उनसे भिन्न है—

'प्राप्तिशका च पचानां हिसादीना यतेभवेत् ।

रात्रिभोजनसद्भावे स्वविपत्तिश्च जायते ॥

अन्ये तु अण्ड्याण व्रताना आवज्जण सर्वथा विनाश इति व्याख्यान्ति । तथा चोक्तम्—

'तेषा पञ्चानामपि महाव्रताना विनाशने शङ्का ।

आत्मविपत्तिश्च भवेद् विभावरीभवतसगेन ॥

२७. गा० ११९० (११९६) की टीकामे सिद्धान्त रत्नमालासे नीचे लिखे श्लोक उद्धृत है—

याचनी, ज्ञापनी, पृच्छानयनी सशयन्यपि ।

आह्वानीच्छानुकूला वाक् प्रत्यान्यान्यन्यनक्षरा ॥

असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता जिनै ।

व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञान वक्तु श्रोतुश्च यद्भवेत् ॥

त्वामह याचयिष्यामि ज्ञाययिष्यामि किञ्चन ।

प्रष्टुमिच्छामि किञ्चित्त्वामानेष्यामि च किञ्चन ॥

बालः किमेष वक्तीति ब्रूत सन्देघि मन्मन ।

आह्वयाम्येहि भो भिक्षो करोम्याज्ञा तव प्रभो ॥

किञ्चित्त्वा त्याजयिष्यामि हुङ्कारोत्यत्र गौ कुत ।

याचन्यापि दृष्टान्ता इत्यमंते प्रदर्शिता ॥

यह सिद्धान्त रत्नमाला अन्वेषणीय है ।

१८ गा० १३१९ ( १३२५ ) की टीकामें प्राकृत टीकाकारके मतसे व्याख्या देकर 'तथा चोक्तं' पूर्वक उसका नीचे लिखा अनुवाद दिया है—

'एव केचिद् गृहद्वन्द्वविमुक्ता अपि दीक्षिता ।  
कषायेन्द्रियदोषेण तदेवावदते पुन ॥'

अपि च

गृहवास तथा त्यक्त्वा कञ्चिद्दोषशताकुलम् ।  
कषायेन्द्रियदोषार्तो याति त भोगतृष्णया ॥—अमितगति ।

इसके आगे श्री विजयाचार्यके अनुसार अर्थ देकर 'तथाचोक्तं विदग्धप्रीतिवर्धन्याम् ।

'एव केचिद् गृहवासदोषमुक्ताश्च दीक्षिता सन्त ।  
इन्द्रियकषायदोषान्युनरपि तानेव गृह्णन्ति ॥'

लिखा है । इससे प्रकट होता है कि प्राकृत टीकाकारकी व्याख्याके अनुसार कोई संस्कृत श्लोकात्मक रचना थी, जो अमितगतिसे भिन्न थी । अमितगति ने भी शायद उसका अनुसरण किया हो । और एक विदग्धप्रीतिवर्धनी नामक संस्कृत पद्यात्मक टीका भी थी । उसके पद्य आर्या छन्दमे थे ।

२९ गा० १३४० ( १३४६ ) मे भी अन्यस्तु लिखकर एक मत दिया है—  
अन्यस्तु 'सउणो वीदसगेणेव' इति पठित्वा 'पक्षी चञ्चा यथा' इति प्रतिपन्न । तथा च  
तद्ग्रन्थ — कषायाक्षो कुटोश्चित्ते बहिर्निभूतवेषवान् ।

आदत्ते विषयाश्चञ्चा निभूत शकुनो यथा ॥

अमितगतिका अनुवाद इस प्रकार है—

'बहिर्निभूतवेषेण गृह्णीते विषयान् सदा ।  
अन्तरामलिनः कको मीनानिव दुराशय ॥'

विजयोदयामे गाथाके अन्तिम चरण 'सउणो वीदसगेणेव' का अर्थ ही नहीं है ।

३० गा० १४०७ ( १४१२ ) की टीकामे विजयाचार्यके मतसे व्याख्या देकर 'तथा चोक्तम्' पूर्वक नीचे लिखे श्लोक उद्धृत किये है—

यदि सगाटवो यान्ति रागद्वेषमदोद्धता ।  
ध्यानयोधवशा नैव सान्ति ज्ञानाकुश विना ॥  
विषयारण्यसाक्षास्तास्ते कषायाक्षहस्तिनः ।  
ततः शमरति नेया येन दोष न कुर्वते ॥

यह उक्त गाथाका ही पद्यानुवाद है । इसके आगे 'अन्यस्त्वेषमाह' लिखकर अमितगतिकृत पद्यानुवाद दिया है ।

उल्लिखित दोनों पद्यानुवाद गा० न० १४०६ और १४०७ को मिलाकर है । किन्तु एक तीसरा पक्ष भी जो दोनों गाथाओंको पृथक करके अर्थ करता है—

यथा—रागद्वेषमदान्ध करणकरीन्द्रो विशन् विषयविन्ध्यम् ।  
ध्यानसुभटस्य वश्यो ज्ञानाकुशितो भवेन्नियतम् ॥

यह गाथा १४०६ का पद्यानुवाद है। दूसरी गाथामें खवलाके स्थानमें जो बाला पढ़ते हैं, उन्होंने कहा है—

‘इन्द्रिय कषायकलभा विषयवने क्रीडनैकरसरसिका ।

उपशमवने प्रवेदयास्ततो न दोषं करिष्यन्ति ॥’

३१ गा० १५६१ (१५६६) की टीकामें—एषा केषाञ्चिदाचार्याणां मतेन व्याख्या । उक्तं च

नरककटे त्व प्राप्तो यद्दुःख लोहकण्टकैस्तीक्ष्णैः ।

यन्नारकैस्ततोऽपि च निष्क्रान्तं प्रापितो घोरम् ॥

अन्येषा त्वयं पाठो ... । तदुक्तम्—

आयसैः कण्टकैः प्राप्तो यद्दुःखं नरकावनी ।

नारकैस्तुद्यमानं सन्पतितो निशितैर्भवान् ॥

३२ प्रायः आशाधर जी अपनी टीकामें ‘श्रीविजयो नेच्छति’ लिखते हैं कि टीकाकार श्रीविजय अमक गाथाको मान्य नहीं करते । किन्तु १६३४-१६३५ (१६३९-१६४०) में लिखा है ये दो गाथाएँ श्रीविजय आदि मान्य नहीं करते । अर्थात् इन्हें अन्य टीकाकार भी मान्य नहीं करते ।

३३ गाथा १८१२ (१८१८) की टीकामें भी एक श्लोक उद्धृत करके उसे प्राकृत टीकाकारके मतसे व्याख्या कहा है । और ‘अन्ये’ करके जो श्लोक उद्धृत किया है वह अमितगति की टीकाका है । उसके बाद ‘अपरे’ करके तीसरा मत दिया है ।

३४. आशाधरजी की तो सभी टीकाएँ ग्रथान्तरोके प्रमाणोंसे भरी हुई हैं । इसमें भी कुछ उद्धरण उल्लेखनीय हैं । ध्यानके वर्णनमें आर्षं नामसे महापुराणसे बहुत श्लोक उद्धृत किये हैं । उसी प्रसंगमें गाथा १८८१ (१८८७) की टीकामें ‘उक्तं च ज्ञानार्णवे’ लिखकर सात श्लोक उद्धृत किये हैं । तथा गा० २११८ (२१२४) की टीकामें ‘तथा चोक्तं पञ्चसग्रहे’ लिखकर प्राकृत पञ्चसग्रहसे ७ गाथाएँ उद्धृत की हैं । प्राकृत पञ्चसग्रहका यह सर्व प्रथम उल्लेख है जो किसी ग्रन्थमें मिलता है । इससे पूर्व किसी भी ग्रन्थमें नहीं मिलता ।

३ प्राकृत टीका—इस प्रकार मूलाराधनादर्पणसे विजयोदयाके अतिरिक्त कई टीकाओका पता चलता है उनमेंसे एक प्राकृत टीका तो सुनिश्चित थी । और वह किसी दिगम्बराचार्य प्रणीत होनी चाहिये क्योंकि उसमें आचार्यके छत्तीस गुणोंमें अठाईस मूलगुण गिनाये हैं । २८ मूलगुणोंकी परम्परा दिगम्बर परम्परा है । मूलाचारके प्रारम्भमें तथा कुन्दकुन्दके प्रवचनसारके चारित्र्याधिकार (गा० ८-९) में मूलगुणोंका कथन आता है । आशाधरजीके उल्लेखोंसे यह भी प्रकट होता है कि उसमें और विजयोदयामें क्वचित् मतभेद भी हैं । तथा आशाधर जीने ऐसे स्थानोंमें प्राकृत टीकाको महत्त्व दिया है । उसमें कथाएँ भी थी । यह टीका अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होनी चाहिये ।

४ एक अन्य संस्कृत टीका—आशाधर जीके उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि विजयोदयाके अतिरिक्त अन्य भी संस्कृत टीका उनके सामने थी । वे अनेक भी हो सकती हैं जैसा कि विजयोदयामें आये उल्लेखोंसे स्पष्ट है । किन्तु एक तो अवश्य थी । उसका उल्लेख आशाधर जीने संस्कृत टीकाकार रूपसे भी किया है ।

५ संस्कृत पद्यानुवाद—गद्यात्मक संस्कृत टीकाओके सिवाय कुछ पद्यात्मक संस्कृत

अनुवाद भी थे जिनमें प्राकृत गाथाओंका संस्कृत श्लोकोंमें रूपान्तर किया गया था। आज तो केवल अमितगतित कृत पद्यानुवाद ही उपलब्ध है जो शोलापुर संस्करणमें प्रकाशित हुआ है। उसके सिवाय कम से कम दो अनुवाद आशाधरजीके सामने अवश्य रहे हैं। उनमेंसे एक अनुष्णुप् छन्दोंमें था तो दूसरा आर्या छन्दोंमें था। आर्या छन्दोंका अनुवाद हमें मूलके अधिक निकट प्रतीत हुआ है। आशाधरजीने जिस विदग्ध प्रीतिवर्धनीका नाम निर्देश करके उससे आर्याछन्द में जो उद्धरण दिया है वह गाथाका ही पद्यानुवाद है। अत एक पद्यानुवादका नाम विदग्ध प्रीतिवर्धनी हो सकता है। किन्तु यह नाम भगवती आराधना जैसे ग्रन्थके पद्यानुवादके अनुकूल प्रतीत नहीं होता। यह नाम तो किसी सुभाषितसंग्रहके उपयुक्त हो सकता है या व्याख्यात्मक टीकाके भी उपयुक्त हो सकता है। अस्तु, कुछ विशेष कहना शक्य नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि कोई एक पद्यानुवाद प्राकृत टीकाके अनुसार था।

६-७. दो टिप्पण—आशाधरजीने दो टिप्पणीका भी उल्लेख किया है। उनमेंसे एक तो श्री चन्द्रकृत टिप्पण है और दूसरा जयनन्दकृत टिप्पण है। श्री चन्द्रकृत टिप्पणका उपयोग आशाधरजीने विशेष किया प्रतीत होता है। श्री प्रेमीजीने लिखा<sup>१</sup> है कि ये वही श्रीचन्द जान पड़ते हैं जिन्होंने पुष्पदन्तके उत्तरपुराण और रविषेणके पञ्चरितके टिप्पण तथा पुराणसाग आदि ग्रन्थ रचे थे जो भोजदेवके समयमें १०८७ थे और जिनके गुरुका नाम जिननन्द था।

८. आराधना पञ्जिका—श्री प्रेमीजीने लिखा<sup>२</sup> है कि पूणेके भण्डारकर इन्स्टिट्यूटमें इसकी एक प्रति है परन्तु उसके आशय अंशसे यह नहीं मालूम हो सका कि इसके कर्ता कौन है। प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्ता और अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ पञ्जिकाएँ लिखने वाले प्रभाचन्द्रके ग्रंथोंकी सूचीमें भी एक आराधना पञ्जिकाका नाम है। परन्तु यह वही है या इसके सिवाय कोई दूसरी यह नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई उल्थानिका या मंगलाचरणमूक पद्य नहीं है जैसा कि प्रभाचन्द्रके टीका ग्रंथोंमें प्राय रहता है।

प्रेमीजीने यह भी लिखा है कि दूसरे लिपिकर्ताने अपना संवत् १४१६ दिया है और उसने वह प्रति अपनेसे पहलेकी प्रति परसे की है। इससे इसके निर्माण कालके विषयमें इतनी बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है यह पञ्जिका चौदहवीं शताब्दीके बादकी नहीं है।

१. जै० सा० ६०, पृ० ८६ का टिप्पण।

२. जै० सा० ६०, पृ० ८०-८१। हमने पूनाके भण्डारकर प्राच्य विद्या सशोधक मन्दिरमें इसकी खोज कराई किन्तु नहीं मिली। यदि मिलती तो उसे भी इसके साथ प्रकाशित कर देते। प्रेमी जीने उसका अन्त का अंश इस प्रकार दिया है—

अञ्जजिणणदि आर्यं जिननन्दिगणिन सर्वगुप्तगणिन आचार्यमित्रनदिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुतं चावगम्य। पुब्बारिएत्यादि। पूर्वार्थायंकृतानि च शास्त्राणि उपजीव्येयमाराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पणितल भाजिना। छदुमत्थदण। छद्मस्थतया यदत्र प्रवचनविस्दब्धं भवेत् तत् सुगुहीतार्था शोधयन्तु प्रवचनवत्सलतया। आराहणा भगवती। आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता सती सचस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलभयजनप्रार्थनीया अघ्यावाचसुखा सिद्धिं प्रयच्छतु। इत्याराधनापञ्जिका समाप्ता। ( यह विजयोदयासे अक्षरशः मिलती हुई है। )

प्रभाचन्द्रकृत एक गद्यकथा कोश भी है जिसमें ३० आ० की गाथाएँ उद्धृत करके उनसे सम्बद्ध कथाएँ दी हैं। सम्भव है यह पत्रिका उन्हीं प्रभाचन्द्र की हो।

९. 'आचार्यं वीरिका टीका'—श्री प्रेमीजीने लिखा है कि यह टीका भी पूनेके भण्डारकर इन्स्टीट्यूटमें है यह टीका शिवजिद् अरुण अर्थात् १० शिवजी लालने अपने पुत्र मणिजिद् अरुणके लिये बनाई है। वे जयपुरकी भट्टारकको गद्दीके पडित थे। संवत् १८१८ में टीका समाप्त हुई है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ रची गई थी।

### ३० आ० के रचयिता—

इस ग्रन्थके अन्तमें इसके रचयिताने जो अपना परिचय दिया है उससे इतना ही ज्ञात होता है कि आर्यं जिननन्दि गणि, सर्वगुप्त गणि और आचार्यं मित्र नन्दिके पादमूलमें सम्यक् रूपसे श्रुत और अर्थको जानकर हस्तपुटमें आहार करनेवाले शिवायने पूर्वाचार्यकृत रचनाको आधार बनाकर यह आराधना रची है।

इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकारका नाम शिवायं था और जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि उनके गुरु थे। उनके पादमूलमें ही उन्होंने श्रुतका अध्ययन किया था। किन्तु इस ग्रन्थकी रचनामें उनका कोई हाथ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गाथा २१६० में वह 'ससत्तीए' अपनी शक्तिसे पूर्वाचार्यं निबद्ध रचनाको उपजीवित करनेकी बात कहते हैं। उपजीवितका अर्थ पुन जीवित करना होता है अतः ऐसा भी उनका अभिप्राय हो सकता है कि पूर्वाचार्यं निबद्ध जो आराधना लुप्त हो गई थी उसे उन्होंने अपनी शक्तिसे जीवित किया है।

यद्यपि अभी तकके विद्वान लेखको<sup>१</sup> ने 'पूर्वाइरियणिवद्धा उपजीवित्ताका अर्थ 'पूर्वाचार्यो-के द्वारा निबद्धकी गई या रची गई रचनाके आधारसे किया है, और हमने भी तदनुसार ही अर्थ किया है। किन्तु 'उपजीवित्ता इमा मसत्तीए' पद हमें इस अर्थका सूचक प्रतीत नहीं होता। यदि पूर्वाचार्यं निबद्ध आराधना या इस तरहकी कोई रचना उनके सामने थी तो इसके लिये उप-जीवित्ता ( उपजीव्य ) पदका प्रयोग नहीं घटित होता और न 'स्वशक्ति' पदका प्रयोग ही वजन-दार प्रतीत होता है। उसका वजन तो तभी बढ़ता है जब रचयिता अपनी शक्तिसे एक पूर्वलुप्त कृतिको जीवनदान देता है। अतः शिवायने पूर्वाचार्यं निबद्ध रचनाको आधार बनाकर आराधना नहीं बनाई किन्तु उसे अपनी शक्तिसे पुनर्जीवित किया है।

टीकाकार अपराजित सूत्रिने अपनी टीकामें 'पूर्वायरिय' आदिका जो अर्थ किया है वह भी ध्यान देने योग्य है—वह लिखते हैं—'पूर्वाचार्यंकृतामिव उपजीव्य' यहाँ जो 'इव' पदका प्रयोग है वह उल्लेखनीय है। 'पूर्वाचार्यंकृतकी तरह उपजीवित करके यह आराधना अपनी शक्तिसे शिवाचार्यने रची।' अर्थात् इस रचनाको उन्होंने अपनी शक्तिसे इस प्रकार उपजीवित किया मानों यह पूर्वाचार्यंकृत है। पूर्वाचार्यंकृत रचनाको आधार बनाकर रचने की गन्ध भी टीकामें नहीं है। अतः यह ग्रन्थ शिवायं की अपनी शक्तिसे रचित मौलिक कृति है। तभी तो वह आगे-

१ 'श्रीमन्त जिनदेव वीर नत्वामराचितं भक्त्या ।

श्रुति भगवत्पाराधना-ग्रन्थस्य कुर्वेऽहम् ॥'

२ जै० सा० इ० पृ० ७५ । हरिषेण कथा कोशकी डा० उपाध्येकी प्रस्तावना पृ० ५२ ।



की गाथाओं अपनी छत्रस्थताके कारण आगमविरुद्ध यदि कुछ लिखा गया हो तो उसको शुद्ध करनेकी प्रार्थना करते हैं। अतः उन्होंने अपनी शक्तिसे एक लुप्त कृतिको पुनर्जीवित किया है, यही उनका अभिप्राय हमें प्रतीत होता है। अस्तु,

जहाँ तक हम जानते हैं जैन परम्पराकी किसी पट्टावली आदिमें न तो शिवार्य नाम ही मिलता है और न उनके गुरुजनोका ही नाम मिलता है। शिवार्य में शिव नाम और आर्य विशेषण हो सकता है जैसे आर्य जिननन्दि गणि और आर्य मित्रनन्दि गणिमें है। अतः अतः यह कह सकते हैं कि इस ग्रन्थके रचयिता आर्य शिव थे।

भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने महापुराणके प्रारम्भमें एक शिवकोटि नामक आचार्यका स्मरण किया है—

‘शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाऽऽराध्य चतुष्टयम् ।

मोक्षमार्गं स पायान्न शिवकोटिमुनीश्वर ॥’

अर्थात् जिन की वाणी द्वारा चतुष्टय रूप ( दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य और तप रूप ) मोक्षमार्ग-आराधना करके जगत् शीतीभूत हो रहा है वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें।

इस श्लोकमें जो ‘आराध्य चतुष्टय’ तथा शीतीभूत पद है ये दोनो पद शिव आर्य रचित भगवती आराधना की ही सूचना करते प्रतीत होते हैं। क्योंकि उसीमें चार आराधनाओका कथन है। तथा गाथा ११७६ में कहा है कि सर्व परिग्रहको त्यागकर जो ‘शीतीभूत’ होता है। इसके साथ ही उसके रचयिताका नाम ‘शिव’ भी है। उसके साथ यद्यपि कोटि शब्दका प्रयोग विशेष किया गया है तथापि इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि जिनसेन स्वामीने भगवती आराधनाके कर्ताका ही स्मरण किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्रकृत कथाकोशमें दर्शन और ज्ञानका उद्योतन करनेमें आचार्य समन्तभद्र की कथा दी है। उसके अनुसार भस्मक व्याधि होने पर वे वाराणसीके राजा शिवकोटिके दरबारमें जाते हैं और उनके शिवालयमें शिवपिण्डीके फटने तथा चन्द्रप्रभु भगवानकी प्रतिभा प्रकट होनेके चमत्कारसे शिवकोटिको प्रभावित करते हैं। शिवकोटि राज्य त्याग कर साधु हो जाते हैं। तथा सकल श्रुतका अवगाहन करके लोहाचार्यरचित आराधनाको, जिसका परिमाण चौरासी हजार था, सक्षिप्त करके अढाई हजार प्रमाण मूलाराधनाकी रचना करते हैं।

प्रभाचन्द्रसे पूर्वमें आचार्य हरिषेणने कथाकोश रचा है उसमें यह कथा नहीं है, यद्यपि उस कथाकोशका आधार भी मूलाराधना या आराधना ही है। आचार्य जिनसेनके उल्लेखसे यह तो स्पष्ट है कि भगवती आराधनाके रचयिता शिवकोटि नामसे ही ख्यात रहे हैं। किन्तु जिनसेनने उन्हें समन्तभद्रका शिष्य नहीं कहा है। ऐसा होता तो समन्तभद्रके पश्चात् ही वे शिवकोटिका स्मरण करते। किन्तु दोनोंके मध्यमें श्रौदत्त और प्रभाचन्द्रका स्मरण है। अतः जिनसेन के समय तक शिवकोटिको समन्तभद्रका शिष्य माननेकी कथा प्रवर्तित नहीं हुई थी।

प्रभाचन्द्रके सामने इसका क्या आधार रहा है यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु लोहाचार्य विरचित ८४ हजार प्रमाण वाली आराधनाका भी अन्यत्र कोई संकेत नहीं मिलता।

इसके साथ शिवार्य अपनी प्रशस्तिमें इसका कोई संकेत तक नहीं देते। यदि वह समन्त-

भद्रसे प्रभावित होकर मुनि बने होते तो अपनी इस कृतिमें वे अवश्य ही इस घटनाका कुछ तो संकेत देंगे। अतः प्रभाचन्द्रकृत कथाकोशमें इस ग्रन्थकी रचनाके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है वह किसी किम्बदन्तीके आधारसे ही लिखा गया प्रतीत होता है। अस्तु,

### रचनाकाल

आर्य शिवके सम्बन्धमें कुछ विशेष ज्ञात न होनेसे उसके रचनाकालके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आचार्य जिनसेनके महापुराणसे पूर्वमें आराधनाकी रचना हुई है। किन्तु कितने पूर्व हुई है यह कहना शक्य नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि आचार्य कुन्दकुन्द तथा मूलाचारके रचयिता बटुकेरके समकक्ष ही शिवार्य होने चाहिये क्योंकि भगवती आराधनामें कुछ नवीन प्रतीत नहीं होता। सब कुछ प्राचीन ही है। उसकी गाथाएँ यदि मेल खाती हैं तो दिग्म्बर और श्वेताम्बर परम्पराके प्राचीन ग्रन्थोंसे ही मेल खाती हैं। उसकी आचार विषयक गाथाएँ मूलाचारमें छुटफुट रूपसे मिलती हैं और मरण समाधि विषयक कुछ गाथाएँ मरण समाधि आदिमें मिलती हैं। उसमें जो मरणोत्तर विधि है जो आजके प्रबुद्ध पाठकोंको भी विचित्र प्रतीत होती है वह भी उसकी प्राचीनताकी द्योतक है। प्राचीन युगमें इस तरहके विश्वास पाये जाते थे। ग्रन्थमें अचेलकता पर बहुत जोर दिया है तथा वस्त्रको परिग्रहका उपलक्षण बतलाकर समस्त परिग्रहके त्यागको अनिवाय बतलाया है। कमण्डलु और पीछी दो ही उपकरण साधुके लिए अनिवाय कहे हैं।

यापनीय संघकी उत्पत्ति जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधुसे हुई बतलाई है वह हमें परिग्रहके कारण ही हुई प्रतीत होती है। श्वेताम्बर साधु वस्त्र पात्रको अनिवाय मानते थे। किन्तु यापनीय उससे सहमत न होंगे। इसीसे वे पृथक् हो गये होंगे। उसी समयकी यह रचना होना संभव है। उसके ऊपर जो संस्कृत और प्राकृतमें तथा गद्य और पद्यमें इतनी टीकायें रची गईं वे भी उसकी प्राचीनताकी ही प्रकट करती हैं। अन्तिम उपलब्ध टीका आशाधर की है जो विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके उत्तरार्ध में रची गई है। और विक्रमकी नवम शताब्दीमें रचित महापुराणमें भगवती आराधना तथा उसके रचयिता शिवकोटिको स्मरण किया गया है। लगभग इसी कालकी रचना विजयोदया टीका होनी चाहिये। और विजयोदया लिखते समय उसके रचयिताके सामने एक नहीं, अनेक व्याख्यायें थीं। अतः भगवती आराधना विक्रमकी प्रारम्भिक शताब्दीके आसपास की रचना होना चाहिये। अतः उसे हम कुन्दकुन्दकी रचनाओका लगभग समकालीन मान सकते हैं। कुन्दकुन्दके समयसारकी मंगल गाथा 'बंदि्तु सव्वसिद्धे' और भगवतीकी मंगल-गाथा 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' में हमें शब्दशः और अर्थशः एक-सी ही ध्वनि और भावना गूँजती हुई प्रतीत होती है।

किन्तु कुन्दकुन्दने अपने चरित्तगाह्यमें समाधिमरणको चार शिक्षाव्रतोंमें स्थान दिया है और तत्त्वार्थसूत्रमें सल्लेखनाको अलगसे कहा है। भगवती आराधनामें भी गुणव्रत और शिक्षाव्रत तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार कहे हैं। तथा सल्लेखनाको पृथक्से कहा है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें रात्रिभोजन त्यागव्रतकी कोई चर्चा नहीं है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम टीकाकार पूज्यपाद कहते हैं कि

अहिंसाधुव्रतकी भावनामें यह गभित है। और भगवती आराधनामें भी अहिंसाव्रतकी भावनामें आलोक भोजन है। फिर भी आराधनामें पंच महाव्रतकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन त्यागकी आवश्यक कहा है। अतः यह विषय चिन्तनीय है।

शिवार्थके द्वारा स्मृत गुरुओमें एक सर्वगुप्त गणि भी है। गाथा २१६२ में आये 'संघस्स' पदका व्याख्यान विजयोदयामें 'सर्वगुप्तगणि संघस्य' किया है। और अमोघवृत्तिमें एक उदाहरण आता है—'उपसर्वगुप्तं व्याख्यातार' ( १।३।१०४ ) अर्थात् सर्वगुप्त सबसे बड़े व्याख्याता थे। इसके साथ ही तीन उदाहरण और हैं शाकटायन, सिद्धनन्दि और विशेषवादी। यत शाकटायन यापनीय थे इसलिये अन्य सब भी यापनीय होना चाहिये। और ऐसी स्थितिमें शाकटायनके द्वारा स्मृत सर्वगुप्त भगवती आराधनाके कतकि गुरु हो सकते हैं।

### टीकाकार अपराजित सूरि

भगवती आराधनाकी जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे देखनेमें आईं सबमें अपराजित सूरिकी विजयोदया टीका पाई जाती है। इस टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि टीकाकारका नाम अपराजित सूरि था। वे चन्द्रनन्दि महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य थे और बलदेव सूरिके शिष्य थे। आरातीय आचार्यके चूडामणि थे। नागनन्दि गणिके चरण कमलकी सेवाके प्रसादसे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। अर्थात् उनके विद्यागुरुका नाम नागनन्दि था। श्री अपराजित सूरि जिन शासनके उद्धारमें सलग्न थे और उन्हें बहुत यश प्राप्त था। उन्होंने श्रीनन्दगणि या नागनन्दि गणिकी प्रेरणासे आराधनाकी टीका रची थी। टीकाका नाम श्री विजयोदया है।

केवल इतना ही उन्होंने अपने सम्बन्धमें लिखा है। प० आशाधर ने अनगर धर्माभूतकी टीकामें तथा भ० आ० की मूलाराधना<sup>२</sup> दर्पण नामक पंजिकामें श्रीविजय या श्रीविजयाचार्य नामसे इनका उल्लेख किया है। अपराजित और श्रीविजय शब्द परस्परमें सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है उन्होंने शास्त्रार्थमें विजय प्राप्त की थी और उसी पर से उन्हें अपराजित पराजित न होनेवाला नाम प्राप्त हुआ था। संभवतः उसीकी स्मृतिमें उन्होंने अपनी टीकाओकी श्री विजयोदया नाम दिया था। उनकी दशवैकालिककी टीकाका भी यही नाम था।

शिवार्थ की तरह अपराजित सूरिकी भी गुरुपरम्परा किसी जैन पट्टावली या गुर्वावलीमें नहीं मिलती। वह अपनेको आरातीय चूडामणि लिखते हैं और सर्वार्थसिद्धि टीकाके अनुसार 'भगवानके साक्षात् शिष्य गणधर और श्रुतकेवलियोंके पश्चात् आरातीय आचार्योंने कालदोषसे अल्प आयु और अल्प बुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिए दशवैकालिक आदि रचे।' अत आरातीय आचार्य विशिष्ट होते थे। अपराजित सूरि भी अपने समयके विशिष्ट आचार्य माने जाते होंगे

१ भा० ज्ञानपीठ सं०, पृ० ६८४—'एतच्च श्रीविजयोचार्यविरचितमूलाराधनाटीकाया विस्तरत समर्थित दृष्टव्यमिह न प्रपच्यते।'

२ शौलापुर संस्करण गाथा ४४, ५९५, ६८१, ६८२, १७१२ और १९१९ की टीका।

३ आरातीय पुनराचार्य कालदोषसंक्षिप्तायुर्मतिवलाशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्ध ॥

क्योंकि उन्होंने भी दशवैकालिक पर टीका रची थी। यापनीय सम्प्रदायमें जैसे शब्दानुशासनके रचयिता शाकटायन श्रुतकेवलदेशीय कहे जाते थे वैसे ही यह आरातीय चूड़ामणि कहे जाते होंगे। और उस समय भगवती आराधना पर टीका लिखना भी एक विशिष्ट महत्ताका परिचायक होगा।

इसमें तो सन्देह नहीं कि अपराजित सूरि जिनागमके विशिष्ट अभ्यासी थे। उनकी विजयो-दया टीका उनके प्रकाष्ठ पाण्डित्य और रचना शैलीकी विशिष्टताका परिचायक है। संस्कृत और प्राकृत पर उनका समान अधिकार था तथा गद्यकी तरह पद्य रचनामें भी अधिकार था। उनकी इस टीकामें चतुर्गताका वर्णन करनेवाले कुछ श्लोक उन्हींके द्वारा रचित प्रतीत होते हैं।

उनकी इस रचनाका एक उद्देश हमें अचेलकत्वकी प्रतिष्ठा करना प्रतीत होता है। क्योंकि ४२३ गाथाके व्याख्यानमें उन्होंने आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें उसे जोरसे प्रतिष्ठापित किया है। इसे हम पूर्वमें लिख आये हैं। अतः वह ऐसे समयमें हुए है जब वस्त्र पात्रवाद बढ़ रहा था। श्वेताम्बर परम्परामें विशेषावश्यक भाष्य इस विषयक एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें जम्बू स्वामीके पश्चात् जिनकल्पकी व्युत्पत्तिकी घोषणा की गई है। ईसाकी आठवीं शताब्दीके श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरिने तो अपने सबोध प्रकरणमें साधुओंके अकारण कटिबन्ध पर भी आपत्ति की है। किन्तु टीकाकारोंके द्वारा अचेलका अर्थ अल्पचेल और अल्पमूल्यचेल किये जानेसे अचेल जैसे स्पष्ट शब्दका भी वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया। यह समय नौवीं शताब्दी है इसीके आसपास अपराजित सूरि होना चाहिये। उनकी टीकामें जो उद्धरण खोज निकाले गये हैं उनमेंसे अर्वाचीन एक उद्धरण वरागचरितका है; उसका रचनाकाल सातवीं शताब्दी है अतः उसके पश्चात् ही विजयोदया रची गई है। भर्तृहरि शृङ्गार शतकका भी एक श्लोक उद्धृत है। उसका समय भी लगभग यही होना चाहिये। यह उसकी पूर्वाविधि है। उत्तगवधि तो आशाधरजीकी टीका है ही, उसमें विजयोदयाके अनेक उल्लेख हैं। संस्कृत पद्यानुवादके रचयिता अमितगतिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शती है। किन्तु उनके पद्यानुवादके सिवाय भी दो पद्यानुवाद और भी पाये जाते हैं। और वे अमितगतिसमें पूर्वके हो सकते हैं, क्योंकि यद्यपि अमितगति एक सिद्धहस्त ग्रन्थकार है फिर भी पूर्व रचनाओंको अपनानेकी उनमें प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरणके लिये उन्होंने संस्कृत पञ्चसग्रह रचा और उसे मौलिक मान लिया गया। किन्तु जब लक्ष्मण सुत डडढाका पञ्चसग्रह प्रकाशमें आया तब ज्ञात हुआ कि उसीका अनुसरण अमितगतिसमें किया है। उनके सामने विजयोदया हो सकती है। अन्य टिप्पण प्रकाशमें आनेपर विशेष प्रकाश पड़ सकेगा।

श्रीयुत प्रेमीजीने इन्हें विक्रमकी नवम शताब्दीके पहले और छठी शताब्दीके बादका बतलाया है। उन्होंने लिखा है—गंग वंशके पृथ्वी कोगुणी महाराजका एक दानपत्र श० सं० ६९८ (वि० सं० ८३३) का मिला है। उसमें यापनीय संघके चन्द्रनन्दि, कीर्तिनन्दि और विमल-चन्द्रको जैनमन्दिरके लिये एक गाँव दिये जानेका उल्लेख है। अपराजित शायद इन्हीं चन्द्रनन्दिके प्रशिष्य हों।

१ देखो—मेरा लिखा 'भगवान महावीरका अचेलक धर्म', भा० जैनसभ मथुरासे प्रकाशित।

२ भ० भा०, पृ० ३९०।

३. ई० सा० ६०, पृ० ७९।

### उपसंहार

अन्तमे मे उन सबको धन्यवाद देता हूँ जिनके सहयोगसे मुझे इस ग्रन्थके सम्पादन, संशोधन और प्रस्तावना लेखनमे सहयोग मिला। दिल्लीके लाला पन्नालाल जीके सहयोगसे दि० जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा दिल्ली की प्रति प्राप्त हुई। श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जीके अधिकारियोंके सहयोगसे डा० कस्तूरचन्द्र जी काशलीवाल जयपुर द्वारा आमेर शास्त्र भण्डारकी प्रति प्राप्त हुई। पं० रतनलाल जी कटारिया केकडीके द्वारा टोडा रायसिंहकी प्रतिके पाठान्तर तथा प्रति प्राप्त हुई। सर सेठ भागचन्द जी, पं० सुजानमलजी सोनी आदिके प्रयत्नसे भट्टारकजीके मन्दिर अजमेरकी प्रति प्राप्त हुई। तथा जीवराज ग्रन्थमाला के मंत्री सेठ बालचन्द देवचन्द शाहके सहयोगसे उस ग्रन्थमालासे इसका प्रकाशन हुआ। और पं० बाबूलाल जी फागुल्ल तथा उनके सुपुत्र श्री राजकुमार जीके सहयोगसे एक ही वर्षके मध्यमे इसका मुद्रण हो सका।

यह ग्रंथ महान है। इसके सम्पादन, संशोधन, अनुवाद और मुद्रणमे भूल रहना स्वाभाविक है। यथा गाथा २५१ का अर्थ ही छूट गया है। उसे यहाँ दिया जाता है। पाठक सुधारकर पढ़नेका कष्ट करे—

२५१ गाथाका छूटा हुआ अर्थ

'यदि क्षपककी आयु शेष हो और शरीरमें बल हो तो जो अनेक भिक्षु प्रतिमायें कही हैं उनको भो धारण करे। जो अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करता है उसे ये भिक्षु प्रतिमायें कष्ट नहीं देतीं। किन्तु जो शक्तिका विचार किये बिना सल्लेखना धारण करता है उसको समाधि भंग होती है और उसे बड़ा क्लेश उठाना पड़ता है ॥ २५१॥'

आसाढी अष्टाङ्गिका  
वी० नि० सं० २५०४

विद्वानोका अनुचर  
कैलाशचन्द्र शास्त्री

## विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सिद्धोको नमस्कार पूर्वक आराधनाका का कथन करनेकी प्रतिज्ञा	१	चारित्र ज्ञान और दर्शन एक ही है	२९
शास्त्रके आदिमे नमस्कार करनेका प्रयोजन	२	चारित्रमें उद्योग और उपयोग ही तप है	२९
सिद्ध शब्दके चार अर्थ	४	चारित्रकी प्रधानताको लेकर समाधान	३२
आराधनाकी उपयोगिता	६	दुःख दूर करना ज्ञानका फल	३४
आराधनाका स्वरूप	७	अन्य व्याख्याओकी समीक्षा	३४
उद्योतन, उद्यवन आदिका स्वरूप	८	निर्वाणका सार अब्याबाध सुख	३५
सक्षेपसे दो आराधना कही हैं	१०	समस्त प्रवचनका सार आराधना	३५
सक्षेपके तीन भेद	११	आराधनाकी महत्ताका कारण	३६
दर्शनकी आराधना करनेपर ज्ञानकी		अन्त समय विराधना करनेपर	
आराधना नियमसे होती है ज्ञानकी		ससारकी दीर्घता	३७
आराधना करनेपर दर्शनकी आराधना		अन्य व्याख्याकारकी समीक्षा	३७
भजनीय है	१२	समिति, गुप्ति, दर्शन और ज्ञानके अतिचार	३८
उक्त विषयमें अन्य व्याख्याकारोके मतकी समीक्षा	१३	आराधना ही सारभूत है	३९
मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं	१७	यदि मरते समयकी आराधना सारभूत है तो अन्य समयमे आराधना क्यों करना, इसका समाधान	४०
नयका स्वरूप तथा निरपेक्षनयके निरासके लिए शुद्ध विशेषण	१७	उदाहरण द्वारा समर्थन	४१
सयमका अर्थ चारित्र	१९	योग शब्दके अनेक अर्थ	४४
सयमकी आराधना करनेपर तपकी		मिथ्यात्व आदिको जीतकर ही श्रामण्य भावनावाला आराधना करनेमे समर्थ	४५
आराधना नियमसे, तपकी आराधनामे चारित्रकी आराधना भजनीय	१९	मिथ्यात्वके भेदोका स्वरूप और उनको जीतनेका उपाय	४६-४७
अन्य व्याख्याकारोकी समीक्षा	२०	मरणके सतरह भेद	४९
बाह्यतपके बिना भी निर्वाणगमन	२१	सम्यग्दृष्टि और संयतासयतका बाल- पण्डितमरण	५६
असयमी सम्यग्दृष्टीका भी तप व्यर्थ	२२	सशल्यमरणके दो भेद	५६
अन्य व्याख्याकारोकी समीक्षा	२३	निदानके तीन भेद	५६
चारित्रकी आराधनामें सबकी आराधना	२४	बसट्टमरणके चार भेद	५७
अन्य व्याख्याकारोकी समीक्षा	२६	कषायवश आर्तमरणके चार भेद	५८
चारित्रआराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनकी आराधनाका अविनाभाव	२७		

विषय	पृ०	विषय	पृ०
इन सतरह मरणोंमेंसे यहाँ पाँच मरणोंका ही कथन करनेकी प्रतिज्ञा	६०	अहंन्त सिद्ध, चैत्य, श्रुत, धर्म, साधु और प्रवचनका अवर्णनवाद	९२
क्षीणकषाय और अयोग केवलीका पण्डित पण्डितमरण	६१	दर्शनका आराधक अल्पसंसारी	९३
अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	६२	सम्यक्त्वकी आराधना जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट	९४
पण्डितमरणके तीन भेद-पादोगमन, भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी	६४	उत्कृष्ट केवली, जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टी	९५
पादोपगमनमरण आदिकी व्युत्पत्ति	६४	सराग सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व	९५
अविरत सम्यग्दृष्टीका बालमरण	६५	प्रशस्तराग अप्रशस्तराग	९६
मिथ्यादृष्टिका बाल-बालमरण	६५	जघन्य सम्यक्त्व आराधनाका माहात्म्य	९६
दर्शन आराधनाका कथन	६६	मिथ्यादृष्टि किसीका भी आराधक नहीं	९७
सम्यग्दर्शनके भेदोका स्वरूप	६७	मिथ्यादर्शनका स्वरूप और भेद	९८
सम्यग्दृष्टी गुरुनियोगसे असत्का भी श्रद्धान करता है	६८	मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसादि गुण भी निष्फल	९९
सूत्रसे दिखलानेपर भी यदि वह असत् श्रद्धान नहीं छोडता तो मिथ्यादृष्टि है	६९	मिथ्यात्वकी चारित्र और तप भी व्यर्थ	१०१
किसके रचित सूत्र प्रमाण है ?	६९	अभव्यके अनन्तभव	१०२
प्रत्येक बृद्ध-अभिन्न दसपूर्विका स्वरूप सूत्रोका अविपरीत अर्थ कौन कर सकता है ?	७०	प्रथम भक्तप्रत्याख्यानमरणका कथन	१०३
जो षट्द्रव्योका और नत्वोका श्रद्धानी है वह सम्यग्दृष्टी है	७१	भक्तप्रत्याख्यानके दो भेद	१०४
जो सूत्रनिदिष्ट एक भी अक्षरका श्रद्धान नहीं करता है वह मिथ्यादृष्टि	७१	यहाँ सबिचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन	१०४
मिथ्यादृष्टीका स्वरूप	७२	चालीस सूत्रों द्वारा	१०४
मिथ्यात्वका फल अनन्तमरण	७३	चार गाथाओसे चालीस सूत्र कहते हैं	१०५
अतः निग्रन्थ प्रवचनकी श्रद्धा ही कार्यकारी	७३	असाध्यव्याधिमे या सयमकी घातक	१०८
सम्यक्त्वके अतिचार	७४	वृद्धावस्थामे या उपसर्गमे	१०८
सम्यग्दर्शनके चार गुण	७५	चारित्रके नाशक वात्रुओके होनेपर या दुर्भिक्षमें या घोर जगलमे फँस जानेपर	११०
दर्शन विनय	७५	चक्षु और श्रोत्रके दुर्बल हो जानेपर	१११
अरहन्त, सिद्ध, चैत्य आदिका स्वरूप	७६	पैंगेमे चलनेकी शक्ति न होनेपर भक्त-	१११
भक्तिपूजा तथा वर्णजनन	७६	प्रत्याख्यान करना योग्य है। उक्त	१११
सिद्ध, चैत्य, श्रुत, तथा धर्मका माहात्म्य	७७	भयोके न होनेपर भी जो मुनि मरना चाहता है वह मुनिधर्मसे विरक्त है	११२
साधु, आचार्य, आदिका माहात्म्य	७७	भक्तप्रत्याख्यानका इच्छुक निग्रन्थ लिग-धारण करता है।	११३
	८१	जिसके पुरुषचिन्हमे दोष हो वह भी उस समय निग्रन्थ लिगधारण करे	११४
	८३	औत्सर्गिक लिग (वेष) का स्वरूप	११४
	८७		
	८८		
	९०		

विषय	पृ०	विषय	पृ०
अन्तिम समयमें स्त्री भी औत्सर्गिक लिंग धारण करे	११५	प्रत्याख्यानका कथन	१५८
लिंग (वेष) धारण करनेके गुण	११६	गृहस्थोंके विरतिरूप परिणामोंके भेद	१६०
अचेलता (वस्त्रत्याग) के गुण	११९	कायोत्सर्गका निरूपण	१६१
अचेलताका माहात्म्य	१२१	कायोत्सर्गके चार भेद	१६२
अपवादालिंगके धारोकी शुद्धिका क्रम	१२१	कायोत्सर्गके दोष	१६३
केशलोच न करनेमें दोष	१२२	उपचार विनयका निरूपण	१६४
केशलोचके गुण	१२३	प्रत्यक्षकायिक विनय	१६५
शरीरसे ममत्वका त्याग	१२६	वाचिक विनय	१६७
स्नान तेलमर्दन, दन्तमजन आदिका त्याग	१२७	मानसिक विनय	१६८
पीछीसे प्रतिलेखनाका प्रयोजन	१२९	गुरुके सिवाय आर्यिका और गृहस्थोकी भी विनय करना चाहिये	१६९
पीछीके गुण	१३०	विनयके अभावमें दोष	१७७
रातदिन जिनवचन पढना चाहिये	१३१	विनय मोक्षका द्वार	१७०
जिनवचन पढनेके लाभ	१३२	विनयके अन्य गुण	१७१
आत्महितका परिज्ञान	१३३	समाधिके कथनमें समाहित चित्तका स्वरूप	१७३
आत्महितका ज्ञान न होनेके दोष	१३५	मनकी चञ्चलता	१७४
आत्महितके ज्ञानका उपयोग	१३५	मनको रोकना दुष्कर	१७६
स्वाध्यायके लाभ	१३६	जो मनको रोकता है उसीके समता	१७७
जिन वचनकी शिक्षा तप है	१३६	पृच्छना और अनुप्रेक्षा स्वाध्याय कैसे है ?	१७८
स्वाध्यायके समान तप नहीं	१४०	मनको विचारोमें रोकना श्रामण्य है	१७९
क्योंकि स्वाध्यायकी भावनासे सब गुप्तियाँ भावित होती है	१४१	विचारका अर्थ है हिंसादिरूप परिणति	१८१
ज्ञान सम्पादनके लिये विनय करना चाहिये	१४२	अनियत स्थानमें निवासके गुण	१८१
ज्ञान विनयके भेद	१४३	तोर्यकरोंके कल्याणकोके स्थानोंके देखनेसे	१८२
दर्शन विनय	१४६	दर्शन विशुद्धि	१८२
चारित्र्य विनय	१४७	अनियतवाससे परीषह सहनेका अभ्यास	१९१
इन्द्रिय प्रणिधान, कषाय प्रणिधानं गुप्ति और समितियोंका स्वरूप	१४८	ज्ञानी आचार्योंका लाभ	१९२
बाह्य तपोका निरूपण	१५१	सामाचारीमें कुशलता	१९३
छह आवश्यकोंका निरूपण	१५३	अनियत विहारोका स्वरूप	१९६
सामायिकके भेदोंका कथन	१५३	अनियत विहारके पश्चात् विचार कि मे अपना कल्याण कैसे करूँ ?	१९७
वन्दनाका कथन	१५४	अथालन्दविधिका स्वरूप	१९७
प्रतिक्रमणका कथन	१५५	अथालन्द संयमीका आचार	१९८
सामायिक और प्रतिक्रमणमें अन्तर	१५६	गच्छ प्रतिवद आलन्दककी विधि	२०१



विषय	पृ०	विषय	पृ०
परिहार समयकी विधि	२०१	आहारका प्रमाण	२३७
जिनकल्पकी विधि	२०५	अबमोदर्यं तप	२३८
भक्त प्रत्याख्यान करनेका निर्णय	२०७	रस पगित्याग तप	"
समयके साधनमात्र परिग्रहके सिवाय शेष		वृत्ति पगिसख्यान नप	२४०
परिग्रहका त्याग	२१०	कायक्लेश तप	२४२
पाँच प्रकारकी शुद्धि	२१२	स्थानयोगका कथन	२४३
पाँच प्रकारका विवेक	२१४	आसनयोगका कथन	"
परिग्रह त्यागका क्रम	२१६	विविक्त शय्यासन तथा	२४४
द्रव्यश्रित्ति और भावश्रित्तिका स्वरूप	२१७	उदगम दोष	२४५
भावश्रित्ति शुभपरिणामकी रक्षाके उपाय		उत्पादन दोष	२४६
तथा	२१९	एषणा दोष	२४७
प्रवृत्तिका क्रम		विविक्त वसति कौन	२४८
श्रित्तिके अनन्तर सघका त्याग	२२०	विविक्तवर्मातिमे दोषोंका अभाव	२४९
पाँच प्रकारकी सखिलप्रभावना	२२१	निर्जराके इच्छुक यतिके द्वारा करने	
कन्दर्प भावनाका कथन	२२०	योग्य तप	२५०
किल्बिषभावनाका कथन	२२०	प्रकारान्तरसे सल्लेखनाके उपाय	२५७
किल्बिषभावनाका कथन	२२३	उनमें आचाम्ल उत्कृष्ट	२५८
अभियोग्य भावनाका कथन	२२३	आचाम्लका स्वरूप	२५९
आमुरी भावनाका कथन	"	भक्तप्रत्याख्यानका काल बारह वर्ष	"
समीहभावनाका कथन	२२४	बारह वर्षोंमे क्या करना चाहिये	"
इन भावनाओंका फल	२२५	शरीर सल्लेखनाका क्रम कहकर अभ्यन्तर	
ठठी तपभावना ग्राह्य	"	सल्लेखनाका क्रम	२६०
तपोभावना ही समाधिका उपाय	२२६	अभ्यन्तर शुद्धिके अभावमे दोष	२६१
तपोभावनासे रित्तिके दोष	२२७	परिणाम विशुद्धिका नाम कषाय सल्लेखना	२६१
श्रुत भावनाका माहात्म्य	२२८	भाग्य कषायको कुश करनेका उपाय	२६२
जानभावनाके होने पर ही तप-सयम		रागद्वेषको शान्तिके उपाय	२६३
होते है	२२९	कषायरूप अग्निकी शान्तिके उपाय	२६४
सत्त्वभावनाके गुण	२३०	सल्लेखनाके पश्चात्की कर्तव्य	२६५
एकत्व भावनाके गुण तथा स्वरूप	२३३	यदि आचार्य सल्लेखना धारण करे तो	
धृतिबल भावना	२३५	अपना सघ योग्य शिष्यको सीप	
सल्लेखनाके दो भेद	२३६	कर सबसे क्षमा ग्रहण करे	२६६
बाह्य सल्लेखनाके उपाय	२३६	तत्पश्चात् शिक्षा दे कि	२६९
बाह्यतप	"	गणधर (आचार्य) कैसा होता है	२७१
अनशन तपके भेद	२३६	ऐसा करनेवाला भ्रष्टमनि होता है	२७३
अदानशनके भेद	२३७	राजा विहीन क्षेत्र त्याज्य है	"

विषय	पृ०	विषय	पृ०
नये आचार्यको शिक्षा देनेके बाद संघको शिक्षा देते हैं	२७४	रास्तेमें मरण होनेपर भी वह आराधक है	३१३
बहुत सोना नहीं, हास्य क्रोडा नहीं करना। आलस्य त्याग धर्मणधर्ममें लगना	२७७	खोजमें जाते हुए क्षपकके गुण क्षपकको आता देख दूसरे गणके	३१४
तपस्या में उद्योग करना	२७८	साधुओंकी सामाचारीका क्रम	३१५
बालबुद्ध मुनियोंकी वैयावृत्य करना	२८०	प्रथम वे उसकी परीक्षा करते हैं	३१५
वैयावृत्य न करनेवालोंकी निन्दा	२८१	तीन दिनके पश्चात् गुरु अपनाते हैं	३१७
वैयावृत्यके गुण	"	बिना परीक्षाके अपनानेका निषेध	"
वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमें भक्ति व्यक्त होती है	२८५	निर्यापक आचार्य कैसा होना चाहिये	३१८
वैयावृत्यका एक गुण पात्रलाभ	२८६	आचार्यके आचार्यव्रत गुणका कथन	३१९
आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य	२८७	दस कल्पोका कथन	३२०
वैयावृत्य करनेवाला जिनाज्ञाका पालक है	२८९	टीकाकारके द्वारा अचेलकताका विस्तारसे सप्रमाण समर्थन	३२१-३२७
आर्याका ससर्ग करनेका निषेध	२९१	उद्दिष्ट त्याग दूमरा कल्प	३२७
स्त्रोवर्गका विश्वास न करनेवाला ही ब्रह्मचारी	२९२	शय्याधरका भोजन ग्रहण न करना	"
पार्श्वस्थ आदि कुमुनियोंसे दूर रहो	२९३	स्वजपिण्डका त्याग चतुर्थ कल्प	३२८
उनके संसर्गसे स्वयं भी वैसे बन जाओगे	२९४	कृतिकर्म नामक पाँचवा कल्प	३२९
दुर्जनोंकी गोष्ठीमें दोष	२९६	जीवोके भेद-प्रभेदोको जानने वालोको ही व्रत देना, छठा कल्प	३३०
सुजनोंके संसर्गमें गुण	२९६	प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमें	
हितकारी कटुक वचन भी सुनने योग्य है	२९७	रात्रिभोजन त्याग नामक छठा महाव्रत	३३०
आत्म प्रशंसा से बचो	३००	पुरुषकी ज्येष्ठता मानवाँ कल्प	३३१
अपनी प्रशंसा न करनेमें गुण	३००	प्रतिक्रमण आठवाँ स्थिति कल्प	"
आचरणसे गुणोंको प्रकट करनेका महत्त्व	३०२	प्रतिक्रमणके भेद	३३०
परनिन्दामें दोष	३०३	लहृ ऋतुओमें एक-एक मास ही एक समयमें रहना नवम कल्प	३३२
गुरुका उपदेश सुनकर मध आनन्दाश्रु गिराना है	३०४	वर्षाकालके चार भासोंमें एकत्र निवास, दरवाँ स्थिति कल्प	३३३
गुरुके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना है	३०५	इन दस कल्पोसे युक्त आचार्य ग्राह्य	३३५
आचार्य सल्लखनाके लिए दूसरे गणमें क्यो जाते हैं ?	३०७	निर्यापकाचार्यके आचार्यगान होनेसे क्षपकका लाभ	३३५
अपने गणमें रहनेमें दोष	३०८	आचार्यगानका आश्रय न लेनेमें दोष	३३५
समाधिके लिए निर्यापककी खोज	३११	दूसरे आधारव्रत गुणका व्याख्यान	३३६
खोजनेके लिए जाते हुए—			
क्षपककी चर्याका क्रम	३१२		

विषय	पृ०	विषय	पृ०
ज्ञो ज्ञानी नहीं, उसका आश्रय लेनेमें दोष	३३७	ऐसा गुणयुक्त आचार्य निर्यापक होता है	३७९
ज्ञानी आचार्यके लाभ	३३९	ऐसा आचार्य खोजकर ही क्षपक उसके	
द्रव्य संसारका स्वरूप	३४१	पास सल्लेखनाके लिये जाता है	३८०
क्षेत्र संसारका स्वरूप	४२	उबसपा नामक समाचारका क्रम	३८१
काल संसारका स्वरूप	३४२	क्षपककी परीक्षा	३८३
शब्द संसारका स्वरूप	३४२	परीक्षा न करनेमें दोष	३८४
भाव संसारका स्वरूप	३४३	परीक्षा के पश्चात् परिचर्या करनेवाले	
मनुष्य पर्यायकी दुर्लभता	३४३	यतियोसे पूछना	३८५
देशकी दुर्लभता	३४४	एक आचार्य एक समयमें एक ही क्षपकको	
सुकुलकी दुर्लभता	३४४	सल्लेखनाका भार लेंते है	३८६
नीरोगताकी दुर्लभता	३४५	फिर क्षपकको शिक्षा देते है	३८७
साधु समागमकी दुर्लभता	३४५	आचार्यके छत्तीस गुण	३८८
श्रद्धान और समयकी दुर्लभता	३४५	गुरुसे दोषोको निवेदन करके प्रायश्चित्त	
आचार्यके व्यवहारवत्त्व गुणका कथन	३५५	लेना आवश्यक कर्तव्य	६८९
पाँच प्रकारका व्यवहार	३५५	निरवशेष आलोचना	३९१
प्रायश्चित्त दानका क्रम	३५६	आलौचनाके दो प्रकार	३९२
प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त		सामान्य आलोचनाका स्वरूप	३९३
देनेसे दोष	३५८	विशेष आलोचना	३९३
आचार्यके प्रकुर्वित्व गुणका कथन	३५९	शल्यके तीन भेद	३९४
आचार्यका आय अपाय विर्दाशित्व गुण	३६०	भावशल्य दूर न करनेमें दोष	३९५
,, के अवपीडकत्व गुणका कथन	३६५	शल्यसहित मरणमें दोष	३९५
अवपीडक आचार्यका स्वरूप	३६८	शल्यको निकालनेमें गुण	३९७
क्षपकको पीडित किये बिना दोषोको		आलोचनासे पूर्व कायोत्सर्ग	३९८
निकालना संभव नहीं	३६९	ऐसा करनेका कारण	४००
आचार्यके अपरिश्रावी गुणका कथन	३७०	अप्रशस्त स्थानोंमें आलोचना नहीं करनी	
सम्यग्दर्शनके अतीचार	३७०	चाहिये	४००
अनशन आदि तपोके अतिचार	३७१	आलोचना करनेके योग्य स्थान	४०१
अभ्रावकाशके अतिचार	३७२	पूर्व दिशाकी ओर मुख क्यों ?	४०२
प्रायश्चित्तके अतिचार	३७२	आलोचनाकी विधि	४०३
क्षपकके दोष दूसरोसे कहनेवाले आचार्यके		आलोचनाके गुण-दोष	४०३
दोष	३७३	आकम्पित दोष	४०३
आचार्यको कषाय रहित होना चाहिये	३७६	दूसरा अनुमानित दोष	४०७
ऐसा आचार्य ही क्षपकका चित्त शान्त		हृष्ट दोष	४०८
करता है	३७७	बादर दोष	४०९

विषय	पृ०	विषय	पृ०
सूक्ष्म दोष	१	क्षपकके कानमे शिक्षा	४५९
प्रच्छन्न दोष	४११	मिथ्यात्वको त्यागो सम्यक्त्वको भजो	४६६
शब्दाकुलित दोष	४१२	जिनभक्तिका माहात्म्य	४६८
बहुजन दोष	४१४	नमस्कार मन्त्रकी आराधना	४७०
अव्यक्त दोष	४१५	भावनमस्कारके विना रत्नत्रय भी व्यर्थ	४७३
तत्सेवो दोष	४१६	गवालेका उदाहरण	४७४
आलोचनाकी विधि	४१७	ज्ञानोपयोगकी महत्ता	४७६
लगे हुए दोषोका विवरण	४१८	यमसूनिका उदाहरण	४७८
आलोचनाके पश्चात् गुरु तान वार पूछते है—	४२५	दृढसूर्प चोरका उदाहरण	४७९
तीनो वार एक ही रूपसे कहे तो मरल आलोचना	४२६	अहिंसाव्रतका पालन कगे मनुष्य जन्मका दुर्भलता	४८०
उसीको प्रायश्चित्त दिया जाता है	४२७	अहिंसा व्रतकी महत्ता	४८१
दोषके अनुसार प्रायश्चित्त	४२९	हिंसाके दोष	४८३
मल्लेखनाके अयोग्य वसतिका योग्यवसतिका	४३१	ससारके सब दुख हिंसाके फल	४८८
संस्तरका स्वरूप	४३३	हिंसाका लक्षण	४८९
पृथ्वीमय संस्तर	४३४	हिंसा मध्यन्धो क्रियाओके भेद	४९१
शिलामय संस्तर	४३५	अधिकरणके भेद	४९२
तृणमय संस्तर	४३६	जीवाधिकरणके भेद	४९३
निर्यापकोका कथन	४३७	सम्भ्र आदिका लक्षण	४९४
अडनालीस निर्यापक	४३८	अजीवाधिकरणके चार भेद	४९५
निर्यापकोका कार्य	४३९	निक्षेपके चार भेद	४९६
वं निरन्तर हितकारि कथा कहते है	४४०	अहिंसाकी रक्षाके उपाय	४९७
चार प्रकारकी कथाएँ	४४१	अहिंसाव्रतमे चण्डालका उदाहरण	४९८
विक्षेपणी कथा नहीं करना चाहिये	४४२	असत्य वचनके चार भेद	४९९
अडनालीस र्यातियोके कायका विभाजन	४४३	गहित और मावद्यवचनका स्वरूप	५००
कमसे कम दो निर्यापक होते है	४४४	मन्यवचनका स्वरूप और गुण	५०३
एक निर्यापकमे दोष	४४५	सत्यवचनका माहात्म्य	५०४
निर्यापकके द्वारा आहारका प्रकाशन	४४६	असत्यवचन अहिंसादिका विनाशक	५०५
पानकके भेद	४४७	विना दी हुई तृणमात्र वस्तु भी अग्राह्य	५०६
जीवनपर्यन्तके लिये आहारका त्याग	४४८	पद्मव्यहरणके दोष	५०९
सबसे क्षमायाचना	४४९	माता भी चोरका विश्वास नहीं करती	५१०
निर्यापकगण रात दिन सेवामें तत्पर	४५०	परलोकमे भी चोरकी दुर्गति	५१२
		श्रीभूति पुणेहितका उदाहरण	५१२
		ब्रह्मचर्यका स्वरूप	५१३

विषय	पृ०	विषय	पृ०
अन्नहृके दस भेद	५१४	लोभी पिण्याक गन्धका उदाहरण	५७८
वैराग्यके उपाय	५१५	पटःसः नामक वणिकका उदाहरण	५७९
कामजन्य दोष	५१५	सचित्त परिग्रहके दोष	५८३
कामके दस वेग	५१८	महाव्रत सज्ञाकी सार्थकता	५९१
कामातुर गोरमदीपका उदाहरण	५२०	उन महाव्रतोकी रक्षाके लिये रात्रि भोजन	
परस्त्रीगमनके दोष	५२५	त्याग	५९२
ब्रह्मचारी इन दोषोसे मुक्त	५२८	मनोगुप्त और वचनगुप्त	५९५
स्त्रियोंके निमित्तसे ही महाभाग्न		कायगुप्ति	५९७
रामायण आदिके युद्ध हुए	५२९	ईर्या समिति	५९९
दुराचारिणी स्त्रियोंके उदाहरण	५३०	भाषा समिति	६०१
स्त्रियोंके दोषोंके साथ ही पतिव्रता		सत्यवचनके भेद	६००
स्त्रियोंकी प्रगमा	५४१	अनुभय वचनके नौ भेद	६०२
गभमे शरीरके निर्माणका क्रम	५४३	एषणा समिति	६०४
शरीरमे सिंग वगैरहका प्रमाण	५४८	आदान निक्षेपण समिति	
शरीरकी अशुचिता दूर नहीं हो सकती	५५०	प्रतिष्ठापन समिति	६०५
शरीरमे कुछ भी मार नहीं	५५३	अहिंसा व्रतकी पाँच भावना	६०७
शरीरकी अनित्यता	"	एषणा समितिका विस्तृत स्वरूप	६०८
वृद्ध सेवाका कथन	५५९	सत्यव्रतकी भावना	६१०
केवल अवस्थासे वृद्धता नहीं	"	अचौर्यव्रतकी भावना	"
केवल अवस्थासे वृद्धोका समर्ग भी उत्तम	"	ब्रह्मचर्य व्रतकी भावना	६११
तीन कारणोंसे काम सेवनकी भावना	५६१	परिग्रह त्याग व्रतकी भावना	"
स्त्रीके समगसे होनेवाले दोष	५६३	भावनाओंका महत्त्व	५१२
रुद्र, पाराशर, मात्यकि आदिका उदाहरण	५६६	नि शल्यके ही महाव्रत होते है	"
स्त्री व्याघ्रके समान है	५६९	निदानके तीन भेद	६१३
अन्तरग और बहिरग परिग्रहका त्याग	५७०	प्रशस्त निदानका स्वरूप	६१४
आगभमे परिग्रह त्यागका उपदेश है	५७२	अप्रशस्त निदानका स्वरूप	"
केवल वस्त्र त्यागका ही नहीं है	"	भोग निदानका रुचन	६१५
आचेलक्यका अर्थ सर्व परिग्रह त्याग है	५७३	कुलाभिमानको दूर करनेका उपाय	६१८
तालपलबका उदाहरण	"	भोग निदानके दोष	६२४
परिग्रहके मद्भावमे अहिंसादि व्रत नहीं	५७६	भोग निदान वालेके मुनिपदकी निन्दा	६२५
परिग्रहके ग्रहणमे अगुभभाव	५७५	भोगजन्य मुखकी निन्दा	६२७
महोदर भाईयोका उदाहरण	५७६	भोग शत्रु है	६३४
साधुपर सन्देह करनेवाले श्रावकका		निदानमे दोष, अनिदानमे गुण	६३८
उदाहरण	५७७	मायाशल्य दोषमें पुण्यदन्ता आर्यिकाका	
		उदाहरण	६३९

विषय	पृ०	विषय	पृ०
अवसन्न साधुका स्वरूप	६४	आहारमे गृद्धि होनेपर सम्बोधन	७३९
पार्वस्थ साधुका स्वरूप	,,	मैत्री आदि भावनाओंका उपदेश	७४९
कुशील मुनिका स्वरूप	६४३	धर्मध्यानका स्वरूप	७५२
यथाछन्द मुनिका स्वरूप	६४५	चिन्ता निरोधका नया अर्थ	७५३
संसक्त मुनिका स्वरूप	६४६	आर्त और रौद्रध्यानके भेद	७५५
इन्द्रिय और कषायोको निन्दा	६४८	ध्यानकी सामग्री	७५६
गृहवासके दोष	६४९	धर्मध्यानके चार भेदोंका स्वरूप	७५८
तिर्यं च गतिमे दु ख	६५१	बारह अनुप्रेक्षा	७६१
इन्द्रिय विषय आसक्तिमे राजा गन्धमित्र आदिके उदाहरण	६६०	अध्रुव भावनाका वर्णन	७६२
क्रोधके दोष	६६१	अशरण भावनाका वर्णन	७६७
मानके दोष	६६४	एकत्व भावनाका वर्णन	७७४
मायाके दोष	६६६	अन्यत्व भावनाका वर्णन	७७९
लोभके दोष	६६७	ससार भावनाका वर्णन	७८५
मृगध्वज तथा कार्तवीर्यका उदाहरण	६६९	भव ससारका स्वरूप	७८८
इन्द्रिय त्रयका उपाय	६७४	द्रव्य परिवर्तनका स्वरूप	७८९
क्रोधत्रयका उपाय	६७५	क्षेत्र ससारका स्वरूप	७९०
भानजयका उपाय	६७८	काल परिवर्तनका स्वरूप	७९१
मायाजयका उपाय	६७९	भाव ससारका स्वरूप	७९३
लोभजयका उपाय	६८०	वसन्त तिलका और धनदेवका उदाहरण	७९८
निद्राजयका उपाय	६८१	देवगतिमे च्यवनका दु.ख	८००
आलस्यके दोष	६८५	अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन	८०६
तपके गुण	६८६	आत्मवान्प्रेक्षाका कथन	८०९
आचार्यके उपदेशसे क्षपक प्रसन्न होकर वन्दना करता है	६९१	मिथ्यात्व असयम आदि आस्रव	८१०
क्षपकको वेदना होने पर स्वयं या बँधसे चिकित्सा कराते हैं	६९५	राग-द्वेषका माहात्म्य	८११
क्षपक विचलित हो तो उसका उपाय	६९७	योग शब्दका अर्थ	८१३
सुन्दर मिष्ट शब्दोंसे सम्बोधन	६९९	अनुकम्पा पुण्यालवका द्वार	८१४
सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार सनत्कुमार आदिको कथा सुनाते है	७०६	अनुकम्पाके तीन भेद	,,
नरकगतिकी वेदनाका वर्णन	७११	शुद्ध प्रयोगके दो भेद	८१६
तिर्यं च गतिकी वेदनाका वर्णन	७१८	यत्तिका शुद्ध प्रयोग	,,
मनुष्य गति और देवगतिके कष्ट	७२५	ग्रहस्थका शुद्ध प्रयोग	८१७
		मिथ्यात्वका संवर, कषायका संवर, और इन्द्रियसंवर	८१८
		प्रमादका संवर	८१९
		गुप्ति संवरका कारण	८२२

विषय	पृ०	विषय	पृ०
निर्जरानुप्रेक्षा	८२३	सम्यक्त्वको नष्ट करके मरनेवाले	
सविपाक निर्जरा सबके होती है	८२४	भवनत्रिकदेव	८५९
तपसे अविपाक निर्जरा	८२५	क्षपककी मरणोत्तर क्रिया (विजहणा)	८६०
संवरके बिना तप कार्यकारी नहीं	८२६	निर्षोधिकाका लक्षण	८६१
घर्मानुप्रेक्षा	८२७	" का स्थान आदि	"
बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा	८२९	मृतकका बन्धन आदि	८६३
ध्यानके अनेक आलम्बन	८३०	आयिक्काकी मरणोत्तर विधि	"
शुक्लध्यानके चार भेद	८३४	शबके साथ पीछी रखनेका उद्देश	८६५
पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान	८३५	अमुक नक्षत्रमे मरणका फल	८६६
एकत्व वितर्क शुक्लध्यान	८३८	मृतकके साथ पुतलेका विधान	८६७
तीसरा शुक्लध्यान	८३८	मरण पर उपवास आदि	८६८
चतुर्थ शुक्लध्यान	८३९	मृतकके शबकी स्थितिका फलाफल	"
ध्यानकी महिमाका स्तवन	८४०	आराधक क्षपककी स्तुति	८६९
क्षपककी लेश्याविशुद्धि	८४३	निर्यापककी प्रशसा	८७०
परिणामविशुद्धिसे लेश्याविशुद्धि	८४५	क्षपकको देखने जाने जानेवालोंकी प्रशसा	
अभ्यन्तर शुद्धि होने पर बाह्य शुद्धि अवश्य		क्षपक तीर्थस्वरूप है	"
होती है	८४६	अविचार भक्त प्रत्याख्यानका स्वरूप	
शुक्ल लेश्याके उत्कृष्ट अंगसे मरण करने		और भेद	८७१
वाला उत्कृष्ट आराधक	८४६	निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान	८७२
लेश्याके आश्रयमे आराधनाके भेद	८४७	अनिहार " "	८७३
उत्कृष्ट आराधनासे मुक्ति	८५०	निरुद्धतर ममाधिकी विधि	"
मध्यम आराधनामे अनुत्तरवासी देव		अनादि मिथ्यादृष्टिको मोक्षकी प्राप्ति	८७५
जघन्य आराधनावाले सौधर्मादि देव होते		इण्डिणीमरणकी विधि	८७६
हैं	८५१	प्रायोपगमनकी विधि	८८३
आराधनामे भ्रष्ट होने वालेका पतन	८५२	दोनो प्रकारके मरणोमे अन्तर	८८३
अवसन्न मुनिका आचरण	८५३	उक्त मरण करनेवालोंके उदाहरण	८८६
पाश्वर्यस्थ मुनिका आचरण	८५४	बाल पण्डित मरण	८८७
कुशील मुनिके अनेक भेद तथा उनका		आचरण	८५५
आचरण	८५५	आरह प्रकारका गृहीधर्म	"
संसक्त मुनिका आचरण	८५६	पण्डित पण्डित मरणका स्वरूप	८८९
क्षपकके मरते समय सन्मार्गसे च्युत होनेके		ध्यानकी बाह्य सामग्री	"
कारण	८५७	क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति	"
कन्दर्प भावनासे मरनेवाले कन्दर्पदेव	८५९	तदनन्तर क्षपक श्रेणि पर आरोहण	८९०
अभियोग्य भावनासे मरनेवाले अभियोग्य		अपूर्वकरण अनिवृत्तकरण	"
जातिके देव	"	अनिवृत्ति करणमे प्रकृतयोका क्षय	८९१

विषय	पृ०	विषय	
सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणकषाय	८९२	सिद्ध क्षेत्रका स्वरूप	”
केवलज्ञानका स्वरूप	८९३	लोकके अग्रभागसे ऊपर गमन न करनेका	
केवलज्ञानीका विहार	८९४	कारण	९००
समुद्घातका विधान	”	सिद्ध जीवोका स्वरूप	९०१
समुद्घातका कार्य	८९५	सिद्धजीवोमे मुख आदि	९०३
समुद्घातका समय	८९६	उत्कृष्ट आराधनाका फल	९०६
केवलीके योगनिरोधका क्रम	”	मध्यम आराधनाका फल	”
अयोगकेवली अवस्था	८९७	जघन्य आराधनाका फल	”
मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगति	८९८	ग्रन्थकार द्वारा आत्मपरिचय आदि	९०७





# भगवती आराधना

## अपराजितसूरिकृता विजयोदया टीका सहिता

दर्शनज्ञानचारित्र्यतपसामाराधनाया स्वरूप, विकल्पं, तदुपाय, साधकान्, सहायान्, फल च प्रति-  
पादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यादौ मङ्गल स्वस्य श्रोतॄणा च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकृतौ क्षमं शुभपरिणाम  
विदधता तदुपायभूतेयमरचि गाथा—

मिद्धे जयप्पसिद्धे चउच्चिहाराहणाफलं पत्ते ।

वदिता अरहते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

मिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका । अत्रान्ये कथयन्ति—“निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य  
क्षीणायुपस्माधकस्याराधनाविधानावबोधनार्थमिदं शान्त्रं” तस्याविघ्नप्रसिद्ध्यर्थमिदं मङ्गलस्य कारिका गाथेति ।  
अमयतसम्यग्दृष्टिमयतामयतप्रमत्तसयताप्रमत्तसयतादयोऽप्याराधका एव । तत्किमुच्यते निवृत्तविषयरागस्य  
निराकृतसकलपरिग्रहस्येति । न ह्यसयतसम्यग्दृष्टे सयतासंयतस्य वा निवृत्तविषयरागता, सकलग्रन्थपरित्यागो  
वास्ति । क्षीणायुष इति चानुपपन्न । अक्षीणायुषोऽप्याराधकता दर्शयिष्यति सूत्र ‘अणुलोमा वा सत्तू चारित्त-  
विणासया हवे जस्त’ इति ।

शास्त्रान्तरे पञ्चाना गुरुणा नमस्क्रिया प्रारभ्यते । तत्र चार्हतामेवोपादानमादौ । इह तु पुनर्द्वयोरेव

इस शास्त्रमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपकी आराधनाका स्व-  
रूप, भेद, उसके उपाय, साधक, सहायक और फलका कथन किया जायगा । अत अपने  
और उसको मुनने वालेके प्रारब्ध कार्यमे आने वाले विघ्नोको दूर करनेमे समर्थ मङ्गलस्वरूप  
शुभ परिणामको करते हुए आचार्यने उसके उपायभूत ‘सिद्धे जयप्पसिद्धे’ इत्यादि गाथा रची है ।

इसके सम्बन्धमे अन्य टीकाकार कहते हैं कि विषयोमे रागसे निवृत्त और समस्त परिग्रहके  
त्यागी जिस साधककी आयु समाप्त होनेवाली है, उसको आराधनाके विधानका सम्यक् बोध  
करानेके लिये यह शास्त्र रचा है तथा उसको निविघ्न प्रसिद्धिके लिये यह मंगलकारक गाथा है ।

(इसपर हमारा कहना है कि) असयत सम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत  
आदि भी आराधक ही है । तब यह क्यों कहते है कि विषयोके रागसे निवृत्त, समस्त परिग्रहके  
त्यागी साधकके लिये यह ग्रन्थ रचा है । असंयत सम्यग्दृष्टि और सयतासयत न तो विषयानुराग-  
से निवृत्त होते हैं और न समस्तपरिग्रहके त्यागी ही होते है । तथा ‘जिनकी आयु समाप्त होने-  
वाली है’ यह कथन भी यथार्थ नहीं है क्योंकि आगे ‘अणुलोमा वा सत्तू’ इत्यादि गाथासूत्रके  
द्वारा ग्रन्थकार, जिनकी आयु समाप्त होनेवाली अभी नहीं है उनकी भी आराधकता दिखलायेगे ।

शङ्का—अन्य शास्त्रोके प्रारम्भमे पाँचो गुरुओको नमस्कार किया गया है और उनमे

नमस्कारो विपर्ययश्च । तर्कि कृत वैधर्म्यमिति ? अत्रोच्यते—अन्यथाप्रवृत्तावस्ति कारण । इह द्विप्रकारा सिद्धसाधकभेदेन जीवा । अर्हता सिद्धाना चाप्ताराधनाफलत्वात्, आचार्यदीना त्रयाणा साधकानामनुग्रहादे शस्त्रं प्रस्तूयत इति सिद्धाना मङ्गलत्वेनोपादान युक्त, नेतरेषामधिक्रियमाणत्वात्तंयामिति भाष्यपरिहारौ केवाचित् । तावसङ्गताविव लक्ष्येते । तत्र बाधस्य निवेद्यतेऽयुक्तता । किमर्थं नमस्कार क्रियते शास्त्रादिषु ? अविघ्नप्रसिद्धये । कथं निहन्ति विघ्नमसौ ? स हि वक्तु श्रोतुर्वा भवेत् ? उभयस्यापि निबन्धनमन्तराय , 'विघ्नकरधमन्तरायस्य' [त सू ] इति वचनात् । पञ्चप्रकारोऽसौ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां विघ्नकारणभेदेन, तत्र वक्तुर्दानान्तरायस्सम्पादयति प्रत्युह, त्रिविधस्य हि दानस्य प्रतिबाधको दानान्तराय । ज्ञानलाभ विहन्ति श्रोतुर्लाभान्तरायस्तदायत्तो विघ्न कथं तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि नमस्कारे, यथा दीजसलिलवमुन्धराधर्म-रक्षिकरसधाताधीनजन्मा श्रीहाद्यङ्कुर. स्वहेतुसामान्या भवत्यन्यूनाया सन्निहितेऽपि सालतामालादौ तथेहापि । अथैव भूषे अन्तरायोऽशुभप्रकृति । स च शुभपरिणामोन्मूलितरसप्रकव. स्वकार्यं निष्पादयितु नालमिति । यद्येव शुभपरिणाममात्रस्याश्रोपयोगस्तथा सति सिद्धादिगुणानुराग सव एवोपयोगी विघ्नतिर-

प्रारम्भमे अरहन्तोको ही ग्रहण किया है । किन्तु यहाँ सिद्ध और अरहन्त दो का ही ग्रहण किया है और वह भी विपरीत क्रमसे किया है अर्थात् सिद्धोका ग्रहण प्रथम और अरहन्तोका पश्चात् किया है । इस प्रकारकी विपरीतताका क्या कारण है ?

इसका कोई इस प्रकार उत्तर देते है—अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति करनेका कारण है । यहाँ सिद्ध और साधकके भेदसे जीवोके दो प्रकार है । अरहन्त और सिद्ध तो आराधनाका फल प्राप्त कर चुके है अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन साधकोके अनुग्रहके लिये यह शास्त्र रचा गया है, इसलिये सिद्धोका मंगल रूपसे ग्रहण युक्त है, आचार्य आदिका नहीं, क्योंकि उन्होके लिये यह ग्रन्थ रचा गया है । ऐसा कोई आचार्य भाष्य और उसका परिहार करते है । किन्तु वे दोनों ही असगत जैसे प्रतीत होते है । उनमेसे प्रथमकी अयुक्तताके सम्बन्धमें निवेदन करते है—

शास्त्रादिमे नमस्कार क्यो किया जाता है ? निविघ्नताकी प्रसिद्धिके लिये । वह विघ्नो-को कैसे दूर करता है ? विघ्न वक्ता या श्रोताको होता है । दोनोका भी कारण अन्तराय कर्म है । तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है—'विघ्न करनेसे अन्तराय कर्मका आश्रव होता है । दान, लाभ, उपभोग और वीर्यके विघ्न करनेमें कारण होनेके भेदसे अन्तरायके पांच भेद है । उनमेसे दानान्तराय वक्ताके दानमे विघ्न करता है क्योंकि दानान्तराय तीन प्रकारके दानमें बाधक होता है । लाभान्तराय श्रोताके ज्ञान लाभमे रुकावट डालता है, क्योंकि जब विघ्न अन्तराय कर्मके अधीन है तो उसके होते हुए विघ्न क्यो नहीं होगा, भले ही नमस्कार किया गया हो । जैसे धान्य आदिके अकुरकी उत्पत्ति बीज, जल, पृथ्वी और सूर्यकी किरणोके समूहके अधीन है । अतः अपनी कारण सामग्रीके परिपूर्ण होनेपर उसकी उत्पत्ति साल, तमाल आदिके रहते हुए भी अवश्य होती है । उसी तरह यहाँ भी जानना ।

यदि आप कहे कि अन्तराय अशुभ कर्म है, शुभ परिणामके द्वारा उसकी अनुभाग शक्ति क्षीण कर दिये जानेपर वह अपना कार्य करनेमे समर्थ नहीं होता, तब तो यहाँ शुभपरिणाम मात्र उपयोगी हुआ । और ऐसा होनेपर विघ्नोको दूर करनेकी इच्छा करने वालेको सिद्ध आदिके गुणोंमें अनुराग आदि सब उपयोगी हुए । तब विचारशील पुरुषके द्वारा अपनाया गया क्रम

दिक्कीर्षतस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिण क्रमाश्रयणमन्याय्य ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमात्रनिबन्धनमुपायानामुपायत्व, तद्यत्र यथास्ति तस्य तस्योपायता । तेन सर्व एवाहंदाविगोचरा गुणानुरागास्तत्पुर सरत्वाक्कायक्रिया अनादृतक्रमा भवन्ति वाञ्छितफलप्राप्त्यधना एकैकरूपा बहवोऽपि । इमामानुपूर्वीमन्तरंगेषा सिद्धि साध्यस्थान्यथा न विद्यत इति यत्र तत्राश्रीयते उपायक्रम । यथा घट सिसाधविषयतो मूमर्दनपिण्डकरणचक्रारोपणायः । युगपदनेकवचनप्रवृत्तिरसभिव्यक्तस्य वक्तुरिति नान्तरीयकतया क्रमाश्रयणं तत्र च कामचार । तथाहि, 'सिद्धं सिद्धदृष्टाणं दृष्टमणोवचमसुहृद्ययाणमिति' (—सन्मतिः ११) । शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं । स्वचित्तीर्थ-कृत्वपि वीरस्वामिन एव प्रथम नमस्कृत्या—

'एस सुरासुरमणुसिबवदिव धोवघाविकम्ममल । पणमामि बद्धहमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥

सेसे पुण तित्थपरे ससब्बसिद्धे विसुद्धसग्भावे । समणे य जाणवंसणचरित्तववोरिययापारे ॥ इति

—प्रब० सा० १।१-२ ।

स्वचिदेकप्रघट्टेन,

'इवसवर्षविद्याणं सिद्धअणहिवमधुरविसववक्काणमिति ।' —पञ्चास्ति० १ ।

स्वचिर्जावगुण एवानाश्रिताहंदादिस्वामिविशेषो निरूपित "धम्मो मङ्गलमुक्किट्ट" इति ।

अन्याय्य कैसे है ? उपेय अर्थान् कार्यके आत्म लाभमें हेतु होना मात्र उपाय अर्थान् कारणोके उपायपनेका निबन्धन है । अर्थात् कारणोमे कारणपना इमीसे होता है कि उनसे कार्य उत्पन्न होता है । वह जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ कारणपना है । अत अहंन्त आदि विषयक सभी गुणानुराग और उस पूर्वक वचन और कायकी क्रिया, विना क्रमके भी इच्छित फलकी माधक होती है चाहे वह एक-एक रूप हो या बहुत हो । किन्तु जहाँ कार्यकी सिद्धि क्रमको अपनाये विना नहीं होती वहाँ उपायोका क्रम अपनाना होता है । जैसे जो घडा बनाना चाहता है । वह पहले मिट्टीको मलता है, फिर उसका पिण्ड बनाता है, फिर उसे चाक पर रखता है आदि । इस क्रमके विना घडा नहीं बन सकता । इसलिए यहाँ क्रम आवश्यक है । किन्तु सर्वत्र क्रम आवश्यक नहीं है ।

तथा एक वक्ता एक साथ अनेक वचन व्यवहार नहीं कर सकता, इसलिए नमस्कार करने-मे क्रमका आश्रय लेना होता है । किन्तु उममे यह अपेक्षित नहीं है कि पहले किसे नमस्कार करना । नमस्कार करनेवाला अपनी अपनी इच्छानुसार नमस्कार करता है । जैसे सन्मत्तिसूत्रके प्रारम्भमे 'सिद्ध मिद्धदृष्टाणं' आदिसे केवल जिनशासनके गुणोका ही स्मरण किया है । कही पर तीर्थकरोंमे से भी वीर स्वामीको ही प्रथम नमस्कार किया है । जैसे प्रवचनसारके प्रारम्भमे कहा है—'यह मे सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रो और नरेन्द्रोसे वन्दित तथा घाति कर्ममलको धो डालनेवाले और धर्मके कर्ता वर्धमान तीर्थकरको नमस्कार करता हूँ । तथा विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थकरको, समस्त सिद्धोके साथ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारसे युक्त श्रमणोको नमस्कार करता हूँ ।'

कही एक साथ सब जिनोको नमस्कार किया है । जैसे पञ्चास्तिकायके प्रारम्भमे कहा है—'मौ इन्द्रोके द्वाग वन्दित और तीनों लोकोका हित करनेवाले मिष्ट और स्पष्ट वचन बोलने-वाले, अनन्तगुणशाली भवजेता जिनोको नमस्कार हो ।'

कही अहंन्त आदि स्वामीविशेषका आश्रय न लेकर जीवके गुणका ही कथन किया है जैसे दशवैकालिकसूत्रके प्रारम्भमे 'धर्म उत्कृष्ट मगल है' आदि कहा है ।

एवं सति वैचित्र्ये का विपर्ययाशङ्का ? यच्चोक्तं साधकानुग्रहाधिकारे सिद्धात्मनामेव मङ्गलत्वेनाधिकारो युक्त इति । इदं पर्यनुयोज्योऽयं श्रुतसाधकार्यमुत् (?) यद्येव सकलस्य श्रुतस्य सामायिकारिर्लोककिन्नुसारान्तस्थावै मङ्गलं कुर्वन्गणधरैः 'णमो अरहंताणमित्यादिना कथं पञ्चानां नमस्कारः कृतः ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रत्र विरुध्यते, 'वदित्ता अरहते' इति अहंतामुपादानात् । तेषु सिद्धा इति चेत् पृथगुपादानानर्थक्यम् । अथैकदेशसिद्धास्त इति पृथगुपात्ता आचार्यादयोऽपि किन्नोपात्तास्तेषामप्येकदेशसिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धताया अहंतामप्याराधकत्वे सत्युपादानं स्वव्याख्याविरोधमाधत् इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् 'अवप्यसिद्ध' जगति प्रसिद्धान् 'बहुस्विधाराधनाफल' चतुर्विधाराधनाफल 'पत्ते' प्राप्तान्, वदित्ता वन्दित्वा 'अरहते' 'बोच्छ' वक्ष्यामि 'आराधण' आराधना 'कमसो' क्रमशः ॥

सिद्धशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः नामस्थापनाद्रव्यभावा इति । तत्र नामसिद्ध क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्यं, सूक्ष्मता, अतिशयवतीमवगाहना, सकलबाधारहितता चानपेक्ष्य सिद्धशब्दप्रवृत्तेर्निमित्तं कस्मिंश्चित्प्रवृत्त सिद्धशब्द ।

ननु स्वरूपनिष्पत्ति सिद्धशब्दस्य प्रवृत्तेर्निमित्तं न सम्यक्त्वावय इति चेत् मध्य, व्यावर्णितयात्किञ्चिन्नात्मरूपनिष्पत्तिनिमित्तत् एष्यत् एव । पूर्वभावप्रज्ञप्तिनयापेक्षया चरमशरीरानुग्रहो य आत्मा क्षीरानु-

इस प्रकारकी विविधताके होते हुए विपरीतता की—अहंन्तोसे पहले सिद्धोको क्यो नमस्कार किया—इस प्रकारकी आशङ्का कैसी ?

तथा यह जो कहा है कि साधकोके अनुग्रहके लिए रचे गये इस ग्रन्थमें मंगल रूपमें सिद्धोका ही अधिकार उचित है । इस विषयमें यह प्रश्न है कि ये साधक क्या श्रुत कें है ? यदि ऐसा है तो सामायिकसे लेकर लोकविन्दुसार पर्यन्त सकल श्रुतके आदिमें मंगल करनेवाले गणधर देवने 'णमो अरहंताण' इत्यादि रूपसे पांचोको नमस्कार क्यो किया ? इसलिए आपकी व्याख्या सूत्र विरोधिनी है । तथा इसी गाथासूत्रसे भी विरुद्ध है; क्योकि इसी गाथामें 'वदित्ता अरहते' कहकर अहंन्तोका भी ग्रहण किया है । यदि कहोगे कि वे भी सिद्ध है तो उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है । यदि कहोगे कि वे एकदेश सिद्ध है इसलिए उनका पृथक् ग्रहण किया है तो आचार्य आदिका ग्रहण क्यो नहीं किया, क्योकि वे भी एकदेश सिद्ध है । एकदेश सिद्ध होने पर अहंन्तोका भी आराधक रूपसे ग्रहण अपनी ही व्याख्याके विरुद्ध जाता है । अस्तु,

गा०—'जगत्मे प्रसिद्ध और चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्धो और अहंन्तोको नमस्कार करके क्रमसे आराधनाको कहेंगा ॥१॥'

टीका—सिद्ध शब्दके चार अर्थ हैं—नाम सिद्ध, स्थापना सिद्ध, द्रव्य सिद्ध और भावसिद्ध । क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, सूक्ष्मता, अतिशयवती अवगाहना और सकलबाधारहितता अर्थात् अव्याबाधत्व, ये गुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त है अर्थात् जिनमें ये गुण होते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं । इन गुणोकी अपेक्षा न करके किसीमें प्रवृत्त सिद्ध शब्द नाम सिद्ध है ।

शका—सिद्ध शब्दको प्रवृत्तिका निमित्त उसके स्वरूपकी निष्पत्ति है, सम्यक्त्व आदि गुण नहीं ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है, पूर्व शरीरके आकारसे किञ्चित् कम जो आत्म रूप कहा है सिद्ध का, उसकी निष्पत्तिके निमित्तको ह्य स्वीकार करते हैं । पूर्व भाव प्रज्ञापन नयकी

प्रविष्टोदकमिव सस्थानवत्तामुपगत, शरीरापायेऽपि तमात्मान चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनात्मप्रदेशसमवस्थान बुद्धावासीत्य तदेवेदमिति स्थापिता मूर्ति स्थापनासिद्धः । सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यायित आत्मा आगमद्रव्यसिद्धः । नोआगमद्रव्यसिद्धश्रेष्ठा ज्ञायकशरीरभावि तद्व्यतिरिक्तभेदात् । ज्ञायकशरीरसिद्ध सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूत भवत् भावि वा । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्धः । तद्व्यतिरिक्तम-संभवि, कर्मनोक्तमणो सिद्धत्वस्य कारणत्वाभावात् । सिद्धप्राभृतगतितस्वरूपसिद्धज्ञानमागमभावसिद्धः । धायिकज्ञानदर्शनोपयुक्तः परिप्राप्ताव्यावाधस्वरूपस्त्रिषष्टिपशिखरस्थो नोआगमभावसिद्धः । स इह गृह्यते ।

ननु मामान्यशब्दस्यान्तरेण प्रकरण विशेषण वाऽभिमतार्थवृत्तित्वा दुरवगमा ? अत एव विशेषणमुपात्त चतुर्विधाराधनाफल प्राप्तानिति । सम्यक्त्व केवलज्ञानदर्शने सकलकर्मविनिर्मुक्ततेति चतुर्विध, चतुर्विधया आराधनाया फल साध्य तत्प्राप्तिरात्मन सम्यग्दर्शनादिरूपेण समवस्थानम् । ततोऽयमर्थ — 'फल पते' इत्यस्य धायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शननिरवशेषकर्मविनिर्मुक्तत्वारूपेणावस्थितानिति । जगति आसन्नभयजीवलोके ममीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्धान् प्रतीतान् विदितान् । 'अरहते' इत्यत्र च शब्दमन्तरंगापि ममुच्चयार्था गति । 'पृथिव्यपतेजोवायुराकाशं कालो दिगतामा मन इति द्रव्याणोत्वेव यथा । निहतमोहनीयतयाऽस्तज्ञान-

अपेक्षा अन्तिम शरीरमे प्रविष्ट हुआ जो आत्मा दूधमे मिले पानीकी तरह आकारवत्ताको प्राप्त हुआ, शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उस आत्माको अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून आकार वाला बुद्धिमे स्थापित करके 'यह वही है' इस प्रकारसे स्थापित मूर्तिको स्थापना सिद्ध कहते हैं ।

सिद्धो के स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी परिणतिकी सामर्थ्यसे युक्त आत्मा आगम-द्रव्यसिद्ध है । नोआगम-द्रव्यसिद्धके तीन भेद है—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त । सिद्ध विषयक शास्त्रके ज्ञानाके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायक शरीर सिद्ध कहते हैं । भविष्य-मे सिद्ध पर्यायको प्राप्त करनेवाले जीवको भाविसिद्ध कहते हैं । इसमे तद्व्यतिरिक्त भेद सम्भव नहीं है क्योंकि कर्म और नोक्तमं सिद्धत्वके कारण नहीं होते ।

सिद्ध प्राभृतमे कहे गये सिद्ध स्वरूपके ज्ञानमे उपयुक्त आत्मा आगम भाविसिद्ध है । धायिक ज्ञान और धायिक दर्शनमे उपयुक्त तथा अव्यावाध स्वरूपको प्राप्त और लोकके शिखर पर विगजमान सिद्ध परमेष्ठी नो आगमभावसिद्ध है । यहाँ उसीका ग्रहण किया है ।

शङ्का—प्रकरण अथवा विशेषणके विना सामान्यसे अभिमत अर्थका बोध होना कठिन है अत यहाँ सिद्धसे नो आगम भाविसिद्धका ग्रहण कैसे संभव है ?

समाधान—इसीलिये आचार्यने 'चतुर्विध आराधनाके फलको प्राप्त' यह विशेषण दिया है । सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मसे सर्वथा मुक्तता ये चार, चार प्रकारकी आराधनाके फल है । आत्माका सम्यग्दर्शन आदि रूपसे सम्यक् अवस्थान ही उनको प्राप्ति है । अत 'फल पते' का अर्थ है—जो धायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मों से विनिर्मुक्तता रूपसे स्थित है उन सिद्धोको । 'जगत्' अर्थात् निकट भव्य जीवरूपी लोकमें, जिनकी आंख समीचीन श्रुतज्ञान है, उनमें जो प्रसिद्ध हे जाने माने है ।

'अरहते' यहाँ यद्यपि 'च' शब्द नहीं है फिर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है । जैसे 'पृथिव्यपतेजोवायुराकाशं कालो दिगतामा मन इति द्रव्याणि' इस सूत्रमे 'च' शब्द नहीं होने पर भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य हे इस प्रकारसे समुच्चयका ज्ञान होता है उसी प्रकार जानना ।

दर्शनावरणान्त अतिशयितपूजाभाज इत्ययमर्थोऽनेन 'अरहते' इत्यनेनोक्त । अनुगतार्थत्वादर्हन्निति संज्ञाया यथा सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दार्थसंज्ञाभावमुपयाति । अथवा 'जगत्प्रसिद्धि' इति अर्हता विशेषण, यत पञ्चमहा कल्याणस्थानेषु विष्टपत्रयेणाधिगता महात्मान, नैवमितरे सिद्धा । सर्वस्यैव हि वस्तुन कथञ्चित्प्रतीतत्वे सति अप्रतीतस्य कल्पञ्चिदभावात् प्रसिद्धग्रहणमुपात्तप्रकर्षमिति गम्यते । यथाऽभिरूपाय कन्या देवेति । तेनायमर्थो जगति प्रसिद्धतमानिति । अर्हतामेव च प्रतीततरत्वमुक्तेन क्रमेण ।

अनधिगतप्रयोजन श्रोता न यतते श्रवणोऽध्ययने वा । परोपकारसंपादनाय चेत् प्रस्तूयते मया तत् प्रयोजन प्रकटयामीत्याह 'बोच्छ आराहणं' मिति । एतेनाराधनास्वरूपावगमन प्रयोजन शास्त्रश्रवणाद्भवता भवतीत्यावेदितम् ।

नत्वागधनास्वरूपावगमन तु पुरुषार्थ । पुरुषार्थो हि प्रयोजन, पुरुषार्थश्च मुख दुःखनिवृत्तिर्वा, न चानयोरेव्यतरताऽन्य । अयमस्याभिप्राय, यो येनार्थेनार्थो स तत्प्राप्त्ये तदीयोपायमधिगनुमुपादेय वा यतते येन प्रयुक्त क्रियाया प्रवर्तते तत्प्रयोजन, ज्ञानेन प्रयुज्यते श्रवणादिक्रियायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञान प्रयोजन भवतु, आराधना तु कथमपयोगिनी ? सकलमुखरूपकेवलज्ञानपरमाभ्यावाधता जनयतीत्युपयोगिनी । तथा चोक्त— 'चतुर्विधागधनाफल प्राप्नानिति' । ततोऽयमर्थ, अनन्त ज्ञानादिकलनिमित्ताराधनाऽवबोधनार्थमिदं शास्त्रमा-

मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणके चले जानेसे जो अतिशय युक्त पूजाके भाजन है, यह अर्थ 'अरहते' पदसे वहाँ कहा गया है; क्योंकि 'अर्हन्' यह नाम सार्थक है । जैसे सर्वनाम शब्द रवीकार किये गये शब्दार्थके सज्ञापनेको अपनातेसे सार्थक है ।

अथवा 'जगत् प्रसिद्ध' यह पद अर्हन्तोका विशेषण है, क्योंकि ये महात्मा पांच महाकल्याणक स्थानोंमें तीनों लोकोके द्वारा जैसे प्रख्यात होते है वैसे अन्य मिद्ध नहीं होते । सभी वस्तु किसी न किसी रूपमें प्रतीत होती है, सर्वथा अप्रतीत कोई नहीं है । अत यहाँ प्रसिद्ध' पदका ग्रहण प्रकर्षताका परिचायक है । जैसे 'रूपवानको कन्या देना' । यहाँ रूपवान् शब्द विशिष्ट रूपका बोधक है । अत 'जगत में सबसे' अधिक प्रसिद्ध यह अर्थ यहाँ लेना । और उक्त प्रकारसे अर्हन्त ही सबसे अधिक या सिद्धोसे अधिक प्रसिद्ध हैं ।

प्रयोजनको जाने बिना श्रोता श्रवण या अध्ययनमें प्रयत्न नहीं करता । और मैं (ग्रथकार) परोपकार करनेके लिये यह ग्रन्थ बनाता हूँ, अत प्रयोजन प्रकट करता हूँ—'बोच्छ आगहण' इससे यह प्रयोजन सूचित किया है कि शास्त्रश्रवणसे आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होता है ।

शंका—आगधनाके स्वरूपको जानना तो पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि पुरुषार्थ प्रयोजन है और पुरुषार्थ है मुख अथवा दुःखनिवृत्ति । आराधनाके स्वरूपको जानना न तो मुख है और न दुःख निवृत्ति है । हमारे इस कथनका अभिप्राय यह है कि जो जिस अर्थका इच्छुक होता है वह उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपाय या उपादेयको जाननेका प्रयत्न करता है । जिसके द्वारा प्रेरित होकर, मनुष्य क्रियामें लगता है वह प्रयोजन है । ज्ञानके द्वारा श्रवण आदि क्रियामें लगता है अत उपयोगी वस्तुका ज्ञान प्रयोजन हो सकता है परन्तु आराधना कैसे उपयोगी है ?

समाधान—समस्त मुख रूप केवलज्ञान और परम अब्यावाधताको उत्पन्न करनेसे आराधना उपयोगी है । कहा है 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त ।'

अत. अभिप्राय यह है कि अनन्त ज्ञानादि रूप फलकी प्राप्तिमें निमित्त आराधनाके स्वरूप-

रम्यत इति साध्यमाराधनास्वरूपज्ञानं साधनमिदं शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपसंबन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत एव वाक्याल्लभ्यते । अभिधेयभूतास्तु चतस्र आराधना । ग्राह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रयममन्वितत्वात् व्याकरणादिवदिति । एवमनया मङ्गलं प्रयोजनादित्रयं च सूचितं 'कमसो' क्रमेण पूर्वशास्त्रनिर्मादितेन । एतेन स्वमनोषिकाचचितमि न भवति । आसवचनानुसारितया प्रमाणमिदमित्याख्यात भवति । 'पुब्वनुत्ताण' इति वाक्यशेषादित्य लभ्यते ॥१॥

का आराधना कस्य वा ? न ह्याराध्यापरिःनेनात्मभूताराधना शक्या प्रतिपत्तु इत्यारेकायामाह—

**उज्जोवणमुज्जवण णिव्वहण साहण च णिच्छरणं ।**

**दंसणणाचरित्तवाणमाराहणा**

**भणिया ॥ २ ॥**

**उज्जोवणमुज्जवणमिन्त्यादिकं ।** 'उज्जोवणं' उद्योतन शङ्कादिनिरसनं सम्यक्त्वााराधना श्रुतनिरूपिते वस्तुनि किमित्य भवेन्न भवेदिति ममुपजाताया शङ्काया सशयप्रतिसजिताया अपाकृतिः । कथं ? हेतुबलेन आसवचनेन वा ममुपजाताया इत्यमेवेदमिति निश्चित्य । यद्वि यस्य विरोधि यशोपजातं तत्र नेतरदास्यदं वचनाति, यथा शीतस्पर्शोनाक्रान्ते गिणिरकरे उष्णता । विरोधि च निश्चयज्ञानं । सशोर्तिविरोधता च नियोगतस्तद्भावे तत्रेतरस्य तदा अभवन्त् । वक्ष्याम काक्षादीनां स्वरूपं तन्निरासक्रमं च प्रस्तावे । अनिश्चयो का ज्ञान करानेके लिये इस शास्त्रको प्रारम्भ करते हैं । आराधनाके स्वरूपका ज्ञान साध्य है और उसका साधन यह शास्त्र है । इस प्रकार शास्त्र और प्रयोजनमे साध्य साधनरूप सम्बन्ध है यह भी इसी वाक्यसे ज्ञात होता है । इस शास्त्रका अभिधेयभूत अर्थात् जो इसके द्वारा कहा गया है वह है चार आराधना । अतः प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयसे युक्त होनेसे यह शास्त्र उसी तरह उपादेय है जैसे व्याकरणशास्त्र उपादेय है ।

इम प्रकार इस गाथासे मंगल प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयको सूचित किया है ।

'कमसो' का अर्थ है क्रमसे अर्थात् पूर्व शास्त्रोमे जैसा कहा है वेंमा ही कहूंगा । इससे यह सूचित किया है कि यह ग्रन्थकारकी अपनी बुद्धिकी उपज नहीं है किन्तु आप्त पुरुषोके वचनोके अनुसार होनेसे प्रमाण है । 'कमसो' के साथ 'पुब्वनुत्ताण' पूर्व शास्त्रोके इस वाक्याशका अध्याहार करनेसे उक्त अर्थ निकलता है ॥१॥

आराध्यको जाने बिना उसकी आत्मभूत आराधनाको जानना शक्य नहीं है । अतः आराधना किसे कहते हैं और वह किसके होती है इस शकाके समाधानके लिये आचार्य कहते हैं—

गाथा—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्र्यं और सम्यक्त्वके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और (णिच्छरण) निस्तरणको (आराहणा) आराधना कहा है ॥२॥

**टीका—**'उज्जोवण' का अर्थ है उद्योतन अर्थात् शंका आदि दोषोको दूर करना । यह सम्यक्त्व आराधना है । शास्त्रमे कही गई वस्तुके विषयमे 'क्या ऐसा है अथवा नहीं है' इसप्रकार से उत्पन्न हुई शकाको, जिसका दूसरा नाम सशय है, दूर करना सम्यक्त्वााराधना है । युक्ति के बलसे अथवा आप्त वचनके द्वारा यह इसी प्रकार है ऐसा निश्चय करके उत्पन्न हुई शकाको दूर करना सम्यक्त्वका उद्योतन है । जिसका विरोधी जहाँ होता है वहाँ वह ठहर नहीं सकता । जैसे शीत स्पर्शसे व्याप्त चन्द्रमामें उष्णता नहीं ठहरती । निश्चयात्मक ज्ञान सशयका विरोधी है अतः इन दोनोंमे नियमसे विरोध है; क्योंकि एकके रहते हुए वहाँ उस समय दूसरा नहीं रहता ।

वैपरीत्य वा ज्ञानस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदास । यथार्थतया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतन । भावना-  
विरहो मल चारित्रस्य, तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतन चारित्रस्य । तपसोऽसयमपरिणाम कलङ्कतया स्थितस्त  
स्यापाकृति सयमभावनया तपस उद्योतनम् । उत्कृष्ट यवन उद्यवन ।

ननु मिश्रणं युप्रकृतेरर्थं, मिश्रण च सयोगता । तथा हि गुडमिश्रा घाना इति कथिते गुडेन सयुक्ता  
इति प्रतीयते । सयोगश्च विभिन्नयोरर्थयोरप्राप्तयो प्राप्तिसं च दर्शनादयोऽर्धान्तरभूता आत्मनस्तद्रूपविकल-  
रूपाभावात् । तत्कथ दर्शनादिभिरात्मनो मिश्रणमिति ? उच्यते-विशेषवाच्योऽपि सामान्योपलक्षणतया वर्तते,  
यथा काकेभ्यो रक्षयता सर्पिरत्यथोपघातकसामान्यमेवार्थं काकशब्दस्य प्रतीतस्तद्वत्प्रबन्धसामान्यमत्र यवन-  
शब्दाभिधेय । असकृद्दर्शनादिपरिणतिरुद्यवन ।

निराकुल बहन धारण निर्वहण, परिषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्ति । उप-  
योगान्तरेणान्तहिताना दर्शनादिपरिणामाना निष्पादन साधनम् । भवान्तरप्रापण दर्शनादीना निस्तरणम् ।  
एवमाराधनाशब्दस्यानेकार्थत्वात्तथा यथावसर तत्र तत्र व्याख्या कार्या ।

आगे हम काक्षा आदिका स्वरूप और उनके निरासका क्रम कहेंगे । अनिश्चय अथवा  
विपरीतता ज्ञानका मल वा दोष है । निश्चयके द्वारा अनिश्चयका परिहार होता है । और यथा-  
र्थतासे विपरीतताका निरास होता है । यह ज्ञानका उद्योतन है अर्थात् ज्ञानका निश्चयात्मक और  
विपरीततारहित होना ही ज्ञानका उद्योतन है ।

भावनाका न करना चारित्रका मल है । अतः उन भावनाओमें लगना चारित्रका उद्यो-  
तन है । असयमरूप परिणाम तपका कलक है । सयमकी भावनाके द्वारा उसको दूर करना तप-  
का उद्योतन है ।

उत्कृष्ट यवनको उद्यवन कहते हैं ।

शंका—'यु' धातुका अर्थ मिश्रण है । सयोगपनेको मिश्रण कहते हैं । जैसे 'गुडेन मिश्रित  
धान' कहने पर गुडेसे सयुक्त धानकी प्रतीति होती है । दो विभिन्न पदार्थ जो एक दूसरेसे अलग  
हैं उनके मिलनेको सयोग कहते हैं । किन्तु दर्शन आदि तो आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं हैं क्योंकि  
दर्शन आदिसे रहित आत्माका अभाव है । तब दर्शन आदिके साथ आत्माका मिश्रण कंस  
संभव है ?

समाधान—जिस शब्दका जो विशेष अर्थ होता है वह भी उपलक्षणसे सामान्य रूप लिया  
जाता है । जैसे 'कौओसे धी को बचाओ' यहाँ काक शब्दका अर्थ उपघातक सामान्य ही है अर्थात्  
जो धी को हानि पहुँचा सकते हैं उन सबसे धी को बचाओ । इसी तरह यहाँ 'यवन' शब्दका  
अर्थ सम्वन्ध मात्र है, कोई विशेष सम्वन्ध नहीं । अतः बार बार आत्माका दर्शन आदि रूप परि-  
णत होना उद्यवन है । निराकुलतापूर्वक 'बहन' अर्थात् धारण करनेको 'निर्वहण' कहते हैं । परो-  
षह आदि आने पर भी आकुलताके बिना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणतिमें संलग्न होना निर्वहण  
है । अन्य कार्योंमें उपयोग लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोको पुन उत्पन्न  
करना साधन है । और सम्यग्दर्शन आदिको दूसरे भवमें भी साथ ले जाना निस्तरण है ।

इस प्रकार आराधना शब्दके अनेक अर्थ होने पर अवसरके अनुसार व्याख्या करना  
चाहिये ।



**अत्राप्ये व्याचक्षते**—निस्तरणशब्द. सामर्थ्यवाची स प्रत्येक सम्बन्धते उद्योतनादिभिरुद्योतनादीना-  
तद्दर्शनादिभिश्चतुभिरपि यथासंख्येन संबन्ध । उद्योतन मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरण अविघ्नेन  
दर्शनाराधनेत्यादिना क्रमेण । त एव पर्यन्योऽप्या किमत्र ज्ञानादीना निर्मलीकरणमिष्टमनिष्ट वा । इष्ट  
चेद्दर्शनेनैव किमिति सम्बन्धयते निर्मलीकर ॥ ? उत्कर्षेण यवनमपि सर्वेषामिष्यते । अनाकुल बहूनमपि साधारण  
किमुच्यते व्रतगुप्तिसमितीना निश्चयेनानाकुल बहूनमिति ? न च निस्तरणशब्दात्सामर्थ्यं प्रतीयते । उद्योतन  
सामर्थ्यमित्यादिपु न च कश्चिदर्थ , अविघ्नेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उज्जोवणादिशब्दरनुपात्तो । मरणकालश्च  
क ? मनुष्यभवनपर्यायविनाशसमयो मरणकालसमयेन यद्युच्यते, न तत्र भावनोत्कर्ष , मारणान्तिकसमुद्घाते  
परिणाममान्द्यान् । अत्र भावनाकालो मरणकालशब्देनोच्यते सोऽनुपात्तोऽऽकृतश्च कथमिह लभ्यते । भावना-  
कालगतव्यापारकथनायेदं शास्त्र प्रस्तुतमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽऽनुचितत्वात् । 'दसणणाणचरित्ततवाण-  
मुज्जोवणमाराहणा भणिया' 'दसणणाणचरित्ततवाणुज्जवणमाराधणा' इति, इति प्रत्येकमभिसंबन्धोऽत्र कार्य ।  
अन्यथा असमासेन निर्देशं कुर्यात् ॥२॥

यहाँ अन्य व्याख्याकार कहते हैं—निस्तरण शब्द सामर्थ्यवाचक है । अतः उद्योतन आदि-  
मेसे प्रत्येकके साथ उसका सम्बन्ध होता है । और उद्योतन आदिका दर्शन आदि चारोके साथ  
क्रमसे सम्बन्ध होता है । जैसे मरणकालमे पूर्वकी अवस्थाका उत्कृष्ट रूपसे निर्मल करना  
सम्यग्दर्शनका उद्योतन है अर्थात् निर्विघ्नतापूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधना उद्योतन है, इस प्रकार-  
क्रमसे करना चाहिये ।

उन्से पूछना चाहिए कि क्या यहाँ ज्ञानादिका निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट ? यदि  
इष्ट है तो निर्मल करनेका सम्बन्ध अकेले दर्शनके साथ ही क्यों जोड़ा जाता है ? उत्कृष्ट रूपसे  
यवन भी सभी दर्शन आदिका इष्ट है । निराकुलतापूर्वक धारण करना भी सामान्य है । तब आप  
व्रत, गुप्ति और समितिके निश्चयपूर्वक निराकुल धारणाकी बात क्यों कहते है ? तथा निस्तरण  
शब्दसं सामर्थ्यकी प्रतीति भी नहीं होती । उसे उद्योतन आदिके साथ जोड़ने पर उद्योतन सामर्थ्य,  
उद्यवन सामर्थ्य इत्यादिसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता । तथा उद्योतन आदिसे तो निर्विघ्नता अर्थ  
नहीं निकलता । तब यह अर्थ आप कैसे लेते हैं ? तथा मरणकालसे आपका क्या अभिप्राय है ?  
यदि मरणकाल समयसे मनुष्य पर्यायके विनाशका समय लेते है तो उस समय तो भावनाकी  
उत्कृष्टता सम्भव नहीं है क्योंकि मारणान्तिक समुद्घातमे परिणामोमे मन्दता होती है । यदि  
यहाँ मरणकाल शब्दसे भावना काल लेते हो तो उसका तो यहाँ ग्रहण नहीं है । तब जिसका  
प्रकरण नहीं है उसे कैसे लिया जा सकता है ?

**शंका**—भावना कालमे होनेवाले व्यापारका कथन करनेके लिए यह शास्त्र रचा जाता है ?

**समाधान**—नहीं, ऐसा ग्रन्थकारने नहीं कहा है । ग्रन्थकारने तो 'दसणणाणचरित्ततवाण  
उज्जोवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्योतनको आराधना कहा है ।  
'उज्जवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्यवनको आराधना कहा है अत  
प्रत्येकके साथ सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए । यदि ग्रन्थकारको ऐसा इष्ट न होता तो वे 'दसण'  
इत्यादिका निर्देश समासपूर्वक न करते ।

**भावार्थ**—सम्यग्दर्शन आदिके उद्योतनको चार प्रकार की आराधना कहा है । सम्यग्दर्शन  
आदिके निर्मल करनेको उद्योतन कहते है । उत्कृष्ट यवन अर्थात् मिश्रणको—बार बार दर्शनादि-

किं चतुर्विधैवाराधनेत्याशङ्कयामाह—

**दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ।**

**सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य ह्वे चरित्तंमि ॥ ३ ॥**

'दुविहा पुण जिणवयणे समासेण दुविधा आराधणा भणिया' इति पदसन्ध । आवरणमोहजया-जिज्ञाना । ज्ञानदर्शनावरणजयात्सर्वज्ञा सर्वदर्शिन । मोहपराजयाद्द्वीतरागद्वेषा । सर्वज्ञानां सर्वदर्शानां वीतरागद्वेषाणां वचन जिनवचनं । एतेन असत्यवचनकारणाभावात् प्रामाण्यमाख्यातमागमस्य । वक्तुरज्ञानाद्वाग-द्वेषान्या वा प्रवृत्तं वच अयथायथबोधनादप्रामाण्यमास्कन्दति । तत्र च 'समासेण' सक्षेपेण 'दुविधा' द्विप्रकारा 'भणिया' कथिता 'आराहणा' आराधना । का प्रथमा आराधना का द्वितीयेत्यत आह—'सम्मत्तम्मि य पढमा' श्रद्धानविषया प्रथमाराधना । 'विदिया य' द्वितीया च 'ह्वे' भवेत् 'चरित्तं मि' चारित्रविषया आराधना । दर्शनचारित्राराधनयो प्रथमद्वितीयव्यपदेश उत्पत्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । केचिच्च दर्शनपरिणा-मोत्पत्युत्तरकाले हि चारित्रपरिणाम उत्पद्यत इति प्राथम्य दर्शनाराधनाया । अमयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान पूर्व

रूप परिणमन करनेको उद्यवन कहते हैं । परीषह आदि आने पर भी निराकुलतापूर्वक बहून अर्थात् धारण करनेको निर्वहन कहते हैं । अन्य तरफ उपयोग लगनेमे दर्शन आदिसे मनके हटने पर पुन उनमे उपयोग लगाना साधन है । अर्थात् नित्य या नैमित्तिक कार्य करते समय सम्यग्दर्शन आदि-मे व्यवधान आ जाये तो पुन. उपायपूर्वक उसे करना साधन है । दूसरे भवमे भी सम्यग्दर्शनादि-को साथ ले जाना अथवा उस भव मे मरणपर्यन्त धारण करना निस्तरण है । तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । स्व और परके निर्णयको सम्यग्ज्ञान कहते हैं । पापका बन्ध करानेवाली क्रियाओके त्यागको चारित्र कहते हैं और इन्द्रिय तथा मनके नियमनको तप कहते हैं ॥२॥

क्या आराधना चार ही प्रकारकी होती है ऐसी आशङ्कामे आचार्य कहते हैं—

गा०—जिनागममे सक्षेपसे आराधना दो प्रकारकी कही है । श्रद्धान विषयक प्रथम आग-धना है । और दूसरी चारित्रविषयक आराधना है ॥ ३ ॥

टी०—जिनवचनमे सक्षेपसे दो प्रकारकी आराधना कही है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहको जीतनेसे जिन होते हैं तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणको जीतनेसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं । मोहको जीतनेसे वीतरागी और वीतद्वेषी होते हैं । सर्वज्ञ सर्वदर्शी और वीतराग तथा वीतद्वेषी महापुरुषोंका वचन जिनवचन कहलाता है । इससे असत्य बोलनेके कारणोका अभाव होनेसे आगमके प्रामाण्यको ख्यापित किया है । वक्ताके अज्ञानसे अथवा रागद्वेषसे कहा गया वचन अयथार्थका बोध करानेसे अप्रमाण होता है ।

उस जिनवचनमे 'समासेण' अर्थात् सक्षेपसे 'आराहणा' अर्थात् आराधना, 'दुविधा' अर्थात् दो भेदरूप, 'भणिया' अर्थात् कही है । पहली आराधना कौन है और दूसरी कौन है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'सम्मत्तम्मि य पढमा' अर्थात् श्रद्धानविषयक प्रथम आराधना है और 'विदिया ह्वे चरित्तंमि' चारित्र विषयक दूसरी आराधना है ।

उत्पत्तिकी अपेक्षा और गुणस्थानकी अपेक्षा दर्शनाराधनाको प्रथम तथा चारित्राराधना-को द्वितीय कहा है ऐसा कोई कहते हैं । उनका कहना है कि सम्यग्दर्शनरूप परिणामकी उत्पत्ति

प्रमत्तसंयतादिकं तु परमिति । श्रद्धानविरतिपरिणामयोर्गुणपदव्यस्तित् प्रादुर्भाव, श्रद्धानवतो वा असयतस्य पश्चाद्विरतिरूपजायते । तत्किमुच्यते 'उत्पत्त्यपेक्षयेति । असयतसम्यग्दृष्टीना कुत क्रमो येन तदपेक्षया प्रथमद्वितीय-व्यपदेशवृत्ति स्यात् । उत्पत्त्यपेक्षया तत्रोक्त एव नियम । अथागम्ये वचनपौर्वापर्यपेक्षया 'असजवसम्माविट्टि-सथवासंयथापत्तसंयथा' इति वचनात् । तदेव वचन किमर्थं क्रममाश्रित्य प्रवृत्तमुत नान्तरीयकतया ? न तावदस्ति परिणामाना नियोगभावी क्रम । यदि स्यान्न योगपक्ष कदाचित्स्यात् । दृश्यते च सम्यग्दृष्टि-सयतामयता इति चकंदा । अथ नानेक वचनमेक प्रयोक्तु क्षमत इति वक्तृरिच्छानुविधायी क्रम सूत्रविवक्षाकृत प्राथम्य द्वितीयता चेति वाच्य न गुणस्थानापेक्षयेति । किं चोपजातदर्शनाविपरिणामस्यात्मनस्तद्गतातिशय-वृत्तिरााराधना साञ्ज प्रस्तुता । तत्र च प्राथम्य द्वितीयता वा, तत्किमुच्यते उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति ।

अस्य सूत्रस्थोपोद्धातमेवमपरे वर्णयन्ति—अस्मिन् शास्त्रे किमयमेव निश्चयश्चतुर्विधवाराधनेति, उतान्योऽपि विकल्प सभवतीति ? अस्तीत्याहेति तदयुक्तम् 'दसणणाणचरित्तवाणमाराधना भणिया' इत्यतीत-  
होनेके उत्तरकालमे चारित्ररूप परिणाम उत्पन्न होता है इसलिये दर्शानाराधना प्रथम है । असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पहले होता है प्रमत्तसयत आदि बादमें होते हैं ।

किन्तु श्रद्धानरूप और विरतिरूप परिणाम एक साथ भी प्रकट होते हैं । अथवा सम्यग्दर्शन-से सम्पन्न असयतके पीछेसे भी चारित्र उत्पन्न होता है, तब उत्पत्तिकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय है ऐसा कैसे कहते हैं ? असयत सम्यग्दृष्टियोंका क्रम कैसे संभव है जिससे उसकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय व्यवहार हो सके । उत्पत्तिकी अपेक्षासे उनके सम्बन्धमें नियम कहा ही है ।

पूर्वपक्ष—आगममें वचनके पौर्वापर्यकी अपेक्षासे दर्शनाराधनाको प्रथम और चारित्रा-राधनाकी द्वितीय कहा है, क्योंकि आगममें 'असयतसम्यग्दृष्टी, सयतासयत, प्रमत्तसयत' ऐसा वचन क्रम है ।

उत्तर—वही वचन किसलिये क्रमका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ है ? क्या यह क्रम परस्परमें अविनाभावी होनेसे रखा गया है ? परिणामोंके क्रमसे ही होनेका तो कोई नियम नहीं है । यदि होता तो एक साथ श्रद्धान और चारित्र भी नहीं होते । किन्तु सम्यग्दृष्टि और सयतासयत एक कालमें होते देखे जाते हैं ।

पूर्वपक्ष—एक व्यक्ति एक साथ अनेक वचनोंका प्रयोग नहीं कर सकता इसलिये क्रम वक्ता-की इच्छाका अनुसरण करता है ।

उत्तर—तब प्रथम और द्वितीयपनेको सूत्रकी विवक्षाकृत कहना चाहिये अर्थात् सूत्रमें जिसकी प्रथम विवक्षा है वह प्रथम है और जिसकी विवक्षा बादमें है वह द्वितीय है । गुणस्थानकी अपेक्षा नहीं कहना चाहिये ।

दूसरे, जिस आत्मामें दर्शानादि परिणाम उत्पन्न हो गये हैं उसका दर्शन आदिके विषयमें विशेष अतिशय उत्पन्न करनेका नाम आराधना है । वही आराधना यहाँ प्रस्तुत है । उसके विषय-में उत्पत्तिकी अपेक्षा या गुणस्थानकी अपेक्षा प्रथमपना और द्वितीयपना कैसे आप कहते हैं ?

अन्य कुछ व्याख्याकार इस गाथासूत्रका उपोद्धात इस प्रकार कहते हैं—इस शास्त्रमें क्या यही निश्चय है कि आराधना चार ही प्रकार की है अथवा कोई दूसरा भी विकल्प संभव है ? यदि कहते हो 'है' तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि गाथामें दर्शन ज्ञान चारित्र और तप आरा-

कालाभिधानक्रियाय प्रतीयते नास्य शास्त्रस्य व्यापार इति । यद्यस्य व्यापार शास्त्रस्य वक्तुमिष्ट स्यात् 'भण्णदि' इति ब्रूयात् । 'जिनवयणे भणिया दुविहा आराधणा' इति वचनान् । सक्षेपनिरूपणापि 'तत्सर्ववेति-नेह सक्षेपवाच्यम् । वस्तु बहुपन्यस्त दुरवगम मन्दबुद्धीनामिति । तदनुग्रहाय स्वल्पस्योपन्यास । स सक्षेपस्त्रि-प्रकार — वचनसक्षेपऽर्थसक्षेपस्तदुभयसक्षेपश्चेति । वचनबहुत्वस्यार्थनिश्चयो न जायते जडानामिति वचन सक्षिप्यते । अर्थस्तु सप्रपञ्च एव । अनुयोगद्वारादीना बहानामुपन्यासमकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यास प्रस्तुतस्यार्थ-सक्षेप । वचनानि तु बहूनि । तस्योभयमक्षेप पात्रात्य । द्विविधाराधनेति वचनसक्षेपो नार्थसक्षेप । ज्ञानस्याराधना तपसश्च विद्यमानापि न वचनेनोच्यते । परमुखेनैवावबोधयितुं शक्यत इति ।

**दंसणमाराहंतेण णाणमाराहियं हवे णियमा ।**

**णाणं आराहंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं ॥ ४ ॥**

'दंसणमाराहंतेण' दर्शनाराधनाया कथिताया ज्ञानाराधनापि शक्यते प्रतिपत्तुम्, अन्यानयनचोदनाया

धना 'भणिता' 'कही है' इस प्रकार अतीत काल सम्बन्धी क्रियाका प्रयोग किया गया है । इससे प्रतीत होता है कि इस शास्त्रका उममे व्यापार नहीं है । यदि उनको कथन करनेमे डम शास्त्रका व्यापार इष्ट होता तो 'भण्णदि' ऐसा लिखते । किन्तु वे कहते है 'जिनवयणे भणिया दुविहा आरा-धणा ।' जिनवचनमे दो प्रकारकी आराधना कही है । उसीमे संक्षेप भी कथन किया है इसलिये यहाँ सक्षेप भी नहीं कहना चाहिये ।

इसका समाधान यह है कि बहुत विस्तारसे कथन मन्दबुद्धियोंके लिये दुरवगम होता है । वे उसे समझनेमे असमर्थ होते हैं । उनके कल्याणके लिये सक्षेप कथन किया जाता है । उस सक्षेपके तीन प्रकार है—वचन सक्षेप, अर्थ सक्षेप और उभय सक्षेप । वचनका विस्तार होने पर जडबुद्धि अर्थका निश्चय नहीं कर सकते । इसलिये वचनका सक्षेप किया जाता है । अर्थका तो विस्तार रहता ही है । बहुतसे अनुयोगद्वारा आदिका उपन्यास न करके केवल दिशामात्रका बतलाना प्रस्तुत विषयका अर्थ सक्षेप है । वचन तो बहुत है । उन दोनोंका अर्थात् वचन और अर्थका सक्षेप उभय सक्षेप है । 'दुविहा आराधणा' यह वचन सक्षेप है, अर्थ सक्षेप नहीं है । ज्ञानकी आराधना और तपकी आराधनाके विद्यमान होते हुए भी उन्हे वचनसे नहीं कहा । उन्हे परमुखसे ही अर्थात् दर्शन और चारित्र्यागधनाके द्वारा ही जाना जा सकता है ।

**भावाथं**—पहले विस्तारमे रुचि रखने वाले शिष्योंको दृष्टिमे रखकर चार प्रकारकी आराधना कही । पीछे सक्षेप रुचि शिष्योंकी अपेक्षा उसे दो प्रकारका कहा, क्योंकि दर्शनका ज्ञानके साथ तथा चारित्रिका तपके साथ अविनाभाव होनेसे दर्शनाराधनामे ज्ञानाराधनाका और चारित्र्याराधनामे तप आराधनाका अन्तर्भाव होता है । तथा सम्यग्दर्शन आराधनाके होने पर ही ज्ञानाराधनापूर्वक चारित्र्याराधना होती है ॥ ३ ॥

**गा०**—दर्शनकी आराधना करने वालेके द्वारा नियमसे ज्ञानकी आराधना होती है । किन्तु ज्ञानकी आराधना करने वालेके द्वारा दर्शनकी आराधना भजनीय है, होती भी है, नहीं भी होती ॥ ४ ॥

**टी०**—'दंसणमाराहंतेण' अर्थात् दर्शन आराधनाका कथन करने पर ज्ञान आराधनाको भी

शरावाद्यन्यतमभाजनमात्रप्रतिपत्तिवन् । ननु चान्तरेणाधारमानयन न सभवतीति भवत्यनभिहितेऽपि भाजन-  
मात्रे प्रतिपत्तिरिह कथम् ? इहाप्यविनाभावादित्याचष्टे 'दसणमाराधतेण' ।

**अत्रापरे सम्बन्धमारम्भयन्ति गाथायाः ।** यदि द्विविधा आराधना 'चतुर्विधाराधनाफल प्राप्ता सिद्धा' इति प्रतिज्ञा हीयते द्वयोरसंग्रहत् इति चेत् नास्मिन्नपि विकल्पे तयोरपि संग्रहार्थम् । कथं 'दसणमाराधतेण' इति प्रतिज्ञा हीयते इति । अत्र प्रतिज्ञा शब्देन किमुच्यते ? साध्यानिर्बंधः प्रतिज्ञेति तावन्न गृहीतम् । चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वस्येह साध्यता नास्ति । सिद्धमेव हि चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वमनूद्यत इति । अथाम्युपगति प्रतिज्ञा सा किन्नोपपद्यते ? सन्ति चतस्र आराधनास्तासां च फलं ते प्राप्तवन्तस्ततः सत्यम्युपगन्तव्ये कथमम्युपगमानुपपत्ति ? चतुर्विधेन्दुक्तवन्त द्विविधेति कथं न विरुद्धमिति पूर्वापरव्याहृतिरिति चोच्यते । तथा यश्चोद्यमेव चोद्यते समामन द्विविधेति वचनात्, प्रपञ्चनिरूपणाया चतुर्विधा तत्को विरोध ? तेन विरोधपरिहाराय चागतेय गाथा ।

'दसणं' श्रद्धानं रुचि, 'आराधतेण' आराधयता, 'गाणं' सम्यग्ज्ञान, 'आराधितं' आराधितं 'हवे' भवेत् 'णियमा' निश्चयेन । यस्य हि यद्विषया श्रद्धा तस्य कथंचिदप्यज्ञाने न सा भवति । न हि निविषया रुचि जानना शक्यं है । जैसे भाग लानेकी प्रेरणा करने पर उसको लानेके लिए सकोरा आदि किसी एक पात्र मात्रका बोध हो जाता है ।

**शङ्का**—विना किसी आधारके आगका लाना संभव नहीं है इसलिये पात्रमात्रका कथन न कर्ने पर उसका बोध हो जाता है । किन्तु यहाँ यह कैसे संभव है ?

**समाधान**—यहाँ भी अविनाभाव होनेसे 'दसणमाराहतेण' इत्यादि कहा है । यहाँ अन्य व्याख्याकार गाथाके सम्बन्धका आरम्भ इस प्रकार करते हैं—यदि आराधनाके भेद दो हैं तो 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्ध है' यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं होती; क्योंकि इसमें शेष दोका संग्रह नहीं किया है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ यह बतलाते हैं कि उन दोमें भी शेष दोका संग्रह होता है । उसीके लिये 'दसणमाराहतेण' आदि कहा है ।

तथा आप कहते हैं कि प्रतिज्ञाकी हानि होती है । यहाँ प्रतिज्ञा शब्दसे आप क्या कहते हैं ? साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहते हैं । उसका तो यहाँ संग्रह नहीं किया है, क्योंकि 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त' यह यहाँ साध्य नहीं है । चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त होना तो सिद्ध है, साध्य नहीं है । उसीका यहाँ अनुवाद मात्र किया है । यदि प्रतिज्ञाका अर्थ स्वीकृति है तो वह यहाँ क्यों नहीं उत्पन्न होती ? चार आराधनाएँ हैं और उनका फल सिद्धोने प्राप्त किया है ऐसा स्वीकार करने पर स्वीकृतिकी अनुपपत्ति कैसे हुई ।

**शंका**—पहले कहा आराधनाके चार भेद हैं अब कहते हैं दो भेद हैं । तो यह पूर्वापर विरुद्ध कैसे नहीं है ?

**समाधान**—आप व्यर्थ ही तर्कमें कुतर्क लगाते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि संक्षेपसे आराधनाके दो भेद हैं और विस्तारसे कहने पर चार भेद हैं इसमें विरोध कैसा ? अतः विरोध दूर करनेके लिये ही यह गाथा आती है । अस्तु

'दसणं' अर्थात् श्रद्धानं या रुचिकी 'आराधतेण' आराधना करनेसे 'गाणं' अर्थात् सम्यग्ज्ञान 'आराधितं' आराधित, 'हवे' होता है । 'णियमा' निश्चयसे । जिसकी जिस विषयमें श्रद्धा होती है उसका उस विषयमें ज्ञान होने पर किसी भी तरह वह श्रद्धा नहीं होती । रुचि विषयके विना

प्रवर्तते । बुद्धिपरिगृहीतवस्तुविषया श्रद्धेत्यविनाभाव श्रद्धाया ज्ञानेन ।

**अत्रापर। व्याख्या**—आत्मनो विषयाकारपरिणामवृत्तिर्ज्ञानं तदावरणक्षयोपशमजनित, भूम्यावरणपगमे तोयजन्मवत् । तद्गतविशुद्धिं प्रसन्नता अभिरुचिं श्रद्धा । श्रुतिनिरूपितार्थविषया मत्प्रभावना दर्शन । तद्दर्शनमोहोपशमक्षयोपशमनिमित्तं तोयाश्रयपकाभावे जलप्रसादवन । तस्मिन्नाराध्यमानं ज्ञानमिन्द्रिवक्ष्य-भाविनी निराश्रयधर्मस्य केवलसिद्धधर्माभावादिति ।

तत्रेदं परीक्ष्यते, विषयाकारपरिणतिरात्मनो यदि<sup>१</sup> स्याद्रूपरसगन्धस्पर्शाद्यात्मकता स्यात्तया च—  
'अरसमरूपगन्धं अवन्त चेवणागुणमसद्'—[ समय० ४९ ]

इत्यनेन विरोधः । विरुद्धश्च नीलपीतादिपरिणामो नैकत्र युज्यते । एकदा आकाग्द्वयसंवेदनप्रमगश्च—  
बाह्यस्यैक नीलादिविज्ञानगतमपरम् । विज्ञानगतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिं श्रद्धेति वाऽसमीचीन गदितम्  
चेतन्यस्य धर्मं श्रद्धानं नतु ज्ञानं, ज्ञानधर्मत्वे क्षायोपशमिकज्ञानविनाशे कथमवस्थितिर्दंशनस्य । न हि धर्मिणि  
बिन्दुष्टे धर्मस्यावस्थितिः । चेतन्यमविनाशि तदाश्रयं तदिति चेत् ज्ञानस्य धर्मता नश्यति । किं च यो यस्य  
धर्मः स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य धर्मिणो रूप धर्म्यन्तरस्य प्रभवति । न हि बलाकाया शुक्लता कुन्द-  
कुसुमस्य कदाचन । एव मते प्रसन्नता श्रुतादेर्ना स्यात्, श्रुतादेर्वा प्रसन्नता मतेरिष्यते । एव ज्ञानमे  
नही होती । बुद्धिके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुमें श्रद्धा होती है अतः श्रद्धाका ज्ञानके साथ अविना-  
भाव है ।

इस गाथाको लेकर एक अन्य व्याख्या इस प्रकार है—आत्माके विषयाकार परिणमनको ज्ञान कहते हैं । वह ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है । जैसे भूमिरूप आवरणको हटा देने पर पृथ्वीसे पानीका जन्म होता है । उस ज्ञानमें जो निर्मलता होती है उसे प्रसन्नता या स्वच्छता कहते हैं । और उसमें अभिरुचिको श्रद्धा कहते हैं । शास्त्रमें निरूपित अर्थके विषयमें सत्य-भावना श्रद्धा है । वही दर्शन है । वह दर्शनमोहके उपशम या क्षयोपशमसे होता है । जैसे पानीमें मिश्रित कीचड़के अभावमें जल निर्मल होता है । उस दर्शनकी आगधना करने पर ज्ञानकी सिद्धि अवश्य होती है क्योंकि जिस धर्मका कोई आश्रय नहीं है उसकी सिद्धि एकाकी नहीं होती ।

अब इस व्याख्याकी परीक्षा करते हैं—

यदि आत्मा विषयाकार रूप परिणमन करता है तो विषयकी तरह आत्मा रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिमय हो जायेगा । और ऐसा होने पर जो आत्माको अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला कहा है उसके साथ विरोध आता है । तथा नील पीत आदि रूप परिणाम परस्परमें विरुद्ध होनेसे एक जगह नहीं रह सकते । तथा एक ही कालमें दो आकारोको जाननेका प्रसन्नता आता है एक बाह्य नीलादि और दूसरा ज्ञानगत आकार । तथा ज्ञानमें जो विशुद्धि या प्रसन्नता है उसे अभिरुचि या श्रद्धा कहना भी समीचीन नहीं है । श्रद्धानं चेतन्यका धर्म है, ज्ञानका नहीं । यदि उसे ज्ञानका धर्म माना जायगा तो क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट होने पर दर्शन कैसे रह सकेगा । धर्मके नष्ट होने पर धर्म नहीं रहता । यदि कहोगे कि चेतन्य अविनाशी है अतः दर्शनका वही आश्रय है तो वह ज्ञानका धर्म नहीं हो सकता । तथा जो जिसका धर्म होता है वह उसका स्वरूप होता है एक धर्मका स्वरूप दूसरे धर्मका नहीं हो सकता । बगुलोकी पक्का धर्म शुक्लता कभी भी कुन्दके फूलोका धर्म नहीं हो सकती । इसी तरह मतिज्ञानकी निर्मलता

तद्गोचराया अपि प्रसक्तैर्भवे इति क्षायिकया का वार्ता न तस्या प्रत्यक्षाया प्रादुर्भूति प्रत्ययो वा ।

न हि दर्शनमोहोदय विना दर्शनस्याभावो युज्यते । यदि स्यादर्शनमोहनीयकल्पना अघटमाना भवेत् । अथ याथात्म्यविषया श्रद्धा आत्मप्रतिबन्धकसद्भावान्न्देति, तदपाये उद्गच्छति, यदि प्रतिबन्धकारि किञ्चिन् स्यात् । आत्मनि परिणामिनि सति किमिति सदा न भवेत् ? अत्यतिरिणामन्वे नात्मनि कदाचिदपि भवेत् । तत् अनुभवसिद्धश्चानो सहकारिकारणानामान्निध्यादात्मा श्रद्धानरूपेण न परिणमते । न तु किञ्चित्प्रतिबन्धकमस्मेति चेत् किं तत्सहकारि यस्याभावादनुत्पत्ति श्रद्धाया ? अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभाव सर्व एव, तावतरेण हेतुता प्रतिजामात्रत एव कस्यचित्सा वस्तुचित्तायामनुपयोगिनीति प्रतिबन्धकसद्भावानुमानमागमेऽभिमत, तदेव सति न घटते । किञ्चित् श्रुतप्ररूपितार्थविषया सत्यभावेनेति वा सबद्धम् । अवध्यादिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना किं न दर्शन ? अवध्यादिकमपि वस्तुयाथात्म्यमस्पर्श । अथ श्रुतग्रहण समीचीन-ज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यमे भवतु अलमितिप्रसंगेन—

“समत्तणायवसणवीरियसुहमं लहेव अवगहणं ।

अगुरुलहमव्वावाहमट्टगुणा होन्ति सिद्धाणं ॥” [ ]

इत्यनेन च व्याख्या विरुध्यते । गुणान्तरत्वेन उपन्यासानुपपत्तेः । क्षायिकक्षायोपशमिकयोर्भेदोऽस्ति श्रुतादि ज्ञानोकी नही हो सकेगी और न श्रुतादि ज्ञानकी निर्मलता मतिज्ञानकी । इस प्रकार ज्ञान भेद होने पर उन ज्ञानोमे होने वाली निर्मलतामं भी भेद होता है । यह क्षायोपशमिक ज्ञानोकी बात है । क्षायिककी क्या बात है । क्षायिकी निर्मलता न तो नवीन उत्पन्न होती है न नष्ट होती है । दर्शन मोहके उदयके विना दर्शनका अभाव नही होता । यदि हां तो दर्शन मोहनीय कर्मकी मान्यता नही बनती ।

यदि कहोगे कि प्रतिबन्धकका मद्भाव रहनेमे आत्मामे यथार्थ विषयक श्रद्धा नही होती, यदि कोई प्रतिबन्धक नही होता तो उसके अभावमे श्रद्धा प्रकट होती है । यदि आत्मा परिणामी है तो सदा श्रद्धा क्यो नही रहती । यदि आत्मा अपरिणामी है तो कभी भी श्रद्धा प्रकट नही होगी । इसलिये यह अनुभव सिद्ध है कि सहकारी कारणोके न रहनेसे आत्मा श्रद्धान रूपसे परिणमन नही करता, उसका प्रतिबन्धक कोई नही है ।

तब प्रश्न होता है कि वह सहकारी कौन है जिसके अभावके कारण श्रद्धाकी उत्पत्ति नही होती । सर्वत्र कार्यकारणभाव अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा ही जाना जाता है । अन्वय व्यतिरेकके बिना केवल कहने मात्रसे ही यदि किसीमे कार्यकारणभाव हो तो वस्तु विचारमे उसका कोई उपयोग सभव नही है उममे वह अनुपयोगी है । इसीसे आगममे प्रतिबन्धकके सद्भावके अनुमानको मान्य किया गया है । अर्थात् प्रतिबन्धकके होनेसे श्रद्धा प्रकट नही होती और उसके अभावमे प्रकट होती है । ऐसा होने पर आपका उक्त कथन घटित नही होता ।

तथा शास्त्रमे निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन है यह कहना भी ठीक नही है क्योकि तब प्रश्न होता है कि अवधि आदि ज्ञानोके द्वारा निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन क्यो नही है ? क्योकि अवधि आदि ज्ञान भी यथार्थ वस्तुको विषय करते है । यदि कहोगे कि समीचीन ज्ञानोपयोग लक्षण वाला श्रुत ज्ञान है इसलिये उसका ग्रहण किया है तो आगममें जो सिद्धोके आठ गुण-सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु

वा न वा ? यदि नास्ति भावपंचकनिरूपणाकारिणा आगमेन विरोधः । अथ अस्ति भेद परिणाम परिणामान्तरस्य स्वरूप न भवति । परिणामकत्वस्य परिणामिस्वरूपता न्याय्या । यी भिन्नप्रतिबधकापायजन्यी, न तावन्व्योजन्यस्य धर्मधर्मिणी यथा अवधिकेबले भिन्नप्रतिबधकापायजन्ये, तथा न ज्ञानदर्शने ।

ज्ञानाराधना चारित्र्याराधनेति द्वैविध्य कस्मान्नोपन्यस्तं इत्यत्र चोद्य प्रतिविधानायाह—**णाणमाराधतेण बसणं होइ भयणिज्जं ।** ज्ञानशब्द सामान्यवाची मशये, विपर्ययि, समीचीने च वृत्त । मशयज्ञान, विपर्ययज्ञान, सम्यग्ज्ञानमिति प्रयोगदर्शनात् । तेन ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्तत्त्वश्रद्धानि विपरिणमत एवेति न नियोगोऽस्ति, मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वश्रद्धाया अभावात् । ततो ज्ञानस्य दर्शनाविनाभावित्वस्याभावात् न ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनावगनु शक्येति न तथा सक्षेपाभिधानमागमे प्रकृतमिति भावार्थ । 'णाण' ज्ञान । 'आराधतेण' आराधयता । 'बसणं' दर्शन । 'होइ' भवति । 'भयणिज्जं' भजनीय विकल्प्यम् । अत्र दसणशब्देन दर्शनविषयमाराधनमूच्यते । ततोऽप्यर्थ दर्शनाराधना भाज्येति भजनीयतया अविनाभावित्वाभाव सूचित । सम्यग्ज्ञाने आराधिते भवत्याराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनाया नेति भजनीयता । अथवा ज्ञानाराधना चारित्र्याराधनेति च शक्यते सक्षेप्यम् ।

और अव्यावाध कहे है उसके साथ उक्त व्याख्याका विरोध आता है । क्योंकि एक गुणका अन्य गुणरूपमे उपन्यास नहीं किया जा सकता ।

तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकमे भेद है या नहीं ? यदि नहीं है तो पांच भावोका निरूपण करनेवाले आगमसे विरोध आता है । यदि भेद है तो एक परिणाम दूसरे परिणामका स्वरूप नहीं होता, इसलिए परिणामोके समूहको परिणामोका स्वरूप मानना न्याय है ।

तब जो भिन्न प्रतिबन्धकोके अभावमे उत्पन्न होते है वे परस्परमे एक दूसरेके धर्म-धर्मी नहीं हो सकते । जैसे अवधिज्ञान और केवलज्ञान, अवधिज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण रूप भिन्न प्रतिबन्धकोके अभावमे उत्पन्न होनेसे परस्परमे धर्म-धर्मी नहीं है उसी तरह ज्ञान और दर्शन भी परस्परमे धर्म-धर्मी नहीं है ।

**शंका**—ज्ञानाराधना और चारित्र्याराधना इस प्रकारसे दो आराधना क्यों नहीं कही ?

**समाधान**—इसका उत्तर देते है—'णाणमाराधतेण दसण होइ भयणिज्ज ।' यहाँ ज्ञान शब्द सामान्यवाची है क्योंकि सशय, विपर्यय और समीचीनमे रहता है । मशयज्ञान, विपरीतज्ञान, सम्यग्ज्ञान ऐसा प्रयोग देखा जाता है । इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला आत्मा नियममे तत्त्व श्रद्धान रूपसे परिणमन करता ही है ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि जो आत्मा मिथ्याज्ञान रूपसे परिणमन करता है उसके तत्त्व श्रद्धाका अभाव होता है, इसलिए ज्ञान दर्शनका अविनाभावी नहीं है । अत ज्ञानाराधनाके कहनेमे दर्शनाराधनाका ग्रहण शक्य नहीं है । इसलिए आगममे उस प्रकारसे सक्षेप कथन नहीं किया है । अत ज्ञानकी आराधनामे दर्शनकी आराधना भजनीय है । यहाँ दर्शन शब्दसे दर्शन विषयक आराधनाको कहा है । अत यह अर्थ हुआ कि दर्शन आराधना भजनीय है । इससे ज्ञानाराधनाके साथ दर्शनाराधनाके अविनाभावके अभावको सूचित किया है । अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर तो दर्शनकी आराधना होती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधना करने पर दर्शनकी आराधना नहीं होती है । अथवा ज्ञानाराधना और चारित्र्याराधना इस प्रकारसे भी सक्षेप किया जा सकता है ।

**भावार्थ**—दर्शन श्रद्धानको कहते हैं । श्रद्धान अज्ञात वस्तुमे नहीं होता । अतः श्रद्धाका



ननु च ज्ञानमनन्तरेणापि दर्शनं वर्तते, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति । अतोऽविनाभावाभाव इत्यत आह—

शुद्धनया पुण पाणं मिच्छादिट्टस्स वेति अण्णाणं ।

तम्हा मिच्छादिट्ठी पाणस्साराहजो णेव ॥ ५ ॥

शुद्धनया पुन । अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोज्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभाविधर्मबलप्रसूतो नय । तथा चोक्तम् इति । “उपपत्तिबलावर्षपरिच्छेदो नय” इति । शुद्धो नयो येषां ते शुद्धनया । निरपेक्षनयनिरासाय शुद्धविशेषणम् । नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेति ये परिच्छेदास्ते विपर्यासरूपास्तथाविधस्य प्रतिपक्षधर्मनिरपेक्षस्य वस्तुनि रूपस्याभावान् । सापेक्ष रूपं निराकाशतारूपेण दर्शयत प्रत्ययस्य अतस्मिन्स्तदिति ज्ञान भ्रान्तमिति भ्रान्तता । तदोषरहितना शुद्धता । तथा हि—कृतकत्वेन अनित्यतामेव वस्तुन प्रत्येति ज्ञानं न तत्स-

ज्ञानके साथ अविनाभाव है । अत गाथा सूत्रमे ठीक ही कहा है कि तत्त्व श्रद्धानकी आराधना करने पर सम्यग्ज्ञानकी आराधना अवश्य होती है । इस पर प्रश्न होता है कि ज्ञानाराधना और चारित्र्याराधना ऐसे दो भेद क्यों नहीं रखे ? इसके उत्तरमे कहा है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर सम्यग्दर्शनकी आराधना होनी है किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधनामें सम्यक्त्वकी आराधना नहीं होती । इस प्रकार ज्ञान और दर्शनमे अविनाभाव न होने से ज्ञानाराधनामे दर्शनाराधना भाज्य है । इस पर पुन प्रश्न होता है कि जब ‘सम्यग्ज्ञानकी आराधना’ कहने पर सम्यक्त्वकी आराधनाका बोध हो सकता है तो वैसा क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर है कि ज्ञानके सम्यक् व्यवपदेशमे सम्यक्त्व मुख्य हेतु है । सम्यक्त्वके विना ज्ञान सम्यक् नहीं कहलाता । अत सम्यग्ज्ञानका प्राधान्य नहीं है ॥४॥

‘ज्ञानके विना भी सम्यग्दर्शन होता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानका आराधक होता है । अत ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शनका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है । इस आशकाका उत्तर देते है—

गा०—किन्तु शुद्धनय दृष्टि वाले जानी जन मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं ही होता ॥५॥

टी०—अनन्त धर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मके जाननेको नय कहते है । यह नय उस धर्मके साथ ही रहनेवाले अन्य धर्मके बलसे उत्पन्न होता है । अर्थात् नय जिस धर्मको जानता है उस धर्मके साथ जो अनन्त धर्म उस वस्तुमे रहते हैं उनका निषेध नहीं करता । किन्तु उनको गौण करके एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुको जाननेका नाम नय है । कहा भी है—युक्तिके बलसे वस्तुके जाननेको नय कहते है । शुद्ध नय जिनका है वे शुद्धनय होते है । यहाँ निरपेक्ष नयके निरासके लिए ‘शुद्ध’ विशेषण लगाया है । वस्तु सर्वथा नित्य ही है अथवा सर्वथा क्षणिक ही है इस प्रकारके जो ज्ञान है वे विपरीत रूप है क्योंकि इस प्रकारके प्रतिपक्षी धर्मोंसे निरपेक्ष रूपका वस्तुमें अभाव है । वस्तुका स्वरूप सापेक्ष है उसे जो निरपेक्ष रूपसे दिखलाने वाला ज्ञान है, वह भ्रान्त है । क्योंकि जो जिस रूप नहीं है उसे उस रूप दिखलाता है वह ज्ञान भ्रान्त होता है । और जो उस दोषसे रहित है वह शुद्ध है । इसका खुलासा इस प्रकार है—वस्तुको उत्पत्तिको देखकर मिथ्याज्ञान वस्तुको सर्वथा अनित्य ही मानता है । किन्तु वह सर्वथा अनित्य नहीं है । समस्त

वशा वस्त्वन्नित्य, नित्यानित्यात्मकत्वात्सकलस्य । यदि हि नित्यमेव स्यात् क्रियमाणतानुरूपहेतुकदबकेना-  
 युक्ता तस्यावदतो नित्यं भवत्येव च न भवतीति बुध्यप्रतिपत्तय ॥ शुद्धा नया येवा प्रतिपत्तुणा ते शुद्धनया ।  
 'पुण' पुनः । णाणं ज्ञानमित्यभिमत परस्य । 'मिच्छादिद्विद्वस्त्' मिथ्यादृष्टे । 'ब्रैति' ब्रूवते । 'अण्णाणं'  
 अज्ञान इति । न ज्ञानशब्द सामान्यवाची । किन्तु यथार्थप्रतिपत्तिरेव ज्ञानशब्दाभिधेयेति । ज्ञातेव मन्यते अर्थ  
 परिच्छिद्यते येन तज्ज्ञानम् । वस्त्वन्न्यभूत च रूपमादर्शयता नार्थं परिच्छिद्यते तस्मान्न मिथ्याज्ञान ज्ञानशब्द-  
 स्यार्थं, तदज्ञानमित्येव ग्राह्यम् ॥ ननु च—

“यदि इदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ।

संजमवंसणलेस्ता भविया सम्मत्सण्णि आहारे ॥” —[प्रा० प० स० १।५।७।]

इत्यत्र ज्ञानशब्द सामान्यवाची सत्य, जातिर्ज्ञानमिति व्युत्पत्ती सा निरूपणा मामान्यशब्द इति ॥  
 'तम्हा' तस्मात् । 'मिच्छादिद्विद्वो' तत्त्वश्रद्धानग्रहित 'णाणस्साराधको ण होविति' पदघटना । ज्ञान नारा-  
 धयतीत्यर्थं ॥

यदुक्त अज्ञाने दर्शनाभाव इति किं तदज्ञान कस्य भवतीति ? तत इद मूत्र इति । तदतिपेलव । कि  
 तदज्ञानमित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचन न सूत्रेऽस्ति । मिथ्याज्ञानलक्षणप्रतिपादनपरमिथ्यादृष्टिसम्बन्धिज्ञानम्बन्धेव

वस्तु समूह नित्यानित्यात्मक है—कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है । यदि वस्तु सर्वथा नित्य  
 होती तो उसको करनेके अनुरूप कारणोंका अभाव होता । अतः वस्तु नित्य भी है और अनित्य  
 भी है ।

जिन ज्ञाताओंके नय शुद्ध होते हैं वे शुद्धनय वाले होते हैं । ऐसे शुद्धनय वाले मिथ्यादृष्टिके  
 ज्ञानको अज्ञान कहते हैं । यहाँ ज्ञान शब्द सामान्य ज्ञानका वाचक नहीं है किन्तु ज्ञान शब्दका  
 अर्थ यथार्थ ज्ञान ही है । जिसके द्वारा वस्तु जानी जाती है वह ज्ञान है । जो वस्तुमें नहीं पाये  
 जानेवाले रूपको दर्शाता है वह वस्तुको नहीं जानता । अतः ज्ञान शब्दका अर्थ मिथ्याज्ञान नहीं  
 है । मिथ्याज्ञान अज्ञान ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

शंका—‘गइ इदिये च काये’ इत्यादि गाथाके द्वारा चौदह मार्गणा बतलाई है । उनमें भी  
 ज्ञान शब्द आता है जो ज्ञान सामान्यका वाचक है ?

समाधान—आपका कहना सत्य है । ‘जातिर्ज्ञानं’ जानना ज्ञान है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार  
 वहाँ ज्ञान शब्दसे ज्ञान सामान्यका ग्रहण किया है ।

‘तम्हा’ इस कारणसे ‘मिच्छादिद्वि’ जो तत्त्व श्रद्धानसे रहित है वह, णाणस्साराधको न  
 होदि’ ज्ञानका आराधक नहीं होता । इस प्रकार पदोंका सम्बन्ध होता है ।

इस गाथाकी अन्य टीकाकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—पूर्वमें जो अज्ञान अवस्थामें  
 सम्यग्दर्शनकी आराधनाका अभाव कहा है वह अज्ञान क्या है और किसको होता है, इसको बत-  
 लानेके लिए यह गाथा मूत्र है । किन्तु उनका यह कथन अयुक्त है । ‘वह अज्ञान क्या है’ इस  
 प्रश्नका कोई उत्तर इस गाथामें नहीं है । उनका यह भी कथन है कि मिथ्याज्ञानका लक्षण कहते  
 हुए जो मिथ्यादृष्टिसे सम्बद्ध ज्ञानको अज्ञान कहा है उसमें उक्त दोनों प्रश्नोंका उत्तर आता है ।

अज्ञानलक्षणमित्युभयोरपि प्रतिवचनमिति विकल्प्यते। एवमपि 'तम्हा न मिच्छादिष्टी' इति सूत्रे मिथ्या-  
दृष्टेज्ञानस्याऽराधकत्वाभावमेव सूत्रकार उपसहरति। तत्परित्यज्याऽत्रितमुपादेयमिति केय स्वतन्त्रता ?

चारित्र्याराधना कथ्यते। चतुर्थ्या आराधनाया प्रतिपत्तिक्रम दर्शयन्नाह—

**संजममाराहतेण तओ आराहिओ हवे णियमा ॥**

**आराहतेण तवं चारित्त होइ भयणिज्ज ॥ ६ ॥**

'संजममाराहतेण' समय इत्यनेन शब्देन इह चारित्रमित्युच्यते। कर्मादाननिमित्तक्रियाम्य उपरम-  
सयम। स च चारित्रम्। यथा चाभ्यासि—'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवत्क्षारित्रमिति'। 'संजम'  
चारित्र्य, 'आराधतेण' आराधयता। 'तवो' तप। 'आराधितो' आराधित। 'हवे' भवेत्। 'णियमा' अवश्य-  
मेव। कथं ? इह अनशन नाम अशनन्याग। स च त्रिप्रकार। मनसा भुञ्जे, भोजयामि, भोजने व्यापृतस्या-  
नुमति करोमि। भुञ्जे, भुङ्क्ष्व, पचन कुर्वति वचसा। तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिसिद्धपूर्वकं कायेनादान,  
हस्तसज्जाया प्रवर्तन अनुमत्सूचन कायेन। एतासा मनोवाक्कायक्रियाणा कर्मोपादानकारणाना त्यागोजशन  
चारित्र्यमेव। योगत्रयेण तृप्तिकारिण्या भुजिक्रियाया दर्पबाहिन्या निराकृतिः अवमोदयम्। तथा आहारसज्जाया  
जयो वृत्तिपरिसंख्यानम्। रसगोचरगाढार्धत्यजन त्रिधा रसपरित्याग। कायसुखाभिलाषत्यजन कायक्लेश।

यदि इसे मान भी लिया जाये तब भी जो गाथासे 'तम्हा वा मिच्छादिष्टी' इत्यादि कहा है वह  
बतलाता है कि गाथा सूत्रके कर्ता आचार्य 'मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं होता' यही उप-  
सहार करते हैं। अतः उसे छोड़कर जो बात गाथा सूत्रसे नहीं कही, उसे ग्रहण करना, यह कैसी  
स्वतन्त्रता है ॥५॥

आगे चारित्र्याराधनाको कहते हैं। उसके साथ चौथी तप आराधनाकी प्रतिपत्तिका क्रम  
दिखलाते हैं—

गा०—सयमकी आराधना करने वालेके द्वारा तप नियमसे आराधित होता है। किन्तु  
तपकी आराधना करने वालेके द्वारा चारित्र्य भजनीय होता है ॥ ६ ॥

टी०—'संजममाराहतेण' यहाँ आगत सयम शब्दसे चारित्र्यका ग्रहण होता है। कर्मके ग्रहण  
में निमित्त क्रियाओके त्यागको सयम कहते हैं और वह चारित्र्य है। कहा भी है—ज्ञानी पुरुषके  
कर्मके ग्रहणमें निमित्त क्रियाओके त्यागको चारित्र्य कहते हैं।

चारित्र्यकी आराधना करने वालेके द्वारा तप नियमसे आराधित कैसे होता है यह बतलाते  
हैं—अनशन नामक तपमें अनशन नाम भोजनके त्यागका है। उसके तीन प्रकार हैं—मनसे भोजन  
करता हूँ, भोजन करगता हूँ, भोजनमें लगे हुएको अनुमति करता हूँ। मैं भोजन करता हूँ, तुम  
भोजन करो, भोजन बनाओ इम प्रकार वचनसे कहना। तथा चार प्रकारके आहारका सकल्प-  
पूर्वकं कायसे ग्रहण करना, हाथसे संकेत करना, कायसे अनुमत्तिका सूचन करना। ये जो मन  
वचन कायकी क्रियाएँ हैं जो कर्मके ग्रहणमें कारण हैं उनका त्याग अनशन है जो चारित्र्य ही है।

तृप्ति करने वाले तथा मद पैदा करने वाले खानपानका मन वचन कायसे त्याग अवमोदय  
है। आहार सज्जाके जीतनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। मन वचन कायसे रसविषयक  
लम्पटताके त्यागको रसपरित्याग तप कहते हैं। शारीरिक सुखकी इच्छाके त्यागको कायक्लेश तप

चित्तव्याकुलतापराधयो विविकशयनासनम् । स्वकृतापराधग्रहणत्यजन आलोचना । स्वकृतादगभयोगात्प्रति-  
निवृत्तिः प्रतिक्रमण । तदुभयोऽङ्गान् उभय । येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततोऽपगमन विवेक ।  
देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गम् । तपोऽजगनादिक यथा भवति चारित्र तथोक्तमेव । असयमजुगप्सार्थमेव प्रव्रज्या-  
हापनं छेद । मूलं पुनश्चारित्रज्ञानम् । ज्ञानदर्शनचारित्रतपमाप्तौचारा अशुभक्रिया । तासामपोहन विनयः ।  
चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्यम् ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकपायत्यजनरूपतया । इत्थ चारित्राराधनयोक्तया प्रत्येतु  
शक्या तपस आराधना । अशानादिक यदि नाम त्यक्त न नियोगतोऽविरति प्रत्याख्याता भवति । कृताशन-  
स्यामा अपि हि दृश्यते असयता इत्येतच्चेतसि कृत्वाह—आराधनेणेति 'आराधतेण' आराधयता । 'तव' तप ।  
'चारित्तं' चारित्र सकलविरतियोग । 'होवि' भवति । 'भयणिज्जं' भजनोयम् । तपस्युद्यत करोति वा न  
वा असयमपरिहार इति यावत् । अत्राप्येषां व्याख्या—चारित्राराधनाया तपस आराधनाया सिद्धिरवश्यभा-  
विनीत्युक्त तत्कथं ? तदिदं सयममाराधनेत्यादि एव सूत्रोपोऽतः कृतं स नोपपद्यते । चारित्राराधनाया  
तपस आराधनाया सिद्धिर्भवतीति नोक्तं क्वचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्येत उक्तमिति ? 'विदियाय हवे चरित्तंहि'  
इति वचनेनोक्तमिति तत्र अशब्दार्थत्वात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्तं वक्तुम् । अपि च भवतु

कहते हैं । चित्तको व्याकुलताके दूर करनेको विविक शयनासन तप कहते हैं । अपने द्वारा किया  
गये अपराधको छिपानेका त्याग करना आलोचना है । अपने द्वारा किये गये अशुभ मन वचन  
कायके व्यापारका प्रतीकार करना प्रतिक्रमण है । इन दोनोंको ही करना उभय है । जिसके द्वारा  
अथवा जिस स्थान पर अशुभ उपयोग हुआ हो उनसे अलग होना विवेक है । शरीरमें ममत्वका  
त्याग कायोत्सर्ग है । अनशानादि तप जिस प्रकार चारित्र है ऊपर कहा ही है ।

असयमके प्रति ग्लानि प्रकट करनेके लिये दीक्षाके कालको कम कर देना छेद प्रायश्चित्त  
है । और पुनः चारित्र ग्रहण करना मूल प्रायश्चित्त है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके अती-  
चारिकोंको अशुभ क्रिया कहते हैं उनका त्याग अर्थात् ज्ञानादिमें दोष न लगाना विनय है । चारित्रके  
कारणोंमें अनुमति देना वैयावृत्य है । इसी प्रकार स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र है क्योंकि ये  
सब अविरति, प्रमाद और कपायके त्यागरूप हैं ।

इस प्रकार चारित्राराधनाके कथनसे तप आराधनाको जाना जा सकता है । यदि भोजन  
आदिका त्याग किया तो अविरतिका त्याग नियमसे नहीं किया । 'भोजनका त्याग करने वाले  
भी असयमी देखे जाते हैं' यह बात चित्तमें रखकर आचार्य कहते हैं—

तपकी आराधना करने वालेके द्वारा, सकलविरतिसे सम्बन्धरूप चारित्र, 'भयणिज्जं' भज-  
नीय है । अर्थात् तपमें जो सलग्न है वह असयमका त्याग करता भी है और नहीं भी करता ।

अन्य टीकाकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—चारित्रकी आराधनामें तपकी आरा-  
धनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा जो कहा वह कैसे ? उसीके समाधानके लिये 'मजममाराधतेण'  
इत्यादि कहा है । ऐसा वे इस गाथाकी उत्थानिकामे कहते हैं । उनका कथन ठीक नहीं है—  
क्योंकि चारित्रकी आराधना करनेपर तप आराधनाकी सिद्धि होती है ऐसा ग्रन्थकारने कही भी  
नहीं कहा । तब कैसे कहते हैं कि ग्रन्थकारने ऐसा कहा है ? यदि कहोगे कि—

'विदियाय हवे चरित्तम्मि' इस कथनके द्वारा कहा है ? तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि

तेनोक्तं इह तदेवोक्तं किमिति पुनरुपन्यस्यते ? तत्कथमिति वा युक्त सूत्रे चारित्रसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुप-  
न्यासात् ॥ प्रतिज्ञामात्राद्विप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यते इति युक्तिप्रश्नोऽप्य स कथं युज्यते व्याख्यान्तरसूचिते प्रति-  
विधाने । यच्च व्याख्यानां "त्रयोदशात्मके चारित्रे सर्वथा प्रयतन समय । स च बाह्यतप संस्कारिताभ्यन्तर-  
तपसा बिना न सम्भवति । तदुपकृतात्मकत्वात्सयमस्वरूपस्येति" तद्व्यवहारात् । न हि प्रयतन समयशब्दस्यार्थः ।  
क्वचिदपि संयमशब्दस्य तत्राप्युक्तत्वात् । प्रयोगावृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । 'विद्याया य ह्रवे चरित्तमि'  
इति सूत्रे चारित्रशब्देन सामान्यवाचिना सकलचारित्रमिति किमर्थं विशेषेणोच्यते ? सर्वस्य हि सामायिकादेशचा-  
रित्रस्याराधना चारित्राराधना भवति । यथाहि—'सिद्धिदपडिदमरणं क्षीणकसाया मरति केवल्लिणो', इत्यन्ये यथा-  
ख्यातचारित्राराधनामपि वक्ष्यति । बाह्यतप.संस्कारिताभ्यन्तरतपसा इति वा असम्बद्ध । अन्तरेणापि बाह्य-  
तपोऽनुष्ठान अतर्मुहूर्तमात्रेणाधिगततरत्नत्रयाणां भद्रणराजप्रभृतीनां पुरुषेष्वप्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमन-  
भागमे प्रतीतमेव ॥

इन शब्दोका यह अर्थ नहीं है । शब्दके द्वारा जिसकी प्रतीति हो, उसे उनका कथन कहना युक्त  
है । तथा, यदि उन्होंने ऐसा कहा है तो पुन उसीका उपन्यास वह क्यों करते और वह कैसे युक्त  
हो सकता है ? क्योंकि गाथामे चारित्रकी सिद्धिमें अन्यकी सिद्धिके क्रमका कथन नहीं है । 'प्रतिज्ञा-  
मात्रसे विवादग्रन्त व्याक्ति नहीं समझता' इस प्रकारका युक्तिप्रश्न अन्य व्याख्याओके द्वारा सूचित  
प्रतिविधानमे कैसे युक्त हो सकता है ?

एक अन्य व्याख्यामे कहा है—'तेरह प्रकारके चारित्रमे सर्वथा प्रयत्नशील होनेका नाम  
सयम है । वह संयम बाह्यतपके द्वारा संस्कार किये गये अभ्यन्तर तपके बिना नहीं होता अर्थात्  
बाह्य और अभ्यन्तर तपके होनेपर ही सयम होता है; क्योंकि सयमका स्वरूप तपके द्वारा  
उपकृत होता है' किन्तु उक्त कथन घटित नहीं होता; क्योंकि संयम शब्दका अर्थ प्रयत्नशील होना  
नहीं है । किसी ग्रन्थमे सयम शब्दका प्रयोग इस अर्थमे नहीं हुआ है । शब्दका अर्थ उसके बारंबार  
प्रयोगसे जाना जाता है ।

'विद्याया य ह्रवे चरित्तमि' इस गाथा सूत्रमे आगत चारित्र शब्द सामान्य चारित्रका  
वाचक है, उसका सकल चारित्र रूप विशेष अर्थ आप कैसे कहते हैं ? समस्त सामायिक आदि  
चारित्रकी आराधना चारित्राराधना है । आगे कहेंगे कि क्षीणकपाय और केवलीके पण्डित पण्डित  
मरण होता है । अत यथाख्यातचारित्राराधना भी उसमे आती है । तथा बाह्य तपके द्वारा  
संस्कारित अभ्यन्तर तपसे' इत्यादि कथन भी असम्बद्ध है क्योंकि बाह्य तपके अनुष्ठानके बिना भी  
अन्तर्मुहूर्तमात्रमे रत्नत्रयको प्राप्त करके, भगवान् ऋषभदेवके शिष्य भद्रणराज वगैरहका निर्वाण  
गमन आगममे प्रसिद्ध ही है ।

भावाच्यं—सयम शब्दमे 'स' का अर्थ है समन्त अर्थात् मन वचन कायके द्वारा पापको  
लाने वाली क्रियाओका 'यमन'—त्याग संयम है । अतः सयमका अर्थ चारित्र है । वह बाह्य अन-  
शन आदि और अभ्यन्तर प्रायश्चित्तादिके भेदसे बारह प्रकारका है । उस तपकी आराधना  
चारित्राराधनामे आती है क्योंकि उसमे भी अविरति, प्रमाद और कपायका त्याग होता है । किन्तु  
तप आराधनामे चारित्राराधना नहीं आती, क्योंकि तपस्वी असयमका त्यागी होता भी है और  
नहीं भी होता । भोजनादिका त्याग करने वाले भी कोई-कोई असयमी देखे जाते हैं । इस ग्रन्थ पर  
अन्य भी टीकाएँ थीं । उन्हींके मतका निराकरण ऊपर टीकाकार अपराजित सूरिने किया है ।

ननु तपस्यायत्तनिर्जरानुक्रमेण निर्जरामुपगच्छन्ति सन्ति कर्माणि यदा नि शेषाध्यपगतानि भवन्ति तदा स्वास्थ्यरूप निर्वाणमुपजायते ततो निर्वाणस्य कारण निर्जरैव, तस्याश्च सपादक तपस्ततो युक्त दर्शनाराधना तप आराधना चेति द्विविधा आराधनेति यदितु इत्यारेकाया, तपो निर्जरा मुक्तेरनुगुणा करोति सति चारित्रे सवरकारिणि नान्यथेति प्रदर्शयति 'सम्मादिट्ठिस्स वि' इत्यादिना—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्म ण तवो महागुणो होदि ।

होदि ह्नु हत्थिण्हाणं चुंदच्चुदकम्म तं तस्स ॥७॥

'सम्मादिट्ठिस्सवि' तत्त्वार्थश्रद्धानवतोऽपि । 'अविरदस्स' अनयतस्य । 'न तवो' तप । 'महागुणो' गुणशब्दोजेकार्यवृत्ति । रूपादयो गुणशब्देनोच्यन्ते कर्वाचछया—रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागे, परत्वापरत्वबुद्ध्य, सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नावयः क्रियावद्गुणसमवायिकारणं द्रव्य' -इत्यस्मिन्सूत्रे गृहीता ॥ 'गुणभूता वयमत्र नगरे' इति । अत्राप्रधानवाचीयस्य गुणस्य भावादिति विशेषेण वर्तते । 'गुणोज्जेन कृत' इत्यत्र उपकारार्थं वृत्ति । इह उपकारे वर्तमानो गृह्यते । महागुण उपकारोऽज्येति महागुण । 'होदि' भवति । क्रिया चैव हि भाव्यते निषेव्यते वा इति वचनान् । 'न' तु भवगक्रियया सवध्यते, तपो न भवति महोपकारमिति । एतदुक्तं भवति कर्मनिर्मूलनं कर्तुं असमर्थं तप सम्यग्दृष्टेरप्यस्यतस्य । पुनरितरम्य अमति

उन्होने जो बाह्य तपके बिना मुक्ति प्राप्ति का निर्देश किया है उसका अभिप्राय इतना ही है कि जिन दीक्षा धारण करनेके पञ्चान् ही अन्तर्मुहूर्तमे क्षपक श्रेणि पर आरोहण करके मुक्त हुए । अत उन्हे अनशन आदि बाह्य तप नहीं करना पडा । अभ्यन्तर तप तो रहा ही ॥ ६ ॥

निर्जरा तपके अधीन है । जब क्रमसे निर्जराको प्राप्त होते होते सब कर्म चले जाते है तब 'स्व' मे स्थिति रूप निर्वाणकी प्राप्ति होता है । अत निर्वाणका कारण निर्जरा ही है और निर्जराका सम्पादक है तप । इसलिये दर्शनागधना और तप आराधना ये दो आराधना कहना युक्त है । इस आशकाके उत्तरमे आचार्य 'सवरको करने वाले चारित्रके होने पर ही तप मुक्तिके अनुकूल निर्जरा करता है, अन्यथा नहीं' ऐसा कथन करते है—

गा०—सम्यग्दृष्टो भी जो अविरत है अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टीका तप महान् उपकारी नहीं होता । उसका वह तप हाथीके स्नानकी और मथनचर्मपालिका मथानीकी रस्सीकी तरह होता है ॥ ७ ॥

टी०—तत्त्वार्थ श्रद्धानवान् भी, असयमीका तप महागुणवाला नहीं होता ।

गुण शब्दके अनेक अर्थ हैं । कही गुण शब्दसे रूपादि कहे जाते हैं जैसे वैशेषिक दर्शनके सूत्रमे गुण शब्दमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, मयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, आदि लिये गये हैं । 'हम इस नगरमे गुणभूत है' इस वाक्यमे गुणशब्दका अर्थ गौण या अप्रधान है । 'इतने गुण किया' इस वाक्यमे 'गुण' का अर्थ उपकार है । यहाँ भी गुणशब्दका अर्थ उपकार है । अत महान् है 'गुण' अर्थात् उपकार इसका । गाथामे 'होदि' क्रिया है उसका अर्थ 'होता है' । उसके साथ 'ण' का सम्बन्ध लगाना चाहिये । तब अर्थ होता है—तप महान् उपकारी नहीं है । पूरे वाक्यका अभिप्राय है—असयमी सम्यग्दृष्टीका भी तप कर्मको जडसे नष्ट करनेमे असमर्थ है । फिर जो सम्यग्दृष्टी नहीं है, उनके सवरके

१ चक्षुःशब्दक-ज, दग्ध तं-मु०, ये तु बुद्धिदकम्म इति पठन्ति—मूलारा० ।

सबरे प्रतिसमयमुपचोयमानकर्ममंहते का मुक्ति ? ननु सत्यपि समये विना निर्जरा न निवृत्तिरिति । शक्यमेव-  
मप्यभिधातुं 'सम्माविट्ठस्स वि अकवतवो भावणावितेसस्स न चारित्तं महगुणं होविस्सि' । सत्यमेवमेतन्  
चारित्रप्राधान्यविवक्षापरा इय चोदना । अमिच्छिन्नत्वीत्यत्र छेतारमन्तरेण नासिनेव सपद्यते छिदा, तथा तदीय-  
तैक्यगौरवकाठिन्यातिसयनिरूपणवाछाया तस्यैव स्वातंत्र्य नियद्यते । एवमिहापीति न दोष । कुत ?  
यस्मात् 'होवि खु हत्थिण्हाणं' होदि भवति । 'खु' शब्द एवकारार्थः । स हत्थिण्हाणमित्यनेन संबधनीय ।  
हत्थिण्हाणमेवेति । यथा हस्ती स्नातोऽपि न नैर्मल्य बहूति पुनरपि करावर्जितपामुपटलमलिनतया' तद्वत्तपमा  
निज णोऽपि कर्मणो बहुतरादान अमयमपत्वेनेति मन्यते । दृष्टान्तान्तरमाचष्टे—चु दच्चुदकम्म मन्थनचर्मपालिकेव  
तद्वत्सयमहीन तप । दृष्टान्तद्वयोपन्यास किमर्थम् इति चेत् । अपगताद्बहुतरोपादान कर्मणोऽसयमनिमित्त-  
स्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यास । आर्द्रतनुतया बहुतरमुपादत्ते रज । बन्धरहिता निर्जरा स्वास्थ्य प्रापयति  
नेतरा बन्धसहभाविनीति । किमिव मन्थनचर्मपालिकेव । सा हि बन्धसहिता मुक्तिं वर्तयति । अत्रान्ये  
व्याचक्षते—कालभेदमनपेक्ष्य शुद्धिमशुद्धिं च दर्शयता प्रथम उपात्त । तवयुक्तं सकलकर्मपायो हि शुद्धि ,

अभावमे प्रति समय बन्धनेवाले कर्मोका मचय होते हुए मुक्तिकी बात ही क्या है ?

**शङ्का**—समयके होनेपर भी निर्जराके विना मुक्ति नहीं होती । अतः ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिसने तपकी भावना नहीं की उस समयदृष्टीका चारित्र महान् उपकारी नहीं है ?

**समाधान**—आपका कथन यथार्थ ही है । यह कथन चारित्रकी प्रधानताकी विवक्षाको लिये हुए है । जैसे 'तलवार काटती है' ऐसा कहा जाता है । किन्तु काटनेवाले व्यक्तिके विना केवल अकेली तलवार नहीं काटती । परन्तु तलवारकी तीक्ष्णता, गौरव और कठोरता आदि अतिशयोकी बनलानेकी इच्छा होनेपर 'तलवार काटती है' इस प्रकार तलवारके स्वातन्त्र्यको कहा जाता है । इसी तरह यहाँ भी है अतः कोई दोष नहीं है ।

उक्त कथनके समर्थनमे ग्रन्थकार दृष्टान्त देते हैं—जैसे हाथी स्नान करके भी निर्मल नहीं होता, वह अपनी सूँडके द्वारा धूल उठाकर अपनेपर डालता है । उसी तरह तपके द्वारा कुछ कर्मोकी निर्जरा होनेपर भी असयमके द्वारा उससे अधिक कर्मोका बन्ध होता रहता है । ऐसा माना गया है ।

दूसरा दृष्टान्त देते हैं—मन्थनचर्मपालिकाकी तरह सयमहीन तप होता है ।

**शङ्का**—दो दृष्टान्त किस लिये दिये हैं ?

**समाधान**—तपके द्वारा जितनी कर्मनिर्जरा होनी है, असयमके निमित्तसे उससे बहुत अधिक कर्मोका बन्ध होता है, यह बतलानेके लिए हस्तिस्नानका दृष्टान्त दिया है क्योंकि स्नानके पश्चात् शरीरके गीले होनेसे बहुतसी धूल उसपर जम जाती है । तथा बन्धरहित निर्जरा मोक्ष प्राप्त कराती है, बन्धके साथ होनेवाली निर्जरा नहीं । जैसे मन्थनचर्मपालिका । वह तो बन्ध-सहित मुक्ति देती है अर्थात् मथानी चलाते समय एक ओरसे रस्सी छूटती जाती है किन्तु साथ ही दूसरी ओरसे लिपटती जाती है ।

दूसरे टीकाकार कहते हैं—समयभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखलानेके लिये प्रथम दृष्टान्त दिया है । किन्तु ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि समस्त कर्मोके विनाशको शुद्धि

अशुद्धि कर्मणा सह वृत्ति, तत्रासती शुद्धि-कथमादर्शयते कर्माशापगममात्र ? शुद्धिर्वा या मुक्तिः सा कस्य न विद्यते ? फल दत्त्वा प्रयान्त्यात्मनः कर्मपुद्गलस्कन्धाः । यच्चोक्तं यदा तु कालभेदेन वैधर्म्यमाशापयते बधन-शातनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो दृष्टान्तः । रज्जुवेष्टननिर्गमनयोरेककालत्वादिति तदप्यसारः । न हि चन्द्रमुखी कन्या इत्यत्र एवमाशका सभबति, सदा संपूर्णमानन वामलोचनाया निशानायस्य कदाचिदेव पूर्णता ततोऽनुमानमिति साधारणधर्मात्रावलम्बन एवोपमानोपमेय भाव, वैधर्म्यं तूपमानोपमेयोरस्ति अन्यथा उपमानमिदं उपमेयमिति भेदो निरास्पदः । अपि च उपमेयस्यातिशय प्रदर्शयितुमेवोपमानं प्रवृत्तम् ॥ न त्वेकस्योपमानस्यानुकृतादृष्टेतरदुपादीयते (?) इति युक्तम् ।

संक्षेपस्य प्रकारान्तराख्यानायाह—

अहवा चारिचाराहणाए आराहियं हवइ सव्वं ॥

आराहणाए सेसस्स चारिचाराहणा भज्जा ॥ ८ ॥

और कर्मोंके साथ रहनेको अशुद्धि कहते हैं। जब वहाँ शुद्धि नहीं है तो कैसे उसे दिखलाते है ? और कुछ कर्मोंके चले जाने मात्रसे यदि शुद्धि या मुक्ति मानते हो तो ऐसी शुद्धि किस जीवमे नहीं है क्योंकि कर्मपुद्गलस्कन्ध प्रत्येक आत्माको फल देकर जाते रहते है। और भी कहा है कि जब कालभेदसे वैधर्म्यकी आशंका की जाती है चूँकि बन्धन और निर्जराका एक ही काल है तब दूसरा दृष्टान्त दिया है; क्योंकि रस्सीके लिपटने और छूटनेका एक ही काल है, यह कथन भी निस्सार है। 'चन्द्रमुखी कन्या' इस दृष्टान्तमे इस प्रकारकी आशंका सम्भव नहीं है कि कन्याका मुख तो सदा सम्पूर्ण रहता है और चन्द्रमा तो पूर्णमाके ही दिन पूर्ण होता है। उपमान उपमेय भाव दोनोमे पाये जानेवाले साधारण धर्मोंको ही लेकर किया जाता है, दोनोमे वैधर्म्य तो होता ही है। यदि न होता तो उनमे यह उपमान और यह उपमेय ऐसा भेद ही न होता। तथा उपमेयकी विशेषता दिखलानेके लिए ही उपमान होता है। अकेले उपमानके लिये उपमेय नहीं होता ॥७॥

**भावार्थ—**मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही क्या, तत्त्वोका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी भी यदि अविस्त है, हिंसादि विषयोमे प्रवृत्त रहता है, उसका तप करना महान् उपकारक नहीं है। अर्थात् वह कर्मोंको सर्वथा नष्ट नहीं कर सकता। जो समयसे हीन होता है उसके सबरके अभावमे प्रति-समय नये-नये कर्मोंका बन्ध होता रहता है। अतः उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। यह कथन चारित्रिकी प्रधानता दिखलानेके लिये है। जैसे तपके प्राधान्यकी विवक्षामे कहा है—तपसे ही मुक्ति होती है अतः तप करना चाहिए। असयमीका तप हाथीके स्नानकी तरह होता है। जैसे हाथी स्नान करके शरीरके भोग जानेसे अपनी सूँड द्वारा अपने ऊपर डाली गई बहुत-सी धूल ग्रहण कर लेता है। उसी तरह असयमी तपके द्वारा कुछ कर्मोंकी निर्जरा करके भोजनादिकी लम्पटतावश बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है। दूसरा दृष्टान्त है मन्थनचर्मपालिका। हस्तिस्नान दृष्टान्तके द्वारा तो यह बतलाया है कि जितनी निर्जरा करता है उससे बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है और दूसरे दृष्टान्तसे बतलाया है कि बन्धके साथ-साथ होनेवाली निर्जरासे मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

संक्षेपसे आराधनाके अन्य प्रकार कहते है—

१ दृष्टरित-मु० ।



अह्वेति । एकद्वयादिसंख्येयामख्येयानतरूपेण हि जैनी निरूपणा ॥ चरन्ति यान्ति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्र्यं, चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्र्यं सामायिकादिकं, तस्याराधनाया तत्परिणतौ सत्या आराधितं निष्पादितं । 'हृषई' भवति । 'सर्व' सर्वं ज्ञान दर्शन तपश्च, प्रकारकात्स्न्यं सर्वशब्दोऽत्र प्रवृत्तं । यथा सर्वमोदन भुक्ते इति व्रीहिशाल्योदनप्रकारकात्स्न्यं भुजिक्रियायाः कर्मत्वेन प्रतीयते । एवमिहापि मुक्त्युपायप्रकाराणां ज्ञानादीनां सामस्त्यमाख्यायते । चारित्र्याराधनैकैवेत्यनेन गाथाद्वेन कथितम् । अत्रेयमाशका—कस्मादेकत्वनिरूपणाराधनायाश्चारित्र्यमुखेनैव क्रियते नान्यमुखेनेत्यत आह—'आराधनाए' आराधनाया । 'सैस्स' शेषस्य । ज्ञानदर्शनतपसा अन्यतमस्य । चारित्ताराधना । 'भज्जा' भाज्या विकल्प्या । कथं ? असयतसम्यग्दृष्टिर्भवति ज्ञानदर्शनयोराराधको नेतरयो । मिथ्यादृष्टिस्त्वनशनदाबुद्धतोऽपि न चारित्र्यमाराधयति । कश्चित्पुन ज्ञानादीनि च चारित्र्यमपि संपादयतीति नाविनाभाविता इतराराधनाया चारित्र्याराधनाया इति न तन्मुखेनैकत्वनिरूपणैति भावः ॥ ननु क्षायिकवीतरागमम्यक्त्वाराधनाया, क्षायिकज्ञानाराधनाया च इतरेषामप्याराधना नियोगतं संभवति तत्किमुच्यते शेषाराधनाया चारित्र्याराधना भाज्येति ? क्षायोपशमिक-

गा०—अथवा चारित्र्यकी आराधनामे ज्ञान, दर्शन, तप सब आराधित होता है । ज्ञान दर्शन और तपमेसे किसीकी भी आराधनामे चारित्र्यकी आराधना भाज्य होती है ॥ ८ ॥

टी०—जैनधर्ममे वस्तुके कथन करनेके एक, दो, संख्यात, असख्यात और अनन्तरूप है । जिसके द्वारा जीव हितकी प्राप्ति और अहितका निवारण करते है उसे चारित्र्य कहते है । अथवा सज्जनोके द्वारा जो 'चर्यने' सेवन किया जाता है वह सामायिक आदिरूप चारित्र्य है । उसकी आराधना करनेपर अर्थान् उस रूप परिणतिके होनेपर सब-ज्ञान दर्शन और तप आराधित—निष्पादित होता है । यहाँ 'सर्व' शब्द समस्त प्रकारोमे प्रयुक्त हुआ है । जैसे 'सब ओदनको खाता है', यहाँ ओदन अर्थान् भात या चावलके व्रीहि, शालि आदि जितने प्रकार हैं वे सब खानेरूप क्रियाके कर्मरूपसे प्रतीत होते है । अर्थात् सब प्रकारके चावलको भात खाता है यह 'सब ओदन' से अभिप्राय है । इसी प्रकार यहाँ भी 'सर्व' शब्दसे मुक्तिके उपायोके जो प्रकार ज्ञानादि है उन सबका ग्रहण इष्ट है । इस तरह 'एक चारित्र्याराधना ही है' यह इस आधी गाथासे कहा है । यहाँ यह शका होती है कि चारित्र्यकी मुख्यतासे ही आराधनाका एक प्रकार क्यों कहा है अर्थात् आराधनाके एक प्रकारमे चारित्र्यको ही क्यों लिया है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते है—शेष अर्थात् ज्ञान दर्शन और तपमेसे किसी एककी आराधना करनेपर चारित्र्यकी आराधना भाज्य है; क्योंकि असयत सम्यग्दृष्टि ज्ञान और दर्शनका ही आराधक होता है, चारित्र्य और तपका नहीं । और मिथ्यादृष्टि तो अनशन आदिमे तत्पर रहते हुए भी चारित्र्यकी की आराधना नहीं करता । कोई ज्ञानादिकी आराधना करता है और कोई चारित्र्यकी भी आराधना करता है । इस प्रकार अन्य आराधनाओके साथ चारित्र्यकी आराधनाका अविनाभाव नहीं है अर्थात् चारित्र्याराधनाके बिना भी अन्य आराधना होती है । इसलिए उनकी मुख्यतासे आराधनाका एक प्रकार नहीं कहा है । यह उक्त कथनका भाव है ।

शब्दा—क्षायिक वोतराग सम्यक्त्वकी आराधनामे और क्षायिकज्ञानकी आराधनामे अन्य चारित्र्यादिकी भी आराधना नियमसे होती है तब कैसे कहते है कि शेष आराधनाओमे चारित्र्याराधना भाज्य है ?

ज्ञानदर्शनोपक्षयैतदुक्त इति श्रेयम् ।

**अत्रान्येषां व्याख्या** 'चारित्र्याराधनाए' इत्यत्र चारित्र्यशब्देन सच्चारित्रमुपात्तम् । तच्च सदृशनात्मक-  
ज्ञानरूपितक्रमाग्रच्यवनेन प्रयत्नवृत्तिरूप तस्मिन्प्राध्यमाने शेषसिद्धिर्भवत्येव । कथं ? सज्ज्ञानकार्यं चारित्र्यं  
सज्ज्ञानं च दर्शनाद्वित (?) कार्यं हि कारणाविनाभावित्वं प्रयुक्त इति ।' सानुपपन्ना । प्रतिज्ञामात्रेण हि  
सूत्रमिदमवस्थित, एतत्साधनाया सूत्रद्वयमुत्तरं यत्र हि सूत्रकारो न निबधनं वदति । आत्मन प्रतिज्ञातस्य तत्र  
व्याख्यातुरवसरो निबधनाख्याने । यत्र तु स एव वदति तत्र तदेव व्याख्यानुमवगन्तव्यमिति व्याख्याक्रमं शास्त्रेषु ।  
न चेदमनेन प्रतिविधानमसूत्रितम् स्वयमेवोत्प्रेषते । 'कादव्वमिणमकादव्वयसि णावूण होवि परिहारो' इत्यत्र  
निरूपयिष्यति यत् सूत्रकार । किं च उत्तरसूत्रानुष्ठानमस्या व्याख्याया चारित्र्याराधनामुखेनैवाराधनेति  
प्रतिपादादधिषितम् । तच्च सप्रतिविधानं प्रतिपादयितुं कोऽवसर उत्तरगाथाया । इतराराधनान्तर्भावकारिष्या-  
न्चारित्र्याराधनाया निरूपणाय चारित्र्यस्वरूपाख्यानाय उत्तरगाथायातेति कथमवसर इति चेत् यद्येवं दर्शना-  
राधनाया ज्ञानाराधनान्तर्भाव्यं प्रवर्तमानाया दर्शनस्वरूपं किं नोच्यते सूत्रकारेण ? स्वेच्छेति चेत् न्यायानु-

**उत्तर**—उक्तं कथनं क्षायोपशमिव ज्ञानं और क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वकी अपेक्षा किये है  
ऐसा जानना ।

इस गाथापर अन्य टीकाकारोंकी व्याख्या इस प्रकार है—'चारित्र्याराधनाए' यहाँ चारित्र्य  
शब्दसे सम्यक्चारित्र्य लिया है । वह सम्यक्चारित्र्य शास्त्रमें कहे गये सम्यग्दर्शनमें विशिष्ट  
सम्यग्ज्ञानके क्रमसे च्युत न होते हुए अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञानके साथ सावधानतापूर्वक  
प्रवृत्तिरूप होता है । उसको आराधना करनेपर शेष आराधनाओंकी सिद्धि होती ही है क्योंकि  
सम्यग्ज्ञानका कार्य चारित्र्य है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है । कार्य कारणका अविना-  
भावी होता है—कारणके बिना कार्य नहीं होता ।

किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है । इस गाथामें तो गाथाकारने केवल प्रतिज्ञामात्र की है  
कि चारित्र्याराधनामें सब आराधना आती है । इसकी सिद्धिके लिए आगे दो गाथाएँ हैं जिनमें  
ग्रन्थकारने उसका कारण कहा है कि क्यों चारित्र्याराधनामें अन्य आराधना समाविष्ट होती है ।  
वहाँ व्याख्याताको उसका कारण बतलानेका अवसर है । शास्त्रोंमें व्याख्याका यही क्रम है कि  
ग्रन्थकारने स्वयं जहाँ जो कहा है वहाँ वही व्याख्याकारको कहना चाहिये । इस गाथामें तो उसने  
ऐसा नहीं कहा । व्याख्याकार स्वयं ही कल्पना करता है । गाथासूत्रकार तो आगे 'कादव्वमिण-  
मकादव्व' इत्यादि द्वारा कहेगे ।

तथा 'चारित्र्याराधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है' इस व्याख्यामें आगेके गाथासूत्रका  
कथन करना इष्ट है । यदि वह कथन यही कर दिया जाता है तो आगेकी गाथाके कथनका  
अवसर नहीं रहता ।

**शङ्का**—अन्य आराधनाओंका अपनेमें अन्तर्भाव करनेवाली चारित्र्याराधनाका निरूपण  
करनेपर चारित्र्यका स्वरूप बतलानेके लिये आगेकी गाथा आई है ? तब आप कैसे कहते हैं कि  
आगेकी गाथाके कथनका अवसर नहीं रहता ?

**उत्तर**—यदि ऐसा है तो दर्शनाराधना अपनेमें ज्ञानाराधनाको अन्तर्भूत करके प्रवृत्त हुई  
है अतः गाथाकारने सम्यग्दर्शनका भी स्वरूप क्यों नहीं कहा ? वह भी कहना चाहिए था । यदि

गामिनां शास्त्रकाराणा न्यायादपेतेच्छा अयुक्ता ।

कथ चारित्र्याराधनाया कथिताया इतरासा प्रतिपत्तिरविनाभावात् तावज्ज्ञानदर्शनाराधनयोरन्तर्भाव-  
इत्युत्तरगाथाया पूर्वाद्धिं कथयति—

कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो ।

तं चैव इवइ णाणं तं चैव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

'कायव्वं' कर्तव्य । 'इणं' इदं । 'अकायव्वयत्ति' अकर्तव्यमिति । 'णाऊण' ज्ञात्वा । 'हवदि' भवति । 'परिहारो' परिवर्जन चारित्र्यमिति शेष । कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञान पूर्व तदुत्तरकाल अकर्तृपरिहरण यत्तच्च चारित्र्यमिति सूत्रार्थं । ननु परिहार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थं । तथा हि—परिहरति सर्पमित्यत्र सर्पं वर्ज-  
यतीति गम्यते । तनश्च यद्धर्जनीय तत्परिज्ञानमेव वर्जनमुपयुज्यते । तत एव वक्तव्य—अकाव्वयत्ति णाऊण  
हवदि परिहारो इति, कादव्वमित्येतत्किमर्थमुपन्यस्त ? कर्तव्यपरिज्ञान करणे एवोपयुज्यते इति ॥ अत्र प्रति-  
विधीयते—कादव्वमिणत्ति णाऊण हवदि परिहारो इति पदघटनेका, अकाव्वमिणत्ति णाऊण हवदि परिहारो  
इत्यपरा ॥ तत्राथाया पदघटनाया परिशब्द समताद्भाववृत्ति । यथा परिधावतीत्यत्र हि समताद्भावतीति  
गम्यते । हरति तूपादानवचन । तथाहि प्रयोग—कपिलिका<sup>१</sup> हरति—कपिलिकामुपादत्त इति यावत् । मनसा,  
वचसा, कायेन कर्तव्यस्य मवग्हेतोःस्पादान गुप्तिसमित्तिधर्मानुपेक्षापरोषहजयाना उपादान चारित्र्यमिति

कहोगे कि यह उनकी इच्छा है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि न्यायका अनुसरण करने-  
वाले शास्त्रकारोंकी इच्छा न्यायसे रहित नहीं होती ॥ ८ ॥

चारित्र्याराधनाके कहनेपर अन्य आराधनाओका ज्ञान कैसे सम्भव है ? इस प्रश्नका  
समाधान है कि चारित्र्याराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनका अविनाभाव है अतः उसमें उनका  
अन्तर्भाव होता है । यही वार्ता आगेकी गाथाके पूर्वाद्धिसे कहने है—

गा०—यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है इस प्रकार जानकर त्याग होता है । वही  
चैतन्यज्ञान है और वही सम्यक्त्व है ॥ ९ ॥

टी०—पहले कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होता है । उसके पश्चात् अकर्तव्यका त्याग  
किया जाता है । यही चारित्र्य है । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

शंका—'परिहारो' में परिहार शब्दका अर्थ त्याग है । इसका खुलासा इस प्रकार है—  
'सर्पका परिहार करता है' ऐसा कहनेपर 'सर्पको त्यागता है' यही अर्थ ज्ञात होता है । अतः जो  
त्यागने योग्य है उसीका जानना योग्य है । ऐसी स्थितिमें ऐसा कहना चाहिए कि 'अकर्तव्यको  
जानकर उसका परिहार होता है ।' तब कर्तव्यको जाननेको क्यों कहा ? कर्तव्यका परिज्ञान तो  
करनेके लिए होता है छोड़नेके लिए नहीं होता ?

उत्तर—गाथामें 'कादव्वमिणत्ति णाऊण हवदि परिहारो' यह एक पद सम्बन्ध है । और  
'अकादव्वमिणत्ति णाऊण हवदि परिहारो' यह दूसरा पद सम्बन्ध है । उनमेंसे प्रथम पद सम्बन्धमें  
'परि' शब्दका अर्थ अच्छी तरह या पूर्णरूपसे होता है । जैसे 'परिधावति' का अर्थ अच्छी तरहसे,  
या पूर्णरूपसे दौड़ता है । 'हरति' का अर्थ ग्रहण करना है । जैसे 'कपिलिका हरति' का अर्थ  
कपिलिकाको ग्रहण करता है । अतः इस वाक्यका अर्थ होता है—मनसे, वचनसे, कायसे, सवरके

वाक्यार्थ । आस्रवबंधहेतुवो ये परिणामास्ते न कर्तव्या, न निर्बल्यास्तेषा परिहरण परिवर्जन चारित्रमिति सबधनीयम् । परिहार्य एव परिज्ञानमत्तरेणापि तत्परिहारो दृश्यते । यथा शत्रुजनाध्यासितं देन परिहरति कश्चित्तत्र तेषा अवस्थानमप्रतिपद्यमानोऽपि मार्गान्तरगामी एव<sup>१</sup>मज्ञात्वापि परिहार्यं परिहरति विनाभावितेति चेदयमभिप्राय सूरः—सामान्यशब्दा अपि विशेषप्रवृत्तयो दृश्यते । तथा हि—गोशब्दो गोत्वमामान्यागीकरणेन प्रवृत्तो गौर्न हृतव्या, गौस्तदा न स्पष्टव्या इत्यादाभिन्यत्र विशेषमवाभिधेयी—करोति । महति गोमडले गोपालकमासीनमेत्य कश्चित्पृच्छति गौर्नृष्टा भवतेति । अत्र वाक्ये गोशब्दस्तदभिप्रेता कालाधी स्वस्तिमतीं वा प्रत्यायति । एवमत्र परिहारशब्द परिवर्जनसामान्यगोचरोऽपि नियतानेकपरिहार्यविषये परिहरणे प्रयुक्त । न च नियोगभाव्यनेकपरिहार्यविषयपरिहरण असकृद्वृत्तिपरिभान विना युज्यते । इति मिथ्यादर्शन, असयमा, कषाया, अशुभाश्च योगा प्रत्येकमनेकविकल्पया सतत परिहरणीया । तत्कथ परिहरदज्ञः । ननु ज्ञान-चारित्रयोरविनाभाविता द्योत्या 'नादूण होदि परिहारो' इत्यनेन<sup>२</sup> न ध्रुवानाविनाभावितेत्याशकायामाह— 'त चेव हृबइ' इत्यादिक । त चेव तदेव चैतन्य । 'हृबइ' भवति, 'णाण' ज्ञान । 'त चेव य' तदेव च 'हृबइ' भवति, 'सम्मत्त' तत्त्वध्रुवान् चैति चैतन्यद्रव्यार्थाव्यतिरेकात् ज्ञानदर्शनयोरेकता व्याना । ततो ज्ञाना-

हेतु कर्तव्यको ग्रहण करना, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीपह जयको अगीकार करना चारित्र है । आस्रव और बन्धके हेतु जो परिणाम है वे नहीं करने चाहिए । अन उनका परिहार अर्थात् त्याग चारित्र है । इस प्रकार सम्बन्ध लगाना चाहिये । जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है, उसे जाने विना भी उसका त्याग देखा जाता है जैसे कोई शत्रुओसे युवत स्थानको छोडता है । यद्यपि वह उस स्थान मे उनके आवामको नहीं जानता, फिर भी दूसरे मांगसे चला जाता है । इस प्रकार त्यागने योग्यको नहीं जानते हुए भी त्यागना चाहिए ।

शङ्का—तब तो 'त्याज्य पदार्थको जानकर छोडना चाहिये' इस प्रकारका अविनाभाव नहीं रहा ?

समाधान--आचार्यका अभिप्राय यह है कि सामान्य शब्दोंकी भी प्रवृत्त विशेषमे देखी जाती है । जैसे 'गौ' शब्द गौसामान्यको लेकर प्रवृत्त होता है जैसे गौका वध नहीं करना चाहिए । गौको छूना चाहिए । किन्तु अन्यत्र यही सामान्यवाची गौ शब्द विशेष गोक अर्थम प्रवृत्त हाता देखा जाता है । जैसे--किसी बड़े गोमण्डलमे बैठे हुए ग्वालेके पास जाकर कोई पूछता है-- आपने गौ देखी है क्या ? इस वाक्यमे गौ शब्द उस व्यक्तिको इष्ट काली गाय या अमुक प्रकारकी गायका बोध कराता है । इसी तरह परिहार शब्द यद्यपि त्याग सामान्यका वाचक है तथापि यहाँ उसका प्रयोग निश्चित अनेक त्यागने योग्य विषयोंके त्यागमे हुआ है । और नियमसे त्यागने योग्य अनेक विषयोंका त्याग बार-बार जाने विना सम्भव नहीं है । इस प्रकार मिथ्यादर्शन, असयम, कषाया, अशुभयोग और इनमेसे प्रत्येकके अनेक भेद निरन्तर त्यागने योग्य है । जो अनजान है वह कैसे उनका त्याग कर सकता है ?

शङ्का--'जानकर परिहार होता है' इस वचनसे ज्ञान और चारित्रकी अविनाभाविता प्रकट होती है, ध्रुवानकी अविनाभाविता प्रकट नहीं होती ?

इस आशङ्काका आचार्य उत्तर देते है--वही चैतन्य ज्ञानरूप है और वही चैतन्य सम्यक्त्वरूप है । अत. चैतन्यरूप द्रव्यसे अभिन्न होनेसे ज्ञान और दर्शनकी एकता बतलाई है । अतः

विनाभाविता कथनेन श्रद्धानस्यापि कथितैव भवति । चारित्रमेव ज्ञानदर्शने इति कल्पनाया 'नाहूण हृवइ परिहारो' इति पूर्वं ज्ञान पश्चात्परिहार इति अत्र भेदोपन्यास<sup>१</sup> सूत्रकारस्य अघटमान<sup>२</sup> स्यात् । तं चेवेति नपुंसकलिगनिर्देशश्च न स्यात् । 'सो चेव हृवइ णाणं' इति वक्तव्य भवति परिहारशब्दस्य पुल्लिगत्वात् । अथवा कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञाने सत्यकर्तव्याना मिध्यादर्शन, ज्ञान, असयम, कषाया, योग इत्यमीषा परिहारश्चारित्रमित्येतन्मिश्रणं परिगृहीते 'त चेव परिहरणसामान्य चारित्र, ज्ञान दर्शन इत्येकमेवेति । चारित्रा-राधनायामेव भेदवादिनोऽभिमतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्लीनतया चारित्राराधनंकेवेति सूत्रार्थः ॥

चारित्र्याराधनायामंतर्भावो ज्ञानदर्शनाराधनयोरेव निगदितो न तपस आराधनाया इत्यत आह—

**चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो आउंजणा य जो होई ।**

**मो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असठं चरंतस्स ॥१०॥**

'चरणम्मि' चारित्रे । 'तम्मि' एतस्मिन् अकर्तव्यपरिहरणे । 'जो य उज्जमो' उद्योग । 'आउंजणा य' उपयोगश्च । 'जिणेहिं तवो होबिसि भणिदो' इति पदघटना । चरणोद्योगोपयोगावेव तपो भवतीति जिनै कृतकर्मादिपराजयैर्कर्ममिति यावत् । कृतसुखपरिहारो हि चारित्रे प्रयतते न सुखासक्तचित्तस्तदश्च बाह्यानि चारित्रकी ज्ञानके साथ अविनाभाविता बनलानेसे श्रद्धानकी भी अविनाभाविता कही गई समझना । यदि चारित्रको ही ज्ञान और दर्शनरूप माना जाता है तो 'ज्ञानकर परिहार होता है' इस कथनमे जो पहले ज्ञानका और पश्चात् परिहारका भेदरूपसे उपन्यास ग्रन्थकारने किया है वह नही बन सकेगा । तथा 'त चेव' इस पदमे जो नपुंसक लिगका निर्देश किया है वह भी नही बनेगा, किन्तु 'मो चेव हृवइ णाण' ऐसा प्रयोग करना होगा क्योंकि 'परिहार' शब्द पुल्लिग है और वही चारित्र है ।

अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होने पर अकर्तव्य जो मिध्यादर्शन, अज्ञान, असयम, कषाय और योग हैं उनका परिहार चारित्र है, ऐसा अर्थ लेने पर 'त चेव' अर्थात् परिहार-सामान्य ही चारित्र, ज्ञान और दर्शन है इस प्रकार एक ही है । इस प्रकार चारित्राराधनामे ही भेदवादियोंको इष्ट आराधनाके प्रकारको अन्तर्भाव होनेमे चारित्राराधना एक ही है यह इस गाथासूत्रका अर्थ है ॥

**भावार्थ—**चारित्रके दो प्रकार है—कर्तव्यको स्वीकार करना और अकर्तव्यको त्यागना । ज्ञान और दर्शन पूर्वंक हितकी प्राप्ति तथा अहितके परिहाररूपसे परिणत चैतन्य ही ज्ञान और दर्शनरूप है । अतः चारित्रका ज्ञान और दर्शनके साथ अविनाभाव होनेमे चारित्रमे दोनोका अन्तर्भाव होता है ॥ ९ ॥

चारित्राराधनामे ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका ही अन्तर्भाव कहा है, तप आराधनाका नहीं कहा । अतः कहते हैं—

गा०—उस अकर्तव्यके त्यागरूप चारित्रमे जो उद्योग है और उपयोग होता है, उन उद्योग और उपयोगको ही छल कपट त्यागकर करने वालेका जिनेन्द्रदेवने तप कहा है ॥ १० ॥

टी०—उस अकर्तव्यके परिहाररूप चारित्रमे जो उद्योग और उपयोग है जिनदेवने उसे तप कहा है । अर्थात् चारित्रमे उद्योग और उपयोग ही तप है, ऐसा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजित करने

तपसि चारित्रप्रारंभ प्रति परिकरतामुपयन्तीति । तथा च वक्ष्यति 'बाहिरत्वेण होदि खु सखा सुहृसोला परिक्खत्ता' इति । तथा स्वाध्यायश्रुतभावना पञ्चविधा तत्र वर्तमानश्चारित्रे परिणतो भवति । तथा च वक्ष्यति 'सुब्रह्मण्यत् पाणं बंसणतवसंजमं च परिणमवि' ति । परिणाम एव उपयोग । 'कृतातिचारजगृप्सापर सर वचनमालोचनेति' अकृतव्यपरिहरणोपयोग कथं न चारित्रं ? कृतातिचारस्य यतस्तदतिचारपराड्मुखता योगत्रयेण हा वुष्ट कृतं चितितमनुमत चेति परिणाम प्रतिक्रमणम् । उभय चरणोपयोग । एवमतिचारनिमित्त-द्रव्यक्षेत्रादिकान्मनसा अपगतिस्तत्र अनादृतिविवेक । इति उपयोगता विवेकस्य दुस्त्यजशरीरममत्वनिवृत्तिर्म-भेद शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्रम् । तपसोऽनशनादेश्चारित्रपरिकरतोर्कत्र । सातिचारं चारित्रमचारित्रमेवेति बुद्ध्या निश्चित्यात्मनो, न्यूनतापादन, क्रियास्वभूत्या-नवन्दनादिकासु असयमपरिहारेण वृत्तेदचारित्रपरिकर । पुन प्रव्रज्यादानमपि चारित्रोपयोग एवेति । विनयस्तु पञ्च प्रकारं ज्ञानदर्शनविनययोर्ज्ञानदर्शनपरिकरतया तदुपयोगरूपतया च ज्ञानदर्शनाभ्यामभेदात्तद्वेद चारित्रा-राधनातर्भव ।

इन्द्रियविषयस्य रागद्वेषयो कषायणा च परित्याग, अयोग्यवाक्यायक्रियायास्त्याग, ईर्ष्यादिषु निर-वद्या च वृत्तिश्चारित्रोपयोग एवेति चारित्रे विनयस्यान्तर्भाव । तपोऽधिके तपसि च भक्ति, अनासादना च

वाले जिनदेवने कहा है । जो सुखको त्यागता है वही चारित्रमे प्रयत्नशील होता है, जिसका चित्त सुखमे आसक्त है वह चारित्र धारण नहीं कर सकता । अत वाह्य तप चारित्रको प्रारम्भ करनेमे सहायक होते हैं । आगे कहेंगे—'बाह्य तपसे समस्त सुखशीलता छूट जाती है' । तथा स्वाध्यायके पाँच भेद पाँच श्रुत भावनारूप हैं । जो उसमे प्रवृत्ति करता है वह चारित्रमे प्रवृत्ति करता है । आगे कहेंगे—'श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमरूप परिणत होता है ।' परिणामका ही नाम उपयोग है । किये हुए दोषोंके प्रति ग्लानि पूर्वक जो वचन होता है वह आलोचना है । तत्र अकृतव्यके त्यागमे जो उपयोग होता है वह चारित्र क्यों नहीं है । जिस साधुने अपने व्रतोंमे दोष लगाया है उसका उन दोषोंसे विमुख होकर, हाँ, मैंने बुरा किया, या बुरा विचारा या उसमे अनु-मति दी, इस प्रकारके परिणामोको प्रतिक्रमण कहते हैं । आलोचना और प्रतिक्रमणको उभय कहते हैं । अतिचारमे निमित्त द्रव्य, क्षेत्र आदिका मनसे हटाना, उनमे अनादर भावका होना विवेक प्रायश्चित्त है । इस प्रकार विवेककी उपयोगिता है । जिसको छोड़ना कठिन है उस शरीर-से ममत्व न करना 'यह शरीर मेरा नहीं है, न मैं इसका हूँ' इस प्रकारकी भावना व्युत्सर्ग है वह भी परिग्रहके त्यागरूप उपयोग ही है अत. चारित्र है ।

अनशन आदि तप चारित्रके परिकर है—उसके सहायक है, यह पहले कहा ही है सदाप चारित्र अचारित्र ही है ऐसा बुद्धिके द्वारा निश्चित करके आत्मामे पूर्णताका लाना, खडे होना, वन्दना आदि क्रियाओमे असयमका परिहार करते हुए प्रवृत्त होना, ये सब भी चारित्रका परिकर है । दोष लगाने पर पुन. दीक्षा ग्रहण करना भी चारित्रमे उपयोग ही है । विनयके पाँच भेद है । उनमेसे ज्ञानविनय और दर्शनविनय ज्ञान और दर्शनके परिकर होनेसे तथा ज्ञान और दर्शनमे उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे अभिन्न है अत ज्ञान और दर्शनकी तरह उनका अन्तर्भाव चारित्राराधनामें होता है ।

इन्द्रियोंके विषयोमे राग द्वेषका तथा कषायोका त्याग, अनुचित वचन और कायकी क्रिया-का त्याग, तथा ईर्ष्या समिति आदिमे निर्दोष प्रवृत्ति चारित्रोपयोगरूप होनेसे चारित्रविनयका

परेषा तपविनय, तं विना सुतपसोऽभावात् तपसः परिकरता ऋया सपरिकरं हि तपश्चारित्रस्य परिकर । उपयोगी वा नान्या गतिरस्ति<sup>१</sup> (?) मन्यते । 'असदं चरतस्स' शाठ्यमतरेण वर्तमानस्य भवेत्तथा च चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा, वा आराधना स्यात् कस्मान्न निरूप्यते ।

पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारी प्रयोजनायत्तचेष्ट सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयतते नान्यथा, तत्कथमिय-  
माराधना व्याख्या प्रयोजिका<sup>२</sup> श्रवणस्येत्याशकाया, निर्वाणसुखस्याव्याबाधात्मकस्य पुरुषार्थस्योपायत्वप्रदर्शनेन  
आराधनाव्याख्या तदर्थिनामूपयोगिनी इत्येतत्प्रतिपादनायोत्तरप्रबंध<sup>३</sup> । अथवा व्यावर्णितविकल्पा या आराधना  
तस्या चेष्टा कर्तव्येतदाख्यानायोत्तरसूत्राणि, तथा चोपमहार. 'कावब्बा ऋ तवत्थं आबहिबगवेसिणा  
चेठ्ठा' इति ॥

अन्येऽत्र व्याचक्षते ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु किं प्रधानमिति चोचे चारित्रप्राधान्यख्यापनायोत्तरसूत्रमिति  
तदयुक्तम्—

णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं ।

चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ॥११॥

'णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं जहाखादं' इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्यां प्रधानं चारित्र्यं इति प्रतीतेरनु-

अन्तर्भाव चारित्र्यमें होता है । विगिष्ट तपस्विद्योगे और तपमे भक्ति तथा दूसरोंकी आसादना न,  
करना तपविनय है । उसके बिना सम्यक् तप नहीं हो सकता । अतः तपविनय तपका परिकर है ।  
और अपने परिकरके साथ तप चारित्र्यका परिकर है । उसके बिना गति नहीं है । जो कपट त्याग  
कर ऐसा करता है उसीके यह तप होता है । इस प्रकार आराधनाके चार, दो और एक भेद है ।

भावायं—चारित्र्य वही धारण करता है जो सुखको त्याग देता है । चारित्र्यमे उद्यम करना  
बाह्य तप है । इस तरह बाह्य तप चारित्र्यका परिकर है उसकी सहायक सामग्री है । और चारित्र्य-  
रूप परिणाम अन्तरग तप है । अन्तरग तपके भेद प्रायश्चित्त आदि पाप प्रवृत्तियोंको दूर करते है  
अतः तप चारित्र्यसे भिन्न नहीं है ॥११॥

पुरुष सोच-विचारकर काम करता है । उसकी चेष्टा प्रयोजनके अधीन होती है । प्रयोजन  
होने पर उसकी सिद्धिके लिये वह प्रयत्न करता है । प्रयोजन न होने पर नहीं करता । तब यह  
आराधनाका व्याख्यान कैसे उसका प्रयोजक है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते है बाधा-  
रहित मोक्ष सुख पुरुषार्थं है वह पुरुषका प्रयोजन है । जो मोक्ष सुखके अभिलाषी है उनको उसका  
उपाय बतलानेके लिये आराधनाका कथन उपयोगी है । यह बतलानेके लिए आगेका कथन करते  
है । अथवा जिस आराधनाके भेदोका कथन किया है उसमे चेष्टा करना चाहिये यह कहनेके लिये  
आगेका कथन है । इसीलिये ग्रन्थकारने उपसंहारमे कहा है कि आत्महितके अन्वेषकको उसके  
लिये चेष्टा करना चाहिये—

गा०—ज्ञानका और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र्य होता है । उस यथाख्यात चारित्र्यका  
सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण कहा है ॥ ११ ॥

टी०—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यमें कौन प्रधान है ऐसा

पपत्ते' । त्रयाणामपि कर्मापायनिमित्ततास्ति वा न वा ? यदि नास्तीत्युच्यते सूत्रविरोधः 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति सूत्रमवस्थितम् । अधोपायतास्ति ? परार्थतया गुणत्व त्रयाणामिति का प्रधानता चारित्रस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्रार्थे चारित्र तु न तदर्थमिति न युक्त वक्तुं ज्ञानदर्शनयो साध्यत्वात्तदुपायतया चारित्रस्य चारित्र तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्रमतरेण क्षायिकं ज्ञान, क्षायिक वीतरागसम्यक्त्व चोपजायते । तस्मात्पूर्वोक्त एव उत्तरप्रबंधक्रमः । इदं सूत्रं यथाख्यातचारित्रस्वरूपं तत्फलं च गदितुं आयातम् । णाणस्स दसणस्स य सारो' सारशब्दोऽत्रातिशयितगुणवचन । तथा प्रयोग —

“पद्धमंचि य विगलियमच्छरेण सुयणेण गहियसारम्मि ।

बोसं मोत्तण खलो गेल्लुउ कवम्मि कि अण्णं ॥” [ ]

प्रथममेव साधुजनेन विगलितमात्सर्येण गृहीतेऽतिशयितगुणे काव्ये दोष मुक्त्वा खल किमन्यद्गुल्लाति इति गाथायं ॥

ज्ञानदर्शनयोरतिशयितरूपं कि तन्मोहनीयजन्यकलंकरहित, 'चरण' चारित्र । 'हृवेन' । 'जहात्वाद' यथाख्यात । तथा चोक्तं—

'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्भोति णिहिट्ठो ॥

मोहक्खोहविहूणो परिणामो अप्पणो य समो ॥' [प्रव० सा० १।७] इति ॥

“मोहो त्रिविधो दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्च । तत्र दर्शनमोहजन्य अश्रद्धानं शकाकाशाविचि-

प्रश्न करने पर चारित्रकी प्रधानता बतलानेके लिये यह गाथामूत्र कहा है । किन्तु यह अयुक्त है क्योंकि 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' ऐसा कहने पर 'चारित्र ज्ञान और दर्शनसे प्रधान है' ऐसी प्रतीति नहीं होती । प्रश्न होता है कि ये तीनों कर्मोंके विनाशमें निमित्त है या नहीं ? यदि कहते हो नहीं है तो मूत्रमें विरोध आता है क्योंकि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है' ऐसा सूत्र है । यदि तीनों मोक्षके उपाय हैं तो परार्थ-परके लिये होनेसे तीनों गौण हो जाते हैं तब चारित्रकी प्रधानता कैसी ? यदि कहोगे कि ज्ञान और दर्शन चारित्रके लिये है चारित्र ज्ञानदर्शनके लिये नहीं है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि साध्य ज्ञान और दर्शन है । उनका सिद्धिका उपाय चारित्र है । अतः चारित्र ज्ञान दर्शनके लिये है तब वह अप्रधान क्यों नहीं हुआ ? चारित्रके बिना न तो क्षायिक ज्ञान होता है और न क्षायिक वीतराग सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । इसलिये जो पूर्वमें उत्तरगाथाके क्रमके सम्बन्धमें कहा है वही युक्त है । यह गाथामूत्र यथाख्यात चारित्रका स्वरूप और उसका फल कहनेके लिये आया है ।

'णाणस्स दसणस्स य सारो' यहाँ सार शब्द सतिशय गुणका वाचक है । इस अर्थमें उसका प्रयोग देखा जाता है । किसी कविने कहा है—प्रथम ही मात्सर्य भावसे रहित साधुजनोंके द्वारा काव्यका सार ग्रहण कर लिये जाने पर दोषके सिवाय दुर्जन और क्या ग्रहण करे । यहाँ 'सार' शब्दका प्रयोग सातिशय गुणके अर्थमें ही किया गया है ।

प्रश्न होता है कि ज्ञान और दर्शनका सातिशय रूप क्या है ? तो वह है मोहनीयसे उत्पन्न होने वाले कलंकसे रहित यथाख्यात चारित्र । कहा है—

'निश्चयसे चारित्र धर्म है और धर्म समभावको कहा है । तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम सम है । मोहके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह । उनमेंसे दर्शनमोहसे



किरसान्यदुष्टिप्रशसासस्तवरूप । चारित्रमोहजन्यौ रागद्वेषौ तदनुष्मिभ्रं ज्ञानं दर्शनं च यथाख्यातचारित्र-  
मिस्युच्यते” इति सूत्रार्थः । ‘**चरणस्स**’ चारित्रस्य, ‘**तस्स**’ तस्य, यथाख्याताख्यस्य, ‘**सारो**’ अतिशयित फलं  
साध्यसाधनलक्षणसंबंधनिमित्ता षष्ठीय तेन साध्यफलं लब्धं, सारशब्दस्तु तस्यातिशयमाचष्टे । ततोऽप्यमर्थो  
जातः यथाख्यातचारित्रस्य फलमतिशयितमिति । किं तत् ‘**निर्वाणं**’ **निर्वाणं** विनाशः । तथा प्रयोगः—निर्वाण-  
प्रदीपो नष्ट इति यावत् । विनाशमागम्यमूपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दस्य चरणशब्दस्य निर्जातिकर्मघातन-  
सामर्थ्याभिधायिनः प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति । स च कर्मणा विनाशो द्विप्रकारः, कतिपयप्रलयः सकल-  
प्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे—‘**अणुत्तरमिति**’ न विद्यतेऽन्यदुत्तरमधिक अस्मादित्यनुत्तर । ‘**भणिवं**’  
उक्त ‘**पषयणं**’ इति शेषः ।

अथवा ज्ञानश्रद्धानयोः फलं दुःखहेतुक्रियापरिहारः । यदत्र<sup>१</sup> च फलं तत्र सन्निहितो हेतुस्तत्तच्चारित्राग-  
नाया इतरान्तर्भाव<sup>२</sup> इत्यायातमिदं सूत्रं ‘**णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जथास्सार्वं**’ इति ॥ पापक्रिया  
दुःखहेतु तत्परिहारश्च अमति ज्ञाने श्रद्धाने वा न सम्भवति, क्वचिन्मनसो रजन अप्रीतिर्वा पापक्रियाभिनव-  
कर्मसंवरण चिरतननिरास च विदधाति चरणमदो युक्तमुच्यते ‘**चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं**’ इति ।

अश्रद्धान् उत्पन्न होता है । आत्मा, मोक्ष आदिके अस्तित्वमे शङ्का होना, विषयभोगोंकी इच्छा,  
धर्मात्माको देखकर ग्लानि, मिथ्यादृष्टीकी मनसे प्रशसा और वचनसे स्तुति करना ये सब उस  
अश्रद्धानके रूप है । चारित्रमोहसे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं । उनसे रहित ज्ञान और दर्शनको यथा-  
ख्यात चारित्र कहते हैं । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

उस यथाख्यात नामक चारित्रका सार अर्थात् सातिशय फल । यहाँ यह षष्ठी विभक्ति  
साध्य-साधनरूप सम्बन्धके निमित्तको लेकर है । उससे साध्यफलका बोध होता है । और ‘सार’  
शब्द उसके अतिशयको कहता है । अतः यह अर्थ हुआ कि यथाख्यात चारित्रका सातिशयफल  
निर्वाण है । निर्वाणका अर्थ विनाश है । कहा जाता है दीपकका निर्वाण हो गया अर्थात् दीपक  
नष्ट हो गया । इस तरह यद्यपि निर्वाण शब्दका अर्थ विनाशमात्र है तथापि उत्पन्न हुए कर्मोंको  
नष्ट करनेकी शक्तिवाले चारित्र शब्दका प्रयोग होनेसे कर्मोंका विनाश अर्थ लिया जाता है ।  
कर्मोंका विनाश दो प्रकारका है—कुछ कर्मोंका विनाश और सब कर्मोंका विनाश । यहाँ दूसरेका  
ग्रहण किया है क्योंकि ‘अणुत्तर’ शब्दका प्रयोग किया है । जिससे अधिक कोई नहीं है उसे अनुत्तर  
कहते हैं । ‘भणिवं’ अर्थात् आगममे कहा है ।

अथवा श्रद्धान् और ज्ञानका फल दुःखकी कारण क्रियाओका त्याग है । यहाँ जो फल है  
त्याग उसमे उसके हेतु ज्ञान और दर्शन समाविष्ट है । अतः चारित्रागधनामे अन्य आराधनाओका  
अन्तर्भाव होनेसे ‘ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यातचारित्र है’ यह गाथा सूत्र आया है ।

पापकर्म दुःखके कारण है । उनका त्याग ज्ञान और श्रद्धानके विना सम्भव नहीं है ।  
किसीमे मनका अनुरक्त होना और किसीसे द्वेष करना पापक्रिया है । चारित्र नवीन कर्मोंके आने-  
को रोकता है और पुराने कर्मोंका विनाश करता है । अतः उचित ही कहा है कि उस चारित्रका  
सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण है ॥११॥

**भाषार्थ**—रागद्वेषसे रहित ज्ञान और दर्शनको ही आगममे यथाख्यात चारित्र कहा है ।  
उसका सार निर्वाण अर्थात् समस्त कर्मोंका विनाश है । निर्वाणसे उत्कृष्ट अन्य नहीं है ॥११॥

१ यस्तच्च-आ० मु० । २. इतरैतरान्त-आ० मु० ।

यज्ज्ञान दुःखहेतुनिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टान्तमाह—

**चक्षुस्त्वस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं ।**

**चक्षुस्स होइ गिरत्थं दट्टट्ठण बिले पडत्तस्स ॥१२॥**

‘चक्षुस्त्वस्स दंसणस्स य सारो’ इति । ‘चक्षुस्त्वस्स’ चक्षुष । द्रव्येन्द्रियमिह चक्षुरिति गृहीत निर्वृत्तिष्व-  
करणं च तज्जन्मत्वाद् रूपगोचर विज्ञान दर्शन तस्य संबधितयोच्यते । ततोऽयमर्थो जायते—चक्षुर्जन्मान्या-  
प्रतीतेः सारो फल किं ‘सप्पादिवोसपरिहरणं’ सर्पकटकादीनां स्पर्शानादिक्रियायां दुःखदायिन्यां परिहार-  
सर्पादिभिः सपाद्भवान् स्पर्शनभक्षणानादिक क्रियाविशेष सर्पादिदोष इत्युच्यते, तस्य परिहरणं परिवर्जनं ततोऽयं  
वाक्यार्थः—यज्ज्ञानं तद्दुःखनिराकरणफलं यथा चक्षुर्जन्यसर्पादिगोचरज्ञानं सर्पादिस्पर्शनभक्षणानादिपरिहरणफल-  
मिति । चक्षुर्ज्ञानमिह चक्षुरुच्यते चक्षुः प्रसूतं ज्ञानं । ‘होइ’ भवति । ‘गिरत्थं’ निरर्थकं । ‘दट्टट्ठण’ दृष्ट्वा  
ज्ञात्वा विलादिकमप्रत स्थित, बिलप्रहणमुपलक्षणं उपाधातकारिणाम् । ‘पडत्तस्स’ पतत पुरुषस्य ।

**अत्रापरा व्याख्या—**ज्ञानादर्शनाच्चात्मपकारिविशिष्टफलदायिचारित्र इत्युक्तं । ननु ज्ञानमिष्टानिष्ट-  
मार्गोपदेशि तद् युक्तं ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातुं इति चेन्न ज्ञानमात्रेणोपेष्टार्थमिष्टं, यतो ज्ञानं प्रवृत्तिहीन  
असत्समं । अत्र वस्तुनि दृष्टान्तदर्शनेन निगमयति—‘चक्षुस्त्वस्स दंसणस्स य, इति । ज्ञानदर्शनाभ्यामपि  
चारित्रस्यात्मोपकारिता कस्मिन्सूत्रे निगदिता येनोक्तमित्युच्यते । अतीतसूत्र इति चैतन्मिथ्या भाषणस्स  
दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहासावं । इत्यतो वाक्यात्किं ज्ञानदर्शनाभ्यां चारित्र्येवोपकारिण्यय प्रत्ययो

दुःखके कारणोको दूर करना ज्ञानका फल है इस अन्वयको सिद्धिके लिए दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—चक्षुसे देखनेका सार सर्प आदि दोषोसे दूर रहना है । देखकर भी आगे वर्तमान  
साँपके बिलमे गिरनेवाले मनुष्यकी आँख व्यर्थ है ॥१२॥

टी०—यहाँ ‘चक्षु’ से निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रियका ग्रहण किया है । उससे  
उत्पन्न और रूपको जाननेवाले ज्ञानको यहाँ दर्शन कहा है । उसमे यद् अर्थ होता है—चक्षुसे  
होनेवाले ज्ञानका फल सर्प, कण्टक आदिकी दुःख देनेवाली क्रिया—काटना या परमे लगना  
आदिसे बचना है । गाथामे सर्पादिदोषसे बचना है । सो सर्प आदिके द्वारा किये जानेवाले स्पर्शन,  
काटना आदि क्रिया विशेषको सर्पादिदोष कहा जाता है । उसका परिहार फल है । तब वाक्यका  
अर्थ यह हुआ—जो ज्ञान है उसका फल दुःखका निराकरण है । जैसे चक्षुसे होनेवाले सर्पादिके  
ज्ञानका फल सर्पादिके स्पर्शसे उनके काटने आदिसे बचना है । यहाँ चक्षुमे चक्षुर्ज्ञान अर्थात् चक्षुसे  
होनेवाला ज्ञान लेना चाहिए । आगे स्थित साँपके बिल आदिको देखकर भी, जानकर भी, उसमें  
गिरनेवाले मनुष्यका, चक्षुर्ज्ञान, निरर्थक है ।

इस गाथाकी अन्य व्याख्याकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—‘ज्ञान और दर्शनसे चारित्र्य  
आत्माका विशेष उपकारी और विशिष्ट फलदायी है ऐसा कहा है । यदि कोई कहता है कि  
ज्ञान इष्ट और अनिष्टमार्गका दर्शक है अतः उसको उपकारी कहना युक्त है । तो उसका यह  
कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानमात्रसे इष्टकी सिद्धि नहीं होती, आचरणहीन ज्ञान ‘न हुए’ के  
समान है । यहाँ दृष्टान्तके द्वारा उसका समर्थन करते हैं ‘चक्षुस्त्वस्स दंसणस्स’ इत्यादि ?

इन व्याख्याकारसे हम पूछते हैं कि ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्र्य आत्माका विशेष उप-  
कारी है यह किस गाथासूत्रमे कहा है ? यतः आप कहते हैं—‘कहा है’ । यदि कहोगे कि पिछले

जायते ? एवमिति तदनुभवविरुद्धमाचरतीत्युपेक्ष्यते, न चेत्कथमुक्तमित्युच्यते । किंच तस्य सूत्रस्य या पातनिका कृता ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु किं प्रधानमित्यत्र प्रश्ने, प्रधानम्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यनया च विरुच्यते ।

चरणस्स तस्स सारो णिष्वाणमणुत्तर भणिय' इत्युक्त चारित्रस्य समतारूपस्य फलमशेषकर्मापाय इत्युक्त । कर्मापायो हि कथं पुरुषार्थं दुःखनिवृत्तिं सुखं चाभिमत फलमित्यारेकाया प्रधानपुरुषार्थस्य अखिल-बाधव्यपगमरूपस्य सुखस्य निबधनतयोपयोगितामाचष्टे सकलकर्मापायस्य—

**णिष्वाणस्स य सारो अब्बावाहं सुहं अणोवमियं ॥  
कायव्वा ह्नु तदट्ठं आदहिदग्गवेसिणा चेद्धा ॥१३॥**

'णिष्वाणस्स य सारो' इति । निरवशेषकर्मापायस्य सार फल । अब्बावाहं कर्मजन्यसकलदुःखापाय कारणाभावे कार्यस्य अनुत्पत्ते । 'अणोवमियं' उपमातीत । 'कावव्वा' कर्तव्या । 'चेट्ठा' चेष्टा । 'तदट्ठं' अव्याबाधसुखार्थम् । 'आदहिदग्गवेसिणा' आत्महित मृगयता । नव चेष्टा कार्या ? आराधनाया मृतावनतिचार-ज्ञानदर्शनचारित्र्यपरिणतिरूपाया । कस्मात् ?

**जम्हा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि ।  
मज्जस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तम्हा ॥१४॥**

'जम्हा' यस्मान् 'चरित्तसारो' चारित्रम्य ज्ञाने दर्शने पापक्रियानिवृत्ती च प्रयत्तस्य, चरण प्रवृत्ति

गाथासूत्रमे कहा है तो यह मिय्या कथन है 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' इस वाक्यसे 'ज्ञान और दर्शनसे चारित्र विशेष उपकारी है' ऐसा बोध होता है क्या ? यदि कहोगे 'होता है' तो आपका आचरण अनुभव विरुद्ध है अतः वह उपेक्षणीय है । यदि कहोगे 'नहीं होता' तो आपने ऐसा क्यों कहा ?

दूसरे, उस गाथासूत्रकी जो उत्थानिका है उसमें 'ज्ञान दर्शन चारित्रमे कौन प्रधान है' ऐसा प्रश्न करनेपर प्रधानका कथन करनेके लिए गाथासूत्र कहते हैं ऐसा कहा है, उसमें भी विरोध आता है ॥१२॥

'चरणस्स तस्स सारो' इत्यादिमे समतारूप चारित्रका फल समस्त कर्मोंका विनाश कहा है । किन्तु कर्मोंका विनाश पुरुषार्थ कैसे है ? दुःखकी निवृत्ति और सुखको फल कहा है ऐसी आशङ्का होनेपर ग्रन्थकार प्रधान पुरुषार्थ जो बाधरहित सुख है, उसका कारण होनेसे समस्त-कर्मोंके विनाशकी उपयोगिता बतलाते हैं—

गा०—निर्वाणका सार बाधरहित उपमारहित सुख है । अतः आत्महितके खोजीको उस अव्याबाध सुखकी प्राप्तिके लिए चेष्टा करना चाहिए ॥१३॥

टी०—समस्तकर्मोंके विनाशका फल कर्मजन्य समस्त दुःखोंसे रहित, उपमारहित सुख है । अतः आत्महितके खोजीको, उस बाधरहित सुखके लिये, चेष्टा करना चाहिए । अर्थात् निरतिचार ज्ञानदर्शनचारित्र्यकी परिणतिरूप आराधनाको अपनाना चाहिए ॥१३॥

गा०—क्योंकि प्रवचनमे चारित्रका फल आराधना कहा है । इसलिए समस्त प्रवचनका सार आराधना ही है ॥१४॥

टी०—ज्ञानमें, दर्शनमें, और पापकर्मसे निवृत्तिमें जो प्रयत्नशील है उसकी परिणतिको

परिणतिरिह चारित्रशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लब्ध 'सारः' फलमिति । 'भगिनी' कथिता ! 'आराहणा' आराधना मृतो अनतिचाररत्नत्रयता । 'पवयणमि' प्रोच्येत दृष्टेऽत्रमाणाविरुद्धेन जीवाद्य पदार्था अनेनास्मिन्वेति प्रवचन जिनागमस्तस्मिन् । अतिशयवत्ताराधनाया प्रकृताया उपसहस्युत्तराद्धेन सत्त्वस्स इत्यादिना । 'सत्त्वस्स' यमस्तस्य । 'पवयणस्स' जिनागमस्य । 'सारो' अतिशय । 'आराहणा' आराधना व्यावर्णितरूपा । 'तम्हा' तस्मात् । च शब्द एवकारार्थ । स चाराधनाशब्दान्परतो द्रष्टव्य आराधनेव सार इति ।

अन्यत्र व्याख्येय—यदिदमुक्त फ ३ एतच्चारित्रमात्राद्दुत विशिष्टाज्जायते इत्याह—जम्हा चरित्सारो इति । किं पातनिकार्थो गाथाया सवादमुपयाति न चैतीत्यत्र श्रोतार प्रमाण ॥१४॥

कस्मात् ? अतिशयवत्तयाराधनागमेऽभिहिता यस्मात्—

सुचिरमवि गिरदिचारं विहरिता णाणदंसणचरित्ते ॥  
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥१५॥

'सुचिरं' अतिचिरकालमपि । 'गिरदिचारं' अतिचारमत्रेण । 'विरहिता' विहृत्य । क्व ? 'णाणदंसणचरित्ते' ज्ञाने श्रद्धाने समताया च । 'मरणे' भवपर्यायविनाशकाले । विराधयित्ता रत्नत्रयपरिणामान्विनाशय मिथ्यादर्शनेऽज्ञानेऽयमे परिणतो भूत्वा । 'अणंतसंसारिओ' अनंतभवपर्यायपरिवर्तने उद्यत । 'दिट्ठो' दृष्ट । देशेन पूर्वकोटीकाल अनतिचाररत्नत्रयप्रवृत्तानामपि मरणकाले तत प्रच्युताना मुक्त्यभाव ससारं चिरपरिभ्रमणकथनव्याजेन दर्शन दर्शयति सूत्रकार ॥१५॥

यहाँ चारित्रशब्दसे ग्रहण किया है । तब यह अर्थ प्राप्त होता है कि चारित्रका फल, प्रवचनमे—जिसके द्वारा अथवा जिसमे जीवादिपदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमे अवरुद्ध कहे जाते है वह प्रवचन अर्थात् जिनागम है उसमे, आराधनाको कहा है । गाथाके उत्तरार्धद्वाग प्रकरण प्राप्त आराधनाकी अतिशयवत्ताका उपसंहार करते है—इस कारण मे समस्त जिनागमका सार आराधना है । गाथामे जो 'य' च शब्द है वह एवकार (ही) के अर्थमे है और उस आगधना शब्दके आगे लगाना चाहिए अर्थात् जिनागमका सार आराधना ही है ।

अन्यत्र इस गाथाकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—यह जो फल कहा है वह चारित्र सामान्यसे प्राप्त होता है या विशिष्टचारित्रमे प्राप्त होता है । इसके उत्तरमे आचार्यने 'जम्हा चरित्सारो' आदि गाथा कही है । हमारा प्रश्न है कि इस आपकी उत्पानिकाके अर्थका गाथाके साथ मेल खाता है क्या ? इस विषयमे श्रोतागण ही प्रमाण है । हम अधिक क्या कहे ॥१४॥

आगममे आराधनाकी अतिशयवत्ता क्यो कही है इसका समाधान करते है—

गा०—ज्ञान श्रद्धान और चारित्रमे बहुत कालतक भी अनिचार विना विहार करके मरणकालमे विराधना करके अनन्तभव धारण करनेवाला देखा गया है ॥१५॥

टी०—ज्ञानमे, दर्शनमे और समतारूप चारित्रमे सुदीर्घकालतक अतिचार रहित विहार करके भी अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्रका निर्दोष पालन करके भी जब उस पर्यायके विनाशका समय आवे अर्थात् मरने समय यदि रत्नत्रयरूप परिणामोको नष्ट करके मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असयमरूप परिणामोको अपनावे तो उसका ससार अनन्त होता है । अर्थात् कर्मभूमिमे मनुष्यपर्यायकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटी होती है । आठ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् सयम धारण करके कुछ कम एक पूर्वकोटिकालतक उसका निरतिचार पालन किया । किन्तु मरणकाल आनेपर

अनुपगतमिध्यात्वस्य अविचलितचारित्रम्यापि परीयहपरिभवादुपगतसकलेशस्य महती ससृतिरिति भयोपदर्शनेन संकलेशः परित्याज्य इति निगदति सूत्रकारः 'सभिबीसु य' इत्यादिना—

समिदिसु य गुचीसु य दंसणणाणे य णिरदिचारणं ।

आसादणबहुलाणं उक्कस्सं अंतरं होई ॥ १६ ॥

अन्ये व्याचक्षते—“उक्तस्यानतमसारम्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गाथा अनतस्यानतविकल्पत्वात् अनतविशेष प्रतिपादनीय” इति । अस्या व्याख्याया उक्कस्सं अंतरं होईत्येतावदुपयुज्यते । इतरस्य वचन-सदर्मस्य अनर्थकत्व प्रसज्यत इति । समिदिसु य सम्यगवनादिषु अघनं समितिः, सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्ति ममिति । सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं गुप्ति । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धान दर्शन । अगेतमिध्या-त्वकलङ्कस्यात्मनो वस्तुतत्त्वपरिज्ञान मत्यादिक्शायोपशमिक ज्ञान । क्षायिके मति ज्ञाने आसादनाया असम्भव । मोहजन्यत्वात्मकेशस्य, मोहस्य च केवलज्ञानोत्पत्ते प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोच्यते—‘मोहक्षयाज्ञानदर्शना-वरणाभ्यन्तरायक्षयाच्च केवलम्’ [ त० सू० १०।१ ] इति । वीतरागसम्यक्त्व चेह न गृहीतम् । मोहप्रलय-

उससे च्युत हो गया तो मसारमे चिक्कालतक भ्रमण करना पडता है । इस चिरकाल परिभ्रमणके बहानेसे सूत्रकार उसकी मुक्तिका अभाव बतलाते है ॥१५॥

जो मिध्यात्वभावको प्राप्त नहीं हुआ है जिसका चारित्र भी निश्चल है फिर भी यदि वह परीषद्मे घबराकर सकलेशभावको प्राप्त होता है तो उसका संसार मुदीर्ष है, ऐसा भय दिखलाकर ग्रन्थकार सकलेशको त्यागनेका उपदेश देते हैं—

गा०—समितियोमे और गुप्तियोमे और दर्शन और ज्ञानमे जो अतिचार रहित प्रवृत्ति करते है । किन्तु मरणकाल आने पर परीषद्के भयसे समिति आदिमे वारम्बार दोष लगाते हुए सकलेश परिणाम करते है उनका अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर होता है । अर्थात् मरते समय रत्नत्रयसे च्युत होकर पुन उतना काल बीतने पर रत्नत्रय प्राप्त करते है ॥१६॥

टीका—अन्य व्याख्याकार कहते है कि 'ऊपर जो अनन्त ससार कहा है उसका प्रमाण बतलानेके लिए यह गाथा आई है । क्योंकि अनन्तके अनन्त भेद होते है अत अनन्तविशेषका कथन करना आवश्यक था । इस व्याख्यामे 'उत्कृष्ट अन्तर होता है' गाथा के इस अन्तिम चरण-की उपयुक्तता तो होती है, किन्तु शेष वचन रचना निरर्थक पड जाती है । अस्तु ।

सम्यक् अयनको समिति कहते है । सम्यक् अर्थान् श्रुतज्ञानमे कहे गये क्रमके अनुसार चलने आदिमे प्रवृत्ति करना समिति है । सावद्य योगोसे अर्थात् सदोष मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे आत्माका गोपन अर्थान् रक्षण करना गुप्ति है । वस्तुका जंसा स्वरूप है वैया ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । मिध्यात्वरूप कलकसे रहित आत्माके वस्तुतत्त्वके परिज्ञानको मति आदिरूप क्षायोपशमिक ज्ञान कहते है । यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानको ही लेनेका हेतु यह है कि क्षायिकज्ञानके होते उसमे दोष लगाना असम्भव है । क्योंकि सकलेश मोहके उदयसे होता है और मोहकर्म केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है । कहा भी है—‘मोहके क्षयसे तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान होता है ।’

यहाँ दर्शनेसे वीतराग सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि मोहका नाश हुए बिना वीतरागता नहीं होती ।

मन्तरेण वीतरागता नास्तीति । ईयांसमितेरतिचार मदालोकगमन, पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनम्, अन्यगतचित्तादिकम् । इद वचन मम गदितु युक्त न वेति अनालोच्य भाषण, अज्ञात्वा वा । अत एवोक्तं 'अपुटो दु ग भासेञ्ज भासमाणस्त अंतरे' इति । अपुष्टश्रुतधर्मतया मुनि अपुष्ट इत्युच्यते । भाषासमितिक्रमानभिज्ञो मोक्षं गृह्णीयात् इत्यर्थ । एवमादिको भाषासमित्यतिचार । उद्गमादिदोषे गृहीत भोजनमनुमनन वचसा, कायेन वा प्रशसा, तै सहवास, क्रियासु प्रवर्तन वा एषणासमित्यतीचार । आदातव्यस्य, स्थाप्यस्य, वा अनालोचन, किमत्र जतवः सन्ति न सन्ति वेति दुःप्रमाज्जनं च आदाननिक्षेपसमित्यतिचारः । कायभूम्यशोधन, मलसपातदेशानिरूपणादि, पवनसनिवेशदिनकरादिषूक्तमेण वृत्तिश्च प्रातिष्ठापनासमित्यतिचार । असमाहितचित्ततया कार्याक्रियानिवृत्ति कायगुप्तेरतिचार । एकपादादिस्थानं वा जनसचरणदेशे, अनुभयानामिभिविष्टस्य वा निश्चलता । आप्ताभासप्रतिविबाभिमुखतया वा तदारगधनाव्यापृत इवावस्थान । सचित्तभूमौ सपतन्सु समंतत अधोपेयु महति वा वाते हरितेषु, रोषाद्वा दर्पाद्वा तृष्णी अवस्थान निश्चलता स्थिति. कायोत्सर्गं कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममताया अपरित्याग कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचार । रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचार । 'शंकाकाशाविचिकित्सान्यवृष्टिप्रशंसासंस्तवः सम्यग्दर्शनातीचाराः । द्रव्यक्षेपकालभावशुद्धिमन्तरेण श्रुतस्य पठन श्रुतातिचार । अक्षरपदादीना न्यूनताकरण, अतिवृद्धिकरण, विप-

मन्द प्रकाशमे चलना, पैर रखनेके स्थानको अच्छी तरह न देखना, गमन करते समय चित्तका उपयोग अन्यत्र होना, ये ईयांसमितिके अतीचार है । यह वचन मुझे कहना युक्त है अथवा नहीं, ऐसा विचार किये बिना बोलना, या बिना जाने बोलना । इसीमे कहा है—'बोलने-वालेके बीचमे बिना समझे नहीं बोलना चाहिये ।' ऐसे मुनिको जिसने शास्त्रकी बातको पुष्ट रूपसे नहीं सुना है अपुष्ट कहा है । अपुष्ट मुनिको बीचमें नहीं बोलना चाहिये । भाषासमितिके क्रमसे जो अनजान है उसे मौन ले लेना चाहिये । इत्यादि भाषा समितिके अतीचार हैं । उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचन से उसकी अनुमति देना, कायसे उसकी प्रशसा करना, ऐसे मुनियोंके साथ रहना, या क्रियाओमें उनके साथ प्रवृत्ति करना, एषणासमितिके अतीचार है । जो वस्तु ग्रहण करने योग्य या रखने योग्य है, उसे ग्रहण करते या स्थापित करते समय 'यहाँ जन्तु है या नहीं' ऐसा नहीं देखना या पिच्छिकासे सावधानता पूर्वक प्रमाज्जन न करना आदाननिक्षेप समितिके अतीचार है । शरीर और भूमिका शोधन न करना, मलत्याग करनेके स्थानको न देखना आदि प्रातिष्ठापना समितिके अतीचार है । चित्तके असावधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगुप्तिका अतीचार है । जहाँ मनुष्य आते जाते हैं वहाँ एक पैर आदिसे खड़े होना, अशुभ ध्यानमे लीन होकर निश्चल होना, मिथ्या देवताओकी मूर्तिके सम्मुख ऐसे खड़े होना मानों उनकी आराधनामे लगे है, सचित्त भूमिमे जहाँ चारो ओर हरित वनस्पति फैली है, क्रोध या घमण्डसे मौनपूर्वक निश्चल खड़े होना कायगुप्तिके अतीचार है ।

जो कायोत्सर्गको कायगुप्ति मानते है उनके पक्षमे शरीरसे ममत्वको न छोड़ना अथवा जो कायोत्सर्गके दोष कहे है वे कायगुप्तिके अतीचार है । स्वाध्यायमे रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतीचार है । शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशसा, सस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी शुद्धिके बिना श्रुतका पठना श्रुतका अतीचार है । अक्षर

रीतपौर्वापर्यरचनाविपरीतार्थनिरूपणा गद्यार्थयोर्वैपरीत्य असी ज्ञानातिचारा । उक्तानिचारविगमो निरति-  
चारता चारित्रादीनाम् ।

मरणकाले रत्नत्रयपरिणामाभावे दोष उक्त । इदानीमाराधनाफलतिशयव्यापनायाह—

**दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खण्णेण सिद्धा य ॥**

**आराहया चरिचस्म तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥**

**दिट्ठा** इत्यादिक । 'दिट्ठा' दृष्टा उपलब्धा । 'अणादिमिच्छादिट्ठी' अनादिमिथ्यादृष्टय । भट्टणा-  
दया राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्ना अत एवानादिमिथ्यादृष्टय प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसारा-  
समारोपितरत्नत्रया । 'जम्हा' यस्मात्क्षणेन क्षणग्रहण कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम्, अन्यथा क्षणस्याल्पकालतया  
कर्मशातनम्य कर्तृमशक्यत्वात्, सकलकर्मशातनपुरस्कार मिद्धत्वमेव न स्यात् । 'सिद्ध य' मिद्धाश्च परिप्राप्ताशेष-  
ज्ञानादिस्वभावा, चशब्देन निरस्तद्रव्यभावकर्ममहतयश्च, दृष्टा आराधनामपादका । **चरिचस्म** चारित्रस्य ।  
चारित्रग्रहण रत्नत्रयोपलक्षण । एतेन चारित्राराधनां स्तौति इत्येतद्वाख्यान निरस्त । चारित्राराधनास्तवनम्य  
नाय प्रस्ताव । **आपुरंते** रत्नत्रयपरिणतिरिह प्रकांता स्तोतुं, किमुच्यते चारित्राराधनां स्तौतीति ।

पद आदिको कम करना या उनको दढाना, आगेको पीछे और पीछेके पाठको आगे करके पौर्वापर्य  
रचनामे विपरीतता करना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ और अर्थमे विपरीतता करना, ये ज्ञानके  
अतोचार है । चारित्र आदिमे कहे अतिचारोको न लगाना निरतिचारता है ।

**विशेषार्थ—**प० आशाधरने अपने मूलाराधना दर्पणमे लिखा है कि जयनन्द इस गाथाको  
पूर्वकी गाथाकी संवादगाथा मानते है ॥१६॥

मरते समय रत्नत्रयरूप परिणामोंका अभाव होनेमे दोष कहा । अब आराधनाके फलका  
अतिशय कहते है—

**गा०—**क्योंकि रत्नत्रयके आराधक अनादिमिथ्यादृष्टि क्षणमात्रमे अर्थात् अल्पकालमे द्रव्य-  
कर्म भावकर्मसे रहित सिद्ध देखे गये है । इसलिये आराधना सार है ॥१७॥

**टीका—**भट्टण आदि राजपुत्रोने उसी भवमे त्रसपर्याय प्राप्त की थी । अतएव वे अनादि-  
मिथ्यादृष्टि थे । उन्होने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे धर्मका सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया  
था और क्षणमात्रमे सिद्धत्व पद प्राप्त किया था । यहाँ 'क्षण' शब्दका ग्रहण कालकी अल्पताके  
उपलक्षणके लिये किया है । अन्यथा 'क्षण' बहुत छोटा काल है उतने कालमे समस्त कर्मोंका  
नाश करना अशक्य है और तब समस्त कर्मोंके विनाशपूर्वक होनेवाला सिद्धत्व ही प्राप्त नहीं हो  
सकता । जिन्होने समस्त ज्ञानादिस्वभावको प्राप्त कर लिया है और 'च' शब्दसे द्रव्यकर्म और  
भावकर्मोंके समूहको नष्ट कर दिया है उन्हें सिद्ध कहते है । यहाँ चारित्रका ग्रहण रत्नत्रयका  
उपलक्षण है ।

अत जो 'चारित्राराधनाका स्तवन करते है' ऐसा व्याख्यान करते है उसका निरास कर  
दिया है । यह प्रकरण चारित्राराधनाके स्तवनका नहीं है । यहाँ तो आयुके अन्त समयमे रत्नत्रय-  
रूप परिणतिका स्तवन है । तब चारित्राराधनाके स्तवनकी बात क्यों करते है ।

**भाषार्थ—**अनादिकालसे मिथ्यात्वका उदय होनेसे नित्यनिगोदपर्यायमे रहकर भद्र-विवर्द्धन  
आदि ९२३ भरतचक्रवर्तीके पुत्र हुए और उन्होने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे धर्म सुनकर

'सम्बन्धस्य पवयणस्य य सारो आराहणा तन्हा' इति यदुच्यते, यस्मिन्नेव काले मरणं तस्मिन्नेव काले रत्नत्रयपरिणतेन भाव्य हितार्थिना अन्यथा किमिति चारित्रं तपसि स प्रयास क्रियते इति शिष्यशकामुपन्यस्यति सूत्रकारः—

जदि पवयणस्स मारो मरणे आराहणा ह्वदि दिट्ठा ।

किंदाइं सेसकाले जदि जददि तवे चरिचे य ॥ १८ ॥

जदि पवयणस्स इत्यादिना । 'पवयणस्स' प्रवचनस्य । 'सारो' अतिशय इति । 'मरणे' आयुरते । 'आराहणा' आराधना रत्नत्रयपरिणति । 'जदि दिट्ठा' इति पदमवयव । यद्युपलब्धा । 'ह्वदि' भवेत् । 'किंदाइं' किमिदानी । 'सेसकाले' मरणकालादन्य काल शेषकालस्तत्र 'जदि' प्रयत्न क्रियते । न च 'तवे' तपसि, 'चरिचे' सामायिकादिके मावद्यक्रियापरिहारात्मके । चशब्दानु ज्ञानदर्शनयोश्च । एतदुच्यते भवति— ग्रहणकालादियु भावितरत्नत्रयव्यापि मरण तदभावे यदि सिद्धि, अकृतभावसंस्थापि मृती रत्नत्रयसालिध्यात्सा सिद्धिर्यदि भवति मरणधना मा महती समृत्तिमावहति । अन्यथा जातायामपि विराधनाया मृतिकाले रत्नत्रयोपगतौ ससारोच्छ्रित्तं भवत्येव । ततो मरणकाले प्रयत्न कार्यं इत्यस्माभिरुपन्यस्त । इतरकालवृत्तं तु रत्नत्रय मवरनिर्जरयोर्घातिकर्मणा च क्षयनिमित्त इतीष्यत एव । तथा श्लोकः—'सम्यग्दृष्टिश्चावकाशविरतानंतविषयोऽक-  
दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसत्येयगुणनिर्जराः' [त०गू० १।४५] इति ।

रत्नत्रय धारण किया और अल्पकालमे ही सिद्धपद प्राप्त किया । इसमे सिद्ध होता है कि आयुके अन्तमें आराधना सर्वोत्कृष्ट है ॥१७॥

यदि 'समस्त प्रवचनका सार आराधना है' तो जिस कालमें मरण हो उसी कालमे अपना हित चाहनेवालेको रत्नत्रय धारण करना चाहिए, अन्यकालमे चारित्र और तपमे प्रयास क्यों किया जाये ? शिष्यकी इस शकाको गाथासूत्रकार उपस्थित करते है—

शा०—प्रवचनका अतिशय आयुके अन्तमे आराधना यदि देखी जाती है । तो क्यों इस समय मरणकालमे अन्यकालमे यति तप चारित्र और ज्ञानदर्शनमे यत्न करता है ? ॥१८॥

टीका—गाथामे आये 'च' शब्दमे ज्ञान और दर्शन लेना चाहिए । कहनेका आशय यह है कि मरणकालसे भिन्नकालमे अर्थात् दीक्षा ग्रहण शिक्षाकाल आदिमे रत्नत्रयका पालन करनेपर भी यदि मरणकालमे उसका पालन न किया जाये तो मुक्तिको प्राप्ति नहीं होती, और अन्यकालमे रत्नत्रयकी भावना न करके भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेमे वह मुक्ति यदि प्राप्त होती है तब तो मरणकालमे होनेवाला रत्नत्रय ही मोक्षका कारण हुआ । अत शेषकालमे उनका प्रयास करना निष्फल हुआ ।

इसका उत्तर देते है—मरण समय जो रत्नत्रयकी विराधना है वह ससारको बहुत दीर्घ करती है । किन्तु अन्यकालमे विराधना होनेपर भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेपर ससारका उच्छेद होता ही है । अत मरणकालमे प्रयत्न करना चाहिए यह हमने कहा है । अन्य कालोमे धारण किया गया रत्नत्रय सबर, निर्जरा और घातिकर्मोंका क्षय करनेमें निमित्त होता है इसलिए उसे हम स्वीकार करते ही है । तत्त्वार्थसूत्रमे कहा है—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि अनन्तानुबन्धी-  
कषायका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशम श्रेणीवाला, उपशान्तमोह, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोह और जिन इनके क्रमसे असंख्यातगुनी असख्यातगुनी निर्जरा होती है ।



एतेषामसंख्यातगुणनिर्बरा' सम्यग्दर्शनादिगुणनिमित्तात्कथमफलता । क्षायिक सम्यक्त्व ज्ञानं चारित्रं च यत्साध्यं तदखिलमवाप्स्यत एव इतरकालवृत्त्यापि भावनया ।

तदेव चोद्यं चोद्यते इति चेतसि कृत्वा सूरिश्चोद्यानुसारेणापि परिहर्तुं शक्यते इत्याचष्टे—

**आराहणाए कज्जे परियम्म सन्वदा वि कायव्वं ।**

**परियम्मभाविदस्स हु सुहसज्झाराहणा होइ ॥ १९ ॥**

आराहणाए कज्जे इति । आराधनाशब्दः सम्यग्दर्शनादिपरिणाममर्माद्विमनाश्रितकालभेदा प्रतिपादयितु उद्यतोऽपि मरणे विधायित्वा इत्यत्र मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकरणानुरोधेन तद्विषयायामेवाराधनायां गृह्यते । ततोऽयमर्थः—मृतिकालगोचररत्नत्रयसिद्धयर्थं 'परियम्मं' परिकर्म परिकर । 'सन्वदा' सर्वस्मिन्नपि काले—ग्रहणकाल, शिक्षाकाल, प्रतिसेवनाकाल सल्लेखनाकालरचेह मर्षशब्देन गृह्यते । 'करणिव्वं' अवश्य-करणाय । कुतोऽयं नियोग इत्याशङ्क्याह—'परिकम्मभाविदस्स' 'सु' परिकरेण भावितस्यैव 'सु' शब्दोऽवधारणार्थः । 'सुखसज्झा' होदि' मूलेन क्लेशमत्तरेण माध्या भवति । का 'आराधणा' आराधना मूर्तिगोचरा ।

येन हि यत्प्राप्य तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यमुं अर्थं दृष्टान्तबलेन साधयितुमुत्तरमूत्रम् । तथा च वदति 'दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्बिवादे साध्य प्रसिद्धचेत्' [स्वयम्भू० स्तो० ५४] इति ।—

**जह रायकुलपसूओ जोग्ग णिच्चमवि कुणइ परियम्मं ।**

**तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविसिदि हि ॥ २० ॥**

तो जब इनके सम्यग्दर्शन आदि गुणोके निमित्तसे असंख्यात गुणो निर्जरा होती है तो वे निष्फल कैसे है ? जो साध्य है क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य वह सब, अन्यकालमे की गई रत्नत्रय भावनामे प्राप्त होता ही है ॥१८॥

उक्त गाथामे उठाये गये तर्कको मनमे रखकर आचार्य तर्कके अनुसार भी उसका परिहार हो सकता है यह कहते है—

गा०—आराधनाके कार्यके लिये परिकर्म सभी कालमे करना चाहिये; क्योंकि परिकर्म करने वालेके ही आराधना सुखपूर्वक साध्य होती है ॥१९॥

टी०—यद्यपि आराधना शब्द कालभेदका आश्रय न लेकर सम्यग्दर्शन आदि परिणामोको सम्यक् सिद्धिको कहता है तथापि १५ वीं गाथामे 'मग्णे विगधयित्ता' ऐसा कहनेसे मरणकाल विशेषके प्रस्तुत होनेसे प्रकरणके अनुरोधसे मरणकाल सम्बन्धी आराधनाके अर्थमे यहाँ लिया गया है । तब यह अर्थ होता है—मरते समयके रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सर्वदा, ग्रहणकाल, शिक्षाकाल, प्रतिसेवनाकाल और सल्लेखना काल इन सब कालोमे परिकर्म अर्थात् सम्यक्त्वादि अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि जो अन्यकालोमे भी रत्नत्रयके परिकरका पालन करता है उसीके मरते समयकी आराधना सुखपूर्वक होती है ॥१९॥

जो व्यक्ति जिस कामको सिद्ध करना चाहता है उसे पहले उसकी साधन सामग्रीका आयोजन करना चाहिये, इस बातको दृष्टान्तके बलसे साधन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं । क्योंकि समन्तभद्र स्वामीने कहा है कि वादी और प्रौर प्रतिवादीमें विवाद हो तो दृष्टान्तकी सिद्धि होने पर साध्यकी सिद्धि होती है—

'बहू' यथा । 'राजकुलपुत्रो' राजपुत्र । 'जोग' योग्य । प्रहरणक्रियाया 'परियम्मं' परिकर्म परिकर । 'णिच्चमवि' समरकालात्प्राक् प्रतिदिवसमपि । 'कुणवि' करोति । 'तो' तत् पञ्चान् । 'जिदकरणो' क्रियते रूपाविमोचर । विज्ञप्तय एभि रिति करणानि इद्विद्याप्युच्यते श्वचित्करणशब्देन । अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यवतिसायितं साधक तत्करणमित साधकतममात्रमुच्यते । क्वचित्तु क्रियासामान्यवचन यथा 'डुकृञ् करणे' इति । अत्र क्रियावाची गृहीत । जितशब्दश्च स्ववशीकरणवृत्तिस्तथा जितभार्यं स्ववशीकृतभार्यं इति गम्यते । तेनायमर्थः स्ववशीकृतक्रिय. सन् 'जुड्' युद्धे समरे. 'कम्ममत्थो' कर्मममर्थ । कर्मशब्दो ज्ञेकार्थ । मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमादकषायैर्ज्ञानप्रतिबन्धादिसामर्थ्याद्यासितानि क्रियते इति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । कर्तुं क्रियया व्यापकत्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा 'कर्मणि द्वितीयेति' । तथा क्रियावचनोऽपि अस्ति, किं कर्म करोषि ? का क्रियामित्यर्थः । इह क्रियावाची गृहीत । सा चात्र क्रियाऽव्यवनप्रहरणताडनादिका तस्या 'समत्थो भविस्सवि' समर्थो भविष्यामीति । यो यत्साधयितुं वाछति न तत्पङ्क्तिर्मणि प्राक् प्रयतने, यथा रिपून्निहन्तुकामो हनन-कर्मोपाय अस्त्रशिक्षा करोति इत्येतावानर्थो दशितोऽजया गाथया ।

इदानीं हेनो पक्षधर्मयोजनायाह—

**इयसामण्णं साधु वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं ।**

**तो जिदकरणो मरणे ज्ञाणसमत्थो भविस्सहदि ॥ २१ ॥**

गा०—जैसे राजपुत्र योग्य शस्त्र प्रहारका अभ्यास युद्धकालसे पहले प्रतिदिन भी करता है । पश्चात् शस्त्र प्रहार रूप क्रियाको अपने अधीन करके युद्ध करनेमें समर्थ होता है ॥२०॥

टी०—जिनके द्वारा रूपादि विषयक ज्ञान क्रिया जाता है उन्हें करण कहते हैं । इस प्रकार कही 'करण' शब्दसे इन्द्रियां कही जाती हैं । अन्यत्र क्रियाकी निष्पत्तिमें जो सर्वाधिक साधक होता है उसे करण कहते हैं । साधकतमको करण कहा है । कही पर करण शब्द क्रिया सामान्यका वाचक है जैसे 'डुकृञ् करणे' । यहाँ करण शब्द क्रियावाची ग्रहण क्रिया है । और 'जित' शब्दका अर्थ अपने वशमें करना है । जैसे 'जितभार्यं' शब्दमें भार्याको अपने वशमें करने वाले पुरुषका बोध होता है । अतः 'जितकरण' का अर्थ क्रियाको अपने वशमें करने वाला होता है ।

इसी तरह 'कम्मसमत्थो' में कर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं । मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायके द्वारा ज्ञानको रोकने आदिकी शक्तिसे युक्त जो किये जाते हैं उन ज्ञानावरण आदिको कर्म कहते हैं । तथा कर्ताकी क्रियाके द्वारा व्यापक होने रूपसे जो विवक्षित होता है उसे भी कर्म कहते हैं । जैसे 'कर्म' में द्वितीया विभक्ति होती है' । कर्म शब्द क्रियावाचक भी है । जैसे क्या कर्म करते हो अर्थात् क्या क्रिया करते हो । यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची लिया है । यहाँ मारना, प्रहार करना आदि क्रिया ली गई है ।

जो जिसको साधन करना चाहता है वह पहले उसके परिकर्ममें लगता है जैसे जो शत्रुओं को मारना चाहता है वह मारनेके उपाय अस्त्र शिक्षामें लगना है । इतना अर्थ इस गाथासे बतलाया है ॥२०॥

अब उक्त दृष्टान्तकी योजना प्रकृत चर्चामें करते हैं—

गा०—इसी प्रकार साधु भी ध्यानका परिकर्म जो (सामण्ण) श्रामण्य है उसे नित्य भी

१ भविस्सवि—मु० ।

इय सामण्णमिदि । 'इय' एव । 'सामण्ण' समणस्स भावो सामण्ण समता इत्यभियुक्ता निश्चित-  
मनाह । भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययी इति भावशब्देन द्रव्यशब्दस्य वृत्ती 'निमित्तभूतो गुण उच्यते । तथा  
चोक्तम्—'यस्य गुणस्य भावाद्द्रव्यो शब्दनिर्देशस्तदाभिधाने त्वतलाविति', ततोऽनापि समण इत्यस्य शब्दस्य जीवो  
प्रवृत्तो किं निमित्त गुण समता, वव जीविते, मरणे, लाभेऽलाभे, सुखे, दुःखे, बधुपु, रिपो च । एतेषु राग-  
वचिक्त्वचिदद्वेषवासमानता, तदुभयाकरण जीवितादिस्वरूपपरिज्ञान समचित्तता । अर्थयाधात्प्राहित्वेन  
जीवितादिविषयाणा ज्ञानाना ममता । जीवित नाम प्राणधारण तदायुरायत न ममेच्छया वर्तते, सत्यामपि  
तस्या प्राणानामनवस्थानान् । सर्वं हि जगदिच्छति प्राणानामनपाय न च तेष्वतिष्ठते । मरण नाम इन्द्रियादि-  
प्राणैर्म्यो विगम आत्मन । तथा चोक्तम्—'मूढ प्राणत्यागो' [ ] इति । त्यागो हि वियोग आत्मन सकाशात्-  
प्राणाना पृथग्भाव । स चायु मज्जिताना पुद्गलाना अशेषगलनात् । अत्र द्रव्येन्द्रियाणा उपघातकशरादिद्रव्य-  
सपाताद्भवेन्द्रियस्य चोपयोमस्य विनाश तदा वरणोदयात् । तदुदयात् च लब्धेरभाव । वीर्यान्तरायोदया-  
त्त्रिविधबलप्राणहानि । मुखस्य नासिकायाश्च विधानात् श्लेष्मादिनावरोधात् उच्छ्वामनिश्वासहानि ।  
अभिमत्तस्य लाभो लाभातरायक्षयोपशमात् । अलाभरतदुदयात् । सुख नाम प्रीति सद्बोधोदयात् अभिलषित-  
विषयानान्नि यान् । दुःख तु बाधात्मकमसद्बोधोदयहेतुकम् । बधवो नाम न नियता केचन सन्ति । समूतो

करता है, कि इसके पश्चान् मनको वशमे करके मैं मरते समय ध्यानमे समर्थ होऊँगा ॥२१॥

टी०—समणके भावको सामण्ण कहते है ऐसी निश्चित विशेषज्ञाने की है । 'सामण्ण'का अर्थ  
समता है । द्रव्य शब्दमे प्रवृत्तिका निमित्त जो गुण होता है उसे भाव शब्दसे कहते है । कहा भी  
है—जिस गुणके होनेसे द्रव्यमे शब्दका निवेश होता है उसके वाचक शब्दसे त्व और तल प्रत्यय  
होते है । यहाँ भी समण शब्दकी जीवमे प्रवृत्तिका गुण समता है अर्थात् समता गुणके कारण ही  
जीवको समण कहा जाता है । जीवनमे मरणमे, लाभमें अलाभमें, सुख और दुःखमे, बन्धुमे और  
शत्रुमे समान भावको समता कहते है । और इनमे किसीसे राग और किसीसे द्वेष करना असमा-  
नता है । और राग-द्वेषका न करना तथा जीवन आदिके स्वरूपको जानना समचित्तता है । जीवन  
आदि विषयोंके ज्ञान यथार्थप्राही होनेसे समतारूप है ।

प्राणधारणको जीवन कहते है । वह आयुके अवीन है मेरी इच्छाके अधीन नहीं है । मेरी  
इच्छाके होने पर भी प्राण नहीं ठहरते । सर्व जगन चाहता है कि हमारे प्राण बने रहे । किन्तु वे  
नहीं रहते । आत्माके इन्द्रिय आदि प्राणोंके चले जानेको मरण कहते है । कहा भी है—मूढ धातु  
प्राणत्यागके अधीन है । त्याग वियोगको कहते है । आत्मासे प्राणोंका पृथक् होना वियोग है । वह  
आयुक्रम सम्बन्धी पुद्गलोकके पूर्णरूपमे समाप्त होनेसे होता है । उपघातक वाण आदिके लगनेसे  
द्रव्येन्द्रियोंका विनाश होता है और उपयोगरूप भावेन्द्रियका विनाश जानावरणके उदयसे होता  
है । उसीके उदयसे लब्धिरूप भावेन्द्रियका विनाश होता है । वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे मनोबल,  
बचनबल और कायबल रूप प्राणोंकी हानि होती है । मुख और नाकको बन्द करनेसे या जुखाम-  
से उनकी रुकावट होनेसे श्वासोच्छ्वास प्राणकी हानि होती है । लाभान्तरायके क्षयोपशमसे इष्ट  
वस्तुका लाभ होता है और उसके उदयसे लाभ नहीं होता । मुख प्रीतिको कहते है वह सातावेद-  
नीयके उदयसे इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे होता है । दुःख बाधारूप होता है उसमे असाता वेदनीयका

परिभ्रमत उपकारापेक्षा हि ते । यदि त एव अन्यथा कृतापकारा इति किन्नारयः ? अरयोऽपि कदाचिद्दु-  
पपादितानुग्रहा इति किं न बध्व ? अपि च स्नेहस्य सर्वासयममूलस्य हेतुतया सन्मार्गप्रतिबधकारितया च ते  
एव महाशत्रवः । किं च पुण्योदयादेव सपद्यते सकल सुख सुखहेतुवस्तुसाधिय च । विपुण्यस्य न ते किञ्चिर्वापि  
कतुं क्षमा । न च कुर्वन्ति । तथा हि—मातर त्यजति पुत्र सा च सुत । तथाऽसत्यसद्वेद्योदये न कश्चित्कि-  
ञ्चिदप्यपकार करोति । बाह्या हि शत्रवो नाम्यतरकर्मणि असति पीडामुपजनयन्ति । इत्येवभूता सर्वत्र सम-  
चित्ता सामण्य । 'साधू वि' साधुरपि । 'कुणवि' करोति । 'णिञ्चमवि' नित्यमपि सर्वदापि । 'जोगपरिकम्म  
योगशब्दोऽनेकार्थः । 'योगनिमित्त ग्रहण' इत्यात्मप्रदेशपरिस्पद त्रिविधवर्गणामहायमाचष्टे । क्वचित्सबधमात्र-  
वचन 'अस्यानेन योग' इति । न्वचिद्विधानवचन यथा 'योगस्थित' इति । इहाय परिगृह्यते । ततो ध्यान-  
परिकर करोतीति यावत् । रागद्वेषमिध्यात्वासहिल्लट अर्थयाथात्म्यस्वधि प्रतिनिवृत्तविषयातरसंचार ज्ञानं  
ध्यानमित्युच्यते । अभावितसमानभावोऽनधिगतवस्तुसद्भावश्च न ध्यातु क्षम इति भाव । 'तो' तत पश्चा-  
जितकरणो' इत्यत्र करणशब्द अत करणे मनसि वर्तते । ततोऽयमर्थ स्ववशीकृतचित्तोऽह मरणे भवपर्यायिनाश  
वेलाया । 'शाणसमत्थो' ध्यानस्वैकाग्रचिन्तानिरोधस्य । ध्यानशब्दोऽत्र प्रशस्तध्यानविषये ग्राह्यो नाऽशुभ-  
योर्नारकतिर्यग्नातिनिवर्तनप्रवणयो । योगे परिकर्मणि सदात्मन प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता धर्मशुक्लयोनिवर्तने  
'समत्थो' शक्त 'भविस्सति' भविष्यामीति ॥

उदय हेतु है । बन्धु कोई नियत नहीं है । ससारमे भ्रमण करते हुए जीवका जो उपकार करते हैं वे बन्धु कहे जाते हैं । यदि वे ही कभी अपकार करते हैं तो शत्रु हो जाते हैं । शत्रु भी कभी-कभी उपकार करते हैं तो वे बन्धु बयो नहीं है ? तथा स्नेह समस्त असयमका मूल हेतु और सन्मार्गमे रुकावट डालने वाला है । अत जिन्हे हम बन्धु मानते हैं वे ही महाशत्रु है । तथा पुण्यकर्मके उदयसे ही सर्व सुख और सुखकारक वस्तुओंकी प्राप्ति होती है । जो पुण्यहीन है उसका सुखके साधन भी कुछ नहीं कर सकते । माता पुत्रको त्याग देती है और पुत्र माताका त्याग देता है । तथा असाता वेदनीयके उदयके अभावमे कोई किञ्चिन् भी अपकार नहीं कर सकता । अभ्यन्तर कर्मके अभावमे बाह्य शत्रु पीडा नहीं पहुँचाने । इस प्रकारसे सर्वत्र समचिन्तताको सामण्य कहते हैं । 'जोगपरिकम्म'मे योग शब्दके अनेक अर्थ हैं । 'योगनिमित्त ग्रहण' यहाँ मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होने वाले आत्माके प्रदेशोके हलनचलनको योग कहा है । कही योग शब्दका अर्थ सम्बन्धमात्र है । जैसे 'इसका इसके साथ योग है ।' कही योगका अर्थ ध्यान है । जैसे 'योगस्थित' मे योगका अर्थ ध्यान है । यहाँ योगका अर्थ ध्यान लिया है । राग-द्वेष और मिध्यात्व से अछूते, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले और अन्य विषयोंमे संचार न करने वाले ज्ञानको ध्यान कहते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जिसने समानताकी भावना नहीं भायी है और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाना ह वह ध्यान नहीं कर सकता । 'जितकरणो' मे करण शब्द अन्तःकरण मनके अर्थमे है । अत यह अर्थ हुआ कि 'मरते समय मेरा चित्त मेरे वशमे है' । 'शाण-समत्थो' मे ध्यान शब्दका अर्थ एक ही विषयमे चिन्ताका निरोध करना है । यहाँ ध्यानसे प्रशस्त ध्यान ग्रहण करना, नरक गति और निर्यञ्जगतिमे ले जाने वाले अशुभ ध्यान नहीं लेना । योगके परिकर्ममे तो आत्मा सदा लगा रहता है अत उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पडता । यहाँ योगसे शुभध्यान लिया गया है । अत उसका परिकर्म—अभ्यास करना होता है जिससे मरते समय मे

कृतपरिकरो राजपुत्रं व्यधनादिकासु क्रियासु उपगतकौशल क्रिया प्रहरणादिका सपाद्य यथाफलं प्राप्नोति इति एतदुत्तरगाथावच्छेदे जोगाभाविद इत्यनया—

जोगाभाविदकरणो सच्चू जेदूण जुद्धरंगम्मि ।

जह सो कुमारमल्लो रज्जवडायं बला हरदि ॥२२॥

जोगाभाविदकरणो परिक्रमणा असकृत्प्रवृत्तितव्यधनताडनप्रहरणादिक्रिये । आभावित इत्यत्राह भूशार्थे प्रयुक्त । तथा च प्रयोग—आधूमित भृश धूमन परिपूर्णमित्यर्थ । 'सच्चू' शत्रून् । 'जेदूण' जित्वा । 'जुद्धरंगम्मि' युद्धार्थं संस्कृता देशो युद्धरंगमित्युच्यते तत्र । 'जह' यथा । 'सो' स भावितात्मा । 'कुमार-मल्लो' प्राणिना कालकृतोऽवस्थाविशेषो द्वितीय कुमारत्व नाम । तद्योगाद्राजपुत्र कुमार स एव मल्ल । 'रज्जवडाय' राज्यध्वज । 'बला' बलात्कारेण । 'हरदि' हरति गृह्णाति ॥२२॥

दाष्टान्तिके योजयितु उत्तरगाथा—

तह भाविदसामण्णो मिच्छत्तादी रिबू विजेदूण ।

आराहणापडायं हरह सुसंथारंगम्मि ॥२३॥

'तह भाविदसामण्णे' इति । 'तह' तयैव राजपुत्रवदेव । 'भाविदसामण्णे' भावितसमानभाव । पुत्रमिति शेष । 'मिच्छत्तादी' मिथ्यात्वमयमकषायशुभयोगा इत्येतान् । 'रिबू' रिपून् । 'विजेदूण' भृश जित्वा । विशब्दो भूशार्थे प्रयुक्त । यथा विबुद्धो मल्ल भृश वृद्ध इति यावत् । अथवा 'विजेदूण' नानाप्रकार जित्वा यथा विचित्रमिति नानाचित्रमिति यावत् । एकान्तमिथ्यात्व, सशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व धर्म और शुक्ल ध्यान करनेमे समर्थ हो सकूँ ॥२१॥

'जैसे अभ्यास किया हुआ राजपुत्र लक्ष्यको वेधने आदिकी क्रियामें कुशलता प्राप्त करके शस्त्रप्रहार आदिके द्वारा राज्य लाभ करता है' यह आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जैसे अभ्यासके द्वारा बार-बार लक्ष्यवेध शस्त्रप्रहार आदि क्रियामें दक्ष वह योद्धा राजपुत्र युद्धभूमिमें शत्रुको जीतकर राज्यके ध्वजको बलपूर्वक हरता है ॥२२॥

टी०—'जोगाभाविदकरणो' में आभावित शब्दमें जो 'आ' है उसका अर्थ बार-बार या बहुत अधिक है । जैसे 'आधूमित' का अर्थ धुँएँसे अच्छी तरह भरा हुआ है । जो स्थान युद्धके लिए तैयार किया गया हो उसे युद्धरंग कहते हैं । प्राणियोंकी कालकृत जो दूसरी अवस्था विशेष होती है उसे कुमार अवस्था कहते हैं । उस अवस्थाके सम्बन्धसे यहाँ राजपुत्रको कुमार कहा है । अर्थात् जैसे युद्धमें दक्ष राजपुत्र शत्रुको जीतकर बलपूर्वक उसकी राज्यपताका हर लेता है वैसे ही आगे इस दृष्टान्तको दाष्टान्तिकमें लगानेके लिए उत्तरगाथा कहते हैं—

गा०—उस राजपुत्रकी ही तरह पूर्वमें समानभावका अभ्यासी साधु मिथ्यात्व आदि शत्रुओं-को पूरी तरहसे जीतकर शोभनीय सस्तरूपी रंगभूमिमें आराधनारूपी पताकाको ग्रहण करता है ॥२३॥

टी०—मिथ्यात्व आदिमें आदि शब्दसे मिथ्यात्व असयम, कषाय और अशुभयोग लेना । 'विजेदूण' में 'वि' शब्दका अर्थ बहुत या पूरी तरह है । जैसे 'विबुद्धो मल्ल' का अर्थ बहुत अधिक बड़ा हुआ योद्धा है । अथवा 'विजेदूण' का अर्थ 'नानाप्रकारसे जीतकर' होता है । जैसे विचित्रका अर्थ नानाचित्र होता है ।

इत्यनेकधा मिथ्यात्वपरिणामाः स्थिताः । तथैकान्तमिथ्यात्व नाम वस्तुनो जीवादेर्नित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकम् । असदुत्पत्त्या सतो निरोधे वा अनित्यता भवति । न चामत उत्पत्तिर्यदि स्याद्दशगन्तकुसुम-  
दिक किन्नोपजायते ? असत्त्वाविशेषे खकुसुमादिघटादेश्च घटादिक उपजायते न धियन्कुसुमादिक इत्यत्र न  
नियामक हेतु पश्याम । न च मद्दिनश्चति, विनाशो ह्यसत्त्व, भावाभावौ हि परम्परपरिहाराभ्य तलक्षणौ  
नैकता यात । न भावोऽभावः भवति, इत्थमममत्वं उत्पादनिरोधयोरभावान्नित्यत्वतावर्तयते इति इदमैक  
मिथ्यात्व । एतस्य जय उच्यते—न नित्यतैव वस्तुनो रूप, अनित्यताया अपि प्रमाणमभिधगम्यत्वान् । गगद्धं प-  
मिथ्यात्वमणयविपर्ययादीना आत्मनि सता पदचादनुभवप्रतिगटापितममत्वमनुभवोपनोत<sup>१</sup> चासत्त्व प्रागनुभूताना-  
मित्यनित्यता । पुद्गलद्रव्यस्यापि मेघादेर्वर्णान्यथाभाव आन्नफलादीना रूपरसगंधाद्यन्वयाभावश्च प्रत्यक्षग्राह्योऽ-  
शक्यापन्वह । तथानुमानप्राप्त्यश्च—यत्नत्तत्सर्वं नित्यानित्यात्मक यथा घटस्तथा च जीवादिक सदिति कारणाना  
प्रतिनियतजननत्वभावकार्यत्वात् । घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युत्पत्ति न खरविषाणादे । न च भावाभावयो-  
विरोध एकस्मिन्वस्तुन्येकदा प्रवृत्ते रूपरसादीनामिव । अपररूपेणासत्त्व सति विद्यते न वा । यद्यस्ति न  
विरोध, न चेत्सर्वानिकता । न ह्यभावो नाम भावादन्वय । अपि तु भावस्यैव रूपान्तरम् । ततोऽन्यन्तो

एकान्तमिथ्यात्व, सशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व, इत्यादि मिथ्यात्वपरिणाम अनेक  
प्रकार है । जीवादि वस्तुका स्वभाव नित्यता ही है, अनित्यता नहीं है इसे एकान्तमिथ्यात्व कहते  
हैं । असन्की उत्पत्ति नहीं होती । यदि होती है तो आकाशका फूल क्यों नहीं उत्पन्न होता ? जब  
आकाशका फूल और घट दोनों ही असत् है तो घटादि तो पैदा होंते हैं और आकाशका फूल  
पैदा नहीं होता, इसमें कोई नियामक हेतु हम नहीं देखते । तथा सत्का विनाश नहीं होता ।  
विनाश कहते हैं असत्त्वको । किन्तु भाव और अभाव दोनों भिन्न हैं, दोनोंके लक्षण भिन्न हैं । वे  
कभी एक नहीं हो सकते । भाव-अभाव नहीं होता । इस प्रकार असत्त्वमें उत्पाद और विनाशका  
अभाव होनेसे नित्यता ही ठहरती है । यह एक मिथ्यात्व है । अब इसको जीतनेका कथन  
करते हैं ।

वस्तुका रूप केवल नित्यता ही नहीं है, अनित्यताका भी प्रमाणसे बोध होता है । राग,  
द्वेष, मिथ्यात्व, सशय, विपर्यय आदि आत्मामे पहले सत् प्रतीत होते हैं । पीछे अनुभवके द्वारा  
उनका असत्त्व प्रतिष्ठापित होता है । तथा पहले उनका आत्मामे अनुभव होता है और पीछे  
अनुभवसे ही उनका असत्त्व ज्ञात होता है । इसलिए ये अनित्य हैं । पुद्गलद्रव्य मेघ आदिका रूप  
भी बदलता देखा जाता है । आप्रफल आदिमे रूप, रस, गन्ध आदिका बदलना प्रत्यक्ष देखा जाता  
है । उसका लोप करना अशक्य है । तथा अनुमान प्रमाणसे भी उसका ग्रहण होता है, जो इस  
प्रकार है—जो सत् है वह सब नित्यानित्यात्मक है, जैसे घट । उसी तरह जीवादि भी सत् होनेसे  
नित्यानित्यात्मक है । कारणोका स्वभाव प्रतिनियत कार्योको ही उत्पन्न करना है । घटादिके  
उत्पन्न करनेवाले कारण है इसलिए उनकी उत्पत्ति होती है । गधेके सींग जैसे असम्भव कार्योको  
उत्पन्न करनेवाले कारण नहीं है इसलिए उनकी उत्पत्ति नहीं होती । तथा भाव और अभावमें  
कोई विरोध नहीं है, रूप रस आदिकी तरह एक वस्तुमें दोनों एककालमें रहते हैं । जो वस्तु  
सत् है वह अपनेसे भिन्न वस्तुकी अपेक्षा असत् है या नहीं ? यदि है तो भाव अभावमें विरोध  
नहीं रहा । और यदि कहोगे कि नहीं है तो वह वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी; क्योंकि उसमें किसी

नित्यसर्वकान्तवाद इति । एवभूतया तत्त्वषड्वया पराभूयते नित्यमेवेति मिथ्यात्वम् । (तथा क्षणिकमेव सर्वं कथं कार्यकारि, यद्वस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहोऽभावलक्षण) कार्यकारिता च न नित्यस्य । कथं तद्वि नित्य स्वसं पाद्य क्रमेण वा कुयोद्युगपदेव वा ? न तावत्क्रमेण कार्यात्मलाभस्य कारणस्वभावसामिन्ध्यमात्रपराधीनत्वात् । सर्वं कार्यप्रादुर्भूतिहेतूनां सामर्थ्यानां सदा सामिन्ध्यत्वात् कुत कार्याणां क्रम । समर्थहेतुभावेऽप्यभावं न तत्स्य कार्यं स्यात् । यथा सन्निहितैः यवबीजेऽनुपजायमानस्य शाल्यकुरस्य न यवबीजकार्यता । युगत्करोति चेत् द्वितीयादी क्षणेऽकिञ्चित्करता स्यान्न च तथा दृश्यते । इत्थं नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्याभावात्, अनित्ये सद्भावात् क्षणिकमेवेत्यध्यवसायो मिथ्यात्वमेव । तस्य जय उच्यते—सत्य सर्वथा नित्ये वस्तुलक्षणे नास्त्युक्त्या तीत्या नित्याऽनित्यात्मके तु मभद्विनी कार्यकारिता । एकान्तेन क्षणिकत्वं वस्तुनो यदि रूपं कार्यकारिता नास्ति । एकस्य वस्तुन एकमेव रूपं नापरमिति प्रतिज्ञानात् । एवमन्यत्रापि योज्यं एकान्तमिथ्यात्वजय । सशयमिथ्यात्व वस्तुस्वरूपावधारणात्मकं तस्य जय कथंचिन्नित्यानित्यात्मका सर्वे भावा इति भावनया । विपर्ययमिथ्यात्व हिमाया दुर्गतित्वित्या स्वर्गादिहेतुतादिसिजानाम्, अहिंसायाश्च प्रत्यपायहेतु-

वस्तुका अभाव नही है । अभाव भावसे भिन्न नहीं है । किन्तु भावका ही रूपान्तर अभाव है । अत एकान्तनित्यवाद अयुक्त है । इस प्रकारकी तत्त्वश्रद्धासे 'नित्य ही है' यह मिथ्यात्व हट जाता है ।

तथा सब क्षणिक भी कैसे कार्यकारी है ? वस्तुमें सब सामर्थ्यका अभाव तो अभावका लक्षण है इसपर बौद्ध कहता है—

नित्यपदार्थ कार्यकारी नहीं है । वह नित्यपदार्थ अपना कार्य क्रमसे करता है अथवा एकसाथ करता है ? क्रमसे तो कार्य कर नहीं सकता क्योंकि कार्यको उत्पत्ति कारण स्वभावमात्रके अधीन है । जब नित्यपदार्थमें सब कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्तियाँ सदा वर्तमान हैं तब कार्य क्रमसे कैसे हो सकते हैं ? समर्थकारणके रहने हुए भी यदि कार्य नहीं होता तो उसे उम कारणका कार्य नहीं माना जा सकता । जैसे जी बीजके रहने हुए भी उमसे धानका अकुर नहीं उगता । अत धानका अकुर जीबीजका कार्य नहीं होता । यदि कहोंगे कि नित्य एकसाथ सब कार्यो को उत्पन्न करता है तो दूसरे आदि क्षणोंमें वह नित्यपदार्थ अकिञ्चित्कर हो जायेगा, क्योंकि सब कार्य पहले क्षणमें ही उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमें उसे करनेके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहेगा । किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । इस प्रकार नित्यवस्तुमें वस्तुका लक्षण कार्यकारीपना नहीं बनता । अत अनित्यमें कार्यकारीपना होनेसे सब क्षणिक ही है । जैन कहते हैं—इस प्रकार निश्चय करना भी मिथ्यात्व ही है । अब उस मिथ्यात्वको जीतनेका उपाय कहते हैं—

यह सत्य है कि उक्तनीतिके अनुसार सर्वथा नित्यवस्तुमें कार्यकारिता नहीं है किन्तु नित्या-नित्यात्मकवस्तुमें कार्यकारिता है । यदि वस्तुका स्वरूप सर्वथा क्षणिकता है तो उसमें कार्य-कारीपना नहीं है । क्योंकि आपने एकवस्तुका एक ही रूप माना है दूसरा नहीं माना । इसी प्रकार अन्यत्र भी एकान्तमिथ्यात्वको जीतनेकी योजना करनी चाहिए ।

वस्तुके स्वरूपका कुछ भी निश्चय न करना सशयमिथ्यात्व है । सब पदार्थ कथंचित् नित्यानित्यात्मक है इस भावनासे उसको जीतना चाहिए । दुर्गतिमें ले जानेवाली हिंसाको

तेति एतस्य जय' । परोक्षस्योपायोपेयभावस्य अप्रत्यक्षत्वात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभाविनस्तत्रावृत्ते । आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीत उपेयोपायतत्त्वस्य ख्यापक आश्रयणीय । कपिलादीनामसर्वज्ञतया न तत्प्रणीत आगमोद्भूटप्रतिपत्ताद्युपाय' । तदसर्वज्ञता दृष्टेष्टप्रमाणविरुद्धवचनतया रथ्यापुरुषवत् । नित्यस्तु न शब्दो विद्यते । यदि स्यात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषदोषानुपश्लिष्टतास्तौति प्रामाण्य भवेत् ततो जिनागमेन हिंसाया दुःखहेतुत्वप्रतीतिर्विपर्ययमिथ्यात्वप्रसिद्धि तस्य जय अविपरीतज्ञानेन । 'आराधनापढाय' आराधनापताका । 'हरवि' गृह्णाति । 'सुसंधाररंगमि' शोभनाभस्तररगे उद्गमाविदोषानुपहृतता शोभनता ॥

चिरमभावितरत्नत्रयाणामतर्मुहूर्तकालभावनाना सिद्धिरूप्यते तर्कि चिरभावनयेत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पुचमभाविदजोगो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई ।

खण्णुगदिदुठंतो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ॥२४॥

'पुच' पूर्व मरणकालात् । 'अभावितजोगो' अभावितपरिकर । 'आराधेज्ज' आराधयेत् । किं मरणं रत्नत्रयानुगतभवपर्यायप्रलय । 'जदि वि' यद्यपि । 'कोई' कश्चित् । 'खण्णुगदिदुठंतो' स्यानुदुष्टान्त । 'सो' स । 'तं खु' तदेव । अकृतपरिकरस्य कस्यचिद्रत्नत्रयसमापन्न । 'सव्वत्थ' सर्वत्र । 'ण पमाण न पमाण । अर्थाख्यानमत्र वाच्यम् ॥२४॥

एव पीठिका समाप्ता ॥

स्वर्गादिका हेतु मानना और अहिंसाको दुर्गंतिका कागण मानना विपर्ययमिध्यात्व है । इसकी जयका उपाय कहते हैं—

उपायपना और उपेयपना परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है । प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला अनुमान भी उन्हें नहीं जान सकता । रागद्वेषसे रहित सर्वज्ञके द्वारा कहा गया आगम ही उपाय और उपेयभावको बतलाता है उसीका आश्रय लेना चाहिए । कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं थे । अतः उनके द्वारा कहा गया आगम अदृष्टको जाननेका उपाय नहीं है । कपिलादिके वचन सडकपर घूमते आदमीकी तरह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्ध है अतः वे सर्वज्ञ नहीं हैं । तथा यह कहना कि वेद नित्य है ठीक नहीं है क्योंकि शब्द नित्य नहीं होता । यदि शब्द नित्य हो तो सभी शब्दोंके नित्य होनेसे पुरुषोंके दोष उसमें नहीं प्रवेश कर सकते अतः सभी शब्द प्रमाण मानने होंगे । अतः जिनागमसे प्रसिद्ध है कि हिंसा दुःखका कारण है अतः उसे सुखका कारण मानना विपर्ययमिध्यात्व है । अविपरीत सच्चे ज्ञानसे उसको जीता जाता है ॥२३॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि जिन्होंने चिरकाल तक रत्नत्रयकी भावना नहीं भायी है, केवल अन्तर्मुहूर्तकालतक ही रत्नत्रयकी आराधना की है, उनकी भी मुक्ति मानी जाती है तब आप चिरकाल भावनाकी बात कैसे करते हैं, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—मरण समयसे पहले ध्यानके परिकरका अभ्यास न करनेवाला यद्यपि कोई मरते समय आराधना करे तो वह स्थानुदुष्टान्मात्र है । सर्वत्र (पमाणं ण) प्रमाण नहीं है ॥२४॥

टी०—जैसे यदि किसीको किसी दूँठमेंसे अचानक धनका लाभ हो जाये तो उसे सर्वत्र प्रमाण नहीं माना जाता । उसी तरह यदि किसीने मरनेसे पूर्व रत्नत्रयका अभ्यास नहीं किया और कदाचित् मरते समय किया और उसे सिद्धि प्राप्त हो गई तो उसे सर्वत्र प्रमाणके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥२४॥

इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ॥



मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे ॥

तत्थ वि य पच्च इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥२५॥

मरणान्यनेकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्दिष्टानि । तेष्विह निरूप्याणीमानोति निरूपयितुं इदमुत्तरं सूत्रं मरणाणीति । मरण विगमो विनाश विपरिणाम इत्येकोऽर्थः । तच्च मरणं जीवितपूर्वम् । जीवित स्थिति-रविनाशोऽवस्थितिरिति यावत् । स्थितिपूर्वको विनाशः । यदस्थितिकं तन्न विनश्यति यथा बन्ध्यामुत । तथा च स्थितिरहितं वस्तु क्षणिकवादिनिरूप्यं जीवितं जन्मपुरोग अनुत्पन्नस्य स्वित्यभावात् । तत् उत्पत्तिविगमो ध्रौव्यं च सर्वेषां रूपाणि । अस्या च प्रक्रियाया मरणं नामोत्पन्नपर्यायविनाशः । देवत्व, तिर्यक्त्व, नारकत्व, मनुष्यत्व, इत्यमीषा पर्यायाणां प्रथमं इह मरणशब्दवाच्यं । अथवा प्राणपरिन्त्यागो मरणः । तथा चाभ्युपार्थि-भूङ् प्राणत्यागो इति । एवमेव प्राणग्रहणं जन्म, प्राणानां धारणं जीवितं । प्राणा द्विविधा द्रव्यप्राणा भाव-प्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, बल, उच्छ्वास, आयुरित्येतानि पुद्गलद्रव्याणि । भावप्राणा ज्ञानदर्शन-चारित्र्याणि । एतत्प्राणापेक्षया सिद्धानां जीवितं । तत्रायुर्द्विभेद अद्वायुर्भवायुरिति च । भवधारणं भवायुर्भव शरीरं तच्च धियते आत्मना आयुष्कोदयेन । ततो भवधारणमायुष्कार्यं कर्म तदेव भवायुरित्युच्यते । तथा चोक्तम्—

देहो भवोति बुच्चवि धारिज्जइ आउणेण य भवो तो ।

तो बुच्चवि भवधारणमाउपकम्म भवाउत्ति ॥ [ ]

शा०—जिनागममे तीर्थङ्करोने मरण सत्तरह कहे हैं । उन सत्तरह प्रकारके मरणोमेसे भी यहाँ (संगहेण) सक्षेपसे पाँच मरणोको कहूँगा ॥२५॥

दी०—मरण अनेक प्रकारके है ऐसा अन्य शास्त्रोमे कहा है । उनमेसे यहाँ इन मरणोंको कहना है यह बतलानेके लिए यह गाथासूत्र आया है । मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम इन सब शब्दोका अर्थ एक है । वह मरण जीवनपूर्वक होता है । जीवन, स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ये सब एकार्थक है । स्थितिपूर्वक विनाश होता है । जिसकी स्थिति नहीं है उसका विनाश नहीं है जैसे बौद्धका पुत्र नहीं होता तो उसका विनाश भी नहीं होता । क्षणिकवादी बौद्धोने जिस वस्तुको कहा है उसकी स्थिति नहीं है अर्थात् वह वस्तु ही नहीं है । जीवन जन्मपूर्वक होता है । जो उत्पन्न नहीं हुआ उसकी स्थिति नहीं है । इसीलिए प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यरूपको लिए हुए है । इस प्रक्रियाके अनुसार उत्पन्न हुई पर्यायके विनाशका नाम मरण है । देवपना, तिर्यञ्चपना, नारकपना और मनुष्यपना इन पर्यायोका विनाश यहाँ मरणशब्दमे लिया है । अथवा प्राण छोडनेका नाम मरण है । कहा भी है—'मूडधातु' प्राणत्यागके अर्थमे है । इसी तरह प्राणग्रहणको जन्म कहते हैं । प्राणोको धारण करना जीवन है । प्राणोके दो भेद हैं—द्रव्य-प्राण और भावप्राण । इन्द्रिय पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये पुद्गलद्रव्य द्रव्यप्राण है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भावप्राण है । इन भावप्राणोकी अपेक्षा सिद्धोंमें जीवन होता है । उन प्राणोमे आयुप्राणके दो भेद हैं—अद्वायु और भवायु । भवधारणको भवायु कहते हैं । भव शरीरको कहते हैं । आयुक्रमके उदयसे आत्मा भवधारण करता है । अत आयुक्रम भवधारणरूप है उसे ही भवायु कहते हैं । कहा भी है—शरीरको भव कहते हैं । वह भव आयुक्रमके द्वारा धारण किया

इति आयुर्वशीनेष जीवो जायते जीवति च आयुष एवोदयेन । अन्यास्यायुष उदये मति मृतिमुपैति पूर्वस्य चायुष्कस्य विनाशे ।

तथा चोक्तम्—

आउगवसेण जीवो जायति जीवति य आउगस्सुदये ।

अण्णाउगोदये वा मरति य पुब्बाउणासे वा ॥' इति ॥ [ ]

अद्वाशब्देन काल उच्यते, आउगशब्देन द्रव्यस्य स्थिति । तेन द्रव्याणां स्थितिकाल अद्वायुरित्युच्यते । 'द्रव्याद्यपिषया द्रव्याणामनाद्यनिधनं भवत्यद्वायु । पर्यायाद्यपिषया चतुर्विध भवत्यनाद्यनिधनं, साध्यनिधनं सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति । चैतन्यरूपादिमत्त्वगतिस्थितिहेतुत्वादिसामान्यापिषया अनाद्यनिधना स्थिति । केवलज्ञानादिकाना साद्यनिधनता । भव्यत्वस्य अनादिसनिधनता । सादिसनिधनता कोपादीनाम् । अथवा द्रव्य-क्षेत्रकालभावानाश्रित्य चतुर्विधा भवति स्थिति । एतस्याद्वायुषो वशीन भवधारणायुषो निरूपणा भवति । आयु-सज्जिताना कर्मणा पुद्गलद्रव्यतया आयु-स्थितेन द्रव्यस्थितेरत्यन्तान्यथात्व । अथवा अनुभूयमानायु मज्जकपुद्गल-गलन मरण । तानि मरणानि 'सत्तरस' 'सप्तदश' । 'द्वैसिद्धानि' 'कथितानि' । 'तित्थकरोहि' तीर्थकरं । 'जिण-वयणे' जिज्ञाना वचने । ननु तीर्थकरैरुक्तानि इत्यनेनैव गतं किं जिणवचनग्रहणं ? नैव दोष जिणशब्देन गणधरा जाता है । इसलिए भवधारणमे कारण आयुक्रमको भवायु कहते है ।

इस प्रकार आयुके वशसे ही जीव जन्म लेता है और आयुके उदयसे ही जीवित रहता है । पूर्व आयुका विनाश और आगेकी अन्य आयुका उदय होनेपर मरण होता है ।

कहा है—आयुके वशसे जीव जन्म लेता है । आयुके उदयमे जीवित रहता है । अन्य आयुका उदय होनेपर अथवा पूर्वआयुका नाश होनेपर मरता है ।

अद्वाशब्दसे काल कहा जाता है और आयुशब्दसे द्रव्यकी स्थिति । अत द्रव्योके स्थिति-कालको अद्वायु कहते है । द्रव्याधिकनयकी अपेक्षा द्रव्योकी अद्वायु अनादिनिधन है । और पर्या-याधिककी अपेक्षा चार प्रकार की है—अनादिअनिधन, सादिअनिधन, अनादिमान्त और सादि-सान्त । चैतन्य, रूपादिमत्ता, गतिहेतुता, स्थितिहेतुता आदि सामान्यकी अपेक्षा द्रव्योकी स्थिति अनादि अनिधन है अर्थात् जीवादिद्रव्योका अपना-अपना स्वभाव सदासे है और सदा रहेगा अतः वे सब इस दृष्टिसे अनादिअनन्त है । केवलज्ञान आदिकी अद्वायु सादिअनिधन है क्योंकि वह प्रकट होकर नष्ट नहीं होता । भव्यत्वकी अद्वायु अनादिसनिधन (सान्त) है क्योंकि भव्यत्व भाव यद्यपि अनादि होता है किन्तु मुक्त होनेपर नष्ट हो जाता है । कोप आदि सादि सनिधन है ।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयमे स्थिति चार प्रकारकी होती है । इस अद्वायुके द्वारा भवधारणरूप आयुका कथन होता है । जिन कर्मोंकी आयुसज्ञा होती है वे कर्म-पुद्गलद्रव्यरूप होनेसे आयुस्थिति द्रव्यस्थितिसे अत्यन्त भिन्न नहीं है । अथवा जो आयु सज्ञावाले पुद्गल उदयमें आ रहे है उनके गल जानेको मरण कहते है । वे मरण जिणवचनमे तीर्थङ्करोने सतरह कहे है ।

शङ्का—तीर्थङ्करोने कहे है इतना ही कहना पर्याप्त है, जिणवचनके कहनेकी क्या आव-श्यकता है ?

उच्यन्ते । अन्तरेण चशब्दं समुच्चयार्थगति । तत्राय सबन्ध-जिनवचने च किं सप्तदशमरणात् । एतेन तीर्थ-  
कृतो गणधराक्ष मरणविकल्पानुपपादितवन्त । तदुभयवचनसिद्धं प्रमाणमविशङ्कनीयमित्येतदाचष्टे १ आवीचि-  
मरण २ तद्भवमरण ३ अविचिमरण ४ आदिब्रताय ५ बालमरण ६ पडितमरण ७ आसण्णमरण ८  
बालपंडित ९ ससल्लमरण १० बलायमरण ११ वमट्टमरण १२ विष्णामरण १३ गिद्धपुट्टमरण १४  
भक्तपच्चकक्षाण १५ पाउवगमणमरण १६ इगिणीमरण १७ केवलिमरण चेति । एतेवा स्वरूपता यथागम  
सक्षेपतो निरूप्यते ॥

वीचिशब्दस्तरगाभिधायी इह तु वीचिरिव वीचिरिति आयुष उदये वर्तते । यथा समुद्रादौ वीचयो  
नैरस्तयैणोद्गच्छन्ति एव क्रमेण आयुष्काख्य कर्म अनुममयमुदेति इति तदुदय आवीचिशब्देन भण्यते । आयुष  
अनुभवन जीवित, तच्च प्रतिसमय जीवितभग्न्य मरण । अतो मरणमपि अत्र आवीचि, उदयादनन्तरसमये  
मरणमपि वर्तते इति । तत्पुनरावीचिकामरण अनादिसनिधन भव्यानाम् । ननु च सिद्धानामेव मरण विच्छित्ति-  
मुपयान्ति नेतरेवा ते च न भव्या । भविष्यन्सिद्धत्वपर्याया हि भव्या । सिद्धास्त्वधिगतसिद्धत्वपर्यायास्तत  
किमुच्यते भव्यानामनादिसनिधनमिति । 'भविष्याणमनादियं मरणं आवीचिगं सणिधण च' इति यदेवाधिगत-  
भव्यत्वपर्याय इव्य तदेवेदमिति कृत्वा भव्यानामित्युक्त इति नियतम् । अभव्याना पुनरुदय प्रति सामान्या-

**समाधान**—इसमें कोई दोष नहीं है । यहाँ जिनशब्दसे गणधर कहे गये हैं । 'च' शब्दके  
विना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है । अतः ऐसा सम्बन्ध लेना और जिनवचनमें सत्तरह  
मरण कहे हैं । इससे यह बोध होता है कि तीर्थङ्करो और गणधरोने मरणके भेद कहे हैं । अतः  
उन दोनोंके वचनोमें सिद्ध होनेसे प्रमाण है उसमें किसी प्रकार शङ्का नहीं करना चाहिए । वे  
हैं—१ आवीचिमरण, २ तद्भवमरण, ३ अविचिमरण, ४ आदि अन्तमरण, ५ बालमरण,  
६ पडितमरण, ७ आसण्णमरण, ८ बालपंडितमरण, ९ ससल्लमरण, १० बलायमरण, ११  
वमट्टमरण, १२ विष्णामरण, १३ गिद्धपुट्टमरण, १४ भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५ प्रायोपगमन  
मरण, १६ इगिणीमरण और १७. केवलीमरण । उनका स्वरूप आगमके अनुसार सक्षेपसे कहते  
हैं—वीचिशब्द तरगको कहता है । किन्तु यहाँ वीचिके समान ऐसा अर्थ करनेसे वीचोका अर्थ-  
आयुका उदय है । जैसे समुद्र बर्गरहमें तरगे निरन्तर उठा करती है उसी प्रकार क्रमसे आयु-  
नामक कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है इसीलिए उसके उदयको आवीचि शब्दसे कहा है । आयुके  
अनुभवनको जीवन कहते हैं । वह प्रतिसमय होता है । उसका भग मरण है । अतः जीवनकी तरह  
मरण भी आवीची है क्योंकि आयुका उदय प्रतिसमय होता है अतः प्रत्येक अनन्तर समयमें  
मरण भी होता है । उसी प्रति समय होनेवाले मरणको आवीचिमरण कहते हैं । वह भव्यजीवोके  
अनादिसान्त है ।

**शङ्का**—सिद्धोके ही मरणका अन्त होता है, दूसरोके नहीं । किन्तु सिद्ध भव्य नहीं है ।  
जिनकी भविष्यमें सिद्धपर्याय होनेवाली है उन्हें भव्य कहते हैं । सिद्ध तो सिद्धपर्याय प्राप्तकर चुके  
हैं । तब कैसे कहते हैं कि भव्यजीवोका मरण अनादिसान्त है ?

**समाधान**—ऐसा कहा है कि भव्योका आवीचिमरण अनादि और सान्त है । अतः जो  
द्रव्य भव्यत्वपर्यायको प्राप्त था वही यह है ऐसा मानकर भव्योके अनादिसान्त मरण कहा है  
ऐसा निश्चित है । अभव्यजीवोके सामान्य अपेक्षासे आयुका उदय बराबर रहता है अतः उनका  
आवीचिमरण अनादिनिधन है । किन्तु भवकी अपेक्षा और क्षेत्रादिकी अपेक्षा सादि है । चार

पेक्षयाऽऽवीचिकमनादिनिघन । भवापेक्षया क्षेत्राद्यपेक्षया च सादिक । चतुर्णामायुष्काणां मध्ये द्वयांयद्यपि सत्कर्मता तथापि एकस्यैवायुष उदय । द्वयोः प्रकृत्योः सत्कर्मता सह भवति । उच्यते—तिर्यङ्मनुष्यायुष्कयोः सर्वेरायुष्के सह सत्कर्मता देवनारकायुष्कयोस्तिर्यङ्मानवायुष्काम्यां सत्कर्मता । भवतु नामैषा सत्कर्मव्यवस्था । द्वयोः रायुष्कप्रकृत्योः किं तद्दुग्धपदुदय ? अत्रोच्यते—अनुभूयमानप्रकृतित्स्थितीनामुपरि इतरस्यायुषो निषेको यतस्ततो न युगपदायुष प्रकृत्योरुदय । किं च यस्मादेकस्य जीवस्य द्वयोर्भवयोग्यत्वात् न स भव । भव गति च प्रयोष्य अपेक्ष्य आयुष उदयो नान्यथा ततो नायुष्कद्वयोः उदय । एवमेकस्यायुष्कमण एकैव प्रकृतिरुदयेकस्यात्मनस्तस्मादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपामेव मूर्तिमुपैति । तदेतत्प्रकृतिमरणं कालभेदेन एकस्यापि चतुर्विधं भवति तदा बीचिकमेव । एव प्रकृत्याबीचिकमरणं व्याख्यातम् । द्वितीय स्थित्याबीचिकमरणं ।

भवधारणकारणत्वपरिणताना पुद्गलानां स्नेहादात्मप्रदेशेष्वर्थास्वित्तिरित्युच्यते । आत्मन कषायपरिणाम सहकारी पुद्गलानां स्निग्धतायां परिणामिकारणं तु तदेव पुद्गलद्रव्यं । सा चैषा स्थितिरैकार्थिकैकोत्तरा देशोन्नत्यवस्थित्वासागरोपमाणा यावन्तं समयास्तावद्भेदा उत्कर्षस्थिति । अतर्मुहूर्तमवा परा । तस्या बीचय इव क्रमेणावस्थितायां विनाशादात्मनो भवति स्थित्याबीचिकमरणं ।

आयुर्कर्मोभेदे यद्यपि एकजीवकं दो ही आयुर्कर्मकी सत्ता रहती है (एक जिसे भोगता है और दूसरी जिसे परभवके लिए बाँधा है) । तथापि उदय एक ही आयुका होता है । दो प्रकृतियाँ सत्तामे एकसाथ रह सकती है । वही कहते है—तिर्यङ्मायु और मनुष्यायु सब आयुओंके साथ सत्तामे रहती है अर्थात् देवायु और नरकायु दूसरी देवायु और नरकायुके साथ सत्तामे नहीं रहती, क्योंकि देव मरकर देव या नारकी नहीं हो सकता और न नारकी मरकर नारकी या देव होता है ।

**शङ्का**—आयुर्कर्मकी यह सत्कर्मव्यवस्था रहो, किन्तु दो आयुर्कर्मका एवसाथ उदय क्यों नहीं होता ?

**समाधान**—आयुर्कर्मकी जिस प्रकृतिकी स्थिति अनुभवमे आ रही है और जिस आयुकी स्थितिका उदय हो रहा है उसको स्थिति जहाँ समाप्त होनी है उससे ऊपर दूसरी आयुके निषेक रहते है । अत जबतक पहली आयुकी स्थिति समाप्त नहीं होती तबतक दूसरी उदयमे आ नहीं सकती । इसलिए एकसाथ आयुकी दो प्रकृतियुक्ता उदय नहीं होता । तथा एक जीवके एकसाथ दो भव या दो गति सम्भव नहीं है । और भव तथा गतिको लेकर उसके अनुसार आयुका उदय होता है, अन्यथा नहीं होता, इसलिए भी दो आयुका उदय एकजीवके नहीं होता । इस प्रकार एक आयुर्कर्मकी एक ही प्रकृति एकजीवके उदयमे आती है अत एक-एक आयुर्कर्मके गलनरूप ही मरण होता है । यह प्रकृतिमरण कालभेदसे एक भी जीवके चार प्रकारका होता है । वह आवीचिकमरण ही है । इस प्रकार प्रकृति आवीचिकमरणका व्याख्यान किया ।

दूसरा स्थिति आवीचिकमरण है । भवधारणमे कारणरूपसे परिणत हुए पुद्गललोके स्नेहवश आत्माके प्रदेशोमे उठरनेको स्थिति कहते है । आत्माका कषायरूप परिणाम पुद्गललोकी स्निग्धताका सहकारी होता है । परिणामी कारण तो स्वयं पुद्गलद्रव्य ही है । यह स्थिति एक समयसे लेकर एक-एक समय बढते-बढते कुछ कम तेतीस सागरोंके जितने समय है उतने भेदवालो होती है । यह उत्कृष्ट स्थिति है । जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है । तरगोंके समान क्रमसे अवस्थित उस स्थितिके विनाशसे आत्माके स्थिति आवीचिकमरण होता है ।

भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविधमन तद्भवमरण । तत्त्वनतश्च प्राप्त जीवेनेति ज्ञातव्य तेन तद्भवमरण न दुर्लभम् ।

अनुभवावीचिकामरणमुच्यते—कर्मपुद्गलानां रस अनुभव इत्युच्यते, स च परमाणुषु षोडा वृद्धिहानि-रूपेण वीचय इव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरण ।

आयु मज्जितानां पुद्गलानां प्रदेशा जघन्यनिषेकादारम्य एकादिवृद्धिक्रमेणावस्थितवीचय इव तेषां गलन प्रदेशावीचिकामरण ।

अवधिमरण नाम कथ्यते—यो यादृश मरण साप्रतभुवैति तादृशेयं यदि मरण भविष्यति तदवधिमरण । तद्द्विविधं देशावधिमरण सर्वावधिमरण इति ।

तत्र सर्वावधिमरण नाम यदायुर्वयाभूतमुदेति साप्रत प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैस्तथानुभूतमेवायु प्रकृत्यादिविशिष्ट पुनर्बन्धानि उच्यन्ति च यदि तत्सर्वावधिमरण ।

यत्सापतमुदेत्यादुर्वयाभूत तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरण । एतद्वृत्तं भवति देशतः सर्वतो वा सादृश्येनावधोऽङ्गतेन विशेषित मरणमवधिमरणमिति । साप्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्य-तमरण उच्यते, आदिशब्देन साप्रत प्राथमिक मरणमुच्यते तस्य अतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्य-तमरण अभिधीयते । प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्याभूतं साप्रतमुपैति मृति तथाभूता यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यतमरण ।

बालमरणमुच्यते—बालस्य मरण बालमरण, स च बाल पञ्चप्रकार अव्यक्तबाल व्यवहारबाल,

भवान्तर प्राप्तिपूर्वकं उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भवका विनाश तद्भवमरण है । वह तो इस जीवने अनन्तवार प्राप्त किया है । अतः तद्भवमरण दुर्लभ नहीं है ।

अनुभव आवीचिमरण कहते हैं—कर्मपुद्गलके रसको अनुभव कहते हैं । वह अनुभव परमाणुओमें छह प्रकारकी वृद्धि हानिके रूपसे तरगोंकी तरह क्रमसे अवस्थित है । उसका विनाश अनुभव आवीचिमरण है । आयुसज्ञावाले पुद्गलके प्रदेश जघन्य निषेकसे लेकर एक आदि वृद्धिके क्रमसे तरगोंकी तरह अवस्थित है उनके गलनेको प्रदेश आवीचिदामरण कहते हैं ।

अवधिमरणको कहते हैं—जो वर्तमानमें जैसा मरण प्राप्त करता है यदि वैसा ही मरण होगा तो उसे अवधिमरण कहते हैं । उसके दो भेद हैं—देशावधिमरण और सर्वावधिमरण । वर्तमानमें जो आयु जैसे प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशोंको लेकर उदयमें आ रही है वैसी ही प्रकृति आदिको लिए हुए यदि पुनः आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्यमें उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधिमरण कहते हैं । और वर्तमानमें जैसा आयुका उदय होता है वैसा ही यदि एक देश बन्ध करता है वह देशावधिमरण है । इसका अभिप्राय यह है एक देशसे अथवा सर्वदेशसे मर्यादाको लिए हुए सादृश्यसे विशिष्ट मरणको अवधिमरण कहते हैं । वर्तमानमरणसे यदि भाविमरण असमान होता है तो उसे आद्यन्तमरण कहते हैं । यहाँ आदि शब्दसे वर्तमानका प्राथमिकमरण कहा जाता है । उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस उत्तरमरणमें होता है उसे आद्यन्तमरण कहते हैं । वर्तमानमें जिस प्रकारके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा मरणको प्राप्त होता है यदि एकदेश या सर्वदेशसे उस प्रकारके मरणको प्राप्त नहीं होता तो वह आद्यन्तमरण है ।

बालमरणको कहते हैं—बालके मरणको बालमरण कहते हैं । वह बाल पांच प्रकारका

ज्ञानबाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल इति । अव्यक्त शिशु धर्मार्थकामकार्माणि यो न वेत्ति न च तदाचरण-समर्थशरीरं शोभ्यन्कबाल । लोकवेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति सिग्वासी व्यवहारबाल । मिथ्यादृष्ट्यै सर्वैर्यतश्चन्द्रानरहिता दर्शनबाला । वस्तुयाथात्म्याहिज्ञानभूना ज्ञानबाला । अवारिना प्राणभूतश्चारित्र-बाला । एतेषा बालाना मरण बालमरण । एतानि च अतीते काले अनतानि । अनताश्च मृतिमिमा प्रपद्यते । इह दर्शनबालो गृहीत नेतरं बाला कथं ? यस्मात्सम्यग्दृष्टेरितरबालत्वं सत्यपि दर्शनपडितताया सद्भावा-त्पडितमरणमेवेत्यते ।

दर्शनबालस्य पुन मक्षेपतो द्विविध मरण । इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च । तयोराद्यमनिना धुमेन, शास्त्रेण, विषेण, उदकेन, मरुत्प्रपातेन, उच्छ्वामानिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, धुधा, तृषा, जिह्वात्पाट-नेन, विरुद्धाहारमवनया च बाला मृति ढीकन्ते, कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागेपिण काले अकाले वा अध्ये-वसानादिना यस्मरण जिजीविषो तद्द्वितीयम् । एतैर्बालमरणैर्दुर्भंगिगामिनो त्रियन्ते विषयव्यासक्तबुद्ध्य-अज्ञानपटलावगुच्छता, ऋद्धिरससातगुरुका । बहुतीव्रपापकर्मान्त्रवद्वाराभ्येतानि बालमरणानि जातजरामरणव्य-सनापादनक्षमाणि ॥

पडितमरणमुच्यते—व्यवहारपडित, सम्यक्त्वपडित, ज्ञानपडितश्चारित्रपडित इति चत्वारो विकल्पा । लोकवेदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपडित अथवाऽनेकशास्त्रज्ञ दृशुष्यादिबुद्धिगुणसमन्वित व्यवहारपडित,

है—अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल । अव्यक्त छोटे बच्चेको कहते हैं । जो धर्म, अर्थ और कामको नहीं जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करनेमें समर्थ है वह अव्यक्तबाल है । जो लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारोको नहीं जानता अथवा इन विषयोंमें शिशु समान है वह व्यवहारबाल है । अर्थ और तत्त्वके श्रद्धानसे रहित सब मिथ्या-दृष्टि दर्शनबाल है । वस्तुको यथार्थरूपसे ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें जो हीन है वे ज्ञानबाल है । जो चारित्रपालन किये बिना जीते है वे चारित्रबाल है । इन वालोंके मरणको बालमरण कहते है । अतीतकालमें ये बालमरण अनन्त हो चुके है । अनन्तजीव इस मरणको प्राप्त हांते है । यहाँ इनमेंसे दर्शनबालका ग्रहण किया है, अन्य वालोंका नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि में इतर बालपना रहते हुए भी दर्शनपडितपना रहता है इसलिए उसके पडितमरण ही स्वीकार किया है ।

सक्षेपमें दर्शनबालका मरण दो प्रकार का है एक इच्छापूर्वक, दूसरा अनिच्छापूर्वक । आगसे, धुगसे, शम्भ्रमें, विपसे, जलसे, पर्वतसे गिरनेसे, स्वासके रुकनेसे, अति शीत या अति गर्मी पडनेसे, रस्सीसे, भूयसे, प्यामसे, जीभ उखाडनेसे और प्रकृति विरुद्ध आहारके सेवनसे बालपुरुष मरणको प्राप्त होते है यह इच्छापूर्वक मरण है अर्थात् ऐसे उपाय स्वयं करके वे मरते है ।

किसी निमित्त वश जीवनको त्यागनेकी इच्छा होने पर भी अन्तरगमें जीनेकी इच्छा रहते हुए काल या अकालमें अध्येवसान आदिसे जो मरण होता है वह अनिच्छापूर्वक दर्शनबाल मरण है । जो दुर्गतिमें जानेवाले है, विषयोंमें अतिआसक्त है, अज्ञान पटलसे आच्छादित है, ऋद्धि, रस और सुखके लालची है वे इन बालमरणोंसे मरण करते है । ये बालमरण बहुत तीव्र पाप-कर्मके आन्त्रवके द्वार है, जन्म, जरा, मरणके दुःखोको लानेवाले है ।

पण्डितमरणको कहते है—इसके चार भेद है, व्यवहार पण्डित, सम्यक्त्व पण्डित, ज्ञान-पण्डित और चारित्र पण्डित । जो लोक, वेद और समयके व्यवहारमें निपुण है वह व्यवहारपण्डित

क्षाधिकेण क्षायोपशमिकेनोपशमिकेन वा नम्यग्दर्शनेन परिणत दर्शनपण्डित । मत्यादिपञ्चप्रकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणत ज्ञानपण्डित । सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धसूक्ष्मसांप्रदाययथाख्यातचारित्र्येषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तचारित्र्यपण्डित । इह पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्र्यपण्डितानां अधिकारः । व्यवहारपण्डितस्य मिथ्यादृष्टे बालमरणायतो भवति सम्यग्दृष्टेस्तदेव दर्शनपण्डितमरण भवति । तद्दर्शनपण्डितमरण नरके, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिष्केषु, वानव्यतरेषु, द्वीपसमुद्रेषु च । ज्ञानपण्डितमरणानि च तेष्वेव । मनुष्यलोकं एव केवलमन पर्ययज्ञानपण्डितमरण भवति ।

ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात्मयतसार्थाद्यो हीन प्रच्युत सोऽभिधीयते ओसण्ण इति । तस्य मरण ओसण्णमरणमिति । ओसण्णग्रहणेन पाश्वस्थ, स्वच्छदा, कुशीला समकताञ्च गृह्णन्ते । तथा चोक्तम् ॥

पासस्थो सच्छंदो कुशील ससत्त ह्येति ओसण्णा ॥

अं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साधु सत्यादो ॥—[ ]

के पुनस्ते ? ऋद्धिप्रिया, रंगेष्वासक्ता, दुःखभीरव सदा दुःखकातरा, कषायेषु परिणता, सजावशया, पापश्रुताभ्यामकारिण, त्रयोदशविधामु क्रियास्वल्मा, मदा मलिलच्छ्वेतस, भक्तं उपकरणे च प्रतिबद्धा, निमित्तमश्रीपथयोगोपजीविन गृह्णन्वैयावृत्यकरा, गुणहीना गुमिप ममितिए चानुद्यता मदमवेगा दशप्रकारे धर्मे अकृतबुद्धय शबलचारित्र्या ओमत्रा इत्युच्यते । एवभूता सतो मृत्वा वराका भवसहस्रेषु है । अथवा जो अनेक शास्त्रोका ज्ञाता है, सेवा आदि बौद्धिक गुणोसे युक्त है वह व्यवहारपण्डित है । क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्शनसे जो युक्त है वह दर्शनपण्डित है । जो मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञान रूपसे परिणत है वह ज्ञानपण्डित है । जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांप्रदाय और यथाख्यात चारित्र्यसे किसी एक चारित्र्यका पालक है वह चारित्र्यपण्डित है । यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य पण्डितोका अधिकार है । व्यवहारपण्डित मिथ्यादृष्टि का तो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टिका मरण दर्शनपण्डित मरण है । वह दर्शनपण्डित मरण नरकमे भवनवासी देवोमे, वैमानिक देवोमे, ज्योतिष्क देवोमे, व्यन्तर देवोमे और द्वीप समुद्रोमे होता है । ज्ञानपण्डित मरण भी इन्हीमे होता है । किन्तु केवलज्ञान और मन पर्यायज्ञान पण्डितमरण मनुष्य लोकमे ही होता है ।

ओसण्णमरणको कहते हैं—निर्वाण मार्गपर प्रस्थान करनेवाले सयमियोके सघसे जो हीन हो गया है उसे निकाल दिया गया है वह ओसण्ण कहलाता है । उसके मरणको ओसण्णमरण कहते हैं । ओसण्णके ग्रहणसे पाश्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और ससत्कोका ग्रहण होता है । कहा भी है—पाश्वस्थ, स्वच्छन्द कुशील और ससत्त ये ओसण्ण होते हैं क्योंकि ये मोक्षके लिए प्रस्थान करनेवाले साधुसघसे बाहर होते हैं ।

ऋद्धियोके प्रेमी, रसोमे आसक्त, दुःखमे भीन, सदा दुःखने कातर, कषायोमे मलग्न, आहारादिसंज्ञाके अधीन, पापवर्धक शास्त्रोके अभ्यासी, तेरह प्रकारकी क्रियाओमे आलसी, सदा संक्लेशयुक्त चित्तवाले, भोजन और उपकरणोसे प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मत्र, औपध आदिसे आजीविका करनेवाले, गृहस्थोका वैयावृत्य करनेवाले, गुणोसे हीन, गुप्तियो और समितियोमे उदासीन, सवेग भावमे मन्द, दस प्रकारके धर्ममे मनको न लगानेवाले तथा सदोष चारित्र्यवाले मुनियोको अवसन्न कहते हैं । इस प्रकारसे रहते हुए ये बेचारे मरकर हजारो भवोमे भ्रमण करते

भ्रमन्ति । दुःखानि भुक्त्वा भुक्त्वा पाश्वर्यरूपेण सुचिरं विहृत्यान्ते आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति ।

सम्यग्दृष्टे सयतासयतस्य बालपण्डितमरणं यतोसावुभयरूपो बालः पण्डितश्च । स्थूलकृतात्प्राणाति-पातादेर्विरमणलक्षणं चारित्र्यमस्ति दर्शनं च तदस्त्वारित्रपण्डितो दर्शनपण्डितश्च । कृतदिवत्सूक्ष्मादसयमाद-निवृत्त इति चारित्र्यबालः । तन् बालपण्डितमरणं गर्भजेषु पर्याप्तकेषु तिर्यक्षु मनुजेषु भवति । दर्शनपण्डितमरणं तु तेषु देवनारकेषु च ।

सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । मिथ्यादर्शनमायानिवानशल्याना कारणं कर्म द्रव्यशल्यं । द्रव्यशल्येन सह मरणं पचाना स्थावराणां भवति असंज्ञिना त्रसाना च । ननु द्रव्य-शल्यं सर्वत्रास्ति तत्किमुच्यते स्थावराणामिति । भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्ष्यते । एतदुक्तं—मध्यवत्वाति-चाराणां दर्शनशल्यत्वात्सम्यग्दर्शनस्य च स्थावरेषु अभावात् त्रसेषु च विकलेन्द्रियेषु । इदमेव स्यादनागते काले इति मनसः प्राणिधानं निदानं न च तदसंज्ञिष्वस्ति । मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, जन्मार्गरूपणं, मार्ग-स्थाना भेदकरणं च मिथ्यादर्शनशल्यानि ।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रशस्तमप्रशस्तं भोगकृतं च । परिपूर्णं सयममाराधयितुकामस्य जन्मातेः पुण्य-तादिप्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकषायप्रेरितस्य कुलरूपादिप्रार्थनमनागतभवावपयः अप्रशस्तं निदानं । अथवा हे । किन्तु दुःख उठाते-उठाते पाश्वर्यरूपमे चिरकालं तक विहाय कर्मे अन्तमे आत्माकी शुद्धि करके यदि मरते है तो प्रशस्तमरण ही होता है ।

सम्यग्दृष्टि सयतासयतके मरणको बालपण्डित मरणं कहते है क्योंकि यह बाल और पण्डित दोनों ही होता है । इसके स्थूल हिंसा आदिसे विरतिरूप चारित्र्य और दर्शन दोनों होते हैं अतः यह चारित्र्यपण्डित भी है और दर्शनपण्डित भी है । किन्तु कुछ सूक्ष्म अग्रयमसे निवृत्त नहीं होता, इसलिए चारित्र्यमे बाल है ।

यह बालपण्डित मरणं गर्भज और पर्याप्तक तिर्यञ्चो तथा मनुष्योमे होता है । दर्शनपण्डित मरणं तो इनमे भी होता है और देव तथा नारकियोमे भी होता है ।

सशल्य मरणके दो भेद हैं क्योंकि शल्यके दो भेद है—द्रव्यशल्य और भावशल्य । मिथ्या-दर्शन, माया और निदान इन शल्योंका कारण जो कर्म है उस कर्मको द्रव्यशल्य कहते है । द्रव्यशल्यके साथ मरण पाँचों स्थावरों, असंज्ञियो और त्रसोका होता है ।

शंका—द्रव्यशल्य तो सर्वत्र है तब स्थावरोंके क्यों कहा ?

समाधान—यहाँ भावशल्यसे रहित द्रव्यशल्यकी अपेक्षा है । यह कहा है कि सम्यग्दर्शनके अतिचारोका कारण दर्शनशल्य है और सम्यग्दर्शन स्थावरोमे तथा विकलेन्द्रिय त्रसोमे नहीं होता ।

आगामीकालमे यही होना चाहिए इस प्रकारके मनके उपयोगको निदान कहते है । असंज्ञियोमे इस प्रकारका निदान नहीं होता । मोक्षमार्गको दोष लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका कथन करना, या मोक्षमार्गका कथन न करना, और जो मोक्षमार्गी है उनमें भेद डालना ये मिथ्यादर्शनशल्य हैं । उनमेंमे निदानके तीन भेद है—प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत । परिपूर्ण सयमकी आराधना करनेकी इच्छासे परभवमे पुण्यत्व आदि प्राप्तिकी प्रार्थना प्रशस्त



क्रोधाविष्टस्य स्वशत्रुवधप्रार्थना वशिष्ठस्येवोपसेनोन्मूलने । इह परत्र च भोगा अपि इत्यभूता अस्माद् व्रतशीला-  
दिकाद् अवन्ति चित्तमनःप्रणिधानं भोगनिदानं । असंयतसम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निदानशल्यं भवति । पार्श्व-  
स्वाविरूपेण चिरं विद्वृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरं यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरणं तस्मात् भवति । एतच्च  
सयते, सयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति ।

बलायमरणमुच्यते—विनयवैयावृत्त्यादावकृतावरः, प्रशस्तयोगोद्बहूनालसः, प्रमादबान्धतेषु, समितिषु,  
गुप्तिषु च स्ववीर्यनिगूहनपरं, धर्मचिन्ताया निद्रया घूर्णित इव ध्याननमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य  
मरणं बलायमरणं । सम्यक्त्वपण्डिते, ज्ञानपण्डिते चरणपण्डिते च बलायमरणमपि भवति । ओसण्णमरणं  
ससत्त्वमरणं च यदभिहितं तत्र नियमेन बलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि बलायमरणं भवति । निःशल्यं संविन्नो  
भूत्वा चिरं रत्नत्रयप्रवृत्तस्य सस्तरमुपगतस्य शुभोपयोगात्पलायमानस्य भावस्य शुभस्थानवस्थानात् ।

वसट्टमरणं नाम—आर्तं रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं । तत्पुनश्चतुर्विधं—इन्द्रियवसट्टमरणं, वेदनाव-  
सट्टमरणं, कसायवसट्टमरणं, नोकसायवसट्टमरणं इति । इन्द्रियवसट्टमरणं यत् तत्पचविधं इन्द्रियविषयापेक्षया ।  
सुरीनरीतिर्यंगिभ्रमजीवेश्च कृतेषु तत्तत्तत्तघनशुषिरशब्देषु मनोजेषु रक्तोऽमनोजेषु द्विष्टो मृतिमेति । यथा चतु-  
प्रकारे आहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणं, पूर्वोक्तानां सुरनरादीनां गन्धे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरणं, तेषामेव

निदानं है । मानकषायसे प्रेरितं होकर आगामी भवमे उच्चकुल, सुन्दररूप आदिकी प्रार्थना  
अप्रशस्त निदानं है । अथवा क्रोधके आवेशमे आकर अपने शत्रुके वधकी प्रार्थना, जैसे वशिष्ठने  
उपसेनके विनाशकी प्रार्थना की थी, अप्रशस्त निदानं है । इस व्रतशील आदिके प्रभावसे इस  
भवमे और परभवमे इस प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार मनके सकल्पको भोगनिदान  
कहते हैं । असंयत सम्यग्दृष्टी अथवा संयतासंयतके निदानशल्यं होता है । चिरकालतक पार्श्वस्थ  
आदि साधुके रूपमे विहार करनेके पश्चात् भी जो आलोचना किये बिना मर जाता है उसका  
वह मायाशल्यं मरणं होता है । ऐसा मरण संयत, संयतासंयत और अविरत सम्यग्दृष्टिमे होता है ।

बलायमरणको कहते हैं—जो विनय वैयावृत्त्य आदिमे आदरभाव नहीं रखता, प्रशस्त  
योगके धारणमे आलसी है, प्रमादी है, व्रतोमे, समितियोंमें और गुप्तियोंमें अपनी शक्तिको छिपाता  
है, धर्मके चिन्तनमे निद्राके वशीभूत जैसा रहता है, उपयोग न लगनेसे ध्यान नमस्कार आदिसे  
दूर भागता है, उसका मरण बलायमरणं है । दर्शनपण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्र्यपण्डितके  
बलायमरणं भी सम्भव है । ओसण्णमरणं और सशल्यमरणंमे नियमसे बलायमरणं होता है ।  
उनके अतिरिक्त भी बलायमरणं होता है । जो शल्यरहित विरक्त होकर चिरकालतक रत्नत्रयका  
पालन करता है किन्तु मरते समय सस्तरपर आरूढ़ होकर शुभोपयोगसे दूर भागता है, उसके  
शुभभावके स्थिर न रहनेसे बलायमरणं होता है ।

वसट्टमरणं कहते है—आर्त और रौद्रध्यानपूर्वक मरणको वसट्टमरणं कहते है । उसके चार  
भेद हैं—इन्द्रियवसट्टमरणं, वेदनासमट्टमरणं, कसायवसट्टमरणं, और नोकसायवसट्टमरणं । इन्द्रिय-  
वसट्टमरणं इन्द्रियोंके विषयोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है । देवो, मनुष्यो, पशु-पक्षियो और  
अजीवोके द्वारा किये गये तत्, वित्त, घन, और शुषिर शब्दोमे, मनोज शब्दोमे राग और  
अमनोज शब्दोमें द्वेष करते हुए मरणं होता है । यह श्रोत्रेन्द्रियवसट्टमरणं है । चार प्रकारके

रूपे सस्थाने वा रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरण, तेषामेव स्पर्शे रागवतो द्वेषवतो वा मरण, इति इन्द्रियान्द्रिय-  
वशात्तमरणविकल्पा ।

वेदनावसृष्टमरण द्विभद समासतः सातवेदनावशात्तमरण असातवेदनावशात्तमरणमिति । शारीरे मानसे  
वा दुःखे उपयुक्तस्य मरण दुःखवशात्तमरणमुच्यते । यो दुःखेन मोहमुपागतस्तस्य मरणमिति यावत् । तथा  
शारीरे मानसे वा सुखे उपयुक्तस्य मरण सातवशात्तमरण ।

कषायभेदात्कषायवशात्तमरण चतुर्विध भवति । अनुबधरोधो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मारणवशो  
भवति । तस्य क्रोधवशात्तमरण भवति । मानवशात्तमरणमष्टविध भवति कुलेन, रूपेन, बलेन, धृतेन, ऐश्वर्येण,  
लाभेन, प्रज्ञया, तपसा वा आत्मानुमुत्कर्षयतो मरणमपेक्ष्य विख्याते विशाले उन्नते कुले समुत्पन्नोऽभिमिति  
मन्यमानस्य मृति कुलमानवशात्तमरणम् । निरुपहतपच्चन्द्रियसमग्रगात्रस्तेजस्वी प्रत्यग्रयोवन सकलजनताचेत-  
सम्मदकररूप इति भावयतो मृति रूपवशात्तमरण । वृक्षपर्वताद्युत्पातनक्षमोऽहं योधवानह, मित्राणा च बल  
ममास्ति इति बलाभिमानोऽहनान्मानवशात्तमरण । बहुपरिवारो बहुशासनेऽह इति ऐश्वर्यमानोन्मत्तस्य मरण  
मानवशात्तमरण । लोकवेदसमयसिद्धान्तशास्त्राणि शिक्षितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरण श्रुतमानवशात्तमरण-  
मुच्यते । तीक्ष्णा मम बुद्धि सर्वत्राप्रतिहता इति प्रज्ञामत्तस्य मरण प्रज्ञावशात्तमरणमुच्यते । व्यापारे क्रियमाणे

आहारमे राग या द्वेष करते हुए मरण रसनेन्द्रियवसट्टमरण है । पूर्वोक्तदेव मनुष्य आदिकी गन्धमे  
रागद्वेष करते हुए मरण घ्राणेन्द्रियवसट्टमरण है । उन्हीके रूप आकार आदिमे रागद्वेष करने-  
वालेका मरण चक्षुइन्द्रियवसट्टमरण है । उन्हीके स्पर्शमे रागद्वेष करनेवालेका मरण स्पर्शनेन्द्रिय-  
वसट्टमरण है । इस प्रकार इन्द्रिय और मनके वशसे होनेवाले आतंघ्यानपूर्वक मरणके भेद है ।

वेदनावसट्टमरणके सक्षेपसे दो भेद है—सातवेदनावशात्तमरण और असातवेदनावशात्त-  
मरण । शारीरिक अथवा मानसिक दुःखमे उपयोग रहते हुए होनेवाले मरणको दुःखशात्तमरण  
कहते है । अर्थात् जो दुःखसे मोहको प्राप्त हुआ उसका मरण दुःखशात्तमरण है । तथा शारीरिक  
अथवा मानसिक सुखमे उपयोग रहते हुए होनेवाला मरण सातवशात्त मरण है ।

कषायके भेदसे कषायवशात्तमरणके चार भेद होते है । अपनेम, दूसरेमे अथवा दोनोंमे  
मारनेके लिए उत्पन्न हुआ क्रोध मरणका कारण होता है । वह क्रोधवशात्तमरण है । मानवश-  
आत्तमरणके आठ भेद है—कुल, रूप, बल, शास्त्र, ऐश्वर्य, लाभ, बुद्धि अथवा तपसे अपनेको  
बड़ा मानते हुए मरण होनेको अपेक्षा ये आठ भेद होते है । मे अति प्रसिद्ध विशाल उच्चकुलमे  
उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा मानते हुए होनेवाले मरणको कुलमानवश आत्तमरण कहते है । मेरा शरीर  
सशक्त पाँच इन्द्रियोसे पूर्ण है, तेजस्वी और नवयोवनसे सम्पन्न है, मेरा रूप समस्त जनताके  
चित्तको मर्दन करता है, ऐसी भावना होते हुए जो मरण होता है वह रूपवश आत्तमरण है ।  
मे वृक्ष पर्वत आदिको उखाडनेमे समर्थ हूँ, लड़नेमे समर्थ हूँ, मेरे साथ मित्रोका बल है, इस प्रकार  
बलके अभिमानको धारण करते हुए होनेवाला मरण बलमानवश आत्तमरण है । मे बहुत परिवार  
वाला हूँ मेरा शासन बहुतोपर है इस प्रकार ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्तका मारण ऐश्वर्यमान वशात्त-  
मरण है । मैने लोक, वेद, समय और सिद्धान्त सम्बन्धी शास्त्रोको पढा है इस प्रकार शास्त्रके  
मानसे उन्मत्तका मरण श्रुतमानवश आत्तमरण है । मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सब विषयोंमें उसकी

मम सर्वत्र लाभो जायते इति लाभमान भावयतो मरण लाभवशात्तमरणम् । तपो मयानुष्ठायते अन्यो मत्सद्व-  
शचरणे नास्ति इति सकल्पयतस्तपोमानवशात्तमरण भवति । माया पञ्चविकल्पा निवृत्ति, उपधि, साति-  
प्रयोग, प्रणिधि प्रतिकुचनमिति । अतिसधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वचना निवृत्ति उच्यते ।  
सद्भाव प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैःन्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपांसजिता माया । अर्थेषु विसर्वाद स्वहृत्स्तिनिश्चितद्रव्या-  
पहरण, दूषण, प्रशसा वा सातिप्रयोग । प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, अनातिरिक्ततमानं, सयोजनया द्रव्यविनाशन-  
मिति प्रणिधिमाया । आलोचन कुर्वतो दोषविनिमूहन प्रतिकुचनमाया । एवविध मायावशात्तमरण । उपकरणेषु,  
भक्तपानक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छा मुच्छा च बहूतो मरण लोभवशात्तमरण । हास्यरत्यरतिशोक-  
भयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुसकवेदे मूढमतेर्मरण नोकषायवशात्तमरण । नोकषाय वशात्तमरणमुपगतो जायते मनुजतिर्य-  
योनिषु, असुरेषु, कदपेषु, किल्बिषिकेषु च । मिथ्यादृष्टेरेतदेव बालमरण भवति । दर्शनपण्डितोऽपि अविरत-  
सम्यग्दृष्टि मयतासंयतोऽपि वशात्तमरणमपैति तस्य तद्बालपण्डित भवति दर्शनपण्डित वा ।

अप्रतिपिद्धे अननुज्ञाते च इ मरण विष्पाणतगिद्धतुट्टमिति सजिते कृते प्रवर्तते । दुर्भिक्षे, कातारे,  
दुरुत्तरे, पूर्वशत्रुभये, दुष्टनृपभये, स्तनभये, तिर्यगुपसर्गे एकाकिन सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषण च

बेरोक गति है इस प्रकार प्रज्ञाके मदसे मत्तके मरणको प्रज्ञामानवश आर्तमरण कहते है । व्यापार  
करनेपर मुझे सर्वत्र लाभ होता है इस प्रकार लाभका मान करते हुए होनेवाले मरणको लाभ-  
मानवशात्तमरण कहते है । मैं तप करता हूँ, तपश्चरणमे मेरे समान दूसरा नहीं है । ऐसा सकल्प  
करते हुए होनेवाले मरणको तपमानवशात्तमरण कहते हैं ।

मायाके पाँच भेद हैं—निवृत्ति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुचन । दूसरोकी  
गुप्त बातोकी खोजमे कुशलता, तथा धन अथवा किसी कार्यकी अभिलाषावालेको ठगना निवृत्ति  
है । समीचीन भावको छिपाकर धर्मके बहानेसे चोरी आदि दोषोमे प्रवृत्तिको उपधिनामक माया  
कहते है । अर्थ (धन) के विषयमे झगडा करना, अपने हाथमे रखे द्रव्यको हर लेना, प्रयोजनके  
अनुसार दोष लगाना या प्रशसा करना सातिप्रयोग माया है । असली वस्तुमे उसके समान नकली  
वस्तु मिलाना, कमनी बढ़ती तोलना, मिलावटके द्वारा द्रव्यका विनाश करना ये प्रणिधिमाया  
है । आलोचना करते समय दोषोको छिपाना प्रतिकुचन माया है । इस प्रकारके मायाचारपूर्वक  
होनेवाले मरणको मायावशात्तमरण कहते है । उपकरणोमे, खानपानके क्षेत्रोमे, शरीरमे, निवास  
स्थानोमे इच्छा और ममत्व रहते हुए होनेवाले मरणको लोभवशात्तमरण कहते है । हास्य, रति,  
अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुसकवेद और पुरुषवेदको लेकर जिसकी बुद्धि मूढ हो  
गई है उमका मरण नोकषायवशात्तमरण है । नोकषायवशात्तमरणसे मरा हुआ प्राणी मनुष्य  
योनि, तिर्यञ्चयोनि, तथा असुर, कन्दर्प और किल्बिषजातिके देवोमे उत्पन्न होता है । मिथ्यादृष्टि-  
के होनेवाला यही मरण बालमरण होता है । दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि और सयतासंयतके  
भी वशात्तमरण होता है उनका वह मरण बालपण्डितमरण अथवा दर्शनपण्डितमरण होता है ।

पिप्पणास और गिद्धपुट्ट नामके दो मरण ऐसे है जिनका निषेध भी नहीं है अनुज्ञा भी  
नहीं है । दुर्भिक्षमे, भयानक जगलमे, पूर्वशत्रुका भय होनेपर, या दुष्ट राजाका भय होनेपर,  
चोरका भय होनेपर, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होनेपर जिसे अकेले सहन करना अशक्य है, या ब्रह्मचर्य-

जाते सबिग्न पापभीरुः कर्मणामुदयभूयस्थित ज्ञात्वा तं सोढुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासत्युपाये सावद्यकरणभीष्ट विराधनमरणभीरुश्च एतस्मिन् कारणे जाते कालेऽमुष्मिन् किं भवेत्कुशलमिति गणयतो यद्युपसर्गभयत्रासित संयमाद्भ्रष्टयामि तत् सयमभ्रष्टो दर्शनादपि न वेदनामसकिल्लष्टः सोढु उत्सहेत ततो रत्नत्रयाराधनाभ्युत्तिर्म-  
मेति निश्चितमतिनिर्मायश्चरणदर्शनविशुद्ध, घृतिमान्, ज्ञानसहायोऽनिदानः, अर्हदन्तिके, आलोचनामासाद्य कृतशुद्धि, सुलेश्य प्राणापाननिरोधं करोति यत्तद्विष्णासं मरणमुच्यते ! शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्विगदपुट्ट-  
मित्युच्यते । मरणविकल्पमभवन्नदर्शनमिदं सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते । प्रायोपगपननिगिणीमरण भक्तप्रत्या-  
ख्यान इत्येतान्येवोत्तमानि पूर्वपुरुषैः प्रवर्तितानि । एष विद्मन्नेत्रेण पूर्वगमानुसारि सप्तदशमरणव्याख्यान-  
मन्त्रोपक्रान्तम् ।

एतेषु सप्तदशसु पञ्च मरणानि इह नक्षेपतो निरूपयिष्यामीति प्रतिज्ञानेन कृता । कानि तानि पञ्च मरणानि इत्याशकाया नामनिर्देशार्थं गाथा पण्डितपण्डितमरणमित्यादिका—

**पण्डितपण्डितमरणं पण्डित्यं बालपण्डितं चैव ॥**

**बालमरणं चउत्थं पञ्चमयं बालबालं च ॥ २६ ॥**

ननु भवपर्यायप्रलयो मरणमिति यदि गृह्यते तस्य को भेदो भवपर्यायस्य अनेकत्वात् मरण तद्विनाश कर्षं न भिद्यते इति । मनुष्ये पञ्चप्रकारतानुपपन्ना अनतत्वान् एकजीवगतस्यापि भवपर्यायस्य नानाजीवापेक्षया

व्रतका विनाश आदि दूषण चारित्र्यमे होनेपर संसारसे विरक्त और पापसे डरनेवाला साधु कर्मका उदय उपस्थित जानकर उसे सहनेमे असमर्थ होनेसे उससे निकलनेका उपाय न होनेपर पापकर्म करनेसे डरता हुआ, साथ ही विराधनापूर्वक मरणसे डरता हुआ विचारता है इस कालमे इस प्रकारके कारण उपस्थित होनेपर कैसे कुशल रह सकती है, यदि उपसर्गके भयसे डरकर सयमसे भ्रष्ट होता हूँ तो सयमसे भी भ्रष्ट और दर्शनसे भी भ्रष्ट होता हूँ । और विना संकलेशके वेदना-  
को सहन कर नहीं सकता । तब मे रत्नत्रयके आराधनसे डिग जाऊँगा, ऐसी निश्चित मति करके सम्यक्त्व और चारित्र्यमे विशुद्ध, धैर्यशाली, ज्ञानसे सहायता लेनेवाला वह साधु किसी निदानके विना अर्हन्तके पासमे आलोचना प्रायश्चित्त लेकर शुभलेश्यापूर्वक इवासोच्छ्वासका निरोध करता है । उसे विष्णास मरण कहते है । और शस्त्रग्रहणसे होनेवाले मरणको गिद्धपुट्ट कहते है ।

मरणके भेदोका यह प्रदर्शन सर्वत्र कर्तव्यरूपसे किया जाता है । किन्तु प्रायोपगमन, इगिणी-  
मरण और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन ही मरण उत्तम है, पूर्व पुरुषोंने इनका पालन किया है । इस प्रकार सक्षेपसे पूर्व आगमके अनुसार सत्तरह मरणोका व्याख्यान यहाँ किया ॥२५॥

इन सत्तरहमे से पाँच मरणोको यहाँ सक्षेपसे कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा ऊपर की है । वे मरण कौन है ऐसी शका करने पर उनका नाम निर्देश करनेके लिए गाथा कहते हैं—

गाथा—पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल पण्डितमरण, चौथा बालमरण और पाँचवा बाल बालमरण, ये पाँच मरण है ।

टोका—शंका—यदि भवपर्यायके विनाशको मरण कहते हो तो उसका भेद कैसा ? भव-  
पर्याय तो अनेक है और उनका विनाश मरण है तब मरणके भेद उतने क्यों नहीं होंगे । अतः मनुष्यमे मरणके पाँच प्रकार ठीक नहीं है । एक जीव की भी भवपर्याय अनन्त होती है तब नाना-

कोज्जसर पंचत्वस्य । प्राणिनः प्राणेभ्यो जियोगो मरणं इति चेतदेकविषमेव सामान्यत । प्राणभेदापेक्षयैति चैदृशप्रकारतापद्यते । उदयप्राप्तकर्मपुद्गलगलन मरणं इति यदि गृह्यते प्रतिसमय गलनात्न पंचता । गुणभेदापेक्षया जीवान्पंचधा व्यवस्थाप्य तत्संबन्धेन पंचविधं मरणमुच्यते ।

अत्राप्या ध्याख्या—प्रशस्ततमं, प्रशस्ततर, ईषत्प्रशस्त, अविशिष्ट, अविशिष्टतर इति पंडितपंडित-मरणादीनि केचिद् । व्याचक्षते । पंडितशब्द प्रशस्तमित्यस्मिन्नर्थे न्व प्रयुक्तो दृष्टो येनैव व्याख्यायते ? किं च आगमातराननुगत चेद व्याख्यान ।

वचहारे सम्मले णाणे चरणे य पंडितस्स तवा ।

पंडितमरणं भणितं चतुब्धिकं तम्भयति हि ॥' [ ]

इति वदता चतु प्रकारा पंडिता उपदर्शिता । तेषा मध्ये अतिशयित पांडित्य यस्य ज्ञानदर्शनचारि-  
त्रेषु स पंडितपंडित इत्युच्यते । एतत्पांडित्यप्रकर्षरहित पांडित्यं यस्य स पंडित इत्युच्यते । व्याख्यात बाल्य  
पांडित्यं च यस्य स भवति बालपंडित. तस्य मरणं बालपंडितमरणं । यस्मिन्न सभवति पांडित्य चतुष्पान्मिव्येक  
असी बाल । सर्वतो न्यूनो बालबाल तस्य मरण बालबालमरण ।

अव के पंडितपंडिता येषा मरण पंडितपंडितमिति भण्यते इत्यारेकायामाह—

पंडितपंडितमरणे स्त्रीणकसाया मरति केवलिणो ।

विरदाविरदा जीवा मरति तदियेण मरणेण ॥२७॥

जीवोकी अपेक्षा पांच भेद कैसे सभव है ? यदि कहोगे कि प्राणीका प्राणोसे वियोग मरण है तो वह सामान्यसे एक ही प्रकार का है । प्राणभेदकी अपेक्षा लेना हो तो दस भेद हो सकते हैं ? यदि उदय प्राप्त कर्म पुद्गलोके गलनेका नाम मरण है तो कर्म पुद्गलोका गलन तो प्रति समय होता है अतः पांच भेद नहीं बनते ?

समाधान—गुणभेदकी अपेक्षा जीवोके पांच भेद करके उनके सम्बन्धसे मरणके पांच भेद कहे हैं ।

अन्य व्याख्याकार पण्डितपण्डितमरण आदि पांच मरणोको प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत् प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर कहते हैं । हम उनसे पूछते हैं कि पण्डित शब्दका प्रशस्त अर्थमें प्रयोग कहाँ देखा है जिससे आप ऐसी व्याख्या करते हैं । तथा यह व्याख्यान अन्य आगमोके अनुकूल नहीं है ।

आगममे कहा है—व्यवहारमे, सम्यक्त्वमे, ज्ञानमे और चारित्रमे पण्डितके मरणको पण्डित-मरण कहते हैं अतः उसके चार भेद हैं । इस प्रकार चार प्रकारके पण्डित कहे हैं । उनके मध्यमे जिसका पाण्डित्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें अतिशयशाली है उसे पण्डितपण्डित कहते हैं । उसके पाण्डित्यके प्रकर्षसे रहित जिसका पाण्डित्य होता है उसे पण्डित कहते हैं । पूर्वमे व्याख्यात बालपन और पाण्डित्य जिसमे होते हैं वह बालपण्डित है । उसका मरण बालपण्डितमरण है । और जिसमे चारो प्रकारके पाण्डित्यमे से एक भी पाण्डित्य नहीं है वह बाल है और जो सबसे हीन है वह बालबाल मरण है ॥२६॥

वे पण्डितपण्डित कौन है जिनका मरण पण्डितपण्डित कहा जाता है ? ऐसी शङ्का होनेपर आचार्य कहते हैं—

पंडितपंडितमरणं क्षीणकषाया मरति केवलिनो । सामान्यमूर्तेविशेषमूर्ति कर्मतया निर्दिष्टा पंडित-  
पंडितमरणमिति । यथा गोपीयं पुष्ट इति । 'क्षीणकषाया', कषन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कषाया ।  
अथवा कषायशब्देन वनस्पतीना त्वक्पत्रमूलफलरस उच्यते । स यथा वस्त्रादीना वर्णभन्धया सपादयति एव  
जीवस्य क्षामार्दवाज्ज्वसतोषाश्च्यगुणान्विनाश्यान्पथा व्यवस्थापयतीति क्रोधमानमायालोभा कषाया इति  
भण्यते । ते क्षीणा कषाया येषां ते क्षीणकषाया । द्रव्यकर्मणा कषायवेदनीयानां विनाशात्तन्मूला अपि भाव-  
कषाया प्रलयमुपगता इति क्षीणकषाया इति भण्यन्ते । केवलमसहाय ज्ञान इन्द्रियाणि मन प्रकाशादिक चान-  
नपेक्ष्य युगपदशेषद्रव्यपर्यायभासनसमर्थं सजन्<sup>१</sup> प्रवर्तते तद्यथा मरिते ते केवलिनः । यद्यपि केवलज्ञानवस्तु-  
सामान्ये न प्रवर्तते केवलशब्दस्तथापि सयोगकेवलिनो मरणस्यासम्भवादयोगकेवलिनो ग्रहण । ज्ञान्ये क्षीण-  
कषाया श्रुतकेवलिनश्चेति व्याचक्षते । तथा तद्व्याख्यानमसमजस श्रुतशब्दमत्रेण केवलशब्दस्य क्वाचिदप्यागमे  
समस्तश्रुतरत्नवत्यपि प्रयोगदर्शनात् । प्रसिद्धशब्दार्थासम्भो यदि स्यात् यथा कथंचिदन्योऽर्थो व्याख्येय  
स्यात् । सम्भवति प्रतीतेऽर्थे कथं तत्परित्यागः । अपि च पाठित्यप्रकर्षं क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्र्यपेक्षस्तत्र सन्नि-  
हितो न श्रुतकेवलिनः । विरदाविरता जीवा स्थूलकृतात्प्राणतिपातादेर्भावृत्ता इति विरता सूक्ष्माच्चा-  
व्यावृत्तेरविरता । विरता यदि कथमविरता आविरताश्चेत्कथं विरता इति विरोधाशङ्का न कार्या । विरत-

गा०—पण्डितपण्डितमरणसे क्षीण कषाय और अयोगकेवली मरते है । विरताविरत जीव  
तीसरे मरणसे मरते है ॥२७॥

टी०—'पण्डितपण्डितमरण मरते है' यहाँ पण्डितपण्डित नामक विशेष मरणको 'मरते है'  
इस सामान्य मरणके कर्मरूपसे कहा है । जैसे बँलके समान पुष्टको सामान्य पुष्ट शब्दसे कहा  
है । जो 'कषन्ति' अर्थात् आत्माका घात करती हैं उन्हें कषाय कहते है । कषाय शब्दसे वन-  
स्पतियोंके छाल, पात्र, जड़ और फलका रस कहा जाता है । वह रस जैसे वस्त्रादिके रगको  
बदल देता है इसी प्रकार जीवके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष नामक गुणोंको नष्ट करके  
अन्यथा कर देते है इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभको कषाय कहते है । वे कषाय जिनकी क्षीण  
हो गई हैं—नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय होते है । कषाय वेदनीय नामक द्रव्यकर्मोंका विनाश  
होनेसे उनका निमित्त पाकर होने वाली भावकषाय जिनकी नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय कहे  
जाते है । केवल अर्थात् असहाय ज्ञान, जो इन्द्रियों, मन, प्रकाश आदि की अपेक्षा न करके  
एक साथ समस्त द्रव्य-पर्यायोंको जाननेमें समर्थ है वह केवलज्ञान है । वह जिनके है वे केवली  
होते है । यद्यपि केवली शब्द केवलज्ञान रूप वस्तुसामान्यमें प्रवृत्त नहीं होता, तथापि सयोग-  
केवलीका मरण असम्भव होनेसे अयोगकेवलीका ग्रहण होता है । दूसरे व्याख्याकार 'क्षीणकषाय  
और श्रुतकेवली' ऐसा व्याख्यान करते है । उनका वह व्याख्यान ठीक नहीं है । श्रुत शब्दके  
बिना केवली शब्दका प्रयोग किसी भी आगममें समस्त श्रुतधारोंके लिए नहीं देखा गया । यदि  
शब्दका प्रसिद्ध अर्थ असम्भव ही हो तो जिस किसी तरह अन्य अर्थ किया जा सकता है । जब  
सम्भव अर्थ प्रतीतिसिद्ध है तो उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? दूसरे, पाण्डित्यका प्रकर्ष वहाँ  
क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और क्षायिक चारित्रकी अपेक्षा लिया गया है, वह श्रुतकेवलीमें नहीं है ।

जो स्थूल हिंसा आदिसे निवृत्त होनेसे विरत और सूक्ष्म हिंसा आदिसे अनिवृत्त होनेसे  
अविरत होते हैं वे जीव विरताविरत होते हैं । यदि वे विरत है तो अविरत कैसे है और अविरत

स्वाविरतत्वयोः अर्पणाभेदाद्विरोधो नास्त्वद ब्रह्मनाति । यथा द्रव्यपर्यायरूपापेक्षे नित्यानित्यत्वे एकद्रव्याधि-  
करणे एकस्मिन्नपि समये न विरोधमुपयात । अथवाऽप्रत्याख्यानावरणाना क्षयोपशमे सति स्थूलात्प्राणातिपाता-  
देविरतोऽस्मि न सूक्ष्मादित्येक एव परिणाम उपजायते । विरोधश्च नाम अनेकाधिकरण यथा शीतोष्णस्पर्शा-  
दीना । द्रव्यभावप्राणधारणाञ्जीवा इति निरूप्यते । 'तद्वएण' तृतीयेन मरणेन भ्रियन्ते । वस्तुपरिणाम-  
वृत्तिक्रमो यदि स्वात्तया गण्यमाने<sup>१</sup> द्वित्व त्रित्व वा प्रतिप्रचरेन् । गुणस्थानापेक्षाया सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरैव तृती-  
यता न मयतासयतत्वस्य तत्किमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणम्य तु सामान्यापेक्षाया एकत्वमेवेति न तृतीयता ।  
विशेषापेक्षाया च अतीताना च अनन्तत्वादानागताना चातिबहुत्वसम्भवात् । अत्रोच्यते—सूत्रनिदिष्टक्रमापेक्षाया  
तृतीयता ग्राह्या ।

विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीवद्रव्यस्य गते जीवा इति सूत्रे वचनमपार्थक्यमिति चेन्ना-  
नर्थकं मतातरनिवृत्तिपरत्वात् । साख्या हि प्रकृतिधर्मता मरणस्याभ्युपयन्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात् ।  
तत्तया न, उत्पादव्यप्रधौव्यात्मकत्वादान्मन । अत्रोच्यते—पण्डितपण्डितमरणादनन्तः पण्डितमरण तदुल्लङ्घ्य

हे तो विरत कैसे है इस प्रकारके विरोधकी आशङ्का नहीं करना चाहिए । अपेक्षा भेदसे विरतपने  
और अविरतपनेमें विरोधको कोई स्थान नहीं है । जैसे एक द्रव्यमें एक ही समयमें द्रव्यरूपकी  
अपेक्षा नित्यपना और पर्यायरूपकी अपेक्षा अनित्यपनामें कोई विरोध नहीं आता । अथवा अप्रत्या-  
ख्यानावरण कषायोका क्षयोपशम होनेपर स्थूल हिंसा आदिसे मैं विरत हूँ किन्तु सूक्ष्म हिंसादिसे  
विरत नहीं हूँ इस प्रकारका एक ही परिणाम होता है । विरोध तो उनमें होता है जो एक  
आधारमें न रहकर अनेक आधारोंमें रहते हैं जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श आदिमें विरोध  
है । अस्तु,

द्रव्यप्राण और भावप्राणोंको धारण करनेसे जीव कहे जाते हैं । विरताविरत जीव तीसरे  
मरणसे मरते हैं ।

शंका—यहाँ तृतीयसे यदि वस्तुके परिणामोंकी वृत्तिका क्रम लेते हैं तो गणना करनेपर  
दोपना या तीनपना प्राप्त होता है । गुणस्थानकी अपेक्षा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही तीसरा  
है, सयतासंयत नहीं है तब कैसे तीसरा कहते हैं । तथा सामान्यकी अपेक्षा मरण तो एक ही है,  
तीसरापना कैसे ? विशेषकी अपेक्षा अतीतमरण अनन्त है और भाविमरण उससे भी अधिक  
सम्भव है ?

समाधान—सूत्रमें जिस क्रमसे मरणोका निर्देश किया है उसकी अपेक्षा तीसरा लेना  
चाहिए ।

शंका—विरताविरत परिणाम विशेषका निर्देश करनेसे ही जीवद्रव्यका ज्ञान हो जाता है  
तब गायामे जीवा पद व्यर्थ है ?

समाधान—व्यर्थ नहीं है यह मतान्तरकी निवृत्तिके लिए है । साध्य मतवाले मरणको  
प्रकृतिका धर्म मानते हैं क्योंकि उनके मतमें पुरुष सर्वथा नित्य है । किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि  
आत्मा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है ।

शंका—पण्डितपण्डितमरणके अनन्तर पण्डितमरण आता है । उसे छोड़कर तीसरे मरणका

तृतीयस्य स्वामित्वं कस्मात्प्रदर्शयते क्रमोल्लघने प्रयोजनं बाध्यम् ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टजघन्यपण्डितत्वमभ्य-  
वृत्तिपण्डितत्वमित्येतदाख्यातुं उभयावधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पण्डितमरणे बहुवक्तव्यमस्तीति तत्साम्यासिकं  
व्यवस्थाप्य अल्पवक्तव्यतया बालपण्डितमेव प्राग् व्याचष्टे ।

कतिविधं पण्डितमरणं किं स्वामिकं वा इत्यारेकाया इय गाथा पायोपगमणमरणं इत्यादिका—

**पायोपगमणमरणं भक्तपङ्कणा य इंगिणी चैव ।**

**तिविहं पण्डितमरणं साहुम्स जहुत्तचारिस्स ॥२८॥**

पादाम्यामुपगमन ङोकन तेन प्रवर्तित मरण पादोपगमनमरण । इतरमरणयोरपि पादाम्यामुपगमन-  
मस्तीति त्रैविध्यामुपपत्तिरिति चेन्न मरणविशेषे वक्ष्यमाणलक्षणे रुद्धिरूपेणाप्य प्रवर्तते, रुद्धौ च क्रिया उपा-  
दीयमाना शब्दव्युत्पत्त्यर्थेव । यथा गच्छतीति गौरिति शब्दव्युत्पत्तौ क्रियमाणायामपि गमनक्रियाकर्तृतास्तीति

स्वामी कयो कहा ? क्रमका उल्लघन करनेका प्रयोजन क्या है यह कहना चाहिए ?

**समाधान—**उत्कृष्ट और जघन्य पण्डितत्वके मध्यमे रहनेवाला पण्डितत्व है यह कहनेके लिए दोनो अवधियोंको बतलाया है । अथवा पण्डितमरणके सम्बन्धमें बहुत कहना है इसलिए उसे अलग रखकर थोड़ा कथन होनेके कारण बालपण्डितमरण को ही पहले कहा है ॥२७॥

पण्डितमरणके कितने भेद है और वह किसके होता है, यह कहते हैं—

गाथा—पादोपगमन मरण, भक्तप्रतिज्ञा और इंगिणीमरण, इस प्रकार पण्डितमरण तीन प्रकार का है । वह शास्त्रमे कहे अनुसार आचरण करनेवाले साधु के होता है ॥२८॥

टी०—पाद अर्थात् पैरो से, उपगमन पूर्वक होनेवालेको पादोपगमन मरण कहते है ।

शंका—शेष दोनो मरणोमे भी पैरोसे उपगमन होता है अत तीन भेद नहीं बनते ?

**समाधान—**यह पादोपगमन रुद्धिरूपसे मरण विशेषमे प्रवृत्त होता है, इसका लक्षण आगे कहेगे । रुद्ध शब्दोमे ग्रहण की गई क्रिया शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए ही होती है । जैसे, जो चलती है वह गौ है । इस प्रकार गौ शब्दकी व्युत्पत्ति करने पर भी यद्यपि यह व्युत्पत्ति गमन क्रियाको

सं० टि०—सब प्रतियोमें इसके पश्चात् एक नीचे लिखी गाथा आती है उसका नम्बर भी २८ है । हमने गाथा २७ की जो उल्थानिका दी है वह भी इस २८ नम्बरकी उल्थानिका है । तथा ऊपर टीकामें विरताविरत परिणामसे जीव द्रव्यका ज्ञान हो जाता है आदि जो शङ्का प्रारम्भ होती है वहाँमे टीकाका भाग इस गाथा २८ की टीकाके रूपमें दिया है । गाथा इस प्रकार है—

**पण्डिषपण्डिवमरणं च पण्डिबं बालपण्डिबं चैव ।**

**एवाणि तिणि मरणाणि जिणा णिच्चं वसंसति ॥**

अर्थ—पण्डित पण्डित मरण, पण्डित मरण और बाल पण्डित मरण इन तीन मरणोकी जिनदेव सदा प्रशंसा करते हैं ॥

इस गाथाके साथ न तो उल्थानिकाका कोई सम्बन्ध है और न टीकाका कोई सम्बन्ध है । अतः यह गाथा प्रक्षिप्त है । प० आशाधरने गाथा २६ की अपनी टीकामें लिखा भी है—‘तथा चान्यसमाधानीय सूत्रे पठन्ति’ अर्थात् अन्यत्रसे लेकर पढते हैं इसके पश्चात् ही उन्होंने उक्त गाथा दी है । इसलिये हमने इसे मूलमें नहीं रखा ।



गोशब्देन न महिष्यादयो भण्यन्ते । अथवा पाउग्गगमणमरणं इति पाठ । भवतकरणप्रायोग्य सहनन संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्ति , तेन कारणभूतेन यन्निर्वर्त्यं मरण तदुच्यते पाउग्गगमण-मरणांमिति । भज्यते सेव्यते इति भक्त, तस्य पइष्णा त्यागो भक्तपइष्णा । इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसंभवे-ऽपि रुढिवशामरणविशेषे एव शब्दोऽयं प्रवर्तते । इंगिणीशब्देन इगितमात्मनो भण्यते स्वामिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमान मरण इगिणीमरण । तिबिहं त्रिविध त्रिप्रकार । पण्डितमरणं कस्य तद्भुवति ? 'साधुस्त' साधो 'अधुस्तचारस्त' यथा येन प्रकारेण उक्त श्रुते तथा चरितुं शील यस्य साधोस्तस्येति यावत् । सदा-चार सर्व एव जन सयतोऽभयतश्च लोके साधुशब्दवाच्य , इति सयतपरिग्रहाय यथोक्तचारित्वविशेषणं कृतम् ।

इतरयोर्बालमरणबालबालयोरित्यनयो स्वामित्वसूचनार्थगाथा—

अविरदसम्मादिद्वी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ।

मिच्छादिद्वी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥२९॥

अविरदसम्मादिद्वी इति प्रसिद्धार्थवान्न व्याख्येय । अत्रावमरे इदं चोद्यमाशक्यते । षोष्ठं आराधनं कमसो इति प्रतिज्ञात । ना च द्विप्रकार दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति । तद्व्याख्यानमकृत्वा मरणविकल्पा-

लेकर है किन्तु गौ शब्दसे भैस आदि नहीं कहे जा सकते । अथवा 'पाउग्गगमणमरण' पाठ है । यहाँ प्रायोग्य शब्दसे ससारका अन्त करनेके योग्य सहनन और सस्थान कहे जाते हैं । उसके गमन अर्थात् प्राप्तिको प्रायोग्यगमन कहते हैं । उसके कारण होनेवाले मरणको प्रायोग्यगमन मरण कहते हैं । 'भज्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाये वह भक्त है । उसकी 'पइष्णा' अर्थात् त्याग भक्त-पइष्णा है । भोजनका त्याग गेष दोनो मरणोमे भी सम्भव है । फिर भी रुढिवश भक्तपइष्णा शब्द मरण विशेषका ही बोधक होता है । इगिणी शब्दसे आत्माका इगित अर्थात् सकेत कहा जाता है । अपने अभिप्रायके अनुसार रहकर होनेवाला मरण इगिणीमरण है । इस तरह पण्डितमरण तीन प्रकार का है । पण्डितमरण किसके होता है ? श्रुतमे जिस प्रकारसे कहा है उसी प्रकारसे आचरणशील साधुके होता है । सभी सदाचार वाले मनुष्य, वे सयमी हो या असयमी, लोकमे साधु शब्दमे कहे जाते हैं । इमलिये सयमीका ग्रहण करनेके लिए 'यथोक्तचारी' विशेषण दिया है ॥२८॥

विशेषार्थ—अपने परोसे चलकर अर्थात् सघसे निकल कर योग्य देशमे आश्रय लेना पादोपगमन है । इसमे न स्वय अपनी सेवा करता है और न दूसरेसे कराता है । भक्त प्रतिज्ञा-मरणमे स्वय भी अपनी वैयावृत्य करता है और दूसरेमे भी कराता है । इगिणीमरणमे अपनी वैयावृत्य स्वय ही करता है दूसरेसे नहीं कराता । पादोपगमनको प्रायोपगमन भी कहते हैं और प्रायोपवेशन भी कहते हैं । 'प्राय' का अर्थ सन्यास है ॥

अब शेष बालमरण और बालबालमरणके स्वामियोको कहते हैं—

गाथा—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ बालमरणमे मरते है । मिथ्यादृष्टि पाँचवे बालबाल-मरणमे मरते है ॥२९॥

टी०—इस गाथाका अर्थ प्रसिद्ध होनेसे इसकी व्याख्या नहीं करते ।

शंका—यहाँ यह शंका करते हैं । ग्रन्थकारने 'क्रमसे आराधना को कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की है । वह आराधना दो प्रकार की है—दर्शनाराधना और चारित्राराधना । उनका व्याख्यान

स्तत्त्वामिनश्च कस्मान्निविष्यते । प्रस्तुतपरित्यागप्रस्तुताभिधानं च न क्षमते विद्वांसः । अत्रोच्यते—न अ-  
प्रस्तुतं अंतरनिदिष्ट मरण । आराधनानुगतमरणस्यैवैह शास्त्रेऽभिधेयत्वेनेष्टत्वात् । आराधनायाश्च आरा-  
धकमंतरणार्थमवात् । स्वामी च निर्देष्टव्य एवेति सूरेरभिप्रायः ॥

अत एव प्रस्तुता प्राथमिकीं दर्शनाराधना आचष्टे—

**तत्थोवसमियसमत्तं खड्यं खवोवसमियं वा ।**

**आराहंतस्स हवे सम्भत्ताराहणा पढमा ॥३०॥**

तत्थोवसमियसमत्तमित्यादिना । अथवा अतरसूत्रनिदिष्ट बालमरणव्याख्यान प्रस्तुता प्राथमिकी  
सम्यक्त्वााराधनां पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह—तत्थोवसमियसमत । अथवा सम्यग्दर्शनविशेषस्य कस्यचिदेव  
आराधना उत सर्वस्येत्याशंका । कुत भवेह ? आचार्यमतभेदेन पदानामर्थद्विविध्यात्सामान्य पदानामभिधेय ।  
'पदाच्छ्रुतार्थसामान्यनिर्मातृप्रतीत्युत्पत्तेर्न हि गमित्यत पदाच्छ्रुक्त्वा कृष्णा शबलामिति वा प्रतीति, खडा  
मुंडा इति वा आयते । यच्च पदोपलब्धिकार्यभूताया बुद्धौ न प्रतिभाति तत्कथ शब्दस्याभिधेयता गतुमुत्सहते ।  
अप्रतीयमानस्याप्यर्थत्वे अयमेवास्यार्थो नान्य इतीय व्यवस्था न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु  
मन्यते त्यागोपादानोपेक्षाख्या हि लोकव्यवहृतिस्तत्र पुमास प्रवर्तयितु शब्दा प्रयुज्यते । दुःखसाधन यत्तत्प-  
न करके मरणके भेद और उनके स्वामियोका कथन क्यों किया गया ? विद्वान् गण प्रस्तुतके  
परित्याग और अप्रस्तुतके कथनको सहन नहीं करते ?

**समाधान—**बीचमे जो मरणका कथन किया है वह अप्रस्तुत नहीं है । आराधना पूर्वक  
होनेवाले मरणका ही इस शास्त्रमे कथन करना इष्ट है । वही इसका अभिधेय—प्रतिपाद्य विषय है ।  
और आराधकके बिना आराधना होना असम्भव है । अत स्वामीका भी कथन करना ही चाहिए ।  
यह आचार्यका अभिप्राय है ॥२९॥

इसीलिए प्रस्तुत प्रथम दर्शनाराधना को कहते है—

**गाथा—**उन सम्यक्त्वोमे औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व अथवा क्षायोपशमिक  
सम्यक्त्वकी आराधना करने वालेके प्रथम सम्यग्दर्शन आराधना होती है ॥३०॥

**टी०—**अथवा इसके पूर्वकी गाथामे कहा बालमरणका व्याख्यान प्रस्तुत प्रथम सम्यक्त्वा-  
राधनाको लेकर ही किया है अत यहाँ उसका कथन करते है ।

**शंका—**यहाँ शंका होती है कि किसी सम्यग्दर्शन विशेषकी आराधना होती है या सबकी  
होती है ? इस सन्देहका कारण यह है । आचार्यों के मतभेदसे पदोका अर्थ दो प्रकारका माना  
जाता है । एक मत है पदोका अभिधेय सामान्य है क्योंकि पदसे सामान्य अर्थका बोध होता है ।  
'गौ' इस पदसे सफेद, काली या चित्तकबरी गौ की अथवा खण्डो या मुण्डो गौ की प्रतीति नहीं  
होती और पदकी उपलब्धिकी कार्यभूत बुद्धिमे जिसका प्रतिभास नहीं होता उसे शब्दका वाच्य  
कैसे माना जा सकता है । शब्द सुनकर जिस अर्थकी प्रतीति नहीं होती उसे भी यदि उसका अर्थ  
माना जाता है तो इस पदका यही अर्थ है, अन्य नहीं, यह व्यवस्था नहीं बनेगी । इसलिए सामान्य  
ही पदका अर्थ है ।

अन्य आचार्य मानते हैं कि लोक व्यवहार, त्याग, ग्रहण और उपेक्षा रूप है । उस व्यवहार-  
में पुरुषोंको प्रवृत्त करनेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है । जो दुःखका साधन होता है

ज्यते। सुखसाधनमुपादीयते। तदुभयस्यामपादकमुपेक्ष्यते। विशिष्टमेव च वस्तु सुखसाधना सपादक। तथाहि—स्त्रीवस्त्रगधमाल्यादिक अतिशयितमेवादातु उत्सहन्ते। दुःखसाधन चान्निकटवत्यैव कटकादिक परिजिहीर्षन्ति। तेन शब्देनापि तदधिना तथाभूतमेव वस्तु प्रतिपाद्यमित्युपगन्तव्य। अतो विशेष' पदानामर्थ इति। साख्यानामनेकविशेषवर्तिना पदानामेकपदप्रयोगाद्यदि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतावता विशेषस्याभिधेयताहानि पदातरसम्बन्धाने विशेषप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात् इति जैनानामुभय पदार्थ पशानामुभय प्रतीत्युपपत्तेः। तथाहि—न हिस्या प्राणिन प्राणिसामान्य परिहार्यत्वेन प्रतीयते। देवदत्तमान-येत्युक्ते पुरुषविशेषमवगच्छन्ति। ततो न ज्ञायते 'ममत् मि य' इत्यत्र सामान्य सम्यक्त्व गृहीत उत तद्विशेष इति तेन तत्सदेहनिवृत्ति क्रियते। 'तत्त्वं' तेषु सम्यक्त्वेषु। 'उत्समित्यसम्मतं' अनतानुबधिकोधमानमाया-लोभाना सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वाना च सप्तानामपशमादुपजात तत्त्वश्रद्धान औपशमिक सम्यक्त्वं। तासामेव सप्तप्रकृतौना क्षयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिक दर्शन। तासामेव कासाचिवुपशमात् अन्यासा च क्षयादुपजात श्रद्धान क्षायोपशमिक। वा शब्द प्रत्येक सबध्यते। औपशमिक वेत्यादिना क्रमेण। 'आराधत्स्स' आराधयत। 'हृबे' भवेत्। 'सम्मत्साराहण' सम्यक्स्वाराधना। 'पदमा' प्रथमा। 'अविर-दसम्मादिद्वी मरति बालमरणे' इत्युक्त। तत्राविरतग्रहण सम्यग्दृष्टेर्विशेषणस्वेनोपात्त। प्रतीतेन हि

उसको त्याग दिया जाता है। सुखके साधनको ग्रहण किया जाता है। जो न दुःखका साधन होता है, न सुख का, उसकी उपेक्षा की जाती है। तथा विशिष्ट वस्तु ही सुखादिका साधक होती है। जैसे स्त्री, वस्त्र, गध, माला आदि जो उत्तम होती है उसे ही ग्रहण करनेके लिए उत्साहित होते हैं। दुःखके साधन कण्टक आदि अपने निकटवर्ती भी हो तो उन्हें छोड़ देते हैं अतः शब्दके द्वारा भी सुखादिके अर्थी पुरुषोको विशिष्ट वस्तु ही प्रतिपाद्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अतः पदोका अर्थ विशेष है। समानाकार अनेक विशेषोमें रहनेवाले पदोका एक पदके प्रयोगसे यदि विशेषका अर्थ प्रतीत नहीं होता तो इससे विशेषके शब्दार्थ होनेको कोई हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि उसके साथ अन्य पदका सम्बन्ध होनेपर विशेषकी प्रतीति अनुभवसे सिद्ध है।

**समाधान**—जैनोंके मतमें पदोका अर्थ सामान्य भी है और विशेष भी है। दोनों की ही प्रतीति होती है। वही दिखलाते हैं—

'प्रणियोकी हिंसा नहीं करनी चाहिए' ऐसा कहनेपर प्राणी सामान्य अर्थात् प्राणिमात्रकी हिंसा नहीं करनी चाहिए यही प्रतीति होती है। और 'देवदत्तको लाओ' ऐसा कहनेपर पुरुष विशेषका बोध होता है। इस तरह पदका अर्थ दोनों होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि 'सम्मत्तस्मि' पदसे सामान्य सम्यक्त्व ग्रहण किया है या विशेष सम्यक्त्व ग्रहण किया है? इसलिए सान्देहकी निवृत्तिके लिए औपशमिक आदि सम्यक्त्व कहा है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंके उपगमसे उत्पन्न हुआ तत्त्वश्रद्धान औपशमिक सम्यक्त्व है। उन्हीं सात प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न हुई श्रद्धा, जो वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको विषय करती है, क्षायिक सम्यग्दर्शन है। उन्हींमेंसे किन्हींके उपशम और अन्य प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न श्रद्धान क्षायोपशमिक दर्शन है। 'वा' शब्द प्रत्येकके साथ लगता है। 'अविरदसम्यग्दृष्टी बालमरणसे मरता है' ऐसा जो पहले कहा है उसमें 'अविरत' पदका ग्रहण सम्यग्दृष्टीके विशेषणके रूपमें किया है। जो प्रतीत

विशेष्येण भाव्यम् । तथाचाभाणि—प्रतीतपदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभाव इति ।

तस्मात्कीदृग्जीवोऽभिधेयः सम्यग्दृष्टिशब्दस्येति प्रश्नस्योत्तरमाह—

**सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सहइइ ॥**

**सहइइ असन्भावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ॥३१॥**

सम्मादिट्ठी जीवो इत्यनया । अत्रैव पदघटना 'उवइट्ठं पवयणं तु सहइइ यो जीवो सो सम्मा-  
बिट्ठी' इति । उवइट्ठं उपदिष्ट कथित । ननु उपपूर्वो विशिष्टाकारणक्रिय । तथा हि प्रयोग — उपदिष्टा  
वर्णा उच्चारिता वर्णा इति । मत्स्यम्, ममुच्चारणक्रियस्तत्रैव वर्तते नान्यत्र इत्यत्र न निबन्धन किञ्चित् । यथा  
ना दोमिध इत्यादिषु सास्नादिमति दृष्टप्रयोगोऽपि गोशब्दो वागादिषु अपि वर्तते एवमिहापीति किं न गृह्यते ?  
उपदिष्टमपि न वेत्ति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरुपजायते सा कथमपास्यते । प्रायोग्यवृत्तिसमधिगम्यो हि  
शब्दार्थ । प्रोच्यन्ते जीवादव पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचन जिनागम । प्रकर्षश्रोक्त, दृष्टेष्टप्रमाणा-  
विरोधिता वस्तुयाथात्मानुसारिता च । प्रवचनवाच्योऽर्थ साहचर्यात्प्रवचनमिति नमृह्यते । तु शब्द एव-  
कारार्थ । स च क्रियापदात्परतो द्रष्टव्य । व्याख्यात जैनागमार्थ य श्रद्धात्वेव न तु श्रद्धाति (?) इत्ययो-  
गव्यवच्छेद । स जीव सम्मादिट्ठी मध्यग्दृष्टिशब्दवाच्य इति प्रतीतपदार्थकत्वमादक्षित । 'सहइइ' श्रद्धानं

होता है वह विशेष्य होता है । कहा भी है—प्रतीत पदार्थोमे विशेषण विशेष्यभाव होता है ॥३०॥

सम्यग्दृष्टी शब्दका वाच्य किस प्रकारका जीव होता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते है—

शा०—उपदिष्ट अर्थात् कथित जिनागममे श्रद्धान कर्ता हो है जो जीव वह सम्यग्दृष्टी  
है । किन्तु नहीं जानने हुए गुरुके नियोगमे असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है ॥३१॥

टी०—शंका—उपपूर्वक दिशि धातुका अर्थ उच्चारण करना है । जैसे 'उपदिष्टवर्ण' का  
अर्थ उच्चारित वर्ण है । आपने उपदिष्टका अर्थ कथित कैसे किया है ?

समाधान—आपका कथन सत्य है किन्तु समुच्चारण क्रिया अर्थ वाली धातु उसी अर्थमें  
है, अन्य अर्थमें नहीं है इसमें हम कोई निबन्धन नहीं देखते । जैसे 'गो दुहता है' इत्यादि वाक्योंमें  
गौ शब्दका प्रयोग गलकम्बलवाले पशुके अर्थमें देखा जाता है । फिर भी गौ शब्द वाणी आदि  
अर्थोंमें भी देखा जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी क्यो नहीं स्वीकार करते । 'उपदिष्टको भी नहीं  
जानता' इत्यादिमें 'कथित' अर्थकी प्रतीति होनी है उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? शब्दका अर्थ  
उसके प्रयोगसे जाना जाता है ।

जिसके द्वारा अथवा जिसमें जीवादि पदार्थ कहे है वह प्रवचन है उसका अर्थ जिनागम है ।  
प्रवचनमें, 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट है । प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविच्छेद और वस्तुके यथार्थ  
स्वरूपका अनुसारी होना वचनकी प्रकृष्टता है यह पहले कहा है । साहचर्यसे प्रवचनके द्वारा कहे  
गये अर्थको भी प्रवचन कहते हैं । 'तु' शब्दका अर्थ 'ही' है । उसे क्रियापद के आगे रखना चाहिये ।  
अतः जो व्याख्यात जिनागम के अर्थका श्रद्धान करता ही है वह जीव सम्यग्दृष्टी शब्दके द्वारा  
कहा जाता है, इस प्रकार दिखलाया है । गुरु अर्थात् व्याख्याताके नियोगसे इसका यह अर्थ है

करोति । 'असत्भावमपि' असत्यमप्यर्थ । 'अयाजमानो' अनयगच्छन् । कि ? विपरीतमनेनापदिष्टमिति । गुरोर्ब्रह्मिण्यानुरस्यायमर्थ इति कथनाभियुज्यते प्रतिपत्त्या श्रुता अनेन वचनेन इति नियोग कथन । सर्वज्ञ-प्रणीतस्यागममर्थ आचार्यपरंपरया अविपरीत । श्रुतोऽवधृतज्ञानेन सूत्रिणा उपदिष्टो ममेति सर्वज्ञाज्ञाया रुचिरस्यास्तीति । आज्ञारुचितया सम्यग्दृष्टिर्भवत्येवेति भाव ।

किमेव विपरीत प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव ? नेत्याह—

**सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहिदि ॥**

**सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥३२॥**

सुत्तादो इति । 'सुत्तादो' सूत्रात् । 'तं' आत्मना विपरीतं गृहीतमर्थ । 'सम्मं' सम्यक् अविपरीतरूपेण । 'दरसिज्जंतं' दर्शयमान प्ररूप्यमाण अन्वयेन आचार्येण । 'जदा' यदा यस्मिन्काले । 'सद्दहिदि' न श्रद्धाति । 'सो चेव' न एव सम्यग्दृष्टितयोक्त । 'मिच्छादिट्ठी हवइ' मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताज्ञाश्रद्धान-वैकल्यात् अर्थयाथात्म्याश्रद्धानाच्च । 'तदो' तत । 'पहुदि' प्रभृति आरभ्य । असंदिग्धसूत्रातरदणितार्थाश्रद्धानादारभ्येति यावन् ।

'सुत्तादो त सम्म दरसिज्जंतं' इत्युक्त केन रचितानि सूत्राणि प्रमाणभूतानीत्यत आह—

**सुत्त गणधरगधिद तहेव पत्तेयबुद्धकहिंयं च ॥**

**सुदकेवलिणा कहिंयं अभिण्णदसपुन्विगधिदं च ॥३३॥**

ऐसा कहनेसे श्रुता इस वचनके द्वारा नियुक्त किया जाता है इस लिये उसे नियोग कहा है, गुरुने विपरीत कथन किया है यह न जानत हुए असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है । सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगमका अर्थ आचार्य परंपरासे जो ठीक-ठीक सुना और अवधारित किया है वही आचार्यने मुझे कहा है इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञामे उसकी रुचि है और आज्ञामे रुचि होनेसे वह सम्यग्दृष्टी ही है यह उक्त कथनका भाव है ॥३१॥

क्या वह इस प्रकार विपरीत श्रद्धा करते हुए भी सर्वदा सम्यग्दृष्टि ही रहता है ? इसका उत्तर देते हैं कि नहीं—

गा०—सूत्रसे प्रथम गुरुके उपदेशसे विपरीत रूपसे ग्रहण किये अर्थको सम्यक् अविपरीत रूपसे अन्य आचार्यके द्वारा दिखलाने पर जब श्रद्धा नहीं करता । वही सम्यग्दृष्टी उस समय से मिथ्यादृष्टि होता है ॥३२॥

टी०—प्रथम गुरुके निर्देशसे विपरीत अर्थका श्रद्धान करने वाले उस सम्यग्दृष्टीको जब कोई दूसरे आचार्य गणधर आदिके द्वारा रचे गये आगम प्रमाणका आश्रय लेकर यथार्थ अर्थ बतलावे और वह उसपर श्रद्धा न करके अपने विपरीत अर्थको ठीक समझे तो सन्देह रहित अन्य शास्त्रोमे दिखलाये गये अर्थपर श्रद्धान न करनेके समयसे लेकर वह मिथ्यादृष्टी होता है क्योंकि वह आप्तकी आज्ञाका श्रद्धान नहीं करता तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी उसे श्रद्धा नहीं है ॥३२॥

ऊपर 'सूत्रसे सम्यक् दिखलाने पर' ऐसा कहा है तो किसके द्वारा रचित सूत्र प्रमाण होते हैं यह कहते हैं—

गा०—जो गणधरके द्वारा रचा हुआ हो, प्रत्येक बुद्धके द्वारा कहा हुआ हो, या श्रुतकेवली के द्वारा कहा हुआ हो या अभिन्न दशपूर्वके द्वारा रचा गया हो वह सूत्र है ॥३३॥

सुप्त गणधरगणधर इति । सुप्त सूत्रं । गणशब्देन द्वादशगणा उच्यन्ते । तान्धारयन्ति इति गणधरा । दुर्गतप्रस्थिता हि तेन रत्नत्रयोपदेशेन धार्यन्ते ते सप्तविधद्विमुपगता । उवत च—

बुद्धितबन्धुगुणोसधिरसबलं च अस्कोणं ॥

सप्तविध इद्द्विपत्ता गणधरदेवा गणो तेति ॥ [ ]

इति । तं 'गणधर' ग्रथितं सद्बन्धु । केवलभिरुपदिष्ट अर्थं ते हि ग्रन्थन्ति । तथाग्रन्थायि—'अत्य कर्तुं अर्हता गणं गंथति गणधरा तेति । 'तद्देव' तथैव । 'पत्तयेदुद्धगणधरं' च प्रत्येकबुद्धग्रथितं च । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् परोपदेशमन्तरेणाधिगतज्ञानातिशया प्रत्येकबुद्धा । 'सुषकेवलिणा' समस्तश्रुतधारिणा कथितं चेति । अभिन्नदसपुञ्जकथितं च । दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्यानुवादस्या क्षुल्लकविद्या महाविद्याश्च अगुष्ठ-प्रसेनाद्या प्रज्ञाप्यादयश्च तैरागत्य रूप प्रदर्श्य, सामर्थ्यं स्वकर्मभाष्यं पुर स्वित्वा आज्ञाप्यता किमस्माभि कर्तव्यमिति तिष्ठति । तद्वच श्रुत्वा न भवतीभिरस्माकं साध्यमस्तीति वे वदन्ति अचलितचित्तास्ते अभिन्न-दशपुञ्जिनः । एतेषामन्यतमेन ग्रथितं सूत्रं प्रमाणं । प्रमाणेन केवलैरेन श्रुतेन वा गृहीतमर्थं अरक्तद्विष्टा सती यदुपदिशति ततस्तद्वचसा प्रामाण्यं इति भावः । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचर अरक्तद्विष्टवक्तुप्रभव वच प्रमाणं । यथा पितुररक्तद्विष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचर वच षटोऽयं रक्त इति । तथा च गणधरादीना वच प्रमाण परि-दृष्टार्थगोचर अरक्तद्विष्टवक्तुप्रभवम् ।

टी०—गण शब्दसे बारहगण कहे जाते है । जो उन्हे धारण करते है वे गणधर है । अर्थात् दुर्गतिके मार्ग पर चलते हुए गणोको रत्नत्रयके उपदेश द्वारा धारण करते है उन्हे सम्यग्दर्शनादिमे स्थापित करते हैं । वे गणधर सात प्रकारकी ऋद्धियोंको प्राप्त होते है । कहा है—बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, और अधोणऋद्धि इन सात प्रकारकी ऋद्धियोंको प्राप्त गणधरदेव होते हैं । उन्हे नमस्कार हो ॥

वे गणधर केवलियोंके द्वारा उपदिष्ट अर्थको ग्रन्थरूप गूथते है । कहा है—अरहन्त अर्थको कहते है और उनके गणधर उसे ग्रन्थका रूप देते है । श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे परोपदेशकं बिना जो ज्ञानातिशयको प्राप्त होते है वे प्रत्येकबुद्ध है । जो समस्त श्रुतके धारी होते है वे श्रुतकेवली है । दश पूर्वोका अध्ययन करते हुए दसवे पूर्व विद्यानुवादमें स्थित अंगुष्ठ प्रसेना आदि क्षुल्लक विद्याएँ और प्रज्ञप्ति आदि महाविद्याएँ आकर अपना रूप दिखाकर और अपनी शक्ति कहकर सामने खड़ी होकर निवेदन करती है कि हमारे योग्य कार्य बताये । उनके वचन सुनकर जो कहते हैं कि हमे आपसे कोई काम नहीं है, वे अचल चित्त वाले अभिन्न दसपूर्वी होते है । इनमेंसे किसी भी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण है । केवल ज्ञानरूप अथवा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणसे द्वारा गृहीत अर्थको रागद्वेषसे रहित होकर कहते हैं इस लिये इनके वचन प्रमाण है । जो वचन प्रमाणके द्वारा देखे गये अर्थको कहते है और रागद्वेषसे रहित वक्तासे उत्पन्न होते है वे प्रमाण है । जैसे रागद्वेषसे रहित पिताके द्वारा स्वयं प्रत्यक्षमे जानकर कहे गये वचन 'यह घडा लाल है' प्रमाण है । उसी तरह गणधर आदिके वचन प्रमाण है क्योंकि अच्छी तरहसे देखे गये अर्थको कहते है और रागद्वेषसे रहित वक्तासे उत्पन्न हुए है ॥३३॥

१ अत्य भासह अर्हता सुप्त गथति गणधरा निउण ।—आव० नि० ९२ ।

२ रथ्य इति आ० मु० ।

भवतु नामैषां अन्यतमेन प्रणीत सूत्र प्रमाणं तदर्थकथनं तु को विपरीत करोति को वाऽविपरीत-  
मित्यारेकाया अविपरीतार्थकथनकारिणो लक्षणमाहोत्तरगाथया—

**गिह्दित्थो संविग्गो अच्छुवदेसे ण संकणित्तो हु ।**

**सो च्चैव मंदधम्मो अच्छुवदेसम्मि भजणित्तो ॥३४॥**

'गिह्दित्थो संविग्गो' गृहीत आत्मसाकृतोऽवधारितोऽर्थ सूत्रस्य येन स' गृहीतार्थं अवधत्सूत्रार्थं इति यावत् । 'संविग्गो' ससाराद् द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात् भयमुपगत । विपरीतोपदेशे रागात्कोपाद्वा अनतकालं ससारपरिभ्रमं मम मिथ्यादृष्टे सतो भविष्यतीति य सभय । 'अच्छुवदेसे' अर्थस्याभिधेयस्य सूत्राणामुपदेशे । 'न संकणित्तो' नैवाशयय । खु शब्द एवकारार्थः । 'सो च्चैव' स एव च गृहीतार्थः । 'मंदधम्मो' धर्मशब्दश्चारित्रवाची "चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति गिह्दित्तो" [प्रवच० १।७] इति वचनात् । ततो मदचारित्र इत्यर्थः । 'अच्छुवदेसम्मि' सूत्रार्थव्याख्यानं ? 'भयणित्तो' भाज्य । यदि सूत्रानुसारि युक्त्यनुगत वा तद्व्याख्यानं ग्राह्यमन्यथा नेति यावत् ।

किमधिगतमप्रपचवचनार्थो भूत्वा श्रद्धानवान्य स एव च सम्यग्दृष्टिः, स एव सम्यक्त्वाराधक इत्यारेकायामाह अन्योऽप्यस्तीति—

**धम्माधम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य ।**

**आणाए सद्दहन्तो समत्ताराहओ भणिदो ॥३५॥**

इनमेसे किसी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण रहो । किन्तु उसके अर्थका कथन कौन विपरीत करता है और कौन अविपरीत करता है ? ऐसी शङ्का होनेपर अविपरीत अर्थका कथन करने वालेका लक्षण आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण किया है, संसारसे भयभीत है वह सूत्रोंके उपदेशमें शङ्का करनेके योग्य नहीं ही है । वही गृहीतार्थं मद चरित्र वाला हो तो सूत्रके व्याख्यानमें भाज्य है ॥३४॥

टी०—जिम्हने सूत्रका अर्थ अच्छी तरह ग्रहण करके उसे अपने मनमें अवधारित किया है और द्रव्य भाव परिवर्तन रूप संसारसे डरता है, राग या द्वेषसे विपरीत उपदेश करने पर मुखे मिथ्यादृष्टी होकर अनन्तकाल संसारका परिभ्रमण करना होगा इस प्रकारका जिसे भय है वह तो सूत्रोंके अर्थका उपदेश करनेमें शङ्का करने योग्य बिल्कुल नहीं है । गाथामें आये हुए खु शब्दका अर्थ 'ही' है । किन्तु वही गृहीतार्थं यदि मन्दधर्मी है, यहाँ धर्मशब्द चरित्रका वाचक है क्योंकि कहा है—चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है उसे सम कहा है । अत मन्द धर्मका अर्थ मन्द चारित्र लेना चाहिये । तो उसका व्याख्यान यदि सूत्रके अनुसार अथवा युक्तिके अनुकूल हो तब तो ग्रहण करने योग्य है अन्यथा नहीं है ॥३४॥

क्या जो विस्तार पूर्वक सूत्रके अर्थको जानकर श्रद्धान करता है वही सम्यग्दृष्टी है, वही सम्यक्त्वका आराधक है ? ऐसी शङ्का करनेपर आचार्य कहते हैं कि अन्य भी सम्यग्दृष्टी होता है—

गा०—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, कालद्रव्य और जीवद्रव्यको आशासे श्रद्धान करने वाला सम्यक्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

‘धम्माधम्मगासाणित्ति’— जीवपुद्गलयो स्वावस्थिताकाशदेशाहंशान्तर प्रति गति परिस्पदपर्यायं परप्रयोगत स्वभावतो वा विद्यते । अन्येषा निष्क्रियतेति न गतिरस्ति । अनयोर्गतिपर्यायस्य बाह्यं गतिहेतुत्व-सञ्जित गुण धारयतीति धर्मः । तं न धारयतीत्यधर्मः । यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुताया साधारण तथापि न तत्र धर्मशब्दस्य वृत्तिः । प्रतिनियतविषया रूढय इत्युक्तमेव । अथवा स्थितेश्चासीनहेतुत्वादर्धमः । न च जीवादीना स्थितेश्चासीनहेतुत्वमस्ति । तावेतानुभावपि असंख्यातप्रदेशो एकतामेवोद्बहन्तो सूक्ष्मो नि क्रिया रूपादिरहितो । आकाश अनतप्रदेशाध्यासितं सर्वथा अवकाशदानसामर्थ्योपेत । पुद्गलास्तु रूपरसगन्धस्पर्शवत् अणुस्कन्धरूपभेदाद्द्विविधा । कालो निश्चयेतरविकल्प । जीवा उपयोगात्मका । एतानर्थान् । ‘आणाए’ आज्ञया आप्ताना । सावधारण चेद । आज्ञायैव षड् द्रव्याणि सन्तीति श्रद्धान्तव्यं भवतीति आप्तवचनबलेनैव श्रद्धा तत्र करोति न निक्षेपनयादिमुखेन, प्रवृत्तयाधिगत्या सोऽपि मन्मक्त्वस्वाराधकः ।

जीवद्रव्यविषय निधोगत श्रद्धान कर्तव्य इत्येतदास्थानायोत्तरगाथा—

**संसारसमावण्णा य छन्विहा सिद्धिमसिदा जीवा ।**

**जीवणिकाया एदे सद्दहिद्व्वा हु आणाए ॥३६॥**

‘संसारं’ चतुर्गतिपरिभ्रमण । ‘समावण्णा’ सप्राप्ता शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनाम्मुद्यता, स्वयोग-त्रयानीतपुण्यपापोदयजनितमुखुदु खानुभवनिरता । त्रसस्यावरकर्मोदयापादितत्रसस्यावरभावा, विचित्रमति-

टी०— जीव और पुद्गलमे अपने रहनेके आकाशसे अन्य देशमे गमन हलन चलन रूप पर्यायोके द्वारा परके प्रयोगमे अथवा स्वभावसे होता है । अत गतिमान ये दो ही द्रव्य है । क्रिया रहित होनेसे अन्य द्रव्योमे गति नहीं है । इन दोनों द्रव्योकी गतिपर्यायका बाह्य गति हेतुत्व नामक गुण जो धारण करता है वह धर्म है । और जो उस गुणको धारण नहीं करता वह अधर्म है । यद्यपि जीवादिमे भी गतिहेतुताका साधारण धर्म रहता है तथापि उनमे धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं है, उन्हें धर्मके नामसे नहीं कहते, क्योंकि रूढि शब्द प्रतिनियत विषयोमे रहते है यह पहले कहा ही है । अथवा जो स्थितिका उदासीन हेतु है वह अधर्मद्रव्य है । जीवादि द्रव्य स्थितिके उदासीन हेतु नहीं है । ये दोनों धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है, एक एक है, सूक्ष्म और निष्क्रिय है तथा इसमे रूप रस आदि गुण नहीं रहते । आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेश वाला है और सब द्रव्योको अवकाश देनेकी शक्तिसे युक्त है । पुद्गल तो रूप रस गन्ध और स्पर्श गुण वाला है । उनके अणु और स्कन्धके भेदसे दो भेद है । कालके निश्चयकाल और व्यवहारकाल भेद है । जीव उपयोगगुण वाले है । इन द्रव्योका जो आप्तकी आज्ञासे ही श्रद्धान करता है कि छह द्रव्य है, निक्षेप नय आदिके द्वारा जानकर श्रद्धान नहीं करता, वह भी मन्मक्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

जीव द्रव्य विषयक श्रद्धान नियमसे करना चाहिये, यह कहनेके लिए आगेकी गाथा—

गा०—संसार अवस्थाको प्राप्त छह प्रकारके और सिद्धिको प्राप्त जीव होते है । ये जीव-निकाय आप्त की आज्ञाके बलसे श्रद्धान करनेके योग्य हैं ही ॥३६॥

टी०—चतुर्गतिमे परिभ्रमणको संसार कहते है । उसे जो प्राप्त है वे ससारी है । ससारी जीव अच्छा बुरा शरीर ग्रहण करने और त्यागनेमे लगे रहते है । अपने मन वचन काय योगके द्वारा बाँधे गये पुण्य पाप कर्मके उदयसे होने वाले सुख दुःख को भोगनेमे लीन रहते है । त्रसनाम



ज्ञानावरणोदयेन तत्क्षयोपशमविशेषेण च एकेन्द्रिया, विकलेन्द्रिया, समप्रेन्द्रिया पर्याप्तपर्याप्तिकर्मोदयनिर्वर्तित-  
पृथ्विषपर्याप्तियस्तदितरे च, पृथिव्यादिशरीरभारोद्बहनचतुरा, आयुराख्यप्रकृतिचतुष्टयलावगाढबधनपराधीन-  
वृत्तय । नवविकल्पयोनिमसाश्रयोपजाततनुव्वासक्तबुद्धय । जराढाकिनीपीतरूपरक्ता, मृत्युदुर्वारकूराशनि-  
सगतचकितचेतस ससारिण 'छन्दिषा' षट्प्रकारा पृथिव्यादिशरीरसम्बन्धत । 'सिद्धि' सम्यक्त्वकेवलज्ञान-  
दर्शनवीर्याव्यावाधत्परमसूक्ष्मत्वावगाहनादिस्वरूपनिष्पत्तिम् । 'अस्तिवा' आश्रिता । 'जीवा' जीवा । ननु  
जीव प्राणधारणे इति वचनात् जीवति प्राणान्धारयति इति जीव । प्राणाञ्चेन्द्रियादय कर्मनिर्वर्त्या पुद्गल-  
स्कन्धधारणभूतेषु कर्मस्वमनु न विद्यन्ते । ततः कथं सिद्धाना जीवतेति ? नैप दोष, द्विविधा प्राणाः द्रव्यप्राणा  
भावप्राणाश्चेति । द्रव्यप्राणा इन्द्रियादय कर्महेतुका । भावप्राणास्तु ज्ञानवर्गनादय । न ते कर्मनिमित्तका ।  
कर्मभावे प्रसूते । तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धाना । अथवा यदेव कृतप्राणधारण वस्तु तदेवेद-  
मिति प्रत्यभिज्ञोपदेशितमेकव्यभिक्त्य जीवव्यपदेश सिद्धानाम् । अथवा जीवशब्दश्चेतनावति रुडिशब्द ।  
रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थे तदमभवेऽपि तदुपलक्षणगृहीतं सामान्यमाश्रित्य वर्तत एव । यथा गच्छतीति  
गौरिति व्युत्पादितोऽपि गोशब्दोऽत्रत्यामपि गतो स्थिरता गौनिषण्णेत्यत्र वर्तते । गमनेनाध्रुवेणोपलक्षितस्य  
गोत्वस्य सद्भावात् । एव प्राणधारणोपलक्षणश्चेत्त्याश्रयाज्जीवशब्दस्य सिद्धेण वृत्ति । 'जीवनिष्काया' जीव-

कर्मके उदयमे त्रम और स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर भावको प्राप्त होते है । अनेक प्रकारके  
मूर्तिज्ञानावरणके उदयसे और उसके क्षयोपशमके विशेषसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय  
होते है । पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे बनी छह पर्याप्तियोंसे यथायोग्य युक्त होते है और अपर्याप्ति  
नाम कर्मके उदयम अपर्याप्त होते है । पृथिवी आदि कायके शरीरके भारको धारण करने वाले  
होते है । आयुनामक कर्मकी मजबूत साकलसे कसकर बन्धनके कारण पराधोन होते है । नौ  
प्रकारकी योनिके आश्रयसे उत्पन्न हुए शरीरोमे उनकी अति आसक्ति होती है । उनके रूप और  
रक्तको जरा रूपी चुड़ेल पी जाती है । मृत्युरूपी कूर वज्रपातसे, जिसे टालना अशक्य है उनके  
चित्त भयभीत रहते है । ये ससारी जीव पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारके है ।

सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, अव्यावाधत्त्व, परमसूक्ष्मत्व, अवगाहना आदि  
स्वरूपकी प्राप्तिको सिद्धि कहते है । उसे प्राप्त सिद्ध जीव है ।

**शंका**—जीव शब्द प्राणधारणके अर्थमे है ऐसा वचन है । 'जीवति' अर्थात् प्राणोको  
धारण करता है वह जीव है । और प्राण इन्द्रिय आदि कर्मजन्य है । सिद्धोके पुद्गलस्कन्ध रूप  
कर्म नहीं है तब सिद्धोमे जीवपना कैसे है ?

**समाधान**—यह दोष नहीं है क्योंकि प्राणोके दो भेद है—द्रव्य प्राण और भाव प्राण ।  
द्रव्य प्राण इन्द्रिय आदि कर्मके उदयसे होते है । किन्तु भाव प्राण ज्ञानदर्शन आदि कर्मके निमित्तसे  
नहीं होते, कर्मोके अभावमे प्रकट होते है । अतः भाव प्राण धारण करनेसे सिद्धोमे जीवपना  
न्याय्य है । अथवा जिसने पहले प्राणोको धारण किया था वही यह है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके  
द्वारा एकत्वको लेकर सिद्धोको जीव कहा जाता है । अथवा जीव शब्द चेतनावानके अर्थमे रूढ  
है । और रूढिमे क्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये होती है । अतः उसके न होनेपर भी उसके उप-  
लक्षणसे गृहीत सामान्यका आश्रय लेकर उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है । जैसे जो चले वह गौ है  
इस प्रकारसे व्युत्पत्ति करनेपर भी गौ शब्द नहीं चलनेपर भी गौके अर्थमे व्यवहृत होता है जैसे  
बैठी हुई गौ । गमन तो अघ्न व है फिर भी उसमें गोपना वर्तमान है । इसी तरह प्राणधारणसे

समूहा । 'सहृदिवन्वा' खु श्रद्धातव्या. एव । 'आणाए' आसामानाशावलात् ।

जीवाश्रद्धाने मुक्तिसंसारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थप्रयासानुपपत्तिरिति भाव । यदि नाम धर्मादिद्रव्या-परिजानात् परिजानसहचारिश्रद्धाने नोत्पन्न तथापि नास्ती मिथ्यादृष्टिदर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्या-ज्ञानविषयस्याभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धान इति गृहीत । श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमित्यमिति श्रुतनिरूपितेऽर्थात् ।

श्रद्धातव्य प्रकारांतरेणापि निर्देष्टु उत्तरगाथा—पूर्वं सर्वद्रव्यविषयश्रद्धानमुक्त, पश्चादतिशयप्रति-पादनार्थं जीवद्रव्यविषया श्रद्धा निरूपिता अनतरगाथया । इदं तु आस्रवादयोऽपि श्रद्धातव्या इति सूच्यते—

**आस्रवसंवरणिज्जरबंधो मुखस्यो य पुण्णयावं च ॥**

**तद् एव जिणाणाए सहृदिव्वा अपरिसेसा ॥३७॥**

'आस्रवसंवरणिज्जर' । आस्रवत्यनेनेत्यास्रव । आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्याय पुद्गलाना येन कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रव । ननु कर्मपुद्गलाना नान्यत् आगमनमस्ति यमाकाश-प्रदेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिता पुद्गला अनतप्रदेशिन कर्मपर्याय भजन्ते 'एयविस्सत्तोगाढं' मिति वचनात् । तत् किमुच्यते आगच्छतीति ? न दोष । आगच्छन्ति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येव गृहीतव्य ।

उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे सिद्धोमे जीव शब्दका व्यवहार होता है ।

आप्तकी आज्ञाके बलसे जीवके इन समूहोंका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि जीवका श्रद्धान न होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति और संसारके विषयोंके त्यागके लिये प्रयास नहीं हो सकेगा । यदि धर्मादि द्रव्योका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ रहनेवाला श्रद्धान नहीं उत्पन्न हुआ । तो भी वह मिथ्यादृष्टि नहीं है क्योंकि दर्शन मोहके उदयसे होनेवाला श्रद्धानरूप परिणाम, जिसका विषय अज्ञान है, उसका अभाव है । अश्रद्धानका अर्थ श्रद्धानका न होना नहीं लिया है किन्तु श्रद्धानसे जो अन्य है वह अश्रद्धान है अर्थात् श्रुतमे कहे हुए तत्त्वमे अरुचि अश्रद्धान है ॥३६॥

प्रकारान्तरसे श्रद्धा करने योग्यका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा है । पहले सब द्रव्योंके श्रद्धान करनेको कहा । पीछे अतिशय प्रतिपादन करनेके लिये जीव द्रव्य विषयक श्रद्धाका कथन इसके पूर्ववर्ती गाथाके द्वारा किया । इस गाथासे आस्रव आदिकी भी श्रद्धा करना चाहिये, यह सूचित करते हैं—

गा०—आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष और पुण्य, पाप ये सब सातो पदार्थ उसी प्रकार जिनदेवकी आज्ञासे श्रद्धान करने चाहिये ॥३७॥

टी०—जिसके द्वारा आना होता है वह आस्रव है । जिस कारणभूत आत्मपरिणामसे पुद्गलोंका कर्म पर्यायरूपसे आगमन होता है वह परिणाम आस्रव है ।

शंका—कर्म पुद्गलोंका आगमन अन्य देशसे नहीं होता । जिस आकाश प्रदेशमे आत्मा व्हरा होता है वही पर स्थित अनन्तप्रदेशी पुद्गल कर्मपर्याय रूप होते हैं, क्योंकि आगममे 'एकश्रोत्रावगाढ' कहा है । तब आप कैसे कहते हैं कि आते हैं ?

समाधान—इसमे दोष नहीं है, आगमनका अर्थ ज्ञानावरणादि पर्याय रूपको प्राप्त होना

न देशान्तरपरिस्पन्द इहागमनं विवक्षित । तेन तत्प्रदोषनिह्ववमात्सर्यान्तरायासादनोपघातादय जीवपरिणामा-  
कर्मत्वपरिणते पुद्गलाना साधकतमया विवक्षिता आस्रवशब्देनोच्यते । अथवा आस्रवण कर्मतापरिणति'  
पुद्गलानां आस्रव इत्युच्यते । सत्रियते ससृज्यते मिथ्यादर्शनादि' परिणामो येन परिणामातरेण सम्यग्दर्शना-  
दिना, गुण्यादिना वा स सवर । निर्जीयते निरस्यते यया, निर्जरण वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थ कर्म निरस्यते  
यया परिणत्या सा निर्जरा । निर्जरण पृथग्भवन विश्लेषण वा कर्मणा निर्जरा । मोक्ष्यतेऽप्यते येन मोक्षण-  
मात्र वा मोक्ष । निरवशोधार्णि कर्मणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसजितेन अस्यते स  
मोक्ष । विश्लेषो वा समस्ताना कर्मणा । बध्यते अस्वतन्त्रीक्रियन्ते कामणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मन' स  
बन्ध । अथवा बध्यते परवशतामापद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बध' । पुण्य नाम अभि-  
मतस्य प्रापक । पाप नाम अनभिमतस्य प्रापक । इह बधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीत न कर्म एव, पृथक्  
पुण्यपापग्रहणात् । ननुक्तेन परिणामेन जीवपुद्गलयोरेवातर्भाव आस्रवादीना जीवपुद्गलत्वश्रद्धानस्य पूर्व-  
मुपन्यस्तत्वात् किमर्थमिदं सूत्रमिति नैप दोष । विनैयाशयवैचिथ्याद्देशनाभेद आगमवाक्येषु । तत श्रद्धा तत्र  
सर्वत्र कार्योत चोदित भवति । अश्रद्धान न मनागपि कार्यम् ।

लेना चाहिये । यहाँ आगमनसे देशान्तरसे चलकर आना विवक्षित नहीं है । अत आस्रव शब्दसे  
प्रदोष, निह्वव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, उपघात आदि जीव परिणामोंको पुद्गलके कर्मरूप  
परिणमनसे साधकतम रूपसे विवक्षित किया है । अथवा 'आस्रवण' अर्थात् पुद्गलको कर्मरूप  
परिणतिको आस्रव कहा है ।

जिस सम्यग्दर्शनादि या गुप्ति आदि रूप अन्य परिणामसे मिथ्यादर्शन आदि परिणाम  
'सत्रियते' रोका जाता है वह सवर है । जिसके द्वारा 'निर्जीयते' निरसन किया जाता है अथवा  
निर्जरणको निर्जरा कहते है । जिस परिणतिसे आत्माके प्रदेशोमे स्थित कर्म हटायें जाते है वह  
निर्जरा है । कर्मोंके 'निर्जरण' अर्थात् पृथक् होनेको अथवा विश्लेषणको निर्जरा कहते है ।  
जिसके द्वारा 'मोक्ष्यते' अर्थात् छूटते है अथवा मोक्षण मात्रको मोक्ष कहते है । क्षायिक ज्ञान,  
क्षायिक दर्शन और यथाख्यात चारित्र नामक जिस परिणामसे समस्त कर्म छूटते है वह मोक्ष है ।  
अथवा समस्त कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष है । आत्माके जिस परिणामसे कामणद्रव्य  
'बध्यन्ते' परतत्र किया जाता है वह बन्ध है, अथवा जिस स्थिति रूप परिणत हुए कर्मके द्वारा  
आत्मा 'बध्यते' अर्थात् पराधीनताको प्राप्त होता है वह कर्म बन्ध है । इष्टको प्राप्त करानेवाले-  
को पुण्य कहते है और अनिष्टको प्राप्त करानेवालेको पाप कहते है । यहाँ बन्ध शब्दसे जीवके  
परिणामका ही ग्रहण किया है, कर्मका नहीं, क्योंकि पुण्य पापका पृथक् ग्रहण किया है ।

शंका—उक्त परिणामसे तो आस्रव आदिका अन्तर्भाव जीव और पुद्गलमे ही होता है ।  
तथा जीव और पुद्गलके श्रद्धानका पहले कथन किया ही है तब इस गाथा सूत्रके कहनेकी क्या  
आवश्यकता थी ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है । आगमके वचनोंमे शिष्योंके अभिप्राय नाना होनेसे  
उपदेशमे भेद होता है । अत इन सबमे श्रद्धा करना चाहिये यह प्रेरणा की गई है, किञ्चित् भी  
अश्रद्धान नहीं होना चाहिये ॥३७॥

मिथ्यादृष्टता किमल्पस्य अश्रद्धानेन भवति ? बहुतर श्रद्धीयते इत्याशका न कार्यत्येतदाचष्टे—

**पदमक्षरं च एकं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्विट्ठं ॥**

**सेसं रोचतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥३८॥**

पदमक्षर इति । पदशब्देन पदसहचारी 'पदम्यार्य' उच्यते । 'अक्षरं च' इति स्वल्पशब्दोपलक्षण स्वल्पमप्यर्थं शब्दभूत वा । 'जो' य । 'ण रोचेदि' न रोचते । 'सुत्तणिद्विट्ठं' पूर्वोक्तप्रमाणनिर्दिष्टम् । 'सेसं' इतर श्रुतार्थं श्रुताश राचतोऽपि । 'मिच्छादिट्ठी' मिथ्यादृष्टिरिति । 'मुणेयव्वो' जातव्य । महति कुं डे स्थितं बहूपि पयो यथा विषकणिका दूषयति । एवमश्रद्धानकणिका मलिनयत्यात्मनार्नामति भाव ॥३८॥

मिथ्यादृष्टिरिति जातव्यमित्युक्त । स एव न ज्ञायते एवस्वरूप इत्याशकाया मिथ्यादृष्टस्वरूपानुरूप-  
पार्या गाया—

**मोहोदयेण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सहहदि ॥**

**सहहदि असम्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ॥३९॥**

मोहोदयेणेति । साध्याहारत्वात् सूत्राणामध्याहोरेण नहैव पदघटना । जो जीवो उवद्विट्ठं प्रवयणं मोहोदयेण सहहदि उवद्विट्ठं अणुवद्विट्ठं वा असम्भावं सहहदि । सो मिच्छादिट्ठीति । मोहयति मुहनेऽ-

जब बहुत पर श्रद्धा है तब क्या थोड़ेसे अश्रद्धानसे मिथ्यादृष्टिपना होता है ? ऐसी शका नही करना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—जिसे पूर्वोक्त सूत्रमे कहा एक भी पद और अक्षर नही रुचता । गेपमे रुचि होने हुए भी निश्चयसे उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥३८॥

टी०—पद शब्दसे पदका सहचारी पदका अर्थ कहा गया है । अधरमे थोड़े शब्द लिये गये है, थोडा सा भी अर्थ अथवा शब्द श्रुत जो आगममे कहा गया वह जिसे नही रुचता और दोष आगम रुचता भी हो, तब भी उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना । जैसे बड़े कुण्डमे भरे हुए बहुत दूध-को भी विषका कण दूषित कर देता है उसी प्रकार अश्रद्धानका एक कण भी आत्माको दूषित कर देता है ॥३८॥

उसे मिथ्यादृष्टि जानना, ऐसा तो कहा । किन्तु यही ज्ञात नही है कि मिथ्यादृष्टिका ऐसा स्वरूप है ? ऐसी शका करनेपर मिथ्यादृष्टिका स्वरूप निरूपण करनेके लिये गाथा कहते हैं—

गा०—माहके उदयसे जोव उपदिष्ट प्रवचनको श्रद्धान नही करता । किन्तु उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असमीचीन भाव अर्थात् अतत्त्वका श्रद्धान करता है ॥३९॥

टी०—सूत्रमे अध्याहार किया जाता है अर्थात् अन्यत्रसे कुछ पद लिये जा सकते है । अत अध्याहारके साथ इस प्रकार पदोका सम्बन्ध मिलाना चाहिये । जो जोव उपदिष्ट प्रवचनको मोह-के उदयसे श्रद्धान नही करता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असम्भावका श्रद्धान करता है वह

नेनेति वा मोहो दर्शनमोहनीयाख्य कर्म मद्येन तुल्यवीर्यम् । यथा मद्यमासेव्यमान अपाटव प्रजाया वैपरीत्य  
च सपादयति ॥३९॥

मिच्छन्तं वेदतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥

ण य घम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥४०॥

एव मिथ्यात्वैकर्मापि तस्य उदय सन्निहितसहकारकारणस्य प्रतिबद्धवृत्तस्तेनोदयेन कारणेन निरूपित  
वस्तुयायात्म्यं न श्रद्धत्ते अतएव तु कथित अकथित वा श्रद्धत्ते ॥४०॥

वस्तुयायात्माश्रद्धाने की दोषो येन तत्प्रतिपक्षश्रद्धानभावनया तदपास्यते इत्याशकाया अश्रद्धान-  
कृतदोषमाहात्म्यख्यापनार्था गाथा—

सुविहियमिम पवयणं असदहतेणिमेण जीवेण ॥

बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥४१॥

सुविहिवर्गिति । सुदु विहित कृत पूर्वापरविरोधदोषरहितवस्तुयायात्म्यग्राहिविज्ञानकारण । 'इम'  
इद । 'पवयण' प्रवचन । असदहतेण अश्रद्धानेन । 'इमेण' अनेन । 'जीवेण' जीवेन । एवमत्र पदसंबध ।  
बालमरणाणि 'अणंताणि मदानि तीदे काले' इति । बालमरणान्मनतानि अतीतकाले मृतानि । ननु मिथ्या-  
मिथ्यादृष्टि है । यहाँ मोहसे दर्शनमोहनीय कर्म लेना । उसमे मद्यके समान शक्ति होती है । जैसे  
मद्यका सेवन बुद्धिको मन्द और विपरीत कर देता है वही दशा इस दर्शन मोहनीय कर्मकी  
है ॥३९॥

गा०—मिथ्यात्वको जेदन—अनुभवन करने वाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है । उसे  
धर्म नहीं रुचता । जैसे ज्वरसे ग्रस्त व्यक्तिको निश्चयसे मधुर रस नहीं रुचता ॥४०॥

टी०—मद्यके समान ही मिथ्यात्व कर्म भी है । उसका उदय सहकारी कारणका सानिध्य-  
पाकर अपना कार्य करनेमे कटिबद्ध होता है । अतः उसके उदयके कारण शास्त्रमे कहे गये वस्तुके  
यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान नहीं करता । और कहे गये या बिना कहे अतत्त्वका श्रद्धान करता  
है ॥४०॥

वस्तुका यथार्थ श्रद्धान न करनेमे क्या दोष है जिससे उसके प्रतिपक्षी श्रद्धानकी भावनासे  
उस दोषको दूर किया जाता है ? ऐसी शका होने पर अश्रद्धानसे होने वाले दोषका महत्त्व  
बतलानेके लिये गाथा कहते हैं—

गा०—अच्छी तरहसे किये गये इस प्रवचनको अश्रद्धान करने वाले जीवने अतीतकालमे  
अनन्त बालमरण मरे ॥४१॥

टी०—पूर्वापर विरोध नामक दोषसे रहित होनेसे तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण  
करने वाले ज्ञानका कारण होनेसे प्रवचनकी सुविहित कहा है । ऐसे प्रवचनका श्रद्धान न करनेके  
दोषसे इस जीवको अतीतकालमे अनन्त बार बालमरणसे मरना पड़ा है ।

दृष्टमरण बालबालमरण तत्किमुच्यते बालमरणातीति । बालत्व नाम सामान्य बालबालेऽपि विद्यते इति बालमरणातीत्युक्त ।

कीदृशी तर्हि मति कार्या ससारभीरुणा—

**निगम्यं पञ्चयणं इणमेव अणुत्तर सुपरिसुद्धं ॥**

**इणमेव मोक्षमगोत्ति मदी कायन्विया तम्हा ॥४२॥**

**निगम्यं पञ्चयणं** । ग्रन्थनि रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति ससारमिति प्रथा । मिथ्यादर्शनं मिथ्याज्ञानं, असयमं, कपाया, अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामा । मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्तं किं सम्यग्दर्शनं । मिथ्याज्ञानान्निष्क्रान्तं सम्यग्ज्ञानम् । असयमात्कपायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्क्रान्तं सुचारित्रं । तेन रत्नत्रयमिह निगम्यगब्देन भण्यते । 'पञ्चयणं' प्रवचनस्येदं अभिधेयं । 'इणमेव' इदमेव, 'अणुत्तरं' न विद्यते उत्तर उत्कृष्टमस्मादिति अनुत्तरम् । 'सुपरिसुद्धं' सुष्ठु परिशुद्धं । 'इणमेव' इदमेव । 'मोक्षमगोत्ति' कर्मणा निरवशेषापायस्योपाय इति । 'मदी' बुद्धि । 'कायन्विया' कर्तव्या । 'तम्हा' तस्मात् । यस्मादेवभूतायामसत्या मत्या दुःखमरण-प्राप्तिरतीतकाल इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ॥४२॥

**शङ्का**—मिथ्यादृष्टि का मरण बालबालमरण है । तब यहाँ बालमरण क्या कहा है ?

**समाधान**—वालपना सामान्य है वह बाल-बालमे भी रहता है इसलिये 'बालमरण' ऐसा कहा है ।

**विशेषार्थ**—प० आशाधर जी ने अपनी टीकामे लिखा है कि कुछ 'सुविहिद' ऐसा पढ़ते हैं और उसका व्याख्यान वे 'हेतुचारित्र' ऐसा करते हैं । अर्थात् 'सुविहिद' को प्रवचनका विशेषण न करके सम्बोधनके रूपमे लेते हैं ॥४२॥

तब ससारसे डरने वालेको कैसी मति करनी चाहिये, यह कहते हैं—

**गा०**—इसलिये रत्नत्रयरूप जो प्रवचनका अभिधेय है यही सर्वोत्कृष्ट और पूर्णरूपसे निर्दोष है । यही मोक्षका मार्ग है ऐसी मति करनी चाहिये ॥४२॥

**टी०**—जो ससारको 'ग्रन्थनि' रचते हैं उसे दीर्घ करते हैं उन्हें ग्रन्थ कहते हैं । ये ग्रन्थ हैं मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असयम, कपाय और तीन अशुभ योगरूप परिणाम । मिथ्यादर्शनके हटनेसे सम्यग्दर्शन होता है । मिथ्याज्ञानके हटनेसे सम्यग् ज्ञान होता है । असयम, कपाय और तीन अशुभयोगोके हटनेसे सम्यक्चारित्र होता है । अतः यहाँ निगम्यं शब्दसे रत्नत्रय कहा है । और 'पञ्चयणं' का अर्थ प्रवचनमे कहा गया विषय है । जो प्रवचनमे कहा रत्नत्रय है वही अनुत्तर है अर्थात् उससे उत्कृष्ट कोई नहीं है और वही पूर्ण शुद्ध है, वही मोक्षमार्ग अर्थात् समस्त बुराइयो का उपाय है । ऐसी मति करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकारकी मतिके न होनेपर दुःखदायक मरणोकी प्राप्ति अतीतकालकी तरह भविष्यकालमे भी होगी ॥४२॥

तच्च सम्यक्त्वं निरतिचार 'गुणोज्ज्वलित भावनीय इत्येतदाचष्टे उत्तरप्रबंधेन । तत्रातिचारनिवेदन-  
नार्थोत्तरगाथा—

**सम्मत्तादीचारा संका कंखा तद्देव विदिग्निछा ॥**

**परदिट्ठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४३ ॥**

'सम्मत्तादीचारा' श्रद्धानस्य दोषा । 'संका' शका, सशयप्रत्यय 'किंत्विदित्यनवधारणात्मकः । स च निश्चयप्रत्ययाश्रय दर्शन मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तर्दातचारो युज्यते । सशयश्च मिथ्यात्वमावहति । तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु सगयोजपि गणित । 'संसद्भवमभिग्निह्रिदं अणभिग्निह्रिदं च तं तिविधं' इति । सत्यपि मशये सम्यग्दर्शनमस्येवेति अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेष्टुरभावात्, तस्य वा वचननिपुणता नास्ति तन्निर्णयकारिश्रुतवचनानुपलब्धे, काललब्धेनभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोप-  
जायते । तथापि तु इदं यथा सर्वविदा उपलब्ध तथैवेति श्रद्धर्षेहमिति भावयत कथं सम्यक्त्वहानि ? एवभूत-  
श्रद्धारहितस्य को वेत्ति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुग्धधारा, अयमेव सर्वविन्नेतर इति आगमशरणाताया को वन्मुयाथाभ्यानुसारी को वा नेति मशय एवेति । यत्तत्त्वाश्रद्धान मशयप्रत्ययोपनीतत्वात्-

अतिचाररहित और गुणोसे उज्ज्वल वह सम्यक्त्व भावनीय है यह आगे कहते हैं । उसके अतिचारोका कथन आगेकी गाथासे करते हैं—

गा०—शङ्का, आसक्ति, उसी तरह विचिकित्सा या ग्लानि अतत्त्वदृष्टिजनोकी प्रशमा और अनायतनोको सेवा, ये सम्यक्त्वके अतिचार है ॥४३॥

टी०—शङ्का आदि सम्यक्त्वके अतीचार अर्थात् श्रद्धानके दोष है । सका सशयज्ञानको कहते हैं जो 'यह क्या है' इस प्रकार अनवधारणरूप होता है । वह निश्चयात्मकज्ञानके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करता है ।

शङ्का—सम्यक्त्व होनेपर उसमें अतिचार लगना उचित है । किन्तु सशय तो मिथ्यात्वरूप है । मिथ्यात्वके भेदोंमें सशयको भी गिना है । कहा है—सशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत तीन प्रकारका मिथ्यात्व है ।

समाधान—सशयके होनेपर भी सम्यग्दर्शन रहता है अत उसका अतिचारपना उचित है । श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष न होनेसे, उपदेष्टाके अभावसे अथवा उससे वचनोकी निपुणता न होनेसे, या निर्णयकारी शास्त्रवचनके प्राप्त न होनेसे अथवा काललब्धके अभावसे यदि किसी विषयका निर्णय नहीं होता, तथापि जैसा हमें सर्वज्ञ भगवान्ने देखा है वैसा ही मैं श्रद्धान करता हूँ' ऐसी भावना करनेवालेके सम्यक्त्वका अभाव कैसे हो सकता है ? जिसके इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं है, तथा कौन जानता है तत्त्व क्या है, कपिल आदिको जब देखा नहीं तो उनकी सर्वज्ञताका निर्णय कैसे हो सकता है, यही सर्वज्ञ है, दूसरा नहीं है इसमें आगमका आश्रय होनेपर कौन आगम यथार्थ वस्तुको कहता है, कौन नहीं कहता इस प्रकारका संशय ही होता है । इस प्रकारके संशयपूर्वक जो तत्त्वका अश्रद्धान है वह सशयज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण

१ गुणोपोद्बलित अ० । गुणोपोद्बजित आ० । २. वचनाभावात् वा का-आ० ।-लब्धे: अभावाद्वाका-  
मु० ।

सशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । अथद्धानरूपतैव लक्षण मिथ्यात्वस्य । यथा वक्ष्यति 'तं मिच्छत्सं जमसहृष्टं तच्छाण होषि अश्वाण' मिति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो वाक्यान्तरं 'मिच्छाणाणामिच्छासंज्ञामिच्छाचारिस्ताद्यो पडिविरदोमोति' । किं च छपस्थाना रज्जुरगस्याणुपुरुषादियु किमिय रज्जुरग स्थाणु पुरुषो वा किमित्यनेक. संशयप्रत्ययो जायते इति<sup>१</sup> ते न सम्यग्दृष्टय स्यु ।

**कांशा गाढर्षं आसक्तिः**, सा च दर्शनस्य मलं । यद्येवं आहारे काशा, स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यालकारादियु वाञ्छयतसम्यग्दृष्टिविरताविरतस्य वा भवति । यथा प्रमत्तमंयसस्य परीषद्हाकुलस्य भक्ष्यपानादियु काशा सभवतीति सातिचारदर्शनता स्यात् । तथा भव्याना मुक्तिमुखकाशा अस्त्येव । इत्यत्रोच्यते न काशामात्रमतीचार' किन्तु दर्शनाद्ब्रताद्दानाद्देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुल, रूप, वित्त, स्त्री-पुत्रादिक, शत्रुमर्दन, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सानिधाय स्यादिति काशा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

'विचिकित्सा जुगुप्सा' मिथ्यात्वासयमादियु जुगुप्साया' प्रवृत्तिरतिचार स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन । रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता । ततस्तस्य दर्शन, ज्ञान, चरण बाञ्छोभनमिति । यस्य हि यत्र इदं भद्र इति श्रद्धान म तस्य जुगुप्सा करोति । ततो रत्नत्रयमाहात्म्यार्चचयुञ्जतेऽतिचार ।

सशय मिथ्यात्व कहलाता है । मिथ्यात्वका लक्षण अथद्धानरूपता ही है । आगे कहेंगे—'तत्त्वार्थका जो अथद्धान है वही मिथ्यात्व है' । यदि ऐसा न हो तो मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शनमें भेद ही न हो । किन्तु अन्यत्र वचनमें स्पष्ट भेद कहा है । यथा—'मे मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे विरत होता है ।' तथा छपस्थ जीवोको रस्सी, सर्प, और स्थाणु पुरुष आदिमें, यह रस्सी है या साँप, अथवा स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार अनेक मदायज्ञान होत है । तब वे सम्यग्दृष्टी नहीं हो सकेंगे ?

काशा गृद्धि या आसक्तिको कहते हैं । वह भी सम्यग्दर्शनका मल है ।

**शंका**—यदि ऐसा है तो असयतसम्यग्दृष्टी अथवा विरताविरत श्रावकको आहारकी या स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलकार आदिकी काशा होती है । तथा परोपहसे व्याकुल प्रमत्तसयत मुनिके खान-पान आदिकी काशा होती है वह भी सम्यग्दर्शनका अतीचार कहलायेगी । तथा भव्य जीवोको मुक्ति मुखकी काशा रहती ही है ?

**समाधान**—काशामात्र अतीचार नहीं है । किन्तु सम्यग्दर्शनसे, व्रतधारणसे, देवपूजासे और तपसे उत्पन्न हुए पुण्यसे मुझे अमुक कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रु विनाश, अथवा सातिशय स्त्रीपना, पुरुषपना प्राप्त हो इस प्रकारको काशा यहाँ ग्रहण की है । वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है ।

विचिकित्सा जुगुप्साको कहते हैं ।

**शंका**—तब तो मिथ्यात्व असयम आदिमें जुगुप्सा करना भी अतीचार हो जायेगा ।

**समाधान**—यहाँ भी नियत विषयमें जुगुप्साको अतिचाररूपसे माना है । रत्नत्रयसे किसी एकमें अथवा रत्नत्रयके धारीमें कोप आदिके निमित्तसे होनेवाली जुगुप्साका यहाँ ग्रहण किया है । जिसका जिसमें यह श्रद्धान है कि यह श्रेष्ठ है वह उसकी जुगुप्सा करता है । अतः रत्नत्रयके महत्त्वमें अरुचिका होना अतिचार होता है ।

१ तिते सम्य-आ० मु० ।



'परद्विटीण परंसा' परशब्दोऽनेकार्थवाची । क्वचिद् व्यवस्थावाची । नापरो धामः पाटलिपुत्रादित्यादी । तथा क्वचिदन्वयार्थे परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा इष्टार्थे, परं धाम गतं इष्टमिति यावत् । इह तु अन्यवाची । दृष्टिः श्रद्धा रुचिः । परा अन्या दृष्टिः श्रद्धा येषां ते परदृष्टयः । तत्त्वदृष्ट्यपेक्षया अतत्त्वदृष्टिरन्या तेषां प्रशंसा स्तुतिः ।

'अनायतनसेवणा चैव'—अनायतन पञ्चविध मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टयः, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्र्यं मिथ्याचारित्र्यवन्त इति । तत्र मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवाया मिथ्यादृष्टिरेवासी नातिचारता । मिथ्यादृष्टीना तु सेवा बहुमनन तेषां । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेश इदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमूल्यादयामि श्रोतृणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानमिः सह सवास तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा । मिथ्याचारित्र्यं नाम मिथ्याज्ञाननामाचरणं तत्रानुवृत्तिर्द्रव्यलोभाद्यपेक्षया तेषु वा सागत्यादिक । एतेषां सम्यक्त्वतिचारणा वर्जनम् ॥४३॥

गुणान्दर्शनविशुद्धिकारिणो निरूपयति उपगृहणमित्यनया—

उपगृहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा गुणा भण्डा ।।  
सम्मत्तविसोधीए उपगृहणकारया चउरो ॥४४॥

उपगृहण नाम वर्द्धन । बृह बृह् बृद्धाविति वचनात् । धात्वर्थानुवादी चोपसर्ग उप इति । स्पष्टे-

'परद्विटीण' मे पर शब्दके अनेक अर्थ हैं । कही पर शब्द व्यवस्थाका वाची होता है । जैसे पाटलिपुत्रसे अपर गाँव नहीं है । कही परका अर्थ अन्य है । जैसे पर आचार्य अर्थात् अन्य आचार्य । कही परका अर्थ इष्ट है । जैसे पर धामको गया अर्थात् इष्ट धामको गया । यहाँ पर शब्द अन्यवाची है । दृष्टिका अर्थ श्रद्धा या रुचि है । जिनकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा पर अर्थात् अन्य है वे परदृष्टि हैं । अर्थात् तत्त्वदृष्टिकी अपेक्षा अतत्त्वदृष्टि अन्य है । उनकी प्रशंसा-स्तुति सम्यग्दर्शनका अतीचार है ।

अनायतनके छह भेद हैं—मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र्य और मिथ्याचारित्र्यके धारक । उनमेंसे मिथ्यात्व तो अश्रद्धान ही है । उसकी सेवा करनेपर तो यह मिथ्यादृष्टि ही हुआ । अतः मिथ्यात्व सेवा अतीचार नहीं है । मिथ्यादृष्टियोगी सेवाका अर्थ है उन्हें बहुत मानना । मिथ्याज्ञानकी सेवाका मतलब है निरपेक्ष नयका उपदेश देना या 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका श्रद्धान श्रोताओको उत्पन्न कराऊँ, इस रूपमें मिथ्याज्ञानियोंके साथ सवास करना, उनसे अनुराग होना अथवा उनकी अनुकूलता । मिथ्याज्ञानियोंके आचरणको मिथ्याचारित्र्य कहते हैं । द्रव्यलोभ आदिकी अपेक्षासे उनका अनुवर्तन अथवा उनकी सगति । इन सम्यक्त्वके अतिचारोंको छोड़ना चाहिए ॥४३॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले गुणोंको कहते हैं—

गाथा—उपगृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वकी विशुद्धिकी वृद्धि करनेवाले कहे हैं ॥४४॥

टी०—उपगृहण अर्थात् उपबृहण नाम बढ़ाने का है । क्योंकि 'बृह और बृहि धातुका अर्थ वृद्धि है' ऐसा कहा है । धातुके अर्थ के ही अनुकूल 'उप' उपसर्ग है । स्पष्ट और अग्राम्य

नाद्याम्येण श्रोत्रमन प्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवणणे धर्मोपदेशेन परम्य तन्वश्रद्धानैर्बर्द्धन तदुप-  
बृ हणं । सर्वजनविस्मयकारिणी शतमखप्रमुखशीर्वाणसमितिविरचितोर्पचितितदृशी पूजा सपाद्य दुर्धरतपो-  
योगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धा स्थिरीकरणम् ।

जीवादीनि द्रव्याणि तत्सामान्यविशेषरूपाध्यासितानि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकानि प्रतिसमयमित जिनै  
सम्यग्भाणि एवमेव नान्यथा श्रद्धे जिनाना मत । न हि जिना वीतरागा विदिताखिलवेद्यतया यायातध्या  
कृपापरिगता विपरीतमुपदिशतीति भावनाया स्थिरीकरण, अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादन । मिथ्यात्वाभि-  
मुखस्य सम्यग्दृष्टेरस्थिरम्य मिथ्यात्व मूलमेव तदनुभवत कमर्दान, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाया हि बध-  
हेतव । तद्वधहेतुक चानतससारपरिभ्रमण चतुरशीतियोनिशतसहस्रेषु । सदृशं तु विचित्रयतनासकट-  
भयप्रदायिन्योर्नरकतियमातिवर्तिन्योर्बज्जालाभूत शतमखमनुष्यलोकयोर्नूनमान्यरूपभोगादिमपत्सपादनचतुर  
क्रमेण निर्वाणमणि प्रयच्छति । ततो दु खजलवाहिनी मिथ्यादृष्टिकुल्यामूल्लघय, प्रतिपद्यस्व जैनी दृष्टिमिति  
तत्र स्थिरताकरणम् । तथा सम्यग्ज्ञानभावनाया च प्रमादिनमलस दृष्ट्वा एवमसौ वक्तव्य ज्ञान हिताहित-  
प्रकाशनपटु, तदत्रेण हितमजानत कथ तत्र वृत्तिरहितपरिहारो वा । हिताहितप्राप्तिपरिहारो विना न सुखा-  
धिगमनु खविश्लेषी । तदर्थमेव चाय प्राज्ञो जन विलक्ष्यति । तत पचविधमवाध्यायत्याग मा कृथा इति  
ज्ञाने स्थिरीकरण । अथवा अनधिगतमृशार्थनिश्चयस्य तत्र निश्चयमपादन अमकृद्भावनात्मन स्थिरीकरण ।

(शिष्टजनोंचित) कानो और मनको प्रसन्नता देनेवाले तथा वस्तुका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करनेमें  
समर्थ धर्मोपदेशके द्वारा दूसरेके श्रद्धानको बढ़ाना उपवृहण है । अथवा सर्व जनोको आश्चर्य  
पैदा करनेवाली, इन्द्रादि प्रमुख देवगणोंके द्वारा की जानेवाली पूजाके समान पूजा रचाकर अथवा  
दुर्धर तप और ध्यानका अनुष्ठान करके आत्मामें श्रद्धाको स्थिर करना उपवृहण है ।

जीवादि द्रव्य अपने सामान्य और विशेष रूपसे युक्त होकर प्रतिमय उत्पाद व्यय ध्रौव्या-  
त्मक है ऐसा जिनदेवने सत्य ही कहा है । ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है । जिनदेवके मतका मैं श्रद्धान  
करता हूँ । वीतराग, समस्त पदार्थोंके यथार्थ रूपको जाननेवाले दयालु जिनदेव विपरीत उपदेश  
नहीं देते' इस प्रकारकी भावनासे रत्नत्रयमें अस्थिरको स्थिर करना स्थितिकरण है । मिथ्यात्वके  
अभिमुख सम्यग्दृष्टिको अस्थिरताका मूल मिथ्यात्व ही है । मिथ्यात्वका अनुभवन करनेवालेके  
कर्माका ग्रहण होता है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्धके कारण है । और  
उस बन्धके कारण चौरासी लाख योनियोंमें अनन्तकाल तक संसार भ्रमण करना होता है । किन्तु  
सम्यग्दर्शन विचित्र कष्ट, सकट और भय देनेवाली नरक गति और तिर्यञ्च गतिके लिए बज्रमयी  
अर्गला है, इन्द्र लोक और मनुष्य लोकमें पूर्ण मान्य भोगादि सम्पदाको प्राप्त करानेमें चतुर है,  
क्रमसे मोक्ष भी प्राप्त कराता है । इसलिए दु ख रूपी जल जिसमें बहता है उस मिथ्यादृष्टि रूपी  
नदीको पार करके जैनी दृष्टि प्राप्त करे । इस प्रकार उसमें स्थिर करना स्थितिकरण है । तथा  
सम्यग्ज्ञानकी भावनामें प्रमादी आलसीको देखकर उससे ऐसा कहना चाहिए—ज्ञान हित और  
अहितको प्रकाशित करनेमें चतुर होता है । उसके बिना जो हितको नहीं जानता वह कैसे हितमें  
प्रवृत्ति और अहितका परिहार कर सकेगा और हितकी प्राप्ति तथा अहितके त्यागके बिना मुखकी  
प्राप्ति और दु खसे छुटकारा नहीं हो सकता । उसीके लिए तो यह बुद्धिमान मनुष्य कष्ट उठाता  
है । अत पाँच प्रकारकी स्वाध्यायका त्याग मत करो । इस प्रकार ज्ञानमें स्थिरीकरण है । अथवा

चारित्र्यान् प्रच्यवमानं दृष्ट्वा हिमादिसावद्यक्रियाया प्रवर्तमाना इहैव दुःखभाजो दृश्यन्ते, तथा परं हन्तुमुद्यतं स्वयं तेनैव हन्त्यते प्राक्तनमित्रैर्बन्धुभिर्वोदीर्णवैरैः । परत्र चाशुभा गतिमुपैति । दुःखदाम्यसद्वैद्यं च वचनाति । अलीकं द्रवन्निहैव बन्धुजनस्यापि विद्वेष्योऽविस्वास्यायद्वयं भवति किं पुनरन्यस्य । जिह्वा चोत्पाटयति क्रुद्धा बलिनः । परत्र च मूकता यास्यति इत्येवमाद्यस्यमगतदोषं प्रख्याप्य नीरोगता, दीर्घजीवन, सौख्यं, प्रियवचनाविकं गुणमुपदिश्य अहिमादिव्रताचरणफलं वार्त्त्रे स्थिरीकरणम् । असयतदोषं सयमगुणं वा पुनः पुनः स्मृत्वात्मनः स्थिरीकरणम् ।

धर्मस्थेण मातारं भ्रातरि वानुरागो वात्सल्य, रत्नत्रयादगं वात्मनः । प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वता वा ॥४४॥

दर्शनविनयप्रतिपादनार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य ।

आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४५ ॥

'अरहत् इत्यादिकं' । अरिहन्नाज्ञोहन्नाज्ञस्याभावावतिशयपूजाहंत्वाच्चाधिगताहंत्वापदेशा नोआगम-भावावर्हन्त इह गृहीताः । न नामाहंत्वं, निमित्ताभावेऽपि पुरुषकारान्निधुक्ताहंत्वापदेशः । अर्हता प्रतिविबानि सूत्रके अर्थका निश्चय जिमे नष्टी है उसे निश्चय कगना । तथा वारम्बार भावना करना आत्माका स्थिरीकरण है ।

चात्रिसे गिरते हुए को देखकर कहना—जो हिमा आदि पाप कार्योंमें लगते हैं वे इसी जन्ममें दुःख भोगते देखे जाते हैं । जो दूसरेको मारनेके लिए तैयार होता है वह स्वयं अथवा उसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है । अथवा उसके मित्रों और बन्धुओंके द्वारा पूर्व बैरके उदीर्ण होनेसे मारा जाता है । मरकर दुर्गतिमें जाता है । दुःखदायी अमातावेदनीय कर्मको वार्धता है । असत्य बोलने वाला इसी लोकमें बन्धुजनोके द्वारा द्वेषका भाजन होता है तथा उसका वे विश्वास नहीं करते । फिर दूसरो की तो बात ही क्या है ? बलवान पुरुष क्रुद्ध होकर झूठ बोलने वालेकी जिह्वा उखाड़ देते हैं । मरकर वह परलोकमें गूंगा होता है । इस प्रकारसे असयमके दोष कहकर और नीरोगता, दीर्घ जीवन, सौन्दर्य, प्रियवचन आदि सयमके गुणोंका उपदेश देकर चात्रिसे स्थिर करना अहिमा आदि व्रतोंके आचरणका फल है । अथवा असयमके दोष और सयमके गुण वार-वार स्मरण करके अपनेको चात्रिसे स्थिर करना स्थितीकरण है ।

धर्मात्माओमें माता-पिता वा भाईमें अनुराग करना वात्सल्य है । अथवा अपने रत्नत्रयमें आदरभाव रखना वात्सल्य है । रत्नत्रयका अथवा रत्नत्रयके धारकोका माहात्म्य प्रकट करना प्रभावना है ॥४४॥

दर्शन विनयका कथन करनेके लिए आगे दो गाथा कहते हैं—

गा०—अरहन्त, सिद्ध और प्रतिविम्बोमें श्रुतमें और धर्ममें और साधुवर्गमें आचार्यमें उपाध्यायमें और सुप्रवचनमें दर्शनमें भी ॥४५॥

टी०—'अरि' अर्थात् मोहनीयकर्मका नाश कर देनेसे, 'रज' अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मको नष्ट कर देनेसे, 'रहस्य' अर्थात् अन्तर्गायकर्मका अभाव कर देनेसे, और सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हत् कहे जानेवाले को आगमभावरूप अर्हन्तोका यहाँ ग्रहण किया है ।

सोऽप्यमित्यभिसंबंधावर्हद्ब्रह्मपदेशभांजि पूजातिशयाहंस्वेऽपि अरिह्ननादिगुणासभवात्नेह गृह्यन्ते । आगमद्रव्याहंस्न-  
हृत्स्वरूपव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञानुपयुक्तस्तदर्थेऽप्यत्र व्यापृत । ज्ञायकशरीराहंस्नाम तत्प्राभृतज्ञय विकालभोषर  
शरीर । यस्मिन्नात्मानि अरिह्ननादयो भविष्यति गुणा स भाव्यहंन् । तीर्थंकरनामकर्म तद्व्यतिरन्तद्रव्याहंन् ।  
अर्हद्ब्रह्मपर्वणनपरप्राभृतप्रत्ययोऽर्हन्निर्भासो बोध आगमभावाहंन् । एतेषु अरिह्ननादिगुणानामभावात् नेहाहंच्छ-  
ब्देन ग्रहणम् ।

एव नामसिद्धः अलब्धसकलात्मस्वरूपे सिद्धशब्द । यस्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धसज्ञा । स्थापनासिद्धा  
इति तत्प्रतिबिंबानि उच्यन्ते । ननु सशरीरस्यात्मन प्रतिबिंब युज्यते, अशरीराणा तु सुद्धात्मना सिद्धाना कथ  
प्रतिबिंबसम्भव ? पूर्वभावप्रज्ञापननापेक्षया शरीरमनुगतो य आत्मा सयोगकेवलीतरो वा न शरीरान्निर्भक्तुं  
शक्यते । विभागे हि शरीरात्मसारिता न स्यात् । अशरीर ससारी चेति विरुद्धमेतत् । तत शरीरमस्थान-  
वच्छिन्नात्मापि सस्थानवानिव सस्थानवतोऽप्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्थात्मवत् । स एव चाय प्रतिपन्नसम्यक्त्वाद्युत्-  
गुण इति स्थापनासम्भव । आगमद्रव्यसिद्ध सिद्धप्राभृतज्ञ सिद्धशब्देनोच्यते अनुपयुक्त । सिद्धप्राभृतज्ञस्य

नामसे जो अर्हन्त है उनका यहाँ ग्रहण नहीं है । अर्हन्त सज्ञाके जो निमित्त कहे हैं उनके अभावमे  
भी जबरवस्तीसे जो अर्हन्त नाम रख दिया जाता है उसे नाम अर्हन्त कहते हैं । अर्हन्तोंके प्रतिबिम्ब  
'वे अर्हन्त यही है । इस प्रकारकी स्थापनाके सम्बन्धसे अर्हन्त कहे जाते हैं और वे सात्तिशय  
पूजाके योग्य भी है फिर भी उनमे मोहनीय कर्मका विनाश आदि गुण न होनेसे यहाँ उनका  
ग्रहण नहीं किया है । अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाना, जो उसमे उपयोग  
नहीं लगा रहा किसी अन्य कार्यमे लगा है वह आगम द्रव्यअर्हन्त है । उस अर्हन्तविषयक शास्त्रके  
ज्ञाताका जो भूत वर्तमान और भावि शरीर है वह ज्ञायक शरीर अर्हन्त है । जिस आत्मामें  
अरिह्नन आदि गुण भविष्यमे होंगे वह भाविअर्हन्त है । तीर्थंकरनामकर्म नद्व्यतिरिक्त द्रव्य-  
अर्हन्त है । अर्हन्तके वर्णनमे तत्पर शास्त्रका जो ज्ञान है—अर्थात् अर्हन्तविषयक जो ज्ञान है वह  
आगमभाव अर्हन्त है । इन सबमे अरिह्नन आदि गुणोंका अभाव होनेसे यहाँ अर्हन्त शब्दसे उनका  
ग्रहण नहीं किया है ।

इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया उसमे सिद्ध शब्दका व्यवहार  
नाम सिद्ध है । अथवा सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमे निमित्त आठ कर्मोंके विनाशकी अपेक्षा न करके  
जिसका नाम सिद्ध रखा गया है वह नामासिद्ध है । सिद्धोंके प्रतिबिम्बोंको स्थापनासिद्ध कहते हैं ।

शका—शरीरसहित आत्माका प्रतिबिम्ब तो युक्त है । शरीर रहित शुद्ध आत्माओका  
प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है ?

समाधान—पूर्वभाव प्रज्ञापननयकी अपेक्षा जो आत्मा शरीरमे था, वह मयोगकेवली ही  
या अन्य हो, उसे शरीरसे अलग नहीं किया जा सकता । यदि उसे शरीरसे पृथक् ही सर्वथा कर  
दिया जाये तो उसका ससारीपना नहीं बनता; क्योंकि शरीरसे रहित हो और ससारी ही यह  
तो परस्पर विरुद्ध है । अतः शरीरके आकारकी तरह चेतन आत्मा भी आकारवान ही है क्योंकि  
वह आकारवानसे अभिन्न है, जैसे शरीरमें रहनेवाला आत्मा । वही यह सम्यक्त्व आदि आठ-  
गुणोंसे सहित है इस प्रकार सिद्धकी स्थापना सम्भव है । जो सिद्ध विषयक शास्त्रका ज्ञाना उसमे  
उपयुक्त नहीं है और उसे सिद्ध शब्दोंसे कहा जाता है तो वह आगमद्रव्य सिद्ध है । सिद्धविषयक

शरीर जायकशरीर । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो भाविसिद्ध । व्यतिरिक्तसिद्धो न सम्भवति । सिद्धत्व न कर्मकारणम् इति सकलकर्मापायहेतुका सिद्धता । पुद्गलद्रव्यस्य तदुपकारिणोऽस्रभवात्मिकसिद्धाभावः । सिद्धप्राभृतानुसारि-  
सिद्धज्ञानपरिणत आगमभावसिद्धः । निरस्तभावद्रव्यकर्ममलकलङ्कः परिप्राप्तसकलक्षाधिकभावः नोआगमभाव-  
सिद्धः । स इह गृहीतो न इतरैः सकलात्मस्वरूपप्राप्त्यभावात् ।

'चेविय' चैत्य प्रतिबिम्ब इति यावत् । कस्य ? प्रत्यासत्ते श्रुतयोरेवाहंत्सिद्धयो प्रतिबिम्बग्रहण । अथवा मध्यप्रक्षेप पूर्वोत्तरगोचरस्थापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्वादिस्थापनापि गृह्यते ।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाञ्जल वस्तुयाथात्म्ययाहि श्रद्धानानुगत श्रुत अगपूर्वप्रकीर्णकभेदभिन्न, तीर्थकर श्रुतकेवल्यादिभिरारचितो वचनसदर्थो वा, लिप्यक्षरश्रुत वा ।

धर्मशब्देन चारित्र्य समीचीनमुच्यते । ज्ञानदर्शनाभ्यामनुगत सामायिकादि पञ्चविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थित जीवधारणात्, शुभे स्थाने वा दधाति इति धर्मशब्देनोच्यते । अथवा

'अंती महव अज्जव लाघव तव संजमो अकिञ्चनदा ।

तह होवि बम्भचेरं सच्चं चागो य वस धम्मा ॥ — [मूलाचार ८।६२]

इति सूत्रातरनिदिष्टधर्मपरिग्रह । क्रोधनिमित्तसान्निध्यैर्जप कालुष्याभाव क्षमा स्नेहकार्यादिनपेक्षः । जान्याहमिमानाभावो मानदोषापेक्षस्य दृष्टकार्यानिपाथयो मार्दवम् । आकृष्टान्तद्वयसूत्रवद्वक्त्रताभाव आर्जव-

शास्त्रके ज्ञाताओका शरीर जायकशरीर है । भविष्यमे जिसे सिद्धपर्याय प्राप्त होगी वह भाविसिद्ध है । तद्रव्यतिरिक्त सिद्ध सम्भव नहीं है क्योंकि सिद्धत्वपर्यायिका कारण कर्म नहीं है । सिद्धता तो समस्त कर्मके विनाशसे प्राप्त होती है । उस सिद्धत्वपर्यायिका उपकारी पुद्गलद्रव्य नहीं है इसलिए नो कर्मसिद्ध भी नहीं है । सिद्ध विषयक शास्त्रके अनुसार सिद्धोके ज्ञानरूप जो परिणत है वह आगम भाव सिद्ध है । जिसने भावकर्म और द्रव्यकर्ममलरूप कलकको नष्ट करके सकलक्षाधिक-  
भावोको प्राप्त कर लिया है वह नो आगम भावसिद्ध है । उसीका यहाँ ग्रहण किया है अन्यका नहीं; क्योंकि उन्होंने पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया है ।

चैत्य प्रतिबिम्बको कहते है । चैत्य शब्द अर्हन्त और सिद्धके समीप है अतः सिद्ध और अर्हन्तके ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करना । अथवा उससे पूर्वकी और उत्तरीकी स्थापनाका ग्रहण करनेके लिए चैत्य शब्दको मध्यमे रखा है । उससे साधु आदिकी स्थापनाका भी ग्रहण होता है ।

श्रुतज्ञानावरणके क्षयापशमसे उत्पन्न हुआ तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाला श्रद्धान सहित ज्ञान श्रुत है । उसके भेद ग्यारह अग, चौदह पूर्व और अगवाह्य है । अथवा तीर्थकर और श्रुतकेवली आदिके द्वारा रचा गया वचन सन्दर्भ श्रुत है । अथवा जो लिपि रूप अक्षरश्रुत है वह श्रुत है । धर्म शब्दसे समीचीन चारित्र्य कहा जाता है । ज्ञान और सम्यग्दर्शनेसे अनुगत वह चारित्र्य सामायिक आदिके भेदसे पाँच प्रकार का है । दुर्गतिमे पड़े हुए जीवको धारण करनेसे अथवा शुभ स्थानमे धरनेसे उसे धर्म शब्दसे कहते है अथवा धर्म शब्दसे शास्त्रमे कहे गये क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, सयम, आर्कञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य, त्याग ये दस धर्म ग्रहण किये हैं । क्रोधके निमित्तोंके रहते हुए भी कलुषताके अभावको क्षमा कहते है । यह क्षमा किसी स्नेह सम्बन्धी कार्य आदिकी अपेक्षाके विना होती है । मानकी बुराइयोकी अपेक्षा न करके तथा लौकिक

मित्युच्यते । द्रव्येषु समेद भावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघवः । अघानादिपरित्यागात्मिका क्रिया अनपेक्षितदृष्टफला द्वादशविधा तपः । इन्द्रियाविषयरागद्वेषाभ्यां निवृत्तिरिन्द्रियसयमः । षड्जीव-निकायवाधाऽकरणादपरः प्राणिसयमः । अकिंचनदा सकलग्रथत्यागः । ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालनः । सता साधूनां हितभाषणं सत्यम् । सयतप्रायोग्याहारादिदानं त्यागः । एते दशधर्माः ।

साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषां वर्गं समूहः । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाचारः । तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचारः । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनशनानादिक्रियामु वृत्तिस्तप आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचारः । एतेषु पञ्चस्वाचारेषु ये दन्तन्ते पराध्वं प्रवर्तयति ते आचार्याः । रत्नत्रयेषु उद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशति ये ते उपाध्यायाः उपेत्य विनयेन ढोक्त्वा अधीयते श्रुतसमाहित्युपाध्यायः ।

‘पवयणे’ प्रवचने । ननु श्रुतशब्दः प्रवचनवाची ततः पुनरुक्तता ? रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—‘णाणदंसणचरित्तमेण पवयणमिति’ । अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतमित्युक्तं पूर्वमिह तु प्रोच्यते जीवादाय-पदार्था इति शब्दश्रुतमुच्यते । ‘बंसणे’ सम्यग्दर्शने च ॥ ४५ ॥

कार्योके प्रयोजनके विना जाति आदिका अभिमान नहीं होना मार्दवं है । एक ऐसे धागेकी तरह जिसके दोनों छोर खींचे हुए हैं, कुटिलताके अभावको आर्जवं कहते हैं । द्रव्योमें ‘यह मेरा है’ यह भाव समस्त विपत्तियोंके आनेका मूल है अतः उसका त्याग लाघव है । लौकिकफलकी अपेक्षा न करके भोजन आदिके त्यागरूप क्रियाका नाम तप है उसके वारह भेद हैं । इन्द्रियोंके विषयोमें रागद्वेष न करना इन्द्रियसयम है । छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचाना दूसरा प्राणिसयम है । समस्त परिग्रहका त्याग आकिञ्चन्य धर्म है । नौ प्रकारसे ब्रह्मका पालन ब्रह्मचर्य है । सज्जन साधु पुरुषोंके हितकारी भाषणको सत्य कहते हैं । सयमियोंके योग्य आहार आदि देना त्याग है । ये दस धर्म हैं ।

जो रत्नत्रयका साधन करते हैं वे साधु हैं । उनके समूहको साधुवर्ग कहते हैं । वस्तुके यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें लगना ज्ञानाचार है । तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम दर्शनाचार है । पाप कार्योंसे निवृत्तिरूप परिणति चारित्राचार है । अनशन आदि क्रियाओंमें लगना तप आचार है । ज्ञानादिमें अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रवृत्ति करना वीर्याचार है । इन पाँच आचारोंमें जो स्वयं प्रवृत्त होते हैं और दूसरोंको प्रवृत्त करते हैं वे आचार्य हैं । जो रत्नत्रयमें तत्पर हैं और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश करते हैं वे उपाध्याय हैं । विनय पूर्वक जाकर जिनसे श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं । पवयणका अर्थ प्रवचन है ।

शङ्का—श्रुत शब्दका अर्थ भी प्रवचन है । वह आ चुका है । फिर प्रवचन कहनेसे पुनरुक्तता दोष होता है ।

समाधान—प्रवचन शब्दसे रत्नत्रयको कहते हैं । कहा है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ये प्रवचन हैं । अथवा पूर्वमें श्रुतसे श्रुतज्ञान कहा है । यहाँ प्रवचन शब्दसे शब्दरूप श्रुत कहा है । जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ ‘प्रोच्यन्ते’ प्रकर्षरूपसे कहे जाते हैं वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचनका अर्थ शब्दरूप श्रुत होता है । दर्शनसे सम्यग्दर्शन जानना ॥४५॥

भक्ती पूजा वर्णजणनं च णासणमवण्णवादस्स ॥

आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण ॥४६॥

का भक्ती पूजा ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति । पूजा द्विप्रकारा इव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्प-  
पुष्पाभताविदान अर्हदाद्युद्दिश्य इव्यपूजा अम्म्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च, वाचा गुणस्तवन  
च । भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरण ।

'वर्णजणणं' वर्णशब्द क्वचिद्रूपवाचो शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाचो क्वचिद्यथा 'सिद्धो-  
वर्णसमाप्नाय.' इति । क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिद्यथासि वर्णार्थी ददाति । तथा  
इहाप्यनतरार्यो गृहीत । तेन अर्हदादीना यशोजनन विदुषा परिषदि । अन्धेपागविश्ववेदिना दृष्टेऽटविरुद्ध-  
वचनताप्रदर्शनेन निबन्धे तत्सवादिवचनतया महत्ताप्रख्यापन भगवता वर्णजननम् ।

चैतन्यमात्रसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयप्राप्तिरस्ति । यन्मन्तरेण सर्वात्मिणु चैतन्यस्य सदा  
स्थिते । विशेषरूपरहितत्वादसच्चैतन्य खपुष्पवत् । प्रकृतेरचेतनाया मुक्तिरनुपयोगिनी । किं तथा बद्धया  
मुक्त्या वा फलमाप्नन ? अनया दिशा कापिलमते सिद्धता दुरुपपादा । बुद्ध्याविश्लेषगुणरहितता सिद्धता-  
ज्येषा । आत्मनोऽचेतनता क सचेतमोऽभिलषति । विशेषरूपशून्य वा अथमाप्नन सत्ता ? नैन चागावात्मा

गा०—भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवादका नाश करना तथा आसादनाका दूर करना  
सक्षेपसे दर्शन विनय है ॥४६॥

टी०—भक्ति और पूजा किसे कहते हैं ? अर्हन्त आदिके गुणोमे अनुराग भक्ति है । पूजाके  
दो प्रकार हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा । अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षत  
आदि अर्पित करना द्रव्यपूजा है । तथा उनके आदरमे खडे होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम आदि  
करना रूप शारीरिक क्रिया और वचनमे गुणोका स्तवन भी द्रव्यपूजा है । मनसे उनके गुणोका  
स्मरण भाव पूजा है ।

'वर्णजनन' मे वर्णशब्द कही तो रूपका वाचक है जैसे 'शुक्लवर्ण लाओ' यहाँ उसका अर्थ  
शुक्लरूप है । कही 'वर्ण' अक्षरका वाचक है । जैसे 'सिद्धो वर्णसमाप्नाय' यहाँ वर्णका अर्थ  
अक्षर है । कही वर्णशब्द ब्राह्मण आदिका वाचक है । जैसे 'यहाँ वर्णोका ही अधिकार है । यहाँ  
वर्णसे ब्राह्मण आदि लिये गये है । कहीपर वर्णका अर्थ यशु है । जैन वर्णार्थी दान करता है ।  
यहाँ वर्णका अर्थ यश है । यहाँ भी वर्णसे यश अर्थ लिया है । अतः विद्वानोकी सभामे अर्हन्त  
आदिका यश फलाना, दूसरे असर्वशोकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्धता दिखलाकर  
उनके वचनोके सवादि होनेसे महत्ताका ख्यापन करना अर्हन्तोका वर्णजनन है ।

चैतन्यमात्रमे स्थितिरूप निर्वाणको माननेपर अपूर्व अतिशयोकी प्राप्ति नहीं होती । विना  
प्रयत्नके ही सभी आत्माओमे चैतन्य सदा रहता है । तथा विशेषरूपसे रहित चैतन्य आकाशके  
फूलके समान असत् होता है । अचेतन प्रकृतिकी मुक्ति मानना व्यर्थ है । उसके बंधने या मुक्त  
होनेसे आत्माको क्या ? इस प्रकार सांख्यके मतमें सिद्धता नहीं बनती ।

वंशेषिक आदि दूसरे दार्शनिक सिद्ध अवस्थामे बुद्धि आदि विशेष गुणोका अभाव मानते  
हैं । इस तरह कौन सचेतन आत्माको अचेतन बनाना पसन्द करेगा । तथा विशेष धर्मोंसे शून्य

पराम्युपगत बुद्धधादिगुणरहितत्वाद्भवत् । रागादिष्वलेशवासनारहितं चित्तमेव मुक्तिशब्देनोच्यते इत्यत्रापि चित्तमत्यन्तसाधारणरूपम् । यद्यत् चिद्रूपं नेतरदिति तस्य स्वभावोऽनिरूप्यः । असाधारणस्वरूपशून्यं यत्तदसद्यथा— नभस्ताम्ररसः । असाधारणरूपशून्यं च विवक्षिताच्छित्तादप्यदिति । एवं मत्तन्तरे निरूपितानां सिद्धानामघटमानत्वाद्वाधाकारिसकलकर्मलिपिर्बहून्समुपजाताचलस्वास्थ्यसमवस्थिताः अनन्तज्ञानात्मकेन सुखेन सतृप्ता सिद्धा इति तन्माहात्म्यकथनं सिद्धानां वर्णजननम् ।

यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकब्रह्मालमणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति तद्वदेताम्यपि तदीयानि प्रतिबिम्बानि । बाह्यद्रव्यालम्बनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञविषयसान्निध्याद्वागद्वेषौ यथा स्वपुत्रसदृशं सुदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनं । एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबन्धनं प्रतिबिम्बम् । तद्वानुस्मरणं अस्मिन्वाशुभप्रकृते सवरणे, प्रत्यग्रशुभकर्मदाने, गृहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसपहासे च क्षममिति सकलाभिमत्तपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहताप्रकाशनं चैत्यवर्णजननमिति ।

केवलज्ञानवदशेषजीवादिद्रव्ययाथात्म्यप्रकाशनपटु, कर्मधर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्यानचदनमलयायमानं स्वपरसमुद्धारणनिरतविनेयजनताचित्तप्रार्थनीय, प्रतिबद्धाशुभास्त्रव, अप्रमत्तताया सपादक सकलविकल्पप्रत्यक्षज्ञान-

आत्माकी सत्ता कैसे रहेगी । तथा दूसरोके द्वारा माना गया आत्मा बुद्धि आदि गुणोसे रहित होनेसे भस्मके समान है ।

बौद्धमतमें रागादि क्लेशवासनासे रहित चित्त ही मुक्ति शब्दसे कहा जाता है । उनके मतमें भी चित्त अत्यन्त असाधारणरूपको लिये हुए है । यदि चिद्रूप एक ही है अन्य नहीं है तो उसका स्वरूप निरूपण करनेके योग्य नहीं है । जो असाधारण स्वरूपमें शून्य होता है वह असत् होता है जैसे आकाशका कमल । और विवक्षित चित्तसे अन्य चित्त असाधारण स्वरूपमें शून्य है । इस प्रकार अन्य मतोंमें कहे गये सिद्धोका स्वरूप नहीं बनता । अतः बाधा पैदा करनेवाले समस्त कर्मरूपी लेपको जला डालनेसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यसे युक्त और अनन्तज्ञानरूप सुखसे सन्तृप्त सिद्ध होते हैं । इस प्रकार उनके माहात्म्यको कहना सिद्धोका वर्णजनन है ।

जैसे राग-द्वेषसे रहित और तीनों लोकोंके चूडामणि अर्हन्त आदि भव्यजीवोंके शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं, उन्हींकी तरह उनके ये प्रतिबिम्ब भा शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं । क्योंकि बाह्य द्रव्यका आलम्बन लेकर शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं । जैसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंकी समोपत्तासे आत्मामें राग-द्वेष होते हैं । या जैसे अपने पुत्रके समान व्यक्तिका दर्शन पुत्रको स्मृतिका आलम्बन होता है । इसी तरह प्रतिबिम्ब अर्हन्त आदिके गुणोंके स्मरणमें निमित्त होता है । यह गुणस्मरण नवीन अशुभ प्रकृतिके आलम्बनको रोकनेमें, नवीन शुभकर्मके बन्धमें, बन्धे हुए शुभकर्मके अनुभागको बढ़ानेमें और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृति समूहके अनुभागको कम करनेमें समर्थ होता है । इस तरह समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धिमें कारण होनेसे प्रतिबिम्बोंकी उपासना करना चाहिए । इस रूपसे प्रतिबिम्बकी महत्ताका प्रकाशन चैत्यवर्ण जनन है । श्रुतज्ञान केवलज्ञानकी तरह समस्त जीवादि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेमें दक्ष होता है, कर्मरूपी धामको मूलसे नष्ट करनेमें उद्यत शुभध्यानरूपी चन्दनके लिए मलयपर्वतके समान है । अपना और दूसरोका उद्धार करनेमें लगे हुए शिष्यजनोंके द्वारा अन्तःकरणसे प्रार्थनीय है



बीजं, वर्णनचरणयो समीचीनयो प्रवर्तक इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

दु स्नात् प्रातु, सुख दातु, निधीना रत्नाना चाधिपत्ये स्थापयितु, स्वचक्रविक्रमानमितसकलभूपालक्षे-  
चरणबद्धमरुच्चक्राश्चक्रलाछनाम्पादयो पातयितु, सुरविलासिनीचेत समोहावह, तदीयविलुटपाटीनलोचन-  
रागमभिवर्धयती, हर्षभरपरवशोद्भिन्नमाद्रोमाचकचुकमाचरितुमुद्यता, रूपशोभामन्दिरा सपादयितुमत्ति-  
शयिताणिमादिगुणप्रसाधना, सामानिकादिसुरसहस्रानुयानोपनीतमहत्ता, सततप्रत्यग्रयुवतार्त्तलिगता सुभगतालता-  
रोह्यष्टम्, अनेकसमुद्रबिन्दुगणनागणितायु स्थिति, मेरुकुरुसुरसर्त्तु श्चलादिगो चरस्वेच्छाविहारचतुरा,  
सुरागनापुथुलनितम्बविबाधरकठिननिबिड—गमुन्नतकुचतटकीडालोकनस्पर्शनादिक्रियापयोमामितप्रोतिविस्मिता,  
शतमखतामखेदेन झटिति घटयितु, विरूपताजननीजराडाकिनीनामगोचरा शोकवृकानुल्लघिता, विपद्वावान-  
लशिखाभिरनुपप्लुता, रोगोरगैरदष्ट'व्या, यममहिषसुराखडिता, भीतिवगाहसमितिभिरनुल्लिखिता, सक्लेश-  
शतशरभैरनघ्यासिता, प्रियविद्योगचण्डपुडरीकैरसेविता, अनर्घ्यमुखरन्तप्रभवभूमि निर्वृति प्रापयितु समर्थो  
जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथन धर्मवर्णनजननम् ॥

अर्थात् वे श्रुतज्ञानके लिए प्रयत्नशील रहते हैं । अशुभ आश्रवको रोकता है । अप्रमादपना लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्षरूप ज्ञानका बीज है अर्थात् श्रुतज्ञानमे ही अन्यज्ञान पैदा होते हैं, मम्यगदर्शन और मम्यगज्ञानमे प्रवृत्त करानेवाला है । इस प्रकार कथन करना श्रुतज्ञान-  
का वर्णजनन है ।

धर्म दु खसे रक्षा करता है, सुख देता है, नवनिधि और चौदह रत्नोका स्वामी बनाता है, अपने चक्ररत्नके पराक्रमसे समस्त राजाओ, विद्याधरोंको विनम्र करने वाले तथा देवगणोंको भी बाँधने वाले चक्रवर्तियोंको चरणोमे गिराता है, धर्मके प्रभावसे बिना किसी खेदके तत्काल इन्द्र-  
पदवी प्राप्त होती है जो इन्द्रपदवी देवागनाओके चित्तको समोहित करती है, उनके चचल मीनके तुल्य लोचनोमे अनुरागको बढ़ाती है, हर्षके भागसे प्रकट हुए सधन गंगाचरूपी कन्चुकको उत्पन्न करनेमे तत्पर होती है, रूपकी शोभा बढ़ानेके लिये सातिशय अणिमा आदि ऋद्धियोंका सम्पादन करती है, सामानिक आदि हजारो देवता अनुगमन करके उसका महत्त्व स्थापन करते है, निरन्तर नवीन ताह्य उसका आर्त्तलिन करता है, सौभाग्यरूपी बेलके चढनेके लिये वह लकडीके तुल्य है, उसकी आयुकी स्थिति अनेक समुद्रोके जल बिन्दुओके द्वारा गिनी जाती है अर्थात् अनेक सागर प्रमाण आयु होती है, वह इन्द्रपद सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, नदी, कुलाचल आदिमे स्वेच्छापूर्वक विहार करनेमे प्रवीण होता है और देवागनाओके स्थूल नितम्ब, ओष्ठ, कठिन उन्नत कुचोके साथ क्रीडा, आलोकन, स्पर्शन आदि क्रियाके द्वारा अपरिमित प्रीतिको उत्पन्न करता है । ऐसा इन्द्रपद धर्मके प्रभावसे प्राप्त होता है । तथा जिनदेवके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षको भी प्राप्त करनेमे समर्थ है । जो मोक्ष धरीरको विरूप करने वाली जरारूपी डाकिनियोंके लिये अत्यन्त दूर है । अर्थात् वहाँ बूढापा नहीं है, शोकरूपी भेडिये वहाँ नहीं पहुँच सकते, विपत्तिरूपी बनकी आगकी शिखा वहाँ नहीं है, रोग रूपी सर्प वहाँ नहीं डसते, यमराजका भैसा अपने खुरोसे उसे खंडित नहीं करता, भयरूपी सूकरोका समूह वहाँ नहीं पहुचता, सैकडो मक्लेशरूपी शरभ वहाँ नहीं रहते, प्रियजनोंका वियोगरूपी प्रचण्ड आघात नहीं है और जो मोक्ष अमूल्य सुख रूपी रत्नोका उत्पत्ति स्थान है वह धर्मसे प्राप्त होता है इस प्रकार धर्मके स्वरूपका कथन धर्मका वर्णजनन है ।

उत्क्रोदितप्रियवचनमुखरदुर्भेदबन्धुसमितिशृङ्खला, दुस्तरतरसंसारतवधिरपरिभ्रमणचकितसवेपथु-हृदया, अनित्यताभावनाबाहृतचेतस्तया निरस्तशरीरद्विविणादिगोचरा, दुःखसहृतिस्पतिपररक्षाक्षमस्यापरस्य जिनप्रणीताद्वर्मादभावात् तमेव धरणीमत्युपगता, ज्ञानरत्नप्रदीपप्रभाप्रकरनिर्मूलितभुवनभवनान्तलीनाज्ञान-ध्वान्तसततय, कर्मणामाशाने, तत्फलानुभवने, तन्निर्मूलने च वयमेकका एवेति कृतविनिश्चितय असाधारण-चैतन्यादिलक्षणोपनीतमेदापेक्षयाज्ये वयमितरद्रव्यकलापादित्यन्यताभावनायामानन्ता, मुखदुःखयोरकृतादर-द्वेषाः, सबद्धेद्योदयकर्मनिमित्तत्वेन ममादृतिमनभिमत चापेक्षते इति उपकारापकारयोरहमेव प्रणेता, आत्मनः शुभाशुभकर्मणां निर्माणे। ममैव स्वातन्त्र्यास्तदुपचितत्वान्, अनुग्रहनिग्रहयो परे वगका किं कुर्वन्तोति मत्वा स्वजनपरजनविवेकनिस्सुका, समतादुपसर्गमहोरगैरवार्यवीर्यैरवष्टब्धा अयवचिचलवृत्तय, क्षुत्पि-पासादिपरीषहमहारातिसरभसमपातेऽयदीनासविलष्टचेतोवृत्तय, त्रिगुणितगुणितमुपाभ्रिता, अनशनादितपाराज्य-पालनोद्युक्तमय, कृतानुनपतकवचा, गृहीतशीलखेटा उद्गीर्णध्यानातिनिश्चितमडलाग्रा, कर्मारिपूतनासाध-नोद्धता साधव इति साधुमाहात्म्यप्रकाशन साधुवर्गवर्णजनन ।

मुक्ताहारपयोधरनिशाकरवासराधीश्वरकल्पमहीच्छादय इव प्रत्युपकारानपेशानुग्रहभाष्यता, निर्वाणपुर-

प्रियवचन बोलनेमें बाचाल बन्धुजन कठिनतासे दूटने वाली माकलके समान है किन्तु साधुगुण इस साकलको तोड़ डालते हैं, उनका हृदय अत्यन्त दुस्तर मसारूपी भवर्गमें चिक्काल तक भ्रमण करनेसे भयभीत रहता है, चित्तके अनित्य भावनाके भानेमें लगे रहनेसे शरीर धन-सम्पत्ति आदिमें उनका आदरभाव नहीं होता, जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मके सिवाय अन्य किसीके दुःखोंके समूहसे रक्षा करनेमें समर्थ न होनेसे वे उसी धर्मकी शरणमें रहते हैं, ज्ञानरूपी रत्नमयी दीपककी प्रभाके समूहसे उन साधुओंने लोक रूपी भवनमें रहने वाले अज्ञान रूपी अन्ध-कारकी परम्पराको नष्ट कर दिया है, उनका यह निश्चय है कि कर्मोंके बाँधनेमें, उनका फल भोगनेमें और उन्हें नष्ट करनेमें हम अकेले ही हैं, चैतन्य आदि असाधारण लक्षणके भेदमें हम अन्य सब द्रव्योंके समूहसे भिन्न हैं इस प्रकार वे अन्धत्व भावनामें आसक्त रहते हैं। न मुखमें आदरभाव रखते हैं और न दुःखमें द्रोप करते हैं। साता और असाता वेदनीय कर्मके उदयके निमित्तसे मेरा आदर या निरादर होता है, अतः अपने उपकार और अपकारका कर्ता मैं ही हूँ, अपने शुभ अशुभ कर्मोंके निर्माणमें मैं स्वतन्त्र हूँ—उसीके द्वारा मेरा अनुग्रह या निग्रह होता है, दूसरे बेचारे इसमें क्या करते हैं? ऐसा मानकर वे स्वजन और परजनमें भेद बुद्धि करनेमें उदासीन होते हैं। चहुँओरसे शक्तिशाली उपसर्गरूपी भयानक सर्पोंसे घिरे होनेपर भी वे अविचल रहते हैं। भूख प्यास आदि परीषह रूपी महान् शत्रुओंका अवाचक आक्रमण होनेपर भी उनकी चित्त-वर्ति दीनता और सकलेशसे रहित होती है। तीन गुणित रूपी गुप्तिका आश्रय लेते हैं, अनशन आदि तप रूपी राज्यका पालन करनेमें उनकी बुद्धि लगी रहती है, पूर्णव्रत रूपी कवच धारण करते हैं। शील रूपी खेटमें बसते हैं, ध्यानरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार रखते हैं, उसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाकी वशमें करनेके लिये तत्पर रहते हैं। इस प्रकार साधुओंके माहात्म्यकी प्रकट करना साधुवर्गका वर्णजनन है।

आचार्य मोतीका हार, मेघ, चंद्रमा, सूर्य और कल्पवृक्ष आदिकी तरह प्रत्युपकारकी

परिप्रापणक्षमे मार्गं निर्मले स्थिता, परानपि विनतान्चिन्नेयास्त्रवर्तयन्त आयतान्निधवलज्ञानपृथुलदर्शनपक्षम-  
लेक्षणा, कुलीना, विनता, विभया, विमाना, विरागा, विशल्या, विमोहा, वचसि तपसि महसि वाग्द्वितीया<sup>१</sup>  
इति भाषणं सूरिवर्णजननम् ।

अधिगतश्रुतार्थयाथातथ्यात्मवाच्य<sup>२</sup>वाचकानुरूपव्याख्याना, निरस्तनिद्रातद्वीप्रमादा, सुचरिता,  
सुशीला, सुमेधस, इत्याध्यापकवर्णजननम् ।

रत्नत्रयालाभादनतकाल अयमनादिनिधनोऽपि भव्यजीवराशिनं निर्वाणपुरमुपैति तल्लामे च सकला-  
सपद. सुलभा इति मार्गवर्णजननम् ।

मिथ्यात्वपटलविपाटनपटीयसी, ज्ञाननैर्मल्यकारिणी, अशुभगतिगमनप्रतिबन्धविधायिनी, मिथ्यादर्शन-  
विरोधिनीति निगदन समीचीनदृष्टेर्बर्णजननम् ।

सर्वज्ञतावीतरगते नार्ति विशते रागादिभिरविषया च अनुगता ममस्ता एव प्राणभूत इत्यादिर-  
हृतामवर्णवाद ।

स्त्रीवस्त्रगन्धमालालकारादिबिरहिताना सिद्धाना मुख न किञ्चिदतीन्द्रियाणा तेषा समधिगतौ न  
निबन्धनमस्ति किञ्चिदिति सिद्धावर्णवादः ।

स्वकल्पनाभिरयमर्हन्नेव सिद्धादि इत्यचेतनस्य व्यवस्थापनायामपि वारिकाणा कृत्रिमपुत्रकव्यवहृतिरिव

अपेक्षा न करके कल्याणमे लगे रहते है, मोक्षपुरीको प्राप्त करानेमे समर्थ निर्मल मार्गमे स्थित  
होते है, दूसरे भी विनम्र जिष्योको मोक्ष मार्गमे लगाते है, विस्नृत और अतिधवल ज्ञान और  
महान् दर्शनरूपी उनके नेत्र होते है । वे कुलीन, विनीत, निर्भय, मानरहित, रागरहित, शल्यरहित,  
मोहरहित होने है । वचनमे और तप तथा तेजमे अद्वितीय होने है इस प्रकार कहना आचार्यका  
वर्णजनन है ।

उपाध्याय श्रुतके अर्थके ज्ञाता होनेसे वाच्य और वाचकके अनुरूप अर्थात् जिस शब्दका  
जो अर्थ है वही यथार्थ रूपसे व्याख्यान करते है । निद्रा, आलस्य और प्रमादसे दूर रहते है, वे  
अच्छे चरित, अच्छे शील और उत्तम मेघासे सम्पन्न होते है, ऐसा कहना उपाध्यायका वर्णजनन  
है । रत्नत्रयकी प्राप्त न होनेसे यह अनादि निधन भी भव्य जीवगणि अनन्तकालमे मोक्षपुरीको  
नही जा पाती । उसके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण सम्पदाएँ सुलभ है इस प्रकार मोक्षमार्गकी प्रशसा  
करना मार्ग वर्णजनन है ।

सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व पटलको उखाड फेकनेमे समर्थ है, ज्ञानको निर्मल करता है, अशुभ  
गतिमे गमनको रोकता है, मिथ्यादर्शनका विरोधी है ऐसा कथन समीचीन दृष्टिका वर्णजनन है ।  
अर्हन्त भगवान्मे सर्वज्ञता और वीतरगता नही होती, सभी प्राणी रागादि और अज्ञानसे युक्त  
होते है इत्यादि कहना अर्हन्तोका अवर्णवाद है अर्थात् यह मिथ्यादोष लगाना है ।

स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलकार आदिसे रहित सिद्धोको कुछ भी मुख नही है । वे तो  
अतीन्द्रिय है उनको जाननेका कोई साधन नही है, ऐसा कहना सिद्धोका अवर्णवाद है । अपनी  
कल्पनासे यही अर्हन्त है और ये सिद्ध आदि है इस प्रकार अचेतन पदार्थमे अर्हन्त आदिकी  
स्थापना करने पर भी जैसे बालिकाएँ खेलमे गुड्डा गुड्डी आदिमे पुत्रादिका काल्पनिक व्यवहार

न मुख्यवस्तुपसेवनोद्भव फलमुपलभ्यते । न प्रतिबिवादिस्था अर्थादाय तद्गुणवैकल्यान् प्रतिबिवानामर्ह-  
दादित्वमिति चैत्यावर्णवाद ।

पुरुषकृतत्वाद्गणदाडिमादिवाक्यव्यवयथार्था नातीन्द्रिय वस्तु प्तो ज्ञानगोचर, अज्ञात चोपदिशतो वच  
कथ सत्यं ? तदुद्गत च ज्ञान कथ समीचीनमिति श्रुतावर्णवाद ।

दुर्गतिप्रतिबध स्वर्गादिक च फल विधने धर्म इति कथमदृष्ट श्रद्धीयते ? न हि सन्निहितकारणस्य  
कार्यस्यानुद्भवोऽस्ति यथाकुरस्य । सुखप्रदायी चेद्धर्म स्वनिष्पत्त्यनतर सुखमात्मन कि न करोति इति धर्मा-  
वर्णवाद ।

अहिमादिव्रतपालनोद्यता साधव, सूरयोऽप्यापकाश्चेत्यन्ते । अहिमाव्रतमेवेपा न युज्यते षड्जावनि-  
कायाकुले लोके वर्तमानाः कथमहिमाका स्यु ? केशोन्मुचनादिभि पीडयता च कथ नात्यवध ? अदृष्टमात्मनो  
विषय, धर्म, पाप, तत्फल च गदता कथ सत्यव्रतम् ? इति साधववर्णवाद । एवमितरयोरपि ।

विरुद्धाना एकत्र धर्मागमसभवात् विरुद्धाभिमतधर्माधिकरणकवस्तुजापन न सम्यक् । तदभिरुचेर्न  
समीचीनता विषययज्ञानानुगतत्वान्मृगतृणोदकश्रद्धेव, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक् । उरगप्रत्यय-  
बलाद्रज्जुपरिहार इवेति प्रवचनावर्णवाद ।

करती है उस तरह मुख्य अर्हन्त आदिकां सेवासे होने वाला फल प्राप्त नहीं होता । तथा प्रतिबिब  
आदिमे स्थापित अर्हन्त नहीं है क्योंकि उनमे उनके गुण नहीं है इसलिये प्रतिबिब्व आदि अर्हन्त  
आदि नहीं है ऐसा कहना चैत्यका अवर्णवाद है ।

अर्हन्तके द्वारा कहा गया श्रुत पुरुषके द्वारा कहा होनेसे 'दम अनार' जैसे वचनोकी तरह  
यथार्थ नहीं है । अतीन्द्रिय वस्तु पुरुषके ज्ञानका विषय नहीं हो सकती । और बिना जाने उपदेश  
देने वालेके बचन कैसे सत्य हो सकते हैं । तथा उनसे होने वाला ज्ञान कैसे सच्चा हो सकता है  
इस प्रकार कहना श्रुतका अवर्णवाद है ।

धर्म दुर्गतिको रोकता है और स्वर्गादि फल देता है, बिना देखे इसपर कैसे श्रद्धा की जा  
सकती है । जिस कार्यके कारण वर्तमान हो वह कैसे उत्पन्न नहीं होगा जैसे अकुर । यदि धर्म  
मुखदाता है तो अपनी उत्पत्तिके पश्चात् ही आत्माको मुख क्यो नहीं करता । ऐसा कथन धर्मका  
अवर्णवाद है ।

अहिंसा आदि व्रतोका पालन करनेमे जो तत्पर है उन्हें साधु, आचार्य और उपाध्याय  
कहते है । किन्तु अहिंसा व्रत ही इनके नहीं है । जो छह प्रकारके जीवोसे भरे संसारमे रहता है  
वह अहिंसक कैसे हो सकता है ? तथा केशलोच आदिसे जो आत्माको पीडा पहुँचाते हैं वे आत्म-  
घातके दोषी क्यो नहीं है ? जिन्हे देखा नहीं है ऐसे आत्माके विषय धर्म, पाप, उनका फल कहने-  
वालोके सत्यव्रत कैसे है, ऐसा कहना साधुका अवर्णवाद है । इसी प्रकार आचार्य और उपाध्याय-  
का भी अवर्णवाद जानना ।

एक वस्तुमे परस्परमे विरुद्ध धर्म असम्भव है । अत परस्परमे विरुद्ध धर्मोका आधार  
एक वस्तुको कहना सम्यक् नहीं है । जो इसमे अभिरुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है क्योंकि  
उसका ज्ञान विपरीत है जैसे मरीचिकामे जलकी श्रद्धा करनेवालेकी श्रद्धा विपरीत है । तथा  
मिथ्याज्ञानका अनुसारी होनेसे उसका चारित्र भी सम्यक् नहीं है । जैसे सर्प जानकर रस्सीको  
हटाना सम्यक् नहीं है । इस प्रकारका कथन प्रवचनका अवर्णवाद है ।

एतेषामवर्णवादानामभवप्रदर्शन । पुरुषत्वाद्ब्रह्म्यापुरुषवत् सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवत्यर्हन् इति साधनमनुपपन्न । असर्वज्ञतामवीतरागता चान्तरण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्तेरभावान् । जैमिन्यादयो न सकलवेदार्थज्ञा पुरुषत्वादिष्विषावन् इति शक्य वक्तुम् । सर्वज्ञतावीतरागतासिद्धिश्चाग्यत्र निरूपितेति हेतु प्रस्तभ्यते । दुःखप्रतिकारार्थेषु वस्तुषु मूढानां सुखसाधनव्यवहार क्षरीरायासमाश्रयत्वात् कामिनीमगमसुख । वैरूप्यनाशनर्वस्त्रादिभिर्न कृत्य सिद्धाना । अशरीराणां सकलदुःखापारुषु सुख अविकलमनतज्ञानात्मक तेष्ववस्थित । श्रुत निवधन तदधिगमे । शुभोपयोगनिमित्ततार्हदादीनामिव प्रतिबिबानामिति न बृद्धधो-त्प्रेक्षितभ्या ॥४६॥

एवं दंसणमाराहंतो मरणे असंजदो जदि वि कोवि ॥  
सुविसुद्धतिव्वलेस्सो परित्तसंसारिओ होई ॥४७॥

एवमित्यनया गावया अमयतमम्यद्दृष्टे सम्यक्त्वमारात्रयत फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरामर्श । नैर्ग्रन्थमेव मोक्षमार्गं प्रकृष्ट इति ।

‘सद्दृश्या’ पत्तियया रोच्य कासंतया पवयणस्त ।  
सयलस्त जेण एवे सम्भत्ताराहया होति ॥’

ब्रह्मज्ञानां शकादिकमपाकुर्वन्ति उपबृहणादिभि सम्यक्त्वस्य शुद्धिं वर्धयन्समीचीन दर्शनविनय

इत अवर्णवादाको असम्भव दिखलाते है—

पुरुष होनेसे राह चलते पुरुषकी तरह अर्हन्त सर्वज्ञ वांताग नहीं है । यहाँ पुरुष हेतु ठीक नहीं है क्योंकि असर्वज्ञता और अवोतरागताके बिना पुरुष नहीं होता ऐसी अन्यथानुपपत्ति नहीं है । इस तरहसे यह भी कहा जा सकता है कि जैमिनि जादि समस्त वेदार्थके ज्ञाता नहीं हैं, पुरुष होनेसे, जैसे भेड़ चरानेवाला व्यथित । सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्य ग्रन्थोमें कही है इसलिए यहाँ उसका विस्तार नहीं करते ।

जो वस्तु दुःखका प्रतीकार करनेके लिए है, अज्ञानी उन्हें सुखका साधन मान लेते हैं । स्त्री सम्भोग सुख नहीं है वह तो शारीरिक श्रममात्र है । तथा विरूपताको नष्ट करनेवाले वस्त्रोंसे सिद्धोको क्या करना है ? वे तो शरीर रहित है उनमें समस्त दुःखोका विनाशरूप अनन्त-ज्ञानात्मक सम्पूर्ण सुख है । इसके जाननेके लिए श्रुत वर्तमान है । तथा जैसे अर्हन्त शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं उसी तरह उनके प्रतिबिम्ब भी होते हैं । इसलिए यह बौद्धिक कल्पनामात्र नहीं है ॥४६॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाले मर्गने समय यद्यपि कोई असयत होता है किन्तु सुविशुद्ध तीव्र लेश्या वाला अल्प ससारी होता है ॥४७॥

टी०—‘एव’ इत्यादि गाथाके द्वारा सम्यक्त्वकी आराधना करने वाले असयत सम्यग्दृष्टिका फल कहते हैं । ‘एव’ पद पूर्वोक्त कथनके लिये आया है कि निर्ग्रन्थता ही उत्कृष्ट मोक्ष मार्ग है ।

मनसे श्रद्धान करने वाले, यही उत्तम है ऐसा वचनसे प्रीति प्रकट करने वाले, सकेतादि से रुचिको दशनेवाले और समस्त प्रवचनका अनुष्ठान करने वाले ये सब सम्यक्त्वके आराधक होते हैं ॥

अर्थात् जो श्रद्धान करते हुए शका आदिकों दूर करते हैं और उपबृहण आदिसे सम्यक्त्वकी

सपादयन् । 'बंसण' श्रद्धान । 'आराहंतो' निष्पादयन्मरणे' भवपर्यायप्रच्युतिकाले । 'असंजबो जदि धि' यद्यप्यसयत । 'सुविशुद्धतिशब्दलेस्तो' कपायानुरजिता योगवृत्तिलेख्या, मा बोद्धा प्रविभक्ता कृष्णनीलकापोततेजः पद्मशुक्ललेख्यामेवेन । तत्राशुभलेख्यानिरासार्थं सुविशुद्धग्रहण । तीव्रग्रहण परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविशुद्धा तीव्रा लेख्या यस्य सुविशुद्धतीव्रलेख्ये । 'परिसससारिओ' अल्पचतुर्गतिपरिवर्त । 'होबि' भवति । अल्प-संसारता सम्यक्त्वाराधनाया फलत्वेन दक्षिता ॥४७॥

तत्त्वश्रद्धानपरिणाम कतिभेद किं फल इत्यस्य प्रतिवचनमुत्तरप्रबंध । तत्र भेदप्रतिपादनायाह—

तिविद्वा समत्ताराहणा य उक्कस्समज्झिमज्जहण्णा ॥

उक्कस्साए सिज्झदि उक्कस्ससुक्कलेस्साए ॥४८॥

'तिविद्वा' त्रिविधा । 'समत्ताराहणा' सम्यक्त्वाराधना । 'उक्कस्समज्झिमज्जहण्णा' उत्कृष्टमध्यम-जघन्या चेति । तत्र 'उक्कस्साए' उत्कृष्टया सम्यक्त्वाराधनया । 'सिज्झदि' सिध्यति निर्वृतिमुपैति । उत्कृष्ट-शुक्ललेख्यासहितया ॥४८॥

सेसा य हुंति भवा सत्त मज्झिमाए य सुक्कलेस्साए ॥

संखेज्जासंखेज्जा वा सेसा भवा जहण्णाए ॥४९॥

'सेसा' अवशिष्टा । 'होति' भवन्ति । किं 'भवा' मनुष्यत्वादिपर्याया । कति 'सत्त' सप्त । 'मज्झिमाए य' सम्यक्त्वाराधनया । 'सुक्कलेस्साए' शुक्ललेख्याया मध्यमया वर्तमानम्येत्युभाभ्या मध्यमशब्दस्य

विशुद्धिको बढाते हुए दर्शन विनय करते है वे सम्यक्त्वके आराधक है । मरण अर्थात् भवपर्यायके छूटनेके समय यद्यपि असयत होता है किन्तु जो सम्यग्दर्शनको धारण किये होता है और सुविशुद्ध तीव्रलेख्या वाला होता है । कषायसे रगी हुई मन वचन कायकी प्रवृत्तिको लेख्या कहते है । उसके कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म और शुक्लके भेदसे छह भेद है । उनमे अशुभ लेख्या का निराकरण करनेके लिये 'सुविशुद्ध' पद ग्रहण किया है । तथा परिणामोका प्रकर्ष बतलानेके लिए तीव्र पद ग्रहण किया है । जिसके सुविशुद्ध तीव्र लेख्या होती है वह सुविशुद्ध तीव्र लेख्या वाला होता है । वह चतुर्गतिरूप परिवर्तमे अल्पकाल तक भ्रमण करता है । इस प्रकार सम्यक्त्वकी आराधना का फल अल्प संसार बतलाया है ॥४७॥

तत्त्वश्रद्धानरूप परिणामके कितने भेद है तथा उसका क्या फल है इसके उत्तरमे आगेका कथन करते हुए पहले भेद कहते हैं—

गा०—सम्यक्त्वकी आराधना तीन प्रकारकी है । उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । उत्कृष्ट शुक्ल लेख्या सहित, उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधनामे मोक्ष प्राप्त करता है ॥४८॥

टी०—सम्यक्त्व आराधनाके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद है । उत्कृष्ट शुक्ल लेख्याके साथ यदि उत्कृष्ट आराधना सम्यक्त्वकी हो तो उससे मोक्ष प्राप्त होता है ॥४८॥

गा०—और मध्यम शुक्ल लेख्याके साथ मध्यम सम्यक्त्वाराधनासे सात मनुष्य आदि पर्याय शेष होती है । जघन्य सम्यक्त्वाराधनासे सख्यात अथवा असख्यात (भव) भव अवशेष रहते हैं ॥४९॥

टी०—गाथामे आये मध्यम शब्दका सम्बन्ध दोनोमे लगाकर व्याख्यान करना चाहिये ।

संबंधो व्याख्येय । 'संखेज्जा' मंख्याता 'असंखेज्जा वा' असख्याता वा 'सेसा' शेषा भवन्नि भवा । 'जहृष्णाए' जघन्यसम्यक्त्वाराधनया मृतिमुपेतस्य ।

उक्तास्तिस्र आराधना. कस्य भवति इत्यस्योत्तरमाह गाथया—

उक्कस्सा केवल्लिणो मज्झिमया सेससम्मदिट्ठीणं ।

अविरदसम्मादिट्ठस्स संकिलिट्ठस्स हु जहृष्णा ॥५०॥

उत्कृष्टा सम्यक्त्वाराधना भवति । कस्य, 'केवल्लिणो' वेवल्लिन । केवलसमहायं ज्ञानं । इंवियाणि, मनः, प्रकाशोपवेशादिक वानपेक्ष्य वृत्तेः । प्रत्यक्षस्यावध्यादे आत्मकारणत्वादसहायतास्तीति केवलत्वप्रसंग स्यादिति चेन्न रुद्धेनिराकृतानेपजानावरणस्योपजायमान<sup>१</sup> एव बोधे केवलशब्दवृत्ते । केवलशब्दो यद्यपि सामान्येन केवलद्रव्ये प्रवृत्तस्तथापीह अयोगिकेवलग्रहण इत्यन्यत्र मरणाभावात् ॥

उत्कृष्टता कथं सम्यक्त्वाराधनाया इति चेत् इह द्विविध सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्व चेति । रागो द्विविध प्रशस्तराग अप्रशस्तराग इति । तत्र प्रशस्तरागो नाम पञ्चगुरुषु, प्रवचने च वर्तमानस्तद्-

अर्थात् मध्यम शुक्ल लेद्यामे वर्तमान मध्यम सम्यक्त्वाराधना वालेके सात भव शेष रहते है । और जघन्य सम्यक्त्वाराधनाके साथ मरने वालेके सख्यात अथवा अमख्यात भव शेष होते है ॥४९॥

**विशेषार्थ—**प० आशाधरने अपनी टीकामे कहा है कि अन्य टीकाकार 'संखेज्जा-संखेज्जा भवाय' ऐसा पठकर 'भवावच' मे आये शब्दसे अनन्तका समुच्चय करते हैं किन्तु हम 'वा' शब्दसे करते है । परन्तु विजयोदयामे 'च' शब्द या वा शब्दसे अनन्तका ग्रहण नहीं किया है ॥४९॥

उक्त तान आराधनागं किसके होती है इसका उत्तर आगेकी गाथासे कहते हैं—

**गा०—**उत्कृष्ट आराधना केवलीके होती है । मध्यम आराधना शेष सम्यग्दृष्टियोंके होती है । जघन्य आराधना मक्लेश परिणाम वाले अविरत सम्यग्दृष्टिके होती है ॥५०॥

**टी०—**उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधना केवलीके होती है । केवल अर्थात् असहाय ज्ञान; क्योंकि वह इन्द्रिया, मन, प्रकाश और उपदेश आदिकी अपेक्षाके बिना होता है ।

**शंका—**प्रत्यक्ष अवधि आदि ज्ञान आत्मासे ही होते है । वे भी इन्द्रियादिकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखते, अत उनके भी केवल ज्ञान होनेका प्रसंग आयेगा ?

**समाधान—**नहीं, क्योंकि रूढिवश जिसका सम्पूर्ण ज्ञानावर्णन नष्ट हो गया है उसीके उत्पन्न होने वाले ज्ञानमे केवल शब्दका व्यवहार होता है ।

यद्यपि केवली शब्द सामान्यसे दोनो प्रकारके केवलियोंमे प्रवृत्त होता है तथापि यहाँ अयोग केवलीका ग्रहण किया है क्योंकि संयोग केवलीका मरण नहीं होता ।

**शंका—**सम्यक्त्व आराधनाकी उत्कृष्टता कैसे होती है ?

**समाधान—**यहाँ सम्यक्त्वके दो भेद है—सरागसम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व । रागके दो भेद है—प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग । उनमेसे अर्हन्त सिद्ध आदि पाँच परमेष्ठियोंमे और

गुणानुगत्मक । अप्रशस्तो रागो द्विविध इन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेषु जायमानः । आत्माभासेषु, तत्प्रणीते सिद्धाते, तन्निरूपिते मार्गे, तत्त्वेषु वा प्रवर्तमान दृष्टिराग इति । तत्र प्रशस्तरागसंहितानां श्रद्धानं सरागसम्यग्दर्शनं । रागद्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्यग्दर्शनं । तस्याराधना उत्कृष्टा रागमलाभावात् अशेष-त्रिकालगोचरवस्तुयाथात्म्यग्राहिसकलज्ञानसहचारित्वाच्च ।

'मज्जिमग्गा' मध्यमिका सम्यक्त्वाराधना भवति । 'सिसम्मविट्ठीणं' उपयुक्तेतरवचनं शेषशब्द इति केवलम्यो येऽप्येऽमयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषशब्देन ।

तत्रापवादमाह—'अविरवसम्माविट्ठिस्स' असयतसम्यग्दृष्टे । 'जहण्णा' जघन्या सम्यक्त्वाराधना भवति । किं सर्वस्य ? नेत्याह—'संकिलट्ठस्स' मक्किलट्ठस्य परीपहव्याकुलचेतस इति यावत् ।

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहात्म्यं कथयति—

**संखेज्जमसखेज्जगुणं वा संमारमणुसरित्ठुणं ।**

**दुक्खक्खयं करेति जे सम्मत्तेणुमरंति ॥५१॥**

'संखेज्जमसखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्ठुणं' परिभ्रम्य । 'दुक्खक्खयं' दुःखक्षयं । 'करेति' कुर्वन्ति । के 'जे सम्मत्तेणुमरंति' मम्यक्त्वेन महं मृतिमृषयन्ति । नन्वियं जघन्या सम्यक्त्वाराधना तस्या च प्रवृत्तस्य संसारकालो निरूपित एव । 'सखेज्ज वा असखेज्जं वा सेसा जहण्णाए' इति तत्पुनरुक्तता स्यादिति । न,

प्रवचनमे उनके गुणोमे अनुराग रूप प्रशस्तराग है । अप्रशस्त रागके दो भेद हैं एक तो मनको प्रिय लगने वाले इन्द्रिय विषयोमे होनेवाला और दूसरा, मिथ्या देवोमे, उनके द्वारा कहे गये सिद्धान्तमे, उनके द्वारा कहे गये मार्गमे अथवा उम मार्गके अनुयायियोमे प्रवर्तमान दृष्टिराग । उनमेसे प्रशस्तराग सहित जीवोका श्रद्धानं सरागसम्यग्दर्शन है और दोनो प्रकारके रागसे रहित तथा जिनका मोह और आवरण क्षीण हो गया है उनका श्रद्धानं वीतराग सम्यग्दर्शन है । उमकी आराधना उत्कृष्ट है । क्योंकि राग और मलका अभाव हे तथा समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले सम्पूर्ण ज्ञानके साथ होना है ।

शेष सम्यग्दृष्टियोके मध्यम सम्यक्त्वाराधना होती है । यहाँ शेष शब्द जो कहे हैं उसमे अन्यका वाचक है, अतः केवलीसे अन्य जो असयत सम्यग्दृष्टि है वे शेष शब्दसे ग्रहण किये जाते हैं । उसमे अपवाद कहते है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है । क्या समीके होनी है । इसके उत्तरमे कहते है जो संकिलट है अर्थात् जिमका चित्त परीपहमे व्याकुल है उस अविरत सम्यग्दृष्टिके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है ॥५०॥

जघन्य सम्यक्त्वाराधनाका माहात्म्यं कहते है—

गा०—जो सम्यक्त्वके साथ मरते है वे असख्यात अथवा असख्यातगुणे संसारमे भ्रमण करके दुःखका भय करते है ॥५१॥

टी०—शांका—यह तो जघन्य सम्यक्त्वाराधना है । उसे जो करता है उसका संसार काल पहले कहा ही है कि जघन्य सम्यक्त्वाराधनावालेके सख्यात या असख्यात भव शेष रहते हैं । अतः पुनरुक्तता दोष आता है ?



उक्तस्यार्थस्याविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तमिति, इह तु विशेषाभिधानमस्ति 'बुणक्त्वत्वात् करेति' ।

सम्यक्त्वलाभमाहात्म्यनिवेदनाय गाथा—

लक्ष्णं य सम्मत्तं मुहुत्कालमवि जे परिवर्द्धति ।

तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ॥५२॥

'लक्ष्णं' लब्ध्वा । 'सम्मत्तं' तत्त्वश्रद्धान । कियत्काल ? 'मुहुत्कालमवि' अंतमुहूर्तमात्रमपि । 'जे' ये 'परिवर्द्धति' सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ति अनतानुबधिनामुदयात् । 'तेसिं' तेषां सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतानां । 'संसारवासद्धा' संसारवसनकालोऽनतो भवत्येवेति, तु शब्द एवकारार्थोऽत्र संबन्धनं नेयः । अनतानंतप्रहृण कुर्वता अनतकालपरिभ्रमणसद्भावसूचनं कृतम् ॥५२॥ इति बालमरणम् ॥

जे पुण सम्मत्ताओ पब्भट्ठा ते पमाददोसेण ।

भामन्ति दु भव्वा वि ह्नु संसारमहण्णवे भीमे ॥५३॥

मिथ्यादृष्टेर्दर्शनस्याभावात् तस्याराधक स्यात् ज्ञानचारित्रयोः परिणत इति तयोः राराधक स्यादिति मां शंका मपाकर्तुं माह—

जो पुण मिच्छादिट्ठी दढचरित्तो अदढचरित्तो वा ॥

कालं करेज्ज ण ह्नु सो कस्स ह्नु आराहओ होदि ॥५४॥

समाधान—नही, जो बात पूर्वमे कही है उसे बिना किसी विशेषताके पुन. कहनेको पुनरुक्त कहते है । किन्तु यहाँ तो विशेष कथन है कि दुःखका क्षय करते है ॥५१॥

सम्यक्त्वका माहात्म्य कहनेके लिये गाथा कहते है—

गा०—जो अन्तमुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्वको प्राप्त करके सम्यक्त्वसे गिर जाते हैं उनका संसारमें बसनेका काल अनन्तानन्त नहीं होता ॥५२॥

टी०—एक अन्तमुहूर्त कालके लिये भी जो तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्वको प्राप्त करके अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होनेसे सम्यक्त्वसे गिर जाते है । सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वमें जाने वाले उन जीवोका संसारमे बसनेका काल अनन्त ही होता है । 'अनन्तानन्तकाल नहीं होता' ऐसा कहनेसे अनन्तकाल तक भ्रमणके सद्भावकी सूचना की है ॥५२॥

गा०—पुन जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाते है । वे प्रमादके दोषसे भव्य होते हुए भी भयकर संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करते ही हैं ॥५३॥

विशेषार्थ—इस गाथापर विजयोदया टीका नहीं है । आशाधर जी ने भी इसकी टीका नहीं की है । अतः क्षेपक प्रतीत होती है । किन्तु प्रतियोगे पाई जाती है । तथा गाथा ५२ की विजयोदया टीकामे 'तु शब्दो एवकारार्थोऽत्र संबन्धनं नेय.' ऐसा वाक्य है जिसका अर्थ होता है कि यहाँ तु शब्दका अर्थ एवकार लेना । 'आ' प्रतिमे पाठ है—'तु शब्दो एवकारार्थो भ्रामत्यनन्तर नेय. ।' तु शब्दका अर्थ एवकार है और उसे 'भ्रामति' के अनन्तर लेना चाहिये । इस गाथा ५३ मे 'भ्रामति दु' पाठ है । इसी दु या तु का अर्थ एवकार लेनेके लिये कहा है । अतः यह गाथा मूलकी होना संभव है ॥५३॥

मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनका अभाव होनेसे वह उसका आराधक न होवे, किन्तु ज्ञान और

१ कारार्थो भ्रामत्यनन्तर नेय । —आ० ।

१३

‘जो पुण मिच्छाकिट्ठी’ यः पुनमिध्यादृष्टिस्तत्त्वश्रद्धानरहितो । यः पुन‘दृढचारित्रो अदृढचारित्रो वा’ दृढचारित्रो वा अदृढचारित्रो वा । ‘कालं करेज्ज’ मृतिमुपेयात् । ‘सो’ सः । ‘ण खु’ नैव । ‘कस्सइ’ कस्य-चिदपि । ‘आराधगो’ आराधको भवति । सम्यक्त्वमतरेण सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्रे न स्तः, इति रत्नत्रये कस्यचिदपि नाराधक इति ब्राह्मम् । अन्यथा मिध्यादर्शनादीनामाराधक एवातो इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्ययुक्तं स्यात् ॥५४॥

अथ को मिध्यादृष्टिर्न मिध्यात्ववान् । अथ तदेव मिध्यात्व नाम किं कतिविध इत्यत आह—

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं ।

संसद्दयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिचिहं ॥५५॥

‘तं’ तत् । ‘मिच्छत्तं’ मिध्यात्व । ‘होइ’ भवति । ‘जं’ यत् ‘असद्दहणं’ अश्रद्धान । कस्य ? ‘तच्चाणं’ ‘अत्थाणं’ तत्त्वार्थानामनतद्रव्यपर्यायात्मकानां जीवादीनां । अर्थस्य तत्त्वविशेषणमनर्थकम् । अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेन्न मिध्याज्ञानोपदर्शितस्य नित्यत्वक्षणिकत्वाद्यन्यतमधर्ममात्रान्मकस्यातत्त्वरूप-सम्भवात् । तस्य भावस्तत्त्व तत्त्वशब्दो भाववचन । भाववत्वमर्थशब्दो ब्रवीति । ततोऽनयोभिन्नाधिकरणभूतो कथं समानाधिकरणतेति न दोषः । भावदव्यतिरेकाद्भावस्य तत्त्वशब्दोऽर्थात्त्वव वर्तते इति । तथा च प्रयोग —

चारित्र्य तो उसके है अतः वह उनका आराधक हो सकता है ? इस गंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—

गा०—जो पुन मिध्यादृष्टि है वह दृढ चारित्र्य वाला अथवा अदृढ चारित्र्य वाला हो और मरण करे तो वह किसीका भी आराधक नहीं ही होता ॥५४॥

टी०—जो मिध्यादृष्टि अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित है वह दृढ चारित्र्य वाला हो या अदृढ चारित्र्य वाला हो और मरण करे तो वह ज्ञान या चारित्र्यका भी आराधक नहीं होता; क्योंकि सम्यक्त्वके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य नहीं होते । इसलिये रत्नत्रयमेसे किसीका भी वह आराधक नहीं है ऐसा अर्थ लेना चाहिये । यदि ऐसा अर्थ नहीं लिया जायें तो मिध्यादर्शन आदिका वह आराधक ही होनेसे किसीका भी आराधक नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं होगा ॥५४॥

जो मिध्यात्ववान् है वही मिध्यादृष्टी है । तब वह मिध्यात्व क्या है और उसके कितने भेद है ? यह कहते हैं—

गा०—जो तत्त्वार्थोका अश्रद्धान है वह मिध्यात्व है उसके तीन भेद है । सगयसे होनेवाला मिध्यात्व, अभिगृहीत मिध्यात्व और अनभिगृहीत मिध्यात्व ॥५५॥

टी०—तत्त्वार्थ अर्थात् अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक जीवादिका अश्रद्धान मिध्यात्व है ।

शंका—अर्थका तत्त्व विशेषण देना निरर्थक है क्योंकि अतत्त्वरूप अर्थका अभाव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिध्याज्ञानके द्वारा दिखलाये गये नित्यता क्षणिकता आदिमेंसे किसी एक धर्म वाला अतत्त्वरूप अर्थ संभव है ।

शंका—तत्त्वके भावको तत्त्व कहते हैं । तत्त्व शब्द भाव वाचक है और अर्थ शब्द भाववान् को कहता है । अतः ये दोनों भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले हैं । इनका सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह दोष नहीं है क्योंकि भाव भाववान्से अभिन्न होता है अतः तत्त्वशब्द

'तत्त्वार्थश्रद्धान् सम्यग्दर्शनमिति' । अथवाप्यधिकरणतैव । अर्थात् जीवादीनां यानि तत्त्वानि अवि-  
परीतानि रूपाणि तेषामश्रद्धान् यत्तन्मिथ्यात्व इति संबन्ध क्रियते । 'सस्यिदं' सशयित किञ्चित्त्वमिति ।  
तत्त्वानुसंधारणात्मक संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धान् संशयितं । न हि सविद्वानस्य तत्त्वविषय श्रद्धानमस्ति इदमित्य-  
मेवेति, निश्चयप्रत्ययसहभाषित्वात् श्रद्धानस्य । 'अभिग्राहिद' परोपदेशाभिमुख्येन गृहीत स्वीकृत अश्रद्धानं  
अभिगृहीतमुच्यते । एतदुक्तं भवति । न सति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहण सति जीवादीनि नित्यान्येवेति  
यदा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्त्वे अनेकातात्मकत्वे चोपजात अश्रद्धान् अरुचिमिथ्यात्वमिति । परो-  
पदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीत मिथ्यात्वं ॥५५॥

मिथ्यात्वदोषमाहात्म्यव्यापनायाह—

जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छन्तकडुगिदा ह्येति ॥  
ते तस्स कडुगदुद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला ॥५६॥

'जे वि' हिंसा नाम प्रमादवत् प्राणेश्यो वियोगकरण प्राणिनस्ततो निवृत्तिरहिंसा । असदभिधाना-  
द्विरति सत्यम् । अदत्तादानाद्विरतिरस्तेयं मैथुनाद्विरतिब्रह्म । ममद भावो मोहोदयज परिग्रह । ततो  
निवृत्तिरपरिग्रहता । एते अहिंसादयो गुणा परिणामा धर्म इत्यर्थः ।

ननु महभूयो गुणा इति वचनात् चैतन्यामूर्तत्वादीनामेवात्मन सहभूवा गुणता । हिंसादिभ्यो विरति-

अर्थमे रहता है । ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है—जैसे तत्त्वार्थ श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है । अथवा  
अन्य प्रकारसे भी अधिकरणता है—'अर्थ' अर्थात् जीवादिके, जो 'तत्त्व' अर्थात् अविपरीत रूप है  
उनका श्रद्धान् न करना मिथ्यात्व है ऐसा सम्बन्ध किया जाता है ।

तत्त्वका निर्णय न करने वाले संशय ज्ञानका सहचारी जो अश्रद्धान् है वह संशयित  
मिथ्यात्व है । जो सदेहमे है उसके तत्त्वविषयक श्रद्धान् नहीं है क्योंकि श्रद्धान् 'यह ऐसा ही है'  
इस प्रकारके निश्चयात्मक ज्ञानके साथ ही रहता है । परोपदेशकी मुख्यतासे गृहीत अर्थात् स्वीकार  
किया गया अश्रद्धान् अभिगृहीत कहा जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि 'जीवादि द्रव्य नहीं है  
यह स्वीकार करो । या जीवादि है किन्तु नित्य ही है' इस प्रकार जब दूसरेके वचनको सुनकर  
जीवादिके अस्तित्वमे या उनके अनेकान्तात्मक होनेमे जो अश्रद्धान् या अरुचि उत्पन्न हो वह  
अभिगृहीत मिथ्यात्व है और परोपदेशके विना भी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अश्रद्धान् उत्पन्न  
होता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है ॥५५॥

गा०—जो भी अहिंसा आदि गुण मरते समय मिथ्यात्वके द्वारा दूषित होते हैं, वे उस  
दूषित गुण वाले आत्माके कडुवी तूबीमे रखे गये दूधकी तरह निष्फल होते हैं ॥ ५६ ॥

टी०—प्रमादवानके द्वारा प्राणिके प्राणोका वियोग करना हिंसा है । उस हिंसासे निवृत्त-  
को अहिंसा कहते हैं । असत् कहनेसे निवृत्तिको सत्य कहते हैं । विना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे  
विरतिको अर्चीय कहते हैं । मैथुन सेवनसे विरतिको ब्रह्मचर्य कहते हैं । मोहके उदयसे होने वाले  
'यह मेरा है' इस प्रकारके भावको परिग्रह कहते हैं । उससे निवृत्तिको अपरिग्रह कहते हैं । ये  
अहिंसा आदि गुण अर्थात् अहिंसादि रूप परिणाम धर्म हैं ।

शङ्का—जो द्रव्यके साथ होते हैं वे गुण हैं ऐसा वचन है । उसके अनुसार चैतन्य अमूर्तत्व

परिणाम' पुनः कादाचित्कत्वात् मनुष्यत्वादिक्रोधादिवत्पर्याया, इति चेन्ननु गुणपर्ययवद्ब्रह्ममित्यादावुभयोपादाने अवातरभेदोपदर्शनमेतद्यथा 'गोबलीवर्द्धम्' इत्युभयोपस्थानाने पुनरुक्ततापरिहृतये स्त्रीगोशब्दवाच्या इति कथन-मेकस्यैव गुणसम्बन्धस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता ।

अहिंसाव्यञ्जने तु गुणा अहिंसादिगुणा । 'मिच्छत्तकडुगिवा' मिथ्यात्वेन तत्त्वाश्रद्धानेन । कडुगिवा कटुकता. कटुकता गता । 'होति' भवति । कदा मरणे मरणकाले ते अफला भवति । कस्य मिथ्यात्वकटु-कृताहिंसादिगुणस्यात्मनः । किमिव ? दुग्धव क्षीरमिव । कीदृग्भूत ? 'कडुअनुद्विगमवं' कटुकालाबूपगतम् यथा अफलं फलरहितं । पित्ताद्युपशमन प्रीतिरित्यादिक यत्फल क्षीरस्य प्रतीत तेन फलेन अफल जातम् । यथा क्षीरं भाजनदोषादेव मिथ्यात्ववत्यात्मनि स्थिता अहिंसादिगुणा स्वसाध्यैः फलेन न फलवत । पचानुत्तर-विमानवासित्व लोकातिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिह गृहीत । अहिंसादयो न स्वोचितफलातिशयदायिन दुष्ट-भाजनस्थितत्वात् कटुकालाबूपगतपयोवदिति सूत्रार्थं ॥५६॥

न केवल फलातिशयकारित्व अहिंसादिगुणाना, अपि तु मिथ्यात्वकटुकिते स्थिता दोषानपि कुर्वन्ति इत्याचष्टे—

जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण सजुद संत ॥

तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होति ॥५७॥

'यथा भेसजं पि' इति स्पष्टतया न व्याख्यायते । 'मिच्छत्तविसजुदा' मिथ्यात्वेन विषेण सबद्धा

आदि जो आत्माके साथ रहते है वे ही गुण है । हिंसादिके त्याग रूप परिणाम तो कभी होते है, कभी नहीं होते । अत मनुष्यत्वकी तरह या क्रोधादिकी तरह पर्याय है, गुण नहीं है ?

समाधान—'गुण पर्यायवानुको द्रव्य कहते है' इत्यादिमे गुण और पर्याय दोनोका ग्रहण क्रिया है । जैसे 'गोबलीवर्द्ध' यहाँ गो और बलीवर्द्ध दोनोकी ग्रहण करने पर पुनरुक्तता दोष आता है क्योंकि दोनो शब्दोका अर्थ एक है । इस पुनरुक्तता दोषको हटानेके लिये 'गो' शब्द गायका वाचक है ऐसा कहा है । एक गुण शब्दका ग्रहण करने पर वह धर्ममात्रको कहता है अत कोई दोष नहीं है । वे अहिंसादि गुण मरते समय यदि तत्त्वके अश्रद्धाने रूप मिथ्यात्वसे दूषित होते है तो मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसा आदि गुण वाले आत्माके कटुक तूम्बीमे रखे दूधकी तरह निष्फल होते हैं । दूधका फल चित्त आदिको शान्त करना प्रसिद्ध है । किन्तु भाजनमे दोष होनेसे वह दूध फल रहित होता है । इसी तरह मिथ्यात्ववान् आत्मामे रहने वाले अहिंसा आदि गुण अपना साध्य जो फल है उससे फलवान नहीं है । यहाँ पाँच अनुत्तर विमानका वासी देव होना या लौकान्तिकदेव होना इत्यादि अभ्युदयरूप फलका ग्रहण किया है । अत कटुक तूम्बीमे रखे दूधकी तरह सदोष भाजनमे रहनेके कारण अहिंसा आदि अपने उचित फलातिशयको नहीं देते, यह गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥ ५६ ॥

अहिंसा आदि गुण केवल फलातिशयकारी ही नहीं है, बल्कि मिथ्यात्वसे कलुषित आत्मामें स्थित अहिंसादि दोष भी करते है, यह कहते है—

गा०—जैसे औषध भी विषसे सम्बद्ध होने पर दोष करती है । उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी दोषकारी होते हैं ॥ ५७ ॥

टी०—विष मिश्रित औषधकी तरह मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी

'गुणा वि' गुणा अपि अहिंसादयो गुणा अपि । 'बोसाबहा' दोषाबहा ससारे चिरपरिभ्रमणदोषमावहन्तीत्यर्थ । अथवा मिथ्यादृष्टेर्गुणा पापानुबन्धि स्वल्पमिन्द्रियसुख दत्त्वा बह्वारभपरिग्रहादिषु आसक्त नरके पातयन्ति इति दोषाबहा । दृष्टान्तप्रदर्शनेन इष्टनिर्वृतिः । प्राप्तिश्च मिथ्यात्वमाहात्म्यान् भवतीति प्रमाणेन दर्शयितुं गायत्रयमायातम् ॥५७॥

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ।

अण्णतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥५८॥

इत्यनेन प्रकृष्टगमनसामर्थ्याद्भ्रमण'माख्यातम् । 'अण्णतो गच्छंतो' इत्यनेन तन्मार्गाप्रवृत्तत्वात् इत्ययं हेत्वर्थो दर्शिता । तेन इष्ट देशेन प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदर्शित । 'सगिच्छिदं देसं जह पुरिसो णेव पाउणदि' इत्यनेन दृष्टान्त उपदर्शित ॥५८॥

धणिद पि संजमतो मिच्छादिद्वी तथा ण पावेहू ।

इट्ठं णिव्वुइमग्गं उग्गेण तवेण जुत्तो वि ॥५९॥

'धणिद' पि नितरामपि । 'संजमतो' चारित्र्ये वर्तमानोऽपि । 'उग्गेण तवेण जुत्तोवि' उग्रेण तपसा युक्तोपि, नैव निवृत्तिं प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्मास्थानम् । 'मिच्छादिद्वी' इत्यनेन साध्यधर्मि दर्शितम् । एव प्रमाणरचना कार्या—

मिथ्यादृष्टिर्नैवेष्ट प्राप्नोति तन्मार्गावृत्तित्वात् । य स्वप्राप्यस्य मार्गं न प्रवर्तते न स तमभिमत प्राप्नोति । यथा दक्षिणमथुरात पाटलिपुत्रं प्राप्नुमिच्छु दक्षिणा दिशं गच्छन्ति । 'णिव्वुवि' निवृत्तिः ।

दोषाबहू होते है अर्थात् ससारमें चिरकाल तक भ्रमणरूपी दोषको करनेवाले होते है । अथवा मिथ्यादृष्टिके गुण पापका बन्ध करानेवाले थोड़ेसे इन्द्रिय सुखको देकर बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमें आसक्त उस जीवको नरकमें गिराते है यह दोष कारक है । दृष्टान्त द्वारा दिखलानेसे मिथ्यात्वके माहात्म्यसे इष्टकी उत्पत्ति और प्राप्ति नहीं होती, यह प्रमाण द्वारा बतलानेके लिए दो गायार्णें आई है ।

गा०—जैसे एक दिनमें सौ योजन भी चलनेवाला यदि अन्य मार्गसे जाता है तो वह पुरुष अपने इच्छित देशको नहीं प्राप्त होता ॥५८॥

टी०—इससे चलनेकी उत्कृष्ट सामर्थ्य होनेसे ससार भ्रमण कहा है । अन्यत्र जानेवाला' इस पदसे 'अपने मार्गपर न चलनेसे' इस हेतु अर्थको दिखलाया है । अपने इच्छित देशमें न पहुँचनेमें हेतु है उसका सही मार्गसे न चलना । इष्ट देशको प्राप्त नहीं होता' यह साध्य धर्म दृष्टान्त द्वारा बतलाया है । अर्थात् प्रतिदिन सौ योजन चलनेवाला मनुष्य अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह सही मार्गसे नहीं जाता ॥५८॥

गा०—उसी प्रकार अत्यन्त भी चारित्र्यका पालन करनेवाला उग्र तप करते हुए भी मिथ्यादृष्टि इष्ट प्रधान मोक्ष नहीं पाता ॥५९॥

टी०—मिथ्यादृष्टि इष्टको प्राप्त नहीं करता, क्योंकि इष्टके मार्गपर नहीं चलता । जो अपने इष्टकी प्राप्तिके मार्गपर नहीं चलता, वह अपने इष्टको प्राप्त नहीं करता । जैसे दक्षिण

‘अर्थ’ अग्र्या । अथवा निर्वृतिस्तुष्टिर्यथा मनसो निर्वृतिर्मनस्तुष्टिरित्यर्थ । निर्वृतेभ्योऽपि क्षायिकज्ञान-  
चारित्र्यात्म्यम् । स्पष्टतया न प्रतिपदं व्याख्या कृता ॥५९॥

व्रतेन शीलेन तपसा वा युक्तोऽपि मिथ्यात्वदोषाच्चिरं ससारं परिभ्रमति इतरस्मिन्व्रतादिहीने किं  
वाच्यमिति दर्शयति—

जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वद गुणो वावि ।

सो मरणे अप्पाणं किह ण कुणई दीहसंसारं ॥६०॥

स्वल्पापि मिथ्यात्वविषयकणिका कुत्सितासु योनिषु उत्पादयति किमस्ति वाच्यं सर्वस्य जिनदृष्टस्या-  
श्रद्धाने इति गाथाया अर्थ ॥६०॥

एक्कं पि अक्खरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणदिट्ठं ॥

सो वि कुजोणिणिवुड्डो किं पुण सच्चं अरोचंते ॥६१॥

एकमपीत्यस्य बालबालमरणप्रवृत्तस्य भव्यस्य सख्याता, अमख्याता, अनता वा भवन्ति भवा ।  
अभव्यस्य तु अनतानता । मिथ्यादर्शनदोषमाहात्म्यसूचनं ससारमहताख्यापनेन क्रियतेऽनया गाथया ॥६१॥

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति बालबालम्मि ॥

सेसा भव्वस्स भवा णंताणंता अभव्वस्स ॥६२॥

मथुरासे पाटलीपुत्र जानेका इच्छुक यदि दक्षिण दिशामे जाता है तो वह पाटलीपुत्र नहीं पहुँच  
सकता । उसी तरह मिथ्यादृष्टि भी प्रधानभूत मोक्षको नहीं प्राप्त करता; क्योंकि निर्वृति अर्थात्  
मोक्षका मार्ग या उपाय क्षायिकज्ञान और क्षायिकचारित्र्य है अथवा निर्वृत्तिका अर्थ तुष्टि है ।  
जैसे मनकी निर्वृत्तिका अर्थ मनकी तुष्टि है । अर्थात् उन्मे अनन्तमुख प्राप्त नहीं होता । स्पष्टरूप-  
से प्रत्येक पदकी व्याख्या नहीं की है ॥५९॥

आगे कहते हैं कि जब व्रत, शील और तपसे युक्त होनेपर भी मिथ्यात्व दोषके कारण  
चिरकाल तक ससारमे भ्रमण करता है तब जो व्रतादिसे हीन है उसका तो कहना ही क्या है—

गा०—जिस मिथ्यादृष्टिके शील व्रत अथवा ज्ञानादि भी नहीं हैं वह मरनेपर कैसे अनन्त  
ससार नहीं करता है ॥६०॥

टी०—यदि मिथ्यात्वरूपी विषकी छोटी-सी भी कणिका कुत्सित योनियोंमे उत्पन्न  
कराती है तो जिन भगवान्के द्वारा देखे गये समस्त तत्त्वोका श्रद्धान न होनेपर तो कहना ही  
क्या है ? ॥६०॥

गा०—जिन भगवान्के द्वारा देखा गया एक भी अक्षर जिसे रचता नहीं है वह मरे  
तो वह भी कुयोनियोंमे डूबता है, तब जिसे सब ही नहीं रचता उसके सम्बन्धमे तो कहना ही  
क्या है ॥६१॥

टी०—बालबालमरणसे मरनेवाले भव्यके सख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव होते  
हैं और अभव्यके तो अनन्तानन्त भव होते हैं । इस गाथासे संसारकी महताका कथन करनेके  
द्वारा मिथ्यादर्शन दोषके माहात्म्यका सूचन किया है ॥६१॥

बालबाल गवं संक्षेपज्ञा वा इत्यनया ।

मत्तदशमरणविकल्पेषु पंचमरणान्यप्रोच्यते इति प्रतिज्ञातं । तत्र यत्पंडितमरण तत्प्रायोपगमनमरण-  
मिगिनीमरणं भक्तप्रत्याख्यानमिति त्रिविकल्पं सूचितं । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राक्वर्णनीयमिति दर्शयति सूत्रकार  
स्वयमेव सम्बन्धमुत्तरप्रबंधस्थ—

पुवं ता वण्णोसिं भक्तपइण्णं पसत्थमरणेसु ॥  
उस्सण्णं सा चैव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ॥६३॥

'पुवं' पूर्व प्रथम तावत् । 'वण्णोसिं' वर्णयिष्यामि । 'भक्तपइण्णं' भक्तप्रत्याख्यानम् । 'पसत्थमरणेसु'  
प्रशस्तमरणेषु व्याख्येयेषु निर्धारणलक्षणा चैव सप्तमी । यथा—कृष्णा गोष्टु सपन्नक्षीरतमेति समुदायादेकदेशस्य  
पृथक्करणं निर्धारणं । प्रशस्तमरणसमुदायात् श्रवणविकात् भक्तप्रत्याख्यानं पृथग्व्यवस्थाप्यते । पूर्वव्याख्येयत्वेन  
एतत्कालप्रयोगत्वेन गुणेनेति मन्यते । उस्सण्णं नितरा बाहुल्येन वाचदित्यर्थः । मरणं सा चैव भक्तप्रत्या-  
ख्यानमृतिरेव । माध्याहारन्वात्मवसूत्रपदानां । एवहिं काले इति वाक्यशेषः कार्यः ।

सहननविशेषसमन्विताना इतरमरणद्वय । न च सहननविशेषाः । वज्रऋषभनाराचादयः अद्यत्वेऽमुष्मि-  
न्क्षेत्रे सति गणिना । 'सेसाणं' शेषयोः प्रायोपगमनस्य इगिनीमरणस्य च । वण्णणा कथन । 'पच्छा' इति  
शेषः ।

गा०—बाल-बाल मरणमे मरणपर भव्य जीवके सख्यात, असख्यात अथवा अनन्त भव शेष  
होते है । अभव्यके अनन्तानन्त भव होते है ॥६२॥

टी०—इस गाथाके साथ बाल-बालमरणका कथन समाप्त हुआ । मरणके सतरह भेदोंमेंसे  
यहाँ पाँच मरणका कथन करते है ऐसी प्रतिज्ञाकी थी । उनमेंसे जो पंडित मरण है उसके प्रायोप-  
गमन मरण, इगिनी मरण और भक्त प्रत्याख्यान ये तीन भेद सूचित किये थे । उनमेंसे प्रथम भक्त  
प्रत्याख्यानका वर्णन करनेकी सूचना ग्रन्थकार आगेकी गाथासे स्वयं करते हैं—

गा०—प्रशस्त मरणोमे पहले भक्त प्रत्याख्यानको कहूँगा । क्योंकि वह भक्त प्रत्याख्यान ही  
बहुतायतसे प्रचलित है । शेष मरणोंका वर्णन पीछे करेगे ॥६३॥

टी०—जिनका यहाँ व्याख्यान किया जाना है उन प्रशस्त मरणोमेंसे भक्त प्रत्याख्यानको  
पहले कहूँगा । यहाँ यह सप्तमी विभक्ति निर्धारण करनेके अर्थमें है, जैसे गौशोमें काली गाय बहुत  
अधिक दूध देती है । समुदायमें उसके एक देशको पृथक् करनेको निर्धारण कहते है । तीन भेद  
वाले प्रशस्त मरणके समुदायसे भक्त प्रत्याख्यानको पृथक् करते है । इस कालमें भक्त प्रत्याख्यान  
ही पालन करनेके योग्य है इस गुणके कारण उसका प्रथम कथन करना योग्य है । समस्त सूत्रपद  
अध्याहार सहित होते है इसलिये इस कालमें भक्त प्रत्याख्यान मरण ही 'उस्सण्णं' बाहुल्यसे  
प्रवर्तित है । शेष दो मरण विशेष सहननके धारकोके होते है । और आजके समयमें गणियोंके  
वज्रऋषभनाराच आदि सहनन विशेष इस क्षेत्रमें नहीं होते । इसीसे शेष प्रायोपगमन और  
इगिनीमरणका कथन पीछे करेंगे ।

शङ्का—यदि आजके मनुष्योंमें उन मरणोंको करनेकी शक्ति नहीं है तो उनका कथन क्यों  
करते हैं ?

यदि ते वर्तयितु इदानीतनानामसामर्थ्यं किं तदुपदेयेनेति चेत् तत्स्वरूपपरिज्ञानात्सम्यग्ज्ञान । तच्च मुमुक्षूणामुपयोभ्येनेति मन्यते ॥६३॥

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानमित्यारेकायामाह—

**दुविधं तु भक्तपञ्चकखाणं सविचारमघ अविचारं ॥  
सविचारमणागाढे मरणे सपरकमस्त हवे ॥६४॥**

'दुविध तु भक्तपञ्चकखाणं' द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यान । 'सविचारमघ अविचार' इति । विचरणं नानागमन विचार । विचारेण वर्तते इति सविचार । एतदुक्तं भवति । वक्ष्यमाणार्हलगादिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यान इति । अविचार वक्ष्यमाणार्हदिनानाप्रकाररहित । भवतु द्विविध । सविचारभक्तप्रत्याख्यान कस्य भवति इत्यस्योत्तर । अविचार भक्तप्रत्याख्यान 'अणागाढे' सहसा अनुपस्थिते मरणे चिरकालभाविनि मरणे इति यावत् । 'सपरकमस्त' नह पराक्रमेण वर्तने इति सपराक्रमस्तस्य हवे भवेत् । पराक्रम उत्साह-एतैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यान भवतीति लभ्यते 'यतो' विचारभक्त-प्रत्याख्यान अन्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्त ॥६४॥

तयो वक्ष्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शास्त्रेण निरूपणेत्याशकाया आह—

**सविचारभक्तपञ्चकखाणस्सिणमो उवक्कमो होइ ।  
तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तलं होंति णेयाइं ॥६५॥**

**समाधान—**उनके स्वरूपको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है और वह मुमुक्षुओंके लिए उपयोगी ही है ॥६३॥

भक्त प्रत्याख्यानके भेद कहते हैं—

गा०—भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकारका ही है । सविचार और अविचार । सविचार भक्त प्रत्याख्यान सहसा मरणके उपस्थित न होनेपर पराक्रम अर्थात् साहस और बलमे यत् साधुके होता है ॥६४॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान मरणके दो भेद है सविचार और अविचार । विचरण या नाना गमनको विचार कहते हैं और विचारसे सहितको सविचार कहते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि आगे कहे जाने वाले अर्हलगा आदि भेद सहित भक्त प्रत्याख्यान सविचार है और उनसे रहित अविचार है । सविचार प्रत्याख्यान किसके होता है ? तो कहते है कि यदि मरण सहसा उपस्थित न हो, चिरकाल भावी हो तो पराक्रमसे उत्साहसे सहितके होता है । इसीसे वह भी प्राप्त होता है कि सहसा मरण उपस्थित होनेपर पराक्रमसे रहितके अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है । गायामे अविचार भक्त प्रत्याख्यान इस कालमे इसके होता है, ऐसा नहीं कहा है ॥६४॥

उन दोनोंमेंसे किस भक्त प्रत्याख्यानका इस शास्त्रके द्वारा कथन किया जायेगा ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

गा०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका यह उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ होता है । और उस भक्त प्रत्याख्यानमें सूत्र और पद चालीस जानने योग्य है ॥६५॥



'सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्त' इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य । 'इणमो' अय । 'उद्वक्तसो' व्याख्यान-  
प्रारंभः । 'होवि' भवति । 'तस्य य' तत्र च भक्तप्रत्याख्याने । 'सुत्रपवाइ' सूत्रपदानि । सूतेऽर्जं सूचयतीति  
वा सूत्रं । सूत्राणि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । 'बसाल' चत्वारिंशत् । 'होति' भवन्ति । 'मेयाइ'  
शातव्यानि ॥६५॥

तानि सूत्रपदानि गाथाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ।

परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥६६॥

'अरिहे' अर्ह योग्य । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्याय योग्योऽयं नेति प्रथमोऽधिकार कर्तृव्यापार ।  
लिंगादय कर्तृपुर सरा भवन्तीति प्रागेव लिंगशिक्षादिभ्यो योग्यकर्तृनिर्देश सूत्रे कृत अरिह इति । शिक्षादि-  
क्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियागभूताया योग्यपरिकरमादर्शयितु लिंगोपादानं कृतम् । कृतपरिकरो हि कर्ता  
क्रियासाधनायोग्योऽयं करोति लोके । तथा हि घःादिकरणे प्रवर्तमाना दृढबद्धकक्षा कुलाला दृश्यते । ज्ञानमतरेण  
न विनयादयं कर्तुं शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राड् निर्देशमर्हति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादर्शयिष्याम ।  
लिंगशब्दश्चिह्नवाची । तथाहि वक्ष्यति । 'चिह्नं करणं' इति । 'सिक्खा' शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षा-  
शब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति—'जिनवयणं कल्लुसहरं अहो य रत्तो य पडिववर्धमति' । विनय मर्यादा ।  
तथा हि—ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोग—संगत

टी०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका व्याख्यान प्रारम्भ होता है उसमे चालीस सूत्रपद  
हैं ॥६५॥

उन सूत्रपदोको चार गाथाओंसे कहते हैं—

गा०—अर्ह अर्थात् योग्य, लिंग अर्थात् चिह्न, शिक्षा अर्थात् शास्त्राध्ययन विनय और मनका  
एकाग्र करना, अनियत क्षेत्रमे विहार, परिणाम, परिग्रह त्याग और शुभ परिणामोकी श्रेणिपर  
आरोहण तथा अभ्यास ॥६६॥

टी०—अर्हका अर्थ योग्य है । सविचार भक्त प्रत्याख्यानके यह योग्य है और यह योग्य नहीं  
है यह प्रथम अधिकार है जो कतकि व्यापारसे सम्बद्ध है । लिंग आदि कतकि होनेपर ही होते है  
इसलिये लिंग शिक्षा आदिसे पहले गाथामे 'अरिह' से योग्य कर्ताका निर्देश किया है । भक्त  
प्रत्याख्यान क्रियाके अग्रभूत शिक्षा आदि क्रियाके योग्य परिकर दिखलानेके लिये लिंगका ग्रहण  
किया है । क्योकि साधन सामग्री जुटा लेनेपर ही कर्ता लोकमे क्रियाकी साधनाके लिये उद्योग  
करता है । घट आदि बनानेमें लगे कुम्भकार साधन सामग्री कर लेनेपर ही कमर बाँधकर तैयार  
देखे जाते है । ज्ञानके बिना विनय आदि नहीं किये जा सकते, इसलिये उनसे पहले शिक्षाका  
निर्देश योग्य है । अन्य क्रम अवसरके अनुसार कहेगे ।

लिंग शब्द चिह्नवाची है । आगे कहेगे 'चिह्न करण' । यहाँ शिक्षा शब्दसे श्रुतका अध्ययन  
कहा है । आगे कहेगे—'जिन वचन कालिमाको दूर करता है उसे रात दिन पढ़ना चाहिये ।  
विनयका अर्थ मर्यादा है । आगे ज्ञानादि भावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिकी विनयके रूपमे कहेगे ।

घृतमित्यत्र एकीभूतं तैलं एकीभूतं घृतमित्यर्थं । समाधानं मनस एकताकरण शुभोपयोगे शुद्धे वा । अनियतक्षेत्रवासं अनियतविहार । तद्भ्रातः परिणामः [ त सू ५।४२ ] इति वचनात्तस्य जीवादेर्द्वयस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति । यद्यपि सामान्येनोक्त तथापि यत्ने स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम् । उपधिः परिग्रह । तस्य अहणा' त्याग । 'सिद्धी य' श्रिति' श्रेणि. सोपानमिति यावत् । भावनाभ्यास तत्र असकृत्प्रवृत्ति ॥६६॥

**सल्लेहणा दिसा खामणा य अससिट्ठ परगणे चरिया ।**

**मगण सुट्ठय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ॥६७॥**

'सल्लेहणा' सम्यक्तनुकरण । 'दिसा' परलोकदिगुपदर्शनपर सूरिणा स्थापित भवता दिश मोक्ष-वर्तनीयमुपदिशति यः सूरि म दिशा इत्युच्यते । 'खामावणा' क्षमाग्रहण । 'अणुसिट्ठ' सूत्रानुसारेण शासनम् । 'परगणे' अन्यस्मिन्गणे 'चरिया' चर्या प्रवृत्ति । 'मगण' मात्मनो रत्नत्रयविशुद्धि ममाधिमरण वा संपादयितुं क्षमस्य सूरैरन्वेषण । 'सुट्ठयो' सुस्थित परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थित सुस्थित आचार्य । 'उवसंपया' आचार्यस्य ढोकन । 'पडिछा' परीक्षा । गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साह-शक्तैश्च आहारगताभिलाष त्यक्तुमय क्षमो नेति । 'पडिलेहा' आराधनाया व्याखेपेण विना सिद्धिर्भवति न

समका अर्थ एकीभाव है । जैसे 'संगत घृत' का अर्थ एकमेक हुआ ही है । समाधानका अर्थ है शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोगमें मनका एक रूप करना । अनियत विहारका अर्थ है अनियत क्षेत्रमें रहना । तत्त्वार्थ सूत्रमें 'तद्भ्रात' को परिणाम कहा है । अत जीवादि द्वयके क्रोधादि या दर्शन आदि रूपसे होनेको परिणाम कहते हैं । यद्यपि सामान्य परिणाम गाथामें कहा है तथापि यहाँ साधुके द्वारा अपने कर्तव्यको आलोचनाको परिणाम शब्दसे ग्रहण किया है । उपधिका अर्थ परिग्रह है । उसका त्याग उपधिजहणाका अर्थ है । 'सिद्धी' या श्रितिका अर्थ श्रेणिया मोपान है । भावनाका अर्थ अभ्यास उसमें बार-बार प्रवृत्ति करना है ॥६६॥

गा०—सल्लेखना, दिशा, क्षमाग्रहण, शिक्षा ग्रहण, अन्य गणमें प्रवृत्ति, आचार्यकी खोज सुस्थित उपसपदा, परीक्षा, प्रतिलेखना ॥६७॥

टी०—कषाय और शरीरको सम्यक् रीतिसे कुश करना सल्लेखना है । आचार्य अपने स्थानपर जिसे स्थापित करते हैं कि यह आपको परलोककी दिशा दिखलाते हुए मोक्ष मार्गका उपदेश देगा वह आचार्य दिशा कहलाता है । क्षमा ग्रहण करनेको खामणा कहते हैं । शास्त्रानुसार शिक्षा देनेको अणुसिट्ठि कहते हैं । परगण अर्थात् दूसरे सधमें जानेका परगण चरिया कहते हैं । अपनी रत्नत्रय विशुद्धि अथवा समाधिमरण करानेमें समर्थ आचार्यके खोजनेका मार्गण कहते हैं । परका उपकार करनेमें और अपने प्रयोजनमें सम्यक् रूपसे स्थित आचार्यको सुस्थित कर्ते हैं । आचार्यके पास जानेको उपसपदा कहते हैं । गण, परिचारक, आराधक और उत्साह शक्ति की और यह आराधक आहारकी अभिलाषा छोड़नेमें समर्थ है या नहीं इन सबको परीक्षा करना

१ श्रिति. श्रेणि निश्चं णि. मो. आ मु० ।

२ वर्तन्या अयमु०—अ० । वर्तन्या३. यमु—मु०

वा राज्यस्य तस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एव निरूपणम् ॥६७॥

**आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।**

**सेज्जा संथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी ॥६८॥**

'आपुच्छा' प्रतिप्रश्नः । किमयमस्माभिरनुगृहीतव्या न वेति सधप्रश्नः । 'पडिच्छणमेगस्स' प्रति चारकैरम्यनुज्ञातस्यैकस्य सग्रह आराधकस्य । 'आलोयणा य' स्वापराधनिवेदन गुरूणामालोचना । 'गुणदोसा' तस्या गुणदोषा । 'सेज्जा' शय्या वसतिरित्यर्थः । आराधकावामगृहमिति यावत् । संथारो वि य' संस्तरश्च । णिज्जावगा' निर्यापका आगधकस्य समाधिषहाया । पयासणा चरमाहारप्रकाशनम् । 'हाणी' क्रमेणाहारत्याग हानि ॥६८॥

**पच्चक्खाणं खामणं खमणं अणुसट्ठिसारणाकवचे ॥**

**समदाज्जाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाई ॥ ६९ ॥**

'पच्चक्खाणं' प्रत्याख्यान त्रिविधाहारस्य । 'खामणं' आचार्यादीना क्षमाग्रहण । 'खमणं' स्वस्यान्य भूतापराधे क्षमा । 'अणुसट्ठि' अनुशासन शिक्षण निर्यापकस्याचार्यस्य । 'सारणा' दुःखाभिभवामोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा । 'कवचे' यथा कवचस्य शरजतनिपातदुःखनिवारणक्षमता एवमाचार्येण

'पडिच्छा' है । आराधनाकी सिद्धि बिना बाधाके होगी या नहीं, तथा राज्य, देश, ग्राम नगर आदि वहाँका प्रधान ये सब आराधनाके योग्य है या नहीं. इस प्रकारके निरूपणको पडिलेहा कहते है ॥६७॥

गा०—पूछना एक क्षपकको स्वीकार करना, और आलोचना, आलोचनाके गुण दोष, शय्या अर्थात् वसति, और सस्तर, निर्यापक, अन्तिम आहारका प्रकाशन क्रमसे आहारका त्याग ॥६८॥

टी०—जब कोई आराधक समाधिग्रहणके लिये आवे तो आचार्यका सधसे पूछना कि हम इसे स्वीकार करें या नहीं आपुच्छा है । आराधकको सेवा करने वाले मुनियोकी स्वीकृति मिलने पर एक आराधकको लेना 'एकका पडिच्छण है । गुरुके सामने अपने अपराधका निवेदन आलोचना है । आलोचनाके गुण और दोष 'गुणदोस' है । आराधकके रहनेका स्थान शय्या है उसे वसति भी कहते है मस्तरको संथार कहते है । आराधककी समाधिमे जो सहायक मुनि होते है उन्हे निर्यापक कहते हैं । आराधकके सामने अन्तिम आहारका प्रकाशन 'पयासणा' है । और क्रम से आहारके त्यागको हानि कहते है ॥६८॥

गा०—प्रत्याख्यान, क्षमा ग्रहण, दूसरोके अपराधको क्षमा करना । शिक्षण, सारणा, कवच, समभाव, लेख्या, आराधनाका फल (य) और (विजहणा) शरीर त्याग ये अधिकार जानना ॥६९॥

टी०—तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना प्रत्याख्यान है । आचार्य आदिसे क्षमा माँगना खामण है । दूसरेसे हुए अपराधको क्षमा करना खमण है । निर्यापकाचार्य जो शिक्षा देते है वह अनुशिष्टि है । दुःखसे पीड़ित होकर बेहोश हुए चेतना रहित आराधकको सचेत करना सारणा है । जैसे कवचमे सैकड़ो बाणोके लगनेसे होनेवाले दुःखको दूर करनेकी सामर्थ्य है । वैसे ही

निर्यापकेन धर्मोपदेशश्चतुर्गतिपरिभ्रमणे दुःमहानि दुःखानि ननु कर्मपरवशतया भूक्तानि निष्फलानि । इदं पुन-  
 दुं खसहन निर्जराय प्रवर्त्यमान सकलदुःखान्तं सुखमप्यतीन्द्रियमचलमनुपममव्याबाधात्मकं संपादयिष्यतीति  
 क्रियमाणो दुःखनिवारणमुणसामान्यात् कवच शब्देनोच्यते । यथा शौर्यप्रचिख्यापविषया माणवके सिंहशब्दः  
 प्रयुज्यमान शौर्यादिगुणाध्यासित देवदत्तमवगमयति । 'समवा' समभाव जीवितमरणलाभालाभसयोगविप्रयोग-  
 सुखदुःखाविषु रागद्वेषयोरकरण । 'ज्माणे' ध्यान एकाग्रचित्तानिरोध । 'लेस्सा' लेश्या कषायानुरजिता योग-  
 प्रवृत्तिलेश्या । फल' साध्यं परिप्राप्य आराधनायाः । 'विजहणा' आराधकस्य शरीरत्याग ॥६९॥

**बाहिव्व दुप्पसज्जा जरा य सामण्णजोग्गहाणिकरी ॥**

**उवमग्गा वा देवियमाणमतेरिच्छया जस्स ॥ ७० ॥**

'बाहिव्व' । अत्र चैव पदघटना । 'बाहिव्व दुप्पसज्जा सो अरिहो होइ भत्तपडिण्णाए' इति । व्याधिर्वा  
 दुःप्रसाध्यः केश्येन महता मयमप्रचयावहेन चिकित्स्य यस्य विद्यते सोहो भक्तप्रत्याख्यानं कर्तुं । जीर्यति  
 विनश्यति रूपवयोबलप्रभृतयो गुणा यस्यामवस्थाया प्राणिनः सा जरा । 'सामण्णजोग्गहाणिकरी' श्राम्यति  
 तपस्यतीति श्रमण, तस्य भाव श्रामण्य । श्रमणशब्दस्य पुंसि प्रवृत्तिनिमित्त तप क्रिया श्रामण्य, तेन योग  
 सबध साध्यसाधनलक्षणस्तस्य हानि विनाश करोति या सा जरा यस्य सोहति भक्तप्रत्याख्यानं विधातु ।

निर्यापकाचार्य जो धर्मोपदेश देते है—तूने चार गतियोमे भ्रमण करते हुए दुःसह दुःख सहे और  
 कर्मके अधीन होकर भोगे जिनसे कोई लाभ नहीं । किन्तु इस समयका दुःख सहन निर्जराके  
 लिए है, सब दुःखोका अन्त करनेवाला है और अतीन्द्रिय, अचल, अनुपम तथा बाधाग्रहित सुखको  
 भी देगा । इस प्रकार दुःखको दूर करनेके गुणकी समानतासे उसे कवच शब्दसे कहा है । जैसे  
 शौर्यका बखान करनेकी इच्छासे बालकमें प्रयुक्त सिंह शब्द शौर्य आदि गुणोंसे युक्त देवदत्तका बोध  
 कराता है । वैसे ही यहाँ भी जानना ।

जीवन, मरण, लाभ, हानि, सयोग, वियोग, सुख दुःख आदिमें रागद्वेष न करना समता  
 है । एक विषयमें चिन्ताके निरोधको ध्यान कहते हैं । कषायसे अनुरक्त मन-वचनकायको प्रवृत्ति-  
 को लेश्या कहते हैं । आराधनाके द्वारा प्राप्त साध्यको फल कहते हैं । और अन्तमें आराधकके  
 शरीर त्यागको विजहणा कहते हैं । इतने अधिकारोंसे भक्त प्रत्याख्यान मरणका कथन करेगे ॥६९॥

उनमेंसे 'अहं' का कथन आगेकी गाथाके द्वारा करते है—

गा०—जिसके दुःप्रसाध्य व्याधि हो, अथवा श्रामण्यके सम्बन्धको हानि पहुँचानेवाली  
 वृद्धावस्था हो अथवा देवकृत मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके  
 योग्य है ॥७०॥

टी०—दुःप्रसाध्य व्याधि हो, अर्थात् बड़े कष्टसे मयमके समूहका घात करके जिसका  
 इलाज सम्भव हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है । जिस अवस्थामें प्राणीके रूप,  
 बय, बल आदि गुण नष्ट हो जाते हैं उसे जरा कहते हैं । 'श्राम्यति' अर्थात् जो तपस्या करता है  
 वह श्रमण है । श्रमणके भावको श्रामण्य कहते हैं । पुरुषमें श्रमण शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त  
 तपश्चरण श्रामण्य है । उससे योग अर्थात् साध्यसाधनरूप सम्बन्धकी हानि जो करती है अर्थात्  
 जिसके होनेपर तपश्चरणकी साधना करना कठिन होता है वह वृद्धावस्था जिसके आ गई हो  
 वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है । जिसका शारीरिक बल बुढ़ापेके कारण क्षीण हो

जरापसारितगरीरबलः शरीरबलमाध्येषु कायक्लेशेषु न बतितुमुत्सहते । अथवा सममगो 'समणो' समणस्य भावो सामण्य । क्वचिदप्यननुगतगद्देषता समता सामण्यशब्देनोच्यते । वस्तुयाथात्म्यावहितचेत-स्तया योग' सबन्धो ध्यानयोग इति यावन् । वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो य' म ध्यानमिष्यते । जरापरि-प्लुतबोधस्य ध्यान विनश्यति । ततो ध्यानगोमविनाशकारिणी जरा यस्य सोर्हति भक्त त्यवनुम् । अथवा सामण्य समता, युज्यतेऽनेन निर्जरायिन इति योग', तप' । योगशब्दस्तपसि कायक्लेशाख्ये रूढ' मोऽत्र गृहीत' । 'आदावणादिविजोगधारिणो अणगारा' इत्युक्ते आतापनादितपोधारिण' इति प्रतीयते ।

द्वंद्वे अल्पात्तरन्वाद्योगशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसंग इति चेत् न अर्म्यर्हितत्वात्ममताया' सामण्य इत्यस्य पूर्वनिपात इति मन्यते, पूर्वतोऽर्म्यर्हितमिति वचनात् । न हि समताशून्यात्तपसो विपुला निर्जरा भवति । सत्या तु समताया निर्जरा भवति । ततस्तपसो निर्जराहेतुता समतापरवशेति प्रधान समता ।

उच्यते वा उपद्रवा वा 'वेदियमाणुसतेरिषिखणा' देवैर्न रंस्तिर्यग्मिश्च प्रवृत्ता यस्य मोर्हति भक्त-प्रत्याख्यान इति सबन्धः । चतुर्विधत्वादुपसर्गस्य त्रैविध्योपदेशः कथमिति ? अत्रोच्यते—उपसर्गा वा इति वा शब्द समुच्चयार्थोऽसौ 'वेदियमाणुसतेरिषिखणा वा इति सबन्धनीयगतेनाचेतनोपसर्गसमुच्चयः क्रियते ॥७०॥

जाता है वह शरीरमे रहते बलके द्वारा करने योग्य कायक्लेशोमे प्रवृत्त होनेके लिए उत्साहित नहीं होता । अथवा जिसका मन सम है वह समण है । समणका भाव सामण्य है । किसी भी वस्तुमे गगद्देष न करनेरूप समता 'सामण्य' शब्दसे कही जाती है । वस्तुके यथार्थस्वरूपमे चित्तका लगना, उमके साथ योग-सम्बन्ध अर्थात् ध्यान योग । वस्तुके यथार्थस्वरूपका जो ज्ञान निश्चल होता है उसे ध्यान कहते है । बुदापसे ज्ञानके व्याप्त हो जानेपर ध्यान नष्ट हो जाता है । अत ध्यानयोगका विनाश करनेवाली जरा जिसके है वह भोजनका त्याग करनेके योग्य है । अथवा समताको सामण्य कहते है । और निर्जराके इच्छुक जिससे युक्त होते है वह योग अर्थात् तप है । योग शब्द कायक्लेश नामक तपमे रूढ है । वही यहाँ योग शब्दसे लिया है, क्योंकि 'आदावणादि जोगधारिणो अणगारा' इस कथनसे 'आतपन आदि तपको धारण करनेवाले' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है ।

शका—'योग' शब्द अल्प अचवाला है । अत द्वन्द्व समासमे सामण्यसे पहले 'जोग' शब्द रखना चाहिए ?

समाधान—नही, क्योंकि समता पूज्य है अत सामण्यको पहले रखना उचित है क्योंकि जो पूज्य होता है उसे पहले स्थान दिया जाता है ऐसा शास्त्रका वचन है । समताशून्य तपसे बहुत निर्जरा नहीं होती । किन्तु समताके होनेपर होती है । अत तप समताके परवश होकर निर्जरामे कारण होता है इसलिए समता प्रधान है ।

अथवा देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोके द्वारा जिसपर उपसर्ग किया गया हो वह भक्त प्रत्या-ख्यानके योग्य होता है ।

शका—उपसर्ग तो चार प्रकारका होता है । यहाँ तीन प्रकारका क्यो कहा ?

समाधान—'उपसर्गा वा' मे 'वा' शब्दका अर्थ समुच्चय है । उससे अचेतनकृत उपसर्गका समुच्चय होता है ॥७०॥

अणुलोमा वा सत्त् चारित्तविणासया हवे जस्स ॥

दुग्धिभक्षसे वा गाढे अडवीए विप्पणद्धो वा ॥७१॥

'अणुलोमा वा' अनुकूला वा शत्रु । 'चारित्तविणासगा' चारित्रं पापक्रियानिवृत्ति तस्य विनाशका । बंधवो हि स्नेहान्मिध्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्र्य विनाशयितुं उच्यते । अनुलोमत्व शत्रुत्वविरोधि प्रातिकूल्ये समवस्थिता हि भवन्ति शत्रवस्तत्किमुच्यते 'अणुलोमा वा सत्त्' इति ? प्रियवचनमात्रभाषणादनुलोमता । अहितेऽसयमे प्रवर्तनाद्धितस्य मयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा बंधव सत्त् वा शत्रवश्चेति समुच्चय वा शब्दसमुच्चयार्थत्वात् । 'देधिगमाणसतेरिक्खगा उवसग्गा जस्स' इतिवचनान् अनुकूलशत्रुकृतोऽन्युपसर्ग संगृहीतः एव किमर्थं पुनरुच्यते 'अणुलोमा वा' इति पुनरुक्तता । तत्र हि सूत्रे मनुष्योपसर्गो नाम बधनताडनविलबनादिक शरीरोपद्रव परकृतो गृहीत । इह तु जिह्वोत्पाटनादिक कुर्मो यदि श्रामण्य न त्यजसीति खलीकरण बक्तुमिष्टम् ।

'दुग्धिभक्षसे वा' दुग्धिक्षे वा । 'आगाढे' दुरुत्तरे महति अशनिपातमिव सर्वजनगोचरे अहंति प्रत्याख्यातु ।

'अडवीए' अटव्या महत्या व्यालमृगाकुलाया मार्गोपदेशिजनरहिताया दिहूमूढ पापाणकटकबहुलताया दु प्रचाराया । 'विप्पणद्धो वा' विप्रनष्टो वा अहंतीति सबध ॥७१॥

गा०—अनुकूल बन्धु मित्र शत्रु हो जो चारित्र्यका विनाश करनेवाले हो । अथवा अनुकूल बन्धु और शत्रु जिसके चारित्र्यका विनाश करनेवाले हो । भयकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयकर जगलमे भटक गया हो तो भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

टी०—अनुकूल ही शत्रु हो । पापक्रियासे निवृत्तिरूप चारित्र्यका विनाश करनेवाले हो । बन्धु स्नेहसे या मिथ्यात्व दोषसे या अपने भरण-पोषणके लोभसे जिसके चारित्र्यका विनाश करनेके लिए तत्पर हो वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है ।

शका—अनुलोमता शत्रुताकी विरोधी है । जो प्रतिकूल होते है वे शत्रु होते है तब 'अणुलोमा वा सत्त्' कैसे कहा ?

समाधान—प्रियवचनमात्र बालनेसे अनुलोमता है और असयमरूप अहितमे प्रवृत्ति करानेसे तथा सयमधनरूप हितका विनाश करनेसे शत्रु होते है ।

अथवा अनुलोम अर्थात् बन्धु और शत्रु इस प्रकार 'वा' शब्दको समुच्चयार्थक लेना चाहिए ।

शका—पहले कहा है कि जिसपर देवकृत मनुष्यकृत उपसर्ग हो, तो हमसे अनुकूल कृत और शत्रुकृत उपसर्गका ग्रहणकर ही लिया है यहाँ पुन 'अणुलोमा वा सत्त्' क्यों कहा ? इससे पुनरुक्तता दोषका प्रसंग आता है ।

समाधान—उक्त गाथामे मनुष्योपसर्गसे परके द्वारा किया गया बाँधना, मारना, रोकना आदि शारीरिक उपद्रव लिया गया है । और यहाँ 'यदि मुनिपद नहीं छोडता तो हम तेरी जीभ उखाड लेंगे' इस प्रकारकी शत्रुता ली गई है ।

वज्रपातके समान भयकर दुर्भिक्ष होनेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है । सर्प, मृग आदिसे भरे हुए भयकर वनमे, जहाँ कोई रास्ता बतलानेवाला नहीं है, कंकर पत्थरके कारण चलना भी दुष्कर है, फँस जानेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

**चक्षुं व दुर्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुर्बलं जस्स ॥  
जघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥७२॥**

'चक्षुं' च' चक्षुर्वा । चष्टेऽर्थादर्शयतीति चक्षुः । 'दुर्बलं' दुर्बलं अल्पशक्तिं सूक्ष्मवस्तुदर्शनाक्षमम् । 'जस्स' यस्य । 'होज्ज' भवेत् । 'सोदं' व श्रोत्र वा श्रूयते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । 'दुर्बलं' शब्दोपलब्धिजननसामर्थ्यविकलं । सोप्यर्हति । 'जघाबलपरिहीणो' 'जो' य । 'ण समत्थो' न शक्तो । 'विहरिदुं' वा' गंतु वा सोप्यर्हति ॥७२॥

**अण्णमि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥  
अरिहो भक्तपइण्णाए होदि विरदो अवरिदो वा ॥७३॥**

'अण्णमि चावि' अन्यस्मिन्निण उक्तादस्मात् । 'आगाढकारणे' आगाढे कारणे 'जादे' जाते । 'एवारिसमि' उक्तकारणसदृशे । 'भक्तपइण्णाए' अरिहो होदि विरदो अवरिदो वा इति पदघटना । भक्त प्रत्याख्यानस्याहो भवति विरत अवरिदो वा ॥७३॥

अनर्हमूचनायोत्तरगाथा—

**उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा ॥  
णिज्जावया य सुलहा दुग्भिक्खमयं च जदि णत्थि ॥७४॥**

'उस्सरवि' नितरा प्रवर्तते । 'जस्स' यस्य । 'चिरमवि' चिरकालमपि । किं 'सामण्ण' चारित्र । 'सुहेण' अक्लेनेन । 'अण्णदिचारं वा' निरतिचार । चारित्रविनाशभयादय अतीतेषु कारणेषु सन्तु प्रत्याख्यानायोद्योग

गा०—जिसकी चक्षु दुर्बल हो अथवा जिसके श्रोत्र दुर्बल हो । जो जघाबलसे हीन हो (वा) अथवा विहार करनेमें समर्थ न हो ॥७२॥

टी०—'चष्टे' अर्थको जो दिखलाती है वह चक्षु है । 'श्रूयते' जिसके द्वारा शब्दको जाना जाता है वह श्रोत्र है । जिसकी चक्षु अल्पशक्तिवाली हो, सूक्ष्म वस्तुको न देख सकती हो । जिसकी कर्णेन्द्रिय दुर्बल हो, शब्दका ज्ञान करानेमें आशक्त हो, जिसमें जघाबल न हो, जो विहार करनेमें अशक्त हो, वे सब भक्तप्रत्याख्यानके योग्य हैं ॥७२॥

गा०—उक्तकारणके समान अन्य भी प्रबल कारण उपस्थित होनेपर विरत अथवा अवरित भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होना है ॥७३॥

टी०—उक्त कारणोंके समान अन्य भी ऐसे कारण हों तो मूनि हो या श्रावक हो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

जो भक्तप्रत्याख्यानके अयोग्य है उन्हें आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जिसका चारित्र चिरकाल भी विना किसी क्लेशके अतिचार रहित अच्छी तरह पालित हो रहा है । अथवा समाधिमरण करानेमें सहायक निर्यापक (सुलहा) सुलभ है । (च) और (जदि) यदि दुर्भिक्षका भय नहीं है ॥७४॥

टी०—पहले जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके कारण कहे हैं उनके रहते हुए यह चारित्र विनाशके भयसे भक्तप्रत्याख्यानके लिए उद्योग करता है । किन्तु यदि चारित्र विना क्लेशके निरतिचार

करोति । तच्चेत्प्रवर्तते निरतिचारमक्लेद्येन नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमह यदि न त्याग कुर्यां निर्यापका पुनर्न लप्स्यन्ते सूर्यस्तदभावे नाह पण्डितमरणमाराधयितुं शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानाहं एव ॥७५॥

यदि च सुलभा निर्यापका अनागतदुर्भिक्षभयं च यदि न स्यान्न भवत्यहं इति कथयति—

**तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ॥**

**सो मरणं पच्छित्तो होदि हु सामण्णणिविण्णो ॥७५॥**

'तस्स' तस्य । 'ण' 'कप्पदि भत्तपइण्णं' न योग्य प्रत्याख्यान भक्तस्य । 'भये पुरदो अणुवट्ठिदे' भये पुरस्तादनुपस्थिते । 'सो' स । निरतिचारश्रामण्य सुलभनिर्यापक अनुपस्थितदुर्भिक्षभय । 'मरणं' मृति । 'पच्छित्तो' प्रार्थयमानः । सूत्रवद् एवकारार्थः । एवमसौ सभावनीय 'सामण्णणिविण्ण एव होदिति' श्रामण्याप्यान्निविण्ण एव सम्भवतीति । ननु च अग्रिहेति अहं एव सूचितो नानहं, तन्किमर्थमसूत्रितव्याख्या क्रियते, सूत्रकारेण ? अहंप्रसगादायातमिति केचित् । अनहंमपि लक्षणतया अनहं च सूचित इति वा न दोषः । स्वपर-भावाभावोभयाधीनात्मलाभत्वात्मवैवस्तूना इति मन्यते ॥ अरिहोसि गदम् ॥७५॥

पलता है तो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य नहीं है उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण नहीं करना चाहिए । तथा यदि इस समय मैं भक्तप्रत्याख्यान नहीं करता तो फिर मुझे समाधिमरण कगनेवाले निर्यापकाचार्य नहीं मिलेंगे । उनके अभावमें मैं पण्डितमरणकी आराधना नहीं कर सकता । ऐसा यदि भय है तो भक्तप्रत्याख्यानके योग्य ही है । अर्थात् यदि ऐसा भय न हो और आराधनामें सहायक उस कालमें और आगे भी सुलभ हो तो उक्त भयसे तत्काल भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नहीं है । इसी तरह यदि दुर्भिक्षा भय हो कि आगे धान्यका विनाश होनेसे भिक्षाके विना मेरे चारित्रकी हानि होगी तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है, नहीं तो अयोग्य है ॥७५॥

यदि निर्यापक सुलभ हो और आगे दुर्भिक्षा भय न हो तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—

गा०—आगे भयके अनुपस्थित होते हुए उसका भक्तप्रत्याख्यान योग्य नहीं है । वह यदि मरणकी प्रार्थना करना है तो मुनिधर्मसे विरक्त ही होता है ॥७५॥

टी०—जिसका चारित्र निरतिचार पलता है, निर्यापक भी सुलभ है और दुर्भिक्षा भय भी नहीं है फिर भी यदि वह मरना चाहता है तो ऐसी सम्भावना होती है कि वह मुनिपदसे विरक्त हो गया है ।

शंका—'अरिह' इस पदसे 'अहं' ही सूचित होता है 'अनहं' अयोग्य नहीं । तब ग्रन्थकारने सूत्र विरुद्ध व्याख्या क्यों की ?

समाधान—'अहं' के प्रसंगमें 'अनहं' आया है ऐसा कोई कहते हैं अथवा लक्षणासे 'अहं' भी 'अनहं' को सूचित करता है इसलिए कोई दोष नहीं है । क्योंकि सब वस्तुओं स्वका भाव और परका अभाव, दोनोंके होनेसे ही आत्म लाभ करती है ऐसा माना जाता है ॥७५॥

इस प्रकार 'अरिह' अधिकार समाप्त हुआ ।



भक्तप्रत्याख्यानार्हस्य तत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगनिरूपण उत्तराभिर्गाथाभि क्रियते—

**उत्सर्गियलिंगकदस्स लिंगमुत्सर्गियं तयं चैव ॥**

**अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसर्गियं लिंगं ॥७६॥**

**उत्सर्गियलिंगकदस्स** उत्कर्षेण मर्जनं त्यागः सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः । उत्सर्गे सकलग्रथपरित्यागे भवति लिंग औत्सर्गिकं किं करोति क्रियासामान्यवचनोऽत्र सुज्यर्थो प्राह्य धातुनामनेकार्यत्वाविति वचनात् । तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिंगस्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानभिलाषवत् । 'तं चैव उत्सर्गियं लिंगं' तदेव प्राक् गृहीतं लिंग औत्सर्गिकम् । 'अववादियलिंगस्स वि' यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिक परिग्रहसहितं लिंग अस्त्येत्यपवादिकलिंगं भवति । वाक्यशेषं कृत्वा एव पदसंबन्धः कार्यः । 'अथ पसत्थलिंगं' यदि प्रशस्तं ज्ञानं लिंगं मेहनं भवति । चर्मरहितत्वम्, अतिदीर्घत्वम्, स्थूलत्वम्, असकृदुत्थानशालतेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत् । पुस्तकलिङ्गता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिंगशब्देन ग्रहणम् । अतिलब्धमानतादिदोषरहितता प्रशस्ततापि तयोर्गृहीता ॥७६॥

अप्रशस्तलिङ्गस्य औत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवंत्यस्यापवादमाह—

**जस्स वि अव्वभिचारी दोमो तिट्ठाणिगो विहारम्मि ॥**

**सो वि ह्नु संधारगदो गेण्हेज्जोस्सुगियं लिंगं ॥७७॥**

जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके योग्य है उसके भक्तप्रत्याख्यानका परिकर जो लिंग है, उस लिंगका कथन आगेकी गाथाओसे करते है—

गा०—जो औत्सर्गिक लिंगमे स्थित है उसका जो पूर्वगृहीत है वही औत्सर्गिक लिंग होता है । आपवादिक लिंगवालेका भी औत्सर्गिक लिंग होता है यदि उसका पुरुष चिह्न दोष रहित हो ॥७६॥

टी०—उत्कृष्टसे 'सर्जन' अर्थात् सकलपरिग्रहके त्यागको उत्सर्ग कहते है । 'उत्सर्ग' अर्थात् सकल परिग्रहके त्यागमे जानेवाले लिंगको औत्सर्गिक लिंग कहते है । यहाँ सुज् धातुका अर्थ क्रिया सामान्यवाची लेना चाहिए । क्योंकि ऐसा कहा है कि धातुओके अनेक अर्थ होते है । तब ऐसा अर्थ होना है कि जो औत्सर्गिक लिंगमे स्थित है और भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रखता है उसका वही लिंग रहता है जो उसने पूर्वमे ग्रहण किया है अर्थात् औत्सर्गिक लिंग ही रहता है । मनियोके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते है । जिसके अपवाद हो वह अपवादिक है अर्थात् परिग्रह सहित लिंगवाला आपवादिक लिंगी होता है । वह यदि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है तो उसे परिग्रहको त्यागकर औत्सर्गिक लिंग धारण करना होता है । इस लिंग धारण करनेपर नमन होना पडता है । किन्तु उसके सम्बन्धमे यह नियम है कि उसका लिंग-पुरुष चिह्न प्रशस्त होना चाहिए । लिंगका चर्मरहित होना, अतिदीर्घ होना, स्थूल होना, और बार-बार उत्तेजित होना ये दोष है । इन दोषोसे रहित होनेपर ही औत्सर्गिक लिंग दिया जाता है । यहाँ लिंग शब्दसे पुरुष चिह्नका ग्रहण किया है । तथा उससे अण्डकोष भी ग्रहण होता है । वे भी अति लटकते हुए लम्बे नहीं होना चाहिए ॥७६॥

आगे 'अप्रशस्त लिंगवालेके औत्सर्गिक लिंग नहीं होता है, इस कथनका अपवाद कहते हैं—

'अस्स वि' यस्यापि । 'अण्निचारी' अनिराकार्यो । 'बोसो' दोष । 'तिट्ठाणियो' स्थानत्रयमयं मेहुने वृषणयोश्च भव औषधादिनापसार्य' । 'सोपि' क्षु शब्द एवकारार्थः । स च 'गेण्णैज्ज' इत्यनेन सबधनीयः । गृह्णीयादेव किं ? 'उत्सग्गिग लिगं' औत्सर्गिक अचेलतालक्षण । क्व 'बिह्वारम्मि' विह्वारे वसती, 'संधारणवे' सस्तरारूढः संस्तरारोहणकाले । एव सस्तरारूढस्यैव औत्सर्गिक नान्यथेत्याख्यात भवति ॥७७॥

अपवादलिगस्थाना प्रशस्तलिगाना सर्वेषामेव किमौत्सर्गिकलिगतेत्यस्यामारेकाया आह—

आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महद्दिओ हिरिमं ॥

मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिगं ॥ ७८ ॥

'आवसधे वा' निवासस्थाने । 'अप्पाउग्गे' अप्रायोग्ये अविधिके । 'अपवादिकलिगं' हवदिति' दोष । 'जो वा महद्दिओ' महद्दिकः । 'हिरिमं' होमान् लज्जावान् । तस्यापि 'होज्ज' भवेत् अपवादिक लिगं । 'मिच्छे' वा मिथ्यादृष्टौ । 'सजणे' स्वजनो बन्धुवर्गो । 'होज्ज' भवेत् । अपवादिकलिग मचेललिग ॥७८॥

पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गलिगस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

अचेलककं लोचो वोमट्टसरीरदा य पडिलिहणं ॥

एसो हु लिगकप्पो चदुव्विहो होदि उम्सग्गे ॥७९॥

गा०—जिसके भी लिग और दोनो अण्डकोष इन तीन स्थानोमे ऐसा दोष है जिमे औषध आदिसे भी दूर नहीं किया जा सकता । वह भी वसतिकामे सस्तरपर आरूढ होनेपर औत्सर्गिक लिगको अवश्य ग्रहण करे ॥७७॥

दो०—जिसके तीनों स्थानोमे ऐसा दोष है जिसे चिकित्सासे भी नहीं दूर किया जा सकता । वह भी जब भक्त प्रत्याख्यान करना है तो उसे वसतिमे सथरे पर रहना होता है अत उस समय उसे भी औत्सर्गिक लिग ग्रहण करना आवश्यक है । इस प्रकार वह सस्तर पर आरूढ होते हुए भी औत्सर्गिक लिगका पात्र होता है उससे पहले नहीं (क्योंकि सदोप लिग वाला नग्नता का पात्र नहीं होता) ॥७७॥

क्या प्रशस्त लिग वाले सभी अपवाद लिगके धारकोको औत्सर्गिक लिग लेना आवश्यक है इस शङ्काका उत्तर बेटे है—

गा०—जो महान सम्पत्तिशाली है अथवा लज्जालु है अथवा जिसके स्वजन बन्धुवर्ग मिथ्यादृष्टि विधर्मो है । उसके लोगोके आवागमनके कारण अयोग्य निवास स्थानमे आपवादिक लिग होता है ॥ ७८ ॥

दो०—जो प्रतिष्ठित धन सम्पन्न है या जिन्हे सबके सामने लज्जा लगती है या जिनका परिवार विधर्मो है उन्हे सार्वजनिक स्थानमे नग्न लिग नहीं देना चाहिये । सर्वस्त्र लिग ही उनके योग्य है ॥ ७८ ॥

पहले कहे औत्सर्गिक लिगका स्वरूप कहते है—

गा०—अचेलता, हाथसे केश उखाडना, शरीरसे ममत्व त्याग और प्रतिलेखन यह चार प्रकारका लिगमेद औत्सर्गिक लिगमे होता है ॥ ७९ ॥

अचंचलवकमिति । अचंचलकं अचंचलता । लोचो केशोत्पाटनं हस्तेन । बोसट्टसरीरवा य व्युत्सुष्टशरीर-  
रता च । पडिलिहणं प्रतिलेखनं । एसो बु एषः । लिगकल्पो लिगविकल्पः । अउविव्हो चतुर्विधः भवति ।  
उत्सग्ने औत्सर्गिकसन्निते लिगे ।

अतीताभिर्गाथाभिः पुरुषाणा भक्तप्रत्याख्यानान्मिलाषिणा लिगविकल्पोऽभिदृष्टनिश्चयः । अधुना स्त्रीणा  
तवर्धिनीना लिगमुत्तरया गाथया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिगं दिट्ठं उत्सग्गियं व इदं वा ॥  
तं तत्थ होदि हु लिगं परिउग्रवधिं करंतीए ॥८०॥

‘इत्थीवि य’ स्त्रियोजपि । ‘जं लिगं’ यल्लिग । ‘दिट्ठं’ दृष्ट आगमेऽभिहित । ‘उत्सग्गियं व’ औत्स-  
र्गिक तपस्विनीना । ‘इदं वा’ श्राविकाणा । ‘तं’ तदेव । ‘तत्थ’ भक्तप्रत्याख्याने । ‘होदि’ भवति । लिग  
तपस्विनीना प्राक्तनम् । इतरासा पुसाभिव योग्यम् । यदि महद्दिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः  
प्राक्तनं लिग विविकते त्वावमथे, उत्सर्गलिग वा सकलपरिग्रहत्यागरूपं । उत्सर्गलिग कथ निरूप्यते स्त्रीणा-  
मित्यत आह—‘त’ तत् उत्सर्गं लिग । ‘तत्थ’ स्त्रीणा ‘होदि’ भवति । ‘परिउ’ अल्प । ‘उवधि’ परिग्रह ।  
‘करंतीए’ ‘कुर्वत्या’ ।

टी०—अचंचलक अर्थात् वस्त्रादिका अभाव, केश लोच, शरीरका सस्कार आदि न करना और प्रीछो यह चार औत्सर्गिक लिगके प्रकार है । औत्सर्गिक लिगमे ये चार बातें होना आवश्यक है ॥ ७९ ॥

पिछली गाथाओसे भक्त प्रत्याख्यानके अभिलाषी पुरुषोके लिगका निश्चय किया । अब उसकी अभिलाषी स्त्रियोंका लिग कहते हैं—

गा०—स्त्रियोके भी जो लिग औत्सर्गिक अथवा अन्य आगममे कहा है । वही लिग अल्प परिग्रह करती हुईके भक्त प्रत्याख्यानमे होता है ॥ ८० ॥

टी०—स्त्रियोके आगममे जो लिग कहा है तपस्विनी स्त्रियोके औत्सर्गिक और श्राविकाओ के आपवादि । वही लिग उनके भक्त प्रत्याख्यानमे भी होता है । अर्थात् तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक लिग होता है और शेषके पुरुषोकी तरह जानना । अर्थात् यदि स्त्री किसी ऐश्वर्यशाली परिवारसे सम्बद्ध है या लज्जाशील है अथवा उसके परिवार वाले विधर्मों हैं तो उसे एकान्त स्थानमे सकल परिग्रहके त्यागरूप उत्सर्ग लिग दिया जा सकता है । प्रश्न होता है कि स्त्रियोके उत्सर्ग लिग कैसे सम्भव है ? तो उसका उत्तर यह है कि परिग्रह अल्प कर देनेसे स्त्रीके उत्सर्ग लिग होता है ॥ ८० ॥

विशेषार्थ—तपस्विनी स्त्रियाँ एक साडी मात्र परिग्रह रखती हैं किन्तु उसमे भी ममत्व त्यागनेसे उपचारसे निग्रन्थताका व्यवहार होता है । किन्तु श्राविकाओके उस प्रकारके ममत्वका त्याग न होनेसे उपचार से भी निग्रन्थताका व्यवहार नहीं होता । भक्त प्रत्याख्यानमे तपस्विनियोके अयोग्य स्थानमें तो पूर्व लिग ही होता है । शेषके पुरुषोकी तरह जानना । साराश यह है कि तपस्विनी स्त्री मृत्युके समय वस्त्र मात्रको भी छोड़ देती है । अन्य स्त्री यदि योग्य स्थान होता है तो वस्त्र त्याग करती है । यदि वह धन सम्पन्न, या लज्जाशील या मिथ्यादृष्टि परिवारसे सम्बद्ध

अ  
५  
हो

नन्वर्हस्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मूर्तिरूपयुज्यते किमुमुना किंगविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

**जप्तासाधणचिह्नकरणं खु जगपचचयादठिठिकरणं ॥**

**गिहभावविवेगो वि य लिंगग्रहणे गुणा ह्येति ॥ ८१ ॥**

‘जप्तासाधणचिह्नकरणं’ यात्रा शरीरस्थितिहेतुभूता भुजिक्रिया । तस्या माघन यन्किंगरात चिन्ह-  
जात तस्य करण । न हि गृहस्थबंधेण स्थितो गुणीति सर्वजनताधिगम्यो भवति । अज्ञातगणविशेषाच्च दान न  
प्रयच्छति । ततो न स्याच्छरीरस्थिति । अतस्या तस्या रत्नत्रयभावनाप्रकर्ष क्रमेणोपचीयमानो न स्यात् ।  
विना त न मुक्तिरित्यभिलषितकार्यसिद्धिरैव न स्यात् । गुणवत्ताया मूचन लिंग भवति । ततो दानादिपर-  
परया कार्यसिद्धिर्भवनीति भाव । अथवा यात्राशब्दो गतिवचन । यथा द्रवदत्तस्य यात्राशब्दोऽयम् । गति-  
सामान्यवचनादप्यय शिवगतावंब वतते, शारक पश्यसीति यथा । यात्राया शिदगते माघन रत्नत्रय तस्य  
चिह्नकरणं ध्वजकरण ।

‘जगपचचयादठिठिकरणं’ जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतनाचेतनद्रव्यमहतिवचनो ‘जगप्रैकावस्थ युगपदखिलानंत  
विषयम्’ इत्येवमादौ । इह प्राणिविशेषवृत्ति । यथा—‘अहंतस्त्रिजगद्धान्’ इति । प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थ ।  
नवचिह्नाने वतते यथा ‘घटस्य प्रत्ययो’ घटज्ञान इति यावत् । तथा कारणवचनोऽपि ‘मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनंत  
ससार’ इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते । तथा श्रद्धावचनोऽपि ‘अय अत्राम्य प्रत्यय’ धद्वेति गम्यते ।  
इहापि श्रद्धावृत्तिः । जगत अद्वेति । ननु श्रद्धा प्राणिधर्म अचेलादिक शरीरधर्मो लिंगम् । तत्किमुच्यते ‘लिंगं

हे तो पुरुषोकी तरह वस्त्र त्याग नहीं करतो ॥८०॥

जो योग्य होता है उसके रत्नत्रयकी भावनाका प्रकर्ष होने पर मरण हो जाना है तब लिंग  
का कथन करनेकी क्या आवश्यकता है । इसका उत्तर दंते है—

गा०—यात्राके साधन चिह्नका करना, जगतकी श्रद्धा, अपनेको स्थिर करना और गृह-  
स्थतासे भिन्नता, ये चार लिंग ग्रहण करनेमे गुण होते है ॥ ८१ ॥

टी०—यात्राका अर्थ है शरीरकी स्थितिमे कारण भोजन करना । उसका साधन जो लिंग  
है उसका करना लिंग धारण करनेका पहला गुण है, क्योंकि जो ग्रहस्थके वेपम रहता है उसे सारी  
जनता गुणी नहीं मानती और उसके बिना भोजन नहीं मिलता । और ऐसी स्थितिमे इच्छित  
कार्यकी सिद्धि नहीं होती । अतः लिंग गुणवत्ताका सूचक होता है । और उससे दान आदिकी  
परम्परासे कार्यकी सिद्धि होती है । अथवा यात्रा शब्द गतिवाचक है । जैसे देवदत्तका यह यात्रा-  
काल है । इस गति सामान्यका वाचक होनेपर भी यहाँ यात्रा शब्द मोक्ष गतिमे ही लिया गया  
है । अतः यात्रा अर्थात् मुक्ति गतिका साधन जो रत्नत्रय है उसका चिह्नकरण अर्थात् ध्वजा फह-  
राने रूप लिंग होता है । अन्यत्र जगत शब्द चेतन और अचेतन द्रव्योंके समुदायका वाचक है ।  
जैसे ‘एक साथ अनन्त विषयोको लिये हुए जगत एक अवस्था वाला नहीं है’ इत्यादि वाक्यमे  
जगतका उक्त अर्थ लिया गया है । किन्तु यहाँ जगतका अर्थ प्राणि विशेष है । जैसे ‘तीनों जगतके  
द्वारा बन्दनीय अर्हन्त’ इस वाक्यमे जगतका अर्थ प्राणि विशेष है । प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं ।  
कहीं ज्ञानके अर्थमे है जैसे घटका प्रत्यय अर्थात् घटका ज्ञान । तथा प्रत्यय शब्द कारण वाचक भी  
है । जैसे अनन्त ससारका प्रत्यय मिथ्यात्व है’ ऐसा कहने पर मिथ्यात्व हेतुक अनन्त ससार है  
ऐसा ज्ञान होता है । तथा प्रत्यय शब्द श्रद्धावाचक भी है । जैसे ‘इसका इसमे प्रत्यय है’, यहाँ

जगत्प्रत्यय' इति । मकलसगपरिहारागे मार्गो मुक्ते इत्यत्र भव्याना श्रद्धा जनयति । लगमिति जगत्प्रत्यय इत्य-  
भिहित । न चेत्सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिलग किमिति नियोगतोऽनुष्ठीयते इति ।

'आदिठिकरण' आत्मन स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादन । क्व ? मुक्तिवर्त्मनि व्रजने । किं मम  
परित्यक्तवसन य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया, लोभेन वा । असनाश्रमेरा सर्वा लोकेऽलक्रिया तच्च  
निरस्त । को मम रागस्वात्मर इति । तथा परिग्रहो निबन्धन कोपरयः । तथा हि—पिता मुनो युष्मते धना-  
दितया ममेः भवति तवेदमिति । अतिक्रमेन स्वजनवैरिणा रिकथेन, 'लोभ, माया सपाय, दुर्गति च वदंयता  
इति सकल परित्यक्तो वसनपुर सर परिग्रहो रोषविजितये । ह्यति च मा परे साधवो रोपमुपयात । ववेय-  
मवसनता मुमुक्षां क्वायमस्य कोपहुताशन ज्ञानजलमेकपरिवृद्धतपोवनविनाशनबद्धविभ्रम इति । तथा च माया  
धनार्थिभि प्रयुज्यते मा च नियम्यति प्रापयतीति भीत्या मायोन्मूलनार्यवेदमनुष्ठीयते । 'गिहिभावविबेगोवि' य  
गृहिवात्पुधग्भावां दशितो भवति ॥८१॥

गंधच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च ।

संसज्जणपरिहारा परिकम्मविज्जणा चेव ॥८२॥

'गंधच्चाओ' परिग्रहत्याग । 'लाघव' हृदयसमागोपितशूल इव भवति परिग्रहवान् । कवामिदमन्ये  
भ्यश्चोर्गदिभ्य पालयामि इति दुर्धरचित्तखेदविगमाल्लघुता भवति ।

प्रत्ययसे श्रद्धाका बोध होता है । यहाँ भी प्रत्ययका अर्थ श्रद्धा है । जगतकी श्रद्धा ।

शब्दा—श्रद्धा प्राणिका धर्म है । और अचेल्ता आदि लिंग शरीरका धर्म है । तब आप  
कैसे कहते हैं—लिंग जगत प्रत्यय है ?

समाधान—'समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है' इसमें लिंग भव्यजीवोकी श्रद्धा  
उत्पन्न करता है इसलिये लिंगको जगत प्रत्यय कहा है । यदि सकल परिग्रहका त्याग मुक्तिका  
लिंग न हो तो क्यों उसे नियमपूर्वक किया जायगा । 'आदिठिकरण' का अर्थ है अपनी अस्थिर  
आत्माको स्थिर करना । किसमें ? मुक्तिके मार्गमें चलनेमें । जब मैंने वस्त्र ही त्याग दिया तो मुझे  
राग, रोष, मान, माया, लोभमें क्या प्रयोजन / लोकमें सब अलकरण वस्त्रमूलक होते हैं । वह  
मैंने त्याग दिया तो मुझे रागसे क्या प्रयोजन । तथा परिग्रह क्रोधका कारण है । देखो, धनकी  
अभिलाषासे पुत्र पितासे लडता है यह मेरा है यह तेरा है । तब अपने परिवारके वेरी इस धनसे  
क्या ? यह लोभ और मायाको उत्पन्न करके दुर्गतिको बढ़ाता है । इमीमें रोषको जीतनेके लिये  
मैंने वस्त्रपूर्वक सब परिग्रहका त्याग कर दिया । जब मुझे रोष होता है तो दूसरे साधु मुझपर  
हँसते हैं । कहाँ मुमुक्षुको यह नरनता और कहाँ क्रोधरूपी अग्नि । यह तो ज्ञानरूपी जलके सिचन-  
से फले-फूले तपोवनको नष्ट करने वाला है । तथा धनके इच्छुक मायाचार करते हैं । वह तिर्यञ्च  
गतिमें ले जाता है इस भयसे मायाका उन्मूलन करनेके लिये ही मैंने यह लिंग धारण किया है ।  
तथा लिंग ग्रहण करनेसे गृहस्थपनेसे भिन्नता दीखती है ॥ ८१ ॥

गा०—परिग्रहत्याग लाघव अप्रतिलेखन और भय रहितपना, सम्मूर्च्छन जीवोका बचाव  
और परिकर्मका त्याग ये गुण लिंगमें होते हैं ॥८२॥

'अप्यद्विलहर्ष' वसनसहितलिगधारिणो हि वस्त्रखडाविक शोधनीय महत् । इतरस्य पिच्छादिमात्र ।

'परिकम्भविबञ्जना चैव' याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापार स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलस्य तन्न तथेति परिकर्मविजर्न ।

'वद्वभयस' भयरहितता । भयव्याकुलितचित्तस्य न हि रत्नत्रयघटनायामुद्योगो भवति । सबसनी यतिवस्त्रेषु युकालिक्षादिसम्मूर्च्छनजोवपरिहार न विधातु अर्ह ।' अचेलस्तु त परिहरतीत्यह— 'ससञ्जण परिहारो' इति ।

'परिसहअधिवासणा चैव' । शीतोष्णदशमशर्कादिपरीषहज्यो युज्यते नग्नस्य । वसनाच्छादनवतो न शीतादिबाधा येन तत्सहनपरीषहजय स्यात् । पूर्वोपासकर्मनिर्जराथ परिषोढव्या परीषहा इति वचनाभिर्जरा- विभिः परिषोढव्या परीषहा ॥८२॥

विस्वासकरं रूपं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु ।

सन्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवामणा चैव ॥८३॥

'विस्वासकरं रूपं' विश्वासकारि जनाना रूप अचेलतात्मक । एव अमगा न्तेज्यद्गुह्णन्ति नापि परोपघातकारि शस्त्रग्रहण प्रच्छन्नमात्र सभाव्यते । विरूपेषु वामापु नास्मदीया त्रित्रयो रागमनुबघ्नतीति विश्वास ॥

टी०—लिग ग्रहणका एक गुण परिग्रहका त्याग है । दूसरा गुण लाघव है बयोकि परिग्रह- वान ऐसा होता है मानो छाती पर पहाड रखा है । कैसे अन्य चौर आदिसे डम परिग्रहकी रक्षा करूँ इस प्रकार चित्तसे बडे भारी खेदके चले जानेसे लाघव होता है । जो वस्त्र सहित मुनि लिग धारण करते है उन्हे वस्त्रो आदिका शोधन करना पडना है किन्तु वस्त्र रहित साधुको तो केवल पीछी आदिका ही शोधन करना होता है अत अप्रतिलेखना भी एक गुण है । वस्त्रधारीको मागना, सोना, धोना, सुखाना आदि अनेक काम करना होते हैं जिनसे स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न होता है । किन्तु वस्त्र रहित साधुके ये सब नही होता अत परिकर्मका न होना भी एक गुण है । जिसका चित्त भयसे व्याकुल रहता है वह रत्नत्रयके साधनमें उद्योग नही करता । अत परिग्रहके त्यागसे भय नही रहता । तथा वस्त्र सहित साधु वस्त्रोंमे जूँ लीख आदि सम्मूर्छन जोवोका बचाव नही कर सकता । किन्तु वस्त्र रहित साधु इनसे बचा रहता है अत मसञ्जण परिहार भी एक गुण है । तथा नग्न मुनि शीत, उष्ण, डसमच्छर आदि की परीषहको जोतता है । जो वस्त्र ओढे हैं उसे शीतादिकी बाधा नही होती । तब उसको सहना रूप परीषहजय कैसे सभव है ? तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है कि पूर्वग्रहीत कर्मोंकी निर्जराके लिये परीषहको सहना चाहिये ॥८२॥

गा०—वस्त्र रहित रूप जनतामे विश्वास पैदा करने वाला होता है विषयसे होने वाले शारीरिक सुखमें अनादर भाव होता है । सर्वत्र स्वाधीनता रहती है और परीषहको सहना होता है ॥८३॥

‘अनादरो विसयवेदसुखसेषु’ विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम वामलोचनाविलोकितेन, तासा कलगीनश्रवणेन, तामिर्जुगुप्सनीयशरीरस्य का वा रतिक्रीडेति भावना चैवानादर । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः । विषयसुखव्यतिरेकेण न शरीरसुख, नाम किञ्चिदिति चेद्—शारीरदुःखाभावः शरीर-सुख, इन्द्रियविषयसन्निधानजनिता प्रीतिविषयसुखमिति महाननयोर्भेदः ।

‘सञ्चत्व’ सर्वस्मिन्देशे । ‘अप्यवसवा’ आत्मवशता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति; शोते वा । इहासनादि-करणे इदं मम विनश्यति वस्त्विति तदनुरोधकृता परतत्रता नास्ति सयतस्य । परिग्रहविनाशभीकरात्मनोऽ-योग्येऽपि स्थाने उद्गमादिदोषोपहृते प्राणिसंयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिक सपादयति । त्रस-स्वावरवाधाभावहृता वत्मना वा व्रजति । एतद्विषपरिहारोऽमगस्य भवति ॥

‘परिसह अधियासना चैव’ पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरायिना यतिना मोक्षण्या परीषहा नियोगेन क्षुषादयो बाधाविशेषा द्वाविंशतिप्रकाराः । तत्राय मामान्यवचनोऽपि परीषहशब्द प्रकरणादचलाख्यात्तदनुसूतपरिषह-वृत्तिर्ग्राह्य । तेन नान्यशीतोष्णदशमशकपरीषहसहनमिह कथितं भवति । सञ्चेलस्य हि संप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते ॥८३॥

अचेलताया गुणान्तरसूचनाय गाथा—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं ।

इञ्चेवमादिवहुगा अञ्चेलक्के गुणा होंति ॥८३॥

टी०—नन्य मुनिको देखकर लोग सोचते हैं—ये तो परिग्रह रहित है, ये कुछ ग्रहण नहीं करते । ये परका धान करने वाले शास्त्र आदि भी छिपाकर नहीं रख सकते । ये तो विरूप है इनमें हमारी स्त्रियाँ भी राग नहीं कर सकती । इस प्रकारका विश्वास पैदा होता है । मेरा रूप तो प्रेतके समान है मुझे स्त्रियोंको ताकने, और उनके मनोहर गीतोंको सुननेसे क्या प्रयोजन ? अथवा इस ग्लानिभरे शरीरका उनके माथ कैसी रति क्रीडा । इस प्रकारकी भावना शारीरिक सुखमे अनादर है । अथवा शरीर सुख और विषय सुखमे अनादर ऐसा अर्थ भी होता है ।

शङ्का—विषयसुखसे भिन्न शारीरिक सुख नहीं है ?

समाधान—शारीरिक दुःखके अभावको शरीर सुख कहते हैं और इन्द्रियोके विषयोके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई प्रीति विषय सुख है । इन दोनोंमे महान् अन्तर है ।

सब देशमे आत्माधीनता रहती है । अपनी इच्छानुसार बैठता है, जाता है, सोता है । यहाँ आसन आदि करनेपर मेरा यह नुकसान होगा, इस प्रकार की परतत्रता साधुके नहीं होती । परिग्रहके नाशके भयसे परिग्रही साधु उद्गम आदि दोषोंसे युक्त और प्राणिसंयमका विनाश करने वाले अयोग्य स्थानमे भी आसन, स्थान शयन आदि करता है । अथवा त्रस और स्थावर जीवो-को बाधा पहुँचाने वाले मार्गसे गमन करता है । किन्तु परिग्रह रहित साधु इन दोषोंसे बचा रहता है । साधुको पूर्व सचित कर्मोंके निर्जराके लिये नियमसे भूख प्यासकी बाधा आदि रूप बाईस परीषहोंको सहना चाहिये । यहाँ यह परीषह शब्द यद्यपि सामान्यवाची है फिर भी प्रकरणवशा अचेलताका प्रकरण होनेसे उसके अनुरूप परीषह ग्रहण करना चाहिये । अतः यहाँ नाग्न्य, शीत, उष्ण, और दशमशक परीषहोंका सहन कहा है । जो साधु सबत्र है कपडा ओढे हुए हैं—उन्हे शीत उष्ण और डसमच्छरसे होने वाली वैसी पीडा नहीं होती जैसी वस्त्र रहितको होती है ॥८३॥

'जिणपडिक्ख' जिनाना प्रतिबिम्बं चेद अचेललिंग । ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यदगृहीतवन्तो लिङ्गं तदेव तदर्थिना योग्यमित्यभिप्रायः । यो हि यदर्थां विवेकवान् नासौ तदनुपायमादत्ते यथा घटार्थां 'तुरिवेभादी-  
न्मुक्त्यर्थी च यस्मिन् चेल गृह्णाति मुक्तेर्गुणायन्वात् । यच्चात्मनोऽभिप्रेतभोपायस्तत्रियोगत उपादत्तं यथा चक्रादिकं तथा यतिरपि अचेलता । तदुपायता च अचेलताया जिनान्तरणादेव ज्ञानदर्शनयोस्त्रिव ।

'विरियायारो' वीर्यान्तरणस्योपशमजनितनापार्थ्यपरिणामो वीर्यं, तत्रविग्रहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचारः । स च पञ्चविधेष्वन्तरणैकः स च प्रवर्तिनां भवति । अचेलतामद्ग्रहताऽशक्यचेलपरित्यागस्य कृतत्वात् । परिग्रहत्यागो हि पञ्चम इव तत्राचरित भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत् ।

'रागादिदोसपरिहरणं' । लाभे रागोऽलाभे कोपः । लब्धे मनेदभावलक्षणो मोहः । अथवा मूढत्वं दार्ढ्यमित्येवमादिषु वगनाच्छादनगुणेषु रागोऽमृदुस्पर्शनादिषु द्वेष इत्येषा परिहारः । 'इच्छेवमादि' इत्येव-  
मादय 'बहुगा' महान् महाफलतया अचेलसके अचेलताया सत्या 'गुणा होति' गुणा भवन्ति । याचादीनता रक्षा सकलेशादिपरिहारा आदिशब्देन गृहीता ॥८४॥

अचेलताके अन्य गुणोका सूचन करते है—

गा०—यद्ग्रह अचेलता जिन भगवानका प्रतिरूप है । वीर्याचारका प्रवर्तक है । रागादि दोषोको दूर करती है । इत्यादि बहुतमं गुण अचेलतामें होने है ॥८५॥

टी०—जिण पडिक्ख—यह अचेललिंग जिन देवोका प्रतिबिम्ब है अर्थात् जिन देवोने जो लिंग ग्रहण किया था मुक्तिके लिये वही लिंग मुनिके अभिलाषियोंके योग्य है । क्योंकि जिनदेव मुमुक्षु थे मुक्तिका उपाय जानते थे । जो जिस वस्तुका प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है वह उस वस्तुके जो उपाय नहीं है उन्हे ग्रहण नहीं करता । जैसे घट बनानेका इच्छुक कपडा बुननेके माधन तुरि आदिको ग्रहण नहीं करता । इसी तरह मुक्तिका इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नहीं करता क्योंकि । वस्त्र मुक्तिका उपाय नहीं है । और जो अपनेको इष्ट वस्तुका उपाय होता है उसे नियममें ग्रहण करता है । जैसे घटका अर्थां चाक आदिको अवश्य ग्रहण करता है । उसी तरह साधु भी अचेलताको ग्रहण करता है और अचेलता ज्ञान और दर्शनकी तरह मुक्तिका उपाय है यह जिन भगवानके आचरणमें मिद्ध है ! वीर्यायागो—वीर्यान्तरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए सामर्थ्यरूप परिणामको वीर्य कहते है । उसको न छिगाते हुए रत्नत्रयके पालन करनेको वीर्याचार कहते है । पांच प्रकारके आचारोंमेंसे एक वीर्याचार है उसका पालन होना है क्योंकि अचेलताके धारणमें जो वस्त्रत्याग अशक्य है वह हो जाना है । परिग्रहका त्याग पांचवा व्रत है । शक्ति होत हुए भी यदि परिग्रहका त्याग न करे तो वह पांचवां व्रत नहीं रहता ।

रागादिदोस परिहरण—लाभमें राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है । जो प्राप्त होता है उसमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका मोह होता है । अथवा ओदने परिग्रहके वस्त्रोके कोमलता मजबूती आदि गुणोंमें राग होता है और कठोर स्पर्शन आदिमें द्वेष होता है । वस्त्र त्याग देनेपर ये रागादि दोष नहीं होने । इस प्रकार अचेलतामें महाफलदायक महान गुण होते है । आदि शब्दसे मागना, दीनता, आदिसे रक्षा होती है और संकल्प आदि नहीं होते ॥८४॥



पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

**इयं सव्वसमिदकरणो ढाणासणसयणगमणकिरियासु ।**

**णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ८५ ॥**

'इयं' एक अवसनतया । 'सव्वसमिदकरणो' सम्यगितानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इन्द्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्वसामतकरणानि, सर्वसमितकरणाम्यस्येति सर्वसमितकरण । रागद्वेषरहिता भावेन्द्रियाणा प्रवृत्ति समीचीना तस्याश्च अचेलता निवधन । रागादिबिजयाय गृहितासगत्वात्कथमिव रागादौ प्रेक्षावाच्यते ॥८५॥

'ढाणासणसयणगमणकिरियासु' एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दडायतशयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया । एतासु । 'पग्गहिददरं' प्रगृहीततर । 'परक्कमदि' चेष्टते । क ? निगिण नमन्ता । 'गुत्ति' गुप्ति । 'उवगदो' उपगत प्रतिपन्न । कृतवसनत्यागस्य शरीरे नि स्पृहस्य मम किं शरीरतर्पणं तपसा निर्जरामेव कर्तुं मुत्सहते इति तपसि यतते इति भाव ॥८५॥

अपवादालिगमुपगत किमु न शुद्धघत्येवेत्याशकाया तस्यापि श्चिद्विनेन क्रमेण भवतीत्याचष्टे—

**अववादियलिगकदो विसयासत्ति अगूहमाणो य ।**

**णिदणगरहणजुचो सुज्झदि उवधिं परिहरंते ॥ ८६ ॥**

आगेकी गाथासे फिर भी अचेलताका माहात्म्य सूचित करते हैं—

गा०—इस प्रकार, नग्नता और गुप्तिको धारण करनेवाला सब इष्ट अनिष्ट विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंको रागद्वेषसे रहित करता है । और स्थान, आसन, शयन, गमन आदि क्रियाओंसे प्रग्रहीततर अर्थात् सुदृढरूपसे चेष्टा करता है ॥८५॥

ढा०—सव्वसमिदकरणानि—सम्यक् रूपसे 'इत' अर्थात् प्रवृत्तको समित कहते हैं । और जिनसे रूपादिका जानना देखना किया जाये उसे करण कहते हैं । करणका अर्थ इन्द्रिय है । जिसकी सब इन्द्रिया समित हैं वह सर्वसमितकरण है । भावेन्द्रियोंकी रागद्वेषसे रहित समीचीन प्रवृत्तिमें कारण अचेलता है । जिस विचारशील बुद्धिमान व्यक्तिने रागादिको जीतनेके लिए असगताको स्वीकार किया है वह रागादिमें कैसे यत्नशील हो सकता है ।

एक पैरसे या दोनों पैरोंको सम करके खड़े होना स्थान क्रिया है उत्कटासन आदि आसन क्रिया है । दण्डके समान एकदम सीधा सोना आदि शयन क्रिया है । सूर्यकी ओर अभिमुख होकर चलना गमन क्रिया है । जिमने वस्त्र त्याग दिया है और शरीरसे निस्पृह है वह 'मुझे शरीरके पोषणमें क्या' ऐसा विचारकर तपके द्वारा निर्जरा करनेमें ही उत्साहित होता है । यह उक्त कथनका भाव है ॥८५॥

अचेल समाप्त हुआ ।

क्या अपवादालिगका धारी शुद्ध नहीं ही होता ? इस शकाके उत्तरमें कहते हैं कि उसकी शुद्धि भी इस क्रमसे होती है—

गा०—अपवादालिगमें स्थित होते हुए भी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए और निन्दा नहीं करते हुए परिग्रहका त्याग करनेपर शुद्ध होता है ॥८६॥

अववावियल्लिगकवो वि' अपवादल्लिगस्योऽपि । करोति स्थानार्थवृत्तिरहं परिगृहीतः । तथा च प्रयोग' एवं च कृत्वा एवं च स्थित्वेत्यर्थः । 'सुष्कवि' शुष्यति च । कर्ममलापायेन शुद्धपति । कीदृक् सन् यः स्वां 'सति' शक्तिः । 'अगृहमाणो' अगृहमान सन् । 'उर्ववि' परिग्रहः । 'परिहरंते' परित्यजन् योग-त्रयेण । 'चिबन्नगरहणजुसो' सकलपरिग्रहत्यागो मुक्षतेर्मागो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिकः परिग्रहः परीषह-भीरुणा गृहीत इत्यतः सतापो निदा । गृही परेषा एव कथनं । ताम्या युक्त निदागृहीक्रियापरिणतः इति यावत् । एवमचेलता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥८६॥

केशलोचकारणे के दोषा यान्परिहत्तु' लोचोऽनुष्ठीयते इत्यारेकाया दोषप्रतिपादनायोत्तर गाथाद्वयम्-

केसा संसज्जति हु गिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य ।

सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तथा ॥ ८७ ॥

'केसा' केशा । 'संसज्जति खु' खुशब्द एवकारार्थः । यूकालिक्षीत्पत्तेराधारभावमुपब्रजन्त्येव कस्य केशाः ? 'गिप्पडियारस्स' निष्कान्त प्रतीकारात् निष्प्रतीकार । प्रतीकारशब्द सामान्यवचनोऽपि ससजनस्य प्रकृतत्वात् संसजनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाम्यगगधादिप्रक्षेपजलप्रक्षालनादिक्रियामकुर्वत इत्यर्थः । ते च सम्भूच-ईनासुपगतजीवा यूकादयः । 'दुःपरिहारा य' दुःखेन परिह्रियन्ते । क्व ? 'सयणादिसु' शयन-आतप-गमन, शिरसा कस्यचिदवष्टभन । निद्रामुद्रितलोचनस्य पतनः परवशस्य सत आदिशब्देन गृह्यते । बाधा

टी०—'अववावियल्लिगकदो' मे 'कद' जिस 'करोति' धातुसं दना है उमका अर्थ यहाँ स्थान लिया है । जैसे 'ऐसा करके' का अर्थ इस प्रकार स्थिर करके होता है । अतः अपवादल्लिगमे स्थित भी कर्ममलको दूर करके शुद्ध होता है । किस प्रकार होता है ? अपनी शक्तिको न छिपाकर मन-वचनकायसे परिग्रहका त्याग करनेपर होता है । तथा, समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है, मुझ पापीने परीषहसे डरकर वस्त्र पात्र आदि परिग्रह स्वीकार किया । इस प्रकारके अन्तःसन्तापको निन्दा कहते हैं । दूसरोसे ऐसा कहना गृही है । उनसे युक्त होनेपर अर्थात् अपनी निन्दा गृही करनेपर शुद्ध होता है । इस प्रकार जिस अचेलताके गुणोका वर्णन ऊपर किया गया है उसे मूलरूपमे स्वीकार किया है ॥८६॥

केशलोच न करनेमे क्या दोष है जिन्हे दूर करनेके लिए लोच किया जाता है ? इस शङ्काके उत्तरमे दो गाथाओंसे दोषोको कहते हैं—

गा०—प्रतीकार न करनेवालेके केश जू आदि सम्मूर्छन जीवोके आधार होते हैं । और वे सम्मूर्छन जीव शयन आदिमे दुष्परिग्रह होते हैं । तथा अन्यत्रसे आते हुए भी कीट आदि देखे गये हैं ॥८७॥

टी०—'संसज्जति खु' मे खु शब्दका अर्थ एवकार है । अतः निष्प्रतीकारके केश जू लोख आविकी उत्पत्तिके आधार होते ही हैं । जो प्रतीकारसे रहित है वह निष्प्रतीकार है । यद्यपि प्रतीकार शब्द सामान्य प्रतीकारका वाचक है । फिर भी ससजनका प्रकरण होनेसे ससजन सम्बन्धी प्रतिकार लिया जाता है । उसका अर्थ होता है कि जो बालोमे तेल मर्दन नही करता, सुगन्धित वस्तु नही लगाता, उन्हे पानीसे नही धोता उसके केशोंमे सम्मूर्छन जू आदि उत्पन्न हो जाते हैं और साधुके सोनेपर, धूपमे जानेपर, सिंगे किसीके टकरानेपर उन जीवोको बाधा

जीवैभ्य कथंचिदन्यदेशकालस्वभावभेदान् । तत' बाधाया दुष्परिहारया जीवा एव दुष्परिहारा एव भवतीति मन्यते । अन्यथा ह्रस्तेनापनेतु शक्या कथं दुष्परिहारा स्यु । न केवल तत्रोत्पन्ना एव दुष्परिहारास्तथा तेनैव प्रकारेण जीवा 'आगंतुका य' अन्यत आगताश्च कीटादयश्च । एतेन हिसादोष अख्यात ॥८७॥

**जूगाहि य लिक्खाहि य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य ।**

**संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८८ ॥**

जूगाहि य यूकाभिश्च । लिक्खाहि य लिखाभिश्च । 'बाधिज्जंतस्स' बाध्यमानस्य यते संकिलेसो य संकलेशश्च जायते इति शेष । स च क्लेशोऽनुभपरिणाम पापास्त्रव पूर्वोपात्तकर्मपुद्गलरसाभिवर्द्धननिपुण । अथवा बाधिज्जंतस्स भक्ष्यमाणस्य संकिलेसो य दुःख वा । तथा चोक्त—क्लिशु विबाधने इति । एतेनात्मविराधनादोष सूचित । अथ तद्द्रव्येण अमहमान कडुयति तत्र दोषमाह—'संघट्टिज्जंति य' संघट्टयते ते यूकादय । आगंतुकाश्च 'कंडूयणे' कडूकरणे । 'तेण' तेन दोषेण हेतुनामो आगमदृष्ट 'लोचो' लोच क्रियते इति शेष । प्रदक्षिणावर्तं केशशमश्रुविषय हस्तागुलीभिरेव सपाद्य द्वित्रिचतुर्मासिगोचर ॥८८॥

एव लोचकरणे दोषानुद्भाव्य लोचं गुणस्यापनाय गाथात्रयमुत्तरम्—

**लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्ते हाइ णिव्वियारत्तं ।**

**तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८९॥**

पहुँचती है । बाधाका मतलब है कि भिन्न देश, भिन्नकाल और भिन्न स्वभाव होनेसे जीवोसे जीवोको बाधा पहुँचती है । उस बाधाको दूर करना अशक्य जंसा है । जब बाधा ही दुष्परिहार है तो उन जीवोको दूर करना भी दुष्परिहार है, क्योंकि यदि बाधा पहुँचनेकी बात न होती तो उन्हें हाथसे निकाला जा सकता था । तथा जो जीव केशोमे उत्पन्न होते हैं वे ही दुष्परिहार नहीं हैं, अन्यत्रसे आकर भी कीटादि बालोमे घुस जाते हैं उन्हें भी दूर करना कठिन होता है । इस तरहसे केशलोच न करनेमे हिसादि दोष कहे हैं ॥८७॥

गा०—जु से और लीखोसे पीडित साधुके सकलेश उत्पन्न होता है । खुजाने पर वे जू आदि पीडित होते हैं इस कारणसे वह केशलोच किया जाता है ॥ ८८ ॥

टी०—जू और लीख जब साधुको बाधा पहुँचाती है तो साधुको सकलेश होता है । वह सकलेश अशुभ परिणाम रूप होनेसे पापास्त्रवका कारण है । उससे पूर्ववद्ध कर्म पुद्गलोके अनुभाग रसमे वृद्धि होती है । अथवा 'बाधिज्जंत'का अर्थ खाना या काटना है' उनके काटने पर यदि साधु खुजाता है तो वे जू आदि पीडित होते हैं इस दोषके कारण आगममे कहा लोच करते हैं । यह लोच सिर और दाढीके बालोका हाथकी अँगुलियोंके द्वारा दो, तीन या चार मासमे प्रदक्षिणा के रूपमे अर्थात् दाहिनी ओरसे बायी ओर किया जाता है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार लोचके न करनेमे दोष बतलाकर लोचमे गुणोका कथन तीन गाथाओ द्वारा करते हैं—

गा०—लोच करने पर सिर मुण्डा हो जाता है । मुण्डताके होने पर निर्विकारता होती है । उससे विकार रहित क्रियाशील होनेसे प्रगृहीततर चेष्टा करता है ॥ ८९ ॥

'लोकचन्दो' लोचं कृत स्थित लोचकृत सप्तमीति योगविभागात्समाप्तम् । तस्मिन् लोचं कृते । लोच-स्थिते इति केचिन् । अन्ये तु वदन्ति लोकचन्दे इति पठत लोच गत प्राप्त लोचगत तस्मिन्नि । अथवा कृतशब्दो भावसाधन ततः सल्लक्षणा मन्मी लोच एव कृत तस्मिन् । लोचक्रियायां सत्या । 'मु'ङत्स' मुङ-शिरस्कृता नाम भवति । न मुङ्गशिरस्कृता मुक्क्युपायो गुणोऽरत्नत्रयत्वादसत्याभिधानवत् । तन्किमुक्तेनानेनानुपयोगिना गुणेनेत्याशकाया आह—'मु'ङत्से होबि णिविवारत्स' इति । 'मु'ङत्से' मूडनाया सत्त्वा । 'होबि' भवति । 'णिविवारत्स' निविकारता । विकारो विक्रिया सलीलगमनश्रु गारकयाकटाक्षक्षणादिक । तस्मान्निष्क्रान्त तत्राप्रवृत्त निविकार तस्य भाव निविकारता । निविकारो भवति इति यावत् । 'तो' तत 'णिविवारत्स' विकाररहितक्रिया । 'पग्गहिबदर' प्रगृहीततर । 'परक्कमवि' चेष्टते करणत्रये इति शेष । रत्नत्रयोद्योगे परपरया लोचस्योपयोगं समाख्यातोऽनया गाथया । नग्नस्य मुङ्गस्य मम मविभ्रम गमनादिक जनो दृष्ट्वा हसति, शोभते तरामियमस्य विलासिता षडकस्य वामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविकारो मुक्ते केवल घटते इत्यभिप्राय ॥८९॥

अप्या दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि ।

साधीनदा य णिदोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥९०॥

'अप्या' आत्मा । 'दमिदो होबि' वशीकृतो भवति । कस्य ? आत्मन एव । केन करणेन ? 'लोएण' केशोत्पादनेन । दुःखभावनाया निगृहीतदर्पं सर्व एव शातो भवति यथा धलीवदीविरिति मन्यते ।

टी०—लोचमे कृत अर्थात् स्थित लोचकृत है । दोनोका योगविभाग करके सप्तमी समासमे अर्थ होता है—लोच करने पर । कोई 'लोचमे स्थित होने पर' ऐसा अर्थ करते हैं । अन्य 'लोकचन्दे' ऐसा पाठ रखते हैं । वे अर्थ करते हैं लोचको प्राप्त होने पर । अथवा कृत शब्द भावसाधन है । तब सप्तमीका अर्थ सत् होता है अर्थात् लोच क्रिया होने पर । मुण्डित होता है—सिर मुड जाता है ।

शङ्का—सिर मुण्डन मुक्तिका उपाय नहीं है क्योंकि वह रत्नत्रय रूप नहीं है जैसे असरय बोलना । तब इस अनुपयोगी गुणके कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान—इसके उत्तरमे कहते हैं कि मुण्डन होने पर निविकारना होनी है । लीला सहित गमन, श्रु गार कथा, कटाक्ष द्वारा निरोक्षण ये सब विकार है जो ये सब नहीं करता वह निविकार होता है । और जिसकी चेष्टाएँ विकार रहित होती है वह रत्नत्रयमे उद्योग करता है ।

इस गाथासे परम्परासे लोचका उपयोग कहा है । मैं नग्न और मुण्डे सिर हूँ मेरा विलासपूर्ण गमन आदि देखकर लोग हँसते हैं कि नपुसकके स्त्री विलासकी तरह इसकी विलासिता कैसी शोभती है ? ऐसा मान, विकारको दूरकर वह केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है, यह इस गाथाका अभिप्राय है ॥ ८९ ॥

गा०—केशलोचसे आत्मा दमित होता है और सुखमे आसक नहीं होता है । और स्वाधीनता निर्दोषता और निर्ममत्व होता है ॥ ९० ॥

टी०—केश उपादनेसे आत्मा आत्माके वशमे होता है । जैसे बेल बगेरह दुःख देनेसे शान्त हो जाते हैं वैसे ही दुःख भावनासे मदका निग्रह होने पर सभी शान्त हो जाते हैं । सुखमें आसक

'सुखे य' सुखे च । 'संग' आसक्तता नोपयाति । सुखमेव सुखलपट करोति जन । दुःखेऽन्तर्भाव्य-  
माने सुखासक्तिर्हृत्यते' सुखोपयोगमूलात्तदभावात् । बीजाभावेऽकुर इव । इन्द्रियसुख वाऽत्र सुखशब्देनोच्यते  
तत्रासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते । तेन परिग्रहारभमूलात्सुखासगाद्वशाच्चित्ति मवर एवेति मुक्तेर्भवत्युपाय ।  
अभिनवास्वनिरोधमत्तरेण का नाम निर्जरा ? तस्या वाऽस्य का मुक्तिरिति भाव ।

'साधीनवा य' स्ववशता च । केशासक्तो हि जनोऽवश्य शिरोऽन्नक्षणं, सम्मर्दने, प्रशालने, तच्छोषणे च  
प्रयतते । स चाय व्यापारो विघ्नमावहति स्वाध्यायादे ।

'गिहोसवा य निर्दोषता च । या सदोषक्रिया सा न कार्या यथा स्तेयादिका । निर्दोषा त्वनुष्ठीयते  
यथानशनादिका । तथा चैयमदांषा लोचक्रिया ।

'चेहे य' देहे च । 'गिम्ममवा' ममेदबुद्धिरहितता । अनेन शौचाख्यो धर्मो भागवतां भवतोत्पुष्यत  
भवति । 'प्रकृष्टा लोभनिवृत्ति शौच शरीरलोभनिवृत्ति शौचं' । शरीरलोभनिवृत्ति सकललोभनिराक्रियया  
मूल । शरीरोपकृतये बन्धुधनादिष्वस्य लोभ । धर्मश्च सवरहेतु, गुप्तिसमितिधर्मानुपेक्षापरिषहव्यैरिति  
वचनात् ॥९०॥

आणखिखदा य लोच्रेण अप्पणो होदि सम्मसद्धा य ।

उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ ९१ ॥

'आणखिखदा य होवि' आदर्शिता भवति । 'लोच्रेण' लोचनेन । का ? 'धम्मसद्धा' धर्मे चारित्रे

नही होता । सुख ही मनुष्यको सुखलम्पट बनाता है । अन्तरगमे दुःखकी भावना भाने पर सुखकी  
आसक्ति कम होती है सुखकी आसक्तिका मूल है सुखका उभभाग । उसका अभाव होनेसे सुखकी  
आसक्ति नहीं होती । जैसे बीजके अभावमे अकुर उत्पन्न नहीं होता । अथवा यहाँ सुख शब्दसे  
इन्द्रिय सुख लिया है । जो इन्द्रिय सुखमे आसक्त होता है वह हिंसा आदि करता है । अतः जो  
सुखासक्ति परिग्रह और आरम्भका मूल है उससे निवृत्त होना सवर ही है । अतः वह मुक्तिका उपाय  
है । नवीन कर्मोंका आना रुके बिना निर्जरा कैसी ? और उसके अभावमे मुक्ति कैसी ? यह अभि-  
प्राय है । तथा केशलोचसे स्वाधीनता आती है क्योंकि जो मनुष्य केशसे अनुराग रखता है वह  
अवश्य सिरको साफ करने, उसकी मालिश करने धोने तथा मुखानेमे लगा रहता है और ये सब  
काम स्वाध्याय आदिमे विघ्न डालते हैं । तथा निर्दोषता होती है । जो क्रिया सदोष है वह नहीं  
करना चाहिए जैसे चोरी आदि । किन्तु निर्दोष क्रिया की जाती है जैसे उपवास वगैरह । उसी  
तरह लोच क्रिया भी निर्दोष है । शरीरमे 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि नहीं होती । इससे शौच धर्म  
पलता है यह कहा है । लोभसे अत्यन्त निवृत्तिको शौच कहते हैं । शरीरमे लोभकी निवृत्ति भी  
शौच है । शरीरमे लोभकी निवृत्ति सब प्रकारके लोभोंको दूर करनेका मूल है । शरीरके उपकार-  
के लिए ही मनुष्य परिवार और धन आदिका लोभ करता है और शौच धर्म सवरका कारण है  
क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्रमे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुपेक्षा और परीषह जयसे सवर कहा है ॥९०॥

गा०—और केशलोच करनेसे आत्माकी धर्ममे श्रद्धा प्रदर्शित होती है । जसी प्रकार लोच  
उग्र तप है और दुःखका सहन है ॥ ९१ ॥

टी०—लोच करनेसे आत्माकी धर्म अर्थात् चारित्र्यमे श्रद्धा प्रदर्शित होती है । अर्थात्

१. तिर्हन्त्यते—आ० मू० ।

श्रद्धा । कस्य ? 'अपणो' आत्मन । महती धर्मस्य श्रद्धाऽप्यथा कथमिदं दुःसहं वरेशमारभते इति । आत्मनो धर्मश्रद्धाप्रकाशनेन परस्यापि धर्मश्रद्धाजननोपबृंहणं कृतं भवति । सोऽयमुपबृंहणार्थो गुणो भावितो भवति । 'उगो तवो य' उग्र च तप कायक्लेशाभ्यं दुःखान्तराणि च सहते ॥ 'लोचः तवैव' व्यावर्णितगुणवच्च । 'दुःखस्त' दुःखस्य 'सहनं च' सहनं च दुःखं भावयन् दुःखान्तराणि च सहते । दुःखमहानिर्जरा भवत्य-  
शुभकर्मणा ॥९१॥ लोचोक्तिं गद ॥

व्युत्सृष्टशरीरतामिधानायोत्तर प्रबंध —

सिंहहाणभंगुवट्टणाणि णहकेसमंसुसंठप्पं ।

दंतोट्टकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइसंठप्पं ॥ ९२ ॥

सिंहहाणभंगुवट्टणाणि वज्जेविति पदघटना स्नानाम्यजनोद्धर्तनानि ॥ णहकेसमंसुसंठप्पं नखकेशम-  
शुसंस्कारं च वज्जेविति । अन्तरेणापि चशब्दं समुच्चयायप्रतीति 'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो विगात्मा  
धमः इति इन्द्रायानि' इत्यत्र यथा ॥ दन्तोदकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइसंठप्पं वज्जेविति पदरचना ॥ दताना-  
मोष्ठयो , कर्णयोर्मुखस्य, नासिकाया, अक्षगोश्रुवोरादिग्रहणात्पाणिपादादीनां च संस्कृतिं परिहरति ॥

स्नानमनेकप्रकारं शिरोमात्रप्रक्षालनं, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गात्रस्य, समस्तस्य वा । तन्न शीतोद-  
केन क्रियते स्थावराणां त्रसानां च वाधा सामूदिति । कर्दमवालुकादिमर्दनाञ्जलशोभणात्सच्छरीराणां च वन-  
स्पतीनां पीडात मत्स्यदुर्गुं सूक्ष्मत्रसानां च स्नानं निवार्यते । उष्णोदकेन स्नात्त्विति चेन्न, तत्र त्रसथावर-

इसकी धर्मश्रद्धा महान है, यदि न होती तो इतना दुःसह कष्ट क्यों उठाता ? अपनी धर्मश्रद्धा प्रकाशित करनेसे दूसरेकी भी धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और उसमें वृद्धि होती है । इस तरह उपबृंहण नामक गुण भी भावित होता है । तथा लोचसे कायक्लेश नामक उग्र तप होता है । तथा दुःख सहन करनेसे, अन्य दुःखोको भी सहन करनेमें समर्थ होता है । दुःख सहन करनेसे अशुभ कर्मोकी निर्जरा होती है ॥ इस प्रकार लोचका कथन समाप्त हुआ ॥९१॥

व्युत्सृष्ट शरीरता अर्थात् शरीरसे ममत्वके त्यागका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा कहते हैं—

गा०—स्नान, तेलमर्दन, उबटन और नख, केश, दाढ़ी-मूँछोका संस्कार छोड़ देते हैं । दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौ आदिका संस्कार छोड़ देते हैं ॥९२॥

टी०—'छोडते हैं' यह पद लगा लेना चाहिए । 'च' शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है । जैसे पृथिवी जल तेज वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन ये द्रव्य हैं । यहाँ 'च' शब्द न होनेपर भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है । अतः स्नान, अभ्यजन, और उबटन नहीं लगाता है नख, केश, दाढ़ीका संस्कार और दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौ आदिके हाथ पैर आदिका संस्कार छोड़ देते हैं ।

स्नानके अनेक प्रकार हैं—सिरमात्र धोना, सिरको छोड़कर शेष शरीरको धोना अथवा समस्त शरीरको धोना । स्थावर और त्रसजीवोंको बाधा न हो, इसलिए स्नान ठण्डे जलसे नहीं करते । कीचड़ रेत आदिके मर्दानसे पानीमें क्षोभ पैदा होता है और जिसके होनेसे उनमें रहने-  
वाले वनस्पति कायिक जीवोको तथा मछली मेढक और सूक्ष्म त्रसजीवोको पीडा होती है । इस-

बाधा स्थितैव । भूमिदरीबिबरस्थितानां पिपीलिकादीना मृते, तरुणतृणपल्लवाना चोष्णाभूमिस्तप्ताना दु खा-  
सिका महती जायते, तथा क्षारतया धान्यरसादीना । न चास्ति प्रयोजन स्नानेन सप्तशातुमयस्य देहस्य न  
सुचिता शक्या क्तु । ततो न औन्नप्रयोजन । न रोगापहतये रोगपरीषहसहनाभावप्रमात्, न हि भूषायै  
विरामत्वात् ।

धृततैलादिभिर्म्यजनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण धृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादि-  
शरीरादि जंतवो बाध्यते । तत्राद्यत्र तत्रावलम्बना । उद्वर्तने इतस्तन पतना व्याधान । मूलत्वकफलपत्रादे  
पेषणे, दलने च महानसंयमः । निर्वर्तनविलेखनघर्षणरजनादिको नखसंस्कारः । केससंस्कारो हस्तघर्षणं  
मसृणतासंपादनं, तथा दमधूणामपि । दतमलापकर्षणं तद्वर्जनं वा दतसंस्कारः । ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरणं वा  
ओष्ठसंस्कारः । ऋस्वयोलंबतापादनं दीर्घयोर्वा ऋस्वकरणं तन्मलिनरासोऽलकाग्रहणं कर्णसंस्कारः । मुखस्य  
तेजःमपादनं लेपेन मत्रेण वा मुखसंस्कारः । अशो प्रक्षालनं अजनं अक्षिमंस्कारः । विकटोद्विगताना रोम्णा  
उत्पाटनं आनुलोम्यापादनं लंबयोल्लनीकरणं, म्भसंस्कारः । शोभायं हस्तपादादिप्रक्षालनं, औषधविलेपादिर्वि-  
संस्कार आदिशब्देन गृहीत ॥९२॥

वज्जेदि बंभचारी गंध मन्लं च ध्रुववासं वा ।

संवाहणपरिमह्णपिण्डणादीणि य विमुत्ती ॥ ९३ ॥

लिए शीतल जलसे स्नान नहीं करते ।

शंका—तब गर्म जलमे स्नान करना चाहिए ?

समाधान—उममे भी त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा रहती ही है । पृथिवी तथा पहाडके  
विलोमें रहनेवाली चीटी आदिके मग्नेसे और उष्णजलके तापसे कोमल तृण पत्ते आदिके  
अुलसनेसे बडा दु ख होता है । तथा जलके खारपनेसे धान्यके रसको भी हानि पहुँचती है । तथा  
स्नानकी कोई आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि सप्तसाधुओसे युक्त शरीरको पवित्र नहीं किया  
जा सकता । अत पवित्रताकी दृष्टिमे स्नानका कोई प्रयोजन नहीं है । रोगको दूर करनेके लिए  
भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि तब साधु रोगपरीषह महन नहीं कर सकेगे । और शरीरकी  
शोभाके लिए भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि साधु तो विरागी होते है ।

साधु प्रयोजन होनेसे घी तेल आदिसे शरीरका अभ्यजन भी नहीं करते । क्योंकि कहे हुए  
अनुसार घी आदिसे तथा क्षाग्मे भूमि आदि तथा शरीर आदिमे चिपटे जीवोंको बाधा पहुँचती  
है । उद्वर्तन अर्थात् उबटन लगानेसे शरीरसे चिपटे त्रसजीव यहाँ वहाँ गिरकर मर जाते है । तथा  
उबटन तैयार करनेके लिये बुधकी जड, छाल, फल पत्ते आदिको पीसने या दलनेमे महान असंयम  
होता है । काटना, छाटना, रगडना, रगना आदि नखका संस्कार है । हाथसे घर्षणके द्वारा  
चिकनापना लाना केश तथा दाढी मूछोंका संस्कार है । दाँतका मँल दूर करना अथवा दाँतोंको  
रगना दाँतका संस्कार है । ओठोंका मल दूर करना अथवा उनको रगना ओष्ठ संस्कार है । यदि  
छोटे हो तो बडा करना और बडे हो तो छोटा करना, मँल निकालना अथवा आभूषण धारण  
करना कानका संस्कार है । लेप या मत्र द्वाग मुखको तेजस्वी बनाना मुखका संस्कार है । आँखों-  
को धोना, अंजन लगाना आँखका संस्कार है । विकट रूपसे उठे हुए रोमोंको उखाडना और उन्हे  
व्यवस्थित करना तथा लटकती हुईको ऊँचा करना भीका संस्कार है । आदि शब्दसे शोभाके लिये  
हाथ पैर धोना, अथवा औषध आदिका लेप करना, ग्रहण किये गये है ॥ ९२ ॥

'गंधं' कस्तूरिकादिकं । 'मल्लं' माल्य चतुष्प्रकार । 'धूपवासं वा' धूप कालागुर्वादिक । वास मुखवास च जातिफलादिकं । जनेकसुरभिद्रव्यमिश्र वा । 'संवाहणं' हस्ताभ्या मलन । चरणामर्दनं परित 'परिमर्दनं' । अंसकुट्टनं उन्नति दाढ्यं च कर्तुं यत्स्निग्धमित्युच्यते । एतत्सर्वं वर्जयति प्रयोजनाभावाद्धिसाप्रवृत्तेष्व च ।  
क ? ब्रह्मचारी अब्रह्म निवृत्तिपरो यति ॥९३॥

किं ब्रह्मव्रतस्य कुर्वन्ति स्नानादिपरित्यागा येन तद्व्रताचरणप्रियस्तदनुष्ठाने यतते इत्यारकायामाह—

जल्लविलितो देहो लुक्खो लोचकदवियडवीभत्थो ।

जो रूढणक्खलोमो सा गुत्ती बंभचेरस्स ॥९४॥

'जल्लविलितो देह' इति । 'देहो गुत्ती बंभचेरस्स' इति पदघटना । 'देहः' शरीरं । 'गुत्ती' गुप्तिः रक्षा । कोदृक् ? 'जल्लविलितो' घनोभूतमुपगुंघरि प्रचित शरीरमल जलशब्देनोच्यते । तेन विलितो विलिप्त देह । स्नानादिन्यागात् 'लुक्खो' रूक्षस्पर्श स्नानादिविरहादेव 'लोचकदवियडवीभत्थो' लोचकरणविकृत-वीभत्स । 'जो' यो देह 'रूढणक्खलोमो' दीर्घोभूतनखप्रच्छाद्यदेशलोमान्वित । मेति गुप्ति ॥ सामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिगन्वात् ॥ कस्य ? 'बंभचेरस्स' ब्रह्मचर्यस्य ॥

इति व्युत्सृष्टदेहता ॥

गा०—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ गन्ध, माल्य और धूप और मुखवास सवाहन, परिमर्दन और पिणिद्धण आदिको छोड देता है ॥ ९३ ॥

टी०—ब्रह्मचारी अर्थात् अब्रह्मके त्यागमे तत्पर साधु कस्तूरी आदि गंध, चार प्रकारकी माला (पूष्पमाला, रत्नमाला, मोनीमाला और सुवर्णमाला) कालागुरु आदि धूप, मुखको सुवासित करने वाले जाति फल आदि, अथवा अनेक सुगन्धित द्रव्योका मिश्रण, हाथोम शरीरकी मालिश, पैरोसे शरीरको दबवाना, और पिणिद्ध, इन सबको प्रयोजन न होनेसे और हिसापरक होनेसे छोड देता है । कन्धोको उन्नत और दृढ बनानेके लिये जो उनको कूटा जाता है उसे 'पिणिद्धण' कहते हैं ॥ ९३ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने वालेको स्नान आदिके त्यागसे बया लाभ होता है जिससे ब्रह्मव्रतके आचरणका प्रेमी स्नान आदिके त्यागको अपनाता है, इस शङ्काका उत्तर देने हे—

गा०—जल्लमे लिप्त, रूक्ष, लोच करनेसे विकृत और वीभत्स, बढे हुए नख और रोमो मे युक्त जो शरीर होता है, ब्रह्मचर्यकी बढ गुप्ति हे ॥९४॥

टी०—शरीरपर चढा हुआ मेलपर मेल जल्ल कहाता है । स्नान आदिका त्याग करनेसे यतिका शरीर मेलमे लिपता जाता है । तथा स्नान आदि न करनेमे रूखा हो जाता है । केश लोच करनेसे भद्दा और ग्लानि युक्त होता है उसे देखकर लोगोको ग्लानि होती है । नख बढे हुए होते हैं । गुप्त अंग आदिके बाल बढ जाते है । ऐसा शरीर ब्रह्मचर्यकी गुप्ति है । उससे यतिके ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है । 'गुप्ति' शब्द स्त्रीलिग होनेसे सामानाधिकरण्यके लिये 'सा' शब्दका प्रयोग किया है ॥९४॥

व्युत्सृष्ट शरीरताका प्रकरण समाप्त हुआ ॥



प्रतिलेखनसाध्यप्रयोजनाख्यानायोत्तरगाथाद्वयम्—

**इरियादाणणिसेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे ।**

**उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणाउंटणामरसे ॥९५॥**

'अस्य येन हि संबन्धो दूरस्वमपि तस्य तत्' इत्यनेन क्रमेण सम्बन्ध — 'इरियादाणे' पडिलेहणेण पडिलेहणजिविसि एव सर्वत्र । ईर्याया गमने ब्रजत स्वपादानिकोपदेशे दुष्परिहारा यदि स्यु पिपीलिकादयोऽ-यवा प्राक् पादावलम्वरजसो विरुद्धयोनिवभूमिरुत्तरा जुल प्रवेष्टव्य यदि 'पडिलेहणेण' प्रतिलेखनेन 'पडिलेहणजिवि' निराक्रियते त्रसादिक । 'आदाने' ग्रहणे ज्ञानचारित्रसाधना । 'णिसेवे विवेके' । ज्ञानसयमोपकरणाना निष्ठोपे स्थापनाया । यन्निकल्पते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं । शरीरमलाना उच्चारदीना 'विवेके' उत्सर्जनं वा कर्तार प्रदेश । सा च भूयंशयोग्या प्रमार्जनीया । 'ठावे निसीयणे सयणे' स्थाने आसने च गयनक्रियाया । 'उव्वत्तणपरिवत्तणपसारणाउंटणामरसे' । 'उव्वत्तणं' उत्तानशयन । 'परिवत्तण' पाश्वरि-तरमचार, 'पसारणं' प्रसारण हस्तपाददीना । आउटण सकोचन । स्पर्शनक्रिया 'आमरसशब्देनोच्यते' ॥

**पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे ।**

**विस्सासियं च लिमं संजदपडिरूवदा चेव ॥९६॥**

'चिण्ह च होवि' चिह्नता भजते । 'सगपक्खे' स्वप्रतिज्ञाया । सर्वजीवदया हि यते पक्ष । विस्सासियं च' विश्वासकारि च जनाना । 'लिमं' प्रतिलेखनास्य कथमयमतिभूक्मान्कुख्यादीनपि परिहृत्त्वं, गृहीतप्रति-

अव प्रतिलेखनका प्रयोजन बत्तलानेके लिये दो गाथा कहते हैं—

गा०—गमनमे, ग्रहणमे, रखनेमें मल त्यागमें स्थानमे बैठनेमे शयनमे ऊपरको मुखा करके सोनेमे करवट लेनेमे हाथ पैर फैलानेमे संकोचनमें और स्पर्शनमे पीछीसे परिमार्जन करना चाहिये ॥९५॥

टी०—जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है दूर होते हुए भी वह उसका होता है, इस क्रमके अनुसार प्रतिलेखनके दूर होते हुए भी यहाँ उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये । ईर्या अर्थात् गमन करते हुए यदि अपने पैर रखनेके देशमें चीटी आदिको दूर करना अशक्य हो, अथवा अपने पैरोमे लगी हुई धूलमे आगेकी भूमि विरुद्ध योनि वाली हो या यदि जलमे प्रवेश करना हो तो पीछीसे प्रमादि जीवोको दूर करना चाहिये । अर्थात् पीछीसे उस देशका पैर आदि का परिमार्जन करके चलना चाहिये । ज्ञान और चारित्रके साधन पुस्तक कमण्डलु आदिको ग्रहण करते समय, या उन्हें रखते समय, जो वस्तु रखे और जहाँ रखे उन दोनोंका प्रमार्जन करना चाहिये—पीछीके द्वारा उन्हें झाड़ना चाहिये । शरीरके मल मूत्रादिका त्याग करते समय यदि भूमि अयोग्य हो तो उसका प्रमार्जन करना चाहिये । स्थान, आसन और सोते समय मुख ऊपर करके सोते हुए या करवट लेते समय या हाथ पैर फैलाते और संकोचते समय, किसी वस्तु को छूते समय पीछीसे प्रमार्जन करना चाहिये । यहाँ आमरस शब्दसे स्पर्शन क्रियाको कहा है ॥९५॥

गा०—उक्त क्रिया करते समय पाछेके द्वारा प्रतिलेखना करना चाहिये, इस प्रकार पूर्व

लेखनोपस्थानम्हती जीवान्कथमिव बाधितु उत्सहते इति । 'संजवपडिरूववा खेव' । सयताना 'प्राक्तानाना प्रति-  
विबता च प्रतिलेखना ग्रहणेन भवति ॥९६॥

प्रतिलेखनलक्षणारूपानायाह—

रयसेयाणमगहणं महव सुकुमालदा लघुत्तं च ।

जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥९७॥

'रजसेवाणमगहणं' रजस सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अथाहक । अचित्तरजोप्राहिणा सचित्त-  
रजो प्रतिलेखने तद्विराभना सचित्तरजोप्राहिणा चैतरस्य । स्वेदप्राहिणि रजसामुपहति । 'महवतु कुमालदा'  
मृदुस्पर्शता मार्दव, सुकुमालदा मौकुमार्य । 'लघुत्तं च' लघुत्व च । एते पंच गुणा यत्रैते पंच प्रकारगुणा  
सति 'तं' तत् 'प्रडिलिहणं' प्रतिलेखन 'पसंसंति' स्तुवति दयाविधिज्ञा । अमुदुना, अमुकुमारणे, गुरुणा च प्रति-  
लेखनेन जीवानामुपधात एव कृतो न दयेति भाव । एव चतुर्गुणयुक्त लिंग व्याख्यात गृहीतलिंगस्य यत्ने ॥९७॥

शिक्षानतरेति तन्निरूपणार्थं उत्तरप्रबध —

णिउणं विउलं मुद्रु णिकाचिदमणुत्तर च सव्वहिदं ।

जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पट्टिदव्वं ॥९८॥

गाथासे सम्बन्ध है । अपनी प्रतिज्ञामे पीछी चित्त होती है । और प्रतिलेखना रूप लिंग मनुष्योको  
विश्वास करानेवाला है । और प्राचीन मुनियोका प्रतिबिम्ब रूप है ॥९६॥

टी०—मुनिका पक्ष या प्रतिज्ञा सब जीवोपर दया करना है । अत पीछी उमका चित्त  
है । तथा यह चित्त मनुष्योमे विश्वास उत्पन्न करता है कि जब यह व्यक्ति अतिमूढम कोट आदि  
जीवोकी भी रक्षाके लिये पीछी लिये हुए है तो हमारे जैसे बड़े जीवोको कैसे बाधा पढ़ा मकना  
है । तथा पीछी धारण करनेसे प्राचीन मुनियोका जो रूप था उसीकी छाया वर्तमान मुनियोमे  
आ जाती है ॥९६॥

प्रतिलेखनाके लक्षण कहते है—

गा०—धूल और पसीनेको पकडती न हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, और हल्की  
हो । जिसमे ये पांच गुण होते है उस प्रतिलेखनाको प्रशसा करते है ॥९७॥

टी०—सचित्त या अचित्त रज और पसीनेको ग्रहण न करती हो, क्योंकि अचित्त रजको  
ग्रहण करनेवाली पीछीसे सचित्त रजको प्रति लेखना करनेपर उनमे रहनेवाले जीवोका घात होता  
है और सचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे अचित्त रजकी प्रतिलेखना करने पर भी घात  
होता है । पसीनेको पकडनेवाली पीछीसे रजमे रहनेवाले जीवोका घात होता है । तथा पीछी  
कोमल स्पर्शवाली, सुकुमार और हल्की होनी चाहिये । जिस प्रतिलेखनमे ये पांच गुण होने है,  
दयाकी विधिको जाननेवाले उसकी प्रशसा करते है । इसका भाव यह है कि कठोर, अमुकुमार  
और भारी प्रतिलेखनासे जीवोका घात ही होता है, दया नहीं । इस प्रकार लिंगको स्वीकार  
करनेवाले साधुके चार गुणोंसे युक्त लिंगका कथन किया ॥९७॥

जिणवयण जिनवचनं । 'अहो य रसो य' नक्तं दिव । 'षड्विधम्' अध्येतव्य । कीदृग्भूतं जिनप्रवचन-  
मत आह—'निउण' जीवादीनयन्निप्रमाणनयानुगत निरूपयतीति निपुण । 'शुद्ध' पूर्वापरविरोधपुनरुक्तादि-  
द्वात्रिंशद्दोषवर्जितत्वात् शुद्ध । 'विपुल' निक्षेप, 'एकार्थ', निरुक्ति अनुयोगद्वार, नयश्चेति अनेकविकल्पेन  
जीवादीनर्थान्सप्रपञ्च निरूपयतीति विपुल । अर्थगाढत्वान्निष्काचित अर्थनिश्चित । 'अणुत्तर च' न विद्यते  
उत्तर उत्कण्ठमस्मादित्यनुत्तर । परेषा वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, व्याहृतानि, प्रमाणाविरुद्धानि च तेभ्य  
इदमुत्तर तदसम्बन्धित्वात् । 'सर्वह्रिबं' सर्वं प्राणहित । अन्येषा मतानि केपाचिदेव रक्षा सूचयति ।  
'जिघासन्तं जिघासीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्' इत्युपदेशात्<sup>१</sup> ।

कलुमहर द्रव्यकर्मणा ज्ञानावरणादीना अज्ञानादेर्भावमलस्य च विनाशनात् कलुषहर । 'अहो य रसोय  
पडियन्वमित्यनेन' अन्तर अध्ययन सूचित ॥९८॥

अब शिक्षाका कथन करते हैं—

गा०—निपुण विपुल, शुद्ध, अर्थमे पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियोका हित करनेवाला  
द्रव्यकर्म भाव कर्मरूपी मलका नाशक जिनवचन रात-दिन पढना चाहिये ॥९८॥

दो०—जिनवचन रात-दिन पढना चाहिये । किस प्रकार जिनवचन पढना चाहिये ? इसके  
उत्तरमे कहते हैं—जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थोका प्रमाण और नयके अनुसार निरूपण  
करनेवाला हो । पूर्वापर विरोध पुनरुक्ता आदि बत्तीस दोषोस रहित होनेसे शुद्ध हो । विपुल हो  
अर्थात् निक्षेप, निरुक्ति अनुयोगद्वार और नय इन अनेक विकल्पोसे जो जीवादि पदार्थोका विस्तार  
से निरूपण करता हो । निष्काचित अर्थात् अर्थसं भरपूर हो । अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर  
यानी उत्कृष्ट न हो । दूसरोके वचन पुनरुक्त, निगर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध है अतः उनसे  
जिनवचन उत्कृष्ट है क्योंकि जो गुण उनमे सम्भव नहीं है उन गुणोस युक्त है । सब प्राणियोका  
हितकागे है । दूसरोके मत तो किन्ही की ही रक्षा सूचित करते हैं । कहा है—वेदका जाननेवाला  
भी ब्राह्मण यदि किसीको मारता हो तो उसे मार डालना चाहिये । उससे ब्रह्म हत्याका पाप  
नहीं लगता । तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमलका विनाश करनेसे  
जिनवचन पापका हरनेवाला है । उसे 'रात-दिन पढना चाहिये' इससे निरन्तर अध्ययन करना  
सूचित किया है ॥९८॥

१ पदार्थ -आ० मु० ।

२ आ० मु० प्रयोअधोलिखिताश्लोका म ।

“यज्ञार्थं पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयभुवा ॥

यज्ञो हि भूर्य सर्वेषा तस्माशञ्जे वधोऽवध ॥ १ ॥

“अग्निदो गरदश्चेव शन्त्रपाणिर्धनापह ॥

क्षेत्रदारहरश्चेति पडेते आनतायिन ॥”

“आतनायिनमायातमपि वेदातविद् द्विज ॥

जिघासत जिघासीयान् तेन ब्रह्महा भवेत् ॥”

जिनवचनशिक्षाया गुणान्संहृत्य कथयति—

**आदहिदपहृण्णा भावसंवरो णवणवो या संवेगो ॥**

**णिक्कपदा तवो भावणा य परदेसिगतं च ॥९९॥**

**आदहिदपहृण्णा** आत्महितपरिज्ञान । इन्द्रियमुख अहित परिहितमिति भुल्लमिति जना । दुःखप्रतीकारम्माज तत् ? अल्पकालिक, पराधीन, रागानुबन्धकारि, दुर्लभ, भयावह, शरीरायासमात्र, अनुचिंशरीरासस्पर्शनज । तत्रास्य बालस्य मुखवृद्धि । नि शेषदुःखापायजनित स्वास्थ्य अचल मुखमिति न वेत्ति । जिनवचोऽभ्यामात्वाधिगच्छति । 'भावसंवरो' भाव परिणाम तस्य मवरो निरोध । ननु परिणाममतरेण न द्रव्यस्यास्ति क्षणमात्रमप्यवस्थान तत्किमुच्यते भावसवर इति । परिणामविशेषवृत्तिरिह भावशब्द इति मन्यते । तथा वक्ष्यति—

'सज्जायं कुव्वंतो पंचेदोसवुडो इति' अणुभकर्मादाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरागापेक्षया । वीत-रागाणा तु केवाचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यास्रवपरिणामसवरोऽपि ग्राह्य । 'णवणवो य' प्रत्यय प्रत्यय । 'संवेगो' धर्मे श्रद्धा जिनवचनाभ्यासादुपजायते । 'णिक्कपदा' निश्चलता । क्व ? रत्नत्रये । 'तवो' स्वाध्यायाख्य तपश्च । 'भावणाय' भावना च गुप्तीना । 'परदेसिगतं च' परेषामुपदेशकता च ॥

जिनवचनकी शिक्षामे जो गुण है उन्हें कहते है—

शा०—आत्महितका ज्ञान होता है । भाव सवर होता है । नवीन-नवीन संवेग होता है रत्नत्रयमे निश्चलता होती है । स्वाध्याय तप होता है और भावना होनी है । और दूसरोको उपदेश करनेकी क्षमता होती है ॥९९॥

टी०—जिनवचनके पढनेसे आत्महितका परिज्ञान होता है—इन्द्रिय मुख अहितकर है उसे लोग हितकर ग्रहण करते है । इन्द्रिय मुख दुःखका प्रतीकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है । पराधीन है, रागका सहचारी है, दुर्लभ है (?), भयकारी है, शरीरका आयासमात्र है, अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है । उसको यह अज्ञानी मुख मानता है । समस्त दुःखोके विनाशसे उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य-आत्मामे स्थितिरूप भाव-स्थायी मुख है यह नही जानता । वह मुख जिनवचनके अभ्याससे प्राप्त होता है । भाव अर्थात् परिणामका, सवर अर्थात् निरोध भाव-सवर है ।

शंका—परिणामके विना द्रव्य एक क्षण भी नही रह सकता । तब आप कैसे भावसवर कहते है ?

समाधान—यहाँ भाव शब्द परिणाम विशेषका वाचक लिया गया है । आगे कहेंगे—स्वाध्याय करनेवाला पाँचो इन्द्रियोसे सवृत होता है । अतः यहा सरागकी अपेक्षासे अशुभ कर्मों के ग्रहणमे निमित्त परिणामका ग्रहण किया है । वीतरागोमेसे तो किन्हीके जिनवचन शुद्धोपयोग मे निमित्त होता है इसलिये भावसवरसे पुण्यास्रवमे निमित्त परिणामोका सवर भी ग्राह्य है । जिनवचनके अभ्याससे नित नया 'सवेग' अर्थात् धर्ममे श्रद्धा उत्पन्न होती है । रत्नत्रयमे निश्चलता आती है । स्वाध्यायनामक तप होता है, गुप्तियोकी भावना होती है तथा दूसरोंको उपदेश देनेकी सामर्थ्य आती है ॥९९॥

आदहिदपरिष्णा इत्यस्य व्याख्यान गाथोत्तरा—

**णाणेण सञ्चभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा ।**

**णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव ॥ १०० ॥**

‘णाणेण’ ज्ञानेन । ‘सञ्चभावा’ सर्वे पदार्थाः । ‘जीवाजीवाधिगा’ जीवाजीवात्मवद्वयसवरनिर्जरा-  
मोक्षाः । ‘तधिगा’ तथ्यभूता । ‘णज्जंति’ ज्ञायन्ते । ‘तथा’ तेनैव प्रकारेण । ‘इहपरलोए’ इह परस्मिन् लोके ।  
‘अहिदं’ अहित । ‘हिदं’ हित चैव । ननु च आदहिदपरिष्णा इत्यत्र हितस्यैव हि सूचितत्वान् जीवादिपरिज्ञान  
असूचित कथं व्याख्यायते पूर्वमभिहित हितमनुक्त्वा ? अत्रोच्यते—आत्मा च हित च आत्महिते तयो परिज्ञान  
इति गृहीत । न चात्मनो हितमिति । ततो युक्तं व्याख्यात । एवमपि जीव एव निदिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यासः  
कथं ? आत्मशब्दवस्तूपलक्षणत्वाददोष । जीवाजीवात्मवद्वयसवरनिर्जरासोक्षास्तत्त्व [त०सू० १।८] इत्यत्र  
सूत्रे आदौ निदिष्टो जीव प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षणं क्रियते । अथवा आत्मम्यज्ञाते हितमव दुर्जात आत्म-  
परिणामो हि हितं तच्च स्वास्थ्यं । तच्च स्वः ये आविदिते स्वास्थ्यं मुञ्जात भवति । तत आत्मा ज्ञातव्यः ।

जादं सय समत्त णाणमणंतत्थचित्थिदं विमलं । रहिदं तु उग्गाहाविहिं मुहंति एयतियं भयिद” [प्र०  
व० १।५] । इति वचनात् अनतज्ञानरूपं मुखं यदि हितमिति गृहीतं, तथापि चेतनाया जीवत्वाच्चैतन्यावस्था-  
स्वरूपत्वात् केवलम्यावस्थानात् आत्मा भातव्य एव । मोक्षस्तु कर्मणा तदपायतयाधिगतव्यं । तत्परिज्ञानम-  
जीवैर्निर्ज्ञाने न भवति । पुद्गलानामेव द्रव्यकर्मत्वात्, तद्वियोगस्य मोक्षत्वात् । स च मोक्षो बध्दुरस्सर । न

आगे आत्महित परिज्ञानका व्याख्यान करते है—

गा०—ज्ञानके द्वारा जीव अजीव आत्मव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते है । उसी प्रकारसे इस लोक और परलोकमे अहित और हित जाना जाता है ॥१००॥

टी०—शांका—‘आत्महित परिज्ञा’ इस पदमे तो हितको ही सूचित किया है, जीवादिके परिज्ञानको तो सूचित नहीं किया है तब पहले कहे गये हितका कथन न करके जीवादि परिज्ञानका व्याख्यान क्यों किया है ?

समाधान—आत्महित परिज्ञानका अर्थ आत्मा और हितका परिज्ञान लिया है । ‘आत्माका हित’ अर्थ नहीं लिया है । अत जीवादिका व्याख्यान करना युक्त है ।

शांका—ऐसा अर्थ करनेपर भी जीवका ही निर्देश किया है । तब अजीव आदिका उपन्यास क्यों किया ?

समाधान—आत्म शब्द अजीवादिका उपलक्षणरूप होनेसे कोई दोष नहीं है । क्योंकि ‘जीवाजीवा’ इत्यादि सूत्रमे जीवका प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगेके अजीवादिका उपलक्षण किया है । अथवा, आत्माका ज्ञान हुए विना उसके हितको जानना कठिन है । आत्माका परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है । अतः स्वस्थका ठीक ज्ञान होनेपर स्वास्थ्यका सम्यग्ज्ञान होता है । अत आत्मा ज्ञातव्य है । अथवा ऐसा कहा है—अनन्त पदार्थोमे व्याप्त और अवग्रह आदिके क्रमसे रहित निर्मल सम्पूर्णज्ञान जो परकी सहायताके विना स्वयं होता है उसे एकान्तस मुखरूप कहा है । इस कथनसे यद्यपि अनन्तज्ञानरूप मुखको हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है और केवलज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है अतः आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मोंके विनाशरूप होनेसे जानने योग्य है । कर्मोंका ज्ञान अजीवको जाने विना नहीं होता, क्योंकि पुद्गल ही

ह्रासति बधे मोक्षोऽस्ति । स च बधो नास्त्यालवे । मोक्षस्य चोपायी संवरनिर्जरे । अहितं इति यदि दुःखं गृह्यते तदैहलौकिकमनुभवसिद्धमेव । किं तत्र जिनवचनेन ? अहितकारणं यथाहितमुच्यते तत्कर्म तच्चात्रा-जीववचनेन आक्षिप्तं । अथ हिंसादयः परपराकारणत्वेन दुःखस्यावस्थिता अहितशब्देनोच्यन्ते । तथाप्ययुक्त आत्मवेज्जताभूतत्वात् । अत्रोच्यते—अनुभूतमपि दुःखं अस्मिञ्जन्मनि जडमतयो विस्मरन्त्यत एव मन्मार्गं न दौकते । तेषां स्मृतिर्जन्यते जिनवचनेन मनुजभाषया प्रकटनेन । जुगुप्सिते कुले प्रादुर्भूतिविधिनास्त्वय रोगोर-गदशनजनिता विषयः । निर्द्विणता, दुर्भंगता, अवधुता, अनाथता, प्रायितद्रविणपरागनात्याभयुष्वजनिर्दग्ध-चित्तना, द्रविणवर्ता कुन्तिसन्प्रेषणकरण, तथापि तेषां आक्रोशननिर्भर्त्सनादनादीनि, परवशतामरणादीन्वेव-मादिना, इह लोके हितं दानतप प्रभृतिकं हितकारणं हितं इति यदा गृह्यते 'हितमारण्यमौषध' इति यथा । यतो दानादिके कुशलकर्मणि वर्तमाना जने स्तुयते वदन्ते । उक्तं च—

दानेन तिष्ठन्ति यथासि लोके दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।

परोऽपि बधुष्वमपैति दानात्समात्सुवान सततं प्रदेयम् ॥' इति ॥—[वराह० ७।३६]

द्रव्यक्रधरादयोऽपि प्रणतिभायान्ति तपोद्रविणानाम् । परलोके अहित भवान्तरभाविदुःख नरकगती हि, तिर्यक्त्वे च, परलोके हितं निवृत्तिसुखं, तदेत्मकल अवबोधयति जेनी भगवती भारती ।

द्रव्यकर्मरूप होते है और उनका विनाश मोक्ष है । वह मोक्ष बन्धपूर्वक होता है । क्योंकि बन्धके अभावमें मोक्ष नहीं होता । तथा बन्ध आस्रवके विना नहीं होता । और मोक्षके उपाय मवर और निर्जरा है ।

शका—यदि अहितसे दुःख लेते है तो इस लोकमें होनेवाला दुःख अनुभवमें सिद्ध है । उसमें जिनवचनकी क्या आवश्यकता ? यदि अहितके कारणकी अहित कहते है तो वह कर्म है और अजीव शब्दसे उसका ग्रहण होता है । यदि परम्परासे दुःखका कारण होनेमें हिंसा आदिको अहित शब्दसे लेते है तो भी अहितका पृथक् कथन अयुक्त है क्योंकि आस्रवमें उनका अन्तर्भाव होता है ।

समाधान—इस जन्ममें अनुभूत भी दुःखको अज्ञानी भूल जाते है इसीसे वे सन्मार्गमें नहीं लगते । जिनवचनके द्वारा मनुष्य भवमें होनेवाली विपत्तियोंको बतलानेसे उनका स्मरण होता है । निन्दनीय कुलमें जन्म होनेपर वहाँ रोगरूपी साँपके इसनेसे उत्पन्न हुई विपत्तियाँ आती हैं । दरिद्रता, भाग्यहीनता, अबन्धुता, अनाथता, इच्छित धन और पर स्त्रीकी प्राप्ति न होने रूप अग्निसे चित्तका जलते रहना, धनिकोंकी निन्दनीय आज्ञाका पालन करनेपर भी उनके गाली; गलौज, डाँट फटकार, मारपीट, परवश मरण आदिको सहना पडता है ।

जब हितका अर्थ हितका कारण लिया जाता है तो इस लोकमें दान, तप आदि हित है । जैसे जगली औषधी हितका कारण होनेसे हित कही जाती है क्योंकि जो दान आदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और बन्दना करते है । कहा भी है—'दानसे लोकमें चिरस्थायी यश होता है । दानमें वैर भी नष्ट हो जाते हैं । दानसे पराये भी बन्धु हो जाते है । अत मुदान सदा देना चाहिए ॥' तपोधनको इन्द्र चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते है । परलोकमें अहितसे मतलब है आगामी नरकगति और तिर्यङ्गतिके भवमें होनेवाला दुःख । और परलोकमें हितसे मतलब है मोक्षसुख । जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है ॥१००॥

आत्महितापरिज्ञाने दोषमाचष्टे—

**आदहिदमयाणंतो मुञ्जदि मूढो समादियदि कम्मं ।  
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥१०१॥**

‘आवहिदमयाणंतो’ आत्महितमबुध्यमान । ‘मुञ्जदि’ मुञ्जति अहितं हितमिति प्रतिपद्यते । मोहे को दोष इत्यत आह—‘मूढो’ मोहवान् ‘समादियदि’ समादत्ते । ‘कम्मं’ कर्ममामान्यशब्दोऽयम् अशुभकर्मवृत्ति-  
ग्राह्य । कर्मग्रहणं को दोष इत्यत आह—‘कम्मणिमित्तं’ कर्महेतुक, जीव ‘परीदि’ परिभ्रमति । किं  
‘भवसायरम्’ भवसमुद्र ‘अणंतं’ अनन्तम् ॥१०१॥

आत्महितपरम्पोषयोगमादर्शयति—

**जाणंतस्मादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य ।  
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेद्व्वं ॥१०२॥**

‘जाणंतस्स’ जानत । ‘आवहितं’ आत्महित । ‘अहिदणियत्ती य’ अहितनिवृत्तिश्च । ‘हिदपवत्ती य’  
हिते प्रवृत्तिश्च । ‘होदि य’ नवति च । ‘तो’ तत् हितज्ञानान्परचात् । ‘तम्हा’ तस्मात् ‘आवहिदं’ आत्म-  
हित । ‘आगमेद्व्वं’ गिहितव्यम् । अत्र चोद्यते—ननु आत्महितज्ञस्य हिते प्रवृत्तिर्भवतु, अहितान्निवृत्ति कथं ?  
अहितजोऽहितान्निवर्तने हितमहितं न भिन्नमेव । यद्यतो भिन्नं न तस्मिन्नवगतं तदन्यददगतं भवति । यथा—  
वानरैः उवगने न मकर, ‘भिन्नं च द्विवादहितं तस्माद्विनाजोऽहितं अजानन् कथमहितान्नियोगतो निवर्तते ? अत्रो-

आत्महितका ज्ञान न होनेके दोष कहते हैं—

गा०—आत्मार्थकं हितको न जाननेवाला मोहित होना है । मोहित हुआ कर्मको ग्रहण  
करता है । और कर्मका निमित्त पाकर जीव (अणत) अनन्त भवसागरम भ्रमण करता है ॥१०१॥

टी०—आत्महित या आत्मा और हितको जाननेवाला अहितको हित मानता है । यही  
मोह है । इस मोहमे क्या दोष है ? इसके उत्तरमे कहते हैं कि मोहो जीव कर्मको ग्रहण करता  
है । यद्वापर यद्यपि कर्म सामान्य कदा है तथापि अशुभकर्म ग्रहण करना चाहिए । कर्मके ग्रहणमे  
क्या दोष है ? इसके उत्तरमे कहते हैं कि कर्मके कारण जीव भव समुद्रमे अनन्तकाल तक भ्रमण  
करता है ॥१०१॥

आत्महितके ज्ञानका उपयोग दिखलाते हैं—

गा०—आत्महितको जाननेवालेके अहितमे निवृत्ति और हितमे प्रवृत्ति होती है । हिता-  
हितके ज्ञानक पश्चान् उमका हिताहित भी जानता ही है । इसलिए (आदहिदं) आत्महितको  
आगममे मोखना चाहिए ॥१०२॥

टी०—शका—आत्महितको जाननेवालेकी हितमे प्रवृत्ति होओ, किन्तु अहितसे निवृत्ति  
कैसे ? जो अहितको जानना है वह अहितसे निवृत्त होता है । तथा हित और अहित भिन्न है ।  
जो जिससे भिन्न होता है उसके जाननेपर उससे भिन्नका ज्ञान नहीं होता । जैसे बन्दरको जानने-  
पर मगरका ज्ञान नहीं होता । और हितसे अहित भिन्न है अत हितको जाननेवाला अहितको  
नहीं जानता । तब वह कैसे नियमसे अहितसे निवृत्त होगा ?

प्यते—सर्वमेव वस्तु स्वपरभावाभावोभयाधीनात्मलामं यथा घट. पृथु<sup>१</sup>लोदराद्याकारात्मक पटादिरूपतया  
प्राप्त, अन्यथा विपर्ययस्त तज्ज्ञानं भवेत् । एवमिहापि हितविलक्षणमहितं अजानता तद्विलक्षणता हितम्<sup>२</sup>  
ज्ञाता भवेत् । अतो हितजोहितमपि वेतोति युक्ता निवृत्तिस्तत ॥१०२॥

शिक्षाया अशुभभावमवरहेतुता प्रतिपादनायाह—

सज्ज्ञायं कुञ्चंतो पञ्चिदियसुबुडो तिगुचो य ॥

हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खु ॥१०३॥

“सज्ज्ञायं” स्वाध्याय पर्चाविध वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन । तत्र निरवच्छस्य ग्रन्थस्या  
व्यापन तदर्थोभिधानपुरोग वाचना । मदेहनिवृत्तये निश्चितबलाधानाय वा सूत्रार्थविषय प्रश्न । अवगतार्थो-  
नुप्रेक्षण अनुप्रेक्षा । आम्नायो गुणना । आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेदनीति चतस्र कथास्तासा कथनं  
धर्मोपदेश । त स्वाध्याय कुञ्चं । ‘पञ्चिदियसुबुडो हौदि’ पञ्चेन्द्रियसवृती भवति । ननु पञ्चेन्द्रिय शब्द  
निष्ठातस्य पूर्वनिपातात्मवृत्तपञ्चेन्द्रिय इति भवितव्यम् ? सत्य । ‘जातिकालमुखादिभ्य परवचनम्’ इत्यनेन  
बहुब्रीहो पञ्चेन्द्रियत्वजातिवृत्तिरिति जातिवचन । ततो निष्ठात परत प्रयुज्यते इति मन्यते । इन्द्रियमनेक-  
प्रकार द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय इति । इह तु रूपाद्युपयोगा इन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तैनायमर्थं स्वाध्यायं कुर्वन्तिरुद-

समाधान—प्रत्येक वस्तुका जन्म स्वके भाव और परके अभाव, इन दोनोके अधीन है ।  
जैसे घट बड़े पेट आदि आकारवाला होना है. पटादिरूपसे उसका ग्रहण नहीं होता । यदि घटका  
पटरूपसे ग्रहण हो तो वह ज्ञान विपरीत कहलायेगा । इसी तरह यहाँ भी जो हितमे विलक्षण  
अहितको नहीं जानता वह उससे विलक्षण हितका भी ज्ञाता नहीं हो सकता । अन. जो हितको  
जानता है वह अहितको भी जानता है । इसीलए उसको अहितसे निवृत्ति उचित ही है ॥१०२॥

शिक्षा अशुभभावके मवरमे हेतु है, यह कहते हैं—

गा०—विनयसे युक्त होकर स्वाध्याय करना हुआ साधु पाँचो इन्द्रियोंके विषयोसे सवृत्त  
और तीन गुणयोसे गुप्त एकाग्रमन होता है ॥ १०३ ॥

टी०—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद है ।  
उसके अर्थका कथन करने पूर्वक निर्दाषि ग्रन्थके पढानेको वाचना कहते हैं । सन्देहको दूर करनेके  
लिये अथवा निश्चितको दृढ करनेके लिये सूत्र और अर्थके विषयमें पूछना प्रश्न है । जाने हुए अर्थ-  
का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । कण्ठस्थ करना आम्नाय है । कथाके चार प्रकार है—आक्षेपणी,  
विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी । उनके करनेको धर्मोपदेश कहते हैं । उम स्वाध्यायको करने  
वाला पञ्चेन्द्रिय सवृत्त होता है ।

शङ्का—बहुब्रीहि समासमे निष्ठातका पूर्वनिपात होनेसे ‘सवृत्त पञ्चेन्द्रिय’ होना चाहिये ।

समाधान—आपका कथन सत्य है । ‘जातिकाल मुखादिभ्य परवचनम्’ इस सूत्रसे पञ्चे-  
न्द्रिय शब्द पञ्चेन्द्रिय जातिवृत्ति होनेसे जातिवाचक है । इसलिये निष्ठातका प्रयोग पञ्चेन्द्रिय-  
के आगे किया है ।

इन्द्रियके अनेक भेद है—द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय । किन्तु यहाँ इन्द्रियशब्दसे रूपादि विषयक



रूपाद्युपयोगो भवति इति । रूपाद्युपयोगनिरोधे किं फल ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोज्ञामनोज्ञरूपाद्युपयोगाव-  
लम्बनी रागद्वेषौ । न ह्यनवबुध्यमानो विषय स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तोज्ज्वलनस्के वा रागादीना  
विषयसन्निधावप्यदर्शनात् ।

“गतिमधिगवस्स देहो देहावो इदियाणि जायंते ।

ततो विसयगहणं ततो रागो व दोसो वा ॥” [ पञ्चास्ति० १२९ ]

इति वचनाच्च । कथं स्वाध्याये प्रवर्तमान ‘विषयेण समाहिबो’ ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा य स्वा-  
ध्याय करोति ‘तिगुत्तो य होवि’ तिसृभिर्गुणितभिश्च भवति । मनसोऽप्रशस्तरागाद्यनवलेपान्, अनृतरूपरूपकर्क-  
शात्मस्तवनपरद्रवणादावध्यापुने, हिमादौ शरीरेणाप्रवृत्तेष्व, “एयग्गमणो य होवि भिषखू” इति पदघटना—एक-  
मुखान्त करणश्च भवति भिक्षु स्वाध्याये रत । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमप्यासादयतीति । न ह्यकृत-  
श्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने भवितुमर्हति । अपायोपायभक्तिपाकलोकविचयादयो धर्मध्यानभेदा । अपायादि-  
स्वरूपज्ञान जिनवचनबलादेव ‘शुक्ले चाछे पूर्वविवः’ [ त-मू० १।३७ ] इत्यभिहितत्वाच्च ॥१०३॥

प्रत्यग्रमवेगप्रभवक्रममाचष्टे—

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुच्चं तु ।

तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए ॥ १०४ ॥

उपयोग कहा गया है । अतः यह अर्थ होता है कि स्वाध्यायको करने वालेका रूपादि विषयक  
उपयोग रुक जाता है ।

शङ्का—रूपादि विषयक उपयोगको रोकनेका क्या फल है ?

समाधान—रागादिकी प्रवृत्ति नहीं होती । राग द्वेष मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादि विषयक  
उपयोगका आश्रय पाकर होते हैं । जिस विषयको जाना नहीं वह विषय केवल अपने अस्तित्व-  
मात्रसे राग द्वेषको पैदा नहीं करता । क्योंकि सोते हुए या जिसका मन अन्य ओर है उस मनुष्य-  
में विषयके पासमें होते हुए भी राग द्वेष नहीं देखे जाते । कहा है—‘गतिमें जाने पर शरीर वनता  
है । शरीरसे इन्द्रियाँ बनती हैं । इन्द्रियोसे तिषयोंका ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष  
होते हैं । जो विनय पूर्वक स्वाध्याय करता है वह पञ्चेन्द्रिय सवृत और तीन गुप्तियोसे गुप्त होता  
है क्योंकि उसका मन अप्रशस्त रागादिके विकारसे रहित होता है, झूठ, रुध, कठोर, कर्कश,  
अपनी प्रशंसा, परनिन्दा आदि वचन नहीं बोलता, तथा शरीरके द्वारा हिंसा आदिमें प्रवृत्ति नहीं  
करता । तथा स्वाध्यायमें लीन साधु एकाग्रमन होता है । अर्थात् ध्यानमें भी प्रवृत्ति करता है ।  
जिसका श्रुतसे परिचय नहीं है उसके धर्मध्यान शुक्लध्यान नहीं होते । अपायविचय, उपायविचय,  
विपाकविचय, लोकविचय आदि धर्मध्यानके भेद हैं । अपाय आदिके स्वरूपका ज्ञान जिनागमके  
बलसे ही होता है । कहा भी है—आदिके दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववित् श्रुतेकेबलोके  
होते हैं ॥ १०३ ॥

नवीन सवेगके उत्पन्न हानेका क्रम कहते हैं—

गा०—जैसे-जैसे अतिशय अभिषेयसे भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुतको अव-  
गाहन करता है, तैसे-तैसे नई नई धर्मश्रद्धासे आह्लाद युक्त होता है ॥ १०४ ॥

'अहं ब्रह्म' यथा यथा । 'सुखं' श्रुतं 'ओम्गाह्वि' अवगाहते शब्दश्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत् । 'अतिशयरसप्रसरं अतिशयरसप्रसरं' समयातरेषु अनुपलब्धोऽर्थोऽतिशयितो रस । शब्दस्य हि रसोऽर्थः तस्य सारत्वात् आभ्रफलादिरस इव । प्रसरशब्देन प्राचुर्यमतिशयितार्थस्य सूचयति । ततोऽयमर्थोऽयम्—अतिशयाभिधेयबहुलं श्रुतमिति । ननु प्रवादिनोऽपरेऽपि स्वसमयमेव प्रशसन्ति । प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुद्धमर्थस्वरूपं केवलं नित्यत्वमनित्यता वा निरूपयतामागमना नातिशयार्थप्रसरता । प्रमाणातरसवाद्यागमार्थोऽतिशयितो भवति नापरः । 'असुखपुण्यं तु' अश्रुतपूर्वमेव । ननु भव्यानामभव्यानां च कर्णगोचरतामायात्येव श्रुतं किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति ? अथ श्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमात्रं श्रुतमप्यश्रुतं इति गृह्यते तदप्ययुक्तं, अर्थोपयोगस्यापि अगच्छन् ज्ञातत्वात् । अयमभिप्रायः श्रद्धानसहचारिबोधाभावाच्छ्रुतमप्यश्रुतमिति । 'तह तह परह्राविज्जह' तथा तथा प्रह्लादमुपैति । 'नवनवसंवेगसद्दाए' प्रत्यक्षतरधर्मश्रद्धया । ननु च ससाराद्भीरुता संवेगः ततोऽयमर्थः स्याद-संबन्धः न दोषः । ससारभीरुताहेतुको धर्मपरिणामः । आयुधनिपातभीरुताहेतुककवचग्रहणवन् । तेन संवेगशब्दकार्ये धर्मो वर्तते ॥१०४॥

निष्कपताख्यानायाह—

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा ।

विहरदि विसुज्जमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ॥१०५॥

टी०—जैसे-जैसे श्रुतका अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुतके अर्थको जानता है । वह श्रुत 'अतिशयरस प्रसर' होना चाहिये । अन्य धर्मोंमें जो अर्थ नहीं पाया जाता उसे 'अतिशयरस' कहा है । क्योंकि शब्दका रस उसका अर्थ है वही उसका सार है । जैसे आभ्रफलादिका रस । प्रसर शब्दसे अतिशयित अर्थकी बहुलता सूचित होती है । अतः 'अतिशयितरस प्रसर' का अर्थ है—अतिशय अभिधेयसे भरा हुआ श्रुत ।

शङ्का—अन्य मताबलम्बी भी अपने सिद्धान्तकी प्रशंसा करने है ?

समाधान—प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध अर्थके स्वरूप केवल नित्यता या केवल अनित्यता का कथन करने वाले आगम अतिशय अर्थबहुल नहीं है । जिस आगमका अर्थ अन्य प्रमाणोंसे प्रमाणित होता है वही आगमार्थ अतिशयित होना है, अन्य नहीं । तथा वह अश्रुतपूर्व जो पहले नहीं सुना, होना चाहिये ।

शङ्का—भव्य और अभव्य जीवोंके कानोमें श्रुत सुननेमें आता ही है तब आप अश्रुत पूर्व कैसे कहते है ? यदि श्रुतके अर्थका ज्ञान न होनेसे शब्दमात्र श्रुतको अश्रुत कहते है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्थके उपयोगका भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है ?

समाधान—अभिप्राय यह है कि श्रद्धान पूर्वक ज्ञान न होनेसे श्रुत भी अश्रुत होता है । तो जैसे श्रुतका अवगाहन करता है वैसे वैसे नई नई धर्मश्रद्धासे युक्त होता है ।

शङ्का—संसारसे भीरुताको संवेग कहते है । तब आपका अर्थ धर्म ठीक नहीं है ।

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं है । संसारसे भीरुता धर्म परिणामका कारण है । जैसे शस्त्रके आघातके भयसे कवच ग्रहण करते है इससे संवेग शब्द संवेगका कार्य जो धर्म है उसको कहता है ॥ १०४ ॥

आवाप्यायविविह्वं वृद्धिहानिक्रमज । प्रवचनाभ्यासादेव रत्नत्रयाभिवृद्धि एव तथा हानिरिति यो जानाति असी । 'संसर्गणागतवसज्जमे' श्रद्धाने, ज्ञाने, तपसि, सयमे वा । 'ठिक्वा' स्थित्वा । 'विहरति' प्रवर्तते । 'विशुक्लमागो' शुद्धिमुपयान् । 'जावज्जीव' जीवितकालावधि । तु शब्दोऽन्ते नेत्र । 'निष्कपो बु' विनिष्कृत्तपो निश्चल एवेति यावत् । नि शक्तितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धि, शकादिना हानि । अर्थव्यंजनतदु-भयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धि । अनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च ज्ञानहानि । यथा चोक्तम्— 'पुंश्चमहिर्बं पि जाणं 'संकुडविजुत्तजोगिस्स' इति । तपसो द्वादशविधस्य वृद्धि सयमभावनया वीर्याविनि-गूहनात् ज्ञानोपयोगात् । हानि पुनस्तद्विपर्ययादेहिककार्यासगाद्वा । सम्यक् पापक्रियाम्य उपरम सयम । पापक्रियाश्चाशुभमनोवाक्काययोगा. तेन चारित्र्य सयम । 'पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं' इति वचनात् । तस्य सयमस्य वृद्धि पचविक्षतिभावनाभिर्हानि तासा भावनाना अभावेन । श्रुतादिना ज्ञानादीना गुणदोष वा न वेत्ति । अनिर्ज्ञानगुण कथ गुणानुपवृहयेत्, अविदितदोषो वा तास्त्वजेत् । तेन शिक्षायामादर कार्य ॥१०५॥

जिनवचनशिक्षा तप इत्येतदुच्यते—

वागसविहम्मि य तवे सम्भंतरवाहारे कुसलदिट्टे ।

ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥१०६॥

निष्कम्पताका कथन करते है—

गा०—वृद्धि और हानिके क्रमको जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और सयममे स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है वह निश्चल ही है ॥ १०५ ॥

टी०—प्रवचनके अभ्यासे जो यह जानता है कि ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी वृद्धि होती है और ऐसा करनेसे हानि होती है वह श्रद्धान, ज्ञान, तप, और सयममे स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त करना हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है ।

नि शक्ति आदि गुणोसे सम्यग्दर्शनकी वृद्धि होती है और शका आदिसे हानि होती है । अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धिसे तथा स्वाध्यायमे उपयोग लगानेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है । उपयोग न लगानेसे तथा नवीन अपूर्वं अर्थको ग्रहण न करनेमे ज्ञानकी हानि होती है । कहा है—'पूर्वमे ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमे उपयोग नहीं लगाता उसका घट जाता है ।' सयमकी भावनासे व अपनी शक्तिको न छिपाकर ज्ञानमे उपयोग लगानेसे बारह प्रकारके तपकी वृद्धि होती है । उससे विपरीत करनेसे और लौकिक कार्योंमे फँसे रहनेसे तपकी हानि होती है । पाप क्रियाओसे सम्यक् रीतिसे विरत होनेको सयम कहते हैं । अशुभ मनोयोग, अशुभ वचन योग और अशुभकाय योग पापक्रिया है । अत चारित्र्य सयम है । कहा भी है—'पाप क्रियाओसे निवृत्ति चारित्र्य है ।' उस सयमकी वृद्धि पचोस भावनाओसे होती है और उन भावनाओके अभावसे सयमकी हानि होती है । शास्त्राभ्यासके विना ज्ञान आदिके गुण अथवा दोषको नहीं जानता । जो गुणको नहीं जानता वह कैसे गुणको बता सकता है । और जो दोषको नहीं जानता वह कैसे उन्हे छोड़ सकता है ? अत शिक्षामे आदर करना चाहिये ॥ १०५ ॥

जिनवचनकी शिक्षा तप है, यह कहते है—

'भारतविहन्मि व' द्वादशप्रकारे । 'तवे' तपसि । 'सम्भतरबाहिरे' सहाभ्यन्तरबाह्याभ्या वर्तते इति साम्यतरबाह्य । बाह्याभ्यन्तरं वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्या मह वर्तते इत्युच्यते ? तप सामान्य विशेषे सह वर्तते इत्युच्यते । अजाद्यदत्तत्वात् अभ्यहितत्वाच्च अभ्यन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातोऽपस्वरवादपि बाह्यशब्दात् । 'कुसलविद्धे' ससार, ससारकारण, वर्धो, बधकारण, मोक्षन्तदुपाय इत्यत्र वस्तुनि ये कुशल-सर्वविदस्तंशर्वादष्टे । 'सन्नायसमं' स्वाध्यायेन सदृश । 'तबोकम्म' तप क्रिया । 'ण वि अत्थि' नैवास्ति । 'ण वि य' नैव । 'होहिहि' भविष्यति । नाप्यामीदिति कालत्रयेऽपि स्वाध्यायसदृशस्वान्यस्य तपसोऽभावः कथ्यते । अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धरेविशेषात् कर्मतपनसामर्थ्यस्याविशेषात् । किमुच्यते स्वाध्यायसदृश तपो नेति ? कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया सदृशमन्यत्तपो नैवास्तोत्यभिप्राय । तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् न वा ? आत्मपरिणामत्वे कथं कस्यचिद्बाह्यता ? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जरो कुर्यात् घटादिवदित्यत्रोच्यते—आत्मपरिणाम एव तप । कथं तर्हि बाह्यता ? बाह्या सद्वर्तमानार्थे जना तैरप्यवगम्यत्वात् बाह्याभ्युच्यतेऽनशनादि बाह्यैर्वाचरणात् । सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तरा । तदवगम्यत्वात्-त्तराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति सूरेरभिप्राय ॥

गा०—सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्यभेद सहित बारह प्रकारके तपमे स्वाध्यायके समान तपक्रिया नहीं है और न होगी ही ॥ १०६ ॥

टी०—शंका—बाह्य और अभ्यन्तर तपको छोड़कर अन्य तप क्या है जो बाह्य अभ्यन्तर सहित बारह प्रकारका तप कहते हो ?

समाधान—सामान्य तप विशेषोंके साथ रहता है यह कहनेका अभिप्राय है । यद्यपि बाह्य शब्दमे अल्प स्वर है फिर भी अभ्यन्तर शब्दके आदिमे अच् होनेसे तथा पूज्य होनेसे अभ्यन्तर शब्दको प्रथम स्थान दिया है । ससार और ससारके कारण, बन्ध और बन्धके कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय इन वस्तुओंमे जो कुशल सर्वज्ञ है उनके द्वारा उपदिष्ट तपमे स्वाध्यायके समान तप न है, न होगा और न था, इस प्रकार तीनों कालोमे स्वाध्यायके समान अन्य तपका अभाव कहा है ।

शंका स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है । दोनोंमे ही कर्मको तपनेकी शक्ति समान है । फिर कैसे कहते है कि स्वाध्यायके समान तप नहीं है ?

समाधान—कर्मोंकी निर्जरांमे हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अन्य तप नहीं है इस अपेक्षासे उक्त कथन किया है ।

शंका—तप, क्या आत्माका परिणाम है अथवा नहीं है ? यदि आत्माका परिणाम तप है तो वह कैसे हुआ ? यदि तप आत्माका परिणाम नहीं है तो वह कर्मोंकी निर्जरां नहीं कर सकता जैसे घट ।

समाधान—आत्माका परिणाम ही तप है । तब आप कहेंगे कि वह बाह्य कैसे है ? समीचीन धर्ममार्गसे जो लोग बाह्य हैं वे भी उन्हें जानते है इसलिए अनशन आदिको बाह्य तप कहा है, क्योंकि बाह्य लोग भी उन्हें करते है । जो सन्मार्गको जानते है वे अभ्यन्तर है । उनके द्वारा ज्ञात होनेसे अथवा उनके द्वारा पालन किये जानेसे अभ्यन्तर कहे जाते हैं । इस प्रकार तप

प्रतिज्ञामात्रेण स्वाध्यायम्यान्वतपोभ्योऽतिशयितता न सिद्धयतीति मन्यमान प्रति अतिशयसाधनायाह—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अतोयुत्तेण ॥१०७॥

छट्टट्टमदसमदुबालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।

तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१०८॥

'ज' यत् । 'अण्णाणी' सम्यज्ज्ञानरहित । 'कम्म' कर्म । 'खवेदि' क्षपयति । 'भवसवसहस्सकोडीहिं' भवशतमहस्रकोटिभि । 'त' तत् कर्म । 'णाणी' सम्यज्ज्ञानवान् । 'तिहिं गुत्तो' त्रिगुणियुक्त । 'खवेदि' क्षपयति । 'अतोयुत्तेण' अन्तर्मुहूर्तमात्रेण । ज्ञाति कर्मशासनसामर्थ्यं तपसोऽन्यस्य न विद्यते इत्ययमतिशय स्वाध्यायस्य ॥१०७॥

स्वाध्याये उद्यतो गुप्तिभावनाया प्रवृत्तो भवति । तत्र च वृत्तस्य रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तर-गाथया कथ्यते—

सज्जायभावणाए य भाविदा होति सव्वगुत्तीओ ।

गुत्तीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ होदि ॥१०९॥

मनोवान्कायव्यापारा कर्मदानहेतव सर्व एव व्यावर्तते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तयः । कृताभिमतदियोगत्रयनिरोधश्च रत्नत्रय एव घटते इति सुखसाध्यता । अनतकालाम्ब्यस्तावुभ-

बाह्य और अभ्यन्तर कहे गये है ऐसा आचार्यका अभिप्राय है ॥१०६॥

जो कहता है कि केवल कहने मात्रसे स्वाध्यायकी अन्य तपोसे श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती, उसके प्रति श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं—

गा०—सम्यग्ज्ञानसे रहित अज्ञानी जिस कर्मको लाख करोड भवोमे नष्ट करता है, उस कर्मको सम्यग्ज्ञानी तीन गुणियोसे युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्तमात्रमे क्षय करता है ॥१०७॥

गा०—अज्ञानीके दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करनेसे जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए जानीके होती है ॥१०८॥

टी०—इतनी शीघ्रतासे कर्मोंको काटनेकी शक्ति अन्य तपमे नहीं है, यह स्वाध्यायका अतिशय है ॥१०८॥

जो स्वाध्यायमें तत्पर होता है वह गुणि भावनामे प्रवृत्त होता है । और जो गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है वह रत्नत्रयकी आराधना सुख पूर्वक करता है वह आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—स्वाध्याय भावनासे सब गुणियाँ भावित होती है । और गुणियाँ भावनासे मरते सम्य रत्नत्रय रूप परिणामोंकी आराधनामे तत्पर होता है ॥१०९॥

टी०—स्वाध्याय करनेपर मन वचन कायके सब ही व्यापार, जो कर्मों लानेमे कारण हैं चले जाते हैं । ऐसा होनेसे गुणियाँ भावित होती है । और तीनों योगोंका निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रयमे ही लगता है । अतः रत्नत्रय सुख पूर्वक साध्य होता है, इसका भाव यह है कि

योगत्रयस्य कर्मोदयसहायस्य व्यावर्तनमतिदुष्करं स्वाध्यायभावनैव क्षमा कर्तुंमिति भावः । 'सम्प्राद्यभावणाए य' स्वाध्यायभावनया वा । 'भाविवा' भाविता । 'होति' भवन्ति । 'सम्बगुप्तोओ' सर्वगुप्तय । 'गुप्तोहि' गुप्तिभिः । 'भाविवाहि' भाविताभिः । 'मरणे' मरणकाले । 'आराधयो' रत्नत्रयपरिणामाराधनपर । 'होवि' भवति । स्वाध्यायभावनारत परस्योपदेशको भवन् इतरोऽत्र कमुपकार परस्य सपादयेदभव्यस्य । १०९ ॥

परस्योपदेशकत्वे किमस्यायातमित्यत्राह—

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भक्ती ।

होदि परदेसगत्ते अब्योच्छित्ती य तित्थस्स ॥११०॥

'आदपरसमुद्धारो' आरामनः परस्य वा उद्धरणमुद्दिश्य व्यापृत स्वाध्याये स्वकर्मण्यपि साध्यति परेषामप्युपयुक्ताना । 'आणा' "श्रेयोधिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेश" (वरागच० १।१३।) इत्याज्ञा सर्वविदा, सा परिपालिता भवतीति शेषः । 'वच्छल्लदीवणा' वात्सल्यप्रभावना परेषामुपदेशकत्वे कृता भवति । 'भक्ती' भक्तिश्च कृता भवति जिनवचने तदभ्यामात् । 'होवि' भवति । 'परदेसगत्ते' परेषामुपदेशकत्वे सति । 'अब्योच्छित्ती य' अब्युच्छित्तिश्च । 'तित्थस्स' तिसु चिट्ठित्ति तित्थ मोक्षमार्गं श्रुतं वा । श्रुतमपि रत्नत्रयनिरूपणे व्यापृतत्वात् नवस्थ भवति । ततोऽत्र अर्थः—श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा अब्युच्छित्तिरिति ॥ ११०॥ सिक्खा गदा ॥

स्त्रियग्रहणानंतर ज्ञानसर्पति कार्या, ज्ञानसर्पिदि वर्तमानेन विनयोऽनुष्ठातव्यः । स च पंचप्रकार इत्याह—

विणओ पुण पंचविहो णिदिट्ठो णाणंदंसणचरिचे ।

तवविणवो य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥१११॥

अनन्तकालसे जिन तीन अशुभयोगोका इस जीवने अभ्यास किया हुआ है और कर्मका उदय जिसका सहायक है उससे अलग होना अत्यन्त कठिन है । स्वाध्यायको भावना ही इसे करनेमें समर्थ है ॥१०९॥

जो स्वाध्यायको भावनामें लीन रहता है वह दूसरोको भी उपदेश करता है किन्तु जो स्वयं अज्ञानी है वह किसी अन्य भव्यका भी क्या उपकार कर सकता है ? ऐसी स्थितिमें परको उपदेश देनेपर इसे क्या लाभ है, यह कहते हैं—

गा०—टी०—अपने और दूसरोके उद्धारके उद्देशसे जो स्वाध्यायमें लगता है वह अपने भी कर्मको काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरोके भी कर्मको काटता है । सर्वज्ञ भगवानको जो आज्ञा है कि कल्याणके इच्छुक जिन शासनके प्रेमीको नियमसे धर्मापदेश करना चाहिये, उसका भी पालन होता है । दूसरोको उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है । जिन वचनकं अभ्याससे जिन वचनमें भक्ति प्रदर्शित होती है । दूसरोको उपदेश करनेपर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थकी अब्युच्छित्ती—परम्पराका अविनाश होता है । श्रुत भी रत्नत्रयके कथनमें सलग्न होनेसे तीर्थ है । अतः स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करनेसे श्रुत और मोक्षमार्गका विच्छेद नहीं होता । वे सदा प्रवर्तित रहते हैं ॥११०॥

लिंग स्वीकार करनेके पश्चात् ज्ञानरूप सम्पदाका संचय करना चाहिये । और ज्ञान सम्पदाका संचय करते हुए विनय करनी चाहिये । उसके पाँच भेद हैं—उन्हे कहते हैं—

विनयत्यपनयति यत्कर्मशुभं तद्विनयः । तथा चोक्त—“अद्या विणेदि कम्म अट्ठविहं चाउरंम मोक्खो य” (मूलाचार ७।८१) इति । ‘पुण’ पश्चात् जिनवचनाभ्यासोत्तरकाल । ‘पंचविहो’ पंचप्रकारः । ‘णिहिट्ठो’ निर्दिष्ट । ‘णाणबंसणचरित्ते’ विषयलक्षणपथे सप्तमी । ज्ञानदर्शनचारित्रविषय ॥ ‘तबविणओ य’ तपसि विनयश्च ॥ ‘अउत्थो’ चतुर्थः । ‘अरमो’ अन्यः ॥ ‘उवयारिओ विणयो’ उपचारविनयश्चेति ॥

ज्ञानविनयभेदानाचष्टे—

काले विणये उवघाणे बहुमाणे तहेव णिणहवणे ।

वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो ॥११२॥

‘काले’ स्वाध्यायवाचनकालाविह कालशब्देन गृह्यते । अन्यथा कालमन्तरेण कस्यचिदपि वृत्त्यभावात् कालग्रहणमनर्थकं स्यात् । भवतु नाम कालविशेष कालशब्दवाच्यं तथापि नामो विनयो न कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्सर्वस्याकर्मवत्ता प्राप्नुयात् । ‘काले’ इति सप्तम्यत पद । तेन वाक्यशेषपुरस्सरोज्य सूत्रार्थो जायते । साध्याहारत्वात् मर्व सूत्राणा । काले अध्ययनमिति । पार्वर्जनीयत्वेन निर्दिष्ट काल सध्यापूर्व-दिग्दाहोल्कापातादिक परिहृत्याध्ययन कर्म विनयति इति विणए इति प्रथमान्तः । विनयः श्रुतश्रुतधर-माहात्म्यस्तवन श्रुतश्रुतधरभक्तिरिति यावत् ।

गा०—जिनवचनके अभ्यासके पश्चात् विनय पाँच प्रकारकी कही है । ज्ञानविनय दर्शन-विनय चारित्रविनय और चतुर्थ तपविनय और अन्तिम उपचार विनय है ॥१११॥

टी०—‘विनयति’ जो अशुभ कर्मको दूर करती है वह विनय है । कहा है—यत आठ प्रकारके कर्मको दूर करती है अतः विनय है ॥१११॥

ज्ञान विनयके भेदोको कहते है—

गा०—काल, विनय, उपधान, बहुमान, तथा निद्वव, व्यजनशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि ये ज्ञानके विषयमे आठ प्रकारकी विनय है ॥११२॥

टी०—यहाँ काल शब्दसे स्वाध्यायकाल और वाचन काल ग्रहण किये जाते है । अन्यथा कालके बिना किसीका भी अस्तित्व सभव न होनेसे कालका ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा ।

शका—काल शब्दका वाच्य काल विशेष रहो । किन्तु काल विनय नहीं है क्योंकि काल कर्मको नष्ट नहीं करता । यदि करे तो सब ही जीव कर्म रहित हो जायेगे ?

समाधान—‘काले’ यह सप्तमी विभक्तिसे युक्त पद है अतः इसके साथमे शेष वाक्य जोड़ने से सूत्रार्थ होता है; क्योंकि सभी सूत्र अध्याहार सहित होते है । उनमे ऊपरसे कुछ वाक्य जोड़ना होता है । अतः ‘कालमे अध्ययन’ यह उसका अर्थ होता है । मन्ध्या, पूर्व, किसी, दिशामे आग लगना, उल्कापात आदि जो काल छोड़ने योग्य कहे है उन कालोको छोड़कर किया गया अध्ययन कर्मको नष्ट करता है । ‘विणए’ यह प्रथमान्त शब्द है । श्रुत और श्रुतके धारकोके माहात्म्यका स्तवन अर्थात् श्रुत और श्रुतके धारकोकी भक्ति विनय है ।

१ ‘काले’ प्राप्नुयात्’ इत्येतद् प्रतिषु उत्थानिकारूपेण लिखितम् ।

'उबहाणे' अवग्रहः । यावद्विबन्धनयोर्गद्धार निष्ठाभूषति तावद्विद मया न भोक्तव्य, इद अनशन चतुर्थ-  
षष्ठादिक करिष्यामीति सकल्पः । स च कर्म व्यपनयतीति विनय ।

'बहुभाषे' सन्मानं । शुचे कृताजलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनसः सादरमध्ययन । 'तह' तथा ।

'अणिह्ववणे' अनिल्लवश्च निल्लवोऽपलाप । कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यान्यो गुरुरित्यभिधानमपलापः ।  
बंजण अत्थ तदुभये' व्यंजन शब्दप्रकाशन, अर्थ शब्दवाच्यः, तदुभयशब्देन व्यंजनमर्थश्च निर्दिश्यते । बज्जण  
अत्यतदुभये व्यंजन च अर्थश्च तदुभय चेति द्वे द्वे कृते सर्वो द्वे द्वे विभावया एकवद् भवतीति एकवद्भावावार्थस्य  
एकवचन कृत । अर्थशब्दस्य अजाद्यदतत्त्वादल्पात्तरत्वाच्च पूर्वनिपातप्रसंग इति चेन्न, सर्वतोऽभ्याहितं पूर्वं  
निपतति इति व्यंजनशब्दं पूर्वं प्रयुज्यते । कथमभ्यहितं ? स्वयं परप्रत्ययहेतुत्वात्स्वयं च शब्दश्रुतादेवार्थया-  
शात्म्यमवैति पर चावबोधयति । अत्र च 'बंजणअत्थतदुभये सुद्धो' इति शेषः ।

तत्र व्यंजनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्विंशशङ्खोपवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषां तथैव पाठः ।  
शब्दश्रुत्यापि व्यज्यते ज्ञायते अनेनेति विग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूलं हि श्रुतज्ञानं ।

उपधानका अर्थ अवग्रह है । जब तक आगमका यह अनुयोगद्वारा समाप्त नहीं होता तब  
तक मैं अभुक्त वस्तु नहीं खाऊँगा । या यह अनशन या चतुर्थ अथवा षष्ठम उपवास करूँगा इस  
प्रकारका संकल्प अवग्रह है । वह भी कर्मको दूर करता है अतः विनय है ।

बहुमाणका अर्थ सन्मान है । पवित्र हो, दोनो हाथ जोड़ और मनका निश्चल करके  
सादर अध्ययन बहुमान है ।

निल्लव अपलापको कहते हैं । किसीके पासमे अध्ययन करके उससे अन्यको गुरु कहना है  
अपलाप है ।

व्यंजन शब्दके प्रकाशनको कहते हैं । शब्दके वाच्यको अर्थ कहते हैं । 'तदुभय' शब्दसे  
व्यंजन और अर्थ कहे जाते हैं । 'व्यंजन और अर्थ और तदुभय' इस प्रकार द्वन्द्व समास करनेपर  
सब द्वन्द्वोमे विकल्पसे एकवद्भाव होता है इसलिये एक वचन किया है ।

शंका—अर्थ शब्दके आदिमे अच् होनेसे और अन्य अच्वाला होनेसे पूर्व निपातका अर्थात्  
प्रथम रखनेका प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो सबसे पूज्य होता है वह प्रथम रखा जाता है इसलिये  
व्यंजन शब्दका प्रयोग पहले किया है ।

शंका—व्यंजन सबसे पूज्य क्यों है ?

समाधान—व्यंजन अर्थात् शब्द स्वयं दूसरोको ज्ञान करानेमे हेतु है, और स्वयं शब्द श्रुत  
से ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता है तथा दूसरोको ज्ञान कराता है ।

यहाँ व्यंजन अर्थ और तदुभयके साथ शुद्धि शब्द लगाना चाहिये । गणधर आदिने जैसे  
बत्तीस दोषोसे रहित सूत्र रचे है उनका वैसे ही पाठ व्यंजन शुद्धि है । 'व्यज्यते' अर्थात् जिसके  
द्वारा जाना जाता है ऐसा विग्रह करनेपर ज्ञान शब्दसे शब्दश्रुतका भी ग्रहण होता है क्योंकि  
श्रुतज्ञानका मूल शब्द है ।



अथ अर्थशब्देन किमुच्यते ? व्यंजनशब्दस्य 'सानिध्यावर्धशब्द' शब्दाभिधेये वर्तते, तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति गृह्यते । तस्य का शुद्धिः ? 'प्रविपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणाया अर्थाधारत्वात्प्रतिरूपणाया अवैपरीत्यस्य अर्थ-शुद्धिरित्युच्यते । सूत्रार्थनिरूपणाया शब्दश्रुतत्वादाविपरीतनिरूपणापि व्यंजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः कदाचिदिति चेत्, न परकृत शब्दश्रुताविपरीतपाठे । व्यंजनशुद्धिस्तदर्थनिरूपणाया अवैपरीत्य अर्थशुद्धिः । प्रत्ययश्रुते तु अर्थयाथात्म्यप्रतिभासोऽर्थशुद्धिः ॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यंजनस्य अर्थस्य च शुद्धिः ।

ननु व्यंजनार्थशुद्धयो प्रतिपादितयो तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति तत कथमष्टविधता ? अनोच्यते-पुरुषभेदापेक्षयेयं निरूपणा—

कश्चिदविपरीत सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं पठति । ततथा न कार्यमिति व्यंजनशुद्धिरुक्ता । अन्यस्तु सूत्रमविपरीतं पठन्मपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तन्निराकृतयेऽर्थशुद्धिरुदाहृता । अपरस्तु सूत्र विपरीतमघाते सूत्रार्थं च कथयितुकामो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुपन्यस्ता । अयमष्ट-प्रकारो ज्ञानाभासपरिकरोऽष्टविध कर्म विनयति व्यनयति विनयशब्दवाच्यो भवतीति सुरैरभिप्राय ॥११२॥

व्यंजन शब्दकी समीपतासे अर्थशब्द शब्दके वाच्यको कहता है अतः अर्थसे सूत्रार्थका ग्रहण होता है । अविपरीत रूपसे सूत्रके अर्थकी निरूपणामें निरूपणाका आधार अर्थ होता है । अतः निरूपणाकी अविपरीतताको अर्थ शुद्धि कहते हैं अर्थात् सूत्रके अर्थका यथायं कथन अर्थ शुद्धि है ।

शंका—सूत्रके अर्थकी निरूपणा शब्दश्रुत रूप होती है अतः अविपरीत निरूपणा भी व्यंजन शुद्धि ही हुई, अर्थ शुद्धि कभी भी नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दूसरेके द्वारा किया गया शब्दश्रुतका अविपरीत पाठ व्यंजन शुद्धि है । और उसके अर्थका अविपरीत निरूपण अर्थ शुद्धि है । किन्तु ज्ञानरूप श्रुतमे अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान अर्थ शुद्धि है । व्यंजन और अर्थकी शुद्धिको तदुभय शुद्धि कहते हैं ।

शंका—व्यंजन शुद्धि और अर्थशुद्धिके कहनेपर तदुभय शुद्धि आ जाती है क्योंकि उन दोनों शुद्धियोंके बिना तदुभय शुद्धि नहीं होती । तब आठ भेद कैसे रहे ?

समाधान—यह निरूपणा पुरुष भेदकी अपेक्षामे है । कोई व्यक्ति सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है किन्तु सूत्रको विपरीत पढ़ता है । ऐसा नहीं करना चाहिये इसके लिए व्यंजन शुद्धि कही है । दूसरा व्यक्ति सूत्र तो ठीक पढ़ता है किन्तु सूत्रका अर्थ अन्यथा कहता है उसके निराकरणके लिये अर्थ शुद्धि कही । तीसरा व्यक्ति सूत्रको ठीक नहीं पढ़ता और सूत्रका अर्थ भी विपरीत करता है । इन दोनोंको दूर करनेके लिये उभय शुद्धि कही है । यह आठ प्रकारका ज्ञानाभ्यासका परिकर आठ प्रकारके कर्मोंका विनयन करता है उन्हे दूर करता है इसलिये उसे विनय शब्दसे कहते हैं यह आचार्यका अभिप्राय है ॥११२॥

दर्शनविनयसूचनपरोत्तरगाथा—

उवगूहणा'दिया पुव्वुत्ता तह भत्तिया'दिया य गुणा ।  
संकादिवज्जणं पि णेओ सम्मतविणओ सो ॥११३॥

उवगूहणाविद्या उपवृहणादिका । उपवृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना चेत्येते । 'पुव्वुत्ता' पूर्वाचार्यैरुक्ताः पूर्वोक्ता । अस्मात् सूत्रात्पूर्वेण व सूत्रेण "उवगूहणादिविकरण वच्छल्लपभावणा भणिदा" इत्यनेनोक्ताः पूर्वमुक्ता । पूर्वोक्तो वा सम्मतविणओ सम्यक्त्वविनय इति मवधनीय । 'तथ भत्तियादिना य गुणा' तथा भक्त्यादिकाश्च गुणा' विनयस्तथा ते तत्प्रकारेण अवस्थिता इति । अर्हदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत् । 'संकादिवज्जणं पि य' शकादिवर्जनं च । चशब्दः पादपूरण । 'णेओ' ज्ञेय ॥ 'सम्मतविणओ' सम्यक्त्वविनय इति ॥ उपवृहणादीना भक्त्यादीना च गुणाना बहुत्वात् तेषामेव च विनयत्वात् सम्मतविणया इति वाच्यमिति चेत्, विनयसामान्यापेक्षया तस्वीकत्वादेकवचनेन पदसंस्कार कृतो न निवर्तते । न च पदातर-वाच्यापेक्षया बहुत्वमस्तीत्येतावता अप्रतिपदिकात् सुबुत्पद्यते । तथा च प्रयोग वृक्षा वनमिति ॥११३॥

चारित्रविनयनिरूपणापरा गाथा—

इदियकसायपणिभाणं पि य गुत्तीओ चैव समिदीओ ।  
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥११४॥

आगे दर्शनविनयका कथन करते हैं—

शा०—पूर्वोक्त उपगूहण या उपवृहण आदि तथा भक्ति आदि गुण, शका आदिका त्याग यह सम्यक्त्वविनय जानो ॥११३॥

टी०—पूर्वोक्त अर्थात् पूर्वाचार्यिके द्वारा कहे गये, या इससे पहलके गाथा सूत्र 'उवगूहण द्विदिकरणं वच्छल्लपभावणा भणिदा' के द्वारा कहे गये उपवृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये गुण सम्यक्त्वविनय हैं । तथा अर्हन्त आदि विषयक भक्ति आदि गुण सम्यक्त्वविनय हैं और शंका आदि दोषोका त्याग सम्यक्त्व विनय है ।

शंका—उपवृहण आदि और भक्ति आदि गुण बहुत हैं और वे गुण ही सम्यक्त्वकी विनय रूप हैं । इस स्थिति में गाथामें 'सम्मतविणया' इस प्रकार बहुवचनका प्रयोग करना चाहिये ?

समाधान—विनय सामान्यकी अपेक्षा सम्यक्त्व विनय एक है अतः एक वचन पदका प्रयोग किया है । विनय पदके वाच्य बहुत होनेसे बहुपना संभव नहीं है क्योंकि 'वृक्षा वनम्' ऐसा शब्दकोश है जहाँ बहुत वृक्षा बहुत होनेसे 'वन' में बहुवचनका प्रयोग जैसे नहीं हुआ वैसे ही यहाँ भी जानना ॥११३॥

अब चारित्र विनयका कथन करते हैं—

शा०—इन्द्रिय और कषायरूपसे आत्माकी परिणति न होना, और गुप्तियाँ और समितियाँ, यह संक्षेपसे चारित्र विनय ज्ञातव्य है ॥११४॥

१ णमादीया ज० । २ भत्तियादि गुणा ज० ।

इन्द्रियकसावधिपरिधायां च य । इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रियं । यत्करण तत्कर्तृमध्या—परगु । करणं च चक्षुरादिकं । तेनास्य कर्त्रा केनचिद्भाव्यमिति । तच्च द्विविधं द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रिय नाम निर्बुत्पुपकरणो । मसूरिकादिसस्थानो य शरीरावयव । कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्बुत्ति । उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनमिन्द्रियमनेनेत्पुपकरण अक्षिपत्रशुक्लकृष्णातारकादिकं । भावेन्द्रिय नाम ज्ञानावरणक्षयोपशम-विशेषोपलब्धिः, द्रव्येन्द्रियनिमित्तरूपाद्युपलब्धिद्वयः । इह इन्द्रियशब्देन मनोज्ञानमनोज्ञरूपादिसान्निध्ये रागकोपा-नुगरूपादिनिर्मासाः प्रतीतयो गृह्यताः ।

कषयति हिमति आत्मक्षेत्रमिति कषायाः । अथवा तर्हणा 'वल्कलरस' कषाय, कषाय इव कषाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ वर्तते कषायशब्द उपमायं । यथा कषायो वस्त्रादे शौक्यशुद्धिमपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वात्मनो ज्ञानदर्शनशुद्धिं विनाशयति, आत्मावलम्बश्च दुःखेनापोहते इति । यथा वा पटादे स्थेयं करोति कषायस्तद्भवेव कर्मणा स्थितिप्रकर्षमात्मनि निबध्नाति क्रोधादि । इन्द्रियाणि च कषायान्च इन्द्रिय-कषाया । इन्द्रियकषाययो अप्रणिधान अनाश्लेष आत्मनो व्यावर्णितेन्द्रियकषायापरिणति । 'गुप्ती ओ वेव' गुप्त्यश्च । संसारकारणात्मात्मनो गोपनं गुप्ति ।

ससारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि । तस्मात्ससारकारणादात्मनो

टी०—इन्द्र आत्माको कहते है । उसका लिङ्ग इन्द्रिय है । जो करण होता है वह कर्ताबाला है जैसे परगु । चक्षु आदि करण है । अतः उनका कोई कर्ता होना चाहिये । वह इन्द्रिय दो प्रकार का है—भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । उनमेंसे निर्बुत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय है । कर्मकेद्वारा जो मसूर आदिके आकाररूप शरीरका अवयव रचा जाता है वह निर्बुत्ति है । और जिसके द्वारा ज्ञानकी साधन इन्द्रिय उपकृत होती है वह उपकरण है । जैसे आँखके पलक, आँखकी काली सफेद तारिका । ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषकी प्राप्तिको भावेन्द्रिय कहते हैं । और द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे जो रूपादिका बोध होता है वह भी भावेन्द्रिय है । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादिके प्राप्त होनेपर जो राग और कोपको लिये हुए रूपादिकी प्रतीति होती है उनको ग्रहण किया है ।

जो 'कषयन्ति' आत्माका घात करती है वे कषाय हैं । अथवा वृक्षकी छालके रसको कषाय कहते हैं । कषायके समान जो है वह कषाय है । इस उपमाके द्वारा क्रोधादिको कषाय शब्दसे कहते हैं । यह उपमा रूप अर्थ है । जैसे कषाय—वृक्षकी छालका रस यदि वस्त्रपर लग जाता है तो उसकी सफेदीको हर लेता है और उसे दूर करना अशक्य होता है । उसी तरह क्रोधादि आत्माकी ज्ञान दर्शन रूप शुद्धिको नष्ट कर देता है । और आत्मासे सम्बद्ध होनेपर बड़े कष्टसे छूटता है । तथा जैसे कषाय वस्त्रादिको टिकाऊ करती है वैसे ही क्रोधादि आत्मामें कर्मों की स्थितिको रक्षते हैं । इन इन्द्रिय और कषायमें अप्रणिधान अर्थात् आत्माका कहे गये इन्द्रिय और कषाय रूपसे परिणत न होना चारित्र्य विनय है ।

ससारके कारणोंसे आत्माके गोपनको गुप्ति कहते हैं । द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन भाव परिवर्तन और भव परिवर्तन रूप ससारके कारण ज्ञानावरण आदि कर्म हैं ।

गोपन रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते । भावे क्ति, अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिः । गोपयतीति कर्तृसाधनो वा क्तिन् । शब्दाद्यव्यवस्थेयम् । किं स्वरूप तस्या इति चेत् । सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । काय-बाह्यमन कर्मणा प्राकाम्याभावो निग्रहः, यथेष्टैवारिताभावो गुप्तिः । सम्यगिति विशेषणत्व्यापूरस्सरा क्रिया संयतो महानयमिति यशस्वानपेक्ष्य पारलौकिकार्थवियसुख वा क्रियमाणा गुप्तिरिति कथ्यते । इति सूरयो व्यवस्थिता । रागकोपाभ्या अनुपप्लुता नोद्द्रियमति मनोगुप्तिरिति भूमहे । एव चाय वक्ष्यति सूत्रकारो 'आ रागादिष्विष्यतो मणस्स जाणाहि त मणोगुप्ति' मिति । अनृतपरवक्कशमिध्यात्वासयमनिमित्तवचनाना अवक्तृता वागुप्ति । अप्रमनतया यदप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितभूभागोऽचक्रमण, द्रव्यातरादाननिक्षेपशयनासन-क्रियाणां अकरण कायगुप्ति कायोत्सर्गो वा ।

'समिबो' समितय । प्राणिपीडापरिहारादरवत सम्यगयन प्रवृत्ति समिति । सम्यन्विशेषणा-ज्जीवनिकायस्वरूपज्ञानश्रद्धानपूरस्सरा प्रवृत्तिर्गृहीता । ईर्ष्याभ्रापैषणादाननिक्षेपोत्सर्गो पञ्चसमितयः । ईर्ष्यादि-समितीना वाक्कायगुप्तिभ्या अविशेषस्ततो भेदेनोपादानमनर्थकं, प्राणिपीडाकारिण्याः कायक्रियाया निवृत्ति-कायगुप्ति, ईर्ष्यादिसमितयश्च तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिरूपा । अद्रोभ्यते—निवृत्तिरूपा गुप्तय प्रवृत्तिरूपा समितयः इति भेदे विशिष्टा गमनभाषणाम्यवहरणग्रहणनिक्षेपणोत्सर्गक्रिया समितय इति उच्यन्ते । 'एसो'

उन ससारके कारणोसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा गुप्ति कही जाती है । यहाँ भाव साधनमे क्ति प्रत्यय हुआ है । अथवा अपादान साधन कर लेना । जिससे गोपन हो वह गुप्ति है । अथवा जो रक्षा करता है वह गुप्ति है इस कर्तृसाधनमें किन् प्रत्यय करनेसे गुप्ति शब्द बनता है, यह शब्दार्थ व्यवस्था है । गुप्तिका स्वरूप दूसरा है योगके सम्यक् निग्रहको गुप्ति कहते हैं । काय, वचन और मनकी क्रियाओकी स्वेच्छारिताके अभावको निग्रह कहते हैं । स्वेच्छाचारिताका अभाव गुप्ति है । सम्यक् विशेषणसे पूजा पूर्वक क्रियाकी और यह महान संयमो है इस यशकी अपेक्षाके बिना तथा पारलौकिक इन्द्रिय सुखकी इच्छाके बिना जो योग निग्रह किया जाता है वह गुप्ति कही जाती है । ऐसा आचार्योंने कहा है ।

मनका राग और क्रोध आदिसे अप्रभावित होना मनोगुप्ति है । आगे ग्रन्थकार कहेंगे—मनका रागादिसे निवृत्त होना मनोगुप्ति है । असत्य, कठोर और कर्कश वचनोको तथा मिध्यात्व और असंयमसे निमित्त वचनोको न बोलना वचनगुप्ति है । अप्रमादी होनेसे बिना देखी और बिना बुहारी हुई भूमिसे गमन न करना तथा किसी वस्तुका उठाना रखना, सोना बैठना आदि क्रियाओका न करना कायगुप्ति है । अथवा कायसे ममत्वका त्याग कायगुप्ति है ।

प्राणियोको पीडा न हो, इस भावसे सम्यक् रूपसे प्रवृत्ति करना समिति है । सम्यक् विशेषणसे जीवके समूहोके स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक प्रवृत्ति ली गई है । समिति पाँच है—ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ।

हांका—ईर्ष्या आदि समितियाँ वचन गुप्ति और काय गुप्तिसे भिन्न नहीं हैं । अतः उनका अलगसे कथन व्यर्थ है, क्योंकि प्राणियोको पीडा पहुँचाने वाली शारीरिक क्रियासे निवृत्तिको काय गुप्ति कहते हैं । ईर्ष्या आदि समितियाँ भी उसी प्रकारकी कायक्रियाकी निवृत्ति रूप हैं ।

समाधान—गुप्तियाँ निवृत्ति रूप हैं और समितियाँ प्रवृत्ति रूप हैं, यह इन दोनोंमे भेद है ।

एष । 'चारित्र्यविनय' चारित्र्यविनयः । 'समासबो' संक्षेपतः । 'शास्त्रबो' शास्त्रव्य । 'होषि' भवति ।

इन्द्रियकषायाप्रणिधान मनोगुप्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते ? सत्यम् । वाक्कायगुप्तयोरेव गुत्तीओ इत्यनेन परिग्रह । अथवा रागद्वेषमिथ्यात्वाद्यशुभपरिणामविरहो मनोगुप्ति सामान्यभूता । इन्द्रियकषायाप्रणिधानं तद्विशेष । सामान्यविशेषयोश्च कथञ्चिद्भेदान्न पीनरूपस्यं । मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि इन्द्रियकषायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादान चारित्र्यार्थिनोऽवश्यं परिहार्यत्वस्यापनार्थं वा ।

ननु त्रयोदशविध चारित्र्यं पंच महाव्रतानि, पंच समितयः, तिष्ठी गुप्तय इति । तत समितीना गुप्तीना चारित्र्यत्वं चारित्र्यस्य विनय इति कथं भेदेनाभिधानं ? व्रतान्धेवाग्यत्र चारित्र्यशब्देनोच्यते । तथा परिकरत्वेनावस्थिता गुप्तय समितयश्चेति सूत्रकारस्याभिप्रायः । तथा बोक्तव्यं 'कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्यञ्ज विरति' अहिंसाभेदेन पंचप्रकारा गुप्तिरसमितिर्विस्तार' संक्षेपो भवति । कश्चारित्र्यविनयव्यास' इति चेत् पंचविंशतिभावना । 'तत्त्वैर्याथं भावनाः पञ्च पचेति' (त० सू० ७।९) निरूपिता ॥११४॥

गमन, भाषण, भोजन, ग्रहणनिक्षेप औः मल मूत्र त्याग रूप क्रियाको समिति कहते है । ये सब संक्षेपसे चारित्र्य विनय है ।

शंका—इन्द्रिय और कषायमे उपयोग न लगाना तो मनोगुप्ति ही है, उसे पृथक् क्यों कहा ?

समाधान—आपका कहना सत्य है । यहाँ 'गुत्तीओ' से वचन गुप्ति और कायगुप्तिका हो ग्रहण किया है ।

अथवा रागद्वेष मिथ्यात्व आदि अशुभ परिणामोका अभाव सामान्य मनोगुप्ति है । और इन्द्रिय तथा कषायमे उपयोगका न होना विशेष मनोगुप्ति है । और सामान्य तथा विशेषमे कथञ्चित् भेद होनेसे पुनरुक्तता दोष नहीं है । अथवा इन्द्रिय और कषायका अप्रणिधान यद्यपि मनोगुप्तिमे आ जाता है फिर भी उसका पृथक् ग्रहण चारित्र्यके इच्छुकोंको उसका त्याग अवश्य करना चाहिये, यह बतलानेके लिये किया है ।

शंका—चारित्र्यके तेरह भेद है—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति । अत समिति और गुप्ति चारित्र्य है । तब इन्हें चारित्र्यकी विनयके रूपमें भिन्न क्यों कहा है ?

समाधान—यहाँ चारित्र्य शब्दसे व्रत ही कहे गये है । गुप्ति और समितियाँ उन व्रतोंके परिकर रूपसे स्थित हैं यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । अन्य आचार्योंने भी कहा है—कर्माँको लानेमे निमित्त क्रियाओसे विरति अहिंसा आदिके भेदसे पाँच प्रकारकी है । गुप्ति समिति उनका विस्तार है ।

शंका—चारित्र्य विनयका विस्तार क्या है ?

समाधान—पाँच व्रतोंकी पञ्चीस भावना विस्तार है । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—उन व्रतोंकी स्थिरताके लिये पाँच-पाँच भावना है ॥११४॥

पणिधानं पि य दुविहं इंदिय णोइंदियं च बोधव्वं ।

सदादि इंदियं पुण कोधाईयं भवे इदरं ॥११५॥

सहरसरूवगंघे फासे य मणोहरे य इयरे य ।

जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधानं ॥११६॥

णोइंदियपणिधानं कोघां माणो तधेव माया य ।

लोभो य णोकसाया मणपणिधानं तु त वज्जे ॥११७॥

तपोनिरूपणाद्यं गाथाद्वयमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सदुदाए ।

आवासयाणमुच्चिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ ॥११८॥

सम्यग्दर्शनज्ञानाम्यामुत्तरकालभावित्वात्सयम उत्तरगुणशब्देनोच्यते । न हि श्रद्धान ज्ञान चातरेण सयम प्रवर्तते । अजानत श्रद्धानरहितस्य वाजसयमपरिहारो न सभाव्यते । तेनायमर्थ —सयमोद्योग<sup>१</sup> इति तपसो निर्जराहेतुता सति सयमे, नान्यथेति तपस सयम परिकर । तथा चाहु 'सजमहोण च तव जो कुणइ गिरत्थयं कुणइ' इति । 'सम्मं' सम्यक् । सकलेश दैन्य चानरेण 'अधियासणं' सहन क्षुधादे ।

गा०—प्रणिधानके भी दो भेद है इन्द्रिय और नोइन्द्रिय । शब्द आदि इन्द्रिय और क्रोधादिक नोइन्द्रिय प्रणिधान है ऐसा जानना ॥ ११५ ॥

गा०—मनोहर और अमनोहर शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शमे जो राग द्वेष होता है वह पाँच प्रकारका इन्द्रिय प्रणिधान होता है ॥ ११६ ॥

गा०—नो इन्द्रिय प्रणिधान क्रोध मान तथा माया लोभ और नोकषाय है । ये तो मन प्रणिधान छोड़ना चाहिये<sup>२</sup> ॥ ११७ ॥

तपका कथन करनेके लिये आगे दो गाथा कहत है—

गा०—उत्तर गुण अर्थात् संयममे उद्यम सम्यक् रीतिसे भूख प्यास आदिको सहन करना, तपमे अनुराग पहले कहे गये छह आवश्यककोकी न्यूनता न होना आधिक्य न होना ॥ ११८ ॥

टी०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके उत्तर कालमे होनेसे सयमको उत्तरगुण कहते हैं । श्रद्धान और ज्ञानके बिना सयम नहीं होता । अथवा जो जानता नहीं है और न जिसे श्रद्धा है वह असंयमका त्याग नहीं कर सकता । इससे यह अर्थ हुआ कि सयमके होने पर तप निर्जराका कारण होता है, अन्यथा नहीं होता । इन प्रकार संयम तपका परिकर है । कहा भी है—'जो

१ द्योततपसो—आ० मु० । २. गा० ११४, ११५, ११६ पर टीका नहीं है । आशाधरजीने अपनी टीकामे कहा है कि टीकाकार इन्हे स्वीकार नहीं करता ।—सं० ।

अनशानावमोदयं वृत्तिपरिसंस्थानेषु क्षुत्क्षुब्धजनितवेदनया अव्याकुलता, कश्मिदमुद्ग्रहामिति वा अधीनता, भक्तपानयोर्भानसोऽग्निधानं, अदिम पिवाभीति वा भक्तकथापरित्यागं, तत्कथनानादर इतस्ततश्चापरिवर्तनं श्रुत्वा तुषा वा बाधितोऽस्मीति एवं वचन सहन, अथवा भोजनदिवसे याचाया अकरण, श्रातोऽभ्युपवासेन रूक्ष भोक्तुं न शक्नोमि क्षीरघृतशर्करादिक दातव्यमिति वचनेन याचाया अकरणं, मनसा वा यदीद लभ्यते भद्र स्यात् इति वाऽप्रार्थना, कायसञ्जया वा क्षीरादीनामप्रदर्शनं क्षीरादिदाने वाऽहृत्सितायामानमुखता, शीतरूक्षाद्या-हारदाने वा अक्रुपिताननता, अलाभेऽपि लाभादलामो मे पर तपोवृद्धिरिति सकल्पेनालानपरीषहसहन वा, अथवा लौकिकाना धर्मस्थाना वा सत्कारपुरस्काराकरणे तपसि महति वर्तमानोऽयहमेतेषा न पूजित इति कोपसम्प्लेशाकरणं । सत्कारपुरस्कारपरीषहसहन वा ।

रसपरित्यागं कृतवत् रसवदाहारकथादर्शनोपजायमानतदादरनिवारण रसपरित्यागजातशरीरसतापक्षमा वा सहन । आतापयोगधारिणो धर्माद्युपनिपाते असविलष्टचित्तता तत्प्रतीकारवस्तुषु अनादरश्च सहन । जनविविक्तदेगे वमत पिशाचव्यालमृगाश्वलोकादिकृतभोतिव्युदासोऽरतिविजयश्च सहन । प्रायश्चित्तमाचरतोऽपि महदिद दत्त गुरुणा बलाबलं ममानिरूप्येति कोपाकरण, प्रायश्चित्तकरणजनितश्रमेण वा असविलष्टतासहन । ज्ञानविनये वर्तमानस्य क्षेत्रकालशुद्धिकरणे मामैव नियोजयति इति कोपनिरासो वा, तद्गतश्रमे असकलेशश्च सहन । दर्शनविनये अभ्युद्यतस्य सन्मार्गादिप्रव्यवमानस्य स्थिरीकरणं महानायास,

मयमके बिना तप करता है वह निरर्थक करता है । 'सम्मं' का अर्थ सम्यक् है अर्थात् सकलेश और दीनताके बिना भूख आदिका सहन करना । अनशन, अवमोदयं और वृत्ति परिसंस्थान नामक तपोमें भूख प्याससे होने वाली वेदनासे व्याकुल न होना कि कैसे इसे सहेंगा । अथवा अदीनता, खान-पानमें मनको न लगाना, मैं खाता हूँ पीता हूँ इस रूपमें भोजनकी कथा न करना, उसकी कथामें आदर भाव न रखना, इधर उधर नहीं घूमना, मैं भूख या प्याससे पीडित हूँ इस प्रकारके वचनको सहन करना, अथवा भोजनके दिन माँगना नहीं, मैं उपवासमें कमजोर हो गया हूँ, रूखा भोजन नहीं कर सकता, दूध घी शक्कर आदि देना चाहिये । इस प्रकारके वचनसे याचना नहीं करना अथवा यदि अमुक वस्तु प्राप्त हो तो उत्तम है ऐसी मनसे प्रार्थना न करना अथवा शरीरके सकेतसे दूध आदिको न दिखलाना, अथवा दाता दूध आदि दे तो मुखको प्रफुल्लित न करना और ठडा रूखा आहारादि दे तो मुख पर क्रोध न लाना अथवा भोजन न मिलने पर लाभसे अलाभमे मेरे तपकी परम वृद्धि है ऐसा संकल्प करके अलाभ परीषहको सहना, अथवा लौकिक या धर्मतमा पुरुषोके द्वारा आदर सम्मान न करने पर 'मैं महान् तपस्वी हूँ फिर भी इन्होंने मेरी पूजा नहीं की' इस प्रकारका कोप और सकलेश न करना, अथवा सत्कार पुरस्कार परीषहको सहना ।

यदि रसका त्याग किया है तो रस युक्त आहारकी कथा अथवा रस युक्त आहारको देखनेसे उसके प्रति उत्पन्न हुए आदर भावका निवारण करना, रसको त्यागनेसे शरीरमें उत्पन्न हुए सतापको सहना । यदि आताप योग धारण किया है तो घूप आदि आने पर चित्तमें संकलेश न करना, और उसका प्रतीकार करने वाली वस्तुओमें आदर भाव न करना, मनुष्योसे शून्य देशमें निवास करते हुए पिशाच, सर्प, मृग आदिको देखने आदिसे उत्पन्न हुए भयको रोकना तथा अरति परीषहको जीतना । प्रायश्चित्त करते हुए भी 'गुरुने मुझे मेरा बलाबल न देखकर महान् प्रायश्चित्त दे दिया' इस प्रकार कोप न करना अथवा प्रायश्चित्त करनेसे उत्पन्न हुए श्रमसे मनमें सकलेश न करना । ज्ञान विनय करते समय 'क्षेत्र शुद्धि काल शुद्धि करनेमें मुझे ही लगाते है' इस

स्वचेतसोपि श्रुजुतापादनमित्युक्तरं किमंग पुनः परस्वैत्यसंकल्पं सहनं । पुरस्कृतचारित्रविनयस्य ईर्यादिस-  
मितयो दुष्कराः । जीवनिकायाकुले जगति कियत् परिहर्तुं शक्यते ? निपुणतरं प्रतिपदव्यास जीवावलोकने  
तत्परिहृती च कियद्गन्तुं शक्यते ? तथा प्रवर्तमानं बाधन्तेतरामातपादय । त्वकोटिपरिशुद्धा भिक्षा क्व  
लप्स्यते, सलेषु कृतज्ञता वेति मनसोऽप्यप्रणिधानं चारित्रविनय । तपोविनयमुपगतस्थानशनावितपोऽनुष्ठाना-  
तिशयस्य मम स्वल्पमस्यमं अप्राप्तुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जात तप एवोन्मूलयतीति असंकल्पं  
सहन । असंकुदम्युत्थान, अनुगमन प्रेषणकरण, उपकरणशोधनादिक वा क क्तुं शक्नोति प्रतिदिनमित्यनभि-  
संधिरुप चारित्रविनयसहनं ।

‘सद्बुद्धा य’ श्रद्धा च । क्व तपसि । तपसा सपाद्यमुपकारमात्मनोज्वलोक्य बुद्ध्या तपो हि प्रत्यर्थं कर्म  
सवृणोति, चिराजिताना कर्मणा निर्जंरामापादयति, इद्रचक्रलाछनादिसपदोऽप्यानयति । समीचीनस्य तपसोऽ-  
लाभादेव जननमरणावर्तसहनं, असुखाकुले भवाभोगी पर्यटन ममासीद् भविष्यति च तर्धेव इति तपस्यनुराग  
कार्यं ।

‘आवासपाणं’ आवश्यकाना । ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासग इति व्युत्पत्तावपि सामायि-  
कादिष्वेवाय शब्दो वर्तते । व्याधिरौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवश परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्य  
कर्मेति । यथा आनु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न व्याघ्रादो वर्तते अश्वशब्दोऽपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग  
एव । एवमिहापि अवश्य यत्किञ्चन कर्म इतस्तत् परावृत्तिराक्रन्द, पूकरण वा न तद्गुण्यते अथवा आवास-

प्रकारका कोप न करना अथवा उससे होने वाले श्रमसे संकलेश भाव न करना, उसे सहना । दर्शन  
विनय करते हुए ‘सन्मार्गसे गिरते हुएको स्थिर करना बड़ा कठिन है अपने चित्तको भी सरल  
करना कठिन है फिर दूसरेका तो कहना क्या । इस प्रकार संकल्प न करना उसे सहना । चारित्र  
विनय करने वालेको, ‘ईर्या आदि समितियाँ दुष्कर हैं, यह जगत जीवोसे भरा है कहीं तक उन्हें  
बचाया जा सकता है ? अत्यन्त कुशलता पूर्वक पदको रखते हुए जीवोंको देखकर उन्हें बचाते  
हुए चलनेमे कौन समर्थ है ? इस प्रकारसे चलने पर आतप आदिकी अत्यन्त बाधा होती है ।  
दुर्जनोमे कृतज्ञताकी तरह नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा कहीं मिलती है’ इस प्रकार मनमे न सोचना  
चारित्र विनय है । तप विनय करने वालेके ‘अनशन आदि तपके अनुष्ठानमे लगे मेरे अप्राप्तुक  
जल पीने अथवा अशुद्ध भिक्षाके ग्रहणसे हुआ थोडा सा असयम तपसे नष्ट हो जाता है’ इस  
प्रकारका संकल्प न करना सहना है । ‘बार-बार उठना, पीछे जाना, आज्ञा पालना, उपकरण  
आदि शुद्धि, कौन प्रतिदिन कर सकता है’ इस प्रकारका संकल्प न करना उपचार विनय सहन  
है । तप नवीन कर्मोंका आना रोक्ता है । चिरकालसे सचित्त कर्मोंकी निर्जंरा करता है । इन्द्र,  
चक्रवर्ती आदिको सपदा भी लाता है । सम्पक् तपके अलाभसे ही जन्म मरणके चक्र और दु खसे  
भरे ससार समुद्रमे भ्रमण मुझे करना पडा है तथा करना पडेगा, इस प्रकार तपके द्वाग होने वाले  
उपकारोको अपनेमे देखकर तपमे अनुराग करना चाहिये ।

न वश, अवश और अवशका कर्म आवश्यक है । ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी सामायिक  
आदिको ही आवश्यक कहते हैं । व्याधि, दुर्बलता आदिसे पीड़ितको भी अवश या परवश कहते  
हैं, और उसके द्वारा किया गया कर्म आवश्यक है । किन्तु जैसे जो ‘आशु’ शीघ्र चलता है वह  
अश्व (घोडा) हैं ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी व्याघ्र आदिको अश्व नहीं कहते, बल्कि प्रसिद्धिवश  
घोड़ेको ही अश्व कहते हैं । वैसे ही यहाँ भी जो अवश्य कर्म हैं—यहाँ-वहाँ घूमना, रोना, चिल्लाना



काना इत्ययमर्थ । आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो, बन्दना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्ग इत्यमीषा ।

तत्र सामायिकं नाम चतुर्विध नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन । निमित्तनिरपेक्षा कस्यचिज्जीवादेरध्याहिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवत्ता आत्मना एकीभूतं शरीर यत्सादाकार-सादृश्यात्तदेवेदमिति स्थाप्यते यच्चित्रपुस्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्रव्यसामायिक नाम श्रुतस्याद्य सामायिकं नाम ग्रथ, तदर्शजो य सामायिकाख्यात्मपरिणामप्रत्ययभास प्रत्ययरूपेण साप्रतमपरिणत आत्मा । नो आगमद्रव्यसामायिक नाम यत्त्रिविकल्पं ज्ञायकशरीरभावितद्वघतिरिक्तभेदेन । सामायिकज्ञस्य यच्छरीर तदपि सामायिकज्ञानकारण, आत्मैव शरीरमतरेण तस्याभावात् । यस्य हि भावाभावो नियोगतो यदनुकरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । तत् प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगीचरं सामायिकशब्द-वाच्य भवति । चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविव्यस्तर्बसावद्योगनिवृत्तिपरिणामः सोऽभिधीयते भाविसामायिकशब्देन । चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपशमावस्थ नो आगमद्रव्यतद्वघतिरिक्त-कर्म सामायिकमिति ग्राह्य । आगमभावसामायिकं नाम प्रत्ययसामायिक । नो आगमभावसामायिक नाम सर्व-सावद्ययोगनिवृत्तिपरिणाम । अयमिह गृहीत ।

चतुर्विंशतिमख्याना तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्ताना वृषभादीना जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा

आदि, उन्हे आवश्यक नहीं कहते। अथवा 'आवासयाण' का अर्थ आवासक है। जो आत्मामें रत्नत्रयका आवास कराते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ।

उनमेंसे नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे सामायिकके चार भेद है। निमित्तकी अपेक्षाके बिना किसी जीव आदिका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक है। सर्व सावद्यके त्याग रूप परिणाम वाले आत्मके द्वारा एकीभूत शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है उस आकारके समान होनेसे 'यह वही है' इस प्रकार जो चित्र, पुस्त आदिमे स्थापना की जाती है वह स्थापना सामायिक है। द्वादशग श्रुतका आद्य ग्रन्थका नाम सामायिक है। उसके अर्थका जो ज्ञाता है जिसे सामायिक नामक आत्म परिणामका बोध है किन्तु जो वर्तमानमे उस ज्ञानरूपसे परिणत नहीं है अर्थात् उसका उपयोग उसमें नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है। नो आगम द्रव्य सामायिक ज्ञायक शरीर, भावि और तद्वघतिरिक्तके भेदसे तीन प्रकार है। सामायिकके ज्ञाता का जो शरीर है वह भी सामायिकके ज्ञानमे कारण है क्योंकि आत्मकी तरह शरीरके बिना भी ज्ञान नहीं होता। जिसके होने पर जो नियमसे होता है और अभावमे जो नहीं होता, वह उसका कारण है। ऐसी वस्तुओंमे कार्य कारणभावकी व्यवस्था है। अतः ज्ञान सामायिकका कारण होनेसे त्रिकालवर्ती शरीर सामायिक शब्दसे कहा जाता है। चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशम विशेषकी सहायतासे जो आत्मा भविव्यमे सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप परिणाम वाला होना उसे भावि सामायिक शब्दसे कहा जाता है। जो चारित्र मोहनीय नामक कर्म क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त है वह नोआगमद्रव्य तद्वघतिरिक्त सामायिक है। प्रत्यय रूप सामयिक आगमभाव सामायिक है। और सर्वसावद्य योगके त्यागरूप परिणाम नोआगमभाव सामायिक है। यहाँ इसीको ग्रहण किया है।

इस भारतमें हुए वषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोके जिनवरत्व आदि गुणोके ज्ञान और श्रद्धान

चतुर्विंशतिस्तवनपठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते ।

वदना नाम रत्नत्रयसमन्विताना यतीना आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणा गुणानिर्णय विशाय श्रद्धा-  
पुरःसरेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्ति । प्रत्येकं तयोरेकभेदता कर्तव्य केन, कस्य, कदा,  
कस्मिन्कतिवारानिति । अभ्युत्थान केनोपदिष्ट, किंवा फलमुद्दिश्य कर्तव्य ? पूर्वमेव विनय कर्तव्यतयोपदिष्ट  
सर्वोर्जनै कर्मभूमिषु सदा मानकषायभग । गुरुजने बहुमान, तीर्थकराणा आज्ञामपादन श्रुतधर्मोपराधनाक्रिया  
भावशुद्धिआर्जव, तुष्टि च फलमपेक्ष्य<sup>१</sup> केन तत् क्रियते । अमानिना, सविमनेन, अनलसंन्याशठेनानुग्रहकारपाणिना,  
परगुणप्रकाशनोद्यतेन सद्यत्सलेन । अस्यतस्य सयतासयतस्य वा नाम्युत्थानं कुर्यात्, पार्व्वस्थपचकस्य वा ।  
रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यताना अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात् । सुखशीलजनेऽभ्युत्थानं कर्मबन्धनिमित्तं प्रमाद-  
स्थापनोबुद्ध्यकरणत्वात् । सविम्वजनं प्रति क्रियमाणमभ्युत्थानं निर्जरानिमित्तं विरतिस्थापनोपबुद्ध्यकरणत्वात् ।  
वाचनामनुयोग वा शिक्षयत अवमरत्नत्रयस्याभ्युत्थातव्यं तन्मूलेऽध्ययनं कुर्वद्भिः सर्वैरेव । वसने, कायभूमित,  
भिक्षान, चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामांतराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्यं । गुरुजनदच यदा निष्कामति निष्काम्य  
प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यं । अनया दिशा यथागममितरदप्यनुगतव्यम् ।

बुद्ध्यां जहाजावं बारसावसमेव य ।

चतुस्त्रिसर तिसुदं च किविकम्मं पउंए ॥ [मूलाचार-७।१०४]

पूर्वकं चौबीस स्तवत्रकोको पठना नोआगमभाव चतुर्विंशतिस्तव है । उसीका यहाँ ग्रहण है ।

रत्नत्रयसे सहित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और स्थविर मुनियोंके गुणानिर्णयको जान-  
कर श्रद्धापूर्वक अभ्युत्थान और प्रयोगके भेदसे दो प्रकारकी विनयमे प्रवृत्तिको वदना कहते है ।  
उन अभ्युत्थान विनय और प्रयोग विनयके अनेक भेद है कि किमको किमका कब, कितनी बार  
करना चाहिये ।

शंका—अभ्युत्थानका उपदेश किसने दिया है और किस फलके उद्देशमे करना चाहिए ?

समाधान—सब जिनदेवोने कर्मभूमियोमे सदा प्रथम ही कर्तव्यरूपमे विनयका उपदेश  
दिया है । विनयसे मानकषायका विनाश होता है । गुरुजनोमे बहुमान, नीर्थद्वुगेकी आज्ञाका  
पालन, श्रुतमे कहे गये धर्मकी आराधना, परिणाम विगुद्धि, आर्जव और् मन्तोपरुप फलकी  
अपेक्षा करके विनय की जाती है । यह विनय कौन करता है ? जो मान रहित समारसे विरक्त,  
निरालसी, सरल अनुग्रह करनेका इच्छुक, दूसरोके गुणोको प्रकट करनेमे तत्पर और सधका  
प्रेमी होता है वह विनय करता है । समयमी और समयमासंयमी तथा पार्व्वस्थ आदि पाँच प्रकार-  
के भ्रष्ट मूनियोंके सम्मानमे उठना नहीं चाहिए । जो रत्नत्रय और तपमे नित्य तत्पर रहते है  
उनके प्रति उठना चाहिए । जो सुखशील साधु है उनके सम्मानमे उठना कर्मबन्धका कारण है  
क्योंकि वह प्रमादको बढानेमें कारण होता है । जो वाचना देता है अथवा अनुयोगका शिक्षण  
देता है वह अपनेसे रत्नत्रयमे न्यून भी हो तब भी उनके पासमे सब अध्ययन करनेवालोको उनके  
सम्मानमें उठकर खडा होना चाहिए । वमतिसे, कायभूमिसे, भिक्षासे, जिन मन्दिरसे, गुरुके  
पाससे अथवा ग्रामान्तरसे आनेके समय उठना चाहिए । जब-जब गुरुजन निकलते है अथवा  
निकलकर प्रवेश करते हैं तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए । इसी प्रकार आगमसे अन्य भी  
जानना चाहिए ।

इत्यादिक' प्रयोगविनय ।

प्रतिक्रमण प्रतिनिवृत्ति षोडा भिद्यते—नामस्थापनाद्रव्यसंज्ञकालमाविकल्पेन । अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमण भट्टि दारिगा सामिणी इत्यादिकमयोग्य नाम । आप्ताभासानामच्छर्वा, त्रसस्थावराणा रूपाणि लिखितान्युत्कीर्णानि वा स्थापनाशब्देनेह गृह्यन्ते । तत्राप्लाभासप्रतिमाया पुर स्थिताया यदभिमुख-तया कृताजल्पुटता, शिरोवनति, गंधादिभिरभ्यर्चनं च न कर्तव्यम् । एव सा स्थापना परिहृता भवति । त्रसस्थावरादिस्थापनानामविनाशन, अमर्दन, अताडन वा परिहार प्रतिक्रमण । वास्तुक्षेत्रादीना दशप्रका-राणा उद्गमोत्पादनैपणादोषदुष्टाना वसतीना, उपकरणाना, भिक्षाणा च परिहरण, अयोग्याना चाहारदीना, गृद्धैर्दपंस्य च कारणाना सक्लेशहेतूना वा निरसन द्रव्यप्रतिक्रमण । उदककूर्दमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जन क्षेत्रप्रतिक्रमण । यस्मिन्वा क्षेत्रे वनतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहार, तच्च कि ? ज्ञानतपोवृद्धैरनाध्यासित । रात्रिसध्याश्रयस्वाध्यायावस्यककालेषु गमनागमनादिव्यापाराकरणत् कालप्रति-

मूलाचारमे कहा है—क्रियाकर्ममे दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति, और तीन शुद्धियाँ होती है । पंचनमस्कारके आदिमे एक नमस्कार और चौबीस तीर्थकरोके स्तवनके आदिमे दूसरा नमस्कार इस प्रकार दो नमस्कार होते है—पंचनमस्कारका उच्चारण करनेके प्रारम्भमे मनवचनकायके मयमनरूप तीन शुभयोगीके सुचक तीन आवर्त होते है । पंचनमस्कारकी समाप्ति होनेपर भी उसी प्रकार तीन आवर्त होते है । इसी प्रकार चौबीस तीर्थङ्करोंके स्तवनके आदि और अन्तमे तीन-तीन आवर्त होते हैं । इस प्रकार बारह आवर्त होते है । अथवा एकबार प्रदक्षिणा करनेपर चारो दिशाओंमे चार प्रणाम होते है । इस प्रकार तीन प्रदक्षिणाओंमे बारह प्रणाम होते है । पंचनमस्कार और चतुर्विंशति स्तवके आदि और अन्तमे दोनो हाथ मुकुलितकर मस्तकसे लगाना, इस तरह चार सिग होते है । इस प्रकार मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक क्रियाकर्म होता है यह सब प्रयोग विनय है ।

दोषोसे निवृत्तिको प्रतिक्रमण कहत है । उसके छह भेद है—नामप्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण । अयोग्य नामोका उच्चारण न करना नाम प्रतिक्रमण है । भट्टिनी, दारिका, स्वामिनी इत्यादि अयोग्य नाम है । स्थापना शब्दसे यहाँ आप्ताभासोकी मूर्ति, त्रस और स्थावरोकी आकृतियाँ लिखित या खोदी हुई, ग्रहण की गई है । उनमेसे आप्ताभासोकी प्रतिमाओंके सन्मुख हाथ जोडना, सिर नमाना और गन्ध आदिसे पूजन नहीं करना चाहिए । इस प्रकार करनेसे उस स्थापनाका परिहार हो जाता है यह स्थापना प्रतिक्रमण है ।

त्रस स्थावर आदिकी स्थापनाओंको नष्ट न करना अथवा तोडना-फोडना आदि न करना स्थापना प्रतिक्रमण है । मकान खेत आदि दस प्रकारकी परिग्रहोका, उद्गम उत्पादन और एषणा दाषोसे दूषित वसतिकोओका, उपकरणोका, और भिक्षाओका, अयोग्य आहार आदिका और जो तुष्णा और मदके तथा सक्लेशके कारण है उन द्रव्योका त्याग द्रव्य प्रतिक्रमण है । जल, कोंचड और त्रस स्थावर जीवोसे भरे क्षेत्रोमे आने जानेका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है । अथवा जिस क्षेत्रमे रहनेसे रत्नत्रयकी हानि हो उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है । ऐसे क्षेत्रोमे ज्ञान और तपसे वृद्ध मुनिगण नहीं रहते, इसलिए उनमे रहना वर्जित है । रात, तीनों सन्ध्या, स्वाध्याय

क्रमण । कालस्य दुष्परिहार्यत्वात्कालाधिकरणव्यापारविशेषा कालसाहचर्यात्कालशब्देन गृहीता । मिथ्यात्वम-  
सयम, कषाय, राग, द्वेष, सज्ञा, निदान, आर्तरीद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामा, पुण्यास्त्रवभूताश्च शुभपरि-  
णामा इह भावशब्देन गृहीता गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमण इति केषांचिद्ग्राह्यात् । चतुर्विधमित्य-  
परे । निमित्तनिरपेक्ष कस्यचिन्नामशब्देन नियुज्यमान प्रतिक्रमणमित्यभिधान नामप्रतिक्रमण । अशुभपरिणा-  
माना विशिष्टजीवद्रव्यानुगतशरीराकारसादृश्यापेक्षया चित्रादिरूप स्थापित स्थापनाप्रतिक्रमण । प्रमाणनय-  
निक्षेपादिभिः प्रतिक्रमणावश्यकस्वरूपज्ञैस्तत्रानुपयुक्त प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्दे-  
नाच्यते । नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमण त्रिविध ज्ञायकशरीरभावितद्वघतिरिक्तभेदे । यथात्मा कारण प्रतिक्रमण-  
पर्यायस्य, तथा तदीयमपि शरीर त्रिकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दवाच्य भवति । चारित्रमोहक्षयोपशम-  
सान्निध्ये भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमण । क्षयोपशमावस्थामुपगत चारित्रमोह नो आगम-  
द्रव्यव्यतिरिक्तकर्म प्रतिक्रमण । प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमण । सिद्धाणामिच्छादसणमिच्छाचारि-  
त्तादो पडिविरदोमिति एवं स्वरूपज्ञान । अशुभपरिणामदोषमवबुध्य श्रद्धया तत्रप्रतिपक्षपरिणामवृत्तिर्नोआगम-  
भावप्रतिक्रमण ।

सामायिकात्<sup>१</sup> प्रतिक्रमणस्य को भेद ? सावद्योगनिवृत्ति सामायिक । प्रतिक्रमणमर्पा अशुभमनो-  
वाक्कायनिवृत्तिरेव तत्कथ षडावश्यकव्यवस्था ?

और षडावश्यकको कालमें गमन आगमन आदि व्यापार न करना काल प्रतिक्रमण है । कालका  
त्याग तो अशक्य जैसा है अतः कालमें होनेवाले कार्य विशेषोंको कालके मन्त्रन्धसे काल शब्दसे  
ग्रहण किया है । मिथ्यात्व, असयम, कषाय, राग, द्वेष, आहारादि सज्ञा, निदान, आर्त रीद्र  
इत्यादि अशुभ परिणाम और पुण्यास्त्रवभूत शुभ परिणाम यहाँ भाव शब्दसे ग्रहण किये हैं । उनसे  
निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है । ऐसा किन्ही आचार्योंका व्याख्यान है ।

अन्य आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं । निमित्तकी अपेक्षा न करके किसीका प्रति-  
क्रमण नाम रखना नामप्रतिक्रमण है । अशुभ परिणामवाले जीवोंके शरीरका जैसा आकार होता  
है उस आकारके सादृश्यकी अपेक्षासे चित्रमें अशुभ परिणामोंकी स्थापना स्थापना प्रतिक्रमण है ?  
प्रमाण नय-निक्षेप आदिके द्वारा प्रतिक्रमणनामक आवश्यकके स्वरूपका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त  
नहीं है वह प्रतिक्रमण विषयक ज्ञानका कारण होनेसे आगम द्रव्य प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है ।  
नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमणके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्घतिरिक्त । जैसे प्रतिक्रमण  
पर्यायका कारण आत्मा है वैसे उसका त्रिकालवर्ती शरीर भी कारण है इसलिए वह प्रतिक्रमण  
शब्दसे कहा जाता है । चारित्रमोहके क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मा भविष्यमें प्रतिक्रमण पर्यायरूप  
होगा वह भावि प्रतिक्रमण है । क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त चारित्रमोह कर्म नोआगमद्रव्य  
व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण है । प्रतिक्रमणरूप ज्ञान आगम भाव प्रतिक्रमण है । अर्थात् मिथ्याज्ञान,  
मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे मे विरत हूँ इस प्रकारका स्वरूपज्ञान आगमभाव प्रतिक्रमण है ।  
अशुभ परिणामके दोषको जानकर और उसपर श्रद्धा करके उसके प्रतिपक्षी शुभपरिणामोंमें प्रवृत्ति  
नोआगमभाव प्रतिक्रमण है ।

शका—सामायिक और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है ? सावद्योगसे निवृत्ति सामायिक है  
और अशुभ मनवचनकायसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है तब छह आवश्यककी व्यवस्था कैसे सम्भव है ?

अत्रोच्यते—सर्वं सावज्जयोग पञ्चकलामीति वचनाद्विसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्ययोग-  
निवृत्तिः सामायिकं । हिसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्तिः प्रतिक्रमणं ।

“मिच्छत्तपडिक्रमण, तद्देह असंयमपडिक्रमणं ।

कसाएसु पडिक्रमणं, जोगेसु अस्पसत्वेसु” ॥ [ मूलाभा० ७।१२० ]

इति वचनादिति केचित्परिहृन्ति ।

इदं त्वन्याय्य प्रतिविधानं । योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते । स च वीर्यन्तरायणयोपशमजनित-  
त्वात् क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरशुभकर्मदाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरात्मन सामायिक । मिथ्या-  
त्वमसयम कषायाश्च दर्शनचारित्रमोहोदयजा औदयिका । मिथ्यात्व तत्त्वाश्रद्धानरूपं, असंयमो हि हिसादि-  
रूप, क्रोधादयस्तु परस्परतो मिथ्यात्वादसयमाच्चानुभवसिद्धवैलक्षण्यरूपा । ये भिन्नहेतुस्वरूपास्ते नैक्यमा-  
पद्यन्ते यथा शालियवगोभ्रमादिधान्य । भिन्नहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वासयमकषाया । तेभ्यो विरतिव्यवृत्ति  
प्रतिक्रमण । सावद्ययोगमात्रनिवृत्ति सामायिकमिति भेदो महाननयो । भेदमेवाश्रित्यामीषा परिणामाना  
चदुपच्ययगो बधो इति सूत्रमवस्थित । अन्यथा योगविकल्पत्वे मिथ्यात्वादीनां चतुःसख्या न न्याय्या  
योगेन सह ।

प्रत्याख्यान नाम अनागतकालविषया क्रिया न करिष्यामि इति सकल्प । तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-  
काल भावविकल्पेन परिहृवध । अयोग्य नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यान । आप्ताभासाना

**समाधानं**—सर्वं सावद्ययोगको त्यागता हूँ इस प्रकार हिसा आदिका भेद न करके  
सामान्यसे सर्वं सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है । और हिसा आदिके भेदसे सावद्ययोगके भेद  
करके उससे निवृत्ति प्रतिक्रमण है । सूत्रमे कहा है—‘मिथ्यात्व प्रतिक्रमण’ असयम प्रतिक्रमण,  
कषाय प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योग प्रतिक्रमण होता है ।

उक्त शंकाका कोई आचार्य ऐसा उत्तर देते है किन्तु वह उचित नहीं है । योग शब्दसे  
वीर्यपरिणाम कहा जाता है । वह वीर्यपरिणाम वीर्यन्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण  
क्षायोपशमिक भाव है । उससे निवृत्ति अर्थात् अशुभकर्मको लानेमें निमित्त योगरूपसे आत्माका  
परिणमन न करना सामायिक है । मिथ्यात्व, असंयम और कषाय दर्शनमोह और चारित्रमोहके  
उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक हैं । मिथ्यात्व तत्त्वोके अश्रद्धानरूप है । असयम हिसादि-  
रूप है और क्रोधादि तो मिथ्यात्व और असयमसे विलक्षण है यह अनुभवसिद्ध है । जिनका  
हेतु और स्वरूप भिन्न होता है वे एक नहीं हो सकते जैसे शालि, जौ, गेहूँ आदि धान्य । मिथ्यात्व,  
असयम और कषायके हेतु और स्वरूप भिन्न-भिन्न है उनसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है । और सावद्य योग-  
मात्रसे निवृत्ति सामायिक है । अतः दोनोमें महान् भेद है इन परिणामोंके भेदको ही लेकर ‘चदु-  
पच्ययगो बन्धो’—बन्धके चार कारण है, यह सूत्र अवस्थित है । अन्यथा यदि मिथ्यात्व आदि  
योगके भेद हो तो फिर योगके साथ चारकी सख्या नहीं बन सकती ।

आगामी कालमे मे यह काम नहीं करूँगा, इस प्रकारके संकल्पका नाम प्रत्याख्यान है ।  
नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे उसके छह भेद हैं । मैं अयोग्य नामका

प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण ऋसस्थावरस्थापनापीडा न करिष्यामीति प्रणिधान मनस स्थापनाप्रत्याख्यान । अथवा अर्हदादोना स्थापना न विनाशयिष्यामि नैवानादर तत्र करिष्यामि इति वा । अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिन्ताप्रबन्धो द्रव्यप्रत्याख्यान योग्यानि वा निष्ठितप्रयोजनानि । सयमहानि सक्लेश वा सपादयति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यान । कालस्य दु परिहार्यत्वात् कालसाध्याया क्रियाया परिहृताया काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति प्राह्य । तेन सध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिक न सपादायिष्यामीति चेत् कालप्रत्याख्यान । भावोऽशुभपरिणाम तन्न निर्वर्तयिष्यामि इति सकल्पकरण भावप्रत्याख्यान । तद्विद्विध मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति । ननु च मूलगुणा व्रतानि तेषां प्रत्याख्यान निरासो भविष्यत्कालविषयश्चेन्न स सवराधिना कार्यं, सवराधर्मवश्यमनुष्ठीयते इति । उत्तरगुणाना कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते मूलगुणशब्द मूलगुणश्च स प्रत्याख्यान च तन् इति मूलगुणप्रत्याख्यान । व्रतोत्तरकालभावित्वादनशननादिक उत्तरगुण इति उच्यते । उत्तरगुणश्च म प्रत्याख्यान च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यान । तत्र सयताना जीवितावधिक मूलगुणप्रत्याख्यान । सयतासयताना अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशभाजि भवति । तेषां द्विविध प्रत्याख्यान अल्पकालिक, जीवितावधिक चेति । पञ्चमामषण्मासादिरूपेण भविष्यत्काल सावधिक कृत्वा तत्र स्थूलहिंसान्तस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्नाचरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालिकम् ।

उच्चारण नहीं करूँगा, इस प्रकारका विचार नाम प्रत्याख्यान है । मैं आपनाभासोकी प्रतिमाको नहीं पूजूँगा, मनवचनकायसे त्रस और स्थावरोकी स्थापनाको पीडा नहीं पहुँचाऊँगा, इस प्रकारका मनका सकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है । अथवा मैं अर्हन्त आदिकी स्थापनाको नष्ट नहीं करूँगा, न उसका अन्यादर ही करूँगा, इस प्रकारका मनका सकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है ।

अयोग्य आहार तथा उपकरण द्रव्योंको मैं ग्रहण नहीं करूँगा, इस प्रकारके चिन्ता प्रबन्धको द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं । जो क्षेत्र सयमको हानि पहुँचात है अथवा सक्लेश उत्पन्न करने है । उन्हें मैं छोड़ूँगा इस प्रकारके सकल्पको क्षेत्र प्रत्याख्यान कहते हैं । कालको छोड़ना तो अशक्य जैसा है अतः काल साध्य क्रियाका त्याग करने पर कालका ही प्रत्याख्यान होता है ऐसा लेना चाहिये । अतः सन्ध्याकाल आदिमें अध्ययन गमन आदि नहीं करूँगा इस प्रकारके चिन्तको काल प्रत्याख्यान कहते हैं । भावसे अशुभ परिणाम लेना । मैं अशुभ परिणाम नहीं करूँगा, इस प्रकारका सकल्प करना भाव प्रत्याख्यान है । उसके दो भेद हैं—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान ।

शङ्का—मूलगुण व्रतोको कहते हैं । उनका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग भविष्यत् कालमें यदि किया जायेगा तो सबके इच्छुक यतिको उसे नहीं करना चाहिये, उसे तो सबके लिये व्रत अवश्य पालनीय होते हैं ?

समाधान—उत्तर गुणोका कारण होनेसे व्रतोको मूलगुण कहते हैं अतः मूलगुण रूप प्रत्याख्यान मूलगुण प्रत्याख्यान है । व्रतोके उत्तर कालमें अनशन आदि हाँते हैं इसलिये उन्हें उत्तर गुण कहते हैं । यहाँ भी उत्तर गुणरूप प्रत्याख्यान उत्तरगुण प्रत्याख्यान है । उनमेंसे सयमियोंके जीवनपर्यन्त मूलगुण प्रत्याख्यान होता है । और सयमार्मयमी श्रावकोके अणुव्रत मूलगुणव्रत कहलाते हैं । उनके दो प्रकारका प्रत्याख्यान होता है—एक अल्पकालिक और दूसरा जीवनपर्यन्त । पक्ष, मास, छहमास आदि रूपसे भविष्यत्कालकी मर्यादा करके 'इतने काल तक मैं स्थूल हिंसा,

आमरणमवधिं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यान जीवितावधिकं । उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संयतसयतासयतयोरपि अल्पकालिक जीवितावधिकं वा । परिगृहीतसयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च । भविष्यत्कालगोचराशनादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वम् । सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानम् । जीवनिर्कायं हिंसादिस्वरूपं च ज्ञात्वा श्रद्धायै सर्वतो देशतो वा हिंसादिविरतिर्ब्रतम् । तथा चोक्तम्—“निःशल्यो व्रतौ” (न० सु० ७।१८) इति ।

मिथ्यादर्शनशल्यं, मायाशल्यं, निदानशल्यं चेति त्रिविधं शल्यं तेषु निष्कृता निःशल्यम् । सावधारणं चैव निःशल्यं एव व्रतीति । तेन सशल्यम्यव्रतता निरस्ता भवति । न च असति श्रद्धाने मिथ्यात्वशल्यनिवृत्तिः । न च जीवाद्यर्थपरिज्ञानमतरेण श्रद्धानस्यास्ति मभव इति ज्ञानदर्शनवत् एव व्रतता सूत्रकारेणाख्याता । तथावश्यकंऽप्युक्तम्—

“पचवदाणि जदीणं अणुत्वदाइ च देशविरदारणं ।

णं ह्यसम्मत्तं विना तो सम्मत्तं पठमदाए ॥” [ ]

इति हिंसादिप्रवर्तनपरिभाषितमिति क्रिया पचापि मरात्रिभोजना प्रत्याचष्टे यतिस्त्रिधा मनोवाक्कायविकल्पेन कृतकारितानुमतेर्यावज्जीवम् ।

मध्यदृष्टिस्त्वगारी मूलगुण उत्तरगुण वा म्वशक्त्या गृह्णाति परिमितकालं यावज्जीवम् वा । आत्मना प्राकृतं हिंसादिकं हा दुष्टं कृतं, हा दुष्टं मकल्पितं, वचो वा हिंसादिप्रवर्तनपरिभाषितं इति निदागृह्णाम्या

स्थूलं श्लेष्म, स्थूलं चोरी, स्थूलं अन्नह्यं और परिग्रहका आचरणं नही करूंगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान अल्पकालिक है । मरणपर्यन्तं मे स्थूल हिंसादि नही करूंगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान जीवितावधि है ।

उत्तरगुण प्रत्याख्यानं सयतं और सयतासयतके भी अल्पकालिक अथवा जीवनपर्यन्तं होता है । जिनमें मयमं ग्रहण किया है उसके सामायिक आदि और अनशन आदि होते हैं इसलिये सामायिक आदि और तप उत्तरगुण है । और भविष्यत्कालमें अनशन आदिके त्यागरूप होनेसे प्रत्याख्यान रूप भी है । सम्यक्त्वके होने पर ही ये दोनों प्रत्याख्यान होते हैं ।

जीवनिर्काय और हिंसा आदिके स्वरूपको जानकर तथा श्रद्धा करके सर्वदेश अथवा एक देशमें हिंसा आदिके त्यागको व्रत कहते हैं । कहा भी है—जो निःशल्य है वही व्रतौ है । मिथ्यादर्शन शल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, इस प्रकार तीन शल्य हैं । उनसे जो रहित है वह निःशल्य है । यह निःशल्य शब्द अवधारण सहित है । निःशल्य ही व्रती होता है । इससे जो शल्य सहित है उसके व्रतीपनेका निषेध किया है । श्रद्धानके अभावमें मिथ्यात्वशल्यसे निवृत्ति नहीं होती । और जीवादि पदार्थके ज्ञानके बिना श्रद्धानं संभव नहीं है । अतः ज्ञानदर्शनवाचको ही सूत्रकारने व्रती कहा है । तथा आवश्यकमें भी कहा है—‘सम्यक्त्वके बिना न तो यतियोंके पांच व्रत होते हैं और न देशविरत श्रावकोंके अणुव्रत होते हैं । अतः सम्यक्त्वको प्रथमता है ।’

इस प्रकार यति मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजनके साथ हिंसा आदि पाँचों पापोंका त्याग जीवनपर्यन्तके लिये करता है । गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मूलगुण अथवा उत्तरगुणको अपनी शक्तिके अनुसार कुछ काल या जीवनपर्यन्तके लिये ग्रहण करता है । अपने द्वारा पहले किये गये हिंसा आदिको ‘हा, मैंने बुरा किया, हा, मैंने बुरा सकल्प किया, हिंसा

स्वपरविषयाम्या इववन्वर्तमानं चासंयमं कृत क्रियमाणसंयमसदृशं न करिष्यामि इति मनसि कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति ।

आगारिणां विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते । स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पात् त्रिविधं मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति । मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं न करोमि, तथा वचसा कायेनेति त्रिविधं कृतम् । मनसा स्थूलकृत प्राणातिपातादिकं न कारयामि तथा वचसा कायेन चेति त्रिविकल्पं कारितं । तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं नानुजानामि, तथा वचसा कायेन चेति त्रिभेदमनुमननं । एव नवविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यक्तुमशक्नोऽगारी ।

तथा मनोवाग्म्या स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पात्त्रिविधं च कर्तुं मशक्तो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि । वचसा न करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति । कायेन कृतकारितानुमतविकल्पान् हिंसादीश्च न समर्थो विहातुः । तथा च सूत्र—

'न क्षु त्रिविधं त्रिविधेण यं दुर्विधेकविधेण वापि विरमेज्ज इति ॥' [ ]

कथं तद्गंगारी विरतिमुपैति ? अत्रोच्यते कृतकारितविकल्पाद्द्विप्रकारं हिंसादिकं मनोवाक्कायैस्त्यजति । वाचा कायेन वा हिंसादिविषयं कृतकारितं त्यजति । कायेन एकेन वा कृतं कारितं त्यजति । अत एवोक्तं 'दुर्विधं पुण त्रिविधेण यं दुर्विधेकविधेण वा विरमेज्ज' इति । अथवा हिंसायां स्वयं करणं एकं मनोवाक्कायैस्त्यजति । नाहं मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं पञ्चकं करोमीति अभिसविपूर्वकं विरमणं

आदिमे प्रवर्तन करने वाला वचन बोला, ' इस प्रकार स्व और परविषयक निन्दा गहृकि द्वारा दोषयुक्त बतलाते हुए, तथा वर्तमानमें मैं जो असयम करता हूँ और पूर्वमें जैसा असयम किया है वैसा मे भविष्यमें नहीं करूँगा, ऐसा मनमें संकल्प करके त्याग करता है ।

अब गृहस्थोके विरतिरूप परिणामोके भेद कहते हैं—कृत, कारित और अनुमतके भेदमें तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको ग्रहस्थ मन वचन कायसे नहीं त्यागता है । मनसे स्थूल हिंसा आदिको नहीं करता हूँ तथा वचनसे और कायसे नहीं करता हूँ, ये तीन भेद कृत है । मनमें स्थूल हिंसा आदिको न कराता हूँ तथा वचनसे और कायसे नहीं कराता हूँ । ये तीन भेद कारितके है । तथा मनसे स्थूल हिंसा आदिमें अनुमति नहीं देता हूँ तथा वचनसे और कायसे अनुमति नहीं देता हूँ ये तीन भेद अनुमतके है । इस प्रकार नौ प्रकारकी स्थूल हिंसा आदिका त्याग करनेमें गृहस्थ असमर्थ होता है । तथा कृत कारित अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको मन और वचनसे करनेमें असमर्थ होता है । मनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ । वचनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ । कायसे कृत कारित अनुमतरूप हिंसा आदिको छोड़नेमें समर्थ नहीं हूँ । सूत्रमें कहा है—कृतकारित अनुमतके भेदसे तीन भेद रूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे अथवा मन वचनसे अथवा कायसे त्याग नहीं करता है ।

तब गृहस्थ कैसे त्याग करता है यह बतलाते हैं—

कृत और कारितके भेदसे दो भेदरूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे छोड़ता है । कृत कारित रूप हिंसादिको वचन और कायसे छोड़ता है । अथवा कृत कारित रूप हिंसा आदिको एक कायसे छोड़ता है । इसीसे कहा है—'कृत कारित रूप हिंसा आदिको तीन रूपसे, दो रूपसे या एक रूपसे छोड़ता है ।' अथवा हिंसके एक स्वयं करनेको मन वचन कायसे त्यागता है । मैं मनसे वचनसे कायसे स्थूल हिंसादि पाँच पापोंको नहीं करता हूँ' इस प्रकार संकल्प पूर्वक त्याग



करोति । वाक्कायाभ्यां वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा । तथा चोक्तम्—‘एकविधं तिविधेन वापि विरहेण’ इति । एवमेते व्रतविकल्पाः भविष्यत्कालविषयतयानुपुष्यमाना प्रत्याख्यानविकल्पा भवन्तीत्य-  
श्रोत्रोपन्यासः कृतः ।

कायोत्सर्गो निरूप्यते—काय शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्यागः कायोत्सर्गः । उपलब्ध्यधिष्ठानेन्द्रियावयवक-  
कर्मनिर्वर्तित पुद्गलप्रचयविशेष औदारिकाख्य ईह कायशब्देन गृहीत इतरत्र उत्सर्गस्यासभवात् वक्ष्यमाणस्य ।

ननु च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तन्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ।

आत्मशरीरयोरन्योन्यस्य प्रदेशानुप्रवेशिनोरायुर्वशात् अनपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्व सप्तधातुशुष-  
यता अशुचितमं शुक्रशोणितबीतबीजत्वाच्च, तथा अनित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्बलत्व, असारत्व, दुःखहेतुत्वं,  
शरीरगतममताहेतुकमनतसंगापरिभ्रमण इत्यादिकान्सप्रधाय दोषान्नेद मम नाहमस्येति सकल्पवत्स्तदादरा-  
भावात्कायस्य त्यागो घटत एव । यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मदिरे त्यक्ते-  
त्युच्यते तस्यामनुरागाभावात्प्रभेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि । किं च कायापायसन्निपातेऽपि अपाय-  
निराकरणभिलाषस्याभावात् । यो यदपार्यनिराकरणानुत्सर्गस्तेन तत्परित्यक्त यथा वसनाविकि परिहृत । शरीरा-  
पार्यनिराकरणानुत्सर्गश्च यतिस्तस्माद्युज्यते कायस्य त्यागः ।

करता है । अथवा स्वयं करनेको वचन और कायसे त्यागता है या एक कायसे त्यागता है । कहा  
है—एक कृतको तीन प्रकारसे त्यागता है । इन व्रतके भेदोको भविष्य कालके साथ जोडने पर  
किं मे भविष्यमे ऐसा नहीं करूँगा, ये प्रत्याख्यानके भेद होते हैं ।

अब कायोत्सर्गको कहते हैं—काय अर्थात् शरीरके, उत्सर्ग अर्थात् त्यागको कायोत्सर्ग  
कहते हैं । पदार्थोंको जाननेका आधार इन्द्रियाँ जिसकी अवयव है, और कर्मके द्वारा जिसकी  
रचना हुई तथा जो पुद्गलोका एक समूह विशेष है उस औदारिक नामक शरीरको यहाँ काय  
शब्दसे ग्रहण किया है क्योंकि आगे कहे जानेवाला उत्सर्ग अन्य शरीरोमे सम्भव नहीं है ।

शका—आयुर्कर्म जब पूर्णरूपसे समाप्त हो जाता है तब आत्मा शरीरको छोडता है  
अन्य कालमें नहीं छोडता । तब कैसे आप कायोत्सर्गकी बात करते है ?

समाधान—आत्मा और शरीरके प्रदेश परस्परमे मिलनेसे आयुर्कर्मके कारण यद्यपि शरीर  
ठहरा रहता है तथापि शरीर सात धातु रूप होनेसे अपवित्र है, रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेसे विशेष  
अपवित्र है । तथा अनित्य है, नष्ट होनेवाला है, दुःखसे धारण करने योग्य है, असार है दुःखका  
कारण है, इस शरीरसे ममत्व करनेसे अनन्त ससारमे भ्रमण करना होता है, इत्यादि दोषोंको  
जानकर ‘न यह मेरा है, न मैं इसका हूँ’ ऐसा सकल्प करनेवालेके शरीरमे आदरका अभाव  
होनेसे कायका त्याग घटित होता ही है । जैसे प्राणोसे भी प्यारी पत्नी अपराध करनेपर उसमे  
अनुराग न रहनेसे ‘यह मेरी है’ इस प्रकारका भाव न होनेसे एक ही घरमें रहते हुए भी ‘त्यागी  
हुई’ कही जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना । दूसरे, शरीरके विनाशके कारण उपस्थित  
होनेपर भी कायोत्सर्ग कर्मेवालेके विनाशके कारणको दूर करनेकी इच्छा नहीं होती । जो जिसके  
विनाशके कारणको दूर करनेमें उत्सुक नहीं है उसने उसे त्याग दिया है, जैसे त्यागा हुआ  
वस्त्रादि । और यति शरीरके विनाशके कारणको दूर करनेमें उत्सुक नहीं होता । अतः उसके

‘स च शरीरनि स्पृह, स्थाणुरिबोद्धर्वकाय, प्रलबितभुज, प्रशस्तध्यानपरिणतोऽजुन्नमितानतकाय’, परीषहानुपसर्गौच सहमान, तिष्ठन्निजन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविकते देगे ।

अन्तर्मुहूर्त कायोत्सर्गस्य जघन्य काल, वर्षमुत्कृष्ट । अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया । सायान्तोच्छ्वास शतक, प्रत्युपसि पचाशत्, पक्षे त्रिंशतानि, चतुर्षु मासेषु चतु शतानि, पञ्चशतानि संवत्सरे उच्छ्वासमाना<sup>१</sup> । प्रत्युपसि प्राणिब-  
धादिषु पञ्चस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्र काल कायोत्सर्ग कार्य । कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यते उच्छ्-  
वासस्य म्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिक स्थातव्यम् ।

उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थित, उपविष्टनिविष्ट इति चत्वारो विकल्पा । धर्मं शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्ग उत्थितोत्थितो नाम । द्रव्यभावोत्थानमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्ष उत्थितोत्थितशब्देनोच्यते । तत्र द्रव्योत्थान शरीर स्थाणुबद्धर्व अविचलमवस्थान । ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञाना-  
रथ्यस्य भावस्य भावोत्थान । आर्तरीद्रयो परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उन्वितनिषण्णो नाम कायोत्सर्ग । शरीरो-  
त्थानादुत्थितव शुभपरिणामोद्गतिरूपस्योत्थानस्याभावात्निषण्ण इत्युच्यते । अत एव विरोधाभावो भिन्न-

कायत्याग उचित है । तथा वह शरीरसे निस्पृह होकर, स्थाणुकी तरह शरीरको सीघा करके, दोनो हाथोंको लटकाकर, प्रशस्त ध्यानमें लीन हो, शरीरको ऊँचा-नीचा न करके परीषद्गो और उपसर्गों को सहन करता हुआ, कर्मोंको नष्ट करनेकी अभिलाषामें जन्तुरहित एकान्त देशमें ठहरता है ।

कायोत्सर्गका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल एक वर्ष है । अनिचारोंको दूर करनेके लिए कायोत्सर्गके रात, दिन, पक्ष, मास, चार मास, वर्ष आदिकालमें होनेवाले अतिचारोंकी अपेक्षा अनेक भेद हैं । सायकालमें सौ उच्छ्वास प्रमाण, प्रात कालमें पचास उच्छ्वास प्रमाण, पाक्षिक अतिचारमें तीन सौ उच्छ्वास प्रमाण, चार मासोंमें चार सौ उच्छ्वास प्रमाण और वार्षिकमें पाँच सौ उच्छ्वास प्रमाण काल कायोत्सर्गका है । हिंसा आदि पाँच अतिचारोंमें एक सौ आठ उच्छ्वास मात्र काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए । कायोत्सर्ग करनेपर यदि उच्छ्वासका अथवा परिणामका खलन हो जाये तो आठ उच्छ्वासप्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

कायोत्सर्गके चार भेद हैं—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टउत्थित, और उपविष्ट-  
निविष्ट । जो धर्मध्यान या शुक्लध्यान सहित कायोत्सर्ग करना है उसके उत्थितोत्थित नामक कायोत्सर्ग है । यहाँ द्रव्य और भाव दोनोंके ही उत्थानसे युक्त होनेसे उत्थितोत्थित शब्दमें उत्थानका प्रकर्ष कहा है । स्थाणुकी तरह शरीरका उन्नत और निश्चल रहना द्रव्योत्थान है । ज्ञानरूप भावका ध्यान करने योग्य एक ही वस्तुमें स्थिर रहना भावोत्थान है । जो आर्त रीद्र-  
ध्यानके साथ कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग होता है । शरीरके खड़े होनेसे इसे उत्थित और शुभपरिणामकी उद्गतिरूप उत्थानका अभाव होनेसे निविष्ट या निषण्ण कहते हैं । इसीमें एक कालमें एक क्षेत्रमें उत्थान—खड़े होना और निविष्ट—बैठना इन दोनो आसनोंमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनोंके निमित्त भिन्न है । जो बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यान करता है उसके उत्थितनिषण्ण कायोत्सर्ग होता है क्योंकि उसके परिणाम तो उत्थित

१. तत्र शरीर—आ० मु० । २ ना प्रत्युपसि प्राणि—आ० मु० ।

निमित्तत्वादुत्थानासनयो एकत्र एकदा । यस्त्रासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थिननिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च । यस्तु निषण्णोऽभ्युत्थानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णक कायशुभपरिणामाभ्या अनुत्थानात् ।

दैवसिकाद्यतीचार रत्नत्रयगत मनसा विमूष्य इद मया<sup>१</sup> न सुष्टु कृत प्रमादिनेति मचिन्त्य पश्चाद्धर्मं शुक्ले वा घ्याने प्रयतितव्यम् ।

कायोत्सर्गप्रपन्न स्थानदोषान्परिहरेत् । के ते इति चेदुच्यते । १ तुरग इव कुटीकृतपादेन अवस्थानम् २ लतेबेतस्तत्यूचलतोऽवस्थान ३ स्तम्भवत्स्तम्भशरीरं कृत्वा स्थान । ४ स्तम्भोपाश्रयेण वा कुडधाश्रयेण वा मालावलग्नशिरसा वावस्थानम् । ५ लबिताधरतया, स्तनगतदृष्टया वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वा । ६ खलीनावपीडितमुखहृद्य इव मुखचालन सपादयतोऽवस्थान । ७ युगावष्टम्भबलीवर्द्ध इव शिरोऽध पातयता । ८ कपित्थफलप्राहीव विक्रांशिकरतल, सकुचिताङ्गुलिपचक वा कृत्वा ९ शिरश्चालनं कुर्वन् १० मूक इव हुकार सपाद्यावस्थान ११ मूक इव नासिकया वस्तूपर्दशयता वा १२ अगुलीस्फोटन १३ भ्रूतर्तन वा कृत्वा १४ शबरवधूरिव स्वकोपीनदेशान्छाद्यवनुरोग १५ शृङ्खलावद्धपाद इव वावस्थान १६ पीनमदिर इव परवशगतशरीरो वा भ्रूत्वावस्थान इत्यमी दोषा ॥

व्यावर्णितानामावश्यकाना अपरिहाणिर्हानिनं कार्या । अणुस्सेगो आधिक्येनाकरणं च ।

है किन्तु शरीरं बंटा हुआ है । जो बँटे हुए अशुभध्यानमें लीन होता है उसके निषण्ण निषण्ण कायोत्सर्ग हाना है । क्योंकि न तो उसका शरीर उत्थित है और न शुभपरिणाम ही हैं । रत्नत्रयमें दैवसिक आदि अतीचारोको मनमें विचारकर 'मूझ प्रमादीने यह ठीक नहीं किया' ऐसा सोचकर पीछे धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करना चाहिये ।

कायोत्सर्ग करने वालेको स्थान सम्बन्धी दोष दूर करना चाहिये । वे दोष इस प्रकार हैं— १ घोड़ेकी तरह पैरको थोड़ा मोड़कर खड़ा होना । २ बेलकी तरह इधर-उधर हिलते हुए खड़े होना । ३ स्तम्भकी तरह शरीरको स्तम्भ करके खड़े होना । ४ स्तम्भ अथवा दीवारके आश्रयसे अथवा ऊपरके तल्लेसे सिगकी लगाकर खड़े होना । ५ ओष्ठको लटकाकर दृष्टि अपने स्तनो पर रखकर कौएकी तरह आँखोको इधर-उधर घुमाना । ६ लगामसे पीडित मुख वाले घोड़ेकी तरह मुख चलाते हुए अवस्थित होना । ७ जैसे कन्धे पर जुआ हानेसे बेल अपना सिर नीचे डालता है उस तरह सिरको लटकाकर अवस्थापन करना । ८ कैथके फलको ग्रहण करने वाला मनुष्य जैसे अपनी हथेलीको फैलाता है उस तरह हथेलीको फैलाकर या पाँचो अंगुलियोंको सकुचित करके अवस्थित होना । ९ सिरको चलाते हुए अवस्थान । १० गूँगेकी तरह हुकार करते हुए अवस्थान । ११ गूँगेकी तरह नाकसे वस्तुको दिखलाते हुए अवस्थान । १२ अगुली चटकाते हुए अवस्थान । १३ भौको नचाने हुए अवस्थान । १४ भीलनीकी तरह अपने अग्रभागको हथेलीसे ढाँकते हुए अवस्थान । १५ ऐसे खड़े होना मानो दोनो पैर साँकलसे बँधे हैं । १६ मदिरा पिये हुए की तरह अथवा पगाधीन शरीर वालेकी तरह खड़ा होना । ये कायोत्सर्गके दोष हैं ।

जो पहले छह आवश्यक कहे हैं उनमें हानि नहीं करनी चाहिये और न उनमें आधिक्य करना चाहिये ॥ ११८ ॥

१ मया हुष्ट कृत-आ० मु० ।

भक्ती तबोधिगंमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं ।  
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥११९॥

'भक्ती' भक्ति । बदननिरीक्षणविप्रसादेन अभिव्यञ्ज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागः । 'तबोधिगंमि' तपोऽधिके च 'तवम्मि' य सम्यक्तपसि, तद्वति च, भक्तिरिति यावत् । तच्च सम्यग्ज्ञानदर्शनसयमानुगत । 'अहीलणा' य' अपरिभ्रमवच । 'सेसाणं' शेषाणा । तपसा न्यूनानामात्मन ज्ञानश्रद्धान्तरणवता परिभवे ज्ञानादीन्वेष परिभूतानि भवति । ततो बहुमानाभावो ज्ञानातिचार, वात्सल्याभावो दर्शनातिचार । सातिचारज्ञानदर्शनस्य चारित्रममशुद्ध इति, महाननर्थ इति भावः । 'एसो' एष व्यावर्णितपरिणामसमूह उत्तरगुणोद्योगादिक । 'तवम्मि' तपसि तपोविषय । 'विणओ' विनय । 'जहुत्तचारिस्स' श्रुतिनिरूपितक्रमेणाचरत । 'साधुस्स' साधो ॥११९॥

उपचारविनयनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो हु पंचमो विणओ ।  
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चैव पारोक्खो ॥१२०॥

'काइयवाइयमाणसिओत्ति' पदसंबन्ध । पंचमो विनयस्त्रिप्रकार कायेन, मनसा, वचसा च, निर्वर्त्यते इति । 'सो पुण सव्वो' स पुनस्त्रिप्रकारोऽपि विनय । 'दुविधो' द्विविध । 'पच्चक्खो चैव' प्रत्यक्ष । 'पारोक्खो' परोक्षचेति ॥१२०॥

गा०—जो तपमें अधिक है उनमें और तपमें भक्ति और जो अपनेसे तपमें हीन है उनका अपरिभव यह श्रुतके अनुसार आचरण करने वाले साधुकी तप विनय है ॥११९॥

टी०—मुखकी प्रसन्नतासे प्रकट होनेवाले आन्तरिक अनुगमको भक्ति कहते हैं । तपसे अधिकमें और सम्यक् तपमें भक्ति करना । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सयमके अनुगत तप ही सम्यक् तप है । जो तपमें न्यून है उनका तिरस्कार नहीं करना । जो ज्ञान श्रद्धान और चारित्रसे युक्त होनेपर भी अपनेसे तपमें कम है, उनका तिरस्कार कर्णपर ज्ञानादिका ही निम्नस्कार होता है । और ऐसीका बहुमान न करना ज्ञानका अतिचार है । उनमें वात्सल्य न रखना सम्यग्दर्शनका अतिचार है । और जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार है उसका चारित्र अशुद्ध है, इस तरह महान् अनर्थ है । यह ऊपर कहा, उत्तरगुणोंमें उद्योग आदि शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधु की तप विषयक विनय है ॥११९॥

उपचार विनयका निरूपण करते हैं—

गा०—पांचवी उपचार विनय तीन प्रकारकी है कायिक, वाचनिक और मानसिक । और वह तीनों प्रकारकी विनय दो प्रकारकी है प्रत्यक्ष विनय और परोक्ष विनय ॥१२०॥

टी०—पांचवी विनय तीन प्रकारकी है जो कायसे, मनसे और वचनसे की जाती है । और ये तीनों प्रकारकी भी विनय दो प्रकारकी है—प्रत्यक्ष और परोक्ष ॥१२०॥

तत्र प्रत्यक्षकायिकविनयप्रदर्शनाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

**अभ्युत्थाणं किदियम्मं णवसणं अंजली यं सुंढाणं ।  
पच्चुगगच्छणमेत्तो पच्छिद अणुसाधणं वेव ॥१२१॥**

‘अभ्युत्थाणं’ अभ्युत्थानं गुर्वादीनां प्रवेशानि क्रमणयोः । ‘किदियम्मं’ णवसणं, वंदना, शरीरावनतिश्च । ‘अंजली यं’ कृताञ्जलिपुटता च । ‘सुंढाणं’ शिरोवनतिस्य च । ‘पच्चुगगच्छणं’ प्रत्युद्गमन । आसीने स्थिते वा गुरी । ‘पच्छिद अणुसाधणं वेव’ स्वयं गच्छत दूरात्परिहृत्य निभूतकरचरणस्यावनतगात्रस्य गमनं, सहगमे वा पृष्ठतः स्वशरीरमात्रप्रमाणभूभागेन तं परिहृत्य गमनं ॥१२१॥

**णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ।  
आसणदानं उवगरणदानमोगासदानं च ॥१२२॥**

णीचं च आसणं नीचैरासन । पृष्ठतः स्वहस्तपादस्वासादिभिरुपहतो न भवति यथा गुर्वादिस्तथासन । अग्रतोऽभिमुखान् मनोगपसृत्य वामपाद्वेऽनुद्धतस्येवदवनतोत्तमागस्य चासनं । आसने गुरावुपविष्टे स्वयं भूमावासनं च । ‘सयणं च णीचमिति’ पदघटना । नीचं शयनमिति यावत् । ‘अनुन्मते देशे शयनं, गुल्फाभिप्रमाणमात्र-भूभागे वा स्वशिरो भवति यथा तथा शयन । हस्तपादादिभिर्वा यथा न घट्यते गुर्वादि । ‘आसणदानं’

उनमेसे प्रत्यक्षकायिक विनयको चार गाथाओसे दिखलाते है—

टी०—गुरु आदिके प्रवेश करनेपर या बाहर जानेपर अभ्युत्थान—खड़े होना, कृतिकर्म अर्थात् वन्दना करना, णवसण अर्थात् शरीरको नम्र करना, दोनो हाथोको जोड़ना, सिरको नवाना, प्रत्युद्गमन अर्थात् गुरुके बैठने अथवा खड़े होनेपर उनके सामने जाना, और जब गुरु जावे तो उनसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको शान्त और शरीरको नम्र करके गमन करना और गुरु के साथ जानेपर उनके पीछे अपने शरीर प्रमाण भूमिभागका अन्तराल देकर गमन करे ॥१२१॥

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपनी टीकामे लिखा है कि टीकाकार तो ‘पच्छिद अणुसाधणं’ के स्थानमे ‘पच्छिद ससाहणा’ पढते है और उसकी व्याख्या करते है कि—आचार्य उपाध्याय आदिके द्वारा प्रार्थित और मनसे अभिलषितका सम्यक् प्रसाधन करना अर्थात् आज्ञा नही देनेपर भी सकेतसे ही जानकर करना । यह टीकाकार कोई दूसरे जान पढते है क्योकि विजयोदयामे तो यह पाठ नही है ।

गा०—नीचा स्थान, नीचा गमन, नीच आसन, नीचे सोना, आसनदान, उपकरणदान और अवकाशदान ये उपचार विनयके प्रकार है ॥१२२॥

टी०—नीचा आसन—गुरुके पीछे इस प्रकार बैठे कि अपने हाथ पैर स्वास आदिसे गुरुको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे । आगे बैठना हो तो सामनेसे थोड़ा हटकर गुरुके वाम भागमे उद्धतता त्यागकर और अपने मस्तकको थोड़ा नचाकर बैठे । आसन पर गुरुके बैठने पर स्वयं भूमिमे बैठे । नीचे सोना—अर्थात् जो ऊँचा नही हो ऐसे देशमे सोना, अथवा गुरुके नाभि प्रमाण मात्र भूभागमे अपना सिर रहे इस प्रकार सोना । अथवा अपने हाथ पैर वगैरहसे गुरु आदिका

आसितुमिच्छति इत्यवगम्य निरूप्य चक्षुषा प्रमार्जनयोग्यं न वेति, पश्चात्प्रतिलेखनेन लाघवमार्द्धवादिगुणा-  
न्वितेनातिशनर्कं प्रमाज्यं भूभाग पीठादिकं च आसनदानं । 'उपकरणदानं' ज्ञानसयमो उपक्रियेते अनुगृह्येते  
येनतदुपकरणं पुस्तकादि ग्रहीतुमभिप्रेतं तस्य दानं । अथवा उद्गमोत्पादनैषणादिदोषैरुद्गृह्य सुप्रतिलेखन-  
स्यात्मना लब्धस्य उपकरणस्य दानं । 'ओगासदानं च' अवकाशदानं च शीतार्त्तस्यावस्थितनिवातावकाशदानं,  
उष्णाभितस्य शीतलस्थानदानं ग्रामनगरादिस्वावासस्थानदानं वा ॥१२२॥

**पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य ।**

**पेशणकरणं संथाकरणमुवकरणपडिलिहणं ॥१२३॥**

'पडिरूवकायसंफासणदा' कायस्य सस्पर्शनं कायसस्पर्शनं । प्रतिरूप कायस्य सम्पर्शनं प्रतिरूपकाय-  
सस्पर्शनं तस्य भाव प्रतिरूपकायसस्पर्शनता । गुर्वादिशरीरानुकूल सस्पर्शनमिति यावत् ।

अयं चात्र क्रम—मनागुपमुच्य स्थित्वा तदीयेन पिच्छेन कायं त्रि प्रमुच्य आगतुकजीवबाधापरिहारोप-  
युक्त सादर स्वबलानुरूप यावद्याद्गमर्दनसहस्तावदेव मर्दनं कुर्यात् । उष्णाभितप्तस्य यथा शैत्यं भवति तथा  
स्यूच्छीतार्त्तस्य यथोष्ण्यं तथा ।

'पडिरूवकालकिरिया य' कालकृतोऽवस्थाविशेषो बालम्बादिरिह कालशब्देनोच्यते कालप्रभवत्वात् ।

मघट्टन न हो इस प्रकार गयन करे । आसनदान—गुरु बैठना चाहते हैं ऐमा जानकर चक्षुसे  
देखे कि प्रमार्जनके योग्य है या नहीं ? पीछे लाघव कोमलता आदि गुणोंसे युक्त पीछीसे अत्यन्त  
धीरेसे भूभाग और आसन आदिको पीछे देवे । उपकरणदान—जिसमें ज्ञान और समय का  
उपकार हो उसे उपकरण कहते हैं । गुरु पुस्तक आदि चाहते हैं तो उन्हें देना । अथवा उद्गम  
उत्पादन आदि दोषोंसे रहित उपकरण अपनेको मिला हो तो उसे देना उपकरणदान है । अवकाश-  
दान—शीतसे पीड़ितको वायु रहित स्थान देना और गर्मीसे पीड़ितको शीतल स्थान देना, अथवा  
ग्राम नगर आदिमें अपना आवास स्थान देना ॥१२२॥

**विशेषार्थ—**नीचा स्थानका मतलब है गुरु जहाँ बँठे या खड़े हों उसके वाम भागमें या  
पीछे बैठना । और नीचे गमनका मतलब है—गुरुके बैठे रहते या खड़े रहते स्वयं गमन करते  
शिष्यका गुरुसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको निश्चल रखते हुए और शरीर को नम्र करके  
गमन करना ।

**गा०—**गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन, बालपने आदि अवस्थाके अनुरूप वैयावृत्य  
करना, और गुरु आदिकी आज्ञाका पालन करना, तृण आदिका सधरा करना, उपकरणोंकी प्रति-  
लेखना करना ॥१२३॥

**टी०—**कायके स्पर्शनको कायस्पर्शन कहते हैं । प्रतिरूप कायका स्पर्शन प्रतिरूप काय  
स्पर्शन है और उसका भाव प्रतिरूपकाय स्पर्शनता है अर्थात् गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन  
करना । इसका क्रम इस प्रकार है—गुरुसे थोड़ा हटकर बैठे और उनकी पीछीसे तीन बार  
उनके शरीरका प्रमार्जन करके आगन्तुक जीवको किसी प्रकारकी बाधा न हो इस प्रकार सादर  
अपने बलके अनुरूप जितने काल तक और जितना मर्दन गुरु सह सके उतना ही मर्दन करे । यदि  
गुरु गर्मीसे तप्त हों तो शीतपना जिस प्रकार संभव उस प्रकार स्पर्श करे और यदि शीतसे पीड़ित  
हों तो गर्मी पहुँचाना जैसे हो उस प्रकार स्पर्श करे । तथा 'प्रतिरूपकाल क्रिया' में काल शब्दसे

तेन बालत्वाद्यनुरूपवैयावृत्यक्रियेति यावत् । पेयनकरणं गुर्वादिभिराज्ञप्तस्य । 'संभारकरणं' तृणफलकादिकमस्तरणक्रिया । 'उबकरणपडिलहूणं' गुर्वादीनां ज्ञानसयमोपकरणप्रतिलेखनं अस्तमनबेलाया आदित्योद्गमने च ॥१२३॥

इच्छेवमानि विणओ उवयारो कीरदे सरीरेण ।  
एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्मि ॥१२४॥

उपचारिकविनय । शेष सुगम ।

वाचिकविनयरूपणार्थं गाथाद्वयम्—

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च ।  
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्टुरमकक्कसं वयणं ॥१२५॥

'पूयावयणं' पूजापुरस्सर वचन भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुं मिच्छामि युष्मदनुज्ञयेत्यादिक । 'हिदभासणं च' गुर्वादीनां यद्धित लोकद्वयस्य तस्य भाषण । 'मितभाषणं' यावता विविदिषितार्थप्रतिपत्तिर्भवति तावदेव वक्तव्यं न प्रसक्तानुप्रगक्तं । 'मधुरं' च श्रोत्रप्रिय । 'सुत्ताणुवीचिवयणं' सूत्रानुवीचिवचन । भाषासमित्यधिकारे यानि वाच्यानि निश्चिष्टानि वचांसि तेषां कथन । 'अणिट्टुरं' अनिष्टुरं परचित्तपीडा-कृतावनुद्यत । 'अकक्कसं वयणं' अकर्कश वचन अपरुषमिति यावत् ॥१२५॥

कालकृत अवस्थाविशेष बाल्य अवस्था आदि ग्रहण की है क्योंकि वह कालसे होती है । अतः गुरुकी बाल आदि अवस्थाके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये । उनके लिये तृणोंका या लकड़ीके पट्टियाका सथग करना चाहिये । सूर्यके अस्त और उदय होनेके समय उनके ज्ञान और समयके उपकरण शास्त्र कमण्डलु आदिकी सफाई करना चाहिये ॥१२३॥

गा०—इस प्रकारको आदि लेकर उपचार विनय शरीरके द्वारा साधुवर्गमे यथा योग्य की जाती है । यह कायिक विनय है ॥१२४॥

टी०—यह उपचार विनय है । शेष सुगम है ॥१२४॥

दो गाथाओमे वाचिक विनयका निरूपण करते है—

गा०—पूजा पूर्वक वचन, हितकारी भाषण, मित भाषण, मधुर भाषण, सूत्रानुसार वचन, अनिष्टुर और अकर्कश वचन वचनविनय है ॥१२५॥

टी०—'हे भट्टारक ! मे सुन रहा हूँ,' 'हे भगवन् आपकी आज्ञा हो तो मे ऐसा करना चाहता हूँ । इस प्रकारसे पूजा पूर्वक वचन बोलना । जो गुरु आदिके लिये इस लोक और परलोक मे हितकर हो ऐसा हित भाषण करना । जितना बोलनेसे विवक्षित अर्थका बोध हो उतना ही बोलना, प्रासंगिक या अप्रासंगिक न बोलना । कानोको प्रिय वचन बोलना, भाषासमिति अधिकार मे जो वचन बोलने योग्य कहे हैं उन्हे ही बोलना, तथा दूसरेके चित्तको पीडा करने वाले निष्टुर वचन और कर्कश वचन न बोलना वाचिक विनय है ॥१२५॥

उपसंतवयणमगिहृत्यवयणमकिरियमहीलणं वयण ।

एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो ॥१२६॥

'उपसंतवयणं' प्रगातरागकोपः उपशात' तस्य वचन उपशातवचनं । विरागस्य विरोधस्य च यद्वच-  
स्तदेव भाष्य । 'अगिहृत्यवयणं' गृहस्था मिथ्यादृष्टयोऽस्यता अयोग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तेषा यद्वचन न  
भवति तस्य अभिधान । 'अकिरियं' षट्कर्मव्यावर्णनपर यन्न भवति । 'अहोरुणं' परानवजाकारि । 'एसो'  
व्यावर्णितवचनव्यापारः । 'वाइयविणओ' वाग्विनयो । 'जहारिहं' यथाहं । 'होदि कादव्वो' कर्तव्यो  
भवति ॥१२६॥

मानसिकविनय निरूपयति—

पापविस्त्रोत्तिग परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ।

णायव्वो संखेवेण एसो माणस्सओ विणओ ॥१२७॥

'पापविस्त्रोत्तिगपरिणामवज्जणं' पापशब्देन अशुभकर्माण्युच्यते । स्रोत प्रवाह' । स्रोत इव अविच्छेदेन  
प्रवृत्ते कर्मणि अपि पापविस्त्रोत शब्देन उच्यते । पापविस्त्रोत प्रयोजना परिणामा ये तेषा वर्जनं । इह गुरु-  
विनयस्य प्रस्तुतत्वात् गुरुविषयोऽशुभ परिणामः आत्मनो यद्येष्टचारित्वनिवारणजनितः क्रोध । अविनीतता-  
दर्शनादनुग्रहाभावमपेक्ष्य नाध्यापयति पूर्ववन्न मया सह सभाषण करोति इति वा क्रोध । गुरुविनये आलस्य,

गा०—उपशान्त वचन, जो वचन गृहस्थो के योग्य नहीं है, कृषि आदि आरम्भ से शून्य  
वचन, दूसरो की अवज्ञा न करने वाला वचन बोलना यह यथा योग्य वाचिकविनय करने योग्य  
होती है ॥१२६॥

टी०—जिसका राग द्वेष शान्त हो गया है उसे उपशान्त कहते हैं । उसका वचन  
उपशान्त वचन है । अर्थात् राग रहित और रोष रहितका जो वचन होता है वही बोलना  
चाहिये । गृहस्थ अर्थात् मिथ्यादृष्टि और असंयमी जो योग्य अयोग्य वचनोको नहीं जानते,  
उनका जो वचन हो वह नहीं बोलना जो वचन वे नहीं बोलते वही बोलना चाहिये । जिम  
वचन मे असि, मयी, कृषि, सेवा, वाणिज्य आदि षट्कर्मोका उपदेश न हो वह बोलना चाहिये ।  
तथा जो वचन दूसरेका निरादर न करता हो वह बोलना चाहिये । ये जो वचन कहे हैं इनका  
बोलना वचन विनय है । उसको यथायोग्य करना चाहिये ॥१२६॥

मानसिक विनय को कहते हैं

गा०—पापको लाने वाले परिणामोको न करना, जो गुरुको प्रिय और हितकर हो उसीमे  
परिणाम लगाना, यह सक्षेपसे मानसिक विनय जानना ॥१२७॥

टी०—पाप शब्दसे अशुभ कर्मोको कहा है । स्रोतका अर्थ प्रवाह है । प्रवाहकी तरह  
लगातार होनेसे कर्मोको भी पाप विस्त्रोत शब्दसे कहा है । पापको लाना ही जिनका काम है उन  
परिणामोको त्यागना चाहिये । यह गुरु विनयका प्रकरण होनेसे गुरु विषयक अशुभ परिणाम  
लेना । गुरुके द्वारा अपनी स्वेच्छाचारिताका निवारण करनेसे क्रोध उत्पन्न होना, शिष्यको  
अविनयी देख उसपर गुरु कृपा न करे तो 'मुझे पहलेकी तरह नहीं पढाते हैं न मेरे साथ पहलेकी  
तरह बातलाप करते हैं इस प्रकार क्रोध करना, गुरुकी विनयमे प्रमाद करना, गुरुकी अवज्ञा



गुरुं प्रत्यवशा, निदा, सभ्रम', तत्प्रतिकूलवृत्तितेव्येवमादय' । 'पियहिवे य परिणामो' गुरोर्यतिप्रयं तस्मै यद्वित् आत्मने वा तत्र परिणामः । 'णावब्धो' ज्ञातव्य' । 'संक्षेपेण' समासेन । 'एसो' एषः । 'माणस्सिगो' मान-सिक । 'विणओ' विनय ॥१२७॥

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो ।

विरहम्मि विवट्ठिज्जइ आणाणिहेसच्चरियाए ॥१२८॥

'इय' एव । 'एसो' एषः । 'पच्चक्खो' प्रत्यक्षो विनयः । सम्निहितगुरुविषयत्वात् । 'पारोक्खिओ' वि गुरो परोक्षं क्रियमाणोऽपि विनय । कोऽसाविति चेदाह—'गुरुणो' विरहम्मि विवट्ठिज्जइ' गुरोविरहेऽपि यत् क्रियते । 'आणाणिहेसच्चरियाए' आज्ञायाम्—इत्यमेव भवता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्यमिति यन्निदिश्यते तदाज्ञानिर्देशः । 'बद्धंतगो विहारो वसणणाणचरणेषु कावब्धो' इत्येवमादिसदृशः ॥१२८॥

न गुरुत्वेव विनय कार्यं इति प्रहीतव्यं, एतेष्वपि विनय कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।

विणओ जाहरिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२९॥

'राइणिय अराइणीएसु' यथा रत्नानि दुर्लभानि अभिलषितदानक्षमाणि तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि श्रद्धानादिपरिणामनोऽकृष्टेन वर्तमान राइणिय इत्युच्यते । आत्मनो न्यूनरत्नत्रया अराइणिया अथवा 'रावि-णिग ऊमरादिणिगेषु' ज्येष्ठकनिष्ठव्रतेषु च शेष सुगम ॥१२९॥

करना निन्दा करना, उनके प्रतिकूल चलना इत्यादि पाप परिणामोंको छोड़ना । और गुरुको जो प्रिय हो और हितकर हो उसमें ही परिणाम लगाना । ये संक्षेपसे मानसिक विनय है ॥१२७॥

गा०—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, परोक्ष विनय भी वह है जो गुरुके अभावमे उनकी आज्ञा निर्देशका आचरण करनेमे की जाती है ॥१२८॥

टी०—यह प्रत्यक्ष विनय है क्योंकि गुरुके सामनेकी जाती है और गुरुके अभावमे जो उनकी आज्ञाका पालन किया जाता है वह गुरुके परोक्षमे होनेसे परोक्ष विनय है । 'आप मुमुक्षु है आपको ऐसा ही करना चाहिये और कभी भी उसके विपरीत नहीं करना चाहिये' यह आज्ञा निर्देश है । जैसे 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रमे सदा विहार करना चाहिये', इत्यादि ॥१२८॥

'न केवल गुरुकी ही विनय करना चाहिये किन्तु इनकी भी विनय करना चाहिये यह कहते है—

गा०—रत्नत्रयमें जो अपनेसे उत्कृष्ट है, रत्नत्रयमें जो अपनेसे हीन है उनमे, आर्थिकाओंमे और गृहस्थवर्गमे वह विनय जो जिस योग्य हो, प्रमाद रहित होकर करना ही चाहिये ॥१२९॥

टी०—जिस प्रकार इच्छित वस्तुको देनेमे समर्थ रत्न दुर्लभ है उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रत्न शब्दसे कहे गये हैं । अतः जो उत्कृष्ट श्रद्धान आदि परिणामो से युक्त है तथा अपनेसे न्यून रत्नत्रयसे युक्त है उनकी विनय करना चाहिये । अथवा 'रादिणिग ऊमरादिणिगेषु' ऐसा पाठ होनेपर भी अपनेसे जो व्रतोंमें ज्येष्ठ हैं और कनिष्ठ है उनकी विनय करना चाहिये । शेष गाथा सुगम है ॥१२९॥

विनयाभावे दोषमात्रष्टे—दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढता कर्तुं—

**विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा गिरत्थिया सव्वा ।**

**विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥१३०॥**

‘विणएण विप्पहूणस्स’ विनयरहितस्य यते । ‘हवदि सिक्खा गिरत्थिया सव्वा’ सर्वशिक्षा निष्फला । किं शिक्षायाः फलं इत्यारंभ्य आह—‘विणओ सिक्खाए फलं’ व्यावृणक्ति पञ्चप्रकारो विनय शिक्षायाः फल । तस्य विनयस्य किं फलं ? पुष्पार्थो हि फलमित्याशंक्याह ‘विणयफलं सव्वकल्लाणं’ सर्वमभ्युदयति श्रेयस्वरूपं कल्याणस्थानमानानैश्वर्यादिकं इन्द्रियानिन्द्रियसुखं च ॥१३०॥

**विणओ मोक्खहारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।**

**विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य ॥१३१॥**

‘विणओ मोक्खहारं’ यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तैरुपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरवशेषकर्मापायस्य प्राप्तावुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपिते पञ्चप्रकारे विनये न्यय्येवे (?) कर्मापायो भवतीति ‘विणयावो’ विनयाद् हेतो ‘संजमो’ सयमो भवति । ज्ञानादिविनयेषु अनवरतं प्रवर्तमानो ह्यसयम परिहर्तुं शक्नोति नापर । इन्द्रियकषाययोरप्रणिधानं यदि न स्यात् क्वचिन्द्रियसयम प्राणिमयमो वा भवति ? ‘तवो’ तप ज्ञाना-

**विशेषार्थ—**प० आशाघरने अपनी टीकामे ‘रादिणिगा ऊमरादिणिगेसु’ पाठ रखा है—‘रादिणिगा’ अपनेसे रत्नत्रयसे अधिक या समान साधु । ऊमरादिणिगा—अपनेसे हीन रत्नत्रय वाले, ऐसा अर्थ किया है । और लिखा है कि अन्य टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—रातिका और अवम रातिका अर्थात् जो अपनेसे तपमे एक रात आदि बड़े या छोटे है ॥

दोष प्रकट करनेसे भय उत्पन्न कराकर विनयमे दृढ करनेके लिये विनयके अभावमे दोष कहते हैं—

**गा०—**विनयसे रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल होती है । शिक्षाका फल विनय है । विनयका फल सब कल्याण है ॥१३०॥

**टी०—**विनय रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल है; क्योंकि पूर्वमे कही पाँच प्रकार की विनय शिक्षाका फल है और उस विनयका फल सर्व कल्याण है । सब लौकिक अभ्युदय और मोक्ष रूप कल्याण उसका फल है अर्थात् विनयसे मान, ऐश्वर्य आदि तथा इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख मिलता है ॥१३०॥

**गा०—**विनय मोक्षका द्वार है । विनयसे संयम, तप और ज्ञानकी प्राप्ति होती है । विनयसे आचार्य और सर्व संघ अपने वशमे किया जाता है ॥१३१॥

**टी०—**जैसे द्वार इष्ट देशकी प्राप्तिका उपाय होता है उसी तरह ममस्त कर्मोंके विनाश रूप मोक्षकी प्राप्ति का उपाय विनय है इस लिये मोक्षका द्वार कहा है । पूर्वमे कही पाँच प्रकार की विनयके होनेपर ही कर्मोंसे छुटकारा होता है । विनयसे ही संयम होता है । क्योंकि जो पाँच प्रकारकी विनयोंमें सदा लगा रहता है वही असंयमको त्यागनेमे समर्थ होता है, जो विनयोंमें प्रवृत्ति नहीं करता वह असंयमको नहीं छोड़ सकता । यदि इन्द्रियों और कषायोंकी ओरसे विमुखता न हो तो कैसे इन्द्रिय संयम या प्राणिसंयम हो सकता है । तथा ज्ञानादिकी विनयसे

दिविनयधूस्यं अनशानादिकं न कर्म तपतीति विनयहेतुकं तपसः तपस्त्वमिति मत्त्वोच्यते विनयात्तप इति । 'गण्यं' ज्ञान च विनयहेतुकं । अविनीतो हि ज्ञान न लभते । 'विणयणं' विनयेन । 'आराधिव्यति' आराध्यते स्वयमेव स्थाप्यते । 'आयरिओ' आचार्यः । 'सव्वसंघो य' सर्वेष्व सघः ॥१३१॥

आयारजीवकल्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा ।

अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पन्हादकरणं च ॥१३२॥

'आयारजीवकल्पगुणदीवणा' रत्नत्रयाचरणनिरूपणपरतया प्रथममङ्गमाचारशब्देनोच्यते । आचारशास्त्र-निर्दिष्ट क्रम आचारजीवशब्देन उच्यते । कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दण्ड स कल्पस्तस्य गुण-उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात् । अनयो प्रकाशन 'आयारजीवकल्पगुणदीवणा' । एतदुक्तं भवति—कायिको वाचिकश्च विनय प्रवर्तमान आचारशास्त्रनिर्दिष्ट क्रमं प्रकाशयति । कल्पोऽपि विनय विनाशयतो दण्डयतो विनय निरूपयति । तद्भूयादय प्रवर्त्यते इति कल्पसपाद्य उपकार प्रकटितो भवति इति केषांचिद् व्याख्यान । अन्ये तु वदन्ति । कल्पयते इति कल्प्य योग्य कल्प्या गुणा कल्प्यगुणा आचारक्रमस्य कल्प्याना च गुणाना प्रकाशन 'आयारजीवकल्पगुणदीवणाशब्देनोच्यते' श्रुताराधना चारित्राराधना च कृता भवतीत्येतदाख्यात अनेनेति ।

'अत्तसोधिणिज्झंझा' विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानदर्शनवीतरागात्मिकाया निमित्तमिति आत्मशुद्धि-रुच्यते । अथवा ज्ञानादिविनयपरिणति कर्ममलापायलभ्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मन पद्मकापायलम्या जलादि-

शून्य अनशन आदि कर्मको नष्ट नही कर सकते । इसलिये तपमे तपपनाका कारण विनय है ऐसा मानकर 'विनयसे तप होता है', कहा है । तथा ज्ञानका कारण भी विनय है । अविनीत पुरुष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । और विनयसे आचार्य तथा समस्त सघ अपने वशमे हो सकता है ॥१३१॥

गा०—आचारके क्रम तथा कल्प्य गुणोका प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्यका अभाव, आज्ञव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने और दूसरोको प्रसन्न करना, ये विनय के गुण है ॥१३२॥

टी०—रत्नत्रयके आचरणका कथन करनेमे तत्पर होनेसे पहले अगको आचाराग कहते है । और आचार शास्त्रमे कहे गये क्रमको 'आचारजीव' शब्दसे कहते है । 'कल्प्यते' अर्थात् जो अपराधके अनुरूप दण्डको कहता है वह कल्प है उसका गुण अर्थात् उपकार । इन दोनोका प्रकाश 'आयारजीवकल्पगुणदीवणा' है । इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक विनयके करनेसे आचारशास्त्रमे कहे गये क्रमका प्रकाशन होता है । कल्प भी विनयको न मानने वाले साधुको दण्डका विधान करता है अतः विनयका ही निरूपण करता है । उसके भयसे साधु विनय करता है इस प्रकार कल्पके द्वारा किया जाने वाला उपकार प्रकट होता है । ऐसा किन्ही का व्याख्यान है । अन्य टीकाकार कहते है—

'कल्प्यते इति कल्प्य' अर्थात् योग्य । कल्प्य गुणोंको कल्प्यगुण कहते है । आचारके क्रमका और कल्प्य गुणोंका प्रकाशन 'आयारजीव कल्प गुण दीवणा' शब्दका अर्थ है । इससे यह कहा है कि विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्र की आराधना होती है । तथा विनय करना आत्म शुद्धिका अर्थात् ज्ञान दर्शन और वीतराग रूप परिणतिका निमित्त है । अथवा ज्ञानादि विनय रूप परिणति कर्ममलके विनाशसे प्राप्त होती है अतः उसे आत्माकी शुद्धि कहते है । जैसे

शुद्धिरिव । वैमनस्याभावो 'णिज्जज्ञा' विमनस्को भवति विनयहीनो गुर्वादिभिरननुगृह्यमाणः ।

'अज्जव' आर्जव नाम ऋजुमार्गवृत्तिः, शास्त्रनिर्दिष्ट वा चरण ऋजु । 'मद्दव' अभिमानत्यागो मार्दवं परगुणातिशयो ध्रुवानेन, तन्माहात्म्यप्रकाशनेन च विनयेन च अभिमाननिरास कृतो भवति । लाघव विनीतो हि आचार्यादिषु न्यस्तभरो भवतीति लाघव विनयमूल । 'भस्सो' विनीतस्य हि सर्वजनों विनीतो भवति इति विनयहेतुका भक्तिः । 'पल्लहादकरणं' च प्रकृष्टं मुख प्रकृष्टं मुख प्रह्लादस्तस्य करण क्रिया प्रह्लादकरणमित्युच्यते । येषां विनय क्रियते तेषां मुख सपादित भवति इति परानुग्रहो गुण आत्मनो वा प्रह्लादकरण । कथमविनीतो हि निर्भर्त्सनादिभिरनवरत दुःखितो भवति । विनीतो हि निर्भर्त्सनाद्यभावात् सुखी भवति । बाधाभावे एव मुखव्यवहारो लोके ॥१३२॥

किञ्ची मेत्ती माणस्स भज्जणं गुरुजणे य बहुमाणो ।

तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥१३३॥

'किञ्ची' विनीतोऽप्यमित सशब्दन कीर्ति । 'मेत्ती' परेवा दुःखानुत्पत्यभिलाषो मैत्री । परस्य दुःख नैवेच्छति विनीत इति । 'माणस्स भज्जणं' मानस्य भङ्ग ।

ननु मार्दवंशब्देनाभिहित एव मानभङ्ग पूर्वसूत्रे तत पीनरुच्य इति । उच्यते 'माणस्स भज्जणं' 'परस्स' इति शेषः एकस्य विनयदर्शनात् परोऽपि स्व मान जहाति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ।

कीचढके दूर होनेसे जलादिकी शुद्धि होती है । 'णिज्जज्ञा' का अर्थ वैमनस्यका अभाव है । जो विमनस्क होता है अर्थात् जिसका मन स्थिर नहीं होता वह विनय हीन होता है । गुरु उसपर अनुग्रह नहीं करते । ऋजु मार्ग पर चलनेको आर्जव कहते हैं और शास्त्रमें कहे गये आचरणको ऋजु कहते हैं । मार्दवका अर्थ अभिमानका त्याग है । दूसरेके गुणानिश्चयमें ध्रुवा करनेसे और उनके माहात्म्यको प्रकट करनेसे तथा विनय करनेसे अभिमानका निरास स्वयं हो जाता है । जो विनीत साधु होता है वह अपना भार आचार्यपर सौंपकर लघु हो जाता है अर्थात् आचार्य स्वयं उसकी चिन्ता करते हैं अतः लाघव का मूल विनय है । जो विनीत होता है ममो मनुष्य उसकी विनय करते हैं अतः विनय भक्तिका कारण है । प्रकृष्ट मुखको प्रह्लाद कहते हैं उसका करना प्रह्लादकरण है । जिनको विनय की जाती है उनको मुख होता है इस प्रकार दूसरोको प्रसन्न करना विनयका गुण है । अपनेको प्रसन्न करना भी विनयका गुण है क्योंकि जो अविनयी होता है सब उसका तिरस्कार आदि करते हैं अतः वह निरन्तर दुःखी रहता है । और जो विनयी होता है उसका कोई तिरस्कार आदि नहीं करता, अतः वह सुखी रहता है क्योंकि लोकमें बाधाके अभावको ही सुख कहा जाता है ॥१३२॥

गा०—कीर्ति, मित्रता, मानका विनाश, गुरुजनोका बहुमान, और तीर्थङ्करोकी आज्ञाका पालन और गुणोकी अनुमोदना ये विनयमें गुण हैं, ॥१३३॥

टी०—यह विनयी है ऐसा कहना कीर्ति है । विनयीकी कीर्ति होती है । दूसरोको दुःख न होनेकी भावना मैत्री है । जो विनीत होता है वह दूसरोको दुःख नहीं चाहता । और मानका भंग होता है ।

शङ्का—पूर्व गाथामें मार्दवं शब्दसे मानभंगको कहा ही है । पुनः कहनेसे पुनरुक्तता दोष आता है ?

नूनमभिमानत्यागो गुणो अन्यथा किमित्ययं विनयं करोतीति । गुरुवो हि बहुमान्या कृता भवन्ति विनये-  
नेत्याह—'गुरुजने य बहुमान्यो' इति ।

'तिस्वथरणं आणा सपाविद्या होविति' शेष । विनयमूपदिशता तीर्थकृता आज्ञा सपादिता भवति,  
अनुष्ठितेन विनयेन । 'गुणानुभोबोय' गुणियु विनय प्रवर्तयता तदीयगुणानुमनन कृत भवति इति । केचिद् गुणेषु  
श्रद्धानाविपु हर्षं कृतो भवतीत्येव वदन्ति । एते विनयगुणाः । गुणशब्द उपकारवचनोऽत्र विनयजन्यत्वाद्दिन-  
यस्य गुणा इत्युच्यन्ते ॥१३३॥

विनयव्याख्यानानन्तर. समाधिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्ध ! योग्यस्य, गृहीतलिङ्गस्य, ज्ञानभावनीचतस्य,  
ज्ञाननिरूपते विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मानस' सम्यगा'। धन न्याय्यमित्यधिकारसम्बन्धोऽनुगतस्य । चेतः समा-  
हित' कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति चोद्यद्वयप्रतिविधानार्था' गाथा ।

चित्तं समाहितं जस्स होज्ज वज्जिदविसोत्थियं वसियं ।

सो वहदि णिगदिचारं सामण्णधुरं अपरिसंतो ॥१३४॥

'चित्तं समाहितं जस्स' जस्स चित्तं वज्जिदविसोत्थियं वसियं समाहितं' इति पदघटना । यय चेतः  
परित्यक्तानुभपरिणतिप्रसरं वशवति च यत्र नियुङ्क्ते तत्रैव तिष्ठति, तच्चित्तं समाहितमिति ग्राह्यम् । 'अत्रैव

समाधान—यहाँ परके मानभगको कहा है । एक की विनय देखकर दूसरा भी अपना मान  
छोड़ देता है, क्योंकि लोग प्रायः गतानुगतिक होते हैं । दूसरोंको जैसा करता देखते हैं न्वय भी  
वैसा करते हैं । वे सोचते हैं—निश्चय ही अभिमानका त्याग गुण है, अन्यथा यह विनय क्यों  
करता । विनयसे गुरुवोका बहुत मान होता है क्योंकि विनयी शिष्य अपने गुरुजनोका बहुत  
सम्मान करता है ।

तथा तीर्थङ्करोकी आज्ञाका पालन होता है । अर्थात् विनयका उपदेश देने वाले तीर्थंकरों  
की आज्ञाका पालन विनय करने से होता है । तथा गुणीजनो की विनय करनेसे उनके गुणोंकी  
अनुमोदना होती है । कोई कहते हैं कि श्रद्धानादि गुणोंमें हर्षं प्रकट होता है । ये विनयके गुण हैं ।  
यहाँ गुणशब्द उपकारवाची है । विनयसे पैदा होनेके कारण इन्हे विनयके गुण कहते हैं ॥१३३॥

विनयका कथन करनेके पश्चात् समाधिका कथन करते हैं । जो योग्य हो, जिसने साधु  
लिंग स्वीकार किया हो, ज्ञान भावनामें तत्पर हो, शास्त्र निरूपित विनयका पालन करता हो  
और जिसका मन रत्नत्रय में हो, उसको सम्यक् आराधना करना योग्य है, इस प्रकार अधिकार  
का सम्बन्ध लगाना चाहिये । अब समाहित चित्त कैसा होता है और उसका क्या फल है ? इन  
दो प्रश्नों का उत्तर गाथा द्वारा देते हैं—

गा०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोंके प्रवाहसे रहित और वशवर्ती होता है वह चित्त  
समाहित होता है । वह समाहित चित्त विना धके णिरतिचार चारित्रके भारको धारण करता  
है ॥१३४॥

टी०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोंके प्रवाहको छोड़ देता है और जहाँ उसे लगाया  
जाय वही ठहरा रहता है वह चित्त समाहित जानना । यहाँ यह विचार करते हैं कि यह चित्त

विचार्यते । किमिदं चित्तं नाम ? मन इति चेद् द्रव्यमनो भावमनश्चेति तदिदप्रकार, कस्येह ग्रहण ? न तावत् द्रव्यमन पुद्गलत्वादसंभविनी कर्मदाननिमित्ततया परिणतिरिति । 'वज्जिदवित्तोत्तिगमिति' विशेषणमसंभोति । न च तद्वशवत्फलमनः । तेन भावमनो गृह्यते । नोइन्द्रियमति सा रागादिसहभाविनी तद्रहिता चास्तीति युज्यते 'वज्जिदवित्तोत्तिग' इति विशेषण वसिगमिति च तस्या घटते । नोइन्द्रियमतिज्ञानावरण-क्षयोपशमवत् आत्मनो वशेन नोइन्द्रियमतिवर्तते । तथा हि रागकोपभयदुःखादयो नटादीना वशेन परिणामा वर्तते तत्कार्यपुलकादिवर्तनानुमीयमाना । तद्वदेव नोइन्द्रियमतिरपि आत्मेच्छया स्वचिदेवावरुद्धानुभूयते इति । 'सो' स. 'समाह्वित्तो' वहति वह्नि धारयति । तथा च प्रयोग—विणय वहति धारयति इति गम्यते । 'निरतिचारं' निरतिचार निर्दोष । कि ? सामण्यधुरं रागकोपानुपप्लुतचित्त समण इत्युच्यते । तथा च नैरुक्तका वदन्ति 'सममणो' समणो इति । समणस्स भावो सामण्य । तच्च कि ? समानता चारित्रं । तस्य भार कीदृश निरतिचार निर्मल । 'अपरिसंतो' अश्रान्तश्चारित्रभारोद्ग्रहण फल समाहितचित्तमेत्याख्यात भवति । अनिमृत्तमनस्ताया दोषाभ्यान्वयाजेन निभूत मन कार्यमिति द्रव्यत्युत्तरगाथया । कश्चित्कविदुज्जयिनीस्थ दक्षिणापयाभिमुखमाह अल्पधाप्य क्षुद्रजनबहुलो द्रमिलदेश इति । स एवमुक्त प्रत्येत अथ जनपद सुभिष' सुजनाधिवासः इति ॥१३४॥

चालिगय व उदयं सामण्य गलह् अणिहुदमणस्स ।

कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१३५॥

क्या है ? यदि चित्तसे मतलब मनसे है तो उसके दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन । यहाँ किसका ग्रहण किया है ? द्रव्यमनका ग्रहण तो संभव नहीं है क्योंकि पीद्गालिक होनेसे कर्मके ग्रहणमें निमित्त रूपसे उसको परिणति संभव नहीं है । तथा 'वज्जिदवित्तोत्तिग' यह विशेषण भी संभव नहीं है । तथा द्रव्यमन आत्माके वशवर्ती भी नहीं है । अतः चित्तसे भावमनका ग्रहण होता है । वह भावमन नोइन्द्रियमति है और नोइन्द्रियमति रागादि सहित और रगादि रहित होती है । उसमें 'वज्जिदवित्तोत्तिग और 'वसिग' दोनों विशेषण घटित होते हैं । नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम वाले आत्माके नोइन्द्रियमति होती है अतः वह उसके वशवर्ती है । जैसे राग, कोप, भय और दुःख आदि परिणाम नट आदिके अधीन होते हैं वयोंकि उनका कार्य देखकर दर्शकोको रागादि होने हैं । इससे अनुमान किया जाता है कि रगादि परिणाम नट वगैरहके वशवर्ती हैं । उसी तरह नोइन्द्रिय मति भी आत्माकी इच्छासे किसी एक विषयमें रुकी हुई अनुभवमें आनी है । अर्थात् आत्माकी इच्छानुसार भावमन किसी भी विषयमें लीन हो जाता है । वह समाहित चित्त निर्दोष 'सामण्यधुरा' को धारण करता है । जिसका चित्त राग द्वेषसे अबाधित होता है उसे समण कहते हैं । निरुक्तकार कहते हैं 'सममणो समणो' समता युक्त मन जिसका है वह समण है और समणके भावको सामण्य कहते हैं । वह समानता चारित्र है । उसके निरतिचार अर्थात् निर्मल भारको वह अश्रान्त होकर धारण करता है । इससे यह बतलाया है कि समाहित चित्तका फल चारित्रके भारको धारण करना है । जैसे किसी उज्जयिनीके निवासीको जो दक्षिणापयकी ओर जाता था किसी ने कहा कि द्रमिल देशमें अन्नकी कमी है और क्षुद्र जनोसे भरा है । उसके ऐसा कहने पर वह जान लेता है कि यह देश सुभिषाली और सुजनोसे भरा है । उसी तरह चित्तकी चंचलतामें दोष कहनेके बहानेसे ग्रन्थकार उत्तर गाथासे यह दृढ़ करते हैं कि मनको निश्चल करना चाहिये ॥१३४॥

'चालणियं व उदयं' उदकमिव चालनीयं । 'सामर्थ्यं' सामान्यं समानभावो । 'गलद्' गलति । कस्त 'अणिदुबभगस्स' अनिभूत वेतो यन्य । 'कायेण य चायाए' कायेन च वचसा च । 'जडि वि चरवि' यद्यपि चरति प्रवर्तते भिक्षुः । 'अधुसं' यथाशास्त्रेणोक्त । तथा वाक्कायाम्यामाचरतोऽपि मनोनिभूतताभावे श्रामण्यं नश्यतीत्यर्थः । तस्माच्चेत'समाधानं कार्यमित्युपसहार ॥१३५॥

मनसो दुष्टता प्रपञ्चेनोपदिश्य तदेवभूत मनो यो निगृह्णाति तस्य श्रामण्य भवति समानभावो नेतर-  
स्येत्येतदुत्तरप्रबन्धेनोच्यते तद्दौरात्म्यप्रकाशानार्थं गाथापञ्चकम्—

वाहुभामो व मणो परिघाव्ह अटिठदं तह समंता ।

सिग्घं च जाइ दूरं पि मणो परमाणुदव्वं वा ॥१३६॥

'बाहुभामो' इत्यादिक । 'वाहुभामो व' वात्येव । 'मणो' मन । 'परिघाव्ह' घावति परिचरन्थक प्रलंबित इति यथा । 'अटिठदं' इति क्रियाविशेषण अस्थित घावति । क्वचिद्विषयेऽनवस्थितिराख्याता मनसः । 'तह समंता' तथा समतात् । 'दूरं' पि दूरमपि । सिग्घं च जाइ' शीघ्रं याति । 'मणो' मन । 'परमाणुदव्वं वा' परम प्रकृष्टो अणु सूक्ष्म परमाणु स एव द्रव्य गुणपरिग्रहनात् तदिव । एतेन झटिति दूरस्थितविषयग्रहण तस्य दौरात्म्यमावेदितं ॥१३६॥

अंधलयबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ ।

दुक्खो य पडिणियोदुं जो गिरिसरिदसोदं वा ॥१३७॥

गा०—जिसका चित्त चंचल है उसका समान भाव चालनीमे रखे पानीकी तरह गल जाता है । यद्यपि वह भिक्षु कामसे और वचनसे शास्त्रमे कहे अनुसार आचरण करता है ॥१३५॥

टी०—इसका सार यह है कि वचन और शरीरसे शास्त्रानुसार आचरण करने वाले भी साधुका मन यदि निश्चल नहीं है तो उसका श्रामण्य नष्ट हो जाता है । अतः चित्तको स्थिर करना चाहिये । यह उपसहार है ॥१३५॥

मनकी दुष्टताका विस्तारसे कथन करके, इस प्रकारके मनको जो वशमे करता है उसके समान भावरूप श्रामण्य होता है, अन्यके नहीं होता, यह आगे कहते हैं । प्रथम ही पाँच गाथाओं से मनकी दुष्टता प्रकट करते हैं—

गा०—बड़े जोरसे चलने वाली हवाकी तरह मन उसीकी तरह चहुँ ओर अस्थिर रूपसे दौडता है । और परमाणु द्रव्यकी तरह मन दूरवर्ती भी वरतुके पास शीघ्र जाता है ॥१३६॥

टी०—प्रचण्डवायुकी तरह मनके अस्थिर गमनसे यह बतलाया है कि मन किसी भी विषयमे स्थिर नहीं रहता । तथा दूरवर्ती वस्तुके पास परमाणु द्रव्यकी तरह शीघ्र जाता है । परम अर्थात् प्रकृष्ट, अणु अर्थात् सूक्ष्म जो है वह परमाणु है । वह परमाणु द्रव्य है क्योंकि गुण पर्यायो वाला है । इससे मनकी दुष्टता बतलाई है कि वह दूर स्थित विषयको झट ग्रहण कर लेता है ( जैसे परमाणु एक समयमे चौदह राजु गमन करता है ) ॥१३६॥

गा०—मन अन्धे बहरे और गुँगेके समान है शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । और पहाडी नदीके प्रवाहकी तरह लौटाना अशक्य है ॥१३७॥

'अंघ्रलयबहिरभ्रुवो ष्व मणो हृवद्' इति शेष । अंघ्रयद्विचरवन्मूकवच्च भवति मन । कदाचित्क-  
पचित्कपिद्विषये सक्तं मनः । सन्निहितमपि विषय न पश्यति, न शृणोति, न श्रवीति, इति । ननु चक्षुरादेः  
कर्तृता दर्शनादौ न मनसस्तत्सर्वादपि न किञ्चित्पश्यति, न शृणोति वक्ति वा ? उच्यते—मनस करणस्य  
कर्तृता परशुश्च्छिनतीति यथा । एतदुक्तं भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवचनादिके, स्वपरहिते  
वाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्मनसो दुष्टतेति । यथा भृत्यो दुष्ट इत्युच्यते स्वामिना नियुक्तं कर्मण्यप्रवर्तमान ।  
एव मनोऽप्यात्मना नियुक्तेऽप्यापुतेर्दुष्टमिति भावः । 'लघुमेव विष्णुणासेवि य' आशु विनश्यति च । अनित्य-  
तादोषस्तु वस्तुयाथात्म्यग्राहिणो मनसः नो इन्द्रियमते । 'दुष्णो य' दुःख अशक्य । 'पद्मिनिपत्तेः' जं' प्रति-  
निवर्तयितुं वस्तुभ्यभूतरूपग्रहणे भूतरूपनिरासे च प्रवृत्त ताभ्या निवर्तयितुं न शक्य रागादिसहचारित्वात्  
प्रतिनिवर्तयितु । किमिव 'गिरिसरिवसोऽंघ्र' गिरिनदीप्रवाह इव ॥१३७॥

ततो दुक्से पंथे पाडेदु दुड्डओ जहा अस्सो ।

बौलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धणिदं ॥१३८॥

'ततो' तस्मात्प्रतिनिवर्तनान । 'दुष्णो' दुष्करे 'पथे' मार्गे । 'पाडेदु' पातयितु । किमिव । 'दुड्डओ जहा  
अस्सो' दुष्टोर्जनव्यालो यथैवाश्व । एतेन दुष्करमार्गावपातित्वदोष प्रकटित । 'बौलणमच्छोव्व' मसृणतरदेह-  
मत्स्य इव । 'धिग्घेत्तुं दुक्करो णिग्घेत्तुं' नितरा दुष्कर ग्रहीतु मन । एतेन दुरवग्रहता ख्याता ॥१३८॥

टी०—मन अंधे, बहरे और गूगे मनुष्यको तरह है क्योंकि कभी-कभी किसी विषयमे  
आसक्त मन निकटवर्ती भी विषयको नहीं देखता, नहीं सुनता, और नहीं बोलता ।

शब्दा—देखने आदिका काम तो चक्षु आदि इन्द्रियोका है, मनका नहीं । मन तो सदा ही  
न कुछ देखता है, न सुनता है, न बोलता है ।

समाधान—मन करण है फिर भी उसे कर्ता कहा है । जैसे परशु लकड़ी काटनेमे करण  
है फिर भी उसे कर्ता कहा जाता है परशु काटता है । इसका आशय यह है कि देखने योग्य  
जीवादमे, सुनने योग्य जिन वचन आदिमे और स्वपरका कल्याण करने वाले वचनोमे मनका  
प्रवृत्त न होना उसकी दुष्टता है । जैसे जो सेवक स्वामीके द्वारा कहे गये कार्यमे प्रवृत्त नहीं  
होता उसे दुष्ट कहा जाता है । उसी तरह मन भी आत्माके द्वारा नियुक्त कार्यमे प्रवृत्त न होनेसे  
दुष्ट कहा जाता है । तथा शीघ्र नष्ट हो जाता है । इससे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने  
वाले मनकी अनित्यताका दोष बतलाया है । तथा वस्तुके अविद्यमान स्वरूपको ग्रहण करनेमे  
और विद्यमान स्वरूपका निरास करनेमे प्रवृत्त हुए मनको उसमे हटाना वैसे ही अशक्य है जैसे  
पहाड़ी नदीके प्रवाहको लौटाना अशक्य होता है; क्योंकि मन रागादिभावमे आसक्त होता  
है ॥१३७॥

गा०—अयोग्य विषयसे हटानेसे मन दुष्कर मार्गमे गिराता है । जैसे दुष्ट घोडा गिरता  
है । अति चिकने मच्छकी तरह पकडने मे अत्यन्त दुष्कर है ॥१३८॥

टी०—जैसे कुमार्गपर चलते हुए दुष्ट घोडेको रोकनेसे वह मार्गमे गिरा देता है वैसे ही  
मन भी खोटे मार्गमे गिराता है । इससे दुष्कर मार्गमे गिरानेका दोष प्रकट किया । तथा जैसे



जस्य य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति ।

भीमासुहृगदिवहुलं दुःखसहस्साणि पावता ॥१३९॥

'जस्य य' यस्य च । 'कदेण' करोति क्रियासामान्यवाची इह चेष्टावृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः य-य मनसश्चेष्टितेन जीवा संसार पञ्चविध परावर्तं परिभ्रमन्ति । 'अणंतयं' अनन्तप्रमाणावच्छिन्न । 'भीमासुहृगदिवहुलं' भयावहाशुभनरकादिवगतिप्रचुर । 'दुःखसहस्साणि' शारीरागन्तुकमानस्यभावाविकाख्यानि प्रत्येकपनेक-विकल्पानि । 'पावता' प्राप्नुवन्तो जीवा । एतेन चतुर्गतिपरावर्तमूलतादोषः प्रकटितः ॥१३९॥

जम्हि य वारिदमेत्ते सव्वे ससारकारया दोसा ।

णासति रागदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स ॥१४०॥

'जम्हि' यस्मिन्च मनसि । 'वारिदमेत्ते' वारित एव मात्रग्रहण वारणादन्य निराकर्तुमुपात्त । मनो निवारणादेव 'रागदोसादिया' रागद्वेयादयः । 'णासति खु' नश्यन्त्येव । 'सज्जो' सद्यः तदानीमेव । 'संसार-कारया' परावर्तपञ्चकस्य सपादनीयता ॥१४०॥

इय दुट्ठय मणं जो वारेदि पडिडुवेदि य अकंप ।

सुहसकप्पयार च कुणदि मज्झायसण्णिहिद ॥१४१॥

चिकने शरीर वाली मछलोको पकडना कठिन है वसे ही मनको रोकना बहुत कठिन है । इससे 'दुरवग्रहता' नामक दोष कहा ॥१३८॥

गा०—जिस मनकी चेष्टासे जीव हजारों दुःख भोगते हुए भयकर अशुभ गतियोंसे भरे हुए अनन्त संसारमे भ्रमण करते है ॥१३९॥

टी०—गाथामे आया 'कदेण' शब्द करने रूप क्रियासामान्यका वाची है किन्तु यहाँ उसका अर्थ चेष्टा लिया है । अतः ऐसा अर्थ होता है कि जिस मनकी चेष्टासे जीव पाँच परावर्तन रूप संसारमे भ्रमण करने है, वह समार अनन्त प्रमाण वाला है और उसमे भयानक नरक आदि अशुभ गतियोंका वाहुल्य है । तथा वे जीव शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक स्वाभाविक आदि अनेक प्रकारके दुःखोको पाते हैं । इसमें 'चतुर्गतिमे भ्रमणका मूल' दोष प्रकट किया ॥१३९॥

गा०—जिस मनके निवारण करने मात्रसे मनुष्यके सब संसारके कारक राग द्वेष आदि दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते है ॥१४०॥

टी०—'वारिदमेत्ते' मे 'मात्र' पदका ग्रहण निवारणसे अन्यका निराकरण करनेके लिये किया है । अर्थात् अन्य कुछ न करके मात्र मनको रोकना जाये तो पाँच परावर्तन रूप संसारके कारण सब दोष तत्काल नष्ट हो जाते है ॥१४०॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो दुष्ट मनको रागादिके निवारण करता है, और निश्चलरूपसे श्रद्धानरूप परिणामादिमे स्थापित करता है । तथा शुभसकलोमे मनको प्रवृत्त करता है और स्वाध्यायमें मनको लगाता है उसके सामण्य-समताभाव होता है ॥१४१॥

'इयं' एव व्यावर्णितरूपेण । 'दुष्टक' दुष्टक दुष्ट । 'मर्णं' मनो । 'जो वारेवि' यो निवारयति रागादिभ्यः । 'परिदृढवेदि च' प्रतिष्ठापयति च श्रद्धानपरिणामादौ । 'अर्कं' निश्चल । क्रियाविशेषण-मेतत् । तस्स सामण्यं होवि वक्ष्यमाणेन सबन्ध । 'सुभसकल्पधारं जो कुणवि तस्स सामण्यं होविति' सबन्धीय । शुभ सकल्प. तस्मिन्प्रकृष्टेश्वारो गमन प्रवृत्तिर्यस्य मनसस्तच्छुभसकल्पप्रचार मनो य करोति । 'सन्ध्या-सण्णित्ति' च जो कुणवि तस्स सामण्य इति सबन्धते । सम्यग्ध्ययन स्वाध्याय द्रुतविलंबितादिदोषरहितस्व अर्थव्यञ्जनशुद्धिश्च सम्यक्त्व । स पुन पञ्चप्रकार वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशमेवेन ।

प्रश्नस्य कथं स्वाध्यायता ? प्रश्नो हि ग्रन्थेऽर्थे वा सशयच्छेदाय इत्यमेवेतदिति निश्चितार्थबला-धानाय वा प्रच्छन । न हि य पृच्छति ग्रन्थमर्थं वा सोऽधीते ? अध्ययनप्रवृत्त्यर्थत्वात् प्रश्नेऽध्ययनव्य-पदेश इन्द्रप्रतिमार्थे दारुणि इन्द्रव्यपदेश इव । अथवा किमिदमेव पठितव्यमिति अधीत एव ग्रन्थे सदिहान । अर्थसंदेहेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वाग्यमर्थ इति । यद्वाप्यते एव निश्चितत्वलाधानार्थे प्रश्ने योज्यम् ।

अनुप्रेक्षा कथं स्वाध्याय ? अधिगतार्थस्य मनसाम्भासोऽनुप्रेक्षा अन्तर्जल्परूपमध्ययनमस्त्येव तत्रापीति मन्यते ।

घोषपरिशुद्ध श्रुत परावर्त्यमान आम्नाय स्वाध्यायो भवत्येव ।

आश्लेषणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनी चेति कथाश्चतस्रस्तासामुपदेशो धर्मोपदेश स च स्वाध्याय । एतस्मिन्स्वाध्याये मय्यक् निहित निक्षिप्त मनो य करोति इत्यर्थः ।

टी०—जो ऊपर कहे अनुसार रागादिसे दुष्ट मनको हटाता है और श्रद्धानादिसे निश्चल-रूपसे मनको स्थापित करता है उसके सामण्य होता है इस प्रकार आगेके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । शुभ संकल्पमें प्रकृष्ट चार प्रचार अर्थात् प्रवृत्ति जिनके मनकी है अर्थात् जो मनको शुभ सकल्पमें लगाता है उसके सामण्य होता है । सम्यक् अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं । जल्दी पढना या देरसे धीरे-धीरे पढना इत्यादि दोषांसे रहित होना तथा अर्थशुद्धि और वचनशुद्धिका होना सम्यकपना है । उस स्वाध्यायके पाँच भेद हैं—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश । प्रश्न कैसे स्वाध्याय है यह बतलाते हैं—ग्रन्थ अथवा अर्थके सम्बन्धमें सशयको दूर करनेके लिए अथवा निश्चित अर्थको पृष्ट करनेके लिए पूछना प्रश्न है । जो ग्रन्थ या अर्थको पूछता है वह अध्ययन नहीं करता, किन्तु ऐसा करना अध्ययनकी प्रवृत्तिके लिए होता है इससे प्रश्नको अध्ययन कहा है । जैसे इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए लाये गये काष्ठको इन्द्र कहा जाता है । अथवा 'क्या इस इस प्रकार पढना चाहिए' इस तरह पढे हुए ही ग्रन्थमें सन्देह करना, तथा अर्थमें सन्देह होनेपर भी 'क्या इस पद अथवा वाक्यका यह अर्थ है' इस प्रकार पूछना स्वाध्याय-का कारण होनेसे स्वाध्याय है । इसी प्रकार निश्चित अर्थको दृढ करनेके लिए भी प्रश्नकी योजना करनी चाहिए । अनुप्रेक्षा कैसे स्वाध्याय है ? जाने हुए अर्थका मनसे अभ्यास करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं । इसमें भी अन्तर्जल्परूप अर्थात् मन ही मनमें अध्ययन होता ही है । शुद्ध उच्चारण-पूर्वक श्रुतका पाठ करना आम्नाय है । यह तो स्वाध्याय है ही । आश्लेषणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी इस प्रकार चार कथाएँ हैं । उनका उपदेश धर्मोपदेश है । यह भी स्वाध्याय है । इस स्वाध्यायमें जो मनको सम्यक् रूपसे लगाता है उसके सामण्य होता है ।

अनैवं पदघटना अध्याहृतं कृत्वा 'इयं दुष्टकं मनो लो वारेवि अकंयं पडिदठवेवि य जो मणं शुभस-  
कल्पपयारेव कुणवि सज्जायसण्णिहिवं काऊण इति' । एव दुष्ट मन स वारयति निश्चल प्रतिष्ठापयति वा ।  
यो मन. शुभसकल्पप्रचारमेव करोति । स्वाध्याये सन्निहित कृत्विति सूत्रार्थ । तस्येत्वंभूतस्य श्रामण्य समा-  
नता वा भवति ॥१४१॥

**जो विय विणिप्पडंतं मणं णियचेदि सह विचारेण ।**

**णिग्गहदी य मणं जो करेदि अदिलज्जियं च मणं ॥१४२॥**

'जो वि य' यश्चापि । 'विणिप्पडंतं' वि शब्दो नानार्थं, निरु इत्युपसर्गो बहिर्भावे, पहिगंमनार्थं ।  
ततोऽयमर्थोऽस्य पदस्य विचित्र बहिर्निर्गच्छन्निवर्तयेदिति । ननु च सत्यम्यतरे कस्मिंश्चित्तदपेक्षो भवति  
बहिर्भावस्ततः किम् ? अभ्यन्तरमिह गृहीतं रत्नत्रय । कथमस्याभ्यन्तरता ? आत्मनो निजस्वरूपमिति ।  
रागकोपादयस्तु चारित्रमोहोदयजा भावा परिणामा बाह्या मिथ्यात्वासयमकषायविभेदेन विचित्रास्तदभिमुख-  
तया प्रवृत्तं । 'णियत्तंवि सह विचारेण जो' इति शेष

कोऽसौ विचार ? उच्यते—इदं तत्त्वाश्रद्धानं, इयं च हिंसादिपरिणतिरयं वा क्रोधादिको भावो मया  
परिणामिकारणभूतेन निर्वर्त्यमानो जातिज रामरणपरिणामरूपानन्तसंसारकारणानां कर्मणा मूलोत्तरप्रकृतिभेदेन  
संख्यात विरूपानां, स्थिति विशेषमात्मप्रवेशोपवस्थानरूपं, तीव्रमध्यममन्दरूपाश्रद्धानासयमकषायपरि-

इस प्रकार जो दुष्ट मनका निवारण करता है और उसे श्रद्धानादिमे स्थिर करता है तथा  
जो मनको शुभसकल्लोमे ही लगाता है और स्वाध्यायमे प्रवृत्त रहता है उसके श्रामण्य अथवा  
समता होती है ॥१४१॥

गा०—जो भी रत्नत्रयसे च्युत होकर विचित्र रागादिमे जानेवाले मनको विचारोके साथ  
हटाता है, और जो मनको निन्दा गृह्णिके द्वारा निगृहीत करता है—उसकी निन्दा करता है, और  
मनको अति लज्जित करता है उसके सामण्य होता है ॥१४२॥

टी०—'विणिप्पडंतं' मे 'वि' शब्दका अर्थ अनेक है, 'निर' यह उपसर्ग बहिर्भाविके अर्थ-  
मे है और 'पडि' का अर्थ गमन है । अतः इस पदका अर्थ है अनेक बाह्य विषयोमे जानेवाले  
मनको रोके ।

शङ्का—किसी अभ्यन्तरके होनेपर उसकी अपेक्षा बहिर्भाव होता है यहाँ वह अभ्यन्तर  
कौन है ?

समाधान—रत्नत्रय है और वह आत्माका निजस्वरूप होनेसे अभ्यन्तर है । राग-कोप  
आदि तो चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले भाव है, वे बाह्य हैं । तथा मिथ्यात्व, असयम और कषाय  
आदिके भेदसे नाना है । उनके अभिमुखरूपसे प्रवृत्तिको जो विचारोमे गोकता है ।

शंका—वह विचार कौन है ?

समाधान—यह जो तत्त्वका अश्रद्धान है, अथवा हिंसादिरूप परिणति है, अथवा क्रोधादि  
भाव है, इन रूप मे परिणमन करता हैं तो ये हिंसादिरूप परिणाम जन्म जरा मरण परिणामरूप  
अनन्त संसारके कारण जो कर्म है, जो मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे संख्यात भेदवाले हैं,

१ संख्यातासंख्यात—आ० मु० ।

णामनिर्बर्तनसामर्थ्यमनुभवस्य च निर्वर्तयति । तानि चात्मप्रदेशस्थान्यनन्तप्रदेशपुद्गलस्कन्धद्रव्याणि सन्निहित-  
द्रव्यक्षेत्रकालभ्रमभावसहायापेक्षया पुनरपि मिथ्यात्वादिपरिणाममापादयन्ति । न हि सन्निहिताविकलकारण-  
समूहस्य कार्यस्य अनुत्पत्तिर्नाम सम्भाव्यते । तेन चाश्रद्धानादिपरिणामेन तथैव कर्मणामादान, आत्तानां स्थितिः,  
सामर्थ्यातिशय इत्यादिका परपरता तयानन्तकालपरिभ्रमणमिति महानयमनर्थो मम भविष्यतीति, एवभूतेन  
विचारेण मनो निर्वर्तयति यन्तस्य श्रामण्यमिति सबन्ध । 'णिग्माहृदि य मण जो' यो मनो निगृह्णाति 'हा बुद्धं  
चित्तितमिदमिति' निन्दागर्ह्यया तस्य श्रामण्यमिति सबन्ध । 'करोदि अविलज्जियं च मणं', करोत्यतीव लज्जा-  
परं यो मन । कथं ससारमहितं तत्कारणभूतान्परिणामान्मुक्तिं तदुपायाञ्च भावानधिगच्छत श्रद्धानस्य तत्परि-  
णामव्यपोहनार्थमेव गृहीतनिर्ग्रन्थालिगस्य चिन्तेयमयुक्तेति, निरूपयति, अतिद्रीडा मनसो जनयति ॥१४२॥

**दासं व मणं अवसं सवसं जो कुणदि तस्स सामण्णं ।**

**होदि समाहिदमविमोत्तियं च जिणसासणाणुगदं ॥१४३॥**

'अवसं दासं व मणं सवसं जो कुणदि' इति पदमबन्ध । दासं व चेत्पुत्र अवशवतिन यथा कश्चि-  
द्वलात्स्ववशं करोत्येवमधीतजिनवचन आत्मनो मनो निरवग्रहतया प्रवृत्तं अशुभपरिणामप्रसेरं यदि नाम तथापि  
बलात्तन्निर्भर्तस्यभिमतशुभभावपरपरानुकूलतया यं स्थापयति जैनमतामृताम्बावकारित्त्यामर्थ्यातिशयस्तस्य

उनके स्थितिवन्ध और अनुभाग बन्धके कारण होते हैं । आत्माके प्रदेशोमें कर्मोंके अवस्थानका  
नाम स्थितिवन्ध है और तीव्र मध्यम मन्दरूप अश्रद्धान, असयम और कषायरूप परिणामोको  
उत्पन्न करनेको शक्तिको अनुभाग बन्ध कहते हैं । आत्माके प्रदेशोके साथ बन्धको प्राप्त हुए वे  
अनन्तप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध सम्बद्ध द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भावको सहायता पाकर पुनः मिथ्या-  
त्वादिरूप परिणामो को उत्पत्तिमें सहायक होते हैं । क्योंकि जिस कार्यके समस्त कारण पूर्णरूपसे  
विद्यमान होते हैं वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है । उस उत्पन्न हुए अश्रद्धानादिरूप परिणामसे  
पुनः उसी प्रकारसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है । उनमें स्थिति और अनुभाग शक्ति पडती है ।  
इस प्रकार यह परम्परा चलती है । उस परम्परामें अनन्तकाल तक ससारमें भ्रमण करना पडता  
है । इस प्रकार अश्रद्धान आदिरूप परिणाम करनेसे मेरा महान् अहित होगा । इस प्रकारके  
विचारसे जिसका मन अश्रद्धान आदिसे हटता है उसके श्रामण्य होता है । तथा जो मैंने बुरा  
किया, बुरा विचारा इत्यादि निन्दा और गृहसि मनका निग्रह करता है उसके श्रामण्य होता है ।  
तथा जो मनको अत्यन्त लज्जित करता है—हे आत्मन् ! ससार अहित है, उसके कारणभूत  
परिणामोको, शक्तिको और मुक्तिके उपायरूप भावोंको तू जानता है उनकी श्रद्धा करता है ।  
ससारके उन कारणोंको दूर करनेके लिए ही तूने निर्ग्रन्थालिग धारण किया है, तुझे ऐसी चिन्ता  
नहीं करनी चाहिए इस प्रकार मनको लज्जित करता है उसके श्रामण्य होता है ॥१४२॥

गा०—वशमें रहनेवाले दासकी तरह वशमें न रहनेवाले मनको जा अपने वशमें करता  
है, उसके एकमात्र शुद्ध चिद्रूपका अवलम्बन करनेवाला पाप परिणामोसे निवृत्त और जिन शासन-  
का अनुगामी श्रामण्य होता है ॥१४३॥

टी०—वशमें न आनेवाले दासीपुत्रको जैसे कोई बलपूर्वक अपने वशमें करता है, वैसे  
ही जो जिनागमका अभ्यासी अशुभपरिणामोंके प्रवाहमें वे रोक प्रवृत्त हुए अपने मनको बलपूर्वक  
उसकी डाँट फटकार करके इष्ट शुभ भावोंकी परम्पराके अनुकूल बनाता है, उसमें यह विशेष

'सामर्थ्य' समानता 'होबि' भवति । 'समाहिबं' एकमुख । 'अक्सोत्तिगं' दूरापसुतविश्वरूपाशुभपरिणामप्रवाहं । 'जिनसासनागुणवं' सपाटितद्रव्यभावकर्मक रपराभवाना यच्छामन-क्षिप्यते जीवाद्य पदार्था अनेनास्मिन्वेति शासन आगमस्तेनानुगतम् ॥१४३॥

योग्यस्य गृहीतमुख्युपायलिङ्गस्य श्रुतिगोष्ठापरस्य पञ्चविधविनयवृत्ते स्ववशीकृतमनस अनियतवासो युक्तः । कस्तत्र गुण ? इत्यारंकाया समाधिगतस्य अनियतविहारगुणप्रकटनार्थं उत्तरसूत्र—

**दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं ।**

**खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होति ॥ ४४॥**

'बसणसोधी' दर्शनशुद्धि । दृशिर प्रेक्षणे इति पठितोऽपि धातु श्रद्धानार्थवृत्तिरिह गृहीत । धातूना-मनेकार्थत्वान् । तथा च सूत्र—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' । [ त०सू० ११२ ] इति जिनागमनिरूपितार्थ-विषयश्रद्धानिमिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्नैर्मन्य । 'ठिदिकरण' स्थितिकरण रत्नत्रयपरिणामस्यात्मनोऽ-नपाय । तस्य करण स्थितिकरण । 'भावणा' भावना अभ्यास पुन पुनर्वृत्ति । 'अदिसयत्तकुसलत्तं' अति-शयितेवर्धेषु निपुणता । 'खेत्तपरिमग्गणावि य क्षियति' निवसन्ति तस्मिन्निर्गत क्षेत्र । ग्रामनगरादिक क्षेत्र । तस्य क्षेत्रस्य अन्वेषणा च । अनियतस्थानवसने गुणा 'होति' भवन्ति ॥१४४॥

सामर्थ्यं जैनमतरूपी अमृतका पान करनेसे आई है । उसके 'मामण्य' अर्थात् समभावपना होता है । वह श्रामण्य एक मुख होना है, अगुभपरिणाम प्रवाहको, जिन्होंने विश्वको अपने रगमे रंगा है, दूर करता है, और जिनशासनानुगत होता है । द्रव्य ओग भावकर्मके द्वारा किये जानेवाले पराभवोको जिन्होंने नष्ट कर दिया है उन जिनका शासन । जिसके द्वारा या जिसमे जीवादि पदार्थ सिखाये जाते है उसे शासन कहते है अर्थात् जिनागमका अनुगामी होता है ॥१४३॥

जो योग्य है, जिसने मुक्तिका उपाय जो निर्ग्रन्थालिग है उसे स्वीकार किया ह, श्रुतके अभ्यासमे तत्पर है, पांच प्रकारकी विनयका पालन करता है, और जिसने मनको अपने वशमे कर लिया है उसके लिए अनियतवास युक्त है । उसमें क्या गुण है ? ऐसी शंका होनेपर समाधि करनेवालेके अनियत विहारके गुण प्रकट करते है—

गा०—दर्शन विशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थोमे निपुणता और क्षेत्रका अन्वेषण ये अनियत स्थानमे बसनेमे गुण होते है ॥१४४॥

टी०—दर्शन शब्द जिस 'दृशिर' धातुसे बना है यद्यपि उसका अर्थ देखना है फिर भी यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान ग्रहण किया है । क्योंकि धातुओके अनेक अर्थ होते है । तत्त्वार्थसूत्रमे कहा भी है—'तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।' अत यहाँ दर्शन शब्दसे जिनागममे कहे गये अर्थों का श्रद्धान लिया है । उसकी शुद्धि अर्थात् निर्मलता दर्शनविशुद्धि है । आत्माके रत्नत्रयरूप परिणामका नष्ट न होना स्थिति है । उसका करना स्थितिकरण है । पुन पुन अभ्यास करनेको भावना कहते है । ग्राम नगर आदि क्षेत्र है । उसकी खोज, ये सब अनियत स्थानमे बसनेके गुण है ॥१४४॥

**विशेषार्थ—**समाधिमरणके इच्छुकको एक स्थानमे नही बसना चाहिए । अनियत स्थानमें

दसणमुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पत्ती य तित्थचिण्हणिसिद्दीओ ।

पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

'जम्मण' जन्मान्भवशरीरग्रहण । तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तद्विह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते । गृहीत-  
शरीरस्य वात्सलो जनन्युदराद्यत्र निष्क्रमण जात तद्वा । 'अभिणिक्खवणे' रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं  
यस्मिन्क्षेत्रे तद्विह निष्क्रमण । 'णाणुप्पत्ती य' केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वायथाथास्यग्रहणक्षम यत्केवल तद्विह  
ज्ञानमिति गृहीत । मामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्ति प्रतीतैव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तद्विह साह-  
चर्यत् 'णाणुप्पत्ती य' शब्देनोच्यते । 'तित्थं' चिण्ह । तीर्थमिह समवसरण गृह्यते । तरन्ति तस्मिन्भव्या  
पापविनाशापिनि इति । तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भा । 'णिसिद्दीओ' निषिद्धीमोमिक्खंतिर्यस्या भूमौ या  
निषिद्धी इत्युच्यते । एतज्जन्मादिस्थान श्रुतेन प्रागवगत । 'पासंतस्स' पश्यत । कस्य ? 'जिणाणं' जिनाना  
'सुविसुद्धं' मुष्टु विशुद्ध । 'दंसणं' श्रद्धान । 'होदि' भवति । एतदुक्तं भवति—

देशान्तरान्तरे जिनाना जन्मादिस्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते । यथा काचिद्व्यावर्ण्यमानरूपा विला-  
सिनी परोक्षामगवन्त्य परस्य बचनोपजाताभिलाषस्य तस्या दर्शनपथमुपजाताया श्रद्धातिशयो जायते इति ।

बसनेके उक्त गुण कहे है । इन गुणोका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वयं करते हैं । टीकाकारने भावना-  
का अर्थ पुनः पुनः अभ्यास किया है और प० आशाधरने परीषद् सहन किया है । अने ग्रन्थकारने  
भी यही अर्थ भावनाका किया है । अभ्याससे ही परीषद् सहनकी सामर्थ्य होती है । सम्भवतः  
इसी भावसे भावनाका अर्थ अभ्यास किया है । लोकमें भावनाका यही अर्थ प्रचलित है ॥१४६॥

'दसणमुद्धी' इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

गा०—जिनदेवोके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और ममवमरण-  
के चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषिद्धिका स्थान देखनेवालेके सम्यक् रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन  
होता है ॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते हैं । वह जन्म जिस क्षेत्रमें हुआ, जन्मके  
साहचर्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है । अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका  
माताके पेटसे निकाला जहाँ हुआ वह जन्म है । रत्नत्रय धारण करनेको भावनासे घरसे बाहर  
जाना जिस क्षेत्रमें हुआ उसे निष्क्रमण कहा है । केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थोंके यथार्थ-  
स्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है, क्योंकि सामान्य-  
वाची शब्दोंकी भी विशेषमें प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है । यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है ।  
जिसमें पापके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते हैं वह तीर्थ है । उस समवसरणके चिह्न मान-  
स्तम्भ है । निषिद्धि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमें हो उसे निषिद्धी कहते हैं । श्रुतसे पहले जाने  
हुए जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखना है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है । देशान्तरमें  
भ्रमण करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोंको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे  
किसी सुन्दर नागीको वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती  
है और उसे साक्षात् देखनेपर विशेष श्रद्धा होती है ।

अथवा जब तीर्थकर जन्म लेते हैं तब अनियत विहार करने वाला यति तीन ज्ञानके धारी

अथवा यथा तीर्थकृत सभवंति तदा अनियतविहारो यतिजिनानां ज्ञानत्रयचारिणां अवाप्तस्वर्गाव-  
तरणपूजातिशयानां जन्माभिषेककल्याण भुवनभवनान्तर्लिनितमोवितानापनयनोद्यत, सुधापानमिव सकलप्राणमुदा-  
रोम्यविधायि, सुरविलासिनीनर्तनमिव सकलजगदानन्ददायि, प्रियवचनमिव मन प्रसादकारि, पुण्यकर्मव अगण्य-  
पुण्यवितरणप्रवीण, लक्ष्मीपरिचारिकाभि साधचर्यं मसभ्रमं ईक्षित, गुह्यकामरप्रकीर्णनिकसुरभिप्रसूनकरणगन्धानु-  
भ्रमदभ्रमरकृतकोलाहल अनारतप्रहृतमगलभेरीभभाध्वनिभरितभुवनविबर, सुरव धूनर्तनजिगीषयेव सौधसिखर-  
रङ्गनृत्यप्रत्ययपञ्चवर्णपताकाविलासिनीक, हरिविष्टरप्रचलनोपनीतसाध्वसनवसुरवल्लभारभसकण्ठग्रहप्रीतिवि-  
कासिमुखशतमखसुख, सभ्रमोत्थितकृताञ्जलिपुटसुरपरिवारसादराकण्यमानवज्भूदाज्ञ, भेयर्दिध्वानाहृतप्रमुखसक-  
लगीर्वाणचक्र, परस्परसधर्पगृहीतोत्तरवैक्रियिकदेवपूतनाभ्यासपवनपथदेश, जन्माभिषेकसमयप्रयाणसपादानात्पातपी-  
लोमीनूपुरध्वानचकितहृसोविलासवि राजमानराजमन्दिराङ्गण, ऐरावतावतीर्णप्रसारितवञ्चिवञ्चधनभुजागल,  
सुरकरप्रहारप्रमरदुद्गुभिभेरीग्वानसन्निधसिहनादवर्धरितविलाशाशामुख, प्रहृतानेकप्रयाणकपटहग्गम्भीरधोरावा,  
असकलशाशिकरावदातचमरशहृविशेषदक्षधलमिन्निक्कृबजिनावलोकनव्यग्रसुराग्रमहिषीक, श्वेतातपत्रजलधरघटा-  
वह्वनभोमडल, विद्युदायमानपताकाकुल, इन्द्रनीलमयसोपानप्रयागिसुरपूतन, सुरगजरदनसरोनलिनदलरगशोभा-  
विधायिनर्तकीसलीलपदम्याम, गृहीताष्टमगलदेवीसहस्रपुरोपान, देवप्रतीहारदूरापमार्थमाणक्षुद्रामरण, आत्म-

और स्वर्गसे अवतरित होते ममयकी विशिष्ट पूजाको प्राप्त जिनदेवके जन्माभिषेक कल्याणको देखता है। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घरमें छिपे हुए अन्धकारके फलावको दूर करने में तत्पर होता है। अमृतपान की तरह समस्त प्राणियोंको आरोग्य देने वाला है। देवागनाओके नृत्यकी तरह समस्त जगत्को आनन्दमयी है, प्रियवचनकी तरह मनको प्रसन्न करता है। पुण्यकर्मकी तरह अगणित पुण्यको देने वाला है। लक्ष्मीरूपी परिचारिकाओं के द्वारा बड़े आश्चर्य और शीघ्रता के साथ इसे देखा जाता है। गुह्यक जाति के देवोंके द्वारा बरसाये गये अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी गन्ध पर मडराने वाले भैरों की गुजनके कोलाहलसे पूर्ण होता है। निरन्तर वजने वाली मगल भेरी और बाद्योंकी ध्वनिये समस्त भुवन भर जाता है। देवागनाओके नृत्यको जीतनेकी इच्छासे ही मानो महलोके शिखर पर पाँच वर्णकी पताका रूपी नृत्यागनाएँ नाचती है। भगवान्के जन्मके समय इन्द्रके सिंहासनके कम्पनसे भयभीत हुई नवजन्म वाली दवागनाएँ जल्दीसे इन्द्रके कण्ठसे लिपट जाती है तब इन्द्रका मुख प्रेमसे खिल उठता है। तब देव परिवार जल्दीसे उठकर बड़े आदरसे इन्द्रकी आज्ञा सुनता है। भेरीके शब्दको सुनकर इन्द्रादि प्रमुख सब देवगण एकत्र होते हैं, परस्परके सधर्षसे उत्तर वैक्रियिक शरीरकी धारण करने वाले देवोंकी सेनासे आकाश मार्ग व्याप्त हो जाता है। जन्माभिषेकके समय जिन बालकको लानेके लिये आई हुई इन्द्राणीके नूपुरोंके शब्दसे चकित हुई हँसीके विलाससे राजमन्दिरका आंगन शोभित होता है। ऐरावतसे उत्तरकर इन्द्र अपनी वज्रमयी भुजाये फेला देता है। देवताओके हाथोंके प्रहारमें ढोल और भेरीके शब्दके साथ मिला सिंहानाद विशाल दिशाओंको बधिर कर देता है। गमन करते समय बजाये जाने वाले अनेक नगारोका गम्भीर शब्द होता है। इन्द्रोका समूह अपूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान शुभ चमरोको दक्षतापूर्वक ढारता है। इन्द्राणियाँ बालक जिनका मुख देखनेके लिये उत्कण्ठित होती हैं। श्वेत छत्ररूपी मेधोकी घटाओसे आकाश ढक जाता है। पताकाये बिजुलीकी तरह प्रतीत होती है। इन्द्रनीलमय सीढ़ियोंकी तरह देवसेना गमन करती है। ऐरावतके दाँतों पर बने सरोवरोंमें खिले कमलके पत्रों पर नर्तकियाँ लीलाके साथ पद निक्षेप करती हुई नृत्य करती

रक्षदेवसहस्रसंपाद्यमानरक्षाविधान, नर्तनव्यथाद्भुतविग्रहाद्येसरभूत, प्रदक्षिणीकृतसुराचल, आरूढसुरगिरि शिखरायमाणसिंहासन, तद्देवकुमारपरंपरानीतक्षीरवारिधिलभरितरत्नकलशकृताभिषेक, पीलोमीरचितबालानुरूपमण्डन, गुणस्तवव्यापृतद्रवैतालिकसहस्र, सुराधिपरचितजन्मात्सवननर्तन, जन्माभिषेककल्याण पश्यति तस्य पश्यत ।

अभिनिष्क्रमण वा जिनानामौदृक् तदिति वष्यते । सर्व एव जिना समधिगतोदीरितजन्माभिषेककल्याणा, शतमखशासनस्थसादरधनदोपनीयमानदिव्योचिताङ्गागवसनभोजनबाहुनालकारसप्तस्योहा मनोनुकूलक्रीडासपादनचतुरदेवकुमारपरिवारा, केचित्पुरातनपुण्यपरिपाकोदयाचलोद्गतविराजमानारकसहस्रचक्ररविसहायेन अमेयभुजविक्रमण वशीभूताशेषमागधप्रभासादिदेवविद्याधरभूमिपालसहतय, सुरकुमारीरूपयौवनविभ्रमापहसनचतुरानेकडात्रिशद्बीसहस्रानारविदविकामनोद्यता, पाकशासनप्रहितनर्तकीनृतावलोकनविनोदा, सादराकणितकिन्नरादिदेवगान्धर्वगीता, कालमहाकालादिनवनिधिप्रभव, प्रत्येकदेवसहस्रपरिपाल्यमानचक्राद्विचतुर्दशरत्नानुयाता, द्वात्रिंशत्सहस्रमुकुटबद्धशातकुम्भधटितमोलितटमकरिकास्थितरत्नप्रदीपाली-

हुई नृत्य करती है । हजारो देवियाँ हाथोमे अष्ट मंगल लिये हुए आगे गमन करती है । देवोके द्वारपाल क्षुद्र देवगणोको वहाँसे दूर कर देते है । हजारो आत्मरक्ष जातिके देव रक्षा करनेमें तत्पर रहते हैं । नाचनेमे मग्न अद्भुत शरीरधारी देव आगे रहते है । सब मुमेरुको प्रदक्षिणा करते हैं । मुमेरुके शिखरके समान सिंहासन पर भगवान्को विराजमान करते है । देवकुमारोकी परम्परासे लाये गये क्षीर समुद्रके जलमे भरे रत्नमयी कलशोसे जिन भगवान्का अभिषेक करते है । इन्द्राणी बालकका उनके अनुरूप शृंगार करती है । सहस्रो इन्द्र वैतालिक भगवान्के गुणोका स्तवन करते हैं । जन्मात्सवके अवसर पर इन्द्र नृत्य करता है । ऐसे जन्माभिषेक कल्याणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन अति निर्मल होता है ।

जिन भगवान्का अभिनिष्क्रमण इस प्रकारका होता है । उसका वर्णन करते है—

सभी जिनदेवोका जन्माभिषेक कल्याणक वडी विभूतिके साथ मनाया जाता है । इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर उनके लिये दिव्य अगराग, वस्त्र, भोजन, वाहन, अलकार आदि सर्पत्ति प्रस्तुत करता है । मनके अनुकूल क्रीडा करनेमे चतुर देवकुमारोका परिवाग रहता है । उनमेसे कोई-कोई जिनदेव पूर्वमंचित पुण्यकर्मके उदयरूपी उदयाचल पर प्रकट हुए, एक हजार आरोमे युक्त चक्ररूपी सूर्यको सहायतामे और अपने अपरिमित भुज पगक्रमसे समस्त मागध प्रभास आदि देव, विद्याधर और राजाओके समूहको अपने अधीन कर लेते है, देवागनाओके रूप, यौवन और विलासको तिरस्कृत करनेमे चतुर बत्तीस हजार पट्टरानियोके मुखरूपी कमलोको विकसित करनेमे तत्पर रहते है । इन्द्रके द्वारा मेजी गई नर्तकियोके नृत्यका अवलोकन करते हुए मनोविनोद करते है । किन्नर आदि देवगन्धर्वोके गीतोको बडे आदरसे सुनते है । काल महाकाल आदि नौ निधियाँ उनके राजकोषमे उत्पन्न होती हैं । चक्ररत्न आदि चौदह रत्न होते है । प्रत्येक रत्नकी एक हजार देव रक्षा करते हैं । बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओके स्वर्ण निमित्त मुकुटोके ऊपरकी मकरिका-मे लगे रत्नदीपोकी पत्तिके द्वारा उनके पादपीठ निरन्तर पूजे जाते है अर्थात् बत्तीस हजार राजा उन्हें नित्य नमस्कार करते हैं । देवकुमार भेटे ले लेकर उनकी सेवामें सदा उपस्थित होते है । इस



प्रकरणान्वरतमर्ष्यमानपादपीठा , देवकुमारोपनीयमानोपायनविलोकनैकव्यथा , मनुजभोगावेसर सुखमखेदेनानु-  
भवन्ति । अपरेऽपि मण्डलीकमहामण्डलीकपदमुपगता ।

पुनस्तीथकरनामकर्मोदयात् चारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षानुगतादनादिकालावलग्नस्वपरकर्मरजोविभूतनाव-  
वद्धकषया इत्थं मनः प्रणिदधति—केय<sup>२</sup> मोहस्य महता येनास्मानप्यध्यक्षीक्रियमाणदुरन्तसंसारसरिदधिपदु खा-  
वतान् प्रवर्तयत्यारम्भपरिग्रहयो । अणिमाद्यष्टगुणसपत्क, अपदमापदा, अभिलाषस्याप्यविषयम्, अपरामराणा  
कुशाग्रीयबुद्धीनामपि बलभिदामगोचर वचसामप्रसूह, अपराधीन, अनास्वादितान्यूनतारस, अहमिद्रमुख चिर-  
तरमनुभूतवतामस्माक कथमुत्कृष्ठा मनुजभागसपदि, खलजनमत्रीव विचित्रदु खानुबधविधानोद्यताया चलाया  
विपुष्यममितिखि परायतवृत्तो, कुकविकृतिरिवात्पात्यसग्रहाया, दूरभव्यस्य मुक्तिपदवीगतितरिख अनेकप्रसूह-  
प्रतिहताया अनन्तकालपरिभुक्ताया इति ।

तदैव च ब्रह्मलोकान्तावामादधिगतलौकान्तिकव्यपदेशा , शङ्खावदाततनव , स्वावधिज्ञानलोचनेनाव-  
लोक्य स्वपरोत्तारणावद्वपरिकरता जिनाना, महदिद कार्य अनेकभव्यानुग्रहकर भगवता प्रारब्ध, अस्माभिरपि  
एतदनुमन्तव्य । पूज्यपूजाव्यतिक्रमश्च स्वार्थंभ गकारीति सुरपथादवतीर्य स्वामिन पुरस्तात्सबहुमानमवस्थिता  
एव विज्ञापयति—

तरह वे मनुष्योको प्राप्त भोगोमे होने वाले सर्वोत्कृष्ट सुखको बिना किसी खेदके भोगते हैं, अन्य  
कुछ जिनदेव मण्डलीक, मद्रामण्डलीक आदि राजपदोको प्राप्त होते है ।

पुन तीर्थकर नामकर्मके उदयमे और चारित्र मोहके क्षयोपशमके प्रकर्षसे अनादिकालसे  
लगी हुई अपनी और दूसरोकी कर्मरूपी धूलिको दूर करनेमे कमर कसकर वे इस प्रकार मनमे  
विचारते है—यह मोहकी कैसी महत्ता है कि दुरन्त ससार समुद्रके दुःखरूपी भँवरोको प्रत्यक्ष अनु-  
भव करने वाले हम जैसाको भी आरम्भ और परिग्रहमे फँसता है । हमने चिरकाल तक अह-  
मिन्द्रका सुख भोगा है जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोसे सम्पन्न होता है, जिसमे कभी कोई  
आपत्ति नहीं आती, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, अन्य देव और कुशाग्र बुद्धिशाली  
इन्द्रोको भी वह मुख प्राप्त नहीं है, वचनके अगोचर है, अपराधीन है, उसमे कभी कमी नहीं  
होती । ऐसा अहमिन्द्र पदका सुख चिरकाल तक भोग चुकनेपर हमारी यह मनुष्यकी भोगसम्पदा-  
मे उत्कृष्ठा कैसी ? यह भोग सम्पदा दुष्टजनकी मैत्रीकी तरह अनेक दु खोकी परम्पराको उत्पन्न  
करने वाली है, चंचल है, पाप पुण्यकर्मके समान पराधीन है, जमे कुकविकी रचनामे अल्पसार  
होता है वैसे ही इस भोगसम्पदामे भी सार नहीं है । जैसे दूर भव्यके मोक्ष गमनमे अनेक बाधाएँ  
रहती है वैसे ही इस भोगसम्पदामे अनेक बाधाएँ रहती हैं और हमने इस अनन्तकाल भोगा है ।

उसी समय ब्रह्मलोक स्वर्गके अन्तमे रहनेसे लौकान्तिक नामधारी देव, जिनका शरीर  
शखके समान श्वेत होता है, अपने अवधिज्ञान रूपी चक्षुसे देखते है कि जिनदेव स्वयको और  
दूसरोको ससार समुद्रमे पार उतारनेके लिये एकदम तत्पर है तो विचारते है—भगवान्ने अनेक  
भव्य जीवो पर अनुग्रह करने वाला यह महान् कार्य करनेका बीडा उठाया है, हम भी इसकी  
अनुमोदना करनी चाहिए । तथा पूज्य पुरुषोकी पूजा न करना भी स्वार्थका धातक है । ऐसा  
विचार स्वर्गसे उतरकर भगवान्के सम्मुख बडे आदरके साथ उपस्थित हो, इस प्रकार निवेदन  
करते है—

१ प्रतिदधति—आ० म० ।

२. कथं मोहस्य बलवत्ता—आ० म० ।

भट्टारका'। उचित एवायमुद्योगो भवता कल्पमहोरुह्वा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, जगदनुग्रहकारिणे हि महान्त, मिथ्यात्वतिमिरावगुणितज्ञानलोचनतया। विनेयजनराशिरुत्पथप्रस्थानोऽमकुत्सुगतिगतपतितो नि'सर्तु'-मभिलषन्तपि असमर्थं क्लिश्यति। स च भवत्पातितायतदृढसमीचीनदृष्टिरज्ज्वावकृष्ट युष्मदुपदशिताति-प्रगुणविशालमुक्तिमार्गद्वीकनादनन्तज्ञानात्मकेन सुखेन सुखी भवत्वित्यभिधाय गतेषु मारस्वतारिषु।

जिननिर्वेदसमीरणान्दोलितहरिविष्टरो हरिः प्रणिधानप्रवर्तितवचिच्छोचनाधिगतगुरुरारभ्यमाणकार्यं, सिंहासनतः ससभ्रममुत्थाय, स्वामिसमवस्थितदिगभिमुख गत्वा ससपदमात्र, ललाटतटविन्यस्तेन प्रबुद्धनलिन-दलच्छायापहासिना, अकुशकुलशिकलशादिलक्षणोद्भासिना दक्षिणेन करेणालकृतमौलिरत्नप्रभादतुर्गमवनम्य शिरःसलील नमःसद्धर्मतीर्थप्रवर्तनोद्यतेभ्यः शरणागतविनेयत्राणकारिभ्योऽलौकिकनयनेभ्यो जितेभ्य इत्यभि-धाय, पुरोधवद्भेरीध्वानादिभिर्भट्टिति विदितकार्येण, समुदितावनतेन, स्वनायकपुरोयायिना, विचित्रातपत्र-शस्त्रवद्भविभूषणवाहनोज्ज्वलेन गोविणचक्रेणानुगम्यमानः सौधर्म सह नगरमन्दिरं, चमररुहहरिविष्टरश्वेतात-पत्रादिपरमेश्वरलाछनमखिलमपहाय प्रतीहारनिवेदितागमनस्तदाज्ञाय धर्मचक्रलाछनातिकमवाप्य मन्वहुमान-प्रणाममारभते स्म।

ततो जिनात्सादरावलोकनप्रसादमात्मोचितमुपलभ्य विज्ञापनं करोति। सकलोऽयमायातोऽभ्युत्थितपि-पूर सरः शकल्लोको भट्टारकाणा परिनिष्क्रमणपरिचर्यामुपपादायतुमाना अवगतमुक्तिमार्गाऽयं स्वधीनज्ञानात्म-

भगवन्। आपका यह उद्योग उचित ही है। महान् पुरुष कल्पवृक्षकी तरह प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके जगत् पर अनुग्रह करते हैं। मिथ्यात्व रूपी अन्धकारमे ज्ञानरूपी दृष्टिके अवरुद्ध हो जानेसे ससारके भव्य जीव कुमार्गमे चल पडते हैं। बार-बार कुगतिरूपी गडमे गिरकर निकलना चाहते हुए भी नहीं निकल पाते और कष्ट भोगते हैं। आपके द्वारा डाली गई विम्बुत हठ समीचीन दृष्टिरूपी रस्सीके द्वारा खींचे गये वे भव्य जीव आपके द्वारा बतलाये गये गुणशाली विशाल मोक्षमार्ग पर चलकर अन्ततः ज्ञानात्मक सुखसे सुखी हो। इतना कहकर वे लौकान्तिक देव चले जाते हैं।

भगवान्के वीराग्यरूपी हवाके झकोरोसे इन्द्रका सिंहासन कम्पित होता है। तब इन्द्र अवधिज्ञान रूपी दृष्टिका उपयोग करके भगवान्के द्वारा प्रारम्भ किये जाने वाले कार्यको जानना है। तत्काल सिंहासनसे उठ, जिस दिशामे भगवान् है उस दिशाकी ओर मात पद चलकर, खिले हुए कमलकी पाखुरीकी शोभाको तिरस्कृत करने वाले और अकुश, वज्र, कलश आदि शुभ लक्षणोंसे शोभित दाहिने हाथको मस्तकसे लगाकर मुकुटके रत्नोंकी प्रभामें भासित सिरको नवा-कर कहता है—'समीचीन धर्मरूप तीर्थके प्रवर्तनके लिये उद्यत, शरणागत भव्य जनोकी रक्षा करने वाले और अलौकिक नेत्रोंसे विशिष्ट जिनदेवको नमस्कार हो। भेरी आदिके शब्दसे सब देवोंको ज्ञात हो जाता है। नाना प्रकारके छत्र, शस्त्र, वस्त्राभूषण और वाहनोके साथ अपने नायकको आगे करके सब देव सौधर्मके पीछे चलते हैं। सौधर्मन्द अन्य इन्द्रो और राजाओके साथ राजमहलके द्वार पर पहुँच सिंहासन, चमर छत्र, आदि इन्द्रत्वके सब चिह्नोंको दूर करके द्वारपाल-से अपने आनेका समाचार निवेदन कराता है। आज्ञा मिलने पर इन्द्र तत्काल धर्मचक्रके प्रवर्तक भगवान्के समीप जाकर अत्यन्त बहुमान पूर्वक नमस्कार करता है। जिनदेव इन्द्रकी ओर आदर-पूर्वक देखते हैं। भगवान्के इस सादर अवलोकनको ही अपने योग्य प्रसाद मानकर इन्द्र निवेदन

कानन्तमुखान् भवन्त्यपि, अवधीरितेन्द्रियसुखखेदोऽपि, अपरिप्राप्तसयमघातिकर्मक्षयोपशम, न चारित्र्ये प्रयत्ने, न परान्प्रवर्तयितुमीहते । सुविशुद्धज्ञानदर्शनोऽपि न विना समीचीन चारित्र्य तपश्च, कर्माणि निरवक्षेप क्षपयितुं शक्नोति । अनेकसमग्रगणनायु स्थितयथा दीर्घससारी वराकोऽस्मदादि । क्लिश्यति । उल्बानुमभिलक्षन्पि दारको यथा पतन्येवमपि जनश्चारित्र्याभिलाष्यति तद्बोद्धुमसमर्थस्तिष्ठति । पूय पुनर्विदितबोदितव्या क्षयोपशमपरिप्राप्तनिवृत्तिपरिणामा, पूज्यतमा जन्मान्तरेऽस्माकमपीदृशी वीतरागता सकलारम्भपरिग्रहपरित्यागोद्योगो विनैवजनोपकाराङ्गित्वच भवत्प्रमादादभ्यानुमननाच्च भवतु सज्जीकृतमिदं विमान आनीतमलकरोतु देव इत्युपरतवचसि सुगन्धिषे हर्षविद्यादपरवश ज्ञातिवर्गं अन्त पुराणि परिवारं चावलोक्य कृपया जिना वदन्ति—

चिरसवामादल्पकोपकारापेक्षया जनस्यानुरागो भवति तदनुसारी कोपस्ताभ्यां दुरन्तकर्मादान ततो भवति ममेदभावं सर्वदुःखानां मूलमपनेतुमर्हति विद्वान् । न हि कस्यचित् किञ्चिन्मित्र, धनं, शरीर वान्पाय्यस्ति । पापं नमिता हि वन्धव, परिवाराश्च, धन पुनरर्जने विनाशे च महतीमानयति दुःखासिका । तदर्थमिन्द्रियैश्च सह विरोधं काययति । तूष्णा प्रकर्षवर्तीमादधाति लवणजलपीतिमिव । वामलोचना पुन सुखा इव चित्तं मोहयन्ति, व्यलीकरोदनेन हसनेन चादृभिश्च पुसामन्पसत्त्वानां चेत स्ववशीकुर्वन्ति । चर्ममयपुत्रिकामु, चपलामु, सद्याम्बुदावलीयास्थिरारागामु, मायाजननीषु, मूवाचेटीनायिकामु, सुगतिवज्रागल्याष्टपु

करता है—अच्युतेन्द्र आदि समस्त इन्द्रगण भगवान्के निष्क्रमण कल्याणक सम्बन्धी परिचर्या करनेके अभिलाषी हैं । हम मुक्तिके मार्गको जानते हैं । स्वाधीन ज्ञानात्मक अनन्त मुखका अनुभव करनेके लिये भी आतुर हैं, इन्द्रिय सुखको भी खेद रूप जानकर उसकी उपेक्षा करते हैं । किन्तु सयमका घात करने वाले कर्मका क्षयोपशम हमें प्राप्त नहीं है । इसलिये न हम स्वयं चारित्र्यमें प्रवृत्त होते हैं और न दूसरोंको ही प्रवृत्त करना पसन्द करते हैं । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त व्यक्ति भी समीचीन चारित्र्य और तपके बिना समस्त कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता । अनेक मागरो प्रमाण आयु होनेमें दीर्घ ससारी हमलोग कष्ट उठाते हैं । जैसे शिशु उठना चाहते हुए भी गिरता है वैसे ही हम लोग चारित्र्यके अभिलाषी होते हुए भी उसे धारण करनेमें असमर्थ रहते हैं । आप तो सब कुछ जानते हैं । चारित्र्यमोहका क्षयोपशम होनेसे आपके निवृत्ति रूप परिणाम हुए हैं । आप पूज्यतम हैं । आपके प्रसादसे तथा आपकी अनुमोदना करनेसे आगामी जन्ममें हमें भी इस प्रकारकी वीतरागता, समस्त आरम्भ और परिग्रहको त्यागनेका उद्योग तथा भव्य जीवांका उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हो । यह सजाया हुआ विमान तैयार है, देव । इसे सुगोभित करें ।

देवेन्द्रके कथनक पश्चात् अन्त पुर, परिवार और ज्ञातिवर्गको हर्ष और विषादमें देखकर जिनदेव कृपापूर्वक कहते हैं—चिरकाल तक साथ रहनेसे तथा थोड़ा बहुत उपकार करनेसे लोगोंमें अनुराग होना है तथा कोप भी होता है । इस अनुराग और कोपसे दुरन्तकर्मोंका बन्ध होता है । उससे 'यह मेरा है' इस प्रकारका भाव होता है, यह सब दुःखोंका मूल है । विद्वान्को इसे दूर करना चाहिए । न किसीका कोई मित्र है और न धन और शरीर ही स्थायी है । बन्धु बान्धव और परिवार यानपात्रमें मिले हुए पुरुषोंके समान है । धनके कमानेमें और कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेपर बहुत दुःख होता है । उम धनके अर्थी अन्यजनोमें विरोध होता है । जैसे खारा जल पीनेसे प्यास बढ़ती है वैसे ही धन पानेसे धनकी तूष्णा बढ़ती है । स्त्रियाँ मादराकी तरह चित्तको मोहित करती हैं । बनावटी रोने और हँसने तथा मीठे वचनोसे कमजोर मनुष्योंके चित्तको अपने वशमें कर लेती हैं । स्त्रियाँ चर्मनिमित्त पुतलियाँ हैं, चंचल होती हैं,

कोञ्जुराग प्रज्ञावताम् ? शरीर पुनरिदमनेकाशुचिनिधान, च चारुपुञ्जवत्प्राणभूतामनपायी भाग महारोग-नागानां बल्मीकीभूतं, जराव्याघ्रीनिवामबिलं, नेत्रखण्डचर्मवेष्टितलोष्ठवदन्तनि साग बहिर्मनोहर, गुण पुनरथ एक एव धर्मसहायता। गिग्निदीप्तोत्तामीवानवस्थानानि यौवनानि। नृणामिज्ज्वाला इव सपद क्षणमात्र दृष्टमष्ट। इत्थमवगम्य मा कृथा वृथा प्रमाद जननरत्नाकरपारगमनाय कुहूतोशोग। मर्पणीयोज्ज्वाभि प्रमादात्कृतीपराध इति ।

भगवद्भारतीसमनन्तर सुरकुमारकरग्रहता समन्ततो द्रुन्दुभयो ध्वनन्ति । सकल च जगदिन्दुप्रमुख जयध्व-निमुखर जायते । समन्तात्सुररुण्य सविलाम नृत्तमारभन्ते । जगन्नाथाश्च त्रिलोकभूषणा धवलदुकुलपरि-धाना परमगुणलक्ष्यया निर्बृतिसकल्येव मुक्ताकण्ठिकाव्याजेनोपगतयालकृतश्रीवा विरगाणामपि मुखरागकरणे पादवं न पश्यतेति दर्शयद्भूषामिव कुण्डलाम्वा विराजमानपूर्णमसुगणशब्दस्थला । वृत्त प्रिय एषा चेन्नोक्सर इतोबोपगतेन कटकद्वयेनाश्लिष्टप्रकोष्ठ। यत्रामीषामतिशयरत्नाभिमान तत्पश्याम स्थित्वोच्चरितरीबोत्त-माङ्गस्थेन मुकुटरत्नकलापेन शोभमान निर्वाणपुग्मिव विमान प्रविशन्ति ।

तत शतमख्युग्मावाहकम्पोत्क्षिप्तं विमानेन यदेवीकचतुनिकायामरमसातीकपरिवृतेन गत्वा अवतीर्य

सन्ध्याकालीन मेघमालाकी तरह उनका राग अस्थिर होता है। वे स्वभावसे मायावी होती हैं, सुगतिके लिए ध्वजनिर्मित अर्गला हैं। उनमें बुद्धिमानोका केगा अनुराग ? यह अराग अनेक अपवित्र वस्तुओंकी खान है, कचरेके ढेरकी तरह प्राणियोका ऐसा भाग है जो कर्मों नष्ट नहीं होता। महारोगरूपी सर्पके लिए वामी है और जरारूपी सिंहकी रहनेके लिए बिल है। जेम लोष्ठकी चमडेसे मढकर उसपर आँखे लगा देनेपर वह वाहरसे सुन्दर और भीतरसे नि मार होता है उसी तरह यह शरीर भी बाहरसे सुन्दर और भीतरसे नि साग है। इसमें केवल एक ही गुण है कि यह धर्ममें सहायक होता है। पहाडी नदीके स्रोतीकी तरह यौवन स्थायी नहीं है। तृणोंकी आगकी लपटोंकी तरह सम्पदा क्षणमात्रमें देखने-देखते नष्ट हो जाती है। ये मध जानकर वृथा प्रमाद मत करो, जन्म समुद्रको पार करनेके लिए उद्योग करो। हमसे प्रमादवध जो अपराध हुए उ-हे क्षमा करो ।

भगवान्की वाणीके पश्चान् देवकुमार दुर्दुभयों बजाते हैं। इन्द्र जीद सब लोग जय जयकार करते हैं। देवागनाएँ विलासपूण नृत्य आरम्भ करती हैं। ताना लोकके भूषण और जगत्के स्वामी जिनदेव सफेद वस्त्र धारण करते हैं। गलेमें मोतियोंकी माला पहन है मानो मुक्तिकी दूतीके समान परमगुणलक्ष्याने उम मुक्तामालाके व्याजमें भगवान्के कण्ठको सुगोभित किया है। दोनों कानोंके कुण्डलोमें भगवान्का स्निग्ध गण्डस्थल गोभित है, मानो दोना कुण्डल यह दिखला रहे है कि विरागोंके भी मुखको रागयुक्त (लाल) करनेमें हमारा नातुं लोग देखे। दोनो हाथोंमें दो गोल कडे है। वे गोल कडे मानो यह विचार कर ही आये हैं कि भगवान्को वृत्त प्रिय है। वृत्तका अर्थ चारित्र्य भी है और गोल भी। सिरपर रत्नमया मुकुट गोभित है। रत्नोंने सोचा—इन्हे रत्नो (रत्नत्रय) का बडा अभिमान है जरा इनके साथ रहकर देखे तो। इस प्रकारसे आभूषित भगवान् मोक्षपुरीके द्वारके समान विमानमें प्रवेश करते हैं।

उस विमानको इन्द्र अपने कन्धोपर उठाते हैं। देवागनाओंके साथ चारो निकायोके देव और उनकी सातो सेनाएँ विमानको घेरे होती हैं। उस विमानसे जाकर भगवान् रमणीक स्थानमें

रम्यमे देशे उत्तराभिमुखा', कृतसिद्धनमस्कृतय मुकुटादिक क्रमेण अलकारादिक अपनयन्ति । परित्यक्तो-  
भयसकलप्रथा परिगृह्णन्ति योगत्रयेण रत्नत्रयमित्यभूत च परिनिष्क्रमण पश्यत ।

'**गाण्प्यत्त**' शानोत्पत्तिर्जायतेऽब्रुवृध्यते सकलमर्थयाथात्म्यमनेनेति ज्ञान इति केवलमुच्यते । तस्योत्प-  
त्तिरवतारितमोहनीयभाराणा, योगवासराधोश्चरनिर्मूलितज्ञानदुगावरणतमसा, उक्तातान्तरायविषद्विदपिना,  
अपनीनक्रममनोपेक्षितकरणचेष्टमपास्तसशीतिक, दूरीकृतविपर्यास केवलमुत्पद्यते । तस्य फलस्य दर्शनाग्निज-  
प्रणीते मार्गे अपनीतयाङ्गादिकलङ्का श्रद्धोत्पद्यते । फलार्थो तद्वत्सु रोचते दृष्टसामर्थ्य इति किं चित्रम् ? ॥१४५॥

एवमनियतविहारं दशनशुद्धिस्वाथंमुपदश्यं परोपकार स्थिरीकरण प्रकटयति—

**संविगं संविग्माणं जणयदि सुविहिदो सुविहिदाणं ।**

**जुत्तो आउत्ताण विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥१४६॥**

'**संविगं**' ममारभोक्ता । '**जणयदि**' जनयति । क ? '**सुविहिदो**' सुचरितो योर्जनयतवास । केषा ?  
सुविहिदाण सुचरिताना । '**संविग्माणं**' मविग्नाना । '**जुत्तो**' अनशनादिके तपसि युक्त । '**आउत्ताणां**' योग-  
चाराणा । '**विसुद्धलेस्सो**' विशुद्धलेश्य । '**सुलेस्साणं**' सुलेश्याना च । सम्यक् चारित्रतपसो शुद्धलेश्याया च  
उतरते है । और उत्तरकी ओर मुख करके सिद्धाको नमस्कार करते है । तथा क्रमसे मुकुट आदि  
अलकारोको उत्तर देते है । अन्तरग वहिरग सब परिग्रहको त्यागकर मन-वचन-कायसे रत्नत्रयको  
स्वीकार करते है । इस प्रकारके निष्क्रमणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है ।

अब केवलज्ञानकी उत्पातिका वर्णन करते है—

जिसके द्वारा समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है उसे ज्ञान कहते है । यहाँ ज्ञान-  
से केवलज्ञान कहा है । उसकी उत्पाति इस प्रकार होती है—जो मोहनीयका भार उतार देते है,  
योगरूपी सूर्यसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूपी अन्धकारको निर्मूल कर देते है और अन्तराय  
कर्णरूपी विषवृक्षको उखाड देते है उनके क्रमरहित, इन्द्रियोकी सहायता न लेनेवाला, सहाय तथा  
विपरीततासे दूर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । उसके फलके दर्शनमे जिनकथित मार्गमे शका आदि  
दोषोसे रहित श्रद्धा उत्पन्न होती है । जो उस फलके अभिलाषी है वे उसकी शक्तिको देखकर  
यदि उस रत्नत्रयसे युक्त भगवन्तोमे रुचि करते है तो इसमे आश्चर्य क्या है ? ॥१४५॥

इस प्रकार अनियत विहारसे दर्शनविशुद्धिरूप स्वाथंको बतलाकर अब स्थिरीकरणरूप  
परोपकारको प्रकट करते है—

**गा०—**सम्यक् आचार और अनशन आदि तपसे युक्त विशुद्ध लेश्यावाले मुनियोका अनियत-  
वास सम्यक् आचारवाले, योगके धारी, सम्यक् लेश्यावाले और संसारसे भीत साधुओमे ससारसे  
भय उत्पन्न करता है ॥१४६॥

**टी०—**सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और शुद्धलेश्यामे वर्तमान अनियत विहारी साधुको  
देखकर सभी सम्यक् चारित्रवाले, सम्यक् तप करनेवाले और शुद्ध लेश्यावाले यतिगण अत्यन्त  
ससारसे भीत होते है । वे मानते है कि हम ससारसे बैसे भीत नहीं हैं जैसे यह भगवान् मुनिराज  
है । अत एव हमारा चारित्र और तप सदोष है । अर्थात् सम्यक् आचार, तप और विशुद्ध लेश्या-

प्रवर्तमान दुष्ट्वा सर्वेऽपि सुचारित्रा सुतपम, दुष्टलेष्या यनयः अतिशयवती मसारभीक्ष्णां प्रतिपद्यन्ते । न वयमतीव सखारभीरव, यथाय भगवान् अताप्य नपचारित्र तपश्च सानिचार इति मन्यमाना ॥१४६॥

उत्तरगाथया एतदचष्टे न केवल अतिशयितचारित्रतपोगुण एव पर सविग्न करोति किन्तु एवभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुत्तत्थविसारदो असट्ठभावो ।

सवेग्गाविदि य परं साधू णियद विहरमाणो ॥१४७॥

'पियधम्मवज्जभीरू' प्रिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यश्चावद्यस्य पापस्य भीरु । 'सुत्तत्थविसारदो' सुत्रार्थयोनिपुण । 'असट्ठभावो' शाठ्यरहित । 'सवेग्गाविदि य' पर सविग्न करोति । 'साधू' साधु । 'णियदं' सर्वकाल 'विहरमाणो' देशान्तरातिथि ॥१४७॥

पूर्वगाथाया परस्मिन्चरीकरण प्रतिपाद्य उत्तरयान्मानमपि स्थिरयति इत्यभिधत्तं—

संविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे ।

सयमवि पियथिरधम्मो साधु विहरतओ हांदि ॥१४८॥

'ठिवियरणं' । 'सविग्गतरं' इत्यादिकया । असकृत्पञ्चविषयपरावर्तनिरूपणाहितचेतस्तयोपगततदागमन-भयातिशया सविग्नतरा । अभिनवकर्मनिरोध चिरतनगलन करोग्नि, अम्बुदर्यानि श्रयसमुखानि च प्रयच्छति सुचरिता धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनारत चेत समाधानान्प्रियधर्मतरा, स्वल्पमप्यद्यभयंगानामवसर-वाले अनियत विहारी साधुको देखकर अन्य मूनि जो सम्यक् आचारवान् है, तपस्वी है, विद्युद्ध लेश्यावाले है वे भी प्रभावित होकर और भी अत्रिच आचार, तप और लेश्यामें बढ़नेके लिए प्रयत्नशील होते हैं । यह अनियतवाससे परोपकार होता है । दर्शनविशुद्धिका लाभ तो अपना उपकार है ॥१४६॥

आगेकी गाथासे कहने हैं कि केवल विशिष्ट चारित्र और तप ही दूसरेको ससागसे विरक्त नहीं करता किन्तु

गा०—जो उत्तम क्षमा आदि धर्मका पालक है और पापमें डरता है, सूत्र और उसके अर्थ-में निपुण है, शाठ्यासे रहित है ऐसा सदा देशान्तरमें विहार करनेवाला साधु दूसरोमें विग्न उत्पन्न करता है ॥१४७॥

पूर्वगाथामें दूसरोके स्थिरीकरणका कथन किया है । आगेकी गाथासे अपने भी स्थिरीकरण-को कहते हैं—

गा०—सविग्नतर प्रिय धर्मतर और अवद्य भीरुतर साधुको देखकर विहार करनेवाला साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर, संविग्नतर और अवद्य भीरुतर होता है ॥१४८॥

टी०—बार-बार पाँच प्रकारके परावर्तनोका निरूपण चित्तमें बैठ जानेसे जो उस परावर्तन-के आगमनसे अत्यन्त भोत होते हैं वे साधु सविग्नतर होते हैं । अच्छी तरह पालन किया गया धर्म नये कर्मों के आनेको रोकता है और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करता है । तथा इहलौकिक अभ्युदय और भोक्षका सुख देता है । धर्मके फलके इस माहात्म्यमें जिनका चित्त लीन होता है वे

यानादवद्यभीस्तरा । स्वयमात्मना प्रियस्थिरधर्मतरा । अन्तरेणाप्यतिशायिकप्रत्ययमतिशयार्थगतिरत्र 'अभिरूपाय कन्या देयेति' यथा प्रियस्थिरधर्मतर इति । अपिशब्देन सविन्नतर अवद्यभीस्तरश्चेति ग्राह्यम् ॥१४८॥

भावना व्याचष्टे—परिषहसहनमिह भावनेत्युच्यते—

**चरिया छुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ।**

**सेज्जा वि अपडिबद्धा विहरणेणाघिसिया होदि ॥१४९॥**

'चरिया' चर्याजन्य दुःखमिह चर्येति गृहीत । उपानहान्येन वा अकृतपादरक्षस्य, गच्छतो निशित-शर्कणपापाणकण्टकादिभिस्तुद्यमानचरणस्य, उष्णरज सतसपादस्य, वा यद्दुःख यस्यानुभवनमसक्लेशेन चर्याभावना । 'छुहा य' अपरिचिते देशे मयत् पूर्वमनध्यासिते अल्पधाम्यसंग्रहे प्रयोग्याया अलाभात् भिक्षाया समुपजाता क्षुद्देवना सोडा भवति । चिन्मेकन वसतो जन परिचयाद्वाक्षिण्याद्वा भिक्षा प्रयच्छतीति न महान्परिश्रम । 'सीदं उण्हं च' शीतोष्णस्पर्शज दुःख इह गृह्यते । तदनुभवन मक्लेशरहितभावित' सोड भवति । 'सेज्जा' य शय्या च वसति । 'अपडिबद्धा' ममेद भावरहिता । 'अघिसिया' सोडा भवति । 'विहरणेण' विविधदेशगमनेन ॥१४९॥

प्रियधर्मतर होने है । और जो थोड़ेसे भी अशुभ योगको नहीं होने देते वे अवद्यभीस्तर होते हैं । उन्हें देखकर सदा विहार करनेवाला साधु स्वयं भी प्रियस्थिर धर्मतर होता है । गाथामें 'प्रियस्थिरधम्मो' पाठ है उसमें अतिशयको बतलानेवाला 'तर' प्रत्यय नहीं है किन्तु भी अतिशय अर्थका बोध होता है । जैसे किसीनं कहा है 'अभिरूपको कन्या देना', यहाँ अभिरूपसे विशिष्ट रूपवानका बोध होता है । अतः प्रियस्थिर धर्मतर अर्थ लेना । 'अपि' शब्दस सविन्नतर और अवद्यभीस्तर भी ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् वह साधु दूसरे इस प्रकारके विशिष्ट साधुओको देख स्वयं भी वैसा विशिष्ट बन जाता है । यह विहारसे लाभ है ॥१४८॥

अब भावनाको कहते हैं । यहाँ परीषह सहनको भावना कहते हैं—

मा०—अनेक देशोंमें विहार करनेसे, चर्या भूख, प्यास शीत और उष्णका दुःख संक्लेशरहित भावसे सहना होता है । वसति भी ममत्वसे रहित सहनेमें आती है ॥१४९॥

टी०—यहाँ 'चर्या' शब्दसे चर्यासे होनेवाले दुःखका ग्रहण किया है । जूता अथवा अन्य किसी वस्तुसे अपने पैरोंकी रक्षा नहीं करनेवाले साधुके चलते हुए तीक्ष्ण ककर पत्थर काँटे आदिसे पैर छिद जाते हैं, अथवा गर्मधूलिसे पैर झूलस जाते हैं । उसके दुःखको विना सक्लेशके सहना चर्याभावना है । अनजान देशमें, जहाँ पूर्वमें कभी साधुओका जाना नहीं हुआ, और अनाजका संग्रह भी कम है, वहाँ, योग्य भिक्षाके न मिलनेसे उत्पन्न हुआ भूखका दुःख सहना होता है । बहुत समय तक एक स्थानपर बसनेसे मनुष्य परिचित होनेसे अथवा उदारतावश भिक्षा देते हैं इसलिए भिक्षामें बड़ा श्रम नहीं होता । शीत उष्णसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शसे होनेवाला दुःख यहाँ लिया है । उसका अनुभवन अर्थात् सक्लेशरहित भावपूर्वक सहना होता है । तथा रहनेके लिए वसतिका जो प्राप्त होती है उसमें भी 'यह मेरी है' ऐसा भाव नहीं रहता । ये सब विहार करनेवाले मुनियोंको सहना होता है ॥१४९॥

‘णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाण ।

अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥१५०॥

अतिशयार्थकुशलतास्यं गण कथयति—

‘सुत्तत्थिरीकरण’ अदिसयिदत्थाण होदि उवलद्धी ।

आयरियदंसणेण दु तम्हा सेविज्ज आयरियं ॥१५१॥

‘सुत्तत्थिरीकरण’ अल्पवर्णरचन, अभिधेयविषयसशयाकारि सारार्थवदम्यन्तरीकृतोपपत्तिक, प्रमाणा-  
न्तरदशित<sup>१</sup> वस्तुतद्गुणविरुद्धानुपवर्शनेन निर्दोष इत्येतद्गुणसहितं सूत्रं तस्यार्थो वाच्य बाह्य आन्तरो वा अर्थ.,  
तयो सूत्रार्थयो धिरीकरण इत्यमेवेदं सूत्रं शब्दतः, अभिधेय चास्येदमेवेति यत्तत्<sup>२</sup> । ‘होबि उवलद्धी’ अति-  
शयेनार्थोपलब्धिर्भवति । ‘आयरियदंसणेण’ आचार्याणां दर्शनेन । तु शब्दं पादपूरणं अवधारणार्थो वा ।  
आचार्यदर्शनेनैव अथवा सूत्रार्थानां स्थिरीकरणं व्याख्यातृणामाचार्याणां तत्र दर्शनात् । ‘अविसद्वत्थाण’  
अतिशयितानां सूत्रार्थानां ‘उवलद्धी’ उपलब्धि । ‘होबि’ भवति । प्रमाणनयनिक्षेपनिरुक्त्या अनुयोगद्वारेण  
निरूप्यमाणं सूत्रार्थो अतिशयितो भवति । आचार्याणां व्याख्यातृणां दर्शनेन गतभेदेन । केचित्त्रिक्षेपमुखेनैव  
सूत्रार्थमुपपादयन्त्यपरं नैगमादिविचित्रनयानुसारेण अन्यं सशयानुयोगोपन्यासेन । अपरे ‘अदिसयसत्थाण होइ

गा०—देगान्तरमे जानेसे अनेक देशोक सम्बन्धमे कुशल हो जाता है । अनेक देशोमे पाये जानेवाले शास्त्रोके शब्दार्थके विषयमे कुशल होता है ॥१५०॥

अतिशय अर्थकुशलता नामक गुणको कहते है—

गा०—आचार्योंके दर्शनेसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण और अतिशयित अर्थोंकी उप-  
लब्धि होती है । इसलिये आचार्योंकी सेवा करनी चाहिए ॥१५१॥

टी०—थोड़े शब्दोंमें रचा गया हो, अर्थके विषयमें सशय उत्पन्न न करता हो, सांसे भरा हो, जिसकी उपपत्ति उसीमें गंभीर हो, और अन्य प्रमाणोंके द्वारा वस्तुका जो स्वरूप बतलाया गया है उसके विरुद्ध कथन न करनेसे निर्दोष हो । जिसमें ये गुण होते हैं वह सूत्र है । उसका अर्थ बाह्य और आन्तर दोनो प्रकारका है । इन सूत्र और उसके अर्थका स्थिरीकरण—यह सूत्र शब्दरूपसे इसी प्रकार है अर्थात् इसके शब्द ठीक हैं और इसका अर्थ भी यहाँ है—यह सूत्रार्थका स्थिरीकरण है । आचार्योंके पास रहनेसे यह लाभ होता है तथा अतिशयित सूत्रार्थकी उपलब्धि होती है ।

जो सूत्रका अर्थ प्रमाण नय निक्षेप निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा किया गया हो उसे अति-  
शयित कहते हैं । आचार्य अर्थात् सूत्रके अर्थका व्याख्यान करने वाले व्याख्याताओंमें दर्शन अर्थात्  
मत्तभेद देखा जाता है । कोई व्याख्याता निक्षेप द्वारा जो सूत्रके अर्थका उपपादन करते हैं । अन्य  
व्याख्याता नैगम आदि विभिन्न नयोंके द्वारा सूत्रार्थका कथन करते हैं । कुछ अन्य सत् आदि अनु-  
योगोंका उपन्यास करके सूत्रार्थका कथन करते हैं । ‘तु’ शब्द पादपूर्तिके लिये अथवा अवधारणके  
लिये है । आचार्य दर्शनेसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण होता है और अतिशयित अर्थकी प्राप्ति

१ इयं गाथा क्षिप्ता मन्तव्या । २ वस्तुतया विह—आ० मु० । ३ यत्तेन आ० मु० ।



उवसद्धौ' इति पठन्ति । तत्रायमर्थः—अतिशयभूतानां शास्त्राणां प्रत्यघाणामरातीवैः सूरिभिः कृतानां चिरंत-  
नानामेवाप्रत्याख्यातानां उपलब्धिर्भवति ।

प्रकारान्तरेण अतिशयार्थकुशलत्वमाख्यातुमीहते—

**निष्कलमणपवेशादिषु आयरियाणं बहुपयाराणं ।**

**सामाचारी कुसलो य होदि गणसंपवेशेण ॥१५२॥**

'निष्कलमणपवेशादिषु' इत्यनया गायया । 'आयरियाणं' आचार्याणां । 'बहुपयाराणं' बहुविधानां ।  
केचिदाचार्यां चरणक्रममवगच्छन्ति परं महश्चरणात् । अपरे पुनः शास्त्रनिगदितमेव । अन्ये तदुभयज्ञाः ।  
इति बहुप्रकारता । एवं आचार्याणां अनेकप्रकाराणां गणसंपवेशेण गणप्रवेशेण निःक्रमणप्रवेशादिकामु क्रियामु ।  
'कुसलो य होदि' कुशलश्च भवति । क ? सामाचारी । ते यथा आचरन्ति तथा प्रवर्तमानं स्वाबासेशान्नि-  
गन्तुमिच्छता शीतलादुष्णाद्वा' देशाच्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा प्रविशतापि । किमर्थं ? शीतोष्णचन्तुनामा-  
बाधापनिहारार्थं अथवा श्वेतरक्तकृष्णगुणामु भूमिषु अन्यस्यां नि क्रमणे अन्यस्यां प्रवेशेने प्रमार्जनं कटिप्रवेशा-  
दथ कार्यं । अन्यथा विरुद्धयोनिसंक्रमेण पृथिवीकायिकानां तद्भूमिभागोत्पन्नानां त्रसानां बाधायां स्यात् ।  
तथा अन्य प्रविशतां मच्चित्ताचित्तरजसो पदादिषु लनयोन्निरासः । यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्ज-  
लान्निकः एव तिष्ठेत् । महतीनां नदीनां उत्तरणं आराद्भागं कृतसिद्धबन्धनं यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्वं

होती है, कोई 'अदिसयसत्याण होड उवसद्धौ' ऐसा पढते है । उसका यह अर्थ है—अतिशयभूत  
शास्त्रोकी जो नदीन बने है अथवा प्राचीन आरातीय आचार्योंके द्वारा रचे गये हैं उनकी उपलब्धि  
होती है—उनको जानना देखना होता है ॥१५१॥

प्रकारान्तरसे अतिशय अर्थकुशलताका कथन करते है—

गा०—बहुत प्रकारके आचार्योंके गणमें प्रवेश करनेसे बसति और दाताके घरसे निकलने  
और प्रवेश करने आदिमे जो उनका सम्यक् आचरण है उसमें प्रवीण होता है ॥१५२॥

टी०—आचार्य बहुत प्रकारके होते हैं । कुछ आचार्य दूसरोके साथ आचरण करनेसे  
आचरणका क्रम जानते हैं । दूसरे कोई आचार्य शास्त्रमे जो आचार कहा है उसे ही जानते हैं ।  
अन्य कुछ आचार्य दोनोंको जानते है । इस प्रकार आचार्योंके बहुत प्रकार है । इस प्रकार अनेक  
प्रकारके आचार्योंके सधमे प्रवेश करनेसे निष्क्रमण प्रवेश आदिमे सामाचारी कुशल होता है । वे  
आचार्य जैसा आचरण करते हैं उसी प्रकार जो आचरण करता है उसे सामाचारी कहते है । अपने  
रहनेके स्थानसे यदि बाहर जाना चाहता है वह स्थान शीतल हो अथवा गर्म हो, शरीरका  
प्रमार्जन करके बाहर जाना चाहिए । इसी प्रकार प्रवेश करते हुए भी प्रमार्जन करना चाहिए ।  
यह प्रमार्जन पीछीसे शरीरकी सफाई शीतकाय और उष्णकायके जीवोको बाधा न हो, इसलिए  
किया जाता है । अथवा सफेद, लाल या काले गुणवाली भूमियोंमें एकमेंसे निकलकर दूसरीमे प्रवेश  
करनेपर कमरसे नीचे प्रमार्जन करना चाहिए । अन्यथा विरुद्ध योनिके संक्रमसे पृथिवीकायिक  
जीवोंको और उस भूमिमे उत्पन्न हुए त्रसोंको बाधा होता है । तथा जलमे प्रवेश करते समय  
पैर आदिमें लगी सचित्त और अचित्त धूलीको दूर कर देना चाहिए । जब तक पैर न सूखे तबतक  
जलसे निकलकर जलके पास ही ठहरना चाहिए, वहाँसे जाना नही चाहिए । यदि बड़ी नदीको

१. द्वा सकलशरीर—अ० ।

शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारंगेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत् । तदतिचारम्यपोहार्यं । तत्रमेव महत् कान्तरारस्य प्रवेशानि श्रमणयोः ।

तथा भिक्षानिमित्तं गृहं प्रवेष्टुकामः अवलोकयेत्किमत्र बलीवद्वा, महिष्यं, प्रसूता वा गावः, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचरा श्रमणाः वा मन्ति न सन्तीति । सन्ति चेन्न प्रविशेत् । यदि न विभ्र्याति ते यत्नेन प्रवेशं कुर्यात् । ते हि भीता यानि बाधन्ते स्वयं वा पलायमानाः त्रमस्यावरपीडा कुर्यात् । किलश्रयन्ति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयुः ।

गृहीतभिक्षाणां वा तेषां निगमनं गृहस्थैः प्रत्याख्यानं वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं । अन्धया बहव आयाता इति दानुमशक्ता कस्मैचिदपि न दद्युः । तथा च आहारान्तर्गतं कृतं स्यात् । ब्रह्मा परे भिक्षाचरा निर्भर्त्सनादिकं कुर्यात्स्माभिराशया प्रविष्टं गृहं किमर्थं प्रविशतीति । अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा अन्वेवन्ते भिक्षा, यत्र वा स्थितानां गृहिणं प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभागं यतः प्रक्षिणेन्न गृहाम्भन्तरं । गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेत्यभिहितोऽपि नान्धकारं प्रविशेत् । त्रमस्यावरपीडापरिहृतयः । तद्द्वारकाण्यन्वेषणं कुर्यान्ति च गृहिणः । एलकं वस्त्रं वा नातिक्रम्य प्रविशेत् । भीता पलायनं कुर्यात्स्नानं वा पातयेयुः ।

द्वारमप्यायामविवेकमभूनि प्रविशत गात्रपीडा इति सकुटितागस्य विवृताघोभागस्य वा प्रवेशं दृष्ट्वा

पार करना हो तो इस ओर सिद्धोकी वन्दना करे और जबतक मैं नदीकी पार न पहुँचूँ तबतकके लिए मेरे सब शरीर भोजन और उपकरणका त्याग है इस प्रकार प्रत्याख्यानं ग्रहण करे और चित्तको समाहित करके नौका आदिम चढ़े । तथा दूसरे तटपर पहुँचकर कायात्मगं करे । यह कायोत्सर्गं नदी पार करनेमें लगे दोषकी शुद्धिके लिए किया जाता है । इस प्रकार किसी महाव्रत वनमें प्रवेश करने और निकलनेपर करना चाहिए ।

तथा भिक्षाके लिए घरमें प्रवेश करनेसे पूर्व देख ले कि यहाँ, साढ़, भम, व्याईं हुई गाय, अथवा दुष्ट कुत्ते और भिक्षाके लिए श्रमण है अथवा नहीं है । यदि हो तो घरमें प्रवेश न करे । यदि वे पशु साधुके प्रवेशसे न डरे तो सावधानतापूर्वक प्रवेश करे । वे पशु डरनेपर यातिको बाधा कर सकते हैं । अथवा स्वयं भागकर त्रस और स्थावर जीवोंको पीडा पहुँचा सकते हैं । स्वयं कष्टमें पड़ सकते हैं । किसी बड़े गड्ढेमें गिरकर मर सकते हैं । अथवा भिक्षा लेकर निकलते हुए साधुओंको देखकर और गृहस्थोंके द्वारा उनका प्रत्याख्यान सुनकर घरमें प्रवेश करना चाहिए । अन्यथा बहुतसे साधु आ गये, हम इन्हें भिक्षा देनेमें असमर्थ हैं ऐसा सोच गृहस्थ किसीको भी भिक्षा नहीं देगे । और तब आहारमें अन्तराय हो जायगा । अन्य भिक्षार्थी क्रुद्ध होकर तिग्स्कार करेगे कि जिस घरमें हम भिक्षा लेते हैं उसमें ये क्यों प्रविष्ट हुए । अन्य भिक्षा लेनेवाले जहाँ खड़े होकर भिक्षाकी प्रतीक्षा करते हैं अथवा जहाँपर खड़े हुए भिक्षार्थियोंको गृहस्थ भिक्षा देते हैं, वही तक साधुको जाना चाहिए । घरके भीतर प्रवेश नहीं करना चाहिए । गृहस्थोंके द्वारा 'पधारिये' घरमें प्रवेश कीजिए, ऐसा कहनेपर भी त्रस और स्थावरजीवोंको पीडा न पहुँचे इसलिए अन्धकारमें प्रवेश नहीं करना चाहिए । उनके द्वार आदिको लॉघनेपर गृहस्थ क्रुद्ध हो सकते हैं । बछड़े आदिको लॉघकर नहीं जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे वे डरकर भाग सकते हैं अथवा साधुको गिरा सकते हैं । लम्बाई चौडाईसे गृहित द्वारमें प्रवेश करते हुए अगोको

कुप्यन्ति हुसन्ति वा । आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च । द्वारपाद्वर्षजन्तुपीडा स्वगात्रमर्दने च शिष्याव-  
लम्बितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशो अभिहति । तस्मादूर्ध्वं तिर्यक्चावलोच्य प्रवेष्टव्यं ।

तदानोमेव लिप्ता, जलमेकाद्रां, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपलाशादिभिनिरन्तरा, सचित्तमृत्तिकावती, छिद्र-  
बहुला, विचरत्प्रसजोवा, गृह्णिषा भोजनार्थं कृतमण्डलपरिहारा, देवताघ्युषिता निकटभूतनामानामतिकस्या-  
सनशयनामासीनशयितपुरुषा, सूत्राख्यपीवादिभिरुपहृता भूमि न प्रविशेत् ।

सयमविराधना आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च परिहर्तुं भुक्त्वा निर्गच्छन्नपि शनैरतीवानवनतो  
वन्दमान प्रति दत्तयोग्याशीर्वादी निर्गच्छेत् । तथा भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल च ज्ञात्वा गृहीतावधुह, ग्राम-  
नगरादिकं प्रविशेदीयांसिमितसम्पन्न । भोजनकालपरिमाणं ज्ञात्वा ग्रामादिभ्यो नि सर्तु । जिनायत्न, यति-  
निवाम वा प्रविशन्प्रदक्षिणा कुर्यात्प्रसोषिकाशब्दप्रयोगं च । निर्गन्तुकाम आसीधिकेति । आदिशब्देन परिगृहीता  
स्थानभोजनशयनगमनादिक्रिया । तत्रापि यत्नो यत्नीना । त सकल वेदिम गुरुकुलवासी सूत्रार्थज्ञोऽह, न मया-  
चारक्रम सूत्रार्थो वान्यसकाशे ज्ञातव्य इत्यभिमान न वहेत् ॥ १५२ ॥

शिक्षायामुद्योगपरो भवेदित्याह—

कंठगदेहि वि पाणेहि साहुणा आगमो हु कादवो ।

सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जध तहेव ॥१५३॥

सकुचित करनेपर शरीरमें पीडा होती है । नीचेके भागको पीलाकर प्रवेश करनेपर लग देखकर  
कुपित होंगे या हँमेगे । तथा आत्माकी विराधना और मिथ्यात्वकी आराधना होती है ।

अपने शरीरका मर्दन करनेपर द्वारके पार्श्वभागमें स्थित जीवोको पीडा होती है । विना  
देखे घरमें प्रवेश करनेवाला साधु छीकेपर रखे बरतनोंसे टकराता है । अतः ऊपर और इधर-  
उधर देखकर घरमें प्रवेश करना चाहिए । जो भूमि तत्काल लीपी गई हो, जलके सिंचनसे गीली  
हो, हरे फूल, फल पत्र आदिसे सर्वत्र ढकी हो, सचित्त मिट्टीवाली हो, जिसमें बहुत छिद्र हो,  
जिसपर त्रसजोव विचरते हो, गृहस्थोके भोजके लिए मण्डल आदि रचे गये हो, जहाँ देवताका  
निवाम हो, पासमें बहुतसे आदमी बैठे हो, आसन शय्या पासमें हो, पुरुष सोये या बैठे हो, टट्टी  
पेशाब आदि पड़े हो उस भूमिसे प्रवेश नहीं करना चाहिए । सयमकी विराधना, आत्माकी  
विराधना और मिथ्यात्वकी आराधनासे बचनेके लिए भोजन करके निकलते हुए भी धीरेसे अति  
नम्र हो, वन्दना करनेवालोको आशीर्वाद देते हुए निकलना चाहिए । तथा भिक्षाका समय और  
अपनी भूखके समयको जानकर कोई नियम ग्रहण करके ईयांसिमितिपूर्वक ग्राम नगर आदिमें  
प्रवेश करना चाहिए । और भोजनके कालका परिमाण जानकर ग्रामादिसे निकलना चाहिए ।  
जिन मन्दिदरमें अथवा साधु निवासमें प्रवेश करते समय निसिधिका शब्दका प्रयोग करना चाहिए  
और प्रदक्षिणा करना चाहिए । निकलते समय 'आमीधिका' शब्दका प्रयोग करना चाहिए । आदि  
शब्दसे स्थान, भोजन, शयन, गमन आदि क्रियाका ग्रहण किया है । उनमें भी यिनियोंको साव-  
धानता बरतनी चाहिए । मैं मन्त्र जानता हूँ, गुरुकुलका वासी और सूत्रके अर्थका ज्ञाता हूँ, मुझे  
दूसरेसे आचारक्रम और सूत्रार्थ नहीं जानना है' ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए ॥१५३॥

शिक्षामें उद्योग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—

‘कण्ठगर्वेहि वीत्याविना’ । कण्ठगतैः प्राणी सह वर्तमानेनापि साधुना आगमशिक्षा कर्तव्यैव सूत्र-  
स्वार्थस्य सामाचारस्य च ॥१५३॥

क्षेत्रपरिमाणं व्याचष्टे—

**संज्ञदज्जणस्स य जम्हि फासुविहारो य सुलभवुत्ती य ।**

**तं खेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोगं ॥१५४॥**

‘संज्ञदज्जण’ इत्यादिना । अमयमान् हिंसादीन्जात्वा श्रद्धाय च तेभ्य उपरतो व्यावृत्तं सम्यग्यत संयतं  
इत्युच्यते तस्य संयतजनस्य । ‘जम्हि’ यस्मिन्क्षेत्रे । ‘फासुविहारो य’ प्रासुक विहरण जीवबाधारहित गमनं  
अत्रसहरितबहुलत्वादप्रचुरोदककर्मत्वाच्च क्षेत्रस्य । ‘सुलभवुत्ती य’ सुखेनावलेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मि-  
न्क्षेत्रे । ‘तं खेत्तं’ तत्क्षेत्रं । ‘णाहिदि’ शास्त्रत्यात्मन परस्य वा । ‘सल्लेहणाजोगं’ मम्यक्कायकषायतनुकरण  
सल्लेखना तस्या योग्य । क ? ‘विहरंतो’ देशान्तराणि भ्रमन् ॥१५४॥

न देशान्तरभ्रमणमात्रादनियतविहारी भवति किन्त्वेवविध इत्याचष्टे—

**वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णजणे ।**

**सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो ॥१५५॥**

‘वसधीसु अ’ इत्यादिना—‘वसतिषु’ उपकरणेषु । ग्रामे नगरे गणे श्रावकजनै च । सर्वत्र अप्रतिबद्ध ।

गा०—प्राणिके कण्ठमे आ जानेपर भी साधुको आगमका अभ्यास अवश्य करना चाहिए ।  
जैसे वह सूत्रका और अर्थका और समाचारीका अभ्यास करता है उसी प्रकार उसे आगमका  
अभ्यास करना चाहिए ॥१५३॥

टी०—कण्ठगत प्राणिके होते हुए भी साधुको आगमकी शिक्षा करना ही चाहिए तथा  
सूत्र, अर्थ और सामाचारीकी भी शिक्षा करना चाहिए ॥१५३॥

विशेष०—आशाघर इस गाथाको प्रक्षिप्त वतलाते है ।

क्षेत्र परिमाणं गाको कहते है—

गा०—जिस क्षेत्रमे सयमीजनका प्रासुक विहार और सुलभ आहार हो, वह क्षेत्र देशान्तर-  
मे भ्रमण करनेवाला सल्लेखनाके योग्य जानता है ॥१५४॥

टी०—असयमरूप हिंसा आदिको जानकर और श्रद्धान करके जो उनसे अलग होता है  
अर्थात् उनका त्याग करता है उस सम्यक् यतको संयत कहते है । सयमी मनुष्यका जिस क्षेत्रमें  
प्रासुक विहार अर्थात् जीव बाधारहित गमन होता है; क्योंकि क्षेत्रमें त्रस और हरितकायकी  
बहुलता और पानी कीचडकी अधिकता नहीं होनी चाहिए । तथा जहाँ वृत्ति अर्थात् आहार  
सुखपूर्वक विना क्लेशके प्राप्त होता है वह क्षेत्र देशान्तरमें विहार करनेवाला अनियत विहारी  
साधु सल्लेखनाके योग्य जानता है । सम्यक् रीतिसे शरीर और कषायके कृज करनेको सल्लेखना  
कहते हैं उसके योग्य वह क्षेत्र होता है ॥१५४॥

आगे कहते है कि केवल देशान्तरमे भ्रमण करनेसे अनियत विहारी नहीं होता किन्तु जो  
ऐसा होता है—

गा०—वसतियोंमें और उपकरणोंमें ग्राममें नगरमे सघमें और श्रावकजनमे सर्वत्र यह मेरा  
है इस प्रकारके सकल्पसे रहित साधु सक्षेपसे अनियत विहारी होता है ॥१५५॥

टी०—वसति, उपकरण, ग्राम, नगर, गण और श्रावकजनमे जो सर्वत्र अप्रतिबद्ध है, यह

ममेदं वसत्यादिकं अहमस्य स्वामीति मकल्परहितं अनियतविहारी भवति इति सर्वपत प्रतिपत्तव्यः ।  
विहारी गदो ॥१५५॥

अनियतवासादनन्तर परिणामं प्रतिपादयितु उत्तरमाथा—

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा ।

णिप्पादिदा य सिस्सा सेय खलु अप्पणो काटु ॥१५६॥

‘अणुपालिदो य’ अनुपालितश्च सूत्रानुसारेण रक्षित । ‘दीहो’ दीर्घं चिरकालप्रवृत्ति । ‘परियाओ’ पर्यायः ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोरूप । ‘वायणा वि’ वाचनापि । ‘मे’ मया । ‘दिण्णा’ दत्ता । ‘णिप्पादिदा य सिस्सा’ निष्पादिताश्च शिष्या । ‘सेय’ श्रेय हित । ‘अप्पणो काटु’ आत्मन कतुं ‘खलु’ इति शेष । एतदुक्तं भवति । ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु चिरकाल परिणतोऽस्मि । सूत्रानुसारेण परेभ्यश्च निरवद्यग्रन्थार्थदानं च कृत । शिष्याश्च व्युत्पन्ना भवन्ति । एव स्वपरोपकारक्रियया गतः काल । इत प्रभृत्यात्मन एव हित कतुं न्याय्यमिति चेत प्रणिधान इह परिणामशब्देनोच्यते । तथा बोक्तम्—

अपहियं कायब्बं जइ सक्कइ परिहियं च कायब्बं ।

अपहियपरहियादो अप्पहियं सुट्टु कावब्बं ॥ [ ]

किण्णु अघालन्दविधिः भत्तपइण्णेंगिणी य परिहारो ।

पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पड्डिवण्णो ॥१५७॥

‘कि णु अघालन्दविधिः’ । कोऽभावथालन्दविधि ? उच्यते—परिणाम सामर्थ्यं, गुरुविसर्जनं, प्रमाणं, स्थापना, आचारमार्गणा, अघालन्दमासकल्पश्च । गृहीतार्था कृतकरणा., परोपहोपसर्गजये समर्था, अनि-

वसति आदि मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकारके सकल्पसे रहित है उसे संज्ञेपमे अनियत विहारी जानना । इस प्रकार अनियत विहार समाप्त हुआ ॥१५५॥

अनियत वासके अनन्तर परिणामका कथन करनेके लिए गाथा—

गा०—दीर्घकाल तक ज्ञान दर्शन चारित्र्य और तप रूप पर्यायका मेने शास्त्रानुसार पालन किया । और मेने वाचना भी दी और शिष्योको तयार किया । अब निश्चयसे अपना कल्याण करना उचित है ॥१५६॥

टीका—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानदर्शन चारित्र्यमे मे चिरकालतक रमा हूँ । तथा दूसरोको आगमके अनुसार निर्दोष ग्रन्थ और उसके अर्थका दान किया है । शिष्य भी व्युत्पन्न हो गये । इस प्रकार अपना और परका उपकार करनेमे काल बीता । आजसे अपना ही हित करना उचित है । इस प्रकारके मनोभावको यहाँ परिणाम शब्दसे कहा है । कहा भी है—‘अपना हित करना चाहिए । यदि शक्ति हो तो परका हित भी करना चाहिए । किन्तु आत्महित और परहित में से आत्महित अच्छे प्रकार करना चाहिए ॥१५६॥

गा०—क्या अघालन्द विधि, भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, परिहार विशुद्धि चारित्र्य, पादोपगमन अथवा जिनकल्पको धारण करके मे विहार करूँ ॥१५७॥

टी०—अघालन्दविधि क्या है, यह कहते हैं—परिणाम, सामर्थ्यं, गुरुके द्वारा विसर्जन, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अघालन्दकमासकल्प यह क्रम है । जो मुनि शास्त्रज्ञ, करने

मूर्हितबलबोर्था, आत्मानं मनसा तुलयन्ति । किमथालन्दविधिरारभंणीयोऽथवा प्रायोपगमनविधिरिति । परिहारस्यासमर्था अथालन्दविधिमुपगन्तुका मास्त्रय, पञ्च, सात, नव वा ज्ञानदर्शनसपञ्चास्तौत्रसवेगमापञ्चा, स्वविरमूलनिवासिन, अवधृतात्मसामर्थ्या विदितायु स्थितय स्वविर विज्ञापयन्ति—भगवन् । किमिच्छामोऽथालन्दकमयमं प्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा स्वविरो धारयति धृत्वा शरीरेण च दुर्बलान्परिणामातिशयविर-हितांश्च काश्चिदनुजानाति । समग्रगुणास्ते निसृष्टा स्वविरिण प्रशस्तेऽवकाशे स्थिता कृतलोचा, गुरुणामालोचना कृत्वा कृन्त्रतारोपणा अचरोद्गते आदित्ये कल्पस्थितमेक गणस्यालोचना श्रोतु शुद्धि चैव कर्तुं समुद्यत स्थापयन्ति । स एव प्रमाण गणस्य । आगमन महाया यावन्तो गणाभिर्गतास्तावन्त एव तस्थाने स्थापयितव्या गणे ।

आचारो निरूप्यते—अथालन्दसयताना लिङ्ग औत्सर्गिक, देहभ्योपकारार्थ आहार वसति च गृह्णन्ति, शेष सकलं व्यजन्ति । तृणपीठकटफलकादिक उपधि च न गृह्णन्ति । प्राणिमयमपरिपालनार्थं जिनप्रतिरूपतासपादनार्थं च गृहीतप्रतिलेखना ग्रामान्तरगमने विहारभूमिगमने, भिक्षाचर्याया, निपद्याया च अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्ट शरीरसंस्कारा पनीपहान्सहन्ते नो वा घृतिबलहीना । अस्ति च मनोबल सयममाचरितु इति मत्वा त्रय पञ्च वा मह प्रवर्तन्ते । रोगेणभिघातेन वा ज्ञाताया वेदनाया प्रतिक्रियाया वर्ज्या यदा तपमातिश्रान्नास्नदा

योग्य कार्यको कर चुकने वाले, परीषह और उपसर्गको जीतनेमें समर्थ तथा अपने बल और वीर्य-नही छिपानेवाले होते हैं, वे अपनी तुलना मनमें करते हैं कि क्या अथालन्दविधि प्रारम्भ करे या प्रायोपगमन विधि ? जो परिहार विशुद्धिको धारण करनेमें असमर्थ है और अथालन्दविधिको स्वीकार करना चाहते हैं ऐसे पाँच, सात या नौ मुनि, जो ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न हैं, तीव्र वैराग्यसे सम्पन्न हैं, आचार्यके पादमूलमें रहते हैं, जिन्होंने अपनी सामर्थ्यका निर्णय कर लिया है और जिन्हें अपनी आयुकी स्थिति ज्ञात है वे आचार्यसे निवेदन करते हैं—भगवन् । हम अथालन्दक सयमको धारण करना चाहते हैं । यह मुनकर आचार्य जो धैर्य और शरीरमें दुर्बल है, जिनके परिणाम उन्नत नहीं है, उन्हें रोक देते हैं और कुछको अनुमति देते हैं । वे सम्पूर्ण गुणशाली गुरुके द्वारा छोड़ दिये जाने पर प्रशस्त स्थानमें लौच करते हैं । और गुरुके सन्मुख आलोचना करके व्रत धारण करते हैं । सूर्यका उदय होते ही कल्पस्थित मुनियोंमें से एकका जो गणको आलाचना मुनते और दोषोंको शुद्धि करनेके लिए तत्पर होता है, स्थापित करते हैं । वही गणके लिए प्रमाण होता है अपने सहायक जितने मुनि गणसे निकले हैं, गणमें उनके स्थानमें उत्तम ही मुनि स्थापित करना चाहिए ।

अथ अथालन्दकोके आचार्यका निरूपण करते हैं—अथालन्दक मुनियोंके औत्सर्गिक लिंग (तनन्ता) होता है । शरीरके उपकारके लिए आहार और वसति स्वीकार करते हैं । शेष सब छोड़ देते हैं । तृणोका आमन, लकड़ीका तख्त आदि परिग्रह स्वीकार नहीं करते । प्राणि सयमको पालनेके लिए और जिनदेवका प्रतिरूप रखनेके लिए पीछी रखते हैं । अन्य ग्रामको जाने पर, विहार भूमिमें जाने पर, भिक्षाचर्यामें और बैठते समय प्रतिलेखना नहीं करते । शरीरका संस्कार नहीं करते, परीषद्को सहते हैं और धैर्यबलसे हीन नहीं होते । सयमका आचरण करनेके लिए हममें मनोबल है ऐसा मानकर तीन या पाँच मुनि एक साथ रहते हैं । रोगसे या चोट आदिसे

सहायहस्तावलम्बन कुर्वन्ति । वाचनादिका च न कुर्वन्ति यामाष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता ध्याने यतन्ते । यदि बलादायाति निद्रा तत्राकृतप्रतिज्ञा स्वाध्यायकालप्रतीक्षणादिकाश्च क्रियास्तेषां न सन्ति । स्मशानमध्येऽपि तेषां ध्यानमप्रतिपिद्ध आवश्यकेषु च प्रयतन्ते । उपकरणप्रतिलेखना कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति । स्वामिकेषु देवकुलादिषु तदनुसया वसन्ति । अज्ञायमानस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञा करोतु इत्यभिधाय वसन्ति । सहसातिचारे जाते अग्निपरिणामे वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तते । दशविधे समाचारे प्रवर्तन्ते । दान, ग्रहण, अनुपालना, विनय, महर्भोजन च नास्ति मघेन तेषां ; कारणमपेक्ष्य केषांचिदेक एव सत्प्राप कार्यं । यत्र क्षेत्रे मघर्मा तस्त्रेण न प्रविशन्ति । मौनवग्रहनिरता पथान पृच्छन्ति, शकितव्य वा द्रव्य शय्याभरणगृह वा । एव तिस्र एव भाषा । यामाद्बहिरागत्युकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसन्ति । पशुपक्षिप्रभृतिभिर्यत्र ध्याने विघ्नो भवति तत्र स्थानादपयाति । को भवान्, कुत आयात, क्व प्रस्थित, कियत्काल अत्र भवतो वसन्, कति यूयमिति पृष्ट्वा श्रमणाऽहमित्येव प्रतिवचनमेकं प्रयच्छन्ति, इतरत्र कृततूष्णीभावा । अपसरत स्थानादवकाश मे प्रयच्छ, परिपालय गृह, इत्यादिको वाग्म्यापारो यत्रान्येषां भवति, तत्र न निवसन्ति । बहिरपि वसत यदि भवति, ततोऽपयाति । स्वायासगृहे प्रवृत्तिले न<sup>१</sup> चलन्ति चलन्ति वा गोचर्यायामप्राप्ताया-

उत्पन्न हुई वेदनाका प्रतीकार नहीं करते । जब तपसे अत्यन्त थक जाते हैं तब सहायके रूपमें एक दूसरेका महारा लेंते हैं । वाचना आदि नहीं करते । आठो पहर भी नहीं सोत और एकाग्र होकर ध्यानमें प्रयत्न करते हैं । यदि अचानक निद्रा आ जाती है तो सो लेंते हैं, नहीं सोनेकी प्रतिज्ञा उनके नहीं होती । स्वाध्यायके समय उनके प्रतिलेखना आदि क्रिया नहीं होती । स्मशानके मध्यमें भी वे ध्यान कर सकते हैं उसका उनके लिए निषेध नहीं है । और आवश्यकमें प्रयत्नशील रहते हैं । उपकरणोंकी प्रतिलेखना दोनों समय करते हैं । जिन देवकुलादिके स्वामी हाते हैं उनमें उनकी आज्ञा लेकर ही निवास करते हैं । जिन मन्दिरोंके स्वामीका पता नहीं होता उनमें 'जिनका यह है वह हमें स्वीकृति प्रदान करे' ऐसा कहकर निवास करते हैं । सहसा अतिचार लगने पर अथवा अशुभ परिणाम होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा कहकर निवृत्त हो जाते हैं । दस प्रकारके समाचारका पालन करते हैं । मघके साथ उनका देन, लेन, अनुपालना, विनय और सहभोजन या वार्तालाप नहीं होता । आवश्यकता होने पर किसीसे एक ही व्यक्तिको बात करना चाहिए । जिस क्षेत्रमें साधर्मि मुनि हो, उस क्षेत्रमें वे नहीं जाते । मौनका नियम पालन करते हैं किन्तु, मार्ग या शका युक्त द्रव्य और वसतिकाके स्वामीका घर पूछ लेंते हैं । इस प्रकार तीन ही उनकी भाषा होती है । गाँवमें बाहर आने वालोंके लिए जो मकान होता है उसमें कल्पस्थित मुनिकी अनुज्ञा मिलने पर ठहरते हैं । जिस स्थानमें पशु-पक्षी आदिके द्वारा ध्यानमें विघ्न होता हो वहाँसे चले जाते हैं । कोई पूछे कि आप कौन हैं, कहाँसे आये हैं, कहाँ जाते हैं, कितने समय तक आप यहाँ रहेंगे ? तो 'मैं श्रमण हूँ' इस प्रकार एक ही उत्तर देते हैं, शेष प्रश्नोंके संबन्धमें चुप रहते हैं । 'यहाँसे जाओ, मुझे स्थान दो, घरको देखना, इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ अन्य लोग करते हैं वहाँ निवास नहीं करते । घरके बाहर भी ठहरने पर यदि कोई ऐसा व्यवहार करता है तो वहाँसे भी चले जाते हैं । जिस घरमें वे रहते हैं उसमें आग लगने पर वहाँसे नहीं जाते

१ यामाके अ० । यामाकष्टके-आ० । २. लन-आ० मु० । ३. सहजल्पन-आ० मु० ।

४. इतरत्र आ० । इतरं कृत-मु० । ५ न चलन्ति वा-अ० ।

तृतीयपौष्या द्विगभ्यूतमध्वानं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महावातेन वर्षादिना जातः समतीतगमनकाल एव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिका, व्यालमुगा<sup>१</sup> वा पतन्ति ततोऽपसंपन्ति न वा पादे कण्टकालम्, चक्षुषि रजः-प्रबंधे वा, अपनयन्ति न वा । दृढधृतिका<sup>२</sup> मिथ्यात्वचर्याराधनाभात्मविराधनामवस्था दोषान्वा तस्मात्परिहरन्ति न वा । तृतीयपौष्या भिक्षार्थमवतरन्ति । कृपणवनीषकप्यनुपक्षिगणे अपगते पञ्चमी पिण्डैषणा कुर्वन्ति मौनं च । एका, द्वे तिलकचतस्रः पञ्च वा गोचर्यो यत्र ज्ञेये तत्रालन्दिकयोगः प्रवर्तयन्ति । यस्मात्पाणिपात्र-भोजी मिथ्याराधना न वञ्चयति तस्माल्लेपमलेपं वा भुक्त्वा तत्प्रक्षालयन्ति । धर्मापदेश<sup>३</sup> कुरुत प्रश्नव्यामिच्छामि भगवता पादभूते इत्युक्ताश्चापि न मनसापि वाञ्छन्ति किं पुनर्वचसा कायं । इतरे तन्महाया धर्मापदेशं कृत्वा नक्षिणं मुखेन वा गणाधिपतयेऽर्पयन्ति ।

क्षेत्रत सप्ततिशतधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति । कालतः सवदा । चारित्र्यतः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोः । तीर्थतः सर्वतांबकृता तीर्थेषु । जन्मनः त्रिशद्वर्षजीविता<sup>३</sup> । श्रामण्येन एकांनविंशतिवर्षा । ध्रुतेन नवदश-पूर्वधरा । वैवतः पुर्वासो नपुंसकाश्च । लक्ष्यातः पद्मशङ्कलेख्या । ध्यानेन धमध्यानाः । मस्यागतः पशु-विशेषेभ्यस्तदसस्थाना देशोनसप्तहस्तादि यावत्पञ्चधनुः शतो<sup>४</sup> ३या । कालतो भिन्नमूहृतचित्तपूर्वकौटिकाल-

अथवा जाते है । गोचरी नहीं मिलने पर तीसरे पहरमें दो गभ्यूति प्रमाण मार्ग चलते है । यदि प्रचण्ड वायु या वर्षा आदिसे गमनमें रुकावट आती है तो वही ठहर जाते है । व्याघ्र आदि अथवा सर्प मृग आदि आ जाते है तो वहाँसे हटते भी है और नहीं भी हटते । पैरमें काँटा लगने पर अथवा आँखमें धूल चली जाने पर उसे निकालते है, नहीं भी निकालते ।

‘दृढ धैर्यशाली वे मुनि मिथ्यात्वचर्याराधना और आत्मविराधना अवस्थाको अथवा दोषों-को दूर करते है अथवा नहीं करते (?) । तीसरे पहर भिक्षाके लिए निकलते है । कृपण, याचक, पशु-पक्षी गणके चले जाने पर पाँचवी पिण्डैषणा करते है और मौन रखते है । जिस क्षेत्रमें एक, दो, तीन, चार अथवा पाँच गोचरी होती है उस क्षेत्रमें आलन्दिक योग करते है । यत् पाणिपात्र-में भोजन करने वाला मिथ्या आराधनाको नहीं छोडता, इसलिए वह लेप अथवा अलेपको खाकर उसका प्रक्षालन करते है ?’

कोई आकर कहे कि धर्मापदेश करो, मैं आपके चरणोंमें दीक्षा लेना चाहता हूँ तो ऐसा कहने पर भी वे मनसे भी उसकी चाहना नहीं करते, तब वचन और कायका तो कहना ही क्या ? अन्य मुनि जो उनके सहायक होते है वे उन्हें धर्मापदेश देकर गिला सहित अथवा मुण्डन कराकर आचार्यको सौंप देते है ।

क्षेत्रकी अपेक्षा एक सौ सत्तर कर्मभूमि रूप धर्मक्षेत्रोंमें ये आलन्दिक मुनि होते हैं । कालकी अपेक्षा सवदा होते है । चारित्र्यकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र्यमें होते है । तीर्थकी अपेक्षा सब तीर्थक्षेत्रोंके तीर्थमें होते हैं । जन्मसे तीस वर्षतक गृहस्थाश्रममें रहकर उन्नीस वर्ष तक मुनि धर्मका पालन करते है, ध्रुत्से नौ या दस पूर्वके घारी होते है । वेदसे पुरुष अथवा नपु-सक होते हैं । लक्ष्यासे पशु या शुकल लक्ष्यावाले होते है । ध्यानेसे धर्मध्यानी होते हैं । सस्थानसे छह प्रकारके संस्थानोंमें से किसी एक संस्थान वाले होते हैं । कुछ कम सात हाथसे लेकर पाँचसौ

१ व्यालमुगाया यद्याप-आ० मु० । २ कुर्वन्त तत्प्र-आ० । कुर्वन्त तत्प्र० मु० । ३ जीविन-का० । ४ शतोत्स्रैषा-मु० ।



स्थितयः । विक्रिया चारणताक्षीरास्रवित्वावयवच तेषा जायन्ते । विरागतया न सेवन्ते । गच्छविनिर्गता-  
लन्दविधिरेष व्याख्यातः ।

गच्छप्रतिबद्दालन्दकविधिरुच्यते—गच्छाभिर्गच्छन्तो बहिः सकोशयोजने विहरन्ति । सपराक्रमो गण-  
धरो ददाति क्षेत्राद् बहिर्गत्वार्थपद । तेष्वपि समर्था आगत्य शिक्षा गृह्णन्ति । एको द्वौ त्रयो वा परिज्ञान-  
धारणा गुणसमया गुह्यमकाशमायान्ति । कृतप्रतिप्रश्नकार्याः स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहणं कुर्वन्ति । अपराक्रमस्तु गण-  
धरो गच्छे सूत्रार्थपीरुषीं कृत्वा अग्रोद्धानं गत्वा यत्नेन ददात्यर्थपद । अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरो अन्याप-  
सारणं कृत्वा एकस्मिं उपदिशति । यदि गच्छेःक्षेत्रान्तरं गण अथालन्दकं ता अपि गुर्वनुज्ञया यान्ति क्षेत्रं ।  
यदा गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रतिकेवनार्थं प्रयन्तते तदा तत्र मार्गेण द्वौ अथालन्दको यातौ । व्याख्यातोऽप्यमथा-  
लन्दविधिः ।

परिहार उच्यते—जिनकल्पस्यासमर्था परिहारसयमभर वोढु समर्था आत्मनो बल वीर्यमायुं प्रत्यबा-  
याश्च ज्ञात्वा ततो जिनसकाश उपगत्य कृतविनया प्राञ्जलयं पृच्छन्ति “परिहारसयमं प्रतिपत्तु-  
मिच्छामो युष्माकमाज्ञया” इति तच्छ्रुत्वा येषा ज्ञानमनुत्तरं उपजायते विघ्नो वा ताक्षिवारयति । निस्पृष्टास्तु  
यतोन्द्गं सद्यताना कृतनि शल्या प्रशस्तमधकाशमुपगता, लोच कृत्वा मुनिश्चिता गुरुणा कृतालोचना  
व्रतानि मुनिशुद्धानि कुर्वन्ति । परिहारसयमाभिमुखाना मध्ये एक सूर्योदये स्थापयन्ति कल्पस्थितं गु त्वेन । सच

धनुष ऊंचे होते है । कालसे एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ कम पूर्वकोटिकी स्थितिवाले होते हैं अर्थात्  
अथालन्दक होनेके कालसे लेकर जषय आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु वीते वर्षसे हीन पूर्ण  
कोटि प्रमाण होती है । उनको विक्रिया, चारण और क्षीरान्नवित्वा आदि ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं  
किन्तु रागका अभाव होनेसे उनका सेवन नहीं करते । यह गच्छसे निकले हुए आलन्दककी विधि-  
का कथन है । अब गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दककी विधि कहते है—ये गच्छसे निकलकर बाहर एक  
योजन और एक कोस क्षेत्रमे विहार करते है । यदि आचार्य पराक्रमी होते हैं तो क्षेत्रसे बाहर  
जाकर उन्हे अर्थपद (शिक्षा) देते है । आलन्दकोमें से भी जो समर्थ होते है वे आकर आचार्यसे  
शिक्षा ग्रहण करते है । परिज्ञान और धारणा गुणसे पूर्ण एक दो अथवा तीन अथालन्दक मुनि  
गुरुके पास आते है, और उनसे प्रश्नादि करके अपने क्षेत्रमे जाकर भिक्षा ग्रहण करते है । (?) यदि  
आचार्य शक्तिहीन होते है तो गच्छमे सूत्रार्थपीरुषी (?) करके

आगेके उद्यानमें जाकर सावधानतापूर्वक अर्थपद देते है । अथवा अपने उपाश्रयमे ही अन्य  
शिष्योंको दूर करके एकको ही अर्थपद देते हैं । यदि गण अन्य क्षेत्रको जाता है तो अथालन्दक  
मुनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षेत्रको जाते है । जब गच्छ निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना करते  
है तब उस मार्गसे दो अथालन्दक जाते है । यह अथालन्दकी विधि कही ।

परिहारका कथन करते है—जो जिनकल्पको धारण करनेमे असमर्थ होते है और परिहार  
सयमके भारको वहन करनेमे समर्थ होते है वे अपना बल, वीर्य, आयु और विघ्नोको जानकर  
जिन भागवान्के पास जाकर हाथ जोड़ विनयपूर्वक पूछते है—हम आपकी आज्ञासे परिहार सयम  
धारण करना चाहते है । यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नहीं होता अथवा जिन्हे कोई बाधा  
होती है उनको रोक देते है । जिन्हे आज्ञा मिल जाती है वे मुनियोंके पास नि शल्य होकर प्रशस्त  
स्थानोमे जाकर केशलोच करते है । फिर गुरुओंके सम्मुख आलोचना करके अपने व्रतोंको अच्छी  
तरह विशुद्ध करते है । परिहार संयम धारण करनेवालोमेसे एक कल्पस्थितको सूर्यका उदय

प्रमाण तस्य<sup>१</sup>। स चालोचना श्रुत्वा शुद्धिं करोति । कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा शेषाणां मर्दां अग्रे परिहार-  
सयमं गृह्णन्ति इति परिहारका भण्यन्ते । शेषास्तेषामनुपरिहारका । पश्चात्परिहारसयमग्राहिण अनुपरि-  
हारका भण्यन्ते । एवं कल्पस्थिते सति ये पश्चात्परिहारसयमार्थमात्मानमुपसृतास्तानपि स्वगणं प्रक्षिपति गणी ।  
यावद्भिरुक्तो गणः तावत्प्रमाण गणं कृत्वा परिहारकाननुपरिहारकाश्च व्यवस्थापयति । तेन परिहारसयमं निवि-  
शमाना अनुपरिहारकाश्च एको द्वौ बहवो वा भवन्ति । यदि तिष्ठिण, एगो गणी विदिओ परिहारसयमं पडि-  
वण्णो, तदिओ अणुपरिहारगो । यदि एव एको कप्पट्ठदो, दो परिहारसजमं पडिवज्जति । तेषिमणुपरिहारगा  
पत्तेग । इतरे जदिसत्त एगो कप्पट्ठदो, तिष्ठिण परिहारगा, इदरे तिष्ठिण अणुपरिहारगा । यदि एव एगो  
कप्पट्ठदो, चत्तारि परिहारिगा, चत्तारि अणुपरिहारिगा । छह मासेहि परिहारीणिविट्ठाणी हवति ।  
ततो पच्छा अणुपरिहारी परिहार पट्ठवेदिदु । तेषि णिविट्ठपरिहारी हवतेणुपरिहारगा<sup>२</sup> ते पुणो छहि  
मासेहि णिविट्ठाइ भवन्ति । तु कप्पट्ठदो पच्छा परिहार<sup>३</sup> पवज्जदि । तस्सेगो अणुपरिहारी एगो कप्प-  
ट्ठिदो वि । अमेविअ छहि मासेहि णिविट्ठपरिहारगो अट्टारममासा ते एव होति पमाणदो ।

होनेपर गुरुके रूपसे स्थापित करते है । उस गणके लिए वह प्रमाण होता है । वह आलोचना  
मुनकर उनकी शुद्धि करता है । कल्पस्थित आचार्यको छोड़कर शेषमेंसे आधे पट्टले परिहार  
सयमको ग्रहण करते है इसलिए उन्हें परिहारक कहते है । शेष उनके अनुपरिहारक होते है । जो  
पीछे परिहारसयम ग्रहण करते है वे अनुपरिहारक कहे जाते है । इस प्रकार कल्पस्थित होनेपर  
जो पीछे परिहार सयमके लिए अपनेको उपस्थित करते है उन्हें भी गणी अपने गणमें मिला लेता  
है । जितने सधु गणमें कम हुए है उतने प्रमाण गणको करके परिहारको और अनुपरिहारकोकी  
व्यवस्था गणी करता है । अतः परिहार सयममें प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक एक दो अथवा  
बहुत होते है । यदि तीन होते है तो उनमेंसे एक गणी, दूसरा परिहारसयमका धारी और तीसरा  
अनुपरिहारक होता है । यदि पांच होते है तो उनमें एक कल्पस्थित गणी, दो परिहारसयमके  
धारी और उन दोनोंमें प्रत्येकका एक-एक अनुपरिहारक होता है । यदि मान होते है तो उनमें  
एक कल्पस्थित, तीन परिहारक और शेष तीन अनुपरिहारक होते है । यदि नौ हो तो एक कल्प-  
स्थित, चार परिहारक और चार अनुपरिहारक होते है । छह महीने तक परिहार सयमी परिहार-  
सयममें निविष्ट होता है । उसके पश्चात् अनुपरिहारक परिहारसयममें प्रविष्ट होता है । उनके भी  
निविष्ट परिहारक होनेपर अन्य अनुपरिहारक परिहार सयममें प्रविष्ट होते है । वे भी छह  
मासमें निविष्ट परिहारक हो जाते है । पीछे कल्पस्थित परिहारमें प्रविष्ट होता है । उसका एक  
अनुपरिहारक और एक कल्पस्थित होता है । वह भी छह मासमें निविष्टपरिहारक होता है । इस  
प्रकार प्रमाणसे अठारह मास होते है ।

**विशेषार्थः**—इसका म्बुलासा है कि परिहारविगुद्धि सयममें तीन मुनि धारण करनेवाले हों  
तो उनमेंसे एक कल्पस्थित होता है जो गणी कहाता है, दूसरा परिहारक होगा है और तीसरा  
अनुपरिहारक है । सयममें प्रवेश करनेके छह मास बीतनेपर परिहारक निविष्ट हो जाता है तब  
अनुपरिहारक सयममें प्रवेश करता है । छह महीना बीतनेपर वह भी निविष्ट परिहारक हो जाता

१. तस्य गणस्य-आ० मु० ।

२. णा अयं-अ० ।

३. रगतं आ० ।-रमे ते मु० ।

४. पडिव-मु० ।

लिङ्गादिकस्तेषामाचारो निरूप्यते—एकोपधिक अवसान लिङ्ग परिहारसंयताना । वसतिमाहार च मुक्त्वा नाम्यद् गूळन्ति तृणफलकपीठकटादिक । मयमार्थं प्रतिलेखन गूळन्ति । त्यक्तदेहाश्च चतुर्विधानुपसर्गान्स्वहन्ते । दृढधृतयो निरन्तर ध्यानावहिनचिन्ता । अस्ति नो बलवीर्यं सर्वगुणसमग्रता च । एवभूता अपि यदि गणे वसामो वीर्याचारो न प्रवर्तित स्यादिति मत्वा त्रय , पञ्च, सप्त, नव वा नियान्ति । रोगेण वेदनयोपहेताश्च तत्प्रतिकार<sup>१</sup> च न कुर्वन्ति । प्रायोग्यमाहारं मुक्त्वा, वाचना प्रश्न परिवर्तना मुक्त्वा सूत्रार्थ-पीठवीध्वपि सूत्रार्थमेवानुप्रेक्षन्ते । एव यामाष्टकेऽपि निरन्तनिद्रा ध्यायन्ति । स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषा । यस्माच्छ्रमशानमध्येऽपि ध्यान न प्रतिपिद्य । आवश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति । काल-द्वये कृतोपकरणशोधना अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति । अनिज्ञ यमानस्वामिकेषु यस्येद सोऽनुज्ञान न करोतु इति वसन्ति<sup>२</sup> । आमीधिका च निपीधिका च निष्क्रमणे प्रवेशे च सपादयन्ति । निर्देशक मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तन्ते । उपकरणादिदान, ग्रहण, अनुपालन, विनयो, वन्दना सत्लापश्च न तेषामस्ति सधेन सह । गृहस्थैरन्यलिङ्गाभिश्च दीयमानं याम्य गूळन्ति । तैरपि न शेषोऽस्ति मभोग । तेषा त्रयाणा, पञ्चाना, सप्ताना, नवाना च परस्परेणारित सभोग ।

कल्पद्विवो शुक्लपी भु जणसघाडदानगहणे वि ।

सवासवंबणालावणाहि भुंजन्ति अणोष्णं ॥

है । तब कल्पस्थित परिहारमयममे प्रवेश करना है । छह माह बीतनेपर वह भी परिहारमे निविष्ट होता है । इस प्रकार परिहारमे निविष्ट होनेमे तीन मुनियोंको अठारह मास लगते है । इसी तरह पाँच, सात और नौ का भी अठारह मास काल जानना । इनका कथन अन्यत्र नहीं मिला ।

परिहारमयतोका लिगादिक आचार कहते है—

वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन, लकडीका आसन, चटाई आदि ग्रहण नहीं करते । मयमके लिए पीछी ग्रहण करते है । शरीरसे ममत्व छोडकर चार प्रकारके उपसर्गोंको सहते है । दृढ धैर्यशाली तथा निरन्तर ध्यानमे चित्त लगते है । 'हममे बलवीर्य और सब गुणोंकी पूर्णता है । ऐसे होते हुए भी यदि हम सधमे रहते है तो वीर्याचारका पालन नहीं होता ।' ऐसा मानकर तीन, पाँच, सात अथवा नौ मयमी एक साथ निकलते है । रोग और वेदनामे पीडित होने पर उसका इलाज नहीं करते । वाचना, पूछना और परिवर्तनोंको छोडकर सूत्रार्थ और पीठवीमे सूत्रार्थका ही चिन्तन करते है । आठो पहर निद्रा त्यागकर ध्यान करते है । स्वाध्याय काल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नहीं होती; क्योंकि श्मशानमे भी उनके लिए ध्यानका निषेध नहीं है । यथासमय आवश्यक करते है । दोनो समय उपकरणोंका शोधन करते है । आज्ञा लेकर देवालय आदिमे रहते है । जिन देवालयो आदि स्थानोंके स्वामियोंका पता नहीं हाना, 'जिसका यह है वह हमे स्वीकारता दे' ऐसा कहकर निवास करते है । निकलते और प्रवेश करते मयम आसीधिका और निपीधिका क्रिया करते है । निर्देशकको छोडकर शेष दस प्रकारके मामाचार करते है । उपकरण आदि देना, लेना, अनुपालन, विनय, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार उनका मयके साथ नहीं होता । गृहस्थ अथवा अन्य लिगियोंके द्वारा दी हुई योग्य वस्तुको ग्रहण करने है । उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नहीं होता । उनमेसे तीन, पाँच, सात अथवा नौ मयनोंका परस्परमे व्यवहार होता है ।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारमयमी परस्परमे सघाटदान सघाटग्रहण (सहायता देना

संवासबंधोपाबधान अणुपालणाहि परिहारि ।  
 अणुपरिहारी भुंजवि निवसमाणो बधणसंवासालावणाहि ॥  
 कल्पट्टिद भुंजवि अणुपरिहारि पि गहणासंवासाणाहि तु ।  
 गिभिन्नतमाणो गिःवसमाण संवास्तवो ण अण्णेण ॥  
 कल्पट्टिठवो भुंजवि संवासणुपासणगिराहि ।  
 कल्पट्टिठवोणुक्कप्पो वंविदा वेति धम्मलाहोति ॥  
 गारत्थि अण्णत्थिो अण्णत्थिोहि निव्वसंतो ।  
 पत्तमुणीको सव्वो वि विणयं अण्णोणं ण वावंति ॥  
 बट्ठूण व सोट्ठूण व जत्थ ह्ठु साधम्मिणो वसवि खेत्तो ।  
 त ण पविसति खेत्त कुवो पुणो धंढणावोगं ॥  
 एव कल्पोषतः क्रमः सर्वोऽजुगतथ्यः ।

मौनाभिग्रहणस्तिस्रो भाषा मुक्त्वा षष्ठ्याहृतिमनुजाकरणी प्रश्ने\* प्रवृत्ता च मार्गस्य शक्तितस्य वा योग्यायोभ्यत्वेन शय्याधरगृह्ण्य, वसतिस्वामिनो वा प्रथम । ग्रामाद्गृहि स्मशान, शून्यगृह, देवकुल, गुहा वा आगन्तुकगृह, तस्कोटर वा अनुजापयन्त्येकवार । कस्त्व, कुतो वागच्छसि, गमिष्यसि वा क देश, क्रियाञ्चर-मत्र वसतिर्भूय कतिजना इति प्रश्ने श्रमणोऽहमित्येकमेव प्रतिवचन प्रयच्छन्ति । एतत्र तुल्योभाव । इतोऽज-काशादपसर्पणं कुरु, स्वानमिदं प्रयच्छ, परिपालय स्वमित्येवमादिका वाग्व्यापारो यत्र तत्र न वगन्ति । गोचर्या यद्यपर्यन्ता तृतीययामे गवृत्तिद्वयं यान्ति । वर्षमहावातादिभिर्विदि व्याघातो गमनस्य अतीतगमनकालास्तत्र तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिख्यालगमने यदि ते भद्रा युगमात्र अपसर्पन्ति । दुष्टाश्चेत्पदमायमपि न चलन्ति । नेत्रयो-सहायता लेना), निवास, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहारं करते हे । अनुपरिहार समयो परिहार-सयमीके साथ संवास, वन्दना, दान, अनुपालना आदिमे व्यवहारं करते हे । कल्पस्थित भी अनु-परिहारसयमीके साथ व्यवहार करता है । वन्दना करनेपर धर्मलाभ कहता है । एक दूसरेको देखकर सब परस्परमे विनय करते हे । जहाँ अधार्मिकजन बसते हे वहाँ वे प्रवेश नहीं करते । इस प्रकार सब कल्पोक्त क्रम जानना चाहिए ।<sup>१</sup>

ये तीन भाषाओको छोड़ सदा मौनसे रहते हे । वे तीन भाषाएँ हे—पूछनेपर उत्तर देना, मार्गना और स्वयं पूछना । मार्गमें शका होनेपर मार्ग पूछना पडता है ये उपकरणादि याग्य हे या अयोग्य, यह पूछना होता है । शय्याधर, जो वसतिकासे सम्बद्ध होता है उसका घर पूछना होता है वसतिका स्वामी कौन है यह पूछना होता है । गाँवस बाहर स्मशान, शून्यघर, देवालय, गुफा, आनेवालोके लिए बना घर, अथवा वृक्षके खोलमें निवास करते समय 'हम अनुज्ञा दे' ऐसा एकबार कहना होता है । 'तुम कौन हो, कहसि आते हो, कहाँ जाओग, यहाँ कितने समय तक ठहरोगे, तुम कितने जन हो' इस प्रकारके प्रश्न होनेपर 'हम श्रमण हे' यह एक ही उत्तर देते हे । शेषमें चुप रहते हे । 'इस स्थानसे चले जाओ, यह स्थान हमे दो, जरा घर देखना' इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ होता है वहाँ नहीं ठहरते । गोचरी यदि नहीं मिलतो तो तीसरे पहर दो गव्यूति जाते हे । यदि वर्ग, आँधी आदिसे गमनमे बाधा होती है तो जहाँतक गमन किया है वही ठहर जाते हे । व्याघ्र आदि पशुओके आनेपर यदि वे भद्र होते हे तो मुनि चार हाथ चलते हे और

१ पत्तमुणीको—आ० मु० । २ पससन्ति—आ० मु० । ३ कुवो ह्ठु णो—आ० मु० ।  
 ४ प्रश्ने प्रवर्तते वा मा—आ० । ५ इन गाथाओका अर्थ भाव स्पष्ट नहीं हो सका है—अनुवादक ।

धूम्रप्रवेशे सकष्टकादिविद्धे वा स्वयं न निराकुर्वन्ति । परे यदि निराकुर्वन्स्तुःशोमवतिष्ठन्ते । तृतीययाम एव नियोगतो भिक्षाय गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे षट्गोचर्या अपुनरुक्ता भवन्ति तस्त्रमावासाप्रयोग्य शेषमयोग्यमिति वर्चयन्ति ।

क्षेत्रं, तीर्थं, कालश्चारित्रं, पर्यायं, श्रुतं, वेद, लेख्या, ध्यान, सहनन, सस्थान, आयामो गात्रस्य, आयु, लब्धय, अतिशयज्ञानोत्पत्ति, सिद्धिरित्येतेऽनियोगा इहानुगन्तव्या । क्षेत्रत भरतौरावतयो, प्रथम-पाश्चात्ययो तीर्थं, उत्सर्पिणी-अवसर्पिण्यो कालत, छेदोपस्थापनाप्रभाश्चारित्रत, प्रथमतीर्थकरकाले देशोन-पूर्वकोटीकायकाल । विशातिवर्षाप्र शतवर्षकाल पाश्चात्यतीर्थं । जन्मतस्त्रिंशद्वर्षाः पर्यायत एकोनविंशति-वर्षा । श्रुतेन च दशपूर्विण, वेदेन पुरुषवेदा, लेख्यातस्तेज पद्मशुक्ललेख्या, धर्मध्यानपरा ध्यानत, आद्यत्रिक-सहनना षट्स्वन्यतरसस्थाना । सप्तहस्तादिपञ्चधनु शतायता अष्टादशमासा पूर्वकोटो वा आयु । चारणताहारसिद्धि, विक्रियाहार्त्सिद्धिश्च लब्धयः । अवधिमनःपर्ययं केवल वा योगसमाप्तौ प्राप्नुवन्ति । सिद्धयन्ति वा पदेषां । सक्षेपत परिहाग्विधिवर्णना ।

जिनकल्पो निरूप्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिषहारिवेगसहा, जिना इव विहरन्ति इति जिन-कल्पिका एक एवत्यनिशयो जिनकल्पिकाना । इतरो लिङ्गादिराचार प्रायेण व्यावर्णितरूप एव ।

क्षेत्रादिभिर्निरूप्यते—सबधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति जिनकल्पिका । काल सर्वदा । सामायिकच्छेदोपस्थापने वा

यदि दुष्ट हूए तो एक पग भी नही चलते । नेत्रोमे धूल चले जानेपर या काँटा आदि लग जानेपर स्वयं नही निकालते । यदि दूसरे निकालने है तो चुप रहते है । नियममे तीसरे पहरमें ही भिक्षाके लिए जाते है । जिस क्षेत्रमें छह भिक्षाएँ अपुनरुक्त हाँती है अर्थात् भिन्न-भिन्न घरोंसे मिल जाती है वह क्षेत्र निवासके योग्य होता है, शेष अयोग्य होता है उसे छोड देते है ।

क्षेत्र, तीर्थं, काल, चागित्र, पर्याय, श्रुत, वेद, लेख्या, ध्यान, सहनन, सस्थान, शरीरकी लम्बाई, आयु, लब्धय, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति सिद्धि ये अनुयोग यहाँ जानना चाहिए । क्षेत्रकी अपेक्षा भरत और ऐरावत क्षेत्रमे, प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमे, कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमे, चारित्रकी अपेक्षा छेदोपस्थापना चारित्रसे उत्पन्न होत है । प्रथम तीर्थ-करके कालमें उनकी आयु कुछ कम एक पूर्वकोटि और अन्तिम तीर्थकरके कालमे एक सौ बीस वर्ष हाँती है । जन्मसे तीस वर्षतक भोग भोगते है और मुनिपर्याय उन्नोस वर्ष हाँती है । श्रुतसे दस पूर्वके पाठी होते है । वेदसे पुरुषवेदी होत है । लेख्यासे तेज, पद्म और शुक्ल लख्यावाल होते है । ध्यानसे धर्मध्यानी हाँते है । आदिके तीन सहननवाल हाँते है और छह सस्थानोमसे कोई एक सस्थान हाँता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष लम्बे हाँते है । परिहारसयमके कालसे जघन्य आयु अठारह मास और उल्कृष्ट आयु परिहारसयम होनेसे पूर्वके वर्षोंसे हीन एक पूर्वकोटी हाँती है । चारण ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि और आहार ऋद्धियाँ हाँती है ।

परिहारविशुद्धिरूप योगके पूर्ण होनेपर अर्वाधज्ञान, मनःपर्यय वा केवलज्ञानको प्राप्त होते है । मोक्ष भी प्राप्त करते है । यह सक्षेपसे परिहारविशुद्धिका वर्णन है ।

अब जिनकल्पको कहते है—रागद्वेष मोहको जीतते है, उपसर्ग और परीषहरूपी शत्रुओके वेगको सहते है । जिनके समान एकाकी ही विहार करते है इसलिए जिनकल्पिक होते है । यही जिनकल्पिकोकी विशेषता है । शेष लिगादि आचार प्रायः उक्त प्रकार ही है ।

क्षेत्र आदिकी अपेक्षा कथन करते है—जिनकल्पो समस्त कर्मभूमियोमे होते है । सर्वदा

चारित्र्यत । सर्वतीर्थेषु तीर्थतः । जन्मना त्रिगद्वर्षाः । श्रामण्यत एकात्रविगतवर्षा । नवदशपूर्वधारिणः । तेजःपद्मशुक्ललेष्या । धर्मधुपलघ्याना । प्रथमसहनना, पट्स्वन्यतरसंस्थाना । सप्तहस्तादिपञ्चधनु शता-  
यामा । भिन्नमुहूर्तविन्यूना पूर्वकोटि काल । विक्रियाहारकचारणताधीरास्त्रावित्वादिक्वाच तपसा लब्धयो  
जायन्ते । विरागास्तु न सेवन्ते । अवधिमन पर्यय केवल वा प्राप्नुवन्ति केचित । ये केवलिनस्ते नियमत-  
सिध्यन्ति ॥१५७॥

एवमथालम्बादिक प्रतिपथ चारित्र्यविधि मयोत्साहः कर्तव्य इति विचारयति—

एवं विचारयित्वा सदिमाहप्ये य आउगे असदि ।

अणिगूहदबलविरिओ कुणदि मदिं भक्तवोमरणे ॥१५८॥

'एवं विचारयित्वा' एवमुक्तेन प्रकारेण । 'विचारयित्वा' विचार्य । 'सदिमाहप्ये य' स्मृतिमाहात्म्ये च  
सति । 'आउगे असदि' आयुष्यसति दीर्घे । 'अणिगूहदबलविरिओ' असवृतबलसहाय वीर्ये आहारव्यायामाम्ना  
कृत बल । 'कुणद' करोति । 'मद' मति । 'भक्तवोमरणे' भज्यते सेव्यते इति भक्त आहार । तस्य त्याग  
आहारेण समयसाधनेन शरीरस्थिति चिर कृत्वा स्वपरोपकार कृत । आयुष्यल्पे न शरीरमवस्थातुमलमाहार-  
ग्रहणेऽपि । तेन त्याग्यो मयाहार इति भावोऽप्य । अत एव सूत्रकारेणैवमुक्त 'बीहो परिव्याओ' इति ।  
अवशिष्टकालाल्पतास्थापनाय न केवलमायुषोऽल्पता एव भक्त्यागमते कारण, अपि तु अन्यदपीति ॥१५८॥

होते है । सामायिक अथवा छंदोपस्थापना चारित्र्यवाल है । सब तीर्थंशूरोके तीर्थमे होते है । जन्मसे  
तीस वर्ष और मुनिपदसे उन्नीस वर्षके होते है । नव-दस पूर्वके धारी होते है । तेज, पद्म और  
शुक्ल लेष्यावाले होते है । धर्मध्यानी और शुक्लध्यानी होते है । प्रथम सहनन होता है और छह  
संस्थानोमेसे कोई एक संस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पांच सौ धनुष तक लम्बे होते है ।  
अन्तमुहूर्त आदिसे न्यून एक पूर्वकोटिकाल होता है । तपसे विक्रिया, आहारक, चारण और  
धीरास्त्रवित्वा आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती है किन्तु विगगी होनेसे उनका सेवन नहीं करते ।  
कोई-कोई अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञानको प्राप्त करते है । जो केवलज्ञानी होते है वे नियमसे  
मोक्ष जाते है ॥१५७॥

इस प्रकार अथालदिक आदि चारित्र्यकी विधिको धारण करके मुझे उत्साह करना चाहिए,  
ऐसा विचार करते है—

गा०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होनेपर और आयुके अल्प होने पर  
अपने बल और वीर्यको न छिपाता हुआ मुनि भक्त प्रत्याख्यानमे मति करता है ॥१५८॥

टी०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होने पर आयुके लम्बा न होने पर  
बल और वीर्यको न छिपाता हुआ भक्त प्रत्याख्यानमें मति करता है । आहार और व्यायामसे जो  
शारीरिक शक्ति होती है उसे बल कहते हैं । और बलका सहायक वीर्य होता है । 'भज्यते' अर्थात्  
जो सेवन किया जाता है उसे भक्त कहते है उसका अर्थ आहार है उसका त्याग भक्त प्रत्याख्यान है ।  
आहारके द्वारा शरीरकी स्थितिको लम्बी करके अपना और परका उपकार किया । आयुके थोडा  
रह जाने पर आहार ग्रहण करने पर भी शरीर नहीं ठहरता । अतः मैं आहारका त्याग करता हूँ  
यद् इसका भाव है । इसीसे ग्रन्थकारने शेष बचे कालकी अल्पता बतलानेके लिए 'बीहो परिव्याओ'

पुण्ड्रुत्ताण्णदरे सल्लेहणकारणे समुप्पण्णे ।

तह चैव करिज्ज मदिं भनपइण्णाए णिच्छयदो ॥१५९॥

‘पुण्ड्रुत्ताण्णदरे’ पूर्वमुक्ताना ‘वाहीव दुप्पसज्जा’ इत्यादीना मध्ये अन्यतरस्मिन् । ‘सल्लेहणकारणे’ सम्यक् कायकषायतनुकरण सल्लेखना तस्या कारणे वा । ‘समुप्पण्णे’ समुपस्थिते । ‘तह चैव’ तथैव च । यथाल्प आयुषि करोति भक्तत्यागे मतिं तथैव ‘णिच्छयदो भत्तपइण्णाए मदिं करेज्ज’ निश्चयतो भक्तप्रत्याख्यानै मतिं कुर्यात् । एतद्गाथादय सूत्रकारवचनम् ॥१५९॥

आराधकस्य मन प्रणिधान प्रदर्शयति---

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ।

जाव य सड्ढा जायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥१६०॥

‘जाव य सुदी ण णस्सदि’ यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नत्रयाराधनगोचरा अनुभूतविषयप्राहिणी तदित्य-भूतामिति प्रवर्तमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिविज्ञानविकल्पः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धान दर्शन, तदायात्म्यावगमो ज्ञान, समता चारित्रमिति । श्रुतेनावगते परिणामत्रये यदुपजायते स्मार्तं ज्ञानं तदिह स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहारः, स्मृता नष्टाया न स्यादिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारम्भा मया सल्लेखनंति चिन्त्यम् । ‘जाव य’

कहा है । भक्त त्यागकी मति होनेका कारण केवल आयुका कम रह जाना ही नहीं है किन्तु अन्य भी कारण है ॥१५९॥

**विशेषार्थः**—स्मृति माहात्म्यसे आशय है—जिनागमके रहस्यका उपदेश सुननेसे जो उसका सस्कार रहा, उसके प्रभावसे ‘मे मरते समय अवश्य विधिपूर्वकः सल्लेखना करूँगा’ ऐसा जो विचार किया था, उसका स्मरण भी भक्त प्रत्याख्यानका कारण होता है ।

**गा०**—पहले कहे गये कारणामे से किसी एक सल्लेखनाके कारणके उपस्थित होने पर उसी प्रकार निश्चयसे भक्त प्रत्याख्यानमे मति करे ॥१५९॥

**टी०**—पहले सल्लेखनाके जं कारण ‘असाध्य बीमारी’ आदि कहे हैं उनमेसे किसी एक कारणके उपस्थित होने पर भी वैसे ही भक्त प्रत्याख्यानका विचार करना चाहिए जंसा आयुके अल्प रहने पर किया है ॥१५९॥

आराधकके मनकी दृढता बतलाते है—

**गा०**—जब तक स्मृति नष्ट नहीं होती, जब तक मेरे आतापन आदि योग पराधीन नहीं होते, जब तक श्रद्धा रहती है, इन्द्रियोका अपने विषयोसे सम्बन्ध हीन नहीं होता ॥१६०॥

**टी०**—पहले अनुभवमे आये विषयको ग्रहण करने वाली और ‘वह वस्तु’ इस प्रकार प्रवृत्ति वाली स्मृति होती है । यह मतिज्ञानका विकल्प है । यहाँ रत्नत्रयकी आराधना विषयक स्मृति ग्रहण की है । वस्तुके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है और उसके यथार्थ स्वरूपके जाननेको ज्ञान कहते हैं । तथा समताको चारित्र कहते है । श्रुतके द्वारा जाने गये रत्नत्रय रूप परिणाममे जो स्मृतिज्ञान होता है उसे यहाँ स्मृति कहा है । व्यवहारका मूल स्मृति है । स्मृतिके नष्ट होने पर व्यवहार नहीं होता । अतः स्मृतिके रहते हुए कालमे ही मुझे सल्लेखना प्रारम्भ

यावच्च । 'जोगा' योगा आतापनादयः । 'न मे पराहीणा' न मे परायता शक्तिकैक्यात् । विवित्रेण तपसा निर्जरा विपुला कर्तुकामस्य मम तपोऽतिचारे सा न भवतीति यावन्निरतिचार इव तपस्तावत्सल्लेखना करोमीति कार्या चिन्ता । 'जाव य सद्ब्रह्मा जायवि' यावच्छ्रद्धा जायते रत्नत्रयमाराधयितु । 'तावत्सं मे काऽनुमति' यक्षमाणेन सम्बन्धः । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभा प्राणिना मुहुदो विद्वान्स इव । मूल ता श्रद्धाया, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते, न च तामन्तरेणातिशयवतामाहाग्न्याय सुखेन सपाद्यते । 'इंविष्यजोगा' इन्द्रियाणा चक्षुरादीना रूपादिभिविषये सम्बद्धा 'अपरिहीणा' हीना न भवन्ति । दृक्श्रोत्रेन्द्रियाणामपाटवे दर्शनश्रवणाम्या परिहार्योऽसंयम कथ परिह्रियते । दृष्ट्वा श्रुत्वा स इदमयोग्यमिति वेत्ति नान्यथा ॥१६०॥

जाव य खेमसुभिक्षं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ।

अत्थि ति गारवरहिदा णाणचरणदंसणविसुद्धा ॥१६१॥

'जाव य खेमसुभिक्षं' यावच्च क्षेमसुभिक्ष, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेमर्याप्राभावा क्षम इत्युच्यते । प्रचुरधान्यता सुभिक्षत्वम् । एतदुभयमन्तरेण दुर्लभा नियॉपका, तानन्तरेण चतुष्काराधना । 'आयरिया जाव' आचार्या यावन् 'अत्थि' नन्ति । कीदृभूता 'णिज्जवणजोग्गा' नियॉपकत्वयोग्या । 'तिगारवरहिदा' गारवत्रयगृहता ऋद्धिरमसातगुहका ये न भवन्ति । ऋद्धिप्रियो ह्यनयतमपि जन नियॉपकत्वेन स्थापयति । स्वय च नामयमभाकभवति । असयमकारण अनुमनन च न परिहृतीति । रसासातगुहकी क्लेशासहो आराध-

करनी चाहिए ऐसा विचार करे । जब तक मेरे आनापन आदि योग शक्तिकी कमीसे पराधीन नहीं होते । मे अनेक प्रकारके तपसे बहुत निर्जरा करना चाहता हूँ किन्तु तपमे दोष लगने पर बहुत निर्जरा नहीं हो सकती । इसलिए जब तक तप निरतिचार है तब तक सल्लेखना कर लेना चाहिए, ऐसी चिन्ता करना उचित है । जब तक श्रद्धा रत्नत्रयकी आराधना करनेकी है 'तब तक मे करनेमे समर्थ हूँ' ऐसा आगे कहेंगे, उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । जैसे विद्वान् मित्र दुर्लभ है वैसे ही प्राणियोंकी उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि दुर्लभ है । वे लब्धियों श्रद्धाका मूल है । एक बार उम श्रद्धाके नष्ट हो जाने पर उसका पुन प्राप्त होना दुर्लभ है । श्रद्धाके बिना अतिशय शालियोंका भी आहारत्याग सुखपूर्वक सम्पन्न नहीं होता । चक्षु आदि इन्द्रियोका रूपादि विषयोंके साथ सम्बन्धको इन्द्रिययोग कहते है । वे जब तक हीन नहीं होते, चक्षु और कर्ण इन्द्रियके अपने विषयको ग्रहण करनेमे असमर्थ होने पर देखने और सुननेसे दूर होने वाला असयम कैसे दूर किया जा सकता है । देख और सुनकर 'यह अयोग्य है' ऐसा ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं होता ॥१६०॥

गा०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है, जब तक आचार्य नियॉपकत्वक योग्य तीन गारवोसे रहित निर्मल ज्ञान चारित्र और दर्शनवाले है ॥१६१॥

टी०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है । अपने देश और परदेशकी सेनाके उपद्रव और मारी रोगके अभावको क्षेम कहते है । और धान्यकी बहुतायतको सुभिक्ष कहते है । इन दोनोंके बिना नियॉपकोका मिलना दुर्लभ है और उनके बिना चार प्रकारकी आगधना दुर्लभ है । तथा आचार्य नियॉपकत्वके योग्य जब तक है तथा ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारवसे जो रहित होते हैं । जो आचार्य ऋद्धिप्रिय होता है वह असंयमी जनको भी नियॉपक बना देता है । और स्वयं भी असंयमसे नहीं डरता । तथा ऐसा अनुमति, जो असयममे कारण होती है, देनेका त्याग नहीं



कस्य शरीरपरिकर्मं कथं कुशत ? किं च स्वयं सरागो वैराग्य परस्म सपादयत्येवेति न नियोगोऽस्ति । 'षाण्णचरणबंधसण्विशुद्धा' ज्ञानचारित्रदर्शनेषु विशुद्धा निर्मला । जीवादिधायात्म्यगोचरता ज्ञानस्य शुद्धिः । दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसहभाविता, अरक्तद्विष्टता च चारित्रशुद्धिः । शुद्धज्ञानचरणदर्शनशुद्धा चारित्रशुद्धा भवन्ते । यथा प्रकृष्टशुक्लगुणयोगाच्छुक्लतम इत्युच्यते पटादि ॥१६१॥

ताव खमं मे कादुं सररीणिक्लेवणं विदुपसत्थं ।

समयपडायारहरणं भक्तपहृणं णियमजण्ण ॥१६२॥

'ताव खमं मे काउं' तावयुक्तं कर्तुं मम । किं ? 'सररीणिक्लेवणं' शरीरनिक्षेपण शरीरव्यजन । 'विदुपसत्थं' विद्वज्जनस्तुत आत्महितत्वात् । 'समयपडायारहरणं' समय सिद्धान्त, तस्मिन् क्रीडिता पताका आराधना पताकेव पताका उपमार्थ । यथा पताका वस्त्रादिरचिता जयात्रिकं प्रकटयति । एवमिय आराधनापि भवनिर्मुक्ति प्रकटयति । तस्या हरण ग्रहण । 'भक्तपहृणं' भक्तप्रत्याख्यान 'नियमजण्णं' व्रतयज्ञ । ननु शरीरत्यागोऽप्य, अन्या ज्ञान-श्रद्धान-तप सु परिणतिरन्यद् भक्तव्यजन, अन्यानि च व्रतानि तत्कथं समानाधिकरणनिर्देश ? अशोच्यते-प्रत्येकमभिमम्बन्ध कार्य । 'ताव खमं मे काउं' इत्यनेन शरीरनिक्लेवण इत्यादीना । ततोऽप्यमर्थ -शरीरव्यजन, सम्ब्यदर्शनाधिपरिणमन, भक्तप्रत्याख्यान, व्रतयज्ञश्च तावत्कतुं मम युक्तमिति ॥१६२॥

करता । जो आचार्य रसप्रेमी और मुख प्रेमी है वे सल्लेखना करनेवाले आराधकके शरीरकी सेवा कैसे करेगे ? दूसरे, जो स्वयं सरागी है वह दूसरेको वैराग्य उत्पन्न कराता ही ऐसा कोई नियम नहीं है । तथा आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमे विशुद्ध होना चाहिए । जीवादिके यथार्थ स्वरूपको जानना ज्ञानका शुद्धि है । समीचीन ज्ञानका सहभावी होना दर्शनकी शुद्धि है । और राग-द्वेषका न हाना चारित्रकी शुद्धि है । जिनका ज्ञान दर्शन चारित्र शुद्ध होता है वे शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र वाले कहे जाते हैं । जैसे उत्कृष्ट शुक्ल गुणके सम्बन्धसे वस्त्र आदि 'शुक्लतम'—अत्यन्त सफेद कहे जाते हैं ॥१६१॥

गा०—तब तक मुझे शरीरका त्याग, विद्वानोसे स्तुत, आगममें कही गई आराधना रूपी पताकाका ग्रहण, व्रत यज्ञ तथा भक्त प्रत्याख्यान करना युक्त है ॥१६२॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान तब तक मुझे करना उचित है, यह पूर्व गाथाओसे सम्बद्ध है । यह भक्त प्रत्याख्यान शरीरके त्यागरूप है क्योंकि शरीरको त्यागनेके लिए ही किया जाता है । विद्वानोसे प्रशंसनीय है क्योंकि आत्माके हित रूप है । तथा समय अर्थात् सिद्धान्तमे आराधनाको पताका कहा है । जैसे वस्त्रादिसे बनी पताका जयको प्रकट करती है वैसे ही यह आराधना भी ससारसे निर्मुक्तिको प्रकट करती है । भक्त प्रत्याख्यान, उस पताको ग्रहण करने रूप है ।

शका—शरीरका त्याग अन्य है, ज्ञान श्रद्धान और तप करना अन्य है, भोजनका त्याग अन्य है और व्रत अन्य है । ये सब भिन्न है तब कैसे इनका समानाधिकरण रूपसे निर्देश किया है ?

समाधान—तब तक मुझे करना युक्त है । इसके साथ शरीर त्याग आदि प्रत्येकका सम्बन्ध करना चाहिए । तब ऐसा अर्थ होता है—शरीरका त्याग, सम्ब्यदर्शन आदि रूप परिणमन, भक्त प्रत्याख्यान और व्रतयज्ञ मुझे तब तक करना युक्त है ॥१६२॥

व्यावर्णितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यकथनायोत्तरगाथा—

एवं सद्विपरिणामो जस्स ददो होदि णिच्छिदमदिस्स ।

तिव्वाए वेदणाए वोच्छिज्जदि जीविदासा से ॥१६३॥

एवं सविपरिणामो व्यावर्णितस्मृतिपरिणामो य स्मार्तज्ञानमेव परिणाम । 'जस्स ददो होज्ज' यस्य तैदृढो भवेत् । 'णिच्छियमदिस्स' निश्चितमते । करिष्याम्येव शरीरनिक्षेपण इति कृतनिश्चयस्य । 'जीविदासा वोच्छिज्ज' जीविते आशा व्युच्छिद्यते । 'तिव्वाए वेदणाए' तीव्रायामपि वेदनायामुदीर्णया । एतत्प्रतीकार कृत्वा जीवामीति चिन्ता न भवति । 'से' तस्येति जीविताशाव्युच्छेदो गुण सूचित । परिणाम गद ॥१६३॥

'उवधि जहणा' इति पदं व्याचष्टे प्रबन्धेन—

संजमसाधणमेत्तं उवधिं मोत्तूण सेसयं उवधिं ।

पजहदि विसुद्धलेस्सो साधु मुत्तिं गवेसंतो ॥१६४॥

'संजमसाधणमेत्तं'—सयम साध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्र कमण्डलुपिच्छमात्र । 'उवधि' परिग्रह 'मोत्तूण' मुक्त्वा । 'सेसयं' अवशिष्ट । 'उवधि' अवशिष्ट उपधिनाम पिच्छान्तर कमण्डल्वन्तर वा तदानी समयसिद्धौ न कारणमिति सयमसाधनं न भवति । येन मात्रत सयम साध्यते तदेव सयमसाधन अथवा ज्ञानोपकरण अवशिष्टोपधिश्च्यते । 'पजहद्' प्रकर्षेण योगत्रयेण त्यजति । 'विसुद्धलेस्सो' विसुद्धलेष्य । 'साधु' साधु । 'मुत्तिं' मुक्ति कर्मणामपायं । 'गवेसंतो' मृगयन् । लोभकषायेणाननुरजिता योगवृत्तिरिह विसुद्धलेष्या

ऊपर कहे परिणामके गुणोका माहात्म्य कहनेके लिए गाथा कहते है -

गा०—ऊपर कहा स्मृति परिणाम 'मे शरीरत्याग कर्हंगा ही' ऐसा निश्चय करनेवालेके दृढ होता है । उसके तीव्र वेदना होनेपर जीवनकी आशा नष्ट हो जाती है ॥१६३॥

टी०—'मे शरीरका त्याग कर्हंगा ही' ऐसा जो दृढ निश्चय कर लेता है तीव्र भी वेदनाके होनेपर मे उसका प्रतीकार करके जीवित रहूँ ऐसी चिन्ता उसे नहीं होती । अतः 'जीवनकी आशाका विनाश' उसका गुण सूचित किया है ॥१६३॥

'उवधिजहणा' अर्थात् परिग्रहत्यागका विस्तारसे कथन करते है—

गा०—मुक्तिको खोजनेवाला विशुद्ध लेष्यामे युक्त साधु समयके साधनमात्र परिग्रहको छोडकर शेष परिग्रहको प्रकर्ष अर्थात् मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६४॥

टी०—जिस उपकरणसे सयमकी साधना की जाती है वह उपकरण कमण्डलु और पीछो-मात्र है । उनको छोडकर जो शेष परिग्रह है—दूसरी पीछी दूसरा कमण्डलु, वह उस समय संयमकी सिद्धिमे कारण न होनेसे सयमका साधन नहीं है । जिससे वर्तमानमे सयमकी साधना होती है वही सयमका साधन है । अथवा शेष परिग्रहमे ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि कहे है क्योंकि समाधिके समय उनका उपयोग नहीं रहता । मुक्ति अर्थात् कर्मोका विनाश करनेका इच्छुक साधु पीछी कमण्डलुमात्र परिग्रहके सिवाय शेष परिग्रहको मन-वचन-कायसे छोडता है । वह साधु विशुद्धलेष्यासे युक्त होता है । यहाँ लोभकषायसे अननुरजित (नहीं रंगी हुई अर्थात् लोभरहित)

गृहीता । सा हि परिग्रहत्यागे प्रवर्तयत्यात्मानमिति ॥१६४॥

वसत्यादिकं तर्हि त्याज्यतया नोपदिष्टमिति आशङ्किते इति तस्यागमुपदिशति—

**अप्यपरियम्म उवर्धि बहुपरियम्म च दोवि वज्जेह ।**

**सेज्जा सथारादी उस्सग्गपदं गवेसंतो ॥१६५॥**

'अप्यपरियम्म उवर्धि' अल्पपरिकर्म निरीक्षणप्रमार्जनविधुननादिकं यस्मिन्तं परिग्रहः । 'बहु' महत्परिकर्म यत्र तच्च । 'दो वि' द्वावपि 'वज्जेवि' वर्जयति मनोवाचकायै । 'सेज्जासथारादी' वसतिसस्तरादिकं । 'उस्सग्गपदं' उत्सर्जनं त्यागं तदेव पदं । परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारीति यावत् । गाथाद्वयेनातिक्रान्तेन द्रव्योपधिस्थागो व्याख्यातः । इयता परिसमाप्तं परिग्रहत्यागं ॥१६५॥

**पंचविहं जे सुद्धि अपाविदूण मरणमुवणमन्ति ।**

**पंचविहं च विवेगं ते खु ममार्धि ण पावेन्ति ॥१६६॥**

'पंचविहं जे सुद्धि' इत्यादिना किं प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । अत्रोच्यते—योग्योपादनमेवायोग्यत्यागस्तत्परिहारा इत्युपधित्याग एवाख्यायते उत्तरग्रन्थेनापि । 'पंचविहं' पञ्चप्रकाराः । 'सुद्धि' शुद्धिः । 'अपाविदूण' अप्राप्य । 'जे' यः । 'मरण' मूर्ति । 'उवणमन्ति' प्राप्नुवन्ति । 'पंचविहं' पञ्चविधं च 'विवेगं' विवेकं, 'परिहरणं' पृथग्भावः, अप्राप्य मूर्तिमुपयान्ति । 'खु' शब्द एवकारार्थः । स च क्रियापदात्परतो योग्यः ।

मन-वचन-कायकी वृत्तिको विणुद्धलेइया कहा है; क्योंकि वह जीवको परिग्रहके त्यागमे प्रवृत्त करती है ॥१६४॥

यहाँ कोई शका करता है कि वसति आदिको तो त्याज्य नहीं कहा ? इससे उसके त्यागका उपदेश करते हैं—

गा०—परिग्रहत्याग पदका अन्वेषण करनेवाला साधु अल्पपरिकर्मवाले और बहुत परि-कर्मवाले दोनो ही प्रकारके परिग्रहोको जिनमें वसति सस्तर आदि भी है, मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६५॥

टी०—जिसमें देखना, साफ करना, झाड़ना आदि कम करना होता है वह परिग्रह अल्प-परिकर्मवाला होता है । और जिसमें यह बहुत करना होता है वह बहुत परिकर्मवाला है । परिग्रहत्यागपदका खोजी साधु दोनोको ही मन-वचन-कायसे त्यागता है । अतः वसति सस्तर आदि भी त्याग देता है । इन दो गाथाओसे द्रव्यपरिग्रहके त्यागका कथन किया । यहाँ तक परिग्रहत्यागका प्रकरण समाप्त होता है ॥१६५॥

पा०—जो पांच प्रकारकी शुद्धियोंको और पांच प्रकारके विवेकको प्राप्त किये बिना मरणको प्राप्त होते हैं, वे समाधिको नहीं ही प्राप्त होते हैं ॥१६६॥

टी०—शंका—'पंचविहं जे सुद्धि' इत्यादिके द्वारा पहले सूचित किये बिना क्या कह रहे हैं ?

समाधान—योग्यका ग्रहण ही अयोग्यका त्याग है । अतः आगेके ग्रन्थसे भी परिग्रहका त्याग ही कहा है । जो पांच प्रकारकी शुद्धि और पांच प्रकारके विवेक अर्थात् भिन्नपनेको प्राप्त किये बिना मरते हैं वे समाधिको प्राप्त नहीं ही होते । गाथामे आये 'खु' शब्दका अर्थ 'ही' है और

समाधि न प्राप्नुवन्त्येवेति । उपधिपरित्यागाभावे अभिमतसमाध्यभावो दोष आख्यात ॥१६६॥

**पंचविहं जे सुद्धि पत्ता णिखिलेण णिच्छिदमदीया ।**

**पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुवेति ॥१६७॥**

के समाधिं प्राप्नुवतीत्यत्र आह—‘पंचविहं’ पञ्चविधा, ‘जे सुद्धि पत्ता’ ये सुद्धि प्राप्ता । ‘णिखिलेण’ साकल्येन । ‘णिच्छिदमदीया’ निश्चितमतय । ‘पंचविहं’ पञ्चविध च ‘विवेगं’ विवेक ते हु समाधिं परमुवेति’ ते स्फुटं समाधिं परमुपयान्ति ॥१६७॥

का एषा पंचविधा शुद्धिरित्याह—

**आलोचनाए सेज्जासंथारुवहीण भक्तपानस्स ।**

**वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥१६८॥**

‘आलोचनाए’ आलोचनाया शुद्धि, शय्यामस्तरयो शुद्धि, उपकरणशुद्धि, भक्तपानशुद्धि, वैया-वृत्यकरणशुद्धिरिति पञ्चविधा । मायामुपारहितता आलोचनाशुद्धि । मनोगतवक्रता माया । व्यलीकता चासौ मूषा । मायाकषाय स चाम्यन्तरपरिग्रह ‘चत्तारि तह कसाया’ इति वचनान् । मूषा कथ परिग्रह इति चेत् उपधीयते अनेनेत्युपधिरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिरित्युच्यते । यत्र यस्यादर कर्महेतौ तस्मैर्मुपधिरेवेति भाव । उद्गमोत्पादनेपणादीपरहितता ममेद इत्यपरिग्राह्यता च वसतिस्तस्मै शुद्धिस्तामुपगतैः उद्गमादिदोषोहतयोर्वसतिमस्तरयोस्त्याग कृत इति भवत्युपधि-

उसे क्रियापद ‘पावेति’ के परे लगाना चाहिए । परिग्रहत्यागके अभावमें इष्ट समाधिका अभाव नामक दोष कहा है ॥१६६॥

गा०—पूर्णरूपसे निश्चित मति वालों जो पाँच प्रकारकी शुद्धिकी और पाँच प्रकारके विवेक को प्राप्त हुए हैं, वे निश्चयमें परम समाधिको प्राप्त होते हैं ॥१६७॥

टी०—कौन समाधि प्राप्त करते हैं यह इस गाथामें कहा है ॥१६७॥

पाँच प्रकारकी शुद्धि कहते हैं—

गा०—आलोचना की शुद्धि, शय्याकी, मस्तरकी और परिग्रहकी शुद्धि, भक्तपानकी शुद्धि और वैयावृत्य करने वालीकी शुद्धि, निश्चयसे शुद्धि पाँच प्रकारकी होती है ॥१६८॥

टी०—माया और मूषासे रहित होना आलोचनाकी शुद्धि है । मनमें कुटिलताका होना माया है । असत्य भाषणको मूषा कहते हैं ।

माया कषाय है और वह अभ्यन्तर परिग्रह है । ‘चार कषाय हैं’ ऐसा आगमका वचन है ।

शङ्का—मूषा कैसे परिग्रह है ?

समाधान—‘उपधीयतेऽनेनेत्युपधि’ इस शब्द व्युत्पत्तिके करने पर ‘अनेन’ अर्थात् असत्य भाषणके द्वारा ‘उपधीयते’ कर्मका ग्रहण होता है अत मूषा उपधि है । जिस कर्मके हेतुमें जिसका आदर है वह सब उपधि ही है यह कहनेका अभिप्राय है ।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित होना तथा ‘यह मेरा है’ इस प्रकार परिग्रहका भाव न होना वसति और संस्तरकी शुद्धि है । उस शुद्धिकी जिसने स्वीकार किया उसने उद्गम

त्याग । उपकरणादीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्या सत्या उद्गमादिविषयबुद्ध्याना असयमसाधनाता ममेदं भावमूलात्ता परिग्रहाणा त्यागोऽभ्येव । मयतवैयावृत्यक्रमज्ञता वैयावृत्यकारिशुद्धि सत्या तस्या असयता अक्रमज्ञाश्वे न मम वैयावृत्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति ॥१६८॥

अहवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ।

आवासयसुद्धी वि य पच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥१६९॥

'अहवा' अथवा । 'दंसणणाणचरित्तसुद्धी य, विनयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य' आवश्यकशुद्धिश्चेति 'पंचविद्यप्पा' पञ्चविकल्पा 'हवइ सुद्धी' भवति शुद्धि । नि शङ्कितत्वादिगुणपरिणतिर्दशनंशुद्धि तस्या सत्या शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादीना अशुभपरिणामाना परिग्रहाणा त्यागो भवति । काले पठनमित्यादिका ज्ञान-शुद्धि, अस्या मत्या अकालपठनाद्या क्रिया ज्ञानावरणमूला परित्यक्ता भवन्ति । पञ्चावशतिभावनाश्चारित्र-शुद्धि । सत्या तस्या अनिगृहीतमन प्रचारादिशुभपरिणामोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति । दृष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धि । तस्या मत्यामुपकर्णादलाभलोभो निरस्तो भवति । मनमावद्ययोगनिवृत्तिं जिनगुणानुराग वन्द्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्तिं, कृतापराधविषया निन्दा, मनसा प्रत्याख्यान, शरीरासारतानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्या मत्या अशुभयोगो जिनगुणानुराग श्रुतादिमाहात्म्येज्जादर । अपराधाजुगुप्सा, अप्रत्याख्यान, शरीरममता चैन्यमी भावदोषा परिग्रहा निराकृता भवन्ति ॥१६९॥

आदि दोषोसे दूषित वसनि और सस्तरका त्याग कर दिया इस प्रकार उपधित्याग होता है । उपकरण आदि की भी शुद्धि उद्गम आदि दोषोसे रहित होना है । उसके होने पर उद्गम आदि दोषोसे दूषित, असयमके साधन और 'यह मेरा है' इस भावके मूलकारण परिग्रहोका त्याग है ही । संयमी होना और वैयावृत्यके क्रमका ज्ञाता होना वैयावृत्यकारीकी शुद्धि है । उसके होने पर असयमी और क्रमको न जानने वाले मेरे वैयावृत्य करने वाले नहीं है' ऐसा स्वीकार करने पर उनका त्याग होता है ॥१६८॥

गा०—अथवा दर्शनं शुद्धि, ज्ञानं शुद्धि, चारित्र्यं शुद्धि, विनयं शुद्धि और आवश्यकं शुद्धि इस प्रकार शुद्धिके पाँच भेद होते हैं ॥१६९॥

टी०—निःशक्ति आदि गुणोका धारण करना दर्शनं शुद्धि है । उसके होने पर शका, काक्षा, विचिकित्सा आदि अशुभ परिणाम रूप परिग्रहोका त्याग होता है । 'कालमे पठना' आदि ज्ञानं शुद्धि है । उसके होने पर अकाल पठन आदि क्रिया, जो ज्ञानावरणके बन्धकी कारण हैं, उनका त्याग होता है । पञ्चीस भावनाएँ चारित्र्यं शुद्धि है । उसके होने पर मनकी चंचलताको न रोकना आदि अशुभ परिणाम, जो अभ्यन्तर परिग्रह है उनका त्याग होता है । दृष्ट फलकी अपेक्षा न करके विनय करना विनयं शुद्धि है । उसके होने पर उपकरण आदिके लाभका लोभ दूर होता है । सावद्य योगका त्याग, जिन देवके गुणोमे अनुराग, नमस्कार करनेके योग्य श्रुत आदि के गुणोका पालन करना, किसे हुए अपराधकी निन्दा, मनसे प्रत्याख्यान करना, शरीरकी असारता और उसके अनुपकारीपणेका चिन्तन, ये आवश्यकं शुद्धि है । उसके होने पर अशुभ योग, जिन देवके गुणोमे अनुरागका अभाव, श्रुत आदिके महात्म्यमे अनादर, अपराधके प्रति ग्लानिका न होना, प्रत्याख्यानका न होना, और शरीरसे ममता, ये दोष परिग्रह है, इनका निरास होता

पञ्चविधविवेकप्रख्यापनाद्यत्ता गाथा—

इन्द्रियकसायउवधीण भक्तपाणस्स चावि देहस्स ।

एस विवेगो भणितो पंचविधो दच्चभावगदो ॥१७०॥

‘इन्द्रियकसाय’ इति । इन्द्रियविवेक, कषायविवेक, भक्तपाणविवेक, उपधिविवेक, देहविवेकः इति एष विवेक पञ्चप्रकारेण निरूपित पूर्वगमेषु । स पुन पञ्चप्रकारोऽपि द्विविधः । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपादिविषयेषु चक्षुरादीनामादरेण कोपेन वा अप्रवर्तन । इद पश्यामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निविड-कुचनट पश्यामि, नितम्बरोमराजि वा विलोकयामि, पृथुतर जघन स्पृशामि, कल गीत मावधान शृणोमि, मुखकमलपरिमल जिघ्रामि, विम्बाधर समास्वाद्यामि इति वचनानुच्चारण वा द्रव्यत इन्द्रियविवेक । भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि विषयविषयिसम्बन्धे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-कोपाभ्या विवेचन, रागकोपसहचारिरूपादिविषयमानमज्ञानापरिणतित्वा । द्रव्यत कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविध । भ्रूलतामङ्कोचन, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दन, शस्त्रनिक्टीकरण, इत्यादिकायव्यापारा-करण । हन्मि, ताडयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलङ्काभावो भावत क्रोधविवेक । तथा मानकषायविवेकोऽपि वाक्कायभ्या द्विविध । गात्राणा स्तब्धताकरण, शिरस उन्नमन, उच्चासनारोहणादिक च यन्मानसूचनपर तस्य कायव्यापारस्याकरण । मत्त को वा श्रुतपारग सुचरित मुतपोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च । एवमेवैतेभ्योऽह प्रकृष्ट इति मनसाहङ्कारवर्जन भावतो

हे ॥१६९॥

पाँच प्रकारके विवेकका कथन करते है—

गा०—इन्द्रिय विवेक, कषाय विवेक, उपधिविवेक, भक्तपाण विवेक और देहका विवेक इस प्रकार यह विवेक पाँच प्रकारका पूर्वागम मे कहा है । तथा यह पाँच प्रकारका विवेक द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार है ॥१७०॥

टी०—रूप आदि विषयोमे चक्षु आदि इन्द्रियोंका आदर भावसे या क्रोधवश प्रवृत्ति न करना, यह देखता हूँ, अथवा यह सुनता हूँ, उसके घने स्तनोको देखता हू, अथवा नितम्ब और रोमपत्तिको देखता हूँ, स्थूल जघनको स्पर्श करता हूँ, मनोहर गीत सावधानता पूर्वक सुनता हूँ, मुख रूपी कमलकी सुगन्ध सूँघता हूँ, ओष्ठका रसपान करता हूँ, इत्यादि वचनोका उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है । विषय और विषयी अर्थात् पदार्थ और इन्द्रियका सम्बन्ध होने पर भी रूपादिका जो ज्ञान होता है जिसे भावेन्द्रिय कहते हैं, उस ज्ञानके होने पर भी राग द्वेष न करना अथवा राग द्वेषके सहचारी रूपादि विषय रूपसे मानसज्ञानका परिणत न होना भाव इन्द्रिय विवेक है । द्रव्य कषाय विवेक के दो भेद है शरीरसे और वचन से । भौको सकोचना, आँखोंका लाल होना, ओठ काटना, शस्त्र उठाना इत्यादि काय व्यापारका न करना काय द्रव्य कषाय विवेक है । भारता हूँ, ताडन करता हूँ, सूली पर चढ़ाता हूँ इत्यादि वचन न बोलना वचन क्रोध कषाय विवेक है । दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार आदिके निमित्तसे चित्तमे मलिनताका न होना भावसे क्रोध विवेक है । तथा मान कषाय विवेकके भी वचन और कायकी अपेक्षा दो भेद है । शरीरको स्तब्ध करना, सिर को ऊँचा करना, उच्चासन पर बैठना आदि जो मान सूचक काय व्यापार हैं उनका न करना काय मान कषाय विवेक है । मुझसे बड़ा कौन शास्त्रका पंडित है, चारित्रवान और तपस्वी है, इस प्रकारके वचन न बोलना वचन मान कषाय विवेक है । इसी

मानकषायविवेक । बाष्पकाय्यामा मायाविवेको द्विप्रकार । अन्यत् दृवत इवान्यस्य यद्वचन तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, माया करोमि न कारयामि, नाम्पुगच्छामि इति वा कथन वाचा मायाविवेक । अन्य-  
त्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरण कायतो मायाविवेक । लोभकषायविवेकोऽपि द्विविधः । यत्रास्य लोभस्त-  
बुद्ध्यस्य करप्रसारण, द्रव्यवेशानपायिता, तदुपादानुक्रमस्य कायेन निषेधन हस्तमंजया निवारण, शिरस्चालनया  
वा एतस्य कायव्यापारस्य अकरण कायेन लोभविवेक शरीरेण वा द्रव्यानुपादान । एतन्मदीय वस्तुग्रामादिक  
वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारण वा लोभविवेक । नाः कस्यचिदीशो न च मम किञ्चिदिति वचनं  
वा । ममेदभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतां लोभविवेक ॥१७०॥

अहवा शरीरसेज्जा संधारुवहीण भक्तपाणस्स ।

वेज्जावच्चकरण य होइ विवेगो तथा चेव ॥१७१॥

'अहवा' अथवेति । विवेक प्रकारान्तरेणावेद्यते । 'शरीरसेज्जासंधारुवहीणभक्तपाणस्स' शरीरविवेक  
वसतिमस्तरविवेकावुपकरणविवेक, भक्तपाणविवेक । 'वेज्जावच्चकरण य' वैयावृत्यकरणं च विवेको  
भवति । 'तथा चेव' तथैव द्रव्यभावाम्या इति यावत् । तत्र शरीरविवेक शरीरेण निरूप्यते । ससारिण  
शरीराद्विवेक कथामिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरण शरीरविवेक । शरीर उपद्रवन्त  
नर तिर्यञ्च देव वा न हस्तेन निवारयति । मा कृथा ममोपद्रवमिति दशमशकवृश्चिकभुजगसारमेयादीन्  
हस्तेन, पिच्छाद्युपकरणं, दण्डादिभिर्बाण्यसारयति । छत्रापच्छकटकप्रवरणादिना वा न शरीररक्षा करोति ।

प्रकार इनसे मे उल्टूट्ट हैं ऐसा मनसे अहकार न करना भावसे मान कषाय विवेक है । माया  
विवेक भी वचन और कायकी अपेक्षा दो प्रकार है । दिलाना तो ऐसा मानो कुछ अन्य बोलते हैं  
और बोलना कुछ अन्य, इसका त्याग अथवा माया पूर्ण उपदेशका त्याग, अथवा न मे माया करता  
हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हूँ ऐसा बोलना वचन माया विवेक है । अन्य करते हुए  
उससे अन्यका कायसे न करना काय माया विवेक है । लोभ कषाय विवेक भी दो प्रकारका है ।  
जिम वस्तुका लोभ हो उसको लक्ष्य करके हाथ पसार्ना, जो उसे लेना चाहे उसे शरीरसे मना  
करना या हाथके मकेत से रोकना अथवा मिर हिलाकर मना करना, इस काय व्यापारका न  
करना काय लोभ विवेक है । अथवा शरीरसे वस्तुका ग्रहण न करना काय लोभ विवेक है । यह  
वस्तु ग्राम आदि मेग है, मे इसका स्वामी हूँ इत्यादि वचनका उच्चारण न करना, अथवा न मे  
किसी का स्वामी हूँ और न कुछ मेरा है ऐसा बोलना वचन लोभ विवेक है । यह मेरा है इस  
भावरूप मोहजन्य परिणामका न होना भाव लोभ विवेक है ॥१७०॥

गा०—अथवा शरीर विवेक, वसति विवेक, मस्तर विवेक, उपाधि विवेक, भक्तपाण विवेक,  
और वैयावृत्य करने वालोका विवेक, द्रव्य और भाव रूप होना है ॥१७१॥

टी०—प्रकारान्तरसे विवेकके भेद कहने है । शरीर विवेक शरीर के द्वारा किया जाता है ।

शब्दा—ससारी जीवका शरीरसे विवेक कैसे सभव है ?

समाधान—अपने शरीरमे होने वाले उपद्रवोका दूर न करना, शरीर विवेक है । शरीरपर  
उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा देव को हाथसे नहीं रोकता कि मेरे ऊपर उपद्रव मत  
करो । डास, मच्छर, बिच्छू, सर्प, कुत्ते आदिको हाथसे, पिच्छी आदि उपकरणसे अथवा दण्ड  
बगैरहसे दूर नहीं करता । छाता, पीछी, चटाई अथवा अन्य किसी आवरणसे शरीरकी रक्षा

शरीरपीडा मम मा कृया इत्यवचन । मा पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतन चैतन्येन सुखदुःखसवेदनैः वावशिष्टमिति वचन वाचा विवेक । वसतिस्तस्तरयोविवेको नाम कायेन वसतावनासन प्राग्धुपिताया, सस्तरं वा प्राक्तने अशयन अनासन । वाचा त्यजामि वसति सस्तरमिति वचन । कायेनोपकरणानामनादान, अस्थापनं क्वचिदरक्षा च उपधिविवेक । वाचा परित्यक्तानीमानि ज्ञानोपकरणादीनि इति वचन वाचा उपधिविवेक । भक्तपानयोरनशन अपान वा कायेन भक्तपानविवेक । एवभूत भक्त पान वा न गृह्णामि इति वचन वाचा भक्तपानविवेक । वैद्यावृत्त्येका स्वशिष्यादया ये तेषां कायेन विवेक' तं सहासवास । मा कृया वैद्यावृत्त्य इति वचन, मया त्यक्ता यूयमिति वचन । सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेव भावः य वा मनसा अकरण भावविवेक ॥१७१॥

परिग्रहपरित्यागक्रम उपरिशति—

सर्व्वत्थ द्रव्यपज्जयममत्तसंगविजडो पणिहिदप्या ।

शिण्पणयपेमरागो उवेज्ज मन्वत्थ समभावे ॥१७२॥

सर्व्वत्थ इत्यादिना । 'सर्व्वत्थ' सर्वत्र देशे । 'पणिहिदप्या' प्रणिहितान्मा प्रकर्षणं निहित. निक्षिप्त वस्तुयाथान्यज्ञाने आत्मा येन स प्रतिनिहितात्मा । 'दश्वपज्जयममत्तसंगविजडो' द्रव्येषु जीवपदगलेषु तत्पर्यायिषु च ममत्तारूपो य' मग परिग्रहस्तेन परित्यक्त । प्रणय 'नह प्रेम प्रीति, राग आसक्ति । क्व ? द्रव्यपर्यायिषु जीवद्रव्यं पुत्रदारमित्रादौ, तेषां नीरोगत्वधनवत्त्वादौ पर्यायि, आत्मनो वा देवत्वे, चक्रवर्तिन्येऽहमिन्द्रत्वे वा । तथा शरीरे आहारादिके भोगमाधने, तदीयरूपरनन्यधर्मपर्यायिषु वा, एतेभ्य

नही करता । यह कायसे शरीर विवेक है । मेरे शरीरको पीडा मत दो, अथवा मेरो रक्षा करो, ऐसा न बोलना, अथवा यह शरीर अचेतन है, मुझसे भिन्न है, चैतन्यमे और सुख दुःखके सर्वेदनसे रहित है ऐसा बोलना वचनसे शरीर विवेक है । जिसमें पहले रहे है उस वसति में न रहना कायसे वसति विवेक है । पूर्वके सस्तर पर न साना न बैठना कायसे सस्तर विवेक है । मैं वसति या संस्तर को त्यागता हूँ यह वचनसे वसति और सस्तर विवेक है । 'उपकरणोका त्याग करता हूँ' ऐसा बोलना वचनसे उपधि विवेक है, भक्तपानको न खाना न पीना कायसे भक्तपान विवेक है । 'इस प्रकारके भोजन और पानको ग्रहण नहीं करता ऐसा कहना वचनसे भक्तपान विवेक है । वैद्यावृत्त्य करने वाले अपने शिष्यों आदिके साथ वास न करना कायसे विवेक है । 'वैयावृत्त्य मत करो' 'मैंने तुम्हारा त्याग किया ऐसा कहना' वचनसे विवेक है । सर्वत्र शरीर आदिमें अनुरागका 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव मनमें न करना भावविवेक है ॥१७१॥

परिग्रह के त्यागका क्रम बतलाते है—

गा०—सर्वे देशमें प्रतिनिहित आत्मा द्रव्य और पर्यायोंम ममत्तारूपी परिग्रहसे रहित, प्रणय, प्रेम और रागसे रहित सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है ॥१७२॥

टी०—जिसमें वस्तुके यथार्थ स्वरूप के ज्ञानमें आत्माको प्रकर्षरूपसे निहित किया है वह प्रतिनिहितात्मा है अर्थात् जो वस्तु स्वरूपके जाननेमें लीन रहता है और द्रव्य अर्थात् जीव पुद्गलमें और उनकी पर्यायोंमें ममत्ता नहीं करता । और जीव द्रव्य अर्थात् पुत्र स्त्री मित्रादि में उनकी नीरोगता, धनवत्ता आदि पर्यायोंमें अथवा आत्माकी देवपना, चक्रवर्तीपना, अहमिन्द्रपना आदि पर्यायोंमें तथा शरीरमें, आहारादिमें; भोगके साधनमें और उनकी रूप, रस, गन्ध,



परिणामेभ्यो निर्गतो 'गिप्यणयपेवराग' इत्युच्यते । 'उबेञ्ज' प्रतिपद्यते । 'समभाव' समचित्तता । द्रव्ये पर्याये वा रागकोपावन्तरेण तत्स्वरूपग्रहणमात्रप्रवृत्तिर्जायता समचित्तता ॥ १७२ ॥

परिग्रहपरित्यागादनन्तरोपधिकार श्रितिनाम, एतद्ब्रह्माख्यातुकाम श्रितिशब्दस्यार्थद्वय व्याचष्टे भाव-श्रितिर्यथाश्रितिरिति, अप्रकृत श्रितिशब्दार्थ निराकमुमिष्ट दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि ।

दव्वसिदी गिस्सेणी सोवाणं आरुहंतस्स ॥१७३॥

'जा' या । 'उवरि उवरि' उपर्युपरि । 'गुणपडिवत्ती' गुणप्रतिपत्ति । ज्ञानश्रद्धानसमानभावाना गुणाना प्रवृत्ताना उपर्युपरि गुणानात्थामूनामिव प्रतिपत्तिर्या सा । 'भावदो' भावेन । 'सिदी होदि' श्रितिर्भवति । भावश्रिति सैवेति यावन् । अथ का द्रव्यश्रिति ? अस्योत्तरमाह—'दव्वसिदी' श्रीयते इति श्रितिः द्रव्यं च तत् श्रितिश्च सा द्रव्यश्रिति । यदाश्रीयते द्रव्य निश्चयणीसोपानादिक तदपि श्रितिशब्देनोच्यते । 'आरुहंतस्स' आरोहते ॥१७३॥

अनयो का परिगृहीतेत्यत्राह—

सल्लेहणं करंतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ।

भावोसदिमारुहत्ता विहरेज्ज सरीरणिव्वण्णो ॥१७४॥

स्पर्शा पर्यायोमे प्रणय अर्थात् स्नेह, प्रेम और राग अर्थात् आसक्ति रूप परिणामोसे रहित है वह सर्वत्र समभाव अर्थात् समचित्तताको प्राप्त होता है । द्रव्य अथवा पर्यायमे राग द्वेष के विना उनके स्वरूपको ग्रहण मात्र करनेकी प्रवृत्तिको अर्थात् ज्ञानताको समचित्तता कहते हैं ॥१७२॥

उपधि त्याग समाप्त हुआ ।

परिग्रह त्यागके अनन्तर श्रिति नामक अधिकार है । उसका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार श्रिति शब्दके दो अर्थ कहते हैं भाव श्रिति और द्रव्य श्रिति । श्रिति शब्दके अप्रकृत अर्थका निराकरण और इष्ट अर्थ का कथन करते हैं—

गा०—जो ऊपर-ऊपर गुणोकी प्रतिपत्ति है वह भावसे श्रिति है । ऊपर चढ़ने वाले के नसेनी सीढी आदि द्रव्य श्रिति है ॥१७३॥

टी०—ज्ञान श्रद्धान समभाव आदि गुणोका ऊपर-ऊपर उन्नत होना गुण प्रतिपत्ति है और वह भाव श्रिति है । भाव अर्थात् परिणामसे श्रिति भाव श्रिति अर्थात् परिणाम सेवा है । 'श्रीयते' जिसका आश्रय लिया जाये वह श्रिति है । द्रव्यरूप श्रिति द्रव्य श्रिति है । ऊपर चढ़ने वाला नसेनी सीढी आदि जिस द्रव्यका आश्रय लेता है उसको भी श्रिति शब्दसे कहते हैं ॥१७३॥

यहाँ इन दोनोमेसे किसका ग्रहण किया है, यह कहते हैं—

गा०—सल्लेखना करता हुआ शरीरसे विरक्त साधु सब सुखशीलताको मन वचन कायसे त्यागकर भावश्रिति पर आरोहण करके विहार करे ॥१७४॥

'सन्नेहणं' सल्लेखना । 'करंतो' कुर्वन् । 'सर्वं सुहृत्सौलभ्यं' सर्वा सुलभावना आसनशयनभोजनादिविषया । 'पयसिहृण' प्रकर्षणं त्यक्त्वा योगत्रयेणेति यावत् । 'भावसिद्धिमासहिता' श्रद्धानाद्विपरिणामसेवा प्रतिपद्य । 'चिरद्वेषज' प्रवर्तते । 'शरीरगन्धिष्णो' शरीरनिस्पृह । किमनेन शरीरेण, सुलभेनासारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन दुःखविषयिनेति ॥१७४॥

**द्व्वसिद्धिं भावसिद्धिं अणुओगवियाणया विजाणंजा ।**

**ण सु उद्धमणकज्जे हेट्टिन्लपदं पसंसति ॥ १७५॥**

द्व्वसिद्धिं भावसिद्धिं अणुओगवियाणया विजाणंता' इत्यस्मिन्सूत्रे पदघटना । 'उद्धमणकज्जे हेट्टिन्लपदं ण सु पसंसति' इति । ऊर्ध्वगमने कार्ये जघोष पादनियोगे नैव प्रशसन्ति । 'विजाणंता' विशेषेण जानन्त । का 'द्व्वसिद्धिं भावसिद्धिं' च द्व्व्यभावश्रियो स्वरूप उपादेयश्रित्तिजा' इति यावत् । न केवलं त्रिभिन्नाज्जा । किन्तु 'अणुओगवियाणया' अनुयोगशब्द सामान्यवचनोऽपि इह चरणानुयोगवृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः आचाराङ्गना अथवा चतुर्विधानुयोगज्ञा श्रुतमाहात्म्यवन्त न प्रशसन्ति । एतदुक्तं भवति—शुभ-परिणामवता तदतिशय एव प्रवर्तितव्य, न जघन्यपरिणामप्रवाहे निपतितव्य, यतोऽतिशयितश्रुतज्ञानलोचना यतयो निन्दति जघन्यपरिणामान् । कुतो ? मन्दायमानशुभपरिणाम क्रमेण न बहल्विशालकर्मतिमिरमपा-कर्तुमर्हति नाशान्निमुख प्रदीप इव । यथा नाशसन्मुख प्रदीपोऽतितेजसा प्रवर्तमानो मन्द मन्द ज्वलन्नाशमुपैति तन्नैर्गर्नस्तमसाच्छाद्यते तथा मन्दायमानपरिणामोऽपीत्यर्थः । अशुभपरिणामसन्तस्तैर्मूलं भवति । तेन कर्मणा स्थितिरनुभवश्च प्रकर्षमुपैति ततो व्यवस्थिता सैव दीर्घमरिता । समोच्चिन्नाज्ञानमात्प्रेरितः शुभपरि-

गा०—टी०—इस सुलभ, असार, अपवित्र, कृतघ्न, भाररूप, रोगोका घर और जन्म मरणसे युक्त, दुःखदायी शरीरसे क्या लाभ ऐसा विचार साधु शरीरसे निस्पृह होकर सल्लेखना धारण करता है और बैठना, सोना, भोजन आदिकी सब सुख भावनाको छोड़ श्रद्धानादि परिणामोका आश्रय लेता है ॥१७४॥

गा०—द्व्व्यश्रितिके भावश्रितिके स्वरूपको विशेष रूपसे जानने वाले तथा आचागके ज्ञाता ऊर्ध्वगमन रूप कार्यमे नीचे पैर रखना प्रशसनीय नहीं ही मानते ॥१७५॥

टी०—अनुयोग शब्द अनुयोग सामान्यका वाची होने पर भी यहाँ चरणानुयोगका वाचक ग्रहण किया है अतः उसका अर्थ आचारागके ज्ञाता होता है । अथवा चार प्रकारके अनुयोगोके ज्ञाता भी होता है । द्व्व्यश्रितिके और भावश्रितिके स्वरूपको जानने वाले तथा चरणानुयोगके ज्ञाता ऊपर जानेके लिये नीचे-नीचे पैर रखना प्रशसनीय नहीं मानते । आशय यह है कि शुभ परिणाम वालोको शुभ परिणामोकी उल्लुष्टतामे ही लगना चाहिये, जघन्य परिणामोके प्रवाहमे नहीं गिरना चाहिये; क्योंकि अतिशय युक्त श्रुतज्ञान रूपी चक्षुसे सम्पन्न यतिगण जघन्य परिणामो की निन्दा करते हैं । क्योंकि जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मन्द होते जाते हैं वह घने विशाल कर्मरूपी अन्धकारको नाशके अभिमुख दीपककी तरह दूर नहीं कर सकता । जैसे बृक्षता हुआ दीपक तीव्र प्रकाश देता है किन्तु मन्द-मन्द जलकर बुझ जाता है और धीरे-धीरे अन्धकारसे ढक जाता है । उसी तरह मन्द होता हुआ शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामोकी परम्पराका जनक होता है और उससे कर्मोकी स्थिति और अनुभाग उत्तरोत्तर बढता है । उससे वही दीर्घ संसार-

धामानलः प्रकृष्यमाणो विशेषितकर्मपादपरसस्तमुन्मूलयतीति ॥१७५॥

श्वितेरपायस्थानपरिहाराख्यानायोत्तरगाथा—

गणिणा सह संलाओ कज्जं पइ सेसएहिं साहूहिं ।

मोणं से मिच्छज्जणे भज्जं सण्णीसु सज्जणे य ॥१७६॥

'गणिणा सह' सावधारणमिदं गणिर्नैव सह । 'संलाओ' प्रथमप्रतिवचनप्रबन्धः, नान्ये सह चिरभाषण कार्यम् । आचार्येण सह सलाप शुभपरिणामस्य हेतुरित्यनुज्ञायते । इतरे तु प्रमादिनो यत्किञ्चिद् ब्रुवन्तोऽ-शुभपरिणाम विदधुः । 'कज्ज पइ' कार्यं स्व प्रति । 'सेसएहिं साहूहिं' शेषः साधुभिः सम्भाषण कार्यं, न प्रबन्धरूपा कथा कार्या । 'मोणं' मौनमेव । 'से' तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य । 'मिच्छज्जणे' मिथ्यादृष्टि-जने । स्वार्थे बद्धपरिकरस्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाग्राहिणा जनेन । 'भज्जं' भाज्य विकल्प्य मौन । 'सण्णीसु' मिथ्यादृष्टिजन्मप्युपशान्तेषु । 'सज्जणे य' स्वजने च । मिथ्यादृष्टी अस्यामवस्थाया मदीय वचन श्रुत्वा सम्यग्दर्शनादिकमिमे गृह्णन्तीति यद्यस्ति सम्भावना ब्रूयाद् धर्मं न चेन्मौनमेव ॥१७६॥

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिदिमारुहित्तु कारणपरिभुत्तं उवधिमणुवर्धिं सेज्जं ।

परिकम्मादिउवहदं वज्जिज्जा विहरदि विदण्हू ॥१७७॥

'सिदिमारुहित्तु' शुभपरिणामश्रेणिमारूढः । कारणभुत्तं किञ्चित्कारणमुपदिश्य श्रुतग्रहणं, परेषा वा पना प्राप्त होता है । सम्यग्ज्ञान रूपी वायुसे प्रेरित शुभ परिणाम रूप आग बढ़ती-बढ़ती कर्म रूपी वृक्षके रसको सुखाकर उसे जड़से नष्ट कर देती है ॥१७५॥

श्रितिके विनाश स्थानोसे वचनेके उपाय कहते है—

गा०—शुभ परिणामोकी श्रेणि पर आरूढ साधुको आचार्यके ही साथ वार्तालाप करना चाहिये । कार्य ही तो शेष साधुओसे वार्तालाप करे । मिथ्यादृष्टिजनोंमे मौन रहे । शान्त परिणामी मिथ्यादृष्टियोंमें और अपने ज्ञातिजनोंमे मौन करे, न भी करे ॥१७६॥

टी०—आचार्यके साथ ही 'सलाप' अर्थात् प्रश्नोत्तर आदि करना चाहिये । दूसरोके साथ लम्बा वार्तालाप नहीं करना चाहिये । आचार्यके साथ सलाप शुभ परिणाम का कारण है इसलिये उसको अनुज्ञा है । अन्य लोग तो प्रमादी होनेसे जो कुछ भी बोलकर अशुभ परिणाम कर देते हैं । शेष साधुओके साथ सम्भाषण करना चाहिये किन्तु लम्बी कथा नहीं करना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जनसे बात नहीं करना चाहिये क्योंकि वह तो स्वार्थमे डूबा है । हितोपदेशको नहीं सुनता । ऐसे अनुपकारो व्यक्तिसे क्या काम ? जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी शान्त परिणामो है और अपने ज्ञातिबन्धु है उनसे वार्तालाप किया जा सकता है । ये मेरे वचन सुनकर सम्यग्दर्शन आदिको ग्रहण करेगे, यदि ऐसी सम्भावना है तो धर्मका उपदेश दे, नहीं तो मौन ही रहे ॥१७६॥

शुभ परिणामके धारी मुनिकी प्रवृत्तिका क्रम कहते है—

गा०—क्रमका ज्ञाता मुनि शुभ परिणामों की श्रेणिपर चढ़कर किसी कारणवश व्यवहारा मे आई परिग्रहकों और ईषत् उपधिरूप वसतिको तथा जो लीपने-पोतने अयोग्य है, उसे त्याग कर तपस्चरण करता है ॥१७७॥

टी०—शुभ परिणामोकी परम्परासे जो मुनि ऊपर चढ़ रहा है वह ऐसे परिग्रहकों त्याग

श्रुतोपदेश, आचार्यादिवैयावृत्यादिकं वा, 'परिभूत्' व्यवहृत । 'उच्चैर्बि' परिग्रहमोपध अतिरिक्तज्ञानसंयमोपकरणानि वा । 'अनुपधि' ईषत्परिग्रह । अन्वयवदर्थवृत्ति अनुदरा कन्धेति यथा । कोसावनुपधिरत आह— 'सेज्ज' सेविज्जदि अदिणा इति व्युत्पत्ती वमतिरुच्यते, तेन सेज्ज वमति । परिकम्माविउच्चहर्षं यतयोऽत्र वसन्तीति प्रमाणप्रलेपनादिपरिकर्मणा उपहृत अयोग्य । 'परिवज्जिता' वर्जयित्वा । 'बिहरवि' आचरति । 'बिबण्' क्रमज्ञः ॥१७७॥

श्रित्यनन्तरं किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिममि काले वीरपुरिससेविय परमघोर ।

भत्तं परिजाणंतो उवेदि अद्भुज्जदविहार ॥१७८॥

'तो' तस्या श्रिते । 'पच्छिममि काले' पश्चिम काले । 'वीरपुरिससेविय' वीरै, पुरुषैराचरित । 'परमघोरं' अतिदुष्कर । 'भत्त परिजाणंतो' आहार परित्यक्तुकाम । 'उवेदि' उर्षेति । किं ? अद्भुज्जद-विहारं' सम्यग्दर्शनादिपरिणामाभिमुख्ये उच्यते विहार ॥१७८॥

कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्यत्राचष्टे—

इत्तिरियं सव्वगणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए द ।

जहिदूण संकिलेम भावेइ असंकिलेसेण ॥१७९॥

'इत्तिरियं' कियत काल्म्य । 'सव्वगणं' सयताना, आधिकाणा, श्रावकाणा, इतरामा च समिति ।

देता है जो कारणवश व्यवहारमे आया है जैसे स्वयं शास्त्राभ्ययनके लिये या दूसरोको शास्त्रका उपदेश देनेके लिये ज्ञान और समयके उपकरण शास्त्र आदि व्यवहारांमे भाये हो जो कि स्वयं अपने लिये आवश्यक नहीं है । तथा आचार्य आदिकी वैयावृत्यके लिये औषध आदि व्यवहारमे आई हो । ऐसा परिग्रह कारणभूक्त परिग्रह है । तथा कारणभूक्त अनुपधिको भी त्याग दे । अनुपधिमे अन्का अर्थ ईषत् या किञ्चित् है । यह अनुपधि है 'सेज्ज' । 'जो यतिके द्वारा सेवित होती है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सेज्जाका अर्थ वमति है । तथा 'इमम यति गण रहगे' इस अभिप्रायसे जिस वसतिकी सफाई लिपाई पुताई की गई है वह भी त्याज्य है । इन सबको त्यागकर वह मुनि तपश्चरण करता है ॥१७७॥

श्रितिके अनन्तर वह क्या करता है यह कहते हैं—

गा०—उस श्रितिके अन्तिम समयमे वीर पुरुषोके द्वारा आचरित अनिकठिन आहारको त्याग देनेका इच्छुक वह मुनि सम्यग्दर्शन आदि परिणामोकी अभिमुखतामे तत्पर विहारको प्राप्त होता है । अर्थात् रत्नत्रयकी मुख्यताकां लिये हुए आचरण करता है ॥१७८॥

वह अभ्युद्यत विहार कैसा है, यह कहते हैं—

गा०—तत्काल गुरुके पश्चात् जो संघका पालन करता है उसे, विधिपूर्वक समस्त संघको सौंपकर संकलेशको छोडकर असंकलेशसे आत्माको भाता है ॥१७९॥

टी०—सर्वगणसे मतलब है मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका तथा अन्य जनोका समूह ।

'चित्तरिय' वस्त्रा । कथ 'विधिणा' विधिना । कथ ? सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं बहि स्थित्वा 'एष निरतिचाररत्नत्रय' आत्मानं युष्मानपि समर्थं ससारसागरादुद्धृतं, अनुज्ञातश्च यया मूरिरयमिति । तत एतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्य इति । 'अनुविद्याए हु' 'अनु'पश्चादर्थे दिशि विधाने गुरो पश्चाद्दिशि विद्यते चरणक्रम य सोभिधीयते अगुदिसाब्देन । 'अहिक्रण' त्यक्त्वा । 'संकिलेसं' सकलेश परोपकार-सम्पादनायास । 'भावेइ' भावयति । 'असंकिलेतेण' न विद्यते सकलेशोऽस्मिन्नित्यसक्लेशः शुभपरिणामस्तेन भावयति आत्मानं ॥१७९॥

जावतुं केइ संग्गा उदीरया होति रागदोसाणं ।

ते वडिजतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्सज्जो ॥१८०॥

त्यक्तव्यसकलेशभावनाकल्पस्याख्यानायाचष्टे—

कन्दप्पदेवखिन्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।

एसा हु सङ्किलिद्धा पञ्चविहा भावणा भणदा ॥१८१॥

कंदप्प इत्यादिना । गतिकर्म चतुर्विधं नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरित्यत्र देवगतिर्नैक-प्रकारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपचेन । कन्दर्पदेवगते, किल्बिषदेवगतेगभियोग्यदेवगते, असुरदेवगते, सम्मोहदेवगतेश्च कारणभूता आत्मपरिणामा । कारणे कार्योपचानोऽन्नप्राणवत् । यथान्न वै प्राणा इति

'अनुविद्याए' मे अनुका अर्थ है पश्चात् और दिशका अर्थ है विधान । गुरुके पीछे जो चारित्रिके क्रमका विधान करता है उसे अनुदिश कहते हैं । सल्लेखनार्थी उसको सर्वसंपत्के मध्यमे स्थापित करके स्वयं बाहर होता है । उस समय वह कहता है—इसका रत्नत्रय निर्दांप है । यह अपना और तुम्हारा भी ससार सागर से उद्धार करनेमे समर्थ है । मैंने इसे आचार्य बनने की अनुज्ञा दी है । अत इसके उपदेशके अनुसार आपको चलना चाहिये । मघके भारसे मुक्त होकर वह परोपकार करनेका प्रयत्न रूप सकलेश छोड़ देता है, अर्थात् परोपकार करना छोड़ देता है और जिसमे सकलेश नहीं है ऐसे असकलेश अर्थात् शुभ परिणाममे आत्माकी भावना भाता है ॥१८१॥

गा०—जितना कोई परिग्रह गगद्वेषकी उदीरणा करने वाला होता है, उसे छोड़ता हुआ निस्सग होकर राग और द्वेष को निश्चयमे जीतता है ॥१८०॥

बिशेष—इस पर विजयोदया टीका नहीं है । आशा-वग्ने भी इस पर टीका नहीं की किन्तु इतना लिखा है कि टीकाकार इस गाथाको नहीं मानता ।

छोड़ने योग्य सकलेश भावनाके भेद कहते हैं—

गा०—कन्दर्पदेवगति, किल्बिषदेवगति, आभियोग्यदेवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेव-गतिके कारण भूत आत्म परिणाम यह निश्चयसे पांच प्रकारकी सविल्पष्ट भावना कही है ॥१८१॥

टी०—गतिकर्मके चार भेद हैं—नरक गति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति । इनमे से देवगतिके असुरदेवगति, नागदेवगति आदिके विस्तारसे अनेक भेद हैं । कन्दर्पदेवगति, किल्बिष-देवगति, आभियोग्य देवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेवगतिके कारणभूत आत्मपरिणामोंको उस उस गतिके नामसे कहा है । यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया है जैसे 'अन्न ही प्राण है' । यहाँ

प्राणकारणोऽने प्राणोपचाराः । कार्यगतेन व्यपदेशेन कन्दर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुर-  
भावना, सम्मोहभावनाश्चैति पञ्चप्रकारा भावना निरूपिताः सर्वविद्भिः ॥१८१॥

तत्र कन्दर्पभावनानिरूपणायोत्तरमाथा—

कन्दप्यकुक्कुडाह्य चलमीलो णिच्चहासणकहोय ।

विम्भावितो य परं कंदप्यं भावणं कुणइ ॥१८२॥

कन्दप्यकुक्कुडाह्यचलसीलो रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग कर्त्तव्यः । रागातिशयवतो  
हसत परमुद्दिश्याशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्य एव भवत मातर करोमीति । कदपं कौत्कुच्याम्या चलसील',  
'णिच्चहासणकहो य' सदा हास्यकथाकथनोद्यत । 'विम्भावितो य परं' पर विस्मापयन् कुहक किञ्चिदुपस्यं  
'कंदप्यं भावणं कुणवि' कदपंभावना करोति । रागोद्रेकजनितहासप्रवर्तितो वाग्योग परमविस्मयकारी वा  
कदपंभावनेत्युच्यते । असङ्कल्पवर्तमान ॥१८२॥

किल्बिषभावनाख्यानायाचष्टे—

गाणस्स केवलीणं घम्मस्साइरिय सन्वसाहूणं ।

माइय अवण्णवादी खिम्भिसियं भावणं कुणइ ॥१८३॥

गाणस्स इत्यादिक । 'माई अवण्णवादी' इत्येताम्या प्रत्येक सन्वन्वीयम् । ज्ञानमिह श्रुत परिगृहीत  
श्रुतज्ञानविषया माया यस्य विद्यते स ज्ञानसम्बन्धी मायावान् ज्ञानभक्तिरहितो बाह्यविनयवृत्ति । 'केवलिणं'

प्राणके कारण अन्नमे प्राणका उपचार किया है । उन्ही परिणामोका कार्य जो कन्दर्प आदि गति है  
उसी कन्दर्पशब्दसे कन्दर्प भावना, किल्बिष भावना, अभियोग्य भावना, असुर भावना, सम्मोह  
भावना ये पाँच प्रकार की भावनाएँ सर्वज्ञ देवने कही हैं ॥१८१॥

आगेकी गाथा मे कन्दर्प भावनाका कथन करते हैं—

गा०—कन्दर्प कौत्कुच्य आदिसे चलशील, और सदा हास्य कथा करनेमे तत्पर, दूसरेको  
विस्मयमे डालने वाला कन्दर्प भावनाको करता है ॥१८२॥

टी०—रागकी अत्यधिकतासे हँसीसे मिला हुआ असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है । रागकी  
अधिकतासे हँसते हुए दूसरे को लक्ष्य कर्क शरीरसे कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है । इन दोनोंको जो  
करता है, सदा हास्य कथा करता है, और कुछ कौतुक दिखाकर दूसरेको अचरजमे डालता है,  
वह कन्दर्प भावना करता है । आशय यह है कि रागकी अधिकतासे होने वाले हास्य पूर्वक वचन  
योग और काय योग तथा दूसरेको कुतूहल पूर्वक अचरजमे डालना कन्दर्प भावना है ॥१८२॥

किल्बिष भावनाको कहते हैं—

गा०—जो ज्ञानके, केवलियोके, धर्मके, आचार्यों और सर्व साधुओके विषयमे मायाचार  
करता है, झूठा दोष लगाता है वह किल्बिषक भावनाको करता है ॥१८३॥

टीका—'माइय अवण्णवादी' ये दोनो पद प्रत्येकके साथ लगाना चाहिये । 'ज्ञान' से यहाँ  
श्रुतज्ञान ग्रहण किया है । जो श्रुतज्ञानके विषयमे माया रखता है वह ज्ञान सम्बन्धी मायाचारी  
है । ज्ञानमे भक्ति नहीं है, बाहरसे विनय करता है । केवलियोंमे आदर तो दिखलाता है किन्तु

केवलिष्वादेरवानिव यो वर्तते । तदवर्चनाया मनसा नु न रोचते स केवलिना मायावान् । धर्मचारित्र तत्र मायया प्रवृत्त । आचार्याणा साधूना च वञ्चक । शिष्यिसभावणं किल्बिषभावना । 'कुण्ड' करोति ॥१८३॥

अभियोग्यभावना निरूपयत्युत्तरगाथा—

मंताभिओगकोदुगभूईकम्मं पउंजदे जो हु ।

इडिदरससादहेदु अभिओगं-भावणं कुण्ड ॥१८४॥

'मंताभिओगकोदुगभूईकम्मं' मन्त्राभियोगक्रिया, कुतूहलोपदर्शनक्रिया, बालादीना रक्षार्थं भूति कर्म च । 'पयुंजवे' करोति य । 'अभियोगं भावणं कुण्ड' अभियोग्या भावना करोति । किं ? सर्व एव मन्त्राभियोगादी प्रवृत्तो नेत्याह । 'इडिदरससादहेदु मंताभियोगकोदुगभूईकम्मं ओ पउंजदे सो अभियोगभावण कुण्ड' । द्रव्यलाभस्य, मृदाशनस्य, सुखस्य वा हेतु मन्त्राद्यभियोगकर्म प्रयुङ्क्ते य स एव अभियोग्यभावना करोति नेतर । स्वस्य परस्य वा आयुरादिपरिज्ञानार्थं कौतुक उपदर्शयन्, वैयावृत्य प्रवर्तयामीति वा । उद्यत, ज्ञान-दर्शन चारित्रपरिणामादरवर्तनान्म दुष्यतीति भाव ॥१८४॥

चतुर्थी भावना वदन्ति—

अणुवदुरोसविग्गहसंसत्तवो णिमित्तपडिसेवी ।

णिविक्कवणिराणतावी आसुरिअं भावणं कुणदि ॥१८५॥

उनकी पूजा मनमें नहीं रुचती । वह केवललियोके सम्बन्धमें मायावी है । धर्म अर्थात् चारित्रके विषयमें जो मायाचार करता है वह धर्मका मायावी है । तथा जो आचार्यों और साधुओंको ठगता है वह किल्बिष भावनाको करता है ॥१८३॥

आगेकी गाथासे अभियोग्य भावनाको कहते हैं—

गा०—जो द्रव्यलाभ, मिष्टरस और सुखके लिए मन्त्राभियोग—भूत आदि बुलाना, कौतुक-अकालमें वर्षा आदि दिखलाना और वच्चोंकी रक्षाके लिये भूत देना आदि करता है वह अभियोग्य भावना करता है ॥१८४॥

टी०—द्रव्यलाभ, मीठा भोजन और सुखके लिये जो मन्त्राभियोग क्रिया, कुतूहल दिखानेकी क्रिया और बालक आदिकी रक्षाके लिये भूतिकर्म करता है वह अभियोग्य भावनाको करता है । जो द्रव्यलाभ आदिके लोभसे मन्त्रादि करता है वही अभियोग्य भावना करता है, सब नहीं । जो अपनी या दूसरोकी आयु आदि जाननेके लिये मन्त्र प्रयोग करता है, धर्मकी प्रभावनाके लिये कौतुक दिखलता है या वैयावृत्य करनेकी भावनामें तत्पर रहता है वह ज्ञान दर्शन और चारित्र परिणामोंमें आदर भाव रखनेसे दोषका भागी नहीं है, यह भाव है ॥१८४॥

चौथी आसुरी भावनाको कहते हैं—

गा०—अनुवदु क्रोध और कलहसे जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदिसे जाजीविका करता है, निर्दय है, दूसरेको कष्ट देकर भी पश्चात्ताप नहीं करता वह आसुरी भावनाको करता है ॥१८५॥

'अनुबधरोत्सविग्रहससक्तबो गिनितसपडिसेवी' रोपयच विग्रहस्य रोपविग्रहो अनुबन्धो रोपविग्रहो अनुबन्धरोपविग्रहो अनुबन्धरोपविग्रहाम्या ससक्त सबद्ध अनुबन्धरोपविग्रहससक्त तपो यस्य स तपोस्तः । 'निमित्ताजीवो च' य स आसुरीभावना करोति इति केचित्कथयन्ति । अनुबद्धो भवान्तरानुयायी रोपो यस्य सोऽनुबद्धरोपः । विग्रहेण कलहेन ससक्त तपो यस्य स विग्रहससक्ततप शब्देन भण्यते । अनुबद्धो रोपविग्रहो अस्येत्यनुबद्धरोपविग्रहः । सम्यगतीव संसक्त संबद्ध परिग्रहेण तपो यस्य स ससक्ततपोऽभिलाषवाच्यः । गिनितकव-गिरानुतावी, य निर्दय प्राणियु, कृत्वापि परपीडा अनुतापरहितवचासुरी भावना करोति ॥१८५॥

समोहभावना निरूप्यते—

उम्मगदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य ।

मोहेण य मोहितो संमोहं भावण कुणइ ॥१८६॥

उम्मगदेसणं मिथ्यादर्शन, अविराति, वा य उपदिशति, आप्ताभासानागमास्तत्प्रणीतांश्च हितत्वे-नाचष्टे । यो वा तत्त्वज्ञो हिंसादिकं कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते । ज्ञानं हि सर्वं पापं दहति इति प्रतिपादयता हिंसादिभ्यो भय निराकुर्वता हिंसादिषु जीवा प्रवर्तिता भवन्ति । न एक उन्मार्गस्योपदेष्टा । यज्ञे प्राणि-बधो न पापाय शास्त्रचोदितत्वादानादिवत् । किं च पशवो हि यागार्थमेवादौ सृष्टा याजका यजमाना पश-वश्च मन्त्रमाहात्म्याम्बगं लभन्ते इति । अयमेक उन्मार्गोपदेश । 'मग्गदूसणो' मवरस्य निर्जरायाश्च निरव-शेषकमपायस्य वा हेतुभूता समीचीनज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामा मार्ग इति उच्यते । अथ्याबाधसुखस्य परंपरा-

टी०—अनुबद्ध रोप और विग्रहमे जिसका तप सम्बद्ध है और जो निमित्ताजीवि है वह आसुरी भावनाको करता है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं । अनुबद्ध अर्थात् आगामी भवमे जाने-वाला जिसका क्रोध है अर्थात् ऐसा उत्कट क्रोध है जो दूसरे भवमे साथ जाता है वह व्यक्त अनुबद्ध रोप है, जिसका तप विग्रह अर्थात् कलहसे सम्बद्ध है वह 'विग्रह ससक्त तप' शब्दसे कहा जाता है । जिसका रोप और विग्रह अनुबद्ध है वह अनुबद्ध रोप विग्रह है । और जिसका तप परिग्रहसे अतीव सम्बद्ध है वह 'ससक्त तप' शब्दसे कहा जाता है । जो प्राणियोमे दया नहीं करता तथा दूसरोको पीडा पहुँचा कर भी पछताता नहीं है, वह आसुरी भावना करता है ॥१८५॥

सम्मोह भावनाको कहते हैं—

गा०—जो मिथ्यात्व या असयमका उपदेश देता है, मार्गको दूषण लगानेवाला है और रत्नत्रयका विरोधी है, अज्ञानसे मूढ़ है वह सम्मोह भावनाको करता है ॥१८६॥

टी०—उम्मगदेसण अर्थात् जो मिथ्यादर्शन अथवा अविरतिका उपदेश देता है, आप्ता-भासोको और उनके द्वारा रचित शास्त्रोको हितकारी कहता है, जो तत्त्वज्ञ है वह हिंसा आदि करते हुए भी पापसे लिप्त नहीं होता, ज्ञान सब पापको भस्म कर देता है ऐसा कहनेवाला हिंसा आदि पापका भय दूर करके जीवोको हिंसा आदिमे लगाता है । वह उन्मार्गका उपदेशक है । यज्ञमे किया गया प्राणिबध पापका कारण नहीं है क्योंकि वेदमे कहा है जैसे दान पापका कारण नहीं है । प्रारम्भमे यज्ञके लिये ही पशुओकी सृष्टि की गई थी । जो यज्ञ करते हैं, कराते हैं और पशु, ये सब मरकर मन्त्रके माहात्म्यसे स्वर्गमे जाते हैं । यह भी उन्मार्गका उपदेष्टा है । 'मग्ग-दूसणो'—संवर और निर्जराके तथा समस्त कर्मोंके विनाशके हेतु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप परिणाम मार्ग कहे जाते हैं; क्योंकि बाधरहित सुखके परम्परासे कारण हैं,



कारणत्वाच्च । तस्य मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्ष किं दर्शनचारित्र्याभ्यां ? चारित्र्यमेवोपायः किं ज्ञानमेति कथग्रन्थमार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं श्रुत मार्गस्तस्य दूषको यो अपव्याख्यान-कारो । 'मग्विष्पिण्डिवणी य' मार्गं रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्न एष न भवतेमार्ग इति यस्तद्विरुद्धाचरण । मोहेण य अज्ञानेन च सशयविपर्ययतिरूपेण । 'भुञ्जन्तो' मुह्यन् । सम्मोहेषु तीव्रकामरागेषु कुत्सितेषु देवेषु उपपद्यते ॥१८६॥

भावनानां फलं दर्शयति भयोपजननाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराघओ देवदुग्गदिं लहइ ।

तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं ॥१८७॥

'एवाहिं भावणाहिं य' एताभिः भावनाभिः । 'देवदुग्गइं लहविं' देवेषु दुष्टा या गतिस्ता गच्छति । 'विराघओ' रत्नत्रयाच्युत । 'तत्तो चुदो समाणो' तस्या देवदुर्गतेष्व्युत सन् । 'भमिहिदि' भ्रमिष्यति भवसागरमन्तातोत ॥१८७॥

एदाओ पंच वि वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो ।

पंचसंभदो तिगुत्तो णिस्संगो सच्चसंगेसु ॥१८८॥

'एदाओ पंच वि वज्जिय' एता पञ्च भावना परित्यज्य 'इणमो' अयं यतिः धीरः । 'छट्ठीए' पण्ठया भावनायाः । 'विहरदे' प्रवर्तते । पण्ठया भावनायाः प्रवर्तितु एवभूतो योग्य इत्याचष्टे—'पंचसमिदो' मग्निपञ्च कर्तृन् । 'तिगुत्तो' गुप्तत्रयालकृत । 'णिस्संगो' मगरहित । 'सच्चसंगेसु' सर्वपरिग्रहेषु ॥१८८॥

का सा पण्ठीभावना ? अत्राचष्टे—

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणा चैय ।

धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥१८९॥

उस मार्गको दूषण लगाना । यथा—ज्ञानमे ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्र्यसे क्या लाभ । अथवा चारित्र्य ही मोक्षका उपाय है, ज्ञानको आवश्यकता नहीं है । ऐसा कहनेवाला मार्गका दूषक होता है । अथवा मार्गका ज्ञान कर्गनेवाला श्रुतमार्ग हे उसका जो दूषक है—मिथ्या व्याख्यान करता है । 'मग्विष्पिण्डिवणी'—रत्नत्रयात्मक मार्गमें विप्रतिपन्न है । यह मुक्तिका मार्ग नहीं है ऐसा मानकर उसके विरुद्ध आचरण करता है और मोह अर्थात् सशय विपर्ययरूप अज्ञानसे मोहित है । वह तीव्रकामी और रागी नीच देवोमे उत्पन्न होता है ॥१८६॥

भय उत्पन्न करनेके लिये भावनाओंका फल बतलाते है—

गा०—रत्नत्रयसे च्युत हुआ व्यक्ति इन भावनाओसे देवोमे जो दुष्टगति है उसे प्राप्त करता है । उस देवदुर्गतिसे च्युत होकर अन्तरहित ससार समुद्रमें भ्रमण करता है ॥१८७॥

गा०—इन पाँचों ही भावनाओको त्याग कर यह धीर यति छठी भावनामे प्रवृत्त होता है । जो पाँच संमत्तियोंको पालता है, तीन गुप्तियोंसे सुशोभित है और सब परिग्रहोमें आसक्ति रहित है । अर्थात् छठी भावनामे प्रवृत्त होनेके योग्य ऐसा यति ही होता है ॥१८८॥

छठी भावनाको कहते हैं—

'तवभावणा' तपसोऽभ्यास' । 'सुवभावणा' ज्ञानस्य भावना । 'सप्तभावणा' अभीकृत्यभावना । 'एकत्व-  
भावणा' एकत्वभावना । 'धृतिबलविभावणावि य' धृतिबलभावना चेति । 'असकिल्ष्टावि पंचविहा'  
असकिल्ष्टा भावनाः पञ्चप्रकाराः । ननु च ता पञ्चभावनास्तत्र किमुच्यते 'छद्मो य भावणा चेति' अस-  
किल्ष्टभावनात्वसाम्यापेक्षया एकतामारोप्य षष्ठीस्युच्यते । विशेषरूपापेक्षया तपोभावनादिविवेक । अत एव  
सूत्रकारोऽपि एकता दर्शयति असकिल्ष्टा वि पंचविहा' इति ॥१८९॥

तपोभावना समाधे कथमुपाय इत्यत्राचष्टे—

तवभावणाए पंचेदियाणि दंताणि तस्स वसमेति ।

इंद्रियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ ॥१९०॥

'तवभावणाए' तपोभावनया असकृद्गनत्यागेन द्रव्यभावरूपेण । 'पंचेदियाणि' पञ्चापि इन्द्रियाणि ।  
'तस्स' तपोभावनागतस्य । 'वसमेति' वशमुपयान्ति । 'यतो' यस्मात्, 'दंताणि' दान्तानि निगृहीतदर्पाणि ।  
'इवियजोगायरिओ' इन्द्रियाणां शिक्षाविधाय्याचार्योऽसौ । 'समाधिकरणाणि' रत्नत्रयसमाधानक्रिया । 'सो' स,  
'कुणइ' करति । एतदुक्तं भवति । दान्तानि इन्द्रियाणि तपसा न कामरागमस्यानयन्ति । क्षुधादिभिस्त्व-  
दुतात्मा न वामलोचनामुरतक्रीडावी करोत्यादरमिति प्रतीतमेव । ननु चानक्षमादौ प्रवृत्तस्याहारवर्षने तत्राति-  
श्रवणे तदपेक्षाया चादरो नितान्तं प्रवर्तते ततोऽयुक्तमुच्यते तपोभावनया दान्तानीन्द्रियाणीति । इन्द्रियविषय-

गा०—असकिल्ष्ट अर्थात् संकलेशरहित भावना भी पाँच प्रकारकी है—तप भावना,  
श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्वभावना और धृतिबल भावना ॥१८९॥

टी०—तपका अभ्यास तप भावना है । ज्ञानकी भावना श्रुतभावना है । निर्भयताकी  
भावना सत्त्व भावना है । एकत्व भावना और धृतिबल भावना ये पाँच असकिल्ष्ट भावना है ।

शंका—ये तो पाँच भावना है तब छठी भावना कैसे कहा ?

समाधान—असकिल्ष्ट भावनापना इन सबमे समान है, इस अपेक्षा इनमे एकत्वका आरोप  
करके छठी भावना कहा है । विशेषकी अपेक्षा तपो भावना आदि भेद होता है । इससे ग्रन्थकार  
भी 'असकिल्ष्टा वि पंचविहा' लिखकर एकताको बतलाने है ॥१८९॥

तपभावना समाधिका उपाय कैसे है यह कहते हैं—

गा० द्रव्य और भावरूप तपकी भावनासे पाँचो इन्द्रियाँ दमित होकर उस तप भावना-  
वालके बशमे हो जाती है । इन्द्रियोंकी शिक्षा देनेवाला वह आचार्य रत्नत्रयका समाधान करने-  
वाली क्रियाएँ करता है ॥१९०॥

टी०—इसका भाव यह है कि तपसे दमित इन्द्रियाँ साधुमे कामराग उत्पन्न नहीं करती ।  
जो भूख आदिसे पीड़ित है वह स्त्रीके साथ रतिक्रीडा आदि करनेमे रुचि नहीं रखता यह प्रसिद्ध  
ही है ।

शङ्का—जो उपवास आदि करता है उसका आहारके देखनेमे, आहारकी चर्चा सुननेमे  
और उसके सेवनमे अत्यन्त आदर होता ही है । अतः यह कहना अयुक्त है कि तप भावनासे  
इन्द्रियाँ दमित होती हैं ?

रागकोपपरिणामाना कर्माश्रवहेतुतया अहितत्वप्रकाशनपरिज्ञानपुर.सरतपोभावनाया विषयमुखपरित्यागाम्भकेन अनशानादिना दान्तानि भवन्ति इन्द्रियाणि । पुनः पुनः सेव्यमानं विषयमुखं राग जनयति । न भावनान्तरान्त-  
हितमिति मन्यते ॥१९०॥

तपोभावनारहितस्य दोषमाचष्टः उत्तरप्रबन्धेन सदृष्टान्तोपन्यासेन—

**इदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराजियपरस्सो ।**

**अकदपरियम्म कीवो मुज्झदि आराहणाकाले ॥१९१॥**

'इदियसुहसाउलओ' इन्द्रियमुखस्वादलम्पटो । 'घोरपरीसहपराजियपरस्सो' परीषहे घोरं दुःसहं क्षुदादिभिः पराजितोऽभिभूतं सन् यः पराङ्मुखता गतो रत्नत्रयस्य । 'अकदपरियम्म कीवो' अकृत परिकर्मं तपआराधनाया येनासौ अकृतपरिकर्मा । 'कीवो' दीनः । 'मुज्झदि' मुह्यति विचिन्ततामप्यनिति । 'आराहणा-  
काले' आराधनाया काले ॥१९१॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

**जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं ।**

**रणभूमिए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥१९२॥**

'जोग्गमकारिज्जंतो' वायुचालनभ्रमणलङ्घनादिका शिक्षा अकार्यमाणः । 'अस्सो' अद्यः । 'सुहलालिओ' मुखलालितः । 'चिरं कालं रणभूमिए' युद्धभूमौ । 'वाहिज्जमाणो' बाह्यमाणः । 'जह ण कज्जयरो' यथा कार्यं न करोति तथा यतिरपि ॥१९२॥

सुगमत्वान्न व्याख्यायते गाथात्रयम् तत्रभाषणा—

**पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तद्वा मरणकाले ।**

**ण भवदि परीसहसहो विसयसुहे मुच्छिदो जीवो ॥१९३॥**

समाधान—इन्द्रियके विषयमे होनेवाले राग द्वेषरूप परिणाम कर्मके आश्रवमे हेतु होते हे इसलिये वे अहितकारी है । इस परिज्ञानपूर्वक तपोभावनासे किये गये अनशन आदिसे जो कि विषय मुखके परित्यागरूप है, इन्द्रियाँ दमित होती है । बार बार सेवन किया गया विषय मुख रागको उत्पन्न करता है । किन्तु भावनासे दमित हुआ नहीं करता ॥१९०॥

जो तपभावनासे रहित है उसका दोष दृष्टान्तपूर्वक आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जो इन्द्रिय मुखके स्वादमे आसक्त है, भूख आदिकी दुःसह परीषहोसे हारकर रत्नत्रयसे विमुख हुआ है, जिसने परिकर्म-आराधनाके योग्य तप नहीं किया है वह दीन आराधना के कालमे विचिन्त हो जाता है उसका मन इधर-उधर भटकता है ॥१९१॥

इसमे दृष्टान्त देते हैं—

गा०—जैसे जिस घोड़ेको शब्दके सकेत पर चलने, भ्रमण, लंघन आदिकी शिक्षा नहीं दी गई है और चिरकाल तक मुखपूर्वक लालन पालन किया गया है वह घोड़ा युद्धभूमिमे सवारीके लिये ले जाया गया कार्य नहीं करता वैसे ही यति भी जानता ॥१९२॥

आगेकी तीन गाथाएँ सुगम हैं अतः उनकी टीका नहीं है—

योगं कारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदो चिरं कालं ।  
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्ज ॥१९४॥  
पुच्चं कारिदजोगो समाधिकामो तथा मरणकाले ।  
होदि हु परीसहसहो विसयसुहपरम्महो जीवो ॥१९५॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं प्रकटयति—

सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ ।

तो उवओगपइण्णा सुहमच्चविदो समाणेइ ॥१९६॥

'सुदभावणाए'—श्रूयते इति श्रुतमित्यस्या व्युत्पत्तौ शब्दश्रुतमुच्यते । तस्य भावना नाम तदर्थविषय-  
ज्ञानासकृत्प्रवृत्तिः । ननु शब्दश्रुतस्यासकृत्पठनं श्रुतभावना स्यात्, जान ततोऽर्थान्तरं ? अत्रोच्यते—श्रुतकार्ये  
ज्ञाने श्रुतशब्दो वर्तते इति । न दोषो वा । गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तावपि नाशब्दादौ गोशब्दो वर्तते । किन्तु  
रूढिवशात्सास्नादिमत्वेव । एवमिहापि श्रूयते इति व्युत्पादितोऽपि न सकले श्रोत्रोपलभ्ये वचनसन्दर्भे प्रवर्तते,  
अपि तु स्वयमयंरूढिवशाद् गणधरोपरचिते एव । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्ते ज्ञाने एव वर्तते ।  
तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । 'णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ' समीचीनज्ञानदर्शनतप समयपरिणति

गा०—जिसने पूर्व कालमे तप नही किया और विषय सुखमे आगमकत रहा वह जीव मरते  
समय समाधिकी कामना करता हुआ उस प्रकार परीषहको सहन करनेवाला नहीं होता ॥१९३॥

गा०—जैसे योग्य शिक्षाको प्राप्त अश्व चिरकाल तक दुखसे भावित हुआ, अर्थात् कष्ट  
सहनेका अभ्यासी युद्धभूमिमे सवारीमे ले जाने पर कार्य करता है ॥१९४॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमे तप करनेवाला विषय सुखसे विमुख जीव मरते समय समाधिका  
इच्छुक हुआ निश्चयसे परीषहको सहनेवाला होता है ॥१९५॥

श्रुतभावनाका माहात्म्य प्रकट करते है—

गा०—श्रुतभावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और समयमरूप परिणमन करता है ।  
ज्ञान भावनासे उपयोगकी प्रतिज्ञाको मुखपूर्वक अर्चलित होता हुआ समाप्त करता है ॥१९६॥

टी०—'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है 'ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर श्रुतसे शब्दश्रुत  
कहा जाता है । उसकी भावनाका मतलब है—शब्दके अर्थविषयक ज्ञानमे बार-बार प्रवृत्ति करना  
अर्थात् उसका अभ्यास करना श्रुतभावना है ।

शका—शब्दरूप श्रुतका बार-बार पठना श्रुतभावना है । ज्ञान उससे भिन्न है ?

समाधान—श्रुतका कार्य ज्ञान है अतः उसे भी श्रुतशब्दसे कहते हैं । इसमे कोई दोष  
नहीं है । जो 'गच्छति' चलती है वह गौ है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी अश्व आदिको 'गौ' शब्दसे  
नहीं कहा जाता । किन्तु रूढिवश गलकम्बलवाले पशुको ही गौ कहा जाता है । इसी प्रकार  
यहाँ भी 'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी कानसे जो कुछ वचन  
समूह सुना जाता है उस सबको श्रुत नहीं कहते । किन्तु अपनी आगमिक रूढिवश गणधरके  
द्वारा रचे गये शब्दसमूहको ही श्रुत कहते है । उसी प्रकार श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्त-  
से होनेवाले ज्ञानको ही श्रुत कहते है । उस श्रुतज्ञानकी भावनासे समीचीनज्ञान दर्शन तप और

प्रतिपद्यते । ज्ञानभावनापरणे ज्ञानपरिणतो भवतु कथमसौ दर्शनादौ परिणामान्तरं प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोध-परिणतो मायाया प्रवृत्तो भवतीति चेन्नैव दोषः । यद्वाह्नन्तरीयकं तस्मिन्मति तद्भवत्येव तदधिकरणे यथा कृतकत्वेऽनित्यत्वं । ज्ञान चान्तरं न भवन्ति सम्यग्दर्शनादयः । अत्रेदं बोधः—असयतसम्यग्दृष्टेरस्ति ज्ञानं तस्य तप सयमौ किमुत स्त ? सयमसद्भावे कथमसयतता ? तस्मान्न तौ स्त । कथमिदं सूत्रं ? नायमस्य सूत्र-स्थार्थो ज्ञानभावनाया मृत्या भवत्येव सर्व एव इति, किन्तु ज्ञानभावनाया सत्यामेव भवन्ति नासत्याम् । तप-सयमौ कार्यत्वेन स्थितौ चारित्र्यमोहक्षयोपशमविशेषसहायापेक्षिणा ज्ञानेन प्रवर्त्येते, न चावश्य कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति । धूममजनयतोऽयग्नेर्दर्शनात् काण्डाद्यपेक्षस्य । 'तो' तत ज्ञानभावनात् । 'उच्यते' अत्रेति । 'समाप्ते' ज्ञानदर्शनतप सयमपरिणामप्रबन्धे प्रवर्तयाम्यात्मान इति या उपयोगप्रतिज्ञा ता । 'सुहृ' अक्षरं ज्ञानं । 'समाप्ते' समापयति । 'अच्छविदो' अच्छलित ॥१९६॥

### जदणाए जोगपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स । सदिलोवं कादं जे ण चर्यांत परीसहा ताहे ॥१९७॥

'जवणाए' यत्नेन । 'जोगपरिभाविदस्स' युज्यते अनन अनशनादिना निर्जरार्थं यतिरिति बाह्य तप मयमरूप परिणतिको प्राप्त होता है ।

शका—जो ज्ञानभावनामे लीन है वह ज्ञानरूप परिणत होता है किन्तु वह दर्शन आदि अन्य परिणामरूप परिणत कैसे हो सकता है ? जो क्रोध रूपसे परिणत है वह मायारूपसे परिणत नहीं हो सकता ?

समाधान—यह दोष उचित नहीं है । जो जिसके बिना नहीं होता वह उसके होनेपर अवश्य होता है । जैमं जो बनाया हुआ है वह अनित्य अवश्य है । ज्ञानके बिना सम्यग्दर्शन आदि नहीं होते ।

शका—यहाँ यह तर्क होता है कि असयत सम्यग्दृष्टिके ज्ञान है तब क्या उसके तप और मयम है ? यदि सयम है तो वह असयत कैसे है ? अतः उसके तप और सयम नहीं है ? तब यह सूत्रगाथा कैसे ठीक है ?

समाधान—इस सूत्रगाथाका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानभावनाके होनेपर सब तप सयम आदि होते ही है । किन्तु ज्ञानभावनाके होनेपर ही होते हैं, उसके अभावमे नहीं होते । तप और सयम कार्य है अतः चारित्र्यमोहके क्षयोपशम विशेषकी अपेक्षा सहित ज्ञानके होनेपर होते हैं । कारणके होनेपर कार्य अवश्य होता ही है ऐसा नियम नहीं है । काष्ठ आदिकी भाग बिना धूमके भी देखी जाती है ।

ज्ञानभावनासे उपयोग प्रतिज्ञाको बिना क्लेशके अच्छल होकर समाप्त करता है—पूर्ण करता है । 'मै ज्ञान दर्शन तप सयमरूप परिणामोमें अपनेको प्रवृत्त करता हूँ' यह उपयोग प्रतिज्ञा है ॥१९६॥

गा०—तब यत्नेसे अपनेको तपसे भावित करनेवालेके तथा जिनागमके अनुगत चित्तवाले-के स्मृतिका लोप करनेमे परीषद समर्थ नहीं होती ॥१९७॥

टी०—यति निर्जरारके लिए इस अनशन आदिसे 'युज्यते' युक्त होता है वह योग है । इस

योगशब्देनात्रोच्यते । तेनायमर्थः । तपसा भावितस्येति । 'जिणवयणमणुगवमणस्स' जिनवचनानुगतचेतसः । 'सदिल्लोभं' स्मृतिलोपः । रत्नत्रयपरिणामप्रबन्धसम्पादनोद्योगस्य स्मृतिर्या तस्या विनाशः । 'काउंजे' कर्तुः । 'न चर्यति न शकनुवन्ति । के ? परिस्सहा' क्षुदादिवेदना । 'ताहे' तदा । एतदुक्तमनया गाथया—अभ्यस्यमान श्रुतज्ञान निर्मल पटोयो भवति । पाटवाभ्यासबलेन च स्मृतिरखे देन प्रवर्तते । स्मृतिमूली हि योगो वाक्काय-व्यापार इति । सुब गर्बं ॥१९७॥

सत्त्वभावनाया गुणं स्तौति उत्तरगाथया—

देवेहिं भीसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं ।

तो सत्त्वभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥१९८॥

बहुसो वि जुद्धभावणाय ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ।

तह सत्त्वभावणाए ण मुज्झदि सुणी वि उवसग्गे ॥१९९॥

'देवेहिं' देवैस्त्रासितोऽपि । खू स्फुट । कृतापराधोऽपि भीमरूपं । वा अथवा । तो ततः । सत्त्वभाव-  
नया मोहदुःखात् । 'बहइ भरं णिब्भओ सयलं' वहति भरं सयमस्य निर्भयं मकलं । मृतेर्भीमरूपदर्शनाच्च  
भीनिरूपजायते । भीतस्य प्रच्युतरत्नत्रयस्य तदतिदुरवापः । तदनवाप्त्या न कर्म निर्मूलनं शक्यं कर्तुं । अना-

व्युत्पत्तिके अनुसारं यहाँ योग शब्दसे बाह्य तप कहा है । अतः 'जोगपरिभाविदस्स' का अर्थ तपसे  
भावित होता है । जो यत्नपूर्वक तप करता है और अपने चित्तको जिनागमका अनुसारी बनाता  
है उसकी स्मृतिका—अर्थात् रत्नत्रयरूप परिणामोंके प्रबन्ध सम्पादनमें उद्योग करनेकी जो  
उसकी स्मृति है कि मुझे रत्नत्रयरूप परिणामोंको सम्पन्न करनेमें उद्योग करना है उस स्मृतिक  
लोप परीषह नहीं कर सकती । इस गाथासे यह कहा है कि सतत अभ्यास करनेसे श्रुतज्ञाना  
निर्मल और प्रबल होता है । प्रबल अभ्यासके बलसे स्मृति विना खेदके अपना काम करती है ।  
योग अर्थात् वचन और कायके व्यापारका मूल स्मृति है ॥१९७॥

श्रुतभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

आगेकी गाथासे सत्त्वभावनाके गुणका कथन करते हैं—

गा०—देवोके द्वारा पीडित किया गया भी अथवा भयकर जीवोके द्वारा सताया गया  
यति सत्त्वभावनाके द्वारा दुःख सहन करनेसे निडर होकर सयमके समस्त भागको वहन करता  
है ॥१९८॥

टी०—मरणसे और भयकररूपके देखनेसे भय उत्पन्न होता है । डरकर यदि रत्नत्रयको  
छोड़ बैठा तो पुनः उमकी प्राप्ति बहुत कठिन है । और रत्नत्रयको प्राप्त किये विना कर्मका  
निर्मूलन करना शक्य नहीं है । तथा कर्मोंका विनाश न होनेपर वे आत्माको नाना प्रकारके कष्ट  
देते हैं । इसलिए भय ही अनेक अनर्थोंका मूल है ऐमा निश्चय कर्के सबसे पहले भयको ही  
भगाना चाहिए ॥१९८॥

गा०—अनेक प्रकारकी भी युद्ध सम्बन्धी भावनासे जैसे योद्धा युद्धमें नहीं ही मोहित  
होता अर्थात् युद्धसे नहीं डरता । वैम ही मुनि भी सत्त्वभावनासे उपसर्ग आनेपर मोहित नहीं  
होता ॥१९९॥

सावितप्रलयानि च कर्माणि विचित्र यातयन्त्यात्मान । ततो भीतिरेवानेकानर्धमूर्त्तमिति निश्चरय सा प्राग्नेव निरसनीया । तथाहि—॥१९९॥

खण्णुत्तावणवालणवीयणविच्छेयणावरोहत्तं ।

चिंतिय दुह् अदीहं मुज्झदि णो सत्तभावदो दुक्खे ॥२००॥

बालमरणाणि साहू सुचिंतिदूणप्पणो अणंताणि ।

मरणे समुट्ठिण्णि विहि मुज्झिह् णो सत्तभावणाणिरदो ॥२०१॥

पृथ्वीकायिका मन् खननबहनविलेखनकूटनभञ्जनलोठनपेषणचूर्णनाविभिर्बाषां परिप्राप्तोऽस्मि ।

अपश्च शरीरत्वं नोपादाय धर्मरश्मिकरनिकरापातेन, दहनज्वालाकलापकवलिततनुतया पर्वतदरीसमुन्मत-  
देशोभ्योऽतिवेगेन शिलाघनवसुंधरासु पतनेन, आम्ललवणक्षारादिरससमवेतद्रव्यसन्निमेषणेन, धगधगायमानेज्जनी  
प्रक्षेपणेन, तरुतटशिलापातेन पादकरतलाभिघातेन, तरणोद्यताना विशालघनोर स्थलावपीडनेन, अवलोकमान-  
महानागतरणमञ्जनहस्तस्रोभणादिना व महती वेदना अधिगतोऽस्मि ।

तथा समीरण तनुतया परिगृह्य द्रुमगुल्मशिलोच्चयादीना प्राणभृता नितान्तकठिनकायाणा चाभिघातेन  
समीरणान्तगावमर्द्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दुःखासिकामनुभूतोऽस्मि ।

तथा परिगृहीताग्निगंगीरे विध्यानेन पानुभस्मसिकतादिप्रक्षेपणेन, मृशलाभजलधारापातेन, दण्ड-  
काठादिभिस्ताडनेन, लोष्ठपापागादिभिश्चर्गनेन प्रभञ्जनभञ्जनेन विपद्वाभितोऽस्मि ।

फलपलाशफलवकुसुमादिकाय स्वोक्तस्य श्रोतनभक्षणमदनपेषणदहननादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिक

गा०—खोदना, जलना, बहना छदना, रोपनाको विचारकर सत्त्वभावनायुक्त मुनि दुःखमे  
अल्पकालीन दुःखसे मोहित नहीं होता अर्थात् नहीं डरता ॥२००॥

गा०—सत्त्वभावनामे लीन माधु अपने अनन्त बालमरणको सम्यकरूपसे विचारकर  
मरणके उपस्थित होनेपर भी मोहित नहीं होता ॥२०१॥

टी०—पृथ्वीकायमे जन्म लेकर मैने खोदने, जलने, जोतने, कूटने, तोड़ने, लोठने, पीसने  
और चूर्णकी तरह पीसे जानेका कष्ट उठाया है । जलको शरीररूपसे ग्रहण करके मैने सूर्यकी  
किरणोंके समूहके गिरनेसे, आगकी ज्वालाके समूहके द्वारा मेरे शरीरको निगल लेनेसे, पर्वतकी  
गुफा जैसे ऊँचे स्थानोंसे शिला और कठोर पृथिवी पर अतिवेगसे गिरनेसे, खट्टे, नमकीन, खारे  
आदि रसोंसे युक्त द्रव्योंके मिलनेसे, धक्-धक् जलती हुई आग पर फेकनेसे, वृक्ष, फिनारे और  
शिलाओंके गिरनेसे, पेर और हथेलीके अभिघातसे, तरनेमे उद्यत मनुष्योंके विशाल और दृढ  
छातीसे पीड़ित होनेसे, विशालकाय हाथियोंके तरने डूबने और सूडके द्वारा क्षोभित होनेसे मैने  
बड़ी वेदना भोगी है । तथा वायुको शरीररूपसे ग्रहण करके वृक्ष, झाड़ी, पर्वत आदि प्राणियोंको  
अत्यन्त कठोर कायाके अभिघातसे, दूसरी वायुके द्वारा दबाये जानेसे, और आगके स्पर्शनसे मैने  
दुखोंका अनुभव किया है । तथा अग्निको शरीररूपसे ग्रहण करके बुझानेसे, धूल भस्म रेत आदि  
मेरे ऊपर फेकनेसे, मूसल जैसी जलधारा डालनेसे, दण्ड काष्ठ आदिसे पीटनेसे, लोष्ठ पत्थर आदि  
से चूर्णित करनेसे और वायुसे पीड़ित होनेसे मैं विपत्तियोंका स्थान बन चुका हूँ । फल, पलाश,  
पत्र, फूल आदिके शरीरको स्वीकार करके तोड़ना, खाना, मलना, पीसना और जलाने आदिसे

तनुकृत्य छेदनेन, भेदनेनोदराटनेन, रोहणेन, कर्षणेन, दहनेन च क्लेशभाजनतामुपयातोऽस्मि ।

तथा कुण्डुपिपीलिकादित्रयो भूत्वा वेगप्रयायिग्रथचक्राक्रमणेन, खरतुरगादिपुरुषखुरमस्ताडनेन, जल-  
प्रवाहप्रकर्षणेन, दावानलेन, हृमपाषाणादिपतनेन, मनुजचरणावमर्दनेन, बलवता भक्षणेन च चिर क्लिष्टोऽस्मि ।

तथा खरकरभ्रंशलोचदोर्दिभावमापद्य गुह्यतरभारारोपणेन, बन्धनेन, कर्कशतरकशादण्डमुशलादिताड-  
नेनाहारनिरोधनेन, शीतोष्णवातादिसपानेन, कर्णच्छेदनेन, दहनेन, नासिकावेधनेन, विदारणेन, परश्वादिनि-  
क्षितासिधाराप्रहारेण चिरमुपद्रुतोऽस्मि । तथा भयनपाद, कृशतया व्याध्यमिभयंन वा पतित इतस्तत परा-  
वर्त्यमान, क्रूरतमव्याघ्रशृगालसारमेयादिभिर्भक्ष्यमाण, कारुगुध्रकङ्कादिभिः कवलीक्रियमाण, तरलतरतार-  
काशियुगलं, क्लवातुमासीन् । ततो यतो गुह्यतरभागेद्रह्नजानक्वथितव्रणसमुद्भवकुम्भिकुलेन, वाकादिभिश्चान-  
नारतमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजभवेऽपि करणवैकल्याद्विरिद्रघादसाध्यव्याध्युपानपातात्, प्रियालाभादप्रिययोगात्परप्रेष्यकरणा-  
दपरपराभवात्, द्रविणार्जनाशया दुष्करकर्मदानमूलपट्कर्मोद्योगाच्च, विचित्रा विपदमुगतोऽस्मि ।

तथैवामरभवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभो प्रस्थानवेला वर्तते, प्रयाणगटह ताडय, ध्वज धारय,  
हृत्साशदेवीजन पालय, तिष्ठ स्वामिनोऽभिलषितेन वाहनरूपेण, नि विस्मृतोऽस्य नैतन्पुण्यपण्यशतमखस्य दासि-  
रता यत्तूष्णी तिष्ठसि । पुगे न धावसीति देवमहत्तरपरुवनरभारतीशलाकाना श्रवणतोदनेन शतमुखान्त-

तथा झाडी, बेल, वृक्ष आदिको छेदने, भेदने, उखाडने, खीचने और जलानेसे मैं क्लेशका पात्र  
बना हूँ ।

तथा कुण्डु चीटी आदि त्रस पर्यायको धारण करके वेगसे जाते हुए रथके पहियेके आक्रमण-  
से, गंधे घोड़े आदिके कठोर खुरके आघातसे, जलके प्रवाहके खिचावसे, जगलकी आगसे, वृक्ष, पत्थर  
आदिके गिरनेसे, मनुष्यके चरणोंसे गैदे जानेसे और बलवानोके द्वारा खाये जानेसे मैंने चिरकाल  
तक कष्ट भोगा है । तथा गधा ऊँट बैल आदिका शरीर धारण करके भारी बोझा लादनेसे,  
सवारी करनेसे, बाँधनेसे, अत्यन्त कठोर कोड़े, दण्डे, और मूसल आदिसे पीटनेसे, भोजन न देनेसे,  
शीत उष्ण वायु आदिके चलनेसे, कान छेदनेसे, जलानेसे, नाक छेदनेसे, परशु आदिसे काटनेसे,  
तीक्ष्ण तलवारकी धारके प्रहारसे मैंने चिरकाल उपद्रव सहे है । तथा पैर टूट जाने पर, कमजोर  
होनेसे अथवा रोगसे पीड़ित होनेसे गिर पडने पर, इधर-उधर घूमने पर अतिक्रूर व्याघ्र, सियाग,  
कुत्ते आदिसे खाये जाने पर, कौबे, गिद्ध, कक आदि पक्षियोंके द्वारा अपना आहार बनाये जाने पर,  
आखोसे आँसू बहाते हुए भी कौन मेरी रक्षा करता था । अतः भारी बोझा लादनेमें उत्पन्न हुए धावो  
मे पदा हुए कोटोसे और उनको खाने वाले कौबोस में निरन्तर सताया गया हूँ । तथा मनुष्यभवमे  
भी इन्द्रियोंकी कमी होनेसे, शरीरबीसे, असाध्य रोगके होनेसे, इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, अप्रियके संसर्गसे  
दूसरेकी चाकरी करनेसे, दूसरेके द्वारा तिरस्कृत होनेसे, धन कमानेकी इच्छासे दुष्कर कर्मबन्धके  
कारण घट्कर्मोंको करनेसे अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको मैंने भोगा है । उसी प्रकार देवपर्यायमें  
भो—दूर हटो, जल्दी चलो, स्वामीके प्रस्थान करनेका समय है । प्रस्थान करनेके नगारे बजाओ,  
ध्वजा लो, निराश देवियोंको देखभाल करो, स्वामीको इष्ट वाहनका रूप धारण करके खड़े रहो,  
क्या अति पुण्यशाली इन्द्रकी दासताको भूल गये जो चुपचाप खड़े हो, आगे नही दौडते । इस



पूरादभ्रविभ्रमविलोकनोद्भूताभिलाषदहनजनितमन्तापेन षण्मासावस्थितेरायुष परिज्ञाने च महदुवपादि दुःखं । एवं नरकमवेपि । इत्यमन्तकालमनुभूतदुःखस्य मम को विधादो, दुःखोपनिपाते । न च विपणं त्यज्जित्तु दुःखानि, स्वकारणायत्तसन्निधानानि तानीति सत्त्वभावना । यद्यशुभशरीरदर्शनाद् भीति सापि नो युक्ता । तानि शरीराणि असकृन्मया गृहीतानि वृष्टानि च । का तत्र परिचितेत्यो भीतिरिति चित्तस्थिरीक्रिया सत्त्वभावना ॥२०१॥

**एयत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।**

**सज्जह वेरगमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥२०२॥**

एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणवृत्तिजनितदुःखानुभवने न दुःख मदीय संविभजति कश्चित् । दुःखसंविभजनगुणेन स्वजन इत्यनुराग तदकरणेन च परजन इति च द्वेषो युज्यते । न चेदस्ति मुख मय्याघातुमशम इति न तत्सुखेनापि स्वजनपरजनविषेक । तस्मादेक एवाह न मे कश्चित् । नाप्यह कस्यचिदिति चिन्ता कार्या । तस्या गुणमात्रेण 'एयत्तभावणाए' एकत्वभावनया हेतुभूतया । 'न सज्ज वि' नासक्ति करोति । क्व ? कामभोगे, गणे शिष्यादिवर्गे, शरीरे वा सुखे वा । कामं स्वच्छया भुज्यन्ते इति कामभोगा । मुखमाधनतया मकल्पिनभक्तपानादयो वामलोचनादिवर्गश्च तत्र न सगं करोति । बाह्यद्रव्यसंसर्ग-

प्रकार देवोके प्रधानोके अति कठोर वचन रूपी कीलोसे कानोके छंदनेसे, इन्द्रके अन्तपुरकी देवांगनाओके प्रचुर विलासको देखकर उत्पन्न हुई ऐसी सुन्दर देवागनाओकी अभिलाषारूपी आगसे उत्पन्न हुए सतापसे, और आयुके छह मासके शेष रहनेके परिज्ञानसे महान दुःख होता है । इसी प्रकार नरक पर्यायमे भी जानना । इस प्रकार मैने अनन्तकाल दुःखका अनुभव किया है । तब दुःख आने पर विवाद क्यों ? विवाद करनेसे दुःख छोड़ता नहीं है । दुःख तो अपने कारणोके होनेसे होता है । यह सत्त्वभावना है । यदि अशुभ शरीरके देखनेसे भय होता है तो वह भी ठीक नहीं है । ऐसे शरीर मैने बहुत बार धारण किये हैं और देखे हैं । परिचितोमे भय कैसा ? इस प्रकार चित्तको स्थिर करना सत्त्वभावना है ॥२०१॥

गा०—एकत्व भावनासे कामभोगमे, सधमे अथवा शरीरमे आसक्ति नहीं करता । वैराग्यमे मन रमाये हुए सर्वोत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है ॥२०२॥

टी०—एकत्व भावनाका स्वरूप इस प्रकार है—जन्म, जरा, और मरणके बार-बार होनेसे उत्पन्न हुए दुःखको भोगनेमे कोई मेरे दुःखमे भाग नहीं लेता । अतः दुःखमे भाग लेनेसे यह स्वजन है इसलिए उसमे अनुराग और जो दुःखमे भाग नहीं लेता वह परजन है इसलिए उससे द्वेष करना उचित नहीं है । यदि कोई दुःखमे भाग नहीं लेता तो मुझमे सुख ही पैदा करदे सो भी बात नहीं है । अतः जो मुझमे सुख पैदा करे वह स्वजन है और जो सुख पैदा नहीं करता वह परजन है ऐसा भेद सुखको लेकर भी नहीं होता । अतः मे अकेला ही हूँ । कोई मेरा नहीं है । और न मे ही किसीका हूँ ऐसा विचार करना चाहिए । उसका लाभ कहते हैं कि एकत्व भावनासे काम भोगमें, शिष्यादिके समूहरूप गणमे, शरीर अथवा सुखमे आसक्ति नहीं होती ।

'काम' अर्थात् अपनी इच्छासे जो भोगे जाते हैं वे कामभोग हैं । सुखका साधन होनेसे मनमें संकल्पित खान-पान आदि और स्त्री आदि वर्ग कामभोग हैं । उसमे वह आसक्ति नहीं

अनिता प्रीतिविशेषा सुखशब्दवाच्यास्ते तृष्णामेवातिशयवती आनयति चेतोव्याकुलकारिणी, न चैत स्वास्थ्य सपादयितुमीष्टा इति । न तु उपयोग्या कामभोगा, रत्नत्रयसपत्तिरेव जनस्योपयोगिनी, न तथा भोगसपदास्माकं किञ्चिदस्ति कृत्य । मदीयपरिणामावलद्विनी हि बन्धमोक्षी मम । तत कि तेन गणेन । शरीरमप्यकिञ्चित्कर । न चैकर्मणि किञ्चित्कृत्युः । बाह्य जीवाजीवात्मक द्रव्य रागकोपनिमित्त, इदमुपकारकमनुपकारकमिति वा सकल्पमान नान्यथा । तत सकल्पमीदृग्भूत विहाय शुद्धात्मस्वरूपज्ञानपरिणामप्रबन्ध असहाय्यात्मस्वरूपविषय इति एकत्वभावनोच्यते । सत्यामस्या न क्वचित्सङ्ग 'तत वैराग्यवो' वैराग्यमुपगत । 'कासैह' स्पृशति । 'अणुत्तरं धम्मं' अतिशयित चारित्रं । एतेन ससारबीजस्य सङ्गस्य निवृत्तिरशेषकर्मपायहेतोश्चारित्रस्य च लाभो गुण एकत्वभावनाजन्य इत्याख्यात भवति । एकत्वभावना मोहमज्ञानरूप अप्यपनयति यथा जिनकल्पिको निरस्तमोह मवृत् ॥२०२॥

**भयणीए विधम्भिज्जंतीए एयत्तभावणाए जहा ।**

**जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तथेव ॥२०३॥**

यथा जिनकल्पिको जिनकल्पक प्रपन्नो नागदत्तो नाम मुनिर्मगिन्यामयाग्य कारयन्त्यामपि एकत्वभावनया । 'ण मूढो' मोह न गत । तथैव क्षपकोऽपि न मुह्यतीति गाथार्थ । एकत्वभावना ॥२०३॥

पञ्चमी धृतिबलभावना दुःखोपनिपात अकातरता धृति संव बल धृतिबल तस्य भावनाभ्यास असङ्कदातरतया वृत्तिः । तथा धृतिबलभावनया दुःखदपरीषहचम्या युच्यतीति निगदति—

करता । बाह्य पदार्थकि सम्बन्धसे उत्पन्न हुए प्रीति विशेषको सुख शब्दसे कहते है । वे चित्तको व्याकुल करने वाली अति तृष्णाको ही पैदा करते हैं । वे चित्तको स्वस्थ करनेमे समर्थ नहीं है । कामभोग भोगने योग्य नहीं हैं । रत्नत्रयरूप सपत्ति ही मनुष्यके लिए उपयोगी है । उस भोगसम्पदासे हमें कुछ नहीं करना है । मेरे परिणामो पर अवलम्बित बन्ध और मोक्ष ही मेरे है । अत गणसे मुझे क्या ? शरीर भी अकिञ्चित्कर है । यदि ऐसा न होता तो कर्म क्या करते । बाह्य जीव अजीव आदि द्रव्योमे यह उपकारक है और यह उपकारक नहीं है ऐसा सकल्प करनेसे ही रागद्वेष होते है, और सकल्प न करनेसे नहीं होते । इसलिए इस प्रकारका सकल्प त्यागकर शुद्ध आत्म स्वरूपके ज्ञानरूप परिणामोंका प्रबन्ध और परकी सहायतासे रहित आत्म स्वरूपका चिन्तन एकत्व भावना कहाता है । उसके होने पर किसी भी पदार्थमे ममत्व नहीं होता । अत वैराग्य धारण करके उत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है । इसस यह कहा है कि ससारका बीज जो ममत्वभाव है उससे निवृत्ति और समस्त कर्मके विनाशका कारण जो चारित्र है उसकी प्राप्ति एकत्व भावनासे होने वाले गुण हैं । एकत्व भावना अज्ञानरूप मोहको भी दूर करती है । जैसे जिनकली मोहको दूर करते है ॥२०२॥

गा०—जैसे अयोग्य आचरण करनेवाली अपनी बहूने जिनकल्पको धारण करनेवाला नागदत्त नामक मुनि एकत्व भावनासे मोहको प्राप्त नहीं हुआ । वैसे ही क्षपक भी मोहको प्राप्त नहीं होता ॥२०३॥

एकत्व भावना समाप्त हुई । पाँचवी धृतिबल भावना है । उसका अर्थ है दुःख आनेपर कातर नहीं होना । धृति अर्थात् धैर्य ही हुआ बल । उसको भावना अर्थात् अभ्यास, निरन्तर कात-

कसिणा परीसहचमू अम्भुट्ठइ जइ वि सोवसग्गावि ।  
दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥२०४॥

'कसिणा' कुत्सना । 'परीसहचमू' परीषहसेना क्षुदादिद्वारविशतिदुःखपूतनेति यावत् । 'अम्भुट्ठइ' आभि-  
मुख्येनोत्तिष्ठति । 'जइवि' यद्यपि 'सोवसग्गा वि' चतुर्विधेनोपसर्गेण सह वर्तमानापि । 'दुद्धरपहकरवेगा' दुर्धर-  
सकटवेगा । 'अप्पसत्ताणं भयजणणी' अल्पसत्वाना भयजननी ॥२०४॥

धिदिधिणिवदद्धकच्छे जोधेइ अणाइलो तमच्चाई ।  
धिदिभावणाए सूरु संपुण्णमणोरहो होई ॥२०५॥

'तं' ता पूतना । 'जोधेइ' योषयति । कया सह ? 'धिदिभावणाए' धृतिभावनया । क ? 'धिदिधिणि-  
वदद्धकच्छे' धृत्या नितरा बद्धकक्ष । 'सूरु' शूर । 'अणाइलो' अनाकुलो विक्रमवान् । फलमाचष्टे तस्य  
'संपुण्णमणोरहो होई' संपूर्णमनोरथो भवति ॥२०५॥

एयाए भावणाए चिरकालं हि विहरेज्ज सुद्धाए ।  
काऊण अत्तसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥२०६॥

'एयाए भावणाए' एतया पञ्चप्रकारया भावनया सह । 'चिरकालं विहरेज्ज' चिर प्रवर्तते । 'सुद्धाए'  
शुद्धया । 'काऊण' कुत्वा । 'अत्तसुद्धिं' आत्मशुद्धि । 'दंसणणाणे चरित्ते य' रत्नत्रये निरतिचारो भूत्वा ॥२०६॥  
व्यावर्णितभावनामन्तरा सल्लेखनेत्यधिकारसम्बन्धमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खु सल्लेहणं उवक्कमइ ।  
णाणाविहेण तवसा बज्जेणमन्तरेण तहा ॥२०७॥

एवं भावेमाणो 'एवं' उक्तेन प्रकारेण 'भावेमाणो' भावनापर । 'भिक्खु सल्लेहणं' सल्लेखना तनू-  
करण । 'उवक्कमइ' प्रारभते । केन ? 'णाणाविहेण' नानाप्रकारेण । 'तवसा' तपसा 'बज्जेणमन्तरेण तहा'

रता रहित वृत्ति । उस धृति बल भावनासे दु खदायी परीषहकी सेनासे मुनि युद्ध करता है, यह  
कहते हैं—

गा०—दु खदायी संकटके वेग सहित, अल्प शक्तिवालोको भय पैदा करनेवाली भूख आदि  
बाईस परीषहोंकी समस्त सेना जिसके साथमे चार प्रकारके उपसर्ग भी हैं, यदि सम्मुख खड़ी  
हो ॥२०४॥

गा०—धैर्यके साथ दृढतापूर्वक कमरको बाँधनेवाला शूर बिना किसी धवराहटके धृति  
भावनासे उस सेनासे अत्यन्त युद्ध करता है । फलस्वरूप उसका मनोरथ सम्पूर्ण होता है ॥२०५॥

गा०—इस शुद्ध पाँच प्रकारकी भावनासे आत्माकी शुद्धि करके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और  
सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयमे चिरकालतक विहार करना चाहिए ॥२०६॥

भावनाओका वर्णन करनेके अनन्तर सल्लेखना अधिकारके साथ उनका सम्बन्ध कहते हैं—

गा०—उक्त प्रकारसे भावना मानेवाला भिक्षु नाना प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर तपसे  
सल्लेखनाको प्रारम्भ करता है ॥२०७॥

बाह्याभ्यन्तरेण च ॥२०७॥

भेदमकृत्वा व्यावर्णयितुं अशक्या सल्लेखनेति भेदमाचष्टे—

सल्लेहणा य दुविहा अम्भंतरिया य बाहिरा चैव ।

अम्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि ह् सरीरे ॥२०८॥

‘सल्लेहणा य दुविहा’ सल्लेखना च द्विप्रकारा । ‘अम्भंतरिया य बाहिरा चैव’ अभ्यन्तरा बाह्या चेति । ‘अम्भंतरा कसायेसु’ अभ्यन्तरा सल्लेखना क्रोधादिकषायविषया । ‘बाहिरा होदि ह् सरीरे’ बाह्या भवति सल्लेखना शरीरविषया ॥२०८॥

बाह्यसल्लेखनोपायनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंध—

सब्बे रसे पणीदे णिज्जूहिंत्ता दु पत्तलुक्खेण ।

अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पय कमसो ॥२०९॥

‘सब्बे रसे’ सर्वान्नरसान् । प्रकथं नीता प्रणीता तान् अतिशयवत् इत्यर्थं सुसम्कृतान् बलवद्धनानि-  
त्यर्थं । ‘णिज्जूहिंत्ता’ त्यक्त्या । ‘अण्णदरेणुवधाणेण’ अन्यतरेणावग्रहेण । ‘अप्पय’ आत्मान शरीर । ‘कमसो’  
क्रमशः । ‘सल्लिहइ’ तनूकरोति ॥२०९॥

बाह्य तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वृत्तिपरिसंखा ।

कायकिल्लेसो सेज्जा य विवित्ता बाहिरतवो सो ॥२१०॥

‘अणसण’ अनशन । ‘उवमोयरियं’ अवमोदयं । ‘चाओ य रसाण’ त्यागो रसाना । ‘वृत्तिपरिसंखा’  
वृत्तिपरिसंख्यान । ‘कायकिल्लेसो’ कायक्लेश । ‘सेज्जा विवित्ता’ विविवतशय्या । ‘बाहिरतवो सो’ बाह्य  
तपस्तत् ॥२१०॥

तत्र अनशनतपोभेदनिरूपणार्थां गाथा—

अद्वाणसण सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ।

विहरंतस्स य अद्वाणसणं इदं च चरिमंते ॥२११॥

भेद किये विना सल्लेखनाका वर्णन करना अशक्य है इसलिए पहले उसके भेद कहते हैं—  
गा०—सल्लेखनाके दो भेद हैं अभ्यन्तर और बाह्य । अभ्यन्तर सल्लेखना क्रोध आदि  
कषायकी होती है, बाह्य सल्लेखना शरीरके विषयमे होती है ॥२०८॥

बाह्य सल्लेखनाके उपाय बतलाते हैं—

गा०—बलको बढ़ानेवाले सब रसोको त्यागकर प्राप्त हुए रूखे आहारसे कोई एक नियम  
विशेष लेकर अपने शरीरको क्रमसे कुश करता है ॥२०९॥

बाह्य तपको कहते हैं—

गा०—अनशन, अवमोदयं, रसोंका त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त  
शय्या ये बाह्य तप हैं ॥२१०॥

‘अद्वाणसणं’ अद्वाणशब्द कालसामान्यवचनोऽन्यत्रेह चतुर्थादिवर्षमासपर्यन्तो गृह्यते । तत्र यदनशन तदद्वाणशन । ‘सव्वाणसणं चेषि’ सर्वानशन चेति । बुधिवधमणसणं बु’ तु शब्दोज्ज्वारणार्थं द्विप्रकारमेवानशन । सर्वशब्द प्रकारकास्त्वयं वर्तते । यथा सर्वमन्न भुंक्ते । परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य य सर्वकाल तस्मिन्नशन अशनस्याग सर्वानशन । कदा तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह—‘बिहरंस्तस्य य’ ग्रहणप्रतिसेवनकालयोर्वर्तमानस्य । ‘अद्वाणसणं’ अद्वाणशन । इतर च इतरत् सर्वानशन । ‘चरिमंते’ चरिमान्ते । परिणामकालस्यान्ते ॥२११॥

अद्वाणशनविकल्प प्रतिपादयति—

**होइ चउथं छट्टट्टमाइ छम्मासखवणपरियंतो ।  
अद्वाणसणविभागो एसो इच्छाणुपुब्बीए ॥२१२॥**

‘अद्वाणसणविभागो होइ’ इति पदघटना । अद्वाणशनविभागो भवति । ‘चउथं छट्टट्टमाइ छम्मासखमणपरियंतो चतुर्थवा’ठाष्टमादिपण्मासक्षणपर्यन्त । ‘इच्छाणुपुब्बीए’ आत्मेच्छा’ क्रमेण ॥२१२॥

अवमोदरिय निरूपयितुकाम आहारप्रमाण प्रायोवृत्त्या प्रवृत्त दर्शयति—

**वत्तीसं किं कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ ।  
पुरिमस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला ॥२१३॥**

अनशन तपके भेद गाथा द्वारा कहते है—

गा०—अद्वाणशन और सर्वानशन इस प्रकार अनशन दो ही प्रकारका कहा है । ग्रहण और प्रतिसेवनाकालमे वर्तमानके अद्वाणशन होता है और मरण समय मे सर्वानशन होता है ॥२११॥

टी०—अन्यत्र अद्वाणशब्द कालसामान्यका वाचक है । किन्तु यहाँ अद्वाणशनमे अद्वाणशब्द चतुर्थ आदिसे लेकर छहमास पर्यन्त जितने भेद अनशनके होते है उन सबके लिए ग्रहण किया है । उन उपवासोमे जो अनशन होता है वह अद्वाणशन है । सर्वशब्द सब प्रकारोमे आता है । जैसे सब प्रकारका अन्न खाता हूँ । मन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् जबतक जीवन रहे उस सब कालमे जो भोजनका त्याग है वह सर्वानशन है । इस तरह अनशन दो ही प्रकारका है । ये दोनो कब होते है इसके लिए कालका भेद किया है । ग्रहण कालमे अर्थात् दीक्षा ग्रहणसे लेकर सन्यास धारण करनेसे पूर्वके कालमे तथा प्रतिसेवना काल अर्थात् दोषोकी विशुद्धिके लिए अद्वाणशन होता है और परिणाम कालके अन्तमे अर्थात् मरण समयमे सर्वानशन होता है ॥२११॥

गा०—चतुर्थ षष्ठ आदिसे छह मासके उपवास पर्यन्त यह अद्वाणशनके भेद होते हैं । ये मुनिगण अपनी इच्छाके अनुसार करते है ॥२१२॥

अवमोदर्यका निरूपण करनेकी इच्छासे प्रायः प्रचलित आहारका परिमाण बतलाते हैं—

गा०—वत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरुषके पेटको पूरा भरनेवाला होता है । स्त्रियोके कुक्षिपूरक आहारका परिमाण अट्ठाइस ग्रास होता है ॥२१३॥

'बलीसं किर कबला' पुरुषस्य कुक्षिपूरणो भवत्याहार । द्वात्रिंशत्कवलमात्र 'इत्थिआए' स्त्रिया कुक्षिपूरणो भवत्याहार अष्टाविंशतिकवलजातानि । 'तसो' तस्मादाहारात् ॥२१३॥

एगुत्तरसेडीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो ।

ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सिच्छं च ॥२१४॥

'एगुत्तरसेडीए' एककवलोत्तरश्रेण्या 'परिहीणो' परिहीन । 'ऊमोदरियतवो' अवमोदर्याख्य तप क्रिया यावदेककवलावशेषतया न्यून 'अद्धकवलं' अर्धकवल यावदर्वाशिष्ट । ममप्रविभक्त कवलमर्धकवलशब्देनोच्यते । यावदेकसिक्थक वा अवशिष्ट । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । ननु चाहारो न्यून कथ तप इत्युच्यते इति केचित्कथयन्ति । आद्यूनतापरिहारस्य तपसो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते अवमोदरिय । तथा च निरुक्ति—अवम न्यून उदरमस्यावमोदर । अवमोदरस्य भाव कर्म च अवमोदर्य-मिति ॥२१४॥

रसपरित्यागो निरूप्यते—

चचारि महावियडीओ हींति णवणीदमज्जमंसमहू ।

कखापसंगदप्पाजसंजमकारीओ एदाओ ॥२१५॥

'चचारि महावियडीओ' चतस्रो महाविकृतय । महत्याश्चेतसो विकृते कारणत्वात् महाविकृतय इत्युच्यन्ते । 'हींति' भवन्ति । 'णवणीदमज्जमंसमहू' नवनीत, मद्य, मास, मधु च । 'कीदयस्ता' ? कङ्खा-

शा०—पुरुष और स्त्रीके उक्त आहारमेसे एक दो आदि ग्रासकी हानिके क्रमसे जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमोदर्यं तप है । जब तक अर्धग्रास ही अवशिष्ट रहे या एक सिक्थ शेष रहे तब तक भी अवमोदर्यं तप है ॥२१४॥

टी०—एक ग्रासके बराबर दो भाग करने पर एक भागको अर्धकवल कहते हैं । एक चावल मात्र जो कहा है वह आहारकी अल्पताका उपलक्षण है । अन्यथा कोई मात्र एक चावलका भोजन करनेके लिए कैसे तत्पर हो सकता है ।

शंका—थोडा आहार लेना तप कैसे है ? ऐसा कोई कहते हैं ।

समाधान—पेट भर खानेका त्याग तपका हेतु होनेसे अवमोदर्यंको तप कहा जाता है । अवमोदर्यंको निरुक्ति है—'अवम' अर्थात् न्यून (कमभरा) उदर है जिसका वह अवमोदर है और अवमोदरका भाव अथवा कर्म अवमोदर्यं है ॥२१४॥

रस परित्याग तपका निरूपण करते हैं—

शा०—चार महाविकृतियाँ होती हैं, मक्खन, मद्य, मास और मधु । ये गुद्धि, प्रसग, दर्प, और असयमको करते हैं ॥२१५॥

टी०—चित्तमे महान विकार पैदा करनेसे इन्हे महाविकृति कहते हैं । नवनीत काक्षा अर्थात् गुद्धिको उत्पन्न करता है । मद्य प्रसग अर्थात् पुनः पुन अगम्या स्त्रीके साथ भोगविलास कराता है । मास इन्द्रियोंमें मद पैदा करता है । मधु असयमको उत्पन्न करता है असंयमके दो भेद

पसंगद्व्यासंबभकारो एवाओ । कादा गाद्वर्ष, प्रसंग पुन पुनस्तत्र वृत्ति, र्षं दृष्टेन्द्रियता, असंयम रसविषयानुरागात्मक इन्द्रियासयम, रसजजन्तुपीडा प्राणासयम, एतान्वोधानिमा कुर्वन्ति ॥२१५॥

**आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ।**

**ताओ जावज्जीवं णिज्जूढाओ पुरा खेव ॥२१६॥**

'आणाभिकंखिणा' । अत्रैवं पदघटना—'ताओ' ता महाविकृतय । 'जावज्जीवं' जीवितावधिक । 'णिज्जूढाओ' परित्यक्ता । 'पुरा खेव' सल्लेखनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ता ? 'आणाभिकंखिणा'—इदमित्य त्वया कर्तव्यमिति कथन आज्ञा । सर्वविदा आज्ञप्ता भव्या परित्याज्या नवनीतादय । तदासेवा असयम कर्मबन्धहेतुरिति । अस्यामाज्ञायां काशावता आदरवता सर्वज्ञाज्ञाप्तपादनादेव दुरन्तससारमध्यपतन ममासी-  
द्भविष्यति च तेन तदाज्ञादर कार्य इत्यभ्युद्यतेन । 'अवज्जभीरुणा' अवद्य पाप तेन । अयमर्थ पापभीरुणा । 'तवसमाधिकामेण' तपस्येकाग्रतामभिलषता । अतो नवनीतादिव्यागोऽपि रसत्याग एव ॥२१६॥

इह सल्लेखनाकाले मर्मषा त्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

**खीरदधिसप्पितेल्लगुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं ।**

**णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोगमादीणं ॥२१७॥**

'खीरदधिसप्पितेल्लगुडाण' क्षीरस्य, दध्न, धृतस्य, तैलस्य, गुडस्य, च 'णिज्जूहणं' त्याग । कथं ? 'पत्तेगदो व' प्रत्येक एकैकस्य वा त्याग । 'सव्वेसिं' सर्वेषां वा क्षीरादीनां त्यागः रसपरित्याग । 'मोगाहिम पणकुसण लोणमादीणं' अपूपाना, पत्रशाकाना, सूपस्य, लवणादीनां वा त्यागो रसपरित्याग ॥२१७॥

है—इन्द्रिय असयम और प्राणि असयम । मधुके रसके विषयमे अनुरागकी आतुरता रूप इन्द्रिय असयम होता है और मधुमे उत्पन्न जन्तुओका घात होनेसे प्राण असंयम होता है ॥२१५॥

गा०—सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रति आदरवान, पाप भीरु और तपमे एकाग्रताके अभिलाषीने वे महविकृतियां सल्लेखनाके समयसे पूर्व ही जीवन पर्यन्तके लिये ( णिज्जूढाओ ) त्याग दी है ॥२१६॥

टी०—यह काम इस प्रकार तुम्हें करना चाहिये, ऐसा कहना आज्ञा है । सर्वज्ञकी आज्ञामे भव्य जीवोंके लिये नवनीत आदि छोडने योग्य है । उनका सेवन असंयम है जो कर्मबन्धका कारण है । इस आज्ञाका पालन न करनेसे ही मेरा दुरन्त ससारके मध्यमे पतन हुआ और होगा । इसलिये उस आज्ञाका आदर करना चाहिये इस प्रकार जो उद्यत हुआ है और अवद्य अर्थात् पाप से जो डरता है तथा जो तपमे एकाग्रताका अभिलाषी है वह तो पहले ही जीवन पर्यन्तके लिये इन विकृतियोंको त्याग चुका है । अत नवनीत आदिका त्याग भी रस त्याग ही है ॥२१६॥

अब इस सल्लेखनाके समय मेने इन नीचे कही वस्तुओका त्याग किया, यह कहते है—

गा०—दूध, दही, घी, तेल, गुडका और घृत पूर, पुवे, पत्रशाक, सूप और लवण आदिका सबका अथवा एक-एकका त्याग रस परित्याग है । अर्थात् सल्लेखना कालमें दूध आदि सबका या जनसेसे यथायोग्य दो तीन चारका त्याग रस परित्याग है ॥२१७॥

अरसं च अण्णवेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ।

आयबिलमायामोदणं च विगडोदणं चैव ॥२१८॥

'अरसं' च स्वावरहितं । 'अण्णवेलाकदं च' बेलान्तरकृतं च शीतलमिति यावत् । 'सुद्धोदणं च' शुद्धोदनं च केनचिदप्यमिश्रं । 'लुक्खं च' रूक्षं च स्निग्धताप्रतिपक्षभूतेन स्पष्टेन विशिष्टमिति यावत् । 'आयबिलं' असस्कृतसीवीरमिश्रं । 'आयामोदणं' अप्रचुरजलसिक्थाक्यमिति केचिद्वदन्ति । अवश्रावणसहितमित्यन्ये । 'विगडोदणं' अतीव<sup>२</sup> पक्वं । उण्णादकनम्मिश्रं इत्यपरं ॥२१८॥

इच्छेवमादि विविहो णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ ।

एस तवो भजिदव्वो विसेसदो सल्लिहतेण ॥२१९॥

'इच्छेवमादिविविहो' एवमादिविविधो नानाप्रकारो । 'णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ' ज्ञातव्यं सर्वेषां रसपरित्यागं । 'एस तवो भजिदव्वो' एतद्रमपरित्यागाख्यं तप । 'भजिदव्वो' सेव्यं । 'विसेसदो' विशेषेण । 'सल्लिहतेण' कायसल्लेखना कुर्वता । 'चाओ रसाणं' ॥२१९॥

वृत्तिपरिसंख्याननिरूपणाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं ।

सम्बूकावट्टपि पदंगवीधी य गौयरिया ॥२२०॥

गा०—स्वाद रहित अन्य समयमें बनाया गया अर्थात् ठण्डा भोजन, और शुद्ध भात जिसमें कोई अन्य शाक वगैरह न मिला हो, और रूखा भोजन जिसमें धी आदि न हो, आचाम्ल अर्थात् काजी मिश्रित भात, थोडा जल और बहुत चावल वाला भात, और बहुत अधिकपका भात ॥२१८॥

टी०—आयामोदण' का अर्थ कोई तो थोडा जल और चावल बहुत ऐसा भात करने है । अन्य कुछ अवश्रावण सहित (?) कहते हैं । विगडोदणका अर्थ दूसरे व्याख्याकार गर्मजलसे मिश्रित भात करते हैं ॥२१८॥

गा०—इत्यादि अनेक प्रकारका रस परित्याग सबको जानने योग्य है । गरीर सल्लेखना करने वालेको यह रस परित्याग नामक तप विशेष रूपसे सेवन करना चाहिये ॥२१९॥

रस परित्याग तपका वर्णन समाप्त हुआ । आगे चार गाथाओंसे वृत्तिपरि संख्यान तपका कथन करते हैं

टी०—'गत्तापच्चागदं'—जिस मार्गसे पहले गया उसीसे लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा । 'उज्जुवीहि'—सीधे मार्गसे जानेपर मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा । 'गोमुत्तियं' बेलके मूतने हुए जानेसे जैसा आकार बनता है मोडेदार, वैसे जाते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा । 'पेल्लवियं'—वस्त्र सुवर्ण आदि रखनेके लिए बास के पत्ते आदिसे जो सन्दूक बनता है, जिसपर ढकना भी हो, उसके समान चौकोर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं । 'संबूकावट्ट'—शखके आवतोंके समान गाँवके अन्दर आवतोंकार भ्रमण करके बाहरकी



'गतापरिचयार्थं' । यया वीथ्या गत पूर्व तदैव प्रत्यागमन कुर्वन्त्यदि भिक्षा लभते गृह्णाति नान्यथा । 'उज्ज्वलीहि' ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा । गोमूत्रिकाकारं भ्रमण वा संपादयन् । 'पेल्लविषं' वशदलादिभिर्निष्पादित वस्त्रसुवर्णादिनिक्षेपणार्थं पिधानसहित यत्तद्वच्चतुरस्राकारं भ्रमण । 'संभूका-वट्टं पि य' शबूकावर्त इव । 'पदंगवोषी य' पतगमाला पतगवोवीत्युच्यते । सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं । 'गोयरिया' गोचर्या भिक्षाया भ्रमण । एवभूतेन भ्रमणेन लब्धा भिक्षा गृह्णाति नान्यथेति कृतसकल्प'ता वृत्तिपरिसख्यान ॥२२०॥

पाडयणियंसणभिक्षा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं ।

पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥२२१॥

'पाडयणियंसणभिक्षापरिमाणं' इम एव पाटक प्रविश्य लब्धा भिक्षा गृह्णाति नान्य । एकमेव पाटक पाटकद्वयमेवेति । अस्य गृहस्य परिकरतया अवस्थिता भूमिं प्रविशामि न गृह्णामि<sup>१</sup>त्यमभिग्रह णियसणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति । अपरे पाटस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति सकल्प पाडगणियसणमित्युच्यते इति कथयन्ति । भिक्षापरिमाणं एका भिक्षा द्वे एव वा गृह्णाति नाधिकामिति । 'दत्तिघासपरिमाणं' एकैतैव दीयमानं दान्यामेवेति दानक्रियापरिमाणं । आनीतायामपि भिक्षाया इयत् एव घ्रासान्गृह्णाति इति वा परिमाणं । 'पिंडेसणा' पिण्डभूतमेवामन गृह्णाति । 'पाणेसणा' द्रव्यहूलतया यत्पीयते अशन । 'जागूय' यवागू । 'पुग्गलया वा' धान्यान्येव निष्पावचणकमसूरकादीनि भक्षयामि इति ॥२२१॥

संसिट्ठ फलिड परिखा पुण्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं ।

लेवडमलेवड पाणायं च णिस्सित्थगं सित्थं ॥२२२॥

और भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ।

'पदंगवोषी'—पक्षियोंकी पक्ति जैसे भ्रमण करती है उस तरह भ्रमण करते हुए यदि भिक्षा मिली तो मैं ग्रहण करूँगा । 'गोयरिया'—गोचरी भिक्षाके अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा । इस प्रकारके सकल्प करनेको वृत्ति परिसख्यान कहते हैं २२०॥

गा०-टी०—'पाडयणियसण'—इसी ही फाटकमे प्रवेश करके मिली हुई भिक्षाको ग्रहण करूँगा, अन्य फाटकमे नहीं । एक ही फाटकमे प्रवेश करूँगा या दो मे ही प्रवेश करूँगा । 'अमुक घरसे लगी हुई भूमिमे प्रवेश करूँगा, घरमे नहीं जाऊँगा ? इस प्रकारकी प्रतिज्ञाको णियसण कहते हैं । ऐसा कोई कहते हैं । दूसरोका कहना है कि पाटकी भूमिमे हो प्रवेश करूँगा, पाटके घरमे प्रवेश नहीं करूँगा इस प्रकारके सकल्पको 'पाटकाणियसण' कहते हैं । 'भिक्षा परिमाणं'—एक ही भिक्षा या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँगा, अधिक नहीं । 'दत्तिघास परिमाणं'—एक के ही द्वारा देने पर या दो के ही द्वारा देनेपर भिक्षा ग्रहण करूँगा । अथवा दाताके द्वारा लाई गई भिक्षामेसे भी इतने ही घ्रास ग्रहण करूँगा ऐसा परिमाण करना । 'पिंडेसणा'—पिण्ड रूप भोजन ही ग्रहण करूँगा । 'पाणेसणा'—जो बहुत द्रव होनेसे पीने योग्य होगा वही ग्रहण करूँगा । 'जागूय' यवागू ही ग्रहण करूँगा । 'पुग्गलया'—चना मसूर आदि धान्य ही ग्रहण करूँगा ॥२२१॥

१. त्यना वृ—आ० मु० । २ मित्यवग्रह ।

ससिद्धं शाककुन्माषादिव्यञ्जनसन्मिश्रमसूष्टमेव । 'फलिह' समन्तादवस्थितशाक मध्यावस्थितौदनं । 'परिखा' परितो व्यञ्जन मध्यावस्थितान् । 'पुष्पोवहिद' च व्यञ्जनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्कयक । 'सुद्ध-गोवहिद' शुद्धेन निष्पावादिभिर्मिश्रेणान्नेन 'उवहिद' मसूष्ट शाकव्यञ्जनादिक । 'लेवड' हस्तलेपकारि । 'अलेवड' यच्च हस्ते न सज्जति । 'पाणय' यच्च हस्ते न सज्जति । 'पाणयं' पानं च कीदृक् ? 'णिसिक्कयंस-सिक्कयं' सिक्कयरहित पान तत्सहित च ॥२२२॥

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए ।

इच्चेवमादिविवाहा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥२२३॥

'पत्तस्स' एवभूतेन भाजनेनैवानीत गृहणाणि सीवर्णेन, कसपाय्या, राजतेन मूणयेन वा । 'दायगस्स य' स्त्रियैव तत्रापि बालया, युवत्या, स्थविरया सालङ्कारया, निरलङ्कारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या इत्येवमादि अभिप्रहोऽवग्रह । 'बहुविहो' बहुविध । 'ससत्तीए' स्वशक्त्या । 'इच्चेवमावि' एवप्रकारा । 'विवाहा' विवाहा । 'णावव्वा' ज्ञातव्या । 'वुत्तिपरिसंखा' वृत्तिपरिसंख्या ॥२२३॥

कायक्लेशनिरूपणाद्योनरप्रबन्ध —

अणुसूरी पडिसूरी य उद्धसूरी य तिरियसूरी य ।

उवभागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ॥२२४॥

'अणुसूरि' पूर्वस्या दिश पश्चिमाणागमन क्रूरगतये दिने । 'पडिसूरी' अपरस्या दिश आदित्याभि-मुख गमन । 'उद्धसूरी य' उच्चं गते सूर्ये गमन । 'तिरियसूरी य' तियगवन्धित दिनकर कृत्वा गमन । 'उवभागेण गमणं' स्वावस्थितशामाद् ग्रामान्तर प्रति भिक्षाय गमन । 'पडिआगमण च गंतूणं' प्रत्यागमन

गा०-टी०—'समित्ठ'—जो शाक कुन्माष आदि व्यजनसे मिला हुआ हो । 'फलिह'—जिसके चारो ओर शाक रखा हो और बीचमें भात हो । 'परिखा—चारो ओर व्यजन हो बीचमें अन्न रखा हो । 'पुष्पोवहिद'—व्यजनोके मध्यमें पुष्पावलीके समान चावल रखे हो । 'सुद्धगोवहिद'—शुद्ध अर्थात् बिना कुछ मिलायें अन्नसे 'उपहित' अर्थात् मिले हुए शाक व्यजन आदि । 'लेवड' जिससे हाथ लिप जायें । 'अलेवड' जो हाथसे न लिप्त हो । सिक्कय सहित पेय और सिक्कय रहित पेय । ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा ऐसा सकल्प करता है ॥२२२॥

गा०-टी०—'पत्तस्स'—इसी प्रकार सोने, चांदी, कासी या मिट्टीके पात्रसे ही लाया गया भोजन ग्रहण करूँगा । 'दायगस्स'—स्त्रीसे ही, उसमें भी बालिकासे या युवतीसे या वृद्धासे अथवा अलंकार सहित स्त्री या अलंकार रहित स्त्रीसे या ब्राह्मणीसे या राजपुत्रीसे दिया गया आहार ही ग्रहण करूँगा । इस तरह बहुत प्रकार के अभिप्रह अपनी शक्तिके अनुसार होते हैं । ये सब विविध वृत्ति परिसंख्यान जानना चाहिये ॥२२३॥

काय क्लेशका कथन करते हैं—

गा०-टी०—'अणुसूरि'—जिस दिन कडी धूप हो सूरजको पीछे करके पूरव दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर जाना । 'पडिसूरि'—पश्चिम दिशासे सूरजकी ओर मुख करके गमन करना । 'उद्धसूरी'—सूरजके ऊपर आ जाने पर गमन करना, 'तिरियसूरी'—सूरजका एक ओर रखते हुए गमन करना । 'उवभागेण गमण'—जिस ग्राममें मुनि ठहरे हो उस ग्रामसे दूसरे गाँवमें भिक्षाके

च 'गत्वा ॥२२४॥

स्थानयोगनिरूपणा—

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव बोसट्टं ।

समपादभेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥२२५॥

'साधारणं' प्रमृष्टस्तम्भादिक्रमुपाश्रित्य स्थान । 'सवीचारं' मयक्रम पूर्ववस्थितादेशाद्गत्वापि स्थान-  
पितस्थान । 'सणिरुद्धं' निश्चलमवस्थानं । 'तहेव' तथैव । 'बोसट्टं' कायोत्सर्गं । 'समपादं' समो पादो  
कृत्वा स्थान । 'एगपाद' एकेन पादेन अवस्थान । गिद्धोलीणं गृद्धस्योद्धर्षगमनमिव बाहू प्रसार्याव-  
स्थान ॥२२५॥

आसनयोगनिरूपणा—

समपलियं कणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया ।

मगरमुह हत्थिसुण्डी गोणिसेज्जद्वपलियङ्का ॥२२६॥

'समपलियं कणिसेज्जा' सम्यक्पर्यङ्कनियथा । 'समपद' रिफाक्पठतमिवसरणेनासन । 'गोदोहिया'  
गोदोहने आसननिवासन । उक्कुडिया ऊर्ध्वं मकुचितमामन । 'मगरमुह' मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादाव-  
वस्थान । 'हत्थिसुण्डी' हस्तिहस्तप्रमाणमिव एक पाद प्रमायामन । इत्थं प्रमायेत्यापरे । 'गोणिसेज्ज अद्व-  
पलियं कं' गोनिपना गवापामनमिव अर्द्धपर्यङ्क ॥२२६॥

वीरामणं च दण्डाय उद्धसाई य लगडसाई य ।

उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥२२७॥

लिये जाना । 'गनूण पडिआगमण'—जाकर लौट आना ये सब काय क्लेश तप है ॥२२४॥

स्थान योगका कथन करते है—

गा०-टी०—'साधारण'—चिकने स्तम्भ आदिका आश्रय लेकर खड़े होना । सवीचार—पूर्व  
स्थानसे दूसरे स्थान पर जाकर कुछ काल तक खड़े रहना । 'सणिरुद्ध'—अपने स्थान पर ही निश्चल  
स्थित होना । 'बोसट्ट'—कायोत्सर्ग करना । समपाद—दोनों पैर बराबर करके खड़े होना ।  
'एगपाद'—एक ही पैर से खड़े होना । 'गिद्धोलीण'—जैसे गिद्ध उठते समय अपने दोनों पख  
फैलाता है उस तरह दोनों हाथ फैलाकर खड़े होना ॥२२५॥

आसन योगका कथन करते है—

गा०-टी०—'समपलियं कणिसेज्जा'—सम्यक् पर्यकामनसे बैठना । 'समपद'—जाघे और कटि  
भागको सम करके बैठना । 'गोदोहिया' गौ दूहते समय जेना आसन होता है वैसे आसनसे बैठना ।  
'उक्कुडिया'—ऊपरको मकुचित आसनसे बैठना अर्थात् दोनों पैरोको जोड़ भूमिको न छूते हुए  
बैठना । 'मगरमुह'—मगरके मुखकी तरह पैर करके बैठना । 'हत्थिसुण्डी'—हाथको सूँड फैलानेकी  
तरह एक पैर फैलाकर बैठना । दूसरो का कहना है कि हाथ फैलाकर बैठना हत्थिसूँडी है ।  
'गोणिसेज्ज' दोनो जघाओको सकोच कर गायकी तरह बैठना । और अर्धपर्यकासन । ये सब  
कायक्लेश के आसन है ॥२२६॥

१. कृत्वा अ० । २. समकरणैना—मु० ।

'वीरासनं' जघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासन । दण्डवदायत शरीर कृत्वा शयन । स्थित्वा शयनं च ऊर्ध्वशायीत्युच्यते । 'लगडसाई' सकुचितगान्धस्य शयनं । उत्ताणो उत्तान शयन । अवमस्तकशयन एकपादशयन च ॥२२७॥

**अवभावगाससयणं अणिट्टवणा अकड्डुगं चैव ।**

**तणफल्यसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचो य ॥२२८॥**

'अवभावगाससयणं' बहिनिरावरणदेशे शयन । 'अणिट्टवणं' निष्ठीवनाकरण । 'अकड्डुवणं च' अकड्डुयनं । 'तणफल्यसिलाभूमीसेज्जा' तृणादिषु क्षय्या । 'तहा' तथा । 'केसलोओ य' केशलोचश्च ॥२२८॥

**अभुट्टणं च रादो अण्हाणमदंतघोवणं चैव ।**

**कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥२२९॥**

'अभुट्टणं च रादो' रात्रावशयन जागरणमित्यर्थ । 'अण्हाणं' अस्नान । 'अरस्तघोवणं चैव' दन्तानामशोधन । 'कायकिलेसो' कायक्लेशः । 'एसो' एष । 'सीदुण्हादावणादी य' शीतातपनमुष्णातपनमित्येवमादिक ॥२२९॥

विविक्तशयनासननिरूपणा—

**जत्थ ण विसोत्तिग अत्थि दु सहरसरुवगन्धफासेहिं ।**

**सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता मा ॥२३०॥**

'जत्थ ण विसोत्तिग' यस्या वसनी न विशतेऽशुभपरिणाम । सहरसरुवगन्धफासेहिं शब्दरमरूपगन्धस्पर्श करणभूतं मनोज्ञरमनोज्ञैर्वा । 'सा विवित्ता वसधी' विविक्ता वसति । 'सज्झायज्झाणवाघादो' स्वाध्यायध्यानयोर्व्याघातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति ॥२३०॥

गा०-टी०—दोनों जघाओको दूर रखकर आसन वीरासन है । आगे शयनके भेद करते हैं—दण्डके समान शरीरको लम्बा करके सोना । खड़े हांकर सोना । इसे ऊर्ध्वशायी कहते हैं । 'लगण साई'—शरीरको सकुचित करके सोना । उताण—ऊपरको मुख करके सोना । ओमच्छिद्य-मस्तक नीचे करके सोना अर्थात् नीचे मुख करके सोना । एक करबटसे सोना । मडयसाइ—मृतककी तरह निश्चेष्ट सोना ॥२२७॥

गा०-टी०—'अवभवगास सयण'—बाहर खुले आकाशमें सोना । 'अणिट्टवणं'—थूकना नहीं । अकड्डुतण—खुजाना नहीं । तथा तृण, काठका पटिया, शिला, या भूमिपर सोना और केसलोच ॥२२८॥

गा०-टी०—गतमें शयन नहीं करना अर्थात् जागना । स्नान नहीं करना । दांतोंको नहीं धोना, उनकी सफाई नहीं करना । और शीतकालमें तथा गर्मीमें आतपन योग करना इत्यादि यह कायक्लेश है ॥२२९॥

विविक्त शयनासन तपका कथन करते हैं—

गा०—जिस वसतिमें मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शके द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते । अथवा स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नहीं होता वह विविक्त वसति है ॥२३०॥

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अन्तो वा ।

इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥२३१॥

'वियडाए' उद्घाटितद्वाराया । 'अवियडाए' अनुद्घाटितद्वाराया वा । 'समविसमाए' समभूमि-समन्विताया विपमभूमिसमन्विताया वा । 'बहिं व' बहिर्भागे वा । 'अन्तो वा' अग्र्यन्तरे वा । 'इत्थिण-उंसयपसुवज्जिदाए' स्थीभिर्नपुसकं पशुभिश्च वज्जिताया वसतो । 'सीदाए' शीताया । 'उसिणाए' उष्णाया ॥२३१॥

उग्गमउत्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ।

वसति असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥२३२॥

'उग्गमउत्पादणएसणाविसुद्धाए' उद्गमोत्पादनपणादोषरहित्वाया । तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते । वृक्ष-च्छेदस्तदानयन ट्टकापाक, भूमिस्वनन, पाषाणनिकनादिभि पूरण, घराया कुट्टन, कर्मकरण, कीलाना करण, अग्निनायमस्तापन कृत्वा प्रताप्य ककचं काण्डपाटन, वासीभिस्तक्षण, परशुभिश्छेदन इत्येवमादिव्यापारेण षण्णा जीविकायाया बाधा कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते । यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गानो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पापडिनामैवेति वा श्रमणानामेवेति, निग्रन्थानामेवेति सा उद्दमिमा वमदिनि भण्यते । आत्मार्थं गृह कुर्वता अपवरक मयताना भवत्विति कृत अभ्योयवर्नामत्युच्यते । श्रमणो गृहार्थमार्तं काण्डादिभि मष्ट बहुभि श्रमणार्थमानीतात्पेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूजिकमित्युच्यते । पापण्डिना गृहस्थाना वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्सयतानुद्दिश्य काण्डादिमिश्रणेन निष्पादित वेदम मिश्रम् । स्वाधमव कृत सयनार्थमिति स्थापित ठविद इत्युच्यते । मयत स च यावद्भिदि-

गा०—वह वसति खलु द्वार वाली हो अथवा बन्द द्वार वाली हो । उसकी भूमि सम हो अथवा ऊँची नीची हो । वह बाहरके भागमे हो अथवा अन्दरके भागमे हो । स्त्री नपुसक और पशुओमे रहित हो ठडी हो या गर्म हो ॥२३१॥

गा० उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोसे रहित, दु प्रार्जन, आदि सस्कारमे रहित, जीवोको उत्पत्तिसे रहित, शय्याग्रहित वसतिकामे अन्दर या बाहरमे विविक्त शयनासन तपके धारी मुनि निवास करते है ॥२३२॥

टी०—उद्गमदोषको कहते हैं—वृक्षको काटना, उसको लाना, ईटे पकाना, भूमि खोदना, उमे पत्थर रेत वगैरहमे भरना, पृथ्वीको कूटना, कीचड तैयार करना, कीले बनाना, आगमे लोहा गरम करके उसे पीटकर करोतोमे लकडी चीरना । विसौलोसे छीलना, फरसोसे काटना, इत्यादि व्यापारमे छहकायके जीवोको बाधा पहुँचाकर अपने द्वारा बनाई या दूसरेसे बनवाई वसति अध कर्मनामक दोषसे युक्त है । जितने दीन अनाथ दरिद्र अथवा वेपधारी आयेगे उनके उद्देशसे बनाई, अथवा यह पापण्डियोके ही लिए है, या श्रमणोके ही लिए है या निग्रन्थोके ही लिए है, ऐसी वसति उद्दिगम दोषसे युक्त होती है । अपने लिए घर बनाते हुए यह कोठरी समययोके लिए रहे ऐसा संकेतपूर्वक बनाई वसतिका अब्भोलव्व कहलाती है । अपना घर बनानेके लिए लाए गये बहुतसे काण्ड आदिके साथ थोडा-सा सामान श्रमणोके लिए लाकर दोनोके मेलसे बनी वसति पूतिक कही जाती है । पापण्डियो अथवा गृहस्थोके लिए घर बनवाकर पीछे मुनियोका उद्देश करके उसमे काण्डआदि मिलाकर बनवाई वसति मिश्रदोषसे दूषित है । अपने ही लिए

नैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कार सकल करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारित वेदम तत्पाहुडिगमित्युच्यते । तदागमानुरोचने गृहसंस्कारकालापन्हाम कृत्वा वा संस्कारिता वसति । यद्गृह अशुभकार-बहुल तत्र प्रकाशसपादनाय यतीना छिद्रीकृतकुडघ, अपाकृतफलक, सुविन्यस्तप्रदीपक वा तत्पादुकारशब्देन भण्यते । द्रव्यक्रीत भावक्रीत इति द्विविध क्रीत वेदम, मन्त्रित गोबलीवर्द्धादिक दत्त्वा सयतार्थक्रीत, अचित्त वा घृतगुडखडादिक दत्त्वा क्रीत द्रव्यक्रीत । शिष्टामन्त्रादिदानेन वा क्रीत भावक्रीत । अल्पमुण कृत्वा बृद्धिसहितं अबृद्धिक वा गृहीत मयतेभ्य पामिच्छ उच्यते । मदीये वेदमनि तिष्ठतु भवान् युष्मदीय तावद्गृह यतिभ्य प्रयच्छेति गृहीत परिगृह्णित्युच्यते । कुडघाशयं कुटीरककटादिक स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्सयतार्थमानीत तदभ्यर्ह्यमुच्यते । तद्द्विविधमाचरितमनाचरितमिति । दूरदेशाद् ग्रामान्तरात्तदानीत-मनाचरित इतरवाचरित । इष्टकाशिमि, मृत्पाडेन, वृक्षा, कवाटेनोपलेन वा स्वमित्त अपनीय दीयते यत्त-दुद्दिभन्त । निश्रेण्यादिभिर्गुरुणा इत आमच्छन् युष्माकभ्य वसतिर्गति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमि सा मालारोहमित्युच्यते । राजामान्त्रादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीय यद्दीयते तदुच्यते अच्छेज्ज इति । अनिसृष्ट पुनर्द्विविध । गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसति यदस्वामिनापि बालेन परवशवतिना दायते सोभय्यप्य-निसृष्टेति उच्यते । उद्गमदोषा निरूपिता ।

उत्पादनदोषा निरूपयते—पञ्चविधाना धात्रीकमणा अन्यतमेनोत्पादिना वसति । काचिद्द्वारक स्नप-

वनाय घरको सयमियोके लिए स्थापित करना ठविद दोष है । अमुक मुनि जितने दिनोमे आवेगे, उनके प्रवेश करनेके दिन घरकी सब सफाई आदि करायेगे, मेमा चित्तमे विचारकर बन-बाया घर 'पाहुडिग' कहा जाता है । अथवा मुनिके आनेके अनुगोत्रमे घरका संस्कार करनेका जो समय नियत किया था उस समयमें पूर्व मसार करना पाहुडिग दोष है । जिम घरमे बहुत अशु-कार रहता है उसमे मुनियोके लिए बहुत प्रकाश लानेके उद्देशसे दीवारमे छेद करना, लकडीका पटिया हटाना, दीपक रखना पादुकारदोष है । खरीदा हुआ दो प्रकारका हाना है द्रव्यकृत और भावकृत । सचेतन गाय बेल वगैरह देकर मुनिके लिए खरीदा गया अथवा अचित्त घी गुड खांड आदि देकर खरीदा गया घर द्रव्यकृत है । विद्या मंत्र आदि देकर खरीदा गया घर भावकृत है । विना व्याजका अथवा व्याज पर थोडा मा ऋण लेकर मुनियोके लिए लिया गया घर पामिच्छ कहा जाता है । आप मेरे घरमे रहे, अपना घर यातियोको देदे इस प्रकार ग्रहण किया घर परि-यट्ट कहाता है । अपनी दीवार आदिके (?) लिए जो तैयाग या उमे मुनिके लिए लाना अभ्यर्ह्य कहाता है । उसके दो भेद है आचरित और अनाचरित । जो दूर देशसे या अन्य ग्रामसे लाया गया वह अनाचरित है षोप आचरित है । जो घर इट आदिमे, मिट्टीके ढेलोंसे, वाडसे, कपाटसे या पथरसे ढपा है इनको हटाने दिया गया वह घर उद्भ्रन्न दोषमे युक्त है । मीढो वगैरहसे ऊपर चढकर 'यहाँ आओ, आपकी यह वसति है' इस प्रकारमे जो दूसरे या तीसरे खण्डकी भूमि दो जाती है उमे मालारोहण कहत है । राजा मन्त्री आदिके द्वारा भय दिखलाकर जो दूसरेकी वसति दो जानी है । वह अच्छेज्ज है । अनिसृष्टके दो भेद है । घरके स्वामीके द्वारा जो नियुक्त नहीं है ऐसे व्यक्तिके द्वारा जो वसति दी जाये वह अनिसृष्ट है । और जो पराधीन बालक स्वामी के द्वारा दो जाए वह भी अनिसृष्ट है । ये उद्गमदोष कहे ।

उत्पादन दोष कहते है—धायके पाँच काम है—कोई बालकको नहलाती है । कोई उसे

यति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति स्वापयति वा । वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा । ग्रामान्तरान्न-  
गरान्ता गच्छ देशादन्यदेशतो वा मन्थिना वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता । अग, स्वरो, व्यञ्जन,  
लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिनिमित्तदोषदुष्टा । आत्मनो जाति,  
कुल, ऐश्वर्यं वार्ताभवा स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते । भगवन्सर्वेषा आहारदानाङ्ग-  
सतिदानाच्च पुण्य किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृह्णिजन प्रतिकूलवचनरूपो वसति न प्रयच्छे-  
दिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता मा वणिगवा शब्देनोच्यते । अष्टविधया चिकित्साया लब्धा  
चिकित्सोत्पादिता । क्रोधोत्पादिता च । गच्छतामागच्छता च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रय इतीय वार्ता  
दूरादेवास्माभि श्रुतेति पूर्व स्तुत्वा या लब्धा, वमनोत्तरकाल च गच्छन्प्रशसा कराति पुनरपि वसति लप्स्ये  
इति । एव उत्पादिता सस्तवदोषदुष्टा । विद्या, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृह्णिण वशे स्वापयित्वा लब्धा,  
मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायाऽनिमस्वापना मूलकर्म । विरक्ताना अनुरागजनन वा । उत्पादनास्योऽभिहितो  
दोष षोडशप्रकार ।

अथ एषणादोषान्दश प्राह—

किमिय योग्या वसतिर्नाम शङ्किता । नदानामेव मिक्ता सत्यालिप्ता गती वा छिद्रस्तजलप्रवाहेण वा,  
जलभाजनलोठनेन वा तदानामं व लिप्ता वा प्रक्षितेऽप्युच्यते । मन्त्रव्यवहारा अपा, वायो हरिताना, बीजाना  
भूषण पहिनाती है । कोई खेल खिलानी है, कोई भोजन कराती है, कोई सुलाती है, इनमेसे कोई  
एक कम करके प्राप्त की गई वसति धात्रीदोषमे दूषित है । अन्य ग्राम, अन्य नगर या देशान्तमे  
रहनेवाले सम्बन्धियोंकी कुशलवार्ता कहकर प्राप्त की गई वसति दूतकर्मके द्वारा उत्पादित होनेसे  
दूतकर्म दोषसे दुष्ट है । अग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष, इस  
प्रकार निमित्तके उपदेशसे—गृहस्थोका शुभाशुभ वतलाकर प्राप्त की गई वसति निमित्त नामक  
दोषमे दुष्ट है । अपनी जाति, कुल अथवा ऐश्वर्यको कहकर अपना बलप्यन प्रकट करके प्राप्त की  
गई वसति आजीव शब्दसे कही जाती है । भगवन् ! सबको आहार देने और वसति देनेसे क्या  
महान् पुण्य होता है ? ऐसा गृहस्थ पूछे तो, 'नही होता' ऐसा कहनेपर गृहस्थ प्रतिकूल वचनसे  
रुष्ट होकर वसति नही देगा' इस विचारसे उनके अनुकूल कहकर प्राप्त की गई वसति 'वणिगवा'  
शब्दसे कही जाती है । आठ प्रकारकी चिकित्साके द्वारा प्राप्त का गई वसति चिकित्सा दोषसे  
दुष्ट है । क्रोधादिके द्वारा प्राप्त की गई वसति क्रोध आदि दोषसे दुष्ट है । जाने जानेआल  
यात्रियोंके लिए आपका ही घर आश्रय है यह बात हमने दूर देशसे ही सुनी है, इस प्रकार पहले  
स्तुति करके प्राप्त की गई अथवा निवास करनेके पश्चात् जाने समय प्रशसा करना कि पुन  
आनेपर वसति प्राप्त हो तो वह संस्तव दोषसे दुष्ट है । विद्या, मन्त्र या चूर्णके प्रयोगसे गृहस्थको  
वशमे करके प्राप्त की गई वसति विद्यादोष, मन्त्रदोष और चूर्णदोषसे दुष्ट है, मूलकर्मके द्वारा  
प्राप्त की गई अथवा विरागियोंको राग उत्पन्न करके प्राप्त हुई वसति मूलकर्म दोषसे दुष्ट है ।

उत्पादन नामक सोलह प्रकारका दोष कहा ।

दस एषणा दोष कहते हैं—

यह वसति योग्य है या नहीं, ऐसी शका करना शक्ति दोष है । जो वसति तत्काल ही  
सीची गई या लीपी गई है अथवा छिद्रसे बहनेवाले जलके प्रवाहसे या जलपात्रके लुडकानेसे

प्रसाना उपरि स्थापित पीठ-फलकादिक अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते वसति सा निक्षिप्तं च्यते । हरित-कटकसंचितमृत्तिकापिधाममाह्वय या दीयते सा पिहिता । काष्ठचेलत्रष्टकप्रावरणाद्याः पाण कुर्वता पुणेया-यिनोपदर्शिता वसति साह्यारणशब्देनाच्यते । मृतजातसूतकयुक्तगृह्जिनेन, मत्तन, व्याधिनेन, नपुमकेन, पिशाच-गृहीतेन, नग्नया वादीयमाना वसतिदायकनुष्टा । स्थावरं पृथिव्यादिभि त्रसं पिपीलिकामत्कुणादिभि सहितोन्मिथा । वितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ब्रह्मण प्रमाणातिरेकदोष । जीनवातातपाद्युप-द्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दा कुर्वनो वसन घूमदोष । निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रा-नुराग इज्जाल इत्युच्यते । एवमेतैरुद्गमादिदोषैरनुपहता वसति गुद्धा तस्या । 'अकिरियाए' दु प्रमार्जनादि-सस्काररहिताया । 'अससत्ताए' जीवनभवरहिताया । 'णिष्पाह्वाड्याए' शय्यारहिताया । 'सेज्जाए' वसतो । अन्तर्बहिर्वा बसइ वसति । यतिविविक्तश्यामनरत ॥२३२॥

अथ का विविक्ता वसतिरित्यत्राह—

**सुष्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले ।**

**अरुदप्यम्भारागमघरादीणि य विविक्ताइ ॥२३३॥**

सूय गृह, गिरिगुहा, वृक्षमूल, आगन्तुकाना वेश्म, देवकुल, शिक्षागृह केनचिदकृत अकृतप्रारम्भार-

उसी समय लीपी गई है उसे अक्षित कहते हैं । संचित पृथिवी, वायु, जल हरे बीज, और त्रस-जीवोके ऊपर स्थापित पीठ, काष्ठफलक आदिको यहाँ शय्या करे ऐसा कहकर जो वसति दी जाती है उसे निक्षिप्त कहते हैं । हरित कांटे, संचित मिट्टीके आवरणको हटाकर जो वसति दी जाती है वह विहित दोषसे युक्त है । काष्ठ, वस्त्र, कण्टकके आवरण आदिका खींचते हुए आगे जानेवाले मनुष्यके द्वारा दिखलाई गई वसति साधारण शब्दसे कही जाती है । जिसे मरण अथवा जननका शौच लगा है ऐसे गृहस्थके द्वारा या मत्त, रोगी, नपुंसक, जिस पिशाचने पकड़ा हुआ है या बालिकाके द्वारा दी गई वसति दायक दोषसे दूषित है । स्थावर पृथिवी आदि, त्रस चाटी खटमल आदिसे सहित वसति उन्मिथा है । जितने बालिस्त प्रमाणभूमि साधुको चाहिए उससे एक बालिस्त भूमि भी अधिक लेना प्रमाणातिरेक नामक दोष है । यह वसति शीतवायु, धूप आदि उपद्रववाली है ऐसी निन्दा करते हुए भी उसी वसतिमें रहना घूमदोष है । यह वसति विशाल है इसमें हवा नहीं आती, अधिक गर्म भी नहीं है, सुन्दर है इस प्रकार उससे अनुगग करना इगाला दोष है । वसति इन दोषोसे रहित होनी चाहिए ॥२३३॥

**विशेषार्थ—**साधुको देने योग्य आहार, औषध, वसति, सस्त्र, उपकरण आदि दाताकी जिन मार्गविच्छिन्न क्रियाओंसे उत्पन्न होते हैं वे उद्गम आदि सोलह दोष हैं । और मार्गविच्छिन्न जिन क्रियाओंसे भोजन आदि बनाये जाते हैं वे सोलह उत्पादन दोष हैं । ये बत्तीस भी आधाकार्मरूप होनेसे दोष कहे जाते हैं । यतिके भोजन आदिके लिए छहकायके जीवोको बाधा देना अथवा ऐसे कारणसे उत्पन्न भोजन आदि आधाकार्म कहे जाते हैं । एषणादोष दस हैं । मूलाचारमे इन दोषोंका कथन है ।

विविक्त वसति कौन है यह कहते हैं—

टी०—सूय घर, पहाडकी गुफा, वृक्षका मूल, आनेवालोंके लिए बनाया घर, देवकुल,



शब्देनोच्यते । आरामगृह क्रीडाधर्मायाताना आवासाय कूल । एता विविक्ता वसतय ॥२३३॥

अत्र वसने दोषाभावमाचष्टे—

कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्ति च ।

ज्झाणाज्झयणविधादो णत्थि विविक्ताए वसवीए ॥२३४॥

‘कलहो बोलो’ । ममेय वसतिस्तवेय वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । ‘बोलो’ शब्दबहुलता । ‘झंझा’ सकलेशो । ‘वामोहो’ वैविध्य । ‘संकरो’ अयोग्यैरसयते सह मिश्रण । ‘ममत्त्वं च’ ममेदभावश्च । ‘णत्थि’ नास्ति । ‘ज्झाणाज्झयणविधादो’ ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघात । उक्त कलहादिर्न विद्यते । क्व ? ‘विविक्ताए वसवीए’ विविक्ताया वसती । एकस्मिन्प्रमेये निरुद्धज्ञानसततिध्यानि । अनेकप्रमेय-संचारी स्वाध्याय ॥२३४॥

इय मन्लीणयुवगदो सुहृप्पवत्तेहि तत्थ जोएहिं ।

पंचसमिदो तिगुत्तो आदट्ठपरायणो होदि ॥२३५॥

‘इय’ एव । ‘मन्लीण’ एकान्मता ‘उवगदो’ उपगत । केन ? ‘जोएहिं’ योगे तपोभिर्घ्यानिर्वा । सुहृप्पवत्तेहिं मुखप्रवृत्तं मुखेनाक्लेशेन प्रवृत्तं । ‘पंचसमिदो’ समितिपञ्चकोपेत । ‘तिगुत्तो’ कृताशुभमनोवाक्का-यनिर्गोष । ‘आदट्ठपरायणो होवि’ आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्वध्यायी यति-निर्लप्रतिद्वन्द्वध्यानं शुभैस्तपोभिर्वा स्वास्थ्यमुपगतं सवर निर्जरा च स्वप्रयोजन सपादयति इति ॥२३५॥

सवरपूर्विका निर्जरा स्तोनुमाह—

जं णिज्जरेदि कम्म असंबुडो सुमहदावि कालेण ।

तं संबुडो तवस्सी खवेदि अतोमुहुत्तेण ॥२३६॥

शिक्षाघर, किन्मीके द्वारा न बनाया गया स्थान, आरामघर—क्रीडाके लिए आये हुओंके आवासके लिये जो बनाया गया है ये सब विविक्त वसतियाँ हैं ॥२३३॥

इनमें रहनेमें कोई दोष नहीं है, यह कहते हैं—

गा०—विविक्त वसतिमें कलह, शब्द बहुलता, सकलेश, चित्तका व्यामोह, अयोग्य असय-मियोंके साथ सम्बन्ध, यह मेरी है ऐसा भाव, तथा ध्यान और अध्ययनमें व्याघात नहीं है ॥२३४॥

टी०—विविक्त वसतिमें यह मेरी वसति है यह तेरी वसति है इस प्रकार कलह नहीं होता क्योंकि वहाँ अन्य लोग नहीं होते । इसीसे ऊपर कहे अन्य दोष भी नहीं होते । ध्यान अध्ययनमें बाधा नहीं होती । एक पदार्थमें ज्ञानसन्ततिके निरोधको ध्यान कहते हैं और अनेक पदार्थोंमें संचारको स्वाध्याय कहते हैं ॥२३४॥

गा०—इस प्रकार विविक्त वसतिमें निवास करनेसे विना क्लेशके सुखमें होनेवाले तप अथवा ध्यानके द्वारा बाह्यतपमें एकात्मताको प्राप्त यति पाँच समितियोंसे युक्त हुआ अशुभ मन वचनकायका निर्गोष करके आत्माके कार्यमें तत्पर होता है ॥२३५॥

टी०—यहाँ कहा है कि विविक्त वसतिमें रहनेवाला यति निर्विघ्न ध्यानके द्वारा अथवा शुभतपके द्वारा स्वास्थ्यको प्राप्त होकर सवर और निर्जरारूप अपने प्रयोजनको करता है ॥२३५॥

'अं णिज्जरेदि कम्मं' यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाह्येन । क ? 'असंबुद्धो' असंबृत अशुभयोगनिरोधरहित । 'सुमह्दवादि कालेण' सुष्ठु महता कालेनापि । 'तं' तत्कर्म 'सबेदि' क्षययति । अतासुष्ठुत्वेण' अतिस्वल्पेन कालेन । क. ? 'सबुद्धो' संबृत गुणिसमितिधर्मानुपेक्षापरीषद्भयपरिणत । 'तवस्सी' तपस्वी अनशानादिमान् ॥२३६॥

**एवमवलायमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ।**

**दोसेणिग्घाडतो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥२३७॥**

एवमुक्तेन क्रमेण एतेन । 'तवण भावेमाणो' तपसा भावयन्नात्मानमुद्यत । 'अवलायमाणो' अपलायमान । कुतो दुर्धरात्तपस । एवमवलोयमाणो इति क्वचित्पाठ । तत्रायमर्थ — किल एवमेवेण तवेण भावेमाणो इति पदसंबन्ध । एवमेतेन तपसा भावयमान अपलोयमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति । तदयुक्त — अशब्दार्थत्वात् । 'बोत्ते' दूषयति रत्नत्रयमिति दोषा अशुभपरिणामा तान् घातयन् । 'पग्गहिदवर' नितरा । 'परक्कमदि' चेष्टते मुक्तिमार्गे ॥२३७॥

यतिना निर्जरायिना एवभूत तपोज्जुष्टेय इति कथयति ।

**सो णाम बाहिरतवो जेण मणां दुक्कदं ण उट्ठेदि ।**

**जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ॥२३८॥**

'सो णाम बाहिरतवो' तन्नाम बाह्य तप । कि ? 'जेण मणां दुक्कड ण उट्ठेदि' येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृत प्रति नोत्तिष्ठते । 'जेण य सड्ढा जायदि' येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यभ्यन्तरे श्रद्धा जायते । 'जेण य जोगा ण हायंति' येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न हीयन्ते । तत्तथाभूत तपोज्जुष्टेयमिति यावत् ॥२३८॥

सवरपूर्वक निर्जराकी प्रशंसा करते हैं—

गा०—असंबृत अर्थात् अशुभयोगका निरोध न करनेवाला यति महान् कालके द्वारा भी जिस कर्मकी बाह्य तपके द्वारा निर्जरा नहीं करता उस कर्मको संबृत अर्थात् गुणित, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषद्भयको करनेवाला तपस्वी अति स्वल्पकालमे क्षय करता है ॥२३६॥

गा०—उक्तक्रमसे इस तपसे अपनेको तत्पर करता हुआ दुर्धरतपसे न डरकर रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभ परिणामोको घातता है और अत्यन्त मुक्तिके मार्गमे चेष्टा करता है ॥२३७॥

दी०—कहीपर 'एवमवलोयमाणो' ऐसा पाठ है । एदेण तवण भावेमाणो' पदके साथ उसका सम्बन्ध करके ऐसा अर्थ करते हैं—इस प्रकार इस तपसे भावना करता हुआ 'अपलोयमाण' अर्थात् द्रव्यकर्मका विनाश करता है । यह युक्त नहीं है क्योंकि यह शब्दार्थ नहीं है ॥२३७॥

निर्जराके इच्छुक यतिको इस प्रकार तप करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—उसीका नाम बाह्य तप है, जिस तपके करनेसे मन पापकी ओर नहीं जाता । और जिस तपके करनेसे अभ्यन्तर तपमें श्रद्धा उत्पन्न हो और जिसके करनेसे पूर्वमे गृहीत योग-व्रत विशेष हीन नहीं होते । इस प्रकारका तप करना चाहिए ॥२३८॥

बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता ।

सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३९॥

बाह्यतपोज्युष्ठाने गुण कथयत्युत्तरं सूत्रं । 'बाहिरतवेण' बाह्येन तपसा हेतुभूतेन । 'सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता होवि' सर्वा सुखशीलता परित्यक्ता भवति । सुखभावना रागं जनयति । रागः स्वयं च कर्मबन्धहेतु-दोष वानयति । बन्धः कर्मस्थितिहेतुः संबन्धार्था निरस्ता भवति इति मन्यते । 'सल्लिहिदं च सरीरं' भवति । शरीरं दुःखनिमित्तं तत्पशुकामस्य तन्नूकरणमुपायं तदनुष्ठितं भवतीति यावत् । 'ठविदो' स्थापितं । 'आवा य' स्वयं च, 'संवेगे' ममाग्भीरुतायाः । ननु च संसारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तस्याः, ततोऽयुक्तमभाणि सूत्रकारेण बाह्येन तपसा संवेगे स्थापितं । लोकेनायं सविग्नचित्त इति स्याप्यते बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो युक्तमुच्यते ॥२३९॥

दंताणि इंदियाणि य समाधिजोगा य फासिदा होंति ।

अणिगूहिवीरियओ जीविदतण्हा य बोच्छिण्णा ॥२४०॥

दंताणि दातानि 'इंदियाणि' इन्द्रियाणि च । होंति' भवन्ति । अनशानावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानं जिह्वा दान्ता भवन्ति इति । विविक्तशब्दाग्नेन उत्तराणि इन्द्रियाणि दान्तानि भक्षन्ति । मनोज्ञेन्द्रियविषयरहि-ताया वसतावस्थानान्तानि निगृहीतानि भवन्ति । समाधिजोगा य फासिदा होंति रत्नत्रयैकाग्र्य समाधिः । समाधिषु योगा समाधियोगा । योगा सम्बन्धास्त्वे च 'फासिदा होंति' स्पृष्टा भवन्ति । रत्नत्रयसमाधान-सम्बन्धा स्पृष्टा भवन्ति । अज्ञानादिकं त्यजता विषयरागो निरस्तो भवति । विषयरागव्याकुलो हि रत्नत्रये न घटते । अतः तस्मिन्व्याकुलोऽशुभपरिणामैकमुखो भवति इति मन्यते । 'अणिगूहिवीरियदा' अनिगूहवीर्यता

आगेकी गाथासे बाह्यतपको करनेके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य तपसे सब सुख शीलता छूट जाती है । क्योंकि सुख शीलता रागको उत्पन्न करती है । राग-रागको बढ़ाता है और कर्मबन्धके कारण दोषोको लाता है । बन्ध-कर्मकी स्थितिसे हेतु है । इस तरह बाह्य तपसे अनर्थ करनेवाली यह सुखशीलता नष्ट होती है । शरीर दुःखका कारण है । उसको छोड़नेका उपाय है शरीरको कृश करना । बाह्य तपसे शरीर कृश होता है और स्वयं आत्मा संसारसे भीरुतामें स्थापित होती है ।

शंका—न तो संसारसे भीरुता तपका हेतु है और न तप संसारसे भीरुताका हेतु है अतः ग्रन्थकारने यह अयुक्त कहा है कि बाह्य तपसे संवेगसे स्थापित होता है ?

समाधान—जो बाह्य तप करता है उसे लोग मानने है कि इनका चित्त संसारसे विरक्त है । अतः ग्रन्थकारका कथन युक्त है ॥२३९॥

गा०-टी०—इन्द्रियां दान्त होती है । अनशन, अवमोदर्य और वृत्ति परिसंख्यान तप करनेसे जिह्वा दान्त होती है । विविक्त शब्दासन तपसे शेष इन्द्रियां दान्त होती है । जहाँ इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय नहीं हैं ऐसी वसतिसे रहनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है । रत्नत्रयमें एकाग्रताको समाधि कहते है । समाधिसे योग अर्थात् सम्बन्ध स्पष्ट होते है । भोजन आदिका त्याग करनेसे विषयोसे राग नहीं रहता । जो विषयरागसे सताया हुआ है वह रत्नत्रयमें नहीं लगता । रत्न-

च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । 'जीविबतष्ठा य' या जीविते तृष्णा च 'बोच्छिन्ना' व्युच्छिन्ति गता । न हि जीविताशानान् अक्षनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तृष्णावान्यत्किञ्चित्कृत्वा असयमादिकं प्राणानेव धारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ॥२४०॥

**दुःखं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहगससुखे ।**

**सुसमूरिया कसाया विसयसु अणायरो होदि ॥२४१॥**

'दुःखं च भाविदं होदि' दुःखं च भावितं भवति । दुःखभावना च कथमुपयोगिनी असकलेशेन दुःखसहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषकर्मापायस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते । अपि चासकृद्भावितदुःखो निश्चलो भवति' ध्याने । 'अप्पडिबद्धो य होदि' अप्रतिबद्धश्च भवति । 'बिहरससोक्ते' शरीररससोक्ते । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता ममाधेविघ्नं न निरस्तो भवतीति भावः । 'सुसमूरिया कसाया' उन्मृदिता कषाया भवन्ति । कथं अनशनादिना कषायनिग्रहं कृतो भवति ? क्षमामार्दवार्जवसन्तोषभावनादिप्रतिपक्षभूता त्रिनाशयन्ति कषायान्तेतरदिति चेत् अयमभिप्रायः—अशनाद्यलाभे, स्वल्पलाभे, अशोभनाना वा लाभे क्रोधकषाय उत्पद्यते । तथा प्रचुरलाभाद्वर्जितलाभाभाच्च लब्धिमानहर्षेण मानकषायः । अस्मदीयभिक्षामूह यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति चिन्ता मायाकषायः । अगने रसे प्राचुर्यविशिष्टे वार्सकिलाभकषायः । तथा वसत्यप्रदाने कोपः, तन्लाभे च मानकषायः प्राभवत् । अन्वेष्ट्यागच्छन्तीति न मम वसतिरस्त्यवकाशो'वाऽत्रेति वचनान्मायाकषायः । अहमस्य स्वामीति लोभः । इत्य

त्रयमेव न लगनेसे व्याकुल होकर अशुभ परिणामोमे ही लगता है । अपनी शक्तिको छिपाना नहीं है और वीर्याचारमे प्रवृत्त होता है । जीवनकी जो तृष्णा है वह भी नष्ट हो जाती है । जिंमे जीनेकी तृष्णा है वह भोजनादिकका त्याग करना नहीं चाहता । जीवनकी तृष्णावाला जो कुछ भी अमयम आदि करके प्राणधारण करनेमे ही तत्पर रहता है, रत्नत्रयमेव नहीं लगता ॥२४०॥

**गा०—टी०—**दुःखका सहन होता है । बिना किसी सकलेशके दुःख सहनेमे कर्मको निर्जरा होती है । और क्रमसे होनेवाली निर्जरा समस्त कर्मोंके विनाशका उपाय है इसलिए दुःखभावना उपयोगी है । दूसरे, बार-बार दुःखकी भावना करने वाला ध्यानमे निश्चल होना है । शरीर, रस और सुखमे अप्रतिबद्ध—अनासक्त होता है । इन तीनोंमे आसक्ति ममाधिमे विघ्न करती है । अन उसका निरास होता है । कषायोका मर्दन होता है ।

**शाका—**अनशन आदिसे कषायका निग्रह कैसे होता है ? कषायोको विरोधी क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष भावना आदि कषायोको नष्ट करते है, अन्य नहीं ।

**समाधान—**अभिप्राय यह है कि भोजन आदि न मिलने पर, या कम मिलने पर अथवा अर्हचिकर मिलने पर क्रोध कषाय उत्पन्न होनी है । तथा प्रचुर लाभमे और स्वादयुक्त भिक्षाके लाभसे मे 'लब्धि सम्पन्न हूँ' ऐसी मान कषाय उत्पन्न होती है । मेरे भिक्षा लेनेके घरका दूमरे न जान सके इस तरह घरमे प्रवेश करूँ, यह चिन्ता माया कषाय है । रमली अत्यधिक भोजनमे आसक्ति लोभ कषाय है । तथा वसति नहीं देने पर क्रोध और उसके मिलने पर मानकषाय होती है जैसा पहले भोजनके सम्बन्धमे कह आये है । दूसरे भी आने वाले है इस वसतिमे स्थान नहीं है

कषायनिमित्तवस्तुन्यागात् कषायाणामवमर इति । 'विस्रएसु' विषयेषु स्पर्शनादिषु । 'अणादरो होइ' अनादरो भवति औदासीन्य जायते । तदौदासीन्यात् तदादरनिमित्तकर्ममवरो भवतीति भाव । अशनस्य हि 'शुक्ला-दिरूपे मृदुस्पर्शे, सौगन्धे, रसे वादरस्त्यक्तो भवति अशन त्यजता । तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादि-रूपेषु ॥२४१॥

**कदजोगदादमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ।**

**लाभालाभे समदा तितिक्लणं बंभचेरस्स ॥२४२॥**

'कवजोगदा' सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविन योगवच कृतो भवति बाह्येन तपसा । 'आववमण' आत्मनो दमन आहारे सुखे च योजुरागस्तस्य प्रगमनात् । 'आहारणिरासदा' आहारे निरास्य सम्पादित प्रतिदिन आहारगताशापरिन्यागाम्यासात् । सर्वत्यागकालेऽपि सुकरा भवत्याहारनिराशतेति भाव । 'अगिद्धी य' अगु-द्धिरच अल्पतया च । क्व ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमान्कञ्चवा त त्यजति । लाभालाभे समदा लाभालाभयो समता । लाभे च मन्दाहात्म्यं हर्षाहरणान् अलाभे च तृषाऽकोपात् । य स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कष-मिव परेषामदाने दुर्मनीभवति । तितिक्लण बंभचेरस्स' ब्रह्मचर्यं च मोह भवति । रमवदाहागत्यागादभिन-वेऽपि शुक्रसचये अनशने च सचित्तप्रलये मति न मन्वावनुगगा भवति इति भाव । तथा गलिनशुक्राणा पुसा येमुख्य अगनामु प्रतीतमेव ॥२४२॥

ऐसा कहना माया कषाय है । मे इस वसतिका स्वामी हूँ यह लोभ कषाय है । इस तरह जो वस्तु कषायमें निमित्त है उनका त्याग करनेमें कषाय का अवसर नही रहता । (विस्रएमु अणादरो होई) स्पर्शन आदि विषयोंमें अनादर होता है अर्थात् उदासीनता होती है । विषयोंमें उदासीनतासे विषयोंमें आदर भाव रखनेके निमित्तसे बन्धने वाले कर्मोंका सवर होता है यह भाव है । भोजनके त्यागमें भोजनके शुक्ल आदि रूपमें, कोमल स्पर्शमें, सुगन्धमें अथवा रसमें आदरका त्याग हो जाता है । तथा दूध आदिका भी त्याग करनेसे दूध आदिके रूप रस आदिमें आदरका त्याग हो जाता है ॥२४१॥

गा०-टी०-—'कद जोगदा'—वाह्य तपसे मरणकालमें जो सर्व आहारका त्याग करना होता है उसका अभ्यास होता है । 'आत्मदमण'—आहार और सुखमें जो अनुराग है उसका प्रशमन होनेसे आत्माका दमन होता है । 'आहारणिरासदा'—प्रतिदिन आहार सम्बन्धी आशके त्यागके अभ्यासमें आहारके विषयमें निराशा सम्पन्न होती है । अभिप्राय यह है कि समस्त आहारका त्याग करने के कालमें भी आहार सम्बन्धी इच्छाका विनाश सुकर होता है । 'अगिद्धीय'—और आहारमें लपटता नही रहती । जिमकी आहारमें गृद्धि है वह आहार पाकर उसे छोड़ नही सकता । 'लाभालाभे समदा'—लाभ और अलाभमें समता रहती है । आहारका लाभ होने पर हर्ष नहीं करता और अलाभमें क्रोध नही करता । जो स्वयं भी प्राप्त आहारको छोड़ देता है वह दूसरोंके न देने पर अपना मन खराब कैसे कर सकता है । 'तितिक्लण बंभचेरस्स'—ब्रह्मचर्यको धारण करता है । रसोले आहारके त्यागसे नवीन वीर्यसचय नही होता और अनशनसे सचित्तवीर्य क्षय होता है तब स्त्रीमें अनुराग नही होता । तथा जिन पुरुषोंमें वीर्यहीनता होती है उनके प्रति स्त्रियोंकी विमुखता प्रसिद्ध ही है ॥२४२॥

१. हि भक्तादिरूपे—आ० ।

## गिहाजओ य दढझाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो । सज्झायजोगणिच्चिग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥२४३॥

'गिहाजओ य' निद्राजयश्च । प्रतिदिनमघ्नत रसवदाहारसेवापरस्य बहुभोजिनश्च निवाते सुखस्पर्शो निरुपद्रव्ये च देशो शयानस्य निद्रा महती जायते, यथा परवशो निश्चेतन इव भवत्युभपरिणामप्रवाहे च परतति, न च रत्नत्रयेण धटयति, तस्या जयो । 'दढझाणदा' दृढध्यानता च दु खोपनिपाताच्चलति ध्यानाद भावितदु खो यति । कृततपोभावनस्तु क्षुदादिपरीषहोपनिपातेऽपि सहते । 'विमुत्तो य' विमुक्तिर्विशिष्ट-त्याग अनशनादावुद्यतेन शरीरमेव त्यक्त भवति तदेव दुस्सयज । 'दप्पणिग्घादो' असयमकरणो यो दर्पस्तस्य निर्घातश्च कृतो भवति । 'सज्झायजोगणिच्चिग्घदा य' वाचनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशीयोग सबन्धो यस्तस्य विघ्नाभावश्च । आहारार्थे भ्रमत कथं स्वाध्याय क्रियते ? बहुभोजनश्च उत्तान स्वपिति आसितुमप्य-समर्थः । रसवदाहारभोजी आहारोभमगा दह्यमान इतस्तत परावर्तते । अविवक्तताया वसतो वर्तमान परेषा वच शृण्वन्तं सह सभाषण कुर्वन्नाधीते । विविक्तदशास्थायी पुननिव्यक्तुल स्वाध्याये घटते । 'सुह-दुःखसमदा य' मुखेन हृष्यति दु खेन दुष्यति इति रागद्वेषावन्तरेण सुखदुःखानुभव सुखदुःखसमता । अशन रमाश्च सुखसावनभूतामत्यजता मुखे रागस्त्यक्ता भवति । क्षुदादिजनितवंदोपनिपाते अमकलेशत् दु खे न च द्वेषोऽप्यस्तीति । 'बाहिरतवणे होवि ष्ठ' इत्यनेन पञ्चमूत्र निविदि टाना प्रत्येक सबन्ध ॥२४३॥

गा०—टी०—'गिहाजओय'—निद्राजय होता है। जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसीले आहार के सेवनमे तत्पर रहता है, बहुत भोजन करता है, उसे वायुके प्रकोपमे रहित, मुखकारक स्पर्शवाले उपद्रवहीन देशमे सोने पर गहरी नीद आती है, जिसके अधीन होकर वह चेतनाहीन जैसा हो जाता है और अशुभ परिणामोके प्रवाहमे गिर जाता है। वह रत्नत्रयमे नही लगता। उस निद्रा-का जय होता है। 'दढझाणदा' दृढ ध्यान होता है। जिस यतिको दुःख सहनेका अभ्यास नही होता, वह दुःख पडने पर ध्यानसे विचलित हो जाता है। किन्तु तपका अभ्यासी भूख आदि परी-षह आने पर सहता है। 'विमुत्तीय' विमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग करता है क्योंकि जो अनशन आदिमे तत्पर रहता है वह तो शरीर ही को छोड देता है और शरीर ही को छोडना कठिन होता है। 'दप्पणिग्घादो'—असयमको करने वाला जो दर्प है उसका भी पुरी तरहसे घात होता है। 'सज्झायजोगणिच्चिग्घदाय'—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके साथ जो सम्बन्ध है उसमे कोई विघ्न नही होता। आहारके लिए भ्रमण करने वाला माधु कैसे स्वाध्याय कर सकता है। बहुत भोजन करने वाला तो ऊरुको मुख करके मोता है वंठ भी नही सकता। रसीला आहार खाने वाला आहारको ऊभ्यासे इधर-उधर करवटे बदलता है। जो बहुजन सकुल वर्तितमे रहता है वह दूसरोंकी बातें मुनकर उनके साथ वानचीत करता है, स्वाध्याय नही करता। किन्तु एकान्त स्थानमे रहने वाला व्याकुलता रहित होकर स्वाध्याय करता है। 'सुह-दुःखसमदाय'—मुखसे हर्षित होना और दुःखसे दुःखी होना राग-द्वेष है। उनके दिना सुख-दुःख का अनुभव सुख-दुःख समता है। सुखके सावनभूत भोजन और रसोंको जो त्यागता है वह सुखमे रागको त्यागता है। भूख प्यासका कष्ट होने पर संश्लेष न होनेसे उसे दुःखमे द्वेष नही होता।

आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविदं हवदि सव्वं ।

अलसत्तणं च विजडं कम्मं च विणिद्धुयं होदि ॥२४४॥

'आदा कुल गणो पवयणं च मव्व सोभाविद हवदि' पदघटना । बाह्येन तपसा स्वय कुलमारभतो, गण, स्वशिष्यसन्तानश्च शाभामुपनीतो भवति । 'अलसत्तणं च' अलसत्त्व च । 'विजडं' त्यक्त भवति । दुर्धरतप समुद्योगात् 'कम्मं च विणिद्धुयं' कर्म च समारमूल विशेषेण निर्द्धत भवति ॥२४४॥

बहुगाणं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।

मग्गो य दीविदो भगवदो य अणुपालिया आणा ॥२४५॥

'बहुगाणं' बहूना । 'संवेगो जायदि' ससारभोरुता जायते । यथा सन्नद्धमेक दृष्ट्वा नूनमत्र भयमस्ति किंचिदहमपि सन्नह्यामीति जन प्रवर्तते । एव तपस्युद्यतमवलीक्य ससारभयादयमेव क्लिश्यति तदस्माकमप्य-निवारितमेवेति विभेति । भीतश्च प्रतिक्रिया प्रारभते । 'सोमत्तणं च मिच्छाणं' मिथ्यादृष्टीना सौम्यता सुमुखता वा जायते । दुर्धरमिः महत्तपो यतीना इति प्रसन्ना भवतीति यावत् । 'मग्गो य दीविदो' मार्गस्त्व मुक्ते प्रकाशितो भवति यतीना बाह्येन तपसा करणभूतेन । न तपसा विना कर्मणा निर्जराऽस्तीति 'भगवदो य अणुपालिदा आणा' भगवत् आज्ञा चानुपालिता भवति यतिना बाह्येन तपसा करणेन ॥२४५॥

देहस्स लाघव संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।

जवणाहागो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥२४६॥

'देहस्स लाघव' शरीरस्य लाघवगुणो बाह्येन तपसा भवति । लघुशरीरस्य आवश्यकक्रिया सुकरा भवन्ति । स्वाध्याय-ध्याने चाक्लेगमाप्यं भवत । 'जेहस्स लूहण' शरीरस्नेहविनाशन च गुण । शरीरस्नेहादेव

उक्त पाँच गायामे जो कुछ कहा है उसका सम्बन्ध 'बाह्यतपसे होता है' इन वाक्यके साथ लगाना चाहिए ॥२४३॥

टी०—बाह्य तपसे आत्मा, अपना कुल, गण, अपनी शिष्य परम्परा शोभित होती है । आलस्य छूट जाता है । और दुर्धर तप करनेसे ससारका मूल कर्म विशेषरूपसे नष्ट होता है ॥२४४॥

टी०—यतिके बाह्य तप करनेसे बहुतसे लोगोको ससारसे भय उत्पन्न होता है । अवश्य ही यहाँ कुछ भय है मे भी तैयारी करता हूँ । इस प्रकार लोग तपमे प्रवृत्त होते हैं । तपमे उद्यत जनको देखकर 'यह ससारके भयसे इस प्रकारका कष्ट उठाता है । हम भी इससे बच नहीं सकते ऐसा मान ससारसे डरता है और डरकर उसका प्रतीकार करता है । तपस्वीको देखकर मिथ्या-दृष्टियोमे भी सौम्यता आ जाती है । यातियोका यह महान तप दुर्धर है इस प्रकार अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं । यातियोके बाह्य तप करनेसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित होता है । क्योंकि तपके बिना कर्मोकी निर्जरा नहीं होती । और भगवान्की आज्ञाका अनुपालन होता है ॥२४५॥

टी०—बाह्य तपसे शरीरमे हलकापन आता है । जिसका शरीर हल्का होता है वह आवश्यक क्रियाओको सरलतासे करता है । तथा स्वाध्याय और ध्यान विना कष्टके होते हैं ।

जनोऽस्यमे प्रवर्तते । शरीरमेवानथहेतुरिति तपोऽपि न करोति । तं नाहित शरीरस्नेहो विनाशितो भवति । 'उचसमो तथा परमो' तथा चोत्कृष्टश्चोपशमां भवति रागादेदु करे तपसि वर्तमानस्य । किं च मम रागेण उपद्रवकारिणा । सति रागे हि नवकर्मबन्धो जायते । चिरन्तनकर्मरसोपबृंहण च । सति चेत्य मदीय । क्लेशो निष्फलो भवेदिति मन प्रणिधानादुपशम । 'जवणाहारो' परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तत्र च गुणो नीरोगतादिकमिति । तथा चाहुमिताशिन पङ्गुणा भजन्ते इति । अपरे शरीरस्थितिमात्रहेतुराहार जवणाहारशब्द शरीरवाच्य इति स्थिता ॥२४६॥

एवमित्यादिनांपसहरति—

**एवंउगमउत्पादणेसणामुद्धभत्तपाणेण ।**

**मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेद कुणदि णिच्चं ॥२४७॥**

'एवमेवं' तयो णिच्चं कुणविति' पदघटना । 'एवं' व्यावर्णितरूपेण । 'एव' एतत् बाह्य तप । 'कुणवि' करोति । 'णिच्च' नित्य । 'उगमउत्पादणेसणामुद्धभत्तपाणेण' उद्गमोत्पादनैषणादोपरहितेन, भक्तेन पानेन च । कीदृग्भूतेन ? "मिदलहुयविरसलुक्खेण" पण्डितेन लघुना, विरमेन, रूक्षेण । एवंभूत शुद्धमाहार भुक्त्वा तप 'कुयन्निशुद्धमिति भाव ।

**उल्लोणोल्लीणेहिं य अहवा एककंतवद्धमणेहिं ।**

**सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुमिंते ॥२४८॥**

'उल्लोणोल्लीणेहिं य' प्रवर्द्धमानेन हीयमानेन च तपसा चतुर्थषष्ठादिक्रमेणानशनतपोवृद्धि । एकत्रि-

शरीरसे स्नेहका विनाश होता है यह भी एक गुण है । शरीरके स्नेहसे ही मनुष्य असयमका आचरण करता है । शरीर ही अनर्थका कारण है । इसीके स्नेहवश मनुष्य तप नहीं करता । अतः तपसे अहितकारी शरीरस्नेहका नाश होता है । दुष्कर तप करनेवालेके रागादिका उत्कृष्ट उपगम होता है । वह मनमे विचारता है, इस उपद्रवकारी रागसे मुझे क्या ? रागके होनेपर नवोन कर्मका बन्ध होता है, और पूर्वबद्धकर्मोंमे रसकी वृद्धि होती है । ऐसा होनेपर मेरा कष्ट सहन निष्फल है । ऐसे विचारसे उपशम होता है । 'जवणाहारो'—इसका अर्थ कोई 'परिमित आहार' करते है । उसमे नीरोगता आदि गुण है । कहा है 'परिमित भोजनमे छह गुण होते हैं ।' अन्य कुछ शरीरकी स्थितिमात्रमे हेतु जो आहार है वह जवणाहार है ऐसा कहते है ॥२४६॥

उक्त चर्चाका उपसहार करते है—

गा०—कहे अनुसार उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे रहित भोजन और पानसे और परिमित, लघु, रसरहित और रूक्ष भोजन पानसे यह बाह्य तप नित्य यति करता है । इसका भाव है कि इस प्रकारका शुद्ध आहार खाकर तप करना चाहिए । अशुद्ध आहार करके नहीं ॥२४७॥

गा०—वर्द्धमान या हीयमान अनशन आदि तपोसे अथवा सर्वथा वर्द्धमान तपोके द्वारा आहारकी विधिको अल्प करता हुआ मुनि शरीरको कुश करता है ॥२४८॥

टी०—चतुर्थ, षष्ठ आदिके क्रमसे अनशन तपकी वृद्धि होती है । एक दो आदि शासक

१ कुयन्निशुद्ध-अ० । कुयुं सुशुद्ध-आ० ।



कवलादिन्यूनतया अवमोदयवृद्धि । एकस्य रसस्य द्वयोस्त्रयाणामित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धि । एक-  
पाटक, गृहसप्तक, गृहनय वा प्रावशामीति, भिक्षाग्रासपरिमाणान्यूनताकरणेन वा वृत्तिपरिसंख्यानवृद्धिः । दिवसे  
आतपन कृत्वा रात्रौ प्रतिमावग्रहकरणमित्यादिना कायक्लेशवृद्धि । एव श्रमे महति सजाते क्रमेण अनशना-  
दीना न्यूनताकरण । 'अहवा' अथवा । 'एयंतवद्दमार्णेहि' एकान्तेन वर्धमान् तपोभि । 'सल्लिहइ' सल्लि-  
खति । 'मुषी' मुनि । 'बेहं' । 'आहारविधि' अशनादिविधि । 'पयणुगितो' अल्पोकुर्वन् ॥२४८॥

प्रकारान्तरेण सल्लेखनोपायमाचष्टे—

**अणुपुव्वेणाहारं संवट्टतो य सल्लिहइ देहं ।**

**दिवसुग्गहिण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ ॥२४९॥**

'अणुपुव्वेण' क्रमेण । आहारं संवट्टतो य आहारं न्यूनयित्वा । सल्लिहइ बेहं तनूकरोति । विवसुग्ग-  
हिणेण तवेण चावि एकैकदिन प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशन, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यानं  
इति । सल्लेहणं कुणइ मल्लेखना करोति ॥२४९॥

**विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं ।**

**संजममविराधेतो जहावल सल्लिहइ देहं ॥२५०॥**

'विविहाहिं' नानाप्रकारं । 'एसणाहिं' भोजनं रसवजितैरप्यल्पं शुष्कंराचाभ्लैर्वा । 'अवग्गहेहिं'  
नानाप्रकारैरवग्रहे । 'उग्गेहिं' उग्रं । 'संजममविराधेतो' संयम द्विप्रकार अविनाशयन् । 'जहावलं' स्व-  
बलानतिवृत्त्या देहं तनूकरोति ॥२५०॥

**सदि आउगे मदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ ।**

**ताओ वि ण बाधंते जहावलं सल्लिहंतस्स ॥२५१॥**

करनेसे अवमोदयकी वृद्धि होनी है । एक रसका, फिर दो रसका, फिर तीन रसका, इत्यादि  
क्रमसे त्याग करनेसे रसपरित्यागकी वृद्धि होती है । में एक पाटकमें या सात घरमें या तीन  
घरमें प्रवेश करूंगा । अथवा भिक्षाके ग्रासोका परिमाण कम करनेसे वृत्तिपरिसंख्यान तपकी वृद्धि  
होती है । दिनमें आतापन योग करके रात्रिमें प्रतिमा योग धारण करने आदिसे कायक्लेशकी  
वृद्धि होती है । इस प्रकार करनेसे महान् श्रम होनेपर क्रमसे अनशन आदिमें कमी करता है ।  
या फिर बढ़ाता ही जाना है और आहारको कम करके मुनि शरीरको कुश करता है ॥२४८॥

प्रकारान्तरसे सल्लेखनाका उपाय कहते हैं—

गा०—क्रमसे आहारको कम करते हुए शरीरको कुश करता है । और एक एक दिन ग्रहण  
किये तपसे, एक दिन अनशन, एक दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस प्रकार सल्लेखनाको करता  
है ॥२४९॥

गा०—नाना प्रकारके रस रहित भोजन, अल्प भोजन, सूखा भोजन, आचान्ल भोजन  
आदिसे और नाना प्रकारके उग्र नियमोंसे दोनों प्रकारके समयमोको नष्ट न करता हुआ यति अपने  
बलके अनुसार देहको कुश करता है ॥२५०॥

१. मायिय दुय तिय चउ पच माम छम्मान सत्त मासो य ।

तिण्णव सत्तराइ राईविय राइपडिमाओ ॥ —मूलागषनादर्पणे ।

'सवि आउते' आयुषि सति । 'सवि बले' सति बले । 'जाओ' या 'विविहाओ' विचित्रा । 'भिक्षु-पडिमाओ' भिक्षुप्रतिमा । 'ताओ वि' ताश्च । 'ण बाधते' न पीडा जनयति महती । कस्य ? 'जहाबलं सल्लिहंतस्स' यथाबल तनुकुर्वत बलमन्तरेण कुर्वत प्रारब्धमहाबलेशस्य योगभङ्ग सकलेशश्च महान् जायते इति भावः ॥२५१॥

शरीरसल्लेखनाहेतुगु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

सल्लेहणा शरीरे तवोगुणविधिं अणेगहा भणिदा ।

आयं बिलं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विति ॥२५२॥

'सल्लेहणा शरीरे' शरीरसल्लेखनानिमित्त शरीरे सल्लेखना इत्युच्यते । 'तवोगुणविधिं' तप सञ्जितो गुणविकल्प । 'अणेगहा भणिदा' अनेकधा निरूपित अतीतमूर्त्तं । 'तत्थ' तत्र । 'महेसी' महर्षय । 'आयं-बिलं दु' आचाम्लाग'नमेव । 'उक्कस्सयं' उत्कृष्टमिति । 'विति' ब्रुवन्ति ॥२५२॥

टी०—आयुके होते हुए और बलके होते हुए अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करने वाले यतिके जो विविध भिक्षु प्रतिमाएँ हैं, वे भी महान् कष्ट नहीं देती । जो शक्तिके बिना करता है उसे प्रारम्भ में ही महान् क्लेश होनेसे योगका भंग तथा महा सकलेश परिणाम होते हैं ॥२५१॥

**विशेषार्थ—**आशाधरजीने एक गाथाके द्वारा उसका अर्थ करते हुए भिक्षु प्रतिमाओका कथन किया है जो इस प्रकार है—

आत्माकी सल्लेखना करने वाला, धैर्यशाली, महासत्त्वसे सम्पन्न, परीपहोका जेता, उत्तम सहनसे विशिष्ट, क्रमसे धर्मध्यान और शुबल ध्यानको पूर्ण करना हुआ मुनि जिस देशमें रहता है उस देशके लिये दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है कि यदि एक मासमें ऐसा आहार मिला तो मैं भोजन करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा । उस मासके अन्तिम दिन वह प्रतिमा योग धारण करता है । यह एक भिक्षु प्रतिमा है । इस प्रकार पूर्वोक्त आहारमें सौगुने उत्कृष्ट अन्य-अन्य भोजन सम्बन्धी नियम लेता है । ये नियम दो, तीन, चार, पाँच, छे और सात मासको लेकर होते हैं । अर्थात् दो या तीन आदि सात मासमें ऐसा आहार मिलेगा तो आहार करूँगा । सर्वत्र नियमोके अन्तिम दिन प्रतिमा योग धारण करता है । ये सात भिक्षु प्रतिमा हैं । पुन पूर्व आहार से सौगुना उत्कृष्ट दुर्लभ अन्य-अन्य आहारका नियम सात-सात दिनका तीन बार ग्रहण करता है । अर्थात् सात दिनमें ऐसा मिला तो ग्रहण करूँगा । ये तीन भिक्षु प्रतिमा हैं । फिर रात दिन प्रतिमायोगसे स्थित रहकर पीछे रात्रि प्रतिमायोग धारण करता है । ये दो भिक्षु प्रतिमा हैं । इनके धारण करनेपर पहले अर्वाधि मन पर्यय ज्ञानको प्राप्त करनेके पीछे सूर्यादय होनेपर केवल-ज्ञानको प्राप्त करता है । इस तरह बारह भिक्षु प्रतिमायोगसे स्थित होकर पश्चात् रात्रि प्रतिमा-योग धारण करता है ॥२५१॥

ऊपर जो शरीरकी सल्लेखनाके हेतु कहे हैं उनमें कौन उत्कृष्ट है, यह कहते हैं—

गा०—शरीरकी सल्लेखनाके निमित्त अनेक प्रकार तप नामक गुणके विकल्प पूर्व गाथाओ के द्वारा कहे हैं । उनमेंसे महर्षि आचाम्लको ही उत्कृष्ट कहते हैं ॥२५२॥

शरीरमल्लेखनोपायोत्कृष्टमाचाम्लाशनमित्युक्तं तत्कीदृगिति चोदिते आह—

**छट्टुडुमदसमदुवालेसेहि भत्तेहि विदियअट्टेहि ।**

**मिदलहुग आहारं करेदि आयबिलं बहुसो ॥२५३॥**

'छट्टुडुमदसमदुवालेसेहि भत्तेहि विदियअट्टेहि' द्वित्रिचतुःपञ्चदिनोपवासं उत्कृष्टं । 'मिदलहुगं आहारं करेदि' परिमितं लघ्वाहारं करोति । 'आयबिलं' आचाम्लं । 'बहुसो' बहुसु ॥२५३॥

भक्तप्रत्याख्यानम्यास्य वर्ष्यमानस्य कियत्काल इत्यत्रोत्तर—

**उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहि णिहिट्ठो ।**

**कालम्मि सपहुत्ते वारसवरिसाणि पुण्णाणि ॥२५४॥**

'उक्कस्सएण' उत्कल्लेण । 'भत्तपइण्णाकालो' भवतप्रत्याख्यानकाल । 'जिणेहि णिहिट्ठो' जिननिदिष्ट । 'कालम्मि' काले । 'सपहुत्ते' महात्त सति । 'वारसवरिसाणि' सम्पूर्णद्वादशवर्षमात्रान् ॥२५४॥

उक्तेषु द्वादशवर्षेषु एव कर्तव्यमिति क्रमं मल्लेखनाय दर्शयति—

**जोगेहि विचित्तेहि दु खवेइ सवच्छराणि चत्तारि ।**

**वियडी णिज्जूहिता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ॥२५५॥**

'जोगेहि' काप्रकलेशे । 'विकित्तेहि दु' विचित्रैरनियतं । 'खवेइ' क्षययति । 'सवच्छराणि चत्तारि' वर्षचतुष्टय । यत्किंचिद्भुक्त्वा । 'वियडी णिज्जूहिता' रसादीन्कीरादीन्परित्यज्य । 'चत्तारि' वर्षचतुष्टय । 'पुणो वि' पुनरपि । 'सोसेदि' तनूकरोति तनूम् ॥२५५॥

शरीरको मल्लेखनाके उपायोमे आचाम्लको उत्कृष्ट कहा, वह कैसा होता है, यह कहते है—

गा०—उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पांच दिनके उपवासके बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार आचाम्लको करते है ॥२५३॥

विशेषार्थ—'अदिविकट्टेहि' के स्थानमे 'वियदि अट्टेहि' पाठ भी मिलता है। उसका अर्थ 'विशेष अतिकष्ट' ऐसा होता है। इस गाथाका तात्पर्य यह है षष्ठ आदि उपवासोसे सकलेशको न प्राप्त होता यति मित और लघु काजी का आहार प्रायः करता है। उसे मल्लेखनाके हेतुओमे उत्कृष्ट कहते है ॥२५३॥

जिस भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन चल रहा है उसका काल कितना है ? इसका उत्तर देते है—

गा०—यदि आयुका काल अधिक शेष हो तो जिन भगवान्ने उत्कृष्टसे भक्त प्रत्याख्यानका काल पूर्ण बारह वर्षं कहा है ॥२५४॥

उक्त बारह वर्षमे ऐसा करना चाहिये, इस प्रकार मल्लेखनाका क्रम बतलाते है—

गा०—नाना प्रकारके कायकलेशोके द्वारा चार वर्षं बिताता है। दूध आदि रसोको त्यागकर फिर भी चार वर्षं तक शरीरको सुखाता है ॥२५५॥

आयबिलिणिष्वियडीहिं दोणिण आयबिलेण एवकं च ।

अद्द णादिविगट्ठेहिं अदो अद्द विगट्ठेहिं ॥२५६॥

'आयबिलिणिष्वियडीहिं' आचाम्लेन निविकृत्या च । 'दोणिण' वर्षद्वय क्षपयति । 'आयबिलेण' आचाम्लनेव । 'एकं च' एक वर्ष । 'अद्द' अवशिष्टस्य वर्षस्य षष्मासान् । 'नादिविगट्ठेहिं' अत्यनुत्कृष्टैस्तपोभिः क्रशयति । 'अदो अद्द विगट्ठेहिं' अतः पर षष्मासान् उत्कृष्टैस्तपोभिः ॥२५६॥

व्यावर्णितेनैव क्रमेण आचरितव्यामिति नियोगो न विद्यते इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्त कालं घादुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा ।

वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभं ण उवयंति ॥२५७॥

'भत्त' आहार शाकबहुल, रसबहुल, कुल्मापप्राय, निष्पावचणकादिमिश्र, शाकव्यञ्जनादिरहित वा । 'खेत्त' अनूपजाङ्गलसाधारणविकल्प । 'कालं' गर्मशीतसाधारणभेद । घानुमान्मन शरीरप्रवृत्ति च । 'पडुच्च' आश्रित्य । 'तह' तथा । 'तव कुज्जा' तप कुर्याज्जहा खोभं ण उवयति । यथा क्षोभं नापयान्ति । 'वादो पित्तो सिंभो वा' वातपित्तश्लेष्मत्रिक ॥२५७॥

शरीरसल्लेखनाक्रममभिधायाम्बन्तरसल्लेखनाक्रममभिधानु अभ्यन्तरसल्लेखनया मह सम्बन्ध कथयन्ति—

एव सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा व फासंतो ।

अज्जवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज्ज ॥२५८॥

'एव'मुक्तेन क्रमेण । 'शरीरसल्लेहणाविहिं' नानाप्रकार । 'फासंतो वि' स्पृशन्न्पि । 'अज्जवसाण-

गा०—आचाम्ल और निर्विकृतिके द्वारा दो वर्ष बिताता है । आचाम्लके द्वारा एक वर्ष बिताता है । मध्यम तपके द्वारा शेष वर्षके छह माह और उत्कृष्ट तपके द्वारा शेष छह मास बिताता है ॥२५६॥

विशेषार्थ—शेष चार वर्षोंमें से दो वर्ष काजी और रस व्यञ्जन आदिसे रहित भात वगैरह खाकर बिताता है । एक वर्ष केवल काजी आहार लेता है । अन्तिम बारहवें वर्षके प्रथम छह महीनोंमें मध्यम तप करता है । अन्तिम छह महीनोंमें उत्कृष्ट तप करना है ॥२५६॥

आगे कहते हैं कि ऊपर कहे क्रमके अनुसार ही आचरण करनेका नियम नहीं है—

गा०—आहार, क्षेत्र, काल अपनी शारीरिक प्रकृतिको विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिये जिस प्रकार वात पित्त और कफ क्षोभको प्राप्त न हो ॥२५७॥

टी०—आहारके अनेक प्रकार हैं—शाक बहुल—जिसमें शाक ज्यादा है, रस बहुल—जिसमें घी दूध आदि रस अधिक है । कुल्मापप्राय—जिसमें कुलथो अधिक है । कच्चे चने आदि से मिला आहार और शाक व्यञ्जन आदिसे रहित आहार । क्षेत्र भी अनेक प्रकारके हैं जिसमें पानीकी प्रचुरता है, वर्षा अधिक होती है, कहीं वर्षा कम होती है । काल गर्मी सर्दी और साधारण होता है । इन सबका तथा अपनी प्रकृतिका विचार करके तप करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य खराब न हो ॥२५७॥

शरीरकी सल्लेखनाका क्रम कहकर अभ्यन्तर सल्लेखनाका क्रम कहनेके लिये अभ्यन्तर सल्लेखनाके साथ सम्बन्ध कहते हैं—

गा०—उक्त क्रमसे नाना प्रकारकी शरीर सल्लेखनाकी विधिको करते हुए भी परिणामो

**विशुद्धि'** परिणामविशुद्धि । 'क्षणमपि न भवेत्क्षण' क्षणक' क्षणमपि न त्यजेत् ॥२५८॥

अभ्यन्तरशुद्धयभावे दोष कथयति—

**अङ्गवसाणविशुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठं पि ।**

**कुण्वति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥२५९॥**

'अङ्गवसाणविशुद्धीए वज्जिदा' अध्यवमानविशुद्धया वज्जिता । 'जे' ये । 'तवं' तप' । 'विगट्ठं पि कुण्वति' उत्कृष्टमपि कुर्वन्ति । 'बहिल्लेस्सा' बहिल्लेश्या पूजासत्काराद्याहितचित्तवृत्तय । 'ण होदि तेसि केवला सुद्धी' दोषोन्मिश्रका भवतीति शुद्धिरिति यावत् ॥२५९॥

केवला शुद्धि कस्य तद्भि भवतीत्याह—

**अविगट्ठं पि तव जो कुरेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ ।**

**अङ्गवसाणविशुद्धो सो पावदि केवल सुद्धि ॥२६०॥**

'अविगट्ठं पि' अनुत्कृष्टमपि तपो य करोति । सुविशुद्धशुक्ललेश्यासमन्वित विशुद्धपरिणाम स केवला शुद्धि प्राप्नोति इति गाथार्थ ॥२६०॥

प्रस्तुता द्वितीया कषायसल्लेखनामक्तयाध्यवसायविशुद्धया योजयति—

**अङ्गवसाणविशुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थिचि ।**

**अङ्गवसाणविशुद्धी कसायसल्लेखणा भणिदा ॥२६१॥**

'अङ्गवसाणविशुद्धी' परिणामविशुद्धि । 'कसायकलुसीकदस्स' कषायं कलुषीकृतस्य । 'णत्थिचि' नास्ति यस्मात् इति तस्मात् । 'अङ्गवसाणविशुद्धी' परिणामविशुद्धि । 'कसायसल्लेखणा भणिदा' कषायसल्लेखनेति गदिता ॥२६१॥

की विशुद्धिको क्षणक एक क्षणके लिये भी न छोड़े ॥२५८॥

अभ्यन्तर शुद्धिके अभावमे दोष कहते है—

गा०—परिणामोकी विशुद्धिको छोडकर जो उत्कृष्ट भी तप करते है उनकी चित्तवृत्ति पूजा सत्कार आदिमे ही लगी होती है । उनके अशुभ कर्मके आश्रवसे रहित शुद्धि नही होती । अर्थात् दोषोसे मिली हुई शुद्धि होती है ॥२५९॥

तब केवल शुद्धि किसके होती है, यह कहते है—

गा०—जो अतिविशुद्ध शुक्ललेश्यासे युक्त और विशुद्ध परिणामवाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धिको पाता है । यह गाथाका अर्थ है ॥२६०॥

प्रस्तुत दूसरी कषाय सल्लेखनाको उक्त अध्यवसान विशुद्धिसे जोड़ते है—

गा०—जिसका चित्त कषायसे दूषित है उसके परिणाम विशुद्धि नही होती । इसलिये परिणाम विशुद्धिको कषाय सल्लेखना कहा है ॥२६१॥

**विशेषार्थ—**जिस मुनिका चित्त क्रोधाग्निके द्वारा कलुषित है उस मुनिके परिणाम विशुद्ध नहीं हैं । अतः उसके कषाय सल्लेखना नही है । कषायके कृश करनेको कषाय सल्लेखना कहते हैं । और कषायके कृश हुए बिना परिणाम विशुद्ध नही होते । अतः परिणाम विशुद्धिके साथ कषाय सल्लेखना का साध्य साधन भाव सम्बन्ध है ॥२६१॥

शुभपरिणामप्रवाहवृत्तेन चतुष्कषायसल्लेखना कृता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कषायाणः  
तनूकरणे उपाय प्रतिपक्षपरिणामचतुष्क कथयति—

**क्रोध खमाए माणं च महवेणाज्जवेण मायं च ।**

**संतोसेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए ॥२६२॥**

क्रोध खमायेत्यादिना कषायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्याग ॥२६२॥

उत्पद्यमानो हि कषायो वृद्धिमुपैतीति कथयति—

**क्रोहस्स य माणस्स य मायालोभाण मो ण एदि वसं ।**

**जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चेव वज्जेइ ॥२६३॥**

'क्रोहस्स य' अश्रव पदघटना । 'जो तेसि कसायाणमुप्पत्तिं चेव वज्जेइ' यत्तेषां कषायाणामुत्पत्ति  
एव परिहरति । 'क्रोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं' क्रोधमानमायालोभाना न नोर्षति  
वश । यस्तेषामुत्पत्तिमपेक्षते स तद्वशग कथ कषायसल्लेखना कुर्यादिति भाव ॥२६३॥

कषायोत्पत्तिं परिहृतुं मिच्छता कि कर्तव्यमित्यत आह—

**तं वत्थुं मोचच्चं जं पडि उप्पज्जदे कमायग्गि ।**

**त वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥२६४॥**

'त वत्थुं मोचच्चं' तदस्तु मोक्षतव्य । 'जं पडि उप्पज्जवे' यन्निमित्त उत्पद्यते 'कसायग्गी' कषायानि ।  
'तं वत्थुमल्लिएज्जो' तदस्तुपाश्रयण कुर्यात् । 'जत्थ' यत्रोपाश्रयणे । 'उवसमो कसायाणं' कषायाणामुपशमो  
भवति ॥२६४॥

**जइ कहवि कसायग्गी समुट्ठिठदो होज्ज विज्झवेदव्वो ।**

**रागदोसुप्पत्ती विज्झादि हु परिहरंतस्स ॥२६५॥**

'जइ कहवि कसायग्गी' यदि कषाचित्कषायानि । 'समुट्ठिठदो होज्ज' समुत्थितो भवेत् । 'विज्झवे-

जो शुभ परिणामोके प्रवाहमे बहता है वही चार कषायोकी सल्लेखना करता है यह  
कहकर, सामान्य से चारो कषायो को कृश करनेका उपाय उनके प्रतिपक्षी चार प्रकारके परिणाम  
हैं, यह कहते हैं—

टी०—क्रोधको क्षमासे, मानको मादवसे माया को आर्जवसे और लोभको सन्तोषसे, इस  
प्रकार चारो ही कषायोको जीतो ॥२६२॥

आगे कहते हैं कि उत्पन्न हुई कषाय बढती है—

टी०—जो उन कषायोकी उत्पत्तिको ही रोक देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया, लोभके  
वशमे नहीं होता ॥२६३॥

जो कषायकी उत्पत्तिसे बचना चाहता है उसे क्या करना चाहिए यह कहते हैं—

गा०—उस वस्तुको छोड़ देना चाहिए, जिसको लेकर कषायरूपी आग उत्पन्न होती है ।  
और उस वस्तुको अपनाना चाहिए, जिसके अपनानेसे कषायोका उपशम हो ॥२६४॥

गा०—यदि थोड़ी भी कसायरूप आग उठती हो तो उसे बुझा दे । जो कषायको दूर  
करता है उसके राग-द्वेषकी उत्पत्ति शान्त हो जाती है ॥२६५॥

टी०—नीच जनकी संगतिकी तरह कषाय हृदयको जलाली है । अशुभ अंगोपांग नामकर्म-

बन्धो' विध्यापयितव्य' । 'रागद्वीमुत्पत्ती' रागद्वेषयोस्त्विति । 'विज्ज्वादिषु द्व' शाम्यत्येव । 'परिहरंतस्स' परिहरत । कषायान्नि प्रशान्तिं नीयते । तद्दोषोपेक्षणेन नीचजनसाङ्गत्यमिव हृदयं दहति, अशुभाङ्गोपाङ्गनामकर्मवद्विरूपानन करोति । रज इव चक्षुषो रागमानयति । महासमीरण इव तनुं कम्पयति । सुरापानमिव यत्किंचिन्निरुदयति<sup>१</sup> । समीचीनज्ञानलोचनं मलिनयति । दर्शनवनमुत्पाटयति । चारित्रसरो शोषयति । तपःपल्लव भस्मयति । अशुभप्रकृतिलता स्थिरयति । शुभकर्मफल विरसयति । प्रत्यग्रमनोमल दौकयति । हृदयं कठिनयति । प्राणभूतो घातयति । भगवतीममत्या प्रवर्तयति । गुरूनपि गुणान्मलङ्घयति । यशोधन नाशयति । परानपवादयति । महतोऽपि गुणान्स्वययति । मैत्रीमुन्मूलयति । कृतमप्युपकारं विस्मारयति । अपकारमध्यापयति । महति नरकगते पातयति । दुःखावर्ते निमज्जयतीत्यनेकानर्थाविह्वलभावनाया ॥२६५॥

रागद्वेषप्रशान्त्युपायकथनाय गाथा<sup>२</sup>—

जावति केइ संग्गा उदीरया होंति रागदोसाणं ।

ते वज्जतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥२६६॥

'जावति केइ सगा' यावन्तं केचन परिग्रहा । 'उदीरया होंति रागदोसाणं' उत्पादका भवन्ति रागद्वेषयो । 'ते वज्जतो' तान्परिग्रहास्तिराकुवन् । 'जिणदि हु' जयत्येव । 'रागं दोसं च' रागद्वेषी । 'णिस्संगो' निःपरिग्रह ॥२६६॥

के उदयसे जो मुख विरूप होता है वैसे ही कषायके उदयसे मनुष्यका मुख क्रोधसे विरूप हो जाता है । जैसे धूल पड़नेसे आँख लाल हो जाती है उसी तरह क्रोधसे आँख लाल हो जाती है । जैसे महावायुसे शरीर काँपने लगता है वैसे ही क्रोधसे मनुष्य काँपने लगता है । जैसे शराबी शराव पीकर जो चाहे बकना है वैसे ही क्रोधसे मनुष्य जो चाहे बोल देता है । जैसे जिसपर भूतका प्रकोप होता है वह कुछ भी करता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे करता है । कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टिको मलिन कर देती है । सम्यग्दर्शनरूपी वनको उजाड़ देती है । चारित्ररूपी सरोवरको सुखा देती है । तपरूपी पत्रोको जला देती है । अशुभकर्मरूपी बेलकी जड़ जमा देती है । शुभकर्मके फलको रमहीन कर देती है । अच्छे मनको मलिन करती है । हृदयको कठोर बनाती है । प्राणियोका घात करती है । वाणोको असत्यको आर ले जाती है । महान् गुणोका भी निरादर करती है । यशरूपी धनको नष्ट करती है । दूसरोको दोष लगाती है । महापुरुषोके भी गुणोको टाँकती है, मित्रताकी जड़ खोदती है । किये हुए भी उपकारको भुलाती है । महान् नरकके गडेमे गिराती है । दुःखोके भँवरमे फँसाती है । इस प्रकार कषाय अनेक अनर्थ करती है । ऐसी भावनासे कषायको शान्त करना चाहिए ॥२६५॥

आगे गाथाके द्वारा रागद्वेषकी शान्तिके उपाय कहते हैं—

गा०—जितने भी परिग्रह रागद्वेषको उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहोंको छोड़नेवाला अपरिग्रही साधु राग और द्वेषको निश्चयसे जीतता है ॥२६६॥

१ विज्ज्वादिषु अ० । विज्जादिसु आ० । २. यति । आविष्टिग्रह इव यत्किंचन कारयति समी-मु० ।

३ गाथार्थ., अ० ।

एवमुदयमुपयाति कषायान्नि स चेत्यमपकार करोत्येव प्रणान्ति नेतव्य इत्येतद्गाथाप्रबोधाहरणे-  
नोच्यते—

**पडिचोदणासहणवायुखुभिदपडिवयणइंधणाइद्वो ।**

**चंडो हु कसायग्गी सहसा संपज्जलेज्जाहि ॥२६७॥**

'पडिचोवणा' प्रतिचोदनाया असहनमेव वात तेन क्षुभितः, प्रतिवचनेन्धनैरिद्ध क्रूर. कषायान्नि-  
सहसा प्रज्वलति ॥२६७॥

**जलिदो हु कसायग्गी चरित्तमार डहेज्ज कसिणं पि ।**

**सम्मत्तं पि विराधिय अणंतसंमारियं कुज्जा ॥२६८॥**

'जलिवो हि कसायग्गी' ज्वलितवच कषायान्नि । 'चरित्तसार' चारित्र्याख्य सार दहत्येव । सम्पक्त्व  
विनाशानन्तसमारपरिभ्रमणे रत कुर्यादेव ॥२६८॥

**तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव ।**

**इच्छामिच्छादुक्कडवदणसल्लिण विज्जाहि ॥२६९॥**

'तम्हा खु' तस्मात्खलु कषायान्नि पापमूल्यद्यमानमेव प्रशमयेत् । केन "इच्छामि भगवत शिक्षा, मिथ्या  
भवतु मम दुष्कृत, नमस्तुभ्यं" इत्येवभूतेन सल्लिण ॥२६९॥

**तह चेव णोकसाया सल्लिहियच्चा परेणुवसमेण ।**

**सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ ॥२७०॥**

इस प्रकार कषायरूपी अग्निका उदय होता है और वह इस प्रकार अपकार करती है,  
तथा इस प्रकारसे उसे शान्त करना चाहिए, यह तीन गाथाओसे कहते हैं—

टी०—शिष्यकी अयोग्य प्रवृत्तिको रोकनेके लिए गुरुके द्वारा शिक्षा दिये जानेपर शिष्यने  
जो प्रतिकूल वचन कहे वह गुरुको सहन नहीं हुए । वही हुई वायु । उस वायुसे गुरुके मनम आग  
भडक उठी । उसके पश्चान् गुरुने शिष्यको पुन समझाया तो शिष्यने पुन. प्रतिकूल वचन कहे ।  
उसने गुरुकी कोपान्निमे ईधनका काम किया तो आग भडक उठी । अथवा गुरुने शिष्यको शिक्षा  
दी । शिष्य उससे क्रुद्ध हुआ । शिष्यकी क्रोधरूप वायुमें क्षुब्ध होकर गुरुने पुन उसे शिक्षा दी ।  
उस शिक्षाने शिष्यकी क्रोधाग्निको भडकानेमे ईधनका काम किया । ऐसे भयानक कषायान्नि  
सहसा भडकती है ॥२६७॥

गा०—जलती हुई कषायरूप आग समस्त चारित्र नामक मारको जला देती है । सम्पक्त्व-  
को भी नष्ट करके अनन्त ससारके परिभ्रमणमे लगा देती है ॥२६८॥

टी०—इसलिए पापरूप कषायान्निको उत्पन्न होते ही बुझ देना चाहिए उसको बुझानेका  
जल है—मे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी शिक्षाकी इच्छा करता हूँ । मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मे  
नमस्कार करता हूँ ॥२६९॥



'सह चेष नोकसाया' तर्धव नोकषाया तनुकर्तव्या । 'बरेणुवसमेण' परेणोपशमेन । सजा, गारवाणि, अशुभाश्च लेख्या, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदा' नोकषाया इत्युच्यन्ते । आहारभयमैथुन-परिग्रहाभिलाषा सजा । ऋद्धो तोत्राभिलाषो, रसेधु, मुखे च गा'रवशब्देन उच्यते ॥२७०॥

कषायवत्स्वार्थं शकृत्वाविशेषान्नोकषायादीनामपि मुमुक्षो सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

परिवडिददोवघाणो विगडसिराण्हारुपासुलिकडाहो ।

सल्लिह्दितणुसरीरो अज्झप्परदो हवदि णिच्चं ॥२७१॥

'परिवडिददोवघाणो' परिवर्द्धितावग्रह । अन्येषा पाठ 'परिवर्द्धित्वावघाणो परिवर्धितावधान । 'बिष-डसिराण्हारुपासुलिकडाहो' प्रकटीभूता महत्त्व अल्पाश्च सिरा पावर्त्तास्थिमहत्त्व कटाक्षदेशाश्च यस्या । 'सल्लि-हिवतणुसरीरो' सम्यक्तनुकृत शरीर यस्या म । 'अज्झप्परदो' अध्यत्मं ध्यान तत्र रत । 'होइ' भवति । 'णिच्च' नित्य ॥२७१॥

एवं कदपरियम्मो सबन्तरवाहिरम्मि सल्लिहणे ।

संसारमोक्खबुद्धी सच्चुवरिल्लं तवं कुणदि ॥२७२॥

'एवं कदपरियम्मो' एवमुत्तेन क्रमेण कृतपरिकर । 'सबन्तरवाहिरम्मि सल्लिहणे' अभ्यन्तरसल्लेखना-सहिताया बाह्यमल्लेखनाया । 'संसारमोक्खबुद्धी' संसारत्यागे कृतबुद्धि 'सच्चुवरिल्लं तवं' सर्वैस्त्वस्तपोम्य-उत्कृष्ट तपश्चरति । सल्लेहणा सम्मत्ता ॥२७२॥

सल्लेखनानन्तरं कार्यमुपदिशति—

वोहुं गिलादि देह पव्वोठव्वमिणसुचिभारोचि ।

तो दुक्खभाग्गीदो कदपरियम्मो गणमुवेदि ॥२७३॥

गा०-टी०—इसी तरह उत्कृष्ट उपशमभावके द्वारा नोकषाय, सजा, गारव और अशुभ लेख्याओका घटाना चाहिए । हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंस्त्ववेद, नपुंसक वेद इन्हे नोकषाय कहते हैं । आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी चाहका नाम सजा है । ऋद्धिकी तोत्र अभिलाषा, रस और मुखकी चाहको गारव कहते हैं ॥२७०॥

गा०-टी०—जो प्रतिदिन अपने नियमोको बढाता है, जिमकी बडी और छोटी सिरायें, दोनो ओगकी हडिडयाँ और नेत्रोकी हडिडयाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं—शरीरको सम्यक् रूपसे कृण करनेवाला वह यति नित्य आत्मामे लीन रहता है ॥२७१॥

गा०-टी०—उक्त क्रमके अनुसार अभ्यास करनेवाला अभ्यन्तर सल्लेखना सहित बाह्य सल्ले-खना करनेपर संसारके त्यागका दृढ निश्चय करके सब तपोंसे उत्कृष्ट तप करता है ॥२७२॥

सल्लेखना समाप्त हुई ।

सल्लेखनाके अनन्तर होनेवाले कार्यका उपदेश देते हैं—

१ गौरव-अ०, आ० । २ परिवघाणो-अ० । ३ ह्वरइ चरति-अ० ।

'बोडु' गिलामि देहं' शरीरोद्बहनहर्षरहित । 'पब्बोडव्व इणमसुइभारोत्ति' परित्यागार्हमिव अशुचि-  
भारभूत शरीरमिति कृतचित्त । 'तो' पश्चाद् 'दुःखभारबीबो' दुःखभाजनाच्छरीराद्भीत । 'कयपरिकम्मो'  
कृतसमाधिमरणपरिकर । 'गणं' शिष्यवृन्दं । 'उव्वेवि' दौकते । अन्यथा पाठ 'बोडु' गिलामि देहं' इति ।  
ते व्याख्यानयन्ति—शरीरं बोडु अकृतादरोऽस्मि । पब्बोडव्वमिणमसुइभारोत्ति परित्याग्यमिद अशुचिभारभूत  
शरीरमिति कृतनिश्चय ॥२७३॥

सल्लेहणं करेतो यदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण ।

ताए वि अवत्थाए चित्तेदव्वं गणस्स हियं ॥२७४॥

'सल्लेहणं करेतो' सल्लेखना कर्तुं मुद्यत । 'जइ' यदि 'आयरिओ हवेज्ज' आचार्यो भवेत् । 'तो' तत ।  
'तेण' तेन । 'ताए वि' तस्यामपि । 'अवत्थाए' अवस्थाया । 'चित्तेयव्वं' चिन्तनीय । 'गणस्स' गणस्य ।  
'हियं' हित ॥२७४॥

कालं संभावित्ता सव्वगणमणुदिसं च बाहरिय ।

सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे' मंगलोगासे ॥२७५॥

'काल संभावित्ता' आत्मन आयु स्थिति विचार्य । 'सव्वगणं' सर्वगण । 'अणुदिसं च' बालाचार्य च ।  
'बाहरिय' व्याहृत्य । 'सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे' सौम्ये दिने, करणे, नक्षत्रे, विलम्बे 'मंगलोगासे' शुभे  
देशे ॥२७५॥

गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खु ।

तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि घीरो ॥२७६॥

गा०-टी०—यह अपवित्र और भागरूप शरीर त्यागने योग्य है ऐसा निश्चय करके जो  
शरीरको धारण करनेसे ग्लानि करता है उसे शरीरके धारण करनेमें कोई हर्ष नहीं होता । पीछे  
दुःखके घर इस शरीरसे डरकर समाधिमग्नकी तैयागी कर्त्ता हुआ अपने शिष्योंके पास जाता है ।

दूसरे आचार्य 'बोडु गिलामि देह' ऐसा पाठ पढते हैं वे उसकी व्याख्या इस प्रकार करते  
हैं—मुझे शरीर धारण करनेमें कोई रुचि नहीं है यह अशुचि और भागरूप शरीर छोड़ने योग्य  
है ऐसा मैंने निश्चय किया है ॥२७३॥

गा०-टी०—सल्लेखना करनेवाले दो प्रकारके होते हैं—एक आचार्य, दूसरे साधु । यदि  
आचार्य हो तो उसे उस अवस्थामें भी गणका हित विचारना चाहिए । अर्थात् आचार्य यदि सल्ले-  
खना धारण करनेका निश्चय करे तो उसे अपने सपके सम्बन्धमें भी विचार करना चाहिए कि  
उसकी क्या व्यवस्था की जाये ॥२७४॥

गा०-टी०—अपनी आयुकी स्थिति-विचारकर समस्त सपको और बालाचार्यको बुलाकर  
शुभ दिन, शुभकरण, शुभनक्षत्र और शुभलग्नमें तथा शुभ देशमें ॥२७५॥

गा०-टी०—गच्छका अनुपालन करनेके लिए गुणोंसे अपने समान भिक्षुका विचार करके

'गच्छानुपालनार्थं' गच्छानुपालनार्थं । 'आहोइय' विचार्यं । 'अस्तगुणसम' आत्मनो गुणैः समान । 'निष्पु' भिक्षु । 'तो' तत् । 'तस्मि' तस्मिन् । 'गणबिसर्ग' गणत्याग । 'अप्यकहाए' अल्पया कथया । 'कृणइ धीर' करोति धीर । अन्ये तु वदन्ति 'अप्यणो' कथयेति ॥२७६॥

किमर्थमेव प्रयतते सूरि ?

**अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ।**

**अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा बोणि बोषिचा ॥२७७॥**

'अव्वोच्छित्तिणिमित्तं' धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य व्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थं । 'सव्वगुण-समोयरं' सर्वगुणमन्वित । 'तयं' तत्र 'णच्चा' ज्ञात्वा, 'अणुजाणेवि' अनुज्ञा करोति । 'दिसं' आचार्य 'सो' स एष । दिसा आचार्य 'बोत्ति' युष्माकमिति । 'बोषिचा' बोधयित्वा । 'दिसा समत्ता' ॥२७७॥

क्षमाग्रहणक्रम निरूपयति—

**आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि य तं गणिं ठवेदूण ।**

**तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्डाउलं गच्छं ॥२७८॥**

'आमंतेऊण गणिं' आमन्त्र्य आचार्यं । 'गच्छम्मि य' गणे । 'तं गणिं ठवेदूण' त आत्मनानुज्ञात स्थाप-यित्वा, स्वयं पृथग्भूत्वा । 'तिविहेण खमावेदि' क्षु स बालउड्डाउलं गच्छं' मनोवाक्कायैर्ग्रहयति क्षमा स बालवृद्धं सकीर्णं गण ॥२७८॥

**जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहरागेण ।**

**कडुगपरुमं च भणिया तमहं मव्वं खमावेमि ॥२७९॥**

'जं दीहकालसंवासदाए' दीर्घकाल सह सवामेन यज्जात ममत्वं, स्नेहो, द्वेषो, रागश्च तेन । 'जं' यत् 'कडुगपरुमं च भणिया' कटुक परुष वा वच भणिता 'तं' तत् युष्मान् । 'मव्वं खमावेमि' सर्वान् क्षमा प्राहयामि ॥२७९॥

पश्चान् वह धीर आचार्यं थोडीसी वातचित्त पूर्वक उस पर गणका त्याग करता है ॥२७६॥

आचार्यं ऐसा क्यों करते है ? यह कहते है—

गा०-टी०—ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक धर्मतीर्थकी व्युच्छित्ति न हो, इसलिए उसे सब गुणोंसे युक्त जानकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा गिप्योको समझाकर आप इस गणका पालन करे ऐसा उस नवीन आचार्यको अनुज्ञा करते है ॥२७७॥

दिसा प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब क्षमाग्रहणका क्रम कहते है—

गा०-टी०—आचार्यको बुलाकर गणके मध्यमे उस अपने द्वारा स्वीकृत गणीको स्थापित करके और स्वयं अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियोसे भरे उस गणसे वह पुराने आचार्य मन वचन कायसे क्षमा मांगते है ॥२७८॥

गा०-टी०—दीर्घकाल तक साथ रहनेसे उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और रागसे जो कटुक

गणन संपाद्य क्रममाचष्टे—

**बंदिय णिसुडिय पडिदो तादार सव्ववच्छल तादि ।**

**धम्मायरियं णिययं खामेदि गणो वि तिविहेण ॥२८०॥**

'बंदिय णिसुडिय पडिदो' अशिवथ सकुचितपतित । 'तादारं' मसारदु खानत्रातार । 'सव्ववच्छलं' सर्वेषा वत्सल । 'तादि' यति । 'धम्मायरियं' दशावधे उत्तमक्षमादिके धर्म, स्वय प्रवृत्तं अन्वेषा प्रवतक । 'णिययं' आत्मीय । 'खामेदि गणो वि तिविहेण' क्षमा ग्राह्यति गणांस्त्रविधेन । 'समावणा समता ॥२८०॥

अनुशासननिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्ध —

**संबेगजणियहासो सुत्तथविसारदो सुदरहस्सो ।**

**आदट्ठचित्तओ वि हु चित्तेदि गणं जिणाणाए ॥२८१॥**

'संबेगजणिवहासो' मंसारभूतया करणभूतया उत्पाटितहास । परिग्रहेऽन्मस्त्यक्तं अभ्यन्तगश्च रागादय निमित्तापायादपयान्ति । तदपगमात्तन्मूलस्थितौ नि कर्माणि प्रलयमुपव्रजन्ति । तेषु नष्टेष्वेव चतुर्गति-भ्रमण नश्यति' इति जान हर्ष । 'सुत्तथविसारदो' सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थे च विमारदा निपुण 'सुदरहस्सो' श्रुतप्रायश्चित्तप्रथ । 'आदट्ठचित्तओ वि हु' आरमप्रयोजनचिन्तापणोऽपि । 'चित्तेदि गण जिणाणाए' जिनाना-माज्ञया गणचिन्ता करोति ॥२८१॥

और कठोर वचन कहे गये आपसे मै उन सबको क्षमा मांगना हूँ ॥२७९॥

गणके द्वारा किये जाने वाले कार्यको कहते है—

गा०—टी०—वन्दना करके, पृथ्वीपर पांचो अगोको स्थापित करके अर्थात् पञ्चाग नमस्कार करके ससारके दु खोसे रक्षा करने वाले सबको प्रिय अपने दश प्रकारक उत्तम क्षमादिरूप धर्ममें स्वयं प्रवृत्त और दूसरोको प्रवृत्त करने वाले आचार्यसे गण भी मन वचन कायमें क्षमा मांगता है ॥२८०॥

क्षमाका प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे अनुशामनका कथन करते है—

गा०—टी०—संसांसे डरनेके कारण जिसे हर्ष प्रकट हुआ है अर्थात् इस परिग्रहवा त्याग करने पर अभ्यन्तर रागादि अपने निमित्तका विनाश होनेसे चल जायेगे क्योंकि बाह्य परिग्रह रागादिके उत्पत्तिमें निमित्त है अत निमित्तके न रहनेसे नैमित्तिक रागादि भी नहीं रहेंगे । और रागादिके न रहनेसे रागादिके कारण बन्धने वाले कर्म नष्ट हो जायेगे । उनके नष्ट होने पर चार गतियोंमें भ्रमण नष्ट हो जायेगा, इसलिए जिसे हर्ष उत्पन्न हुआ है, और जिन भगवान्के द्वारा कहे गये सूत्र और उसके अर्थमें जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्त शास्त्र सुना है वह आचार्य अपने प्रयोजनकी चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान्की आज्ञासे गणकी चिन्ता करता है । अर्थात् यद्यपि आचार्य संल्लेखना धारण करनेके लिए अपना गण त्यागकर दूसरे गणमें जानेके लिए तत्पर है फिर भी गणकी चिन्ता करके उसे उपदेश देते है ॥२८१॥

१. इति विजित हर्षः आ० मु० ।

णिद्धमहुरगंभीरं गाहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ।

अणुसिद्धिं देइ तहिं गणाहिवइणो गणस्स वि य ॥२८२॥

'णिद्ध' स्नेहसहिता । 'महुर' माधुर्यसमन्विता । 'गभीर' सारायवतया गृहीतगाम्भीर्या । 'गाहुतं' घ्राट्टिका सुखावबोधो । 'पल्हादणज्जपत्थं च' चेत प्रल्हादविधायिनी । 'पत्थं' पथ्या हिता । 'अणुसिद्धिं देइ' अनुसिद्धिं ददाति । 'तहिं' तस्मिन्पूर्वोक्ते काले देशे च । 'गणाहिवइणो गणस्स वि य' गणाधिपतये गणाय च ॥२८२॥

वड्ढंतओ विहागे दंसणणाणचरणेसु कायव्वो ।

कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गे ॥२८३॥

'वड्ढंतयो विहारो कायव्वो' वर्धमानविहार कार्य । दव ? 'सव्वेसि कप्पाकप्पाट्टियाणं अणागदे मग्गे' सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्मिताना मुक्तिमार्गो । प्रमत्तसयतादिगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्म दसणवद-सामायिकार्थादविरूपेण प्रवृत्तिधर्मोऽपि विचित्ररूप । तस्य सकलस्योपादान सर्वेषामित्यनेन । कोऽपि मार्ग इत्याश-कायामाह—मामान्येन 'दंसणणाणचरणेसु' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु । चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुप-देश ॥२८३॥

सूरये कथयन्ति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण वड्ढंती ।

उदधितेण वरणदी तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि ॥२८४॥

'संखित्ता वि य' संक्षिप्तापि च 'पवहे' प्रवाहे प्रबहृत्यस्मादिति प्रवाह उत्पत्तिस्थान तत्र संक्षिप्तापि मती वरनदी । 'जह वच्चइ' यथा व्रजति । 'वित्थरेण' पृथुलतया । 'वड्ढंती' वर्द्धमाना । 'उदधितेण' याव-त्समुद्र । 'तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि' तथा शीलगुणीस्त्व वर्धस्व ॥२८४॥

मज्जाररसिदसरिसोवम तुमं मा हु काहिसि विहारं ।

मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पाणं चैव गच्छं च ॥२८५॥

गा०—टी०—उस पूर्वोक्त शुभ तिथि आदिसं युक्त काल और देशमे गणाधिपति और गणको भी स्नेह सहित, माधुर्यसे युक्त, सारवान होनेसे गम्भीर मुखसे समझमे आने वाली, चित्तको आनन्द दायक और हितकारी शिक्षा देने है ॥२८२॥

गा०—टी०—सब प्रवृत्ति और निवृत्ति मे स्थित मुनियो और गृहस्थोको मुक्तिके मार्गमे सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रमे वर्धमान विहार उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए । यति धर्म प्रमत्त सयन आदि गुणस्थानोकी अपेक्षा अनेक प्रकार है । प्रवृत्ति रूप गृहस्थ धर्म भी दर्शन, व्रत सामायिकके भेदसे अनेक प्रकार है । उस सबका ग्रहण यहाँ 'सब' शब्दसे किया है । यह चारों प्रकारके सधको लक्ष्य करके आचार्य उपदेश देते है ॥२८३॥

नये आचार्यको कहते है—

गा०टी०—उत्पत्ति स्थानमे छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तारके साथ बढ़ती हुई समुद्र तक जाती है उसी प्रकार तुम शील और गुणोसे बढ़ो ॥२८४॥

‘मञ्जाररसिबसरितोबभम्’ मार्जारस्य रसित रटन मार्जाररसित तेन सह सादृश्य उपमा परिच्छेदो यस्य विहारस्य तन्मार्जाररसितसदृशोपम विहार चरण । ‘तुम’ भवान् । ‘मा ह्य काहिसि’ मा कार्षी । मार्जारस्य रसित प्राइमहत् क्रमेणापनीयते तद्ब्रह्मत्रयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मन्दायमाना न कर्तव्येति यावत् । ‘मा शासेहिती दोष्णि वि असाणं खेव गच्छं च’—आत्मनो गणस्य च विनाश मा कृथा । प्रथम-मेवातिदुर्घरचारित्रतपोभावनाया प्रवृत्तो भवान् गण च तथा प्रवर्त्यमानो दुश्चरतया नश्यति ॥२८५॥

जो सघरं पि पलिचं णेच्छदि विज्झविदुमलसदोसेण ।

किह सो सदहिदब्बो परघरदाहं पसामेदुं ॥२८६॥

‘जो सघरं पि’ य स्वगृह अपि । दह्यमानमालस्यान् वाञ्छति विद्यापयितुं कथमसौ श्रद्धातव्य परकीयगृहदाह प्रशमयितुं उद्योग करोतीति ॥२८६॥

तस्माद्भूवर्तव प्रवतितव्यमित्याचष्टे—

वज्जेहि चयणकप्पं सगपरपक्खे तथा विरोधं च ।

वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ॥२८७॥

‘वज्जेहि चयणकप्पं’ वर्जय अतिचारप्रकार ज्ञानदर्शनचारित्रविषय । अवाचनाकाले अस्वाध्यायकाले वा पठन । श्रेयशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि वा विना । निह्वव, ग्रन्थार्थयोरशुद्धि, अबहुमान इत्यादिको ज्ञानातिचार । शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्स्यान्वृष्टिप्रशमास्तवा सम्यग्दर्शनातिचारा । समितिभावनारहितता चारित्रातिचार । एते च्यवनकल्पेनोच्यन्ते । सगपरपक्खे तथा विरोहं च’ धर्मस्वेपु, मिथ्यादृष्टिषु च विरोध वर्जयेत् । चेत समाधानविनाशकारण वादं च वज्जणीय । वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जय पराजय परस्य वा

गा०—टी०—तुम विलावके शब्दके समान आचरण मत करना । विलावका शब्द पहले जोरका होता है फिर क्रमसे मन्द हो जाता है उसी तरह ब्रह्मत्रयकी भावनाको पहले बड़े उत्साहसे करके पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना । और इस तरह अपना और सध दोनोंका विनाश न करना । प्रारम्भमे ही कठोर तपकी भावनामे लगकर आप और गणको भी उसीमे लगाकर दुश्चर होनेसे विनाशको प्राप्त होगे ॥२८५॥

गा०—टी०—जो जलते हुए अपने घरको भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता । उसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरेके जलते घरको बचायेगा ॥२८६॥

इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—टी०—ज्ञान दर्शन और चारित्रके विषयमे अतिचारको दूर करो । जो वाचना और स्वाध्यायका काल नहीं है उसमे क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, और भाव शुद्धिके बिना वाचना आदि करना, निह्वव, ग्रन्थ और अर्थकी अशुद्धि, आदरका अभाव इत्यादि ज्ञान विषयक अतिचार हैं । शंका, काङ्क्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और सस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं । समितिकी भावना न होना चारित्रका अतीचार है । ये सब ‘च्यवनकल्प’ कहे जाते हैं । धार्मिको और मिथ्यादृष्टियोंके साथ विरोध नहीं करना चाहिए । चित्तकी शान्तिको भंग करने वाला वाद भी नहीं करना चाहिए । वाद करने वाला जिस प्रकार अपनी जय और दूसरेकी पराजय हो यही

भवति तदेवान्बोधते न तत्त्वसमाधानवान् । 'विसर्गिभूदे कसाये य' कषाय हि क्रोधादय स्वस्य परस्य च मृत्यु उपानयन्ति इति विषमूता , हृदय दहन्तीति दहनमूतास्ताश्च वर्जय ।

तथा चोक्त— त्रिलोकमल्लाः कुलशीलशत्रवो, मलानि दुर्भाग्यतमानि चापि ते ।

यशोहरा हानिकरास्तपस्विनां, भवन्ति दौर्भाग्यकरा हि देहिनाम् ॥ १ ॥—[ ]

न केवल ते परलोकलोपिनः, इमं च लोकं क्रशयन्ति वायणाः ।

न धर्ममात्रस्य च विघ्नहेतवो, धनस्य कामस्य च ते विघातकाः ॥ २ ॥ इति—[ ]

**णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।**

**ण चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणघणी सो ॥२८८॥**

'णाणम्मि दसणम्मि य' रत्नत्रये गणमात्मान च यो न स्थापयितु समर्थो नैवाप्सो गणधर । ण च एवि न समर्थ । बहवो मम वशवतिन मन्ति एतावता भवतीति गणित्वगर्वो मामुदिति भाव ॥२८८॥

कीदृक्ताहि गणधरो भवतीति चेदेवभूत इत्याचष्टे—

**णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।**

**चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥२८९॥**

स्पष्टार्था गाथा ॥२८९॥

**पिंडं उवाहिं सेज्जं अविशोहिय जो हु भुंजमाणो हु ।**

**मूलट्ठाण पत्तो मूलोचि य समणपेल्लो सो ॥२९०॥**

प्रयत्न करता है तत्त्वका समाधान नहीं करता । क्रोधादि कषाय अपनी और दूसरेकी मृत्युमें कारण होती है इसलिए वे विषरूप है और हृदयको जलाती हैं इसलिए आगके समान है । उन्हें छोड़ना चाहिए । कहा भी है—

ये कषायें तीन लोकमें मल्लके समान है । कुल और शीलके शत्रु है । वे ऐसे मल है जिनको दूर करना सबसे कठिन है । ये कषायें तपस्वियोंकी हानि करने वाली और उनके यशको हरने वाली हैं तथा प्राणियोंके दुर्भाग्यको करने वाली है । 'वे कषायें केवल परलोकको ही नष्ट नहीं करती, किन्तु इस लोकको भी हीन करती हैं । वे केवल धर्ममें ही विघ्न नहीं डालती किन्तु अर्थ और काम की भी घातक है' ॥२८७॥

टी०—आगमके सारभूत तीन दर्शन ज्ञान और चारित्र्य रत्नत्रयमें जो गणको और अपनेको स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है वह गणधर नहीं है । मेरे अधीन बहुतसे मुनि हैं इसलिए आपमें गणी होनेका घमण्ड नहीं होना चाहिए ॥२८८॥

तब गणधर कैसा होता है यह कहते हैं—

गा०—आगमके सारभूत तीन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र्यमें अपनेको और गणको स्थापित करनेमें जो समर्थ होता है वह गणधर है ॥२८९॥

१. वतो न ग-अ० । २ अ० आ० प्रत्यो' इयं गाथा 'णाणम्मि दसणम्मि इति लिखिता, न सर्षा ।

**पिंड उवाहि सेज्जं उग्गमउत्पादपेसणादीहिं ।**

**चारित्तरक्खणट्ठं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ॥२०१॥**

'पिंड' आहार, 'उवाहि' उपकरण, 'सेज्जं' वसति । सोधिंतो शोधयन् । 'उग्गमउत्पादपेसणादीहिं' उद्गमोत्पादनपेसणादिभिर्दोषैः । किमर्थं शोधयति ? 'चारित्तरक्खणट्ठं' चारित्ररक्षणार्थं उद्गममदिदोष परिहरति । सुमयत इति लोके यथा मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशने लाभो ममेत्थ भवतीति वा चेतस्य-क्ल्वेति भावः । एवभूत सुचरित्रो भवतीति यति ॥२०१॥

**एसा गणधरमेरा आयाग्ग्थाण वण्णिया सुत्ते ।**

**लोगमुहाणुरदाणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ॥२०२॥**

'एसा गणधरमेरा' एसा गणधरमर्यादा । 'सुत्ते वण्णिवा' सूत्रं निरूपिता । केया ? 'आयाग्ग्थाण' आचारस्थाना । पञ्चविधे आचारे ये स्थितास्तेषा गणिता व्यवस्था सूत्र वणिता । 'लोगमुहाणुरदाणं' लोकाभुवतिना मुखेप्सूना च । यथेच्छया असयतजनममयां सुखादरश्च शास्त्रे निषिद्ध । तत्र ये वर्तन्ते स्वेच्छया तेषा 'अप्पच्छंदो' आत्मेच्छा एव केवला न तेषा गणधरमर्यादा सूत्रे 'वणिता' । अथवा लोकमुख नाम मूढाहारभोजन, यथाकाम, मृदुशयामन, मनाजे वध्मति वसन च तत्र रताना त्रिपयातुराणामित्यर्थ ॥२०२॥

**मीदावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ।**

**सो णवरि लिगधारी संजममारेण णिस्तारां ॥२०३॥**

'सीदावेइ' मद करोति । 'विहार' चारित्र रत्नत्रये प्रवृत्ति । 'सुहसीलगुणेहिं' सुखसमाधानाम्पार्श्वे । 'जो अबुद्धीओ' यो बुद्धिरहित । 'सो' णवरि लिगधारी' स बुध्यात्प्री भवति, द्रव्यलिग धारयति । 'सजम-सारेण णिस्तारां' मयमाह्वये इन्द्रियप्राणसयमविकल्पेन सारेण नि मार केवलनम म इति ।<sup>३</sup> एतदुक्त भवति ॥२०३॥

गा०—आहार, उपकरण और वसतिका शोधन किये बिना जो उमका सेवन करता है वह साधु मूल स्थान नामक दोषको प्राप्त होता है और वह भ्रष्टश्रमण<sup>४</sup> है ॥२०१॥

आहार, उपकरण और वसतिका जो उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषोपे चारित्र-की रक्षाके लिए शोधन करता है वह सम्यक् मयमी है । मेरा लोकमे यज्ञ होगा कि यह सुमयमी है अथवा अपने आगमका प्रकाश करनेसे मुझे लाभ होगा ऐसा वह अपने मनमे नहीं सोचता । ऐसा यति ही सम्यक् चारित्र वाला होता है ॥२०१॥

गा०—टी०—पाँच प्रकारके आचारमे स्थित जो गणी है उन गणियोंकी यह गणधर मर्यादा सूत्रमेकही है । जो लोकके अनुसार चलने वाले सामाजिक मुखके दन्ष्टक है अथवा लोकमुख यानी मिष्टाहारका यथेच्छ भोजन, कोमल शय्या पर शयन, मनाहर धरमे निवास, इनमे जो रत है अर्थात् जो स्वेच्छाचारी है उनकी गणधर मर्यादा सूत्रमे नहीं कही है ॥२०२॥

गा०—टी०—जो बुद्धिहीन साधु सुखशील गुणोंके कारण रत्नत्रयमे प्रवृत्तिरूप चारित्रमे उदासीन रहता है वह केवल द्रव्यलिगका धारी है और इन्द्रिय मयम तथा प्राणमयमे शून्य है ॥२०३॥

१ व्यावणिता—आ० मु० । २ सो नवरिलिगो भवति द्रव्य—अ० । ३ नि मार एत—आ० मु० ।

४. इस भाषा पर टीका नहीं है ।



पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिं यो सु भुंजमाणोदु ।  
मूल्ठ्ठाणं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो ॥२९४॥

य उद्गमादिदोषोपहृतमाहार, उपकरणं, वसति वा गृह्णाति तस्य नेन्द्रियसंयम, नैव प्राणसयम, न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ॥२९४॥

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ ममत्तिं जो ।  
सो णवरि लिंघारी संजमसारेण णिस्सानो ॥२९५॥

'कुलगामणयररज्जं' कुल, ग्राम, नगर, राज्य च । 'पयहिय' परित्यज्य । तेसु कुणवि ममत्तिं जो' ग्रामादिषु पुन य करोति ममता । मदीयं कुल, अस्मदीयो ग्राम, नगर, राज्य चेति । यो हि यत्र ममता करोति तस्य यदि शोभन जात न्युत्थति अन्यथा द्वेषि, सखिल्यति वा । ततो रागद्वेषयोर्लोभं च वर्तमान-  
<sup>१</sup>असयतेऽबादरवात् (वच्वात्) कथमिव मयतो भवतीति भाव ॥२९५॥

अपरिस्साई सम्म समपासी होहि सव्वकज्जेसु ।  
संरक्ख सच्चक्खुं पि व सबालउट्ठाउलं गच्छं ॥२९६॥

'अपरिस्साई' गृहरयमिति शका विहाय निगदितानामपराधाना प्रकटन मा कृया । 'समपासी शेष होहि कज्जेसु' कार्येषु सम्यक् समदशयैव च भव । 'संरक्ख सच्चक्खुं पि व' परिपालय स्वनेत्र इव । किं ? 'सबालउट्ठाउल गच्छं' सबालैवुं देराकीर्णं गण ॥२९६॥

णिवदिविहूणं खेचं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।  
पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो व तं वज्जो ॥२९७॥

'णिवदि विहूणं खेचं परिहर' नृपतिरहित क्षेत्र त्यज । 'णिवदि वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज' नृपतिर्वा यस्मिन् देने दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्र परित्यज । 'पव्वज्जा च ण लब्भदि जत्थ' प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे ।

गा-०टी०—जो उद्गम आदि दोषोसे सहित आहार, उपकरण अथवा वसतिको स्वीकार करता है उसके न प्राणिसयम है और न इन्द्रिय सयम है । वह केवल नग्न है । न वह यति है और न गणधर है ॥२९४॥

गा-०टी०—जो कुल, ग्राम, नगर और राज्यको छोड़कर भी उससे ममत्व करता है कि मेरा कुल है, हमारा गाँव है या नगर है, राज्य है, वह भी केवल नग्न है । जो जिससे ममता करता है उसका यदि अच्छा होता तो उसे सन्तोष होता है अन्यथा द्वेष करता है अथवा सकलेश करता है । इस तरह राग-द्वेष करने पर असयतोमे आदरवान होनेसे वह कैसे सयमी हो सकता है ॥२९५॥

गा-०टी०—'हमारा यह गुरु आलोचित दोषोको दूसरेसे नहीं कहता । ऐसा मानकर शिष्योके द्वारा प्रकट किये अपराधोको किसी अन्यसे मत कहो । कार्योमे समदर्शी हो रहो । और बाल और वृद्ध यतियोसे भरे गणकी अपनी अखिकी तरह रक्षा करो ॥२९६॥

गा-०टी०—जिस क्षेत्रमे कोई राजा न हो उस क्षेत्रको त्याग दो । अथवा जिस क्षेत्रका राजा

१ असयतो भवतीति—आ० मु० । २. गाथा २९५-२९६ ग० ।

शिष्या यत्र न जायते तन्न । 'संजमघावो व जत्व' संयमस्य चोपधातो यत्र क्षेत्रे 'तं बज्जो' त्यजेति गणि-  
शिक्षा ॥ गणिसिद्ध्या ॥२९७॥

गण शिक्षयत्युत्तरप्रबंधेन—

**कुणह अपमादमावासणसु संजमतवोवधाणेसु ।**

**णित्सारे माणुस्से दुल्लहवोहिं वियाणित्ता ॥२९८॥**

'कुणह अपमादमावासणसु' कुस्ताप्रमादमावश्यकेषु । 'संजमतवोवधाणेसु' संयमस्य, तपसश्चाश्रमेषु ।  
अभ्यहित संयम इति पूर्वनिपात । संयम विना न तप णनोति कर्तुं मुक्तिर्मात मामाधिकारो प्रवर्तमानस्य  
सयमो भवति । अमयम न्यत्रतीति, सावद्यक्रियानिवृत्तौ सत्या कर्मणि तपतीति तपो भवति । नान्यथेति  
तपसोऽप्याश्रय । 'णित्सारे माणुस्से' मारग्रहिते मानुष्ये अनिन्यतया अशुचितया मनुजाना असार । तत्र  
'दुल्लंभां वोचि' दुर्लभा दोषाभिमुखा बुद्धि । 'वियाणित्ता ज्ञात्वा ॥२९८॥

**समिदा पंचसु समिदीसु सव्वदा जिणवयणमणुगदमदीया ।**

**तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुत्ता य दंडेसु ॥२९९॥**

सम्यक्प्रवृत्ता 'होह' भवत । 'पंचसु समिदिसु' पञ्चसु समितिषु । 'सव्वदा' सवदा । जिणवयणमणुग-  
दमदीया' जिनवचनमनुगतबुद्धय । तिहिं गारवेहिं रहिया' गारवत्रयग्रहिना 'मिगुत्ता य' गतित्रयमभिविना  
भवत । 'इव दंडेसु' अशुभमनोवाक्कायेषु ॥२९९॥

**सण्णाउ कसाए वि य अट्ट रुहं च परिहरह णिच्चं ।**

**दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता मव्वप्पणो जिणह ॥३००॥**

दुष्ट हो उस क्षेत्रको त्याग दो । जिस क्षेत्रमें प्रब्रज्या प्राप्त न हो अर्थात् गिण्य न वने, अथवा जिम  
क्षेत्रमें संयमका घात हो उस क्षेत्रको त्याग दो ॥२९७॥

आचार्य शिक्षा समाप्त हुई ।

आगे गण (सघ) को शिक्षा देते हैं—

गा०—टी०—मनुष्य जन्म अनित्य और अशुचि होनेमें सार ग्रहित है । उसमें दीक्षा धारण  
करनेकी बुद्धि होना दुर्लभ है ऐसा जानकर आवश्यकमें, जो संयम और तपके आश्रय है, प्रमाद  
मत करो । यहाँ पूज्य होनेसे संयमको तपमें पहले रखा है क्योंकि संयमके बिना अकेला तप मुक्ति  
नहीं प्राप्त कर सकता । मामाधिक आदिमें प्रवर्तमान मुनिके संयम हीना है । असंयमको बह  
त्यागना है । सावद्य क्रियाकी निवृत्ति होने पर कर्मोंको तपनेमें तप होता है । संयमके बिना तप  
नहीं होता । अत आवश्यक कर्म तपके भी आश्रय है । इसलिए साधुको उनमें प्रमाद नहीं करना  
चाहिए ॥२९८॥

गा०—हे मुनिगण । आप सर्वदा पाँच समितियोंके पालनमें तत्पर रहें । अपनी बुद्धिको जिना-  
गमकी अनुगामिनी बनाओ । तीन गारव मत करो और अशुभ मन वचन कायक विषयमें तीन  
गुप्तियोंका पालन करो ॥२९९॥

गा०—नित्य आहारादि विषयक सजाओंको, कषायोंको और आर्त तथा रौद्रध्यानको दूर  
करो । तथा ज्ञान और तपसे युक्त होकर अपनी सर्वगवितसे दुष्ट इन्द्रियोंको जीतो ॥३००॥

'सण्णाओ' मजा आहागविविषया । 'कसाए वि' कपायानपि । 'अट्ठं षट्ठं च' अतं रीद्र च ध्यान । 'परिहरत' निराकुल । 'णिच्च' नित्य । 'बुद्धाई इवियाई' दृष्टानोन्द्रियाणि च । 'जुत्ता' युक्ता ज्ञानेन तपस्य च । 'सव्वप्पणा जिणह' सर्वशक्त्या इन्द्रियजय कुरुत ॥३००॥

**धण्णा हू ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि ।  
विहरति विगदसंगा णिराउला णाणचरणजुदा ॥३०१॥**

'धण्णा हू ते मणुस्सा' धन्यास्ते मनुष्या । के ? 'जे विसयाउलम्मि लोयम्मि' ये शब्दादिभिर्गणवर्णो जगति । 'विगदसंगा' नि मगा स्वविदपि विषये स्पर्शादी । 'णिराउला' । 'णाणचरणजुदा' ज्ञानेन चारित्र्येण च युता । ज्ञानचारित्र्ययुताना प्रथमा तत्रादरत्रेनानार्था गणम्य ॥३०१॥

**मुस्सुसया गुरूण चेदियभत्ता य विणायजुत्ता य ।  
मज्झाए आउत्ता गुरुपवयणवच्छला हांह ॥३०२॥**

'मुस्सुसया गुरूण' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्ये गुणगुणतया गुरुव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधव । तेषां शुभ्रपाकारिणां भवत । शुभ्रपापरेण भाव्य । लाभादिकमनपक्ष्य तेषां गुणेष्वनुराग कृतो भवति । गुणानुरागाद्दर्शनशुद्धिस्नदीयस्त्वन्नत्रयानुमनन च भवति । सुकरो ह्युपाय पृथ्याजने अनुमनन नाम । 'चेदियभत्ता य' चैत्यानि जिनपिद्मप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाण तेषु भवता । यथा शत्रुणा मित्राणा वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतमनया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारम्योपकारम्य वा अनुस्मरणे निमित्ततास्ति तद्भिन्ननिमित्तगुणा अनन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्वबोधनरागन्वाद्यस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरणे संपादयन्ति मादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरणे अनुरागात्मक ज्ञानदर्शनं सन्निधापयति । ते च

गा०—वे मनुष्य धन्य है जो शब्दादि विषयोंसे व्याप्त जगत्से किसी भी स्पर्शादि विषयसे आगन्तित नहीं रखने और निराकुल होकर ज्ञान और चारित्र्यसे युक्त होते हैं । जो ज्ञान और चारित्र्यसे युक्त होते हैं उनका प्रशंसा करनेसे सचका उनके विषयसे आदरभाव उत्पन्न होता है ॥३०१॥

गा०टी०—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र्य नामक गुणोंसे महान् होनेसे आचार्य उपाध्याय और साधुको गुरु कहते हैं । उनकी सेवासे तप्य रहना चाहिए । लाभ आदिकी अपेक्षा न करके उनके गुणोंसे अनुराग करना चाहिए । गुणोंसे अनुराग करनेसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है और उनके स्तत्रयकी अनुमोदना होती है । अनुमोदना पुण्य उपार्जन करनेका मरल उपाय है । चैत्य अर्थात् जिन और सिद्धीकी कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिबिम्बोंसे भक्ति करना चाहिए । जैसे शत्रुओं और मित्रोंको प्रतिकृति देखनेसे द्वेष और राग उत्पन्न होता है । यद्यपि वे प्रतिकृतियाँ कोई अपकार या उपकार नहीं करती, तथापि उन शत्रुओं और मित्रोंसे जो अपकार या उपकार किये होते हैं उनके स्मरणसे उनकी प्रतिकृतियों निमित्त होती हैं । उसी तरह यद्यपि प्रतिबिम्बोंसे जिन और सिद्धीके गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सम्यक्त्व वात रागता आदि नहीं होते, तथापि उनके समान होनेसे उनके गुणोंका स्मरण कराती है । और वह गुणोंका स्मरण जो

संवरनिर्जरे महत्त्वा सपादयत । तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनी कुरुत । 'विणवज्जुवा व' विलय नयति कर्म-मलमिति विनयः । ज्ञानदर्शनतपश्चार्त्त्रविनया उपचारविनयश्चेति पञ्चवैप्रकारेण विनये युक्ता भवतः । शास्त्रोक्तवाचनस्वाध्यायकालयोरध्ययन श्रुतस्य श्रुत प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्वं कृत्वा, अवग्रह परिगृह्य, बहुमानं कृत्वा, निह्ववं निराकृत्य, अर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धि सपाद्य एव भाग्यमान श्रुतज्ञान सवर निर्जरा च करोति । अन्यथा ज्ञानावरणस्य कारण भवेत् ।

शकाकाशादिनिर्गसो दर्शनविनय ।

स च प्रयत्नेन भवद्भिः सपाद्योऽन्यथा शकादिपरिणामा मिथ्यात्वमानयन्ति । दर्शनमोहनीयस्य चास्त्रवा भवन्ति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मवशादनन्तससारपरिभ्रमण दुःखभीरूणा भवता जायते । रूपरसगन्ध-स्पर्शशब्देषु मनोज्ञानमोज्ञेषु सन्निहितेषु अनन्तकालाम्यासाद्रागोऽप्रीतिश्च जायते । तथा कषायाम्बु बाह्यम-भ्यन्तरं च निमित्तमाश्रित्य प्रादुर्भवन्ति । ते बोत्पद्यमानाश्चारित्र्य विनाशयन्ति । कर्मादाननिमित्तक्रियापरमो हि चारित्र्यं । रागादयश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अशुभमोवाक्कायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ताः । तथा घृ-जीवनिकायबाधापरिहृारमन्तरेण गमन । मिथ्यात्वेऽसयमे वा प्रवर्तक वचन साक्षात्पार्येण वा जीवबाधा-करण भोजन अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादाननिक्षेपो शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडाहेतुरेता कर्मपरिग्रहनिमित्ता

अनुरागात्मक होता है, ज्ञान और दर्शनमे लगाता है । और वे ज्ञान और दर्शन महान् सवर और निर्जरा करते है । इसलिए उपयोगी चैत्य भक्ति करना चाहिए । कर्ममलका जो विलय करती है वह विनय है । ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र्य विनय, तपविनय और उपचार विनय, इन पांच प्रकारकी विनयमे सलमन रहो । शास्त्रमे जो वाचना और स्वाध्याय काल कहा है, उन कालोमे श्रुतका अध्ययन, और श्रुतका दान भक्तिपूर्वक करके अवग्रह स्वीकार करके, बहुमान करके, निह्ववको दूर करके, अर्थशुद्धि, व्यजन शुद्धि और अर्थ व्यजन दोनोकी शुद्धि करके । इस प्रकार आठ अंगोके साथ भाया गया श्रुत ज्ञान सवर और निर्जरा करता है । ऐसा नही करनेमे ज्ञाना-वरणका कारण होता है ।

शङ्का कांक्षा आदिको दूर करना दर्शन विनय है । आपको प्रयत्नपूर्वक शका आदिको दूर करना चाहिए । ऐसा न करनेसे शका आदि परिणाम मिथ्यात्वको लाते हैं और दर्शन-मोहनीयकर्मके आस्रवमे कारण होते है । उससे मिथ्यादर्शनमे निमित्त मिथ्यात्वकर्मके कारण आप जैसे दुःख भीरुजनोको अनन्त ससारमे परिभ्रमण करना पडता है । मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्दके मिलनेपर अनन्तकालके अभ्यासवश राग और द्वेष उत्पन्न होते है । तथा बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तका आश्रय पाकर कषाये उत्पन्न होती है । और वे उत्पन्न होकर चारित्र्यको नष्ट करती है । कर्मोके ग्रहणमे निमित्त क्रियाओके रोकनेको चारित्र्य कहते है । रागादि कर्मोको ग्रहणमे निमित्त क्रिया है । अशुभ मन वचन और कायकी क्रिया भी कर्मोके ग्रहणमे निमित्त होती है । तथा छहकायके जीवसमूहको बाधा न पहुँचाये विना गमन करना, मिथ्यात्व और असयममे प्रवर्तक वचन बोलना, साक्षात् या परम्परासे जीवोको बाधा करनेवाला भोजन करना, विना देखे और विना साफ किये वस्तुओको ग्रहण करना और रखना, विना देखी और विना साफ की गई भूमिमे मलमूत्र त्यागना ये सब क्रियाएँ जीवोको कष्ट पहुँचानेवाली है अतः

क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्र्यविनय । व्यावर्णिताद्युभक्रियापरिवर्जनं विना चारित्र्यं नाम किमारम्भवता तस्मादत्रोद्योगं कुरुत । अनशनादिकतपोजनितक्लेशसहनं तपोविनय । सति सक्लेशे महानास्रवो भवेदल्प्या निर्जरा । उपचारविनयाद्विनीत इति पूज्यते बुधैरन्यथा अविनीत इति निन्द्यते किं च उपचारविनयं मनोबा-  
क्कायधिकल्प यो न करोति, स गुरुभ्रमनसावजानाति, नाम्युत्तिष्ठति, नानुगच्छति. नाञ्जलि करोति, न स्तोति, न विज्ञप्ति करोति, गुरोरग्रत आसनमारोहति, याति पुरस्तेषा, निन्दति, पश्य वदति, आक्राशति वा स नीचै-  
र्गोत्रं बध्नाति । तेन श्वपाकचाण्डालादिकुलेषु गृहितेषु, सारमेयग्रामसूकरादिषु वा जायते । न च रत्नत्रयं गुरुभ्यो लभतं । विनीत हि शिक्षयन्ति गुरव, प्रयत्नेन मानयन्ति च ततो विनयपरा भवत । अविनये दोषं विनये च गुण महान्तमवबुध्य सञ्ज्ञाए आभुक्ता होह' शोभन अध्ययन स्वाध्याय । जीवादितत्वपरिज्ञान, तदुपायभूतश्च ग्रन्थ तस्मिन्स्वाध्याये आभुक्ता आयुक्ता भवत निद्रा, हास्य क्रीडा, आलस्य, लोकयात्रा च त्यक्त्वा । तथा चोक्तम्—

‘निहं ण वहु मण्णंउज्ज हासं खेडं विषज्जए ।

जोगां समणधम्मस्स भुंजे अणलसो सवा ॥’ इति । [ ]

‘गुरुपश्यणवच्छल्ला होह’ गुरुप्रवचनत्सला भवत ॥३०२॥

दुस्सहपरीसहोहिं य गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं ।

अभिभूदा वि हु सता मा धम्मधुरं पशुच्चेह ॥३०३॥

कर्मोंके ग्रहणमे निर्मित है । इनको त्यागना चारित्र्य विनय है । इन कही गई अशुभ क्रियाओको त्यागे विना आरम्भ करनेवालोके चारित्र्य कैसे हो सकता है । अत इसमे उद्योग करना चाहिए । अनशन आदि तपसे होनेवाला कष्ट सहना तपविनय है । सक्लेश परिणाम होनेपर महान् आस्रव होता है और थोड़ी निर्जरा होती है । उपचार विनय करनेसे विद्वानोंसे पूजित होता है । नही करनेपर अविनयी कहा जाता है और निन्दाका पात्र होता है । तथा मन वचन कायसे जो उपचार विनय नही करता वह मनसे गुरुओकी अवज्ञा करता है, उनके आनेपर खडा नही होता, उनके जानेपर पीछे-पीछे गमन नही करता, हाथ नही जोडता, स्तुति नही करता, विज्ञप्ति नही करता, गुरुके सामने आसन पर बैठता है, उनके आगे चलता है, निन्दा करता है, कठोर वचन बोलता है, चिल्लाना है, ऐसा करनेवाला नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर श्वपाक चाण्डाल आदि नीचकुलोमे और कुत्ता सुअर आदिमे जन्म लेता है । उसे गुरुओंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति नही होती । गुरु विनीतको शिक्षा देते है और प्रयत्नपूर्वक उसका सन्मान करते हैं । इसलिए अविनयमे दोष और विनयमे महान् गुण जानकर विनयी होना चाहिए । तथा स्वाध्यायमे लगना चाहिए । सुन्दर अध्ययनको स्वाध्याय कहते है । जीवादितत्वोका परिज्ञान और उसके उपाय-भूत ग्रन्थोकी स्वाध्यायमे निद्रा, हास्य, क्रीडा, आलस्य और लोकयात्राको त्यागकर लगना चाहिए । कहा भी है—‘बहुत सोना नही चाहिए । हास्य क्रीडा छोड़ना चाहिए । सदा आलस्य त्यागकर श्रमणधर्मके योग्य कार्यमे लगना चाहिए ।’ तथा गुरुमे प्रवचनवात्सल्य रखना चाहिए ॥३०२॥

गा०—दुःसह परीषहोसे और तीक्ष्ण आक्रोशवचनरूपी कांटोसे पराभूत होकर भी धर्मकी घुराके भारको मत त्यागो ॥३०३॥

'दुस्तहपरीसहेहि य' दु सह परिषहेश्च । 'गामबचीकंटएहिं तिषलेहिं' आक्रोशवचनकण्टकैस्तीक्ष्णीश्च । 'अभिभूता वि य संता' प'राभूता अपि मत । 'साधम्मचुरं पमुच्चेह' मा कथा धर्मभारत्याग । ननु च 'दुस्तहपरीसहेहिं य अभिभूता मा धम्मचुरं पमुच्चेह' इत्यनेनैव आक्रोशपरीषहसहन उपदिष्ट ? किमनेन 'गामबचीकंटएहिं' इत्यनेन ? । अयमभिप्राय मन्त्रकारस्य-मोहक्षुदाविवेचनोऽपि न म'हतेऽनिष्ट वचस्ततोऽति-दुष्करमपि तत्सोढव्य इति दर्शनाय पृथगुपादानम् ॥३०३॥

तपस्युद्योग सर्वप्रयत्नेन त्यक्त्वाऽलस्यैर्भवद्भिः इत्युपदिशति—

तित्थयगे चदुणाणी मुरमहिदो सिज्झदव्वयधुवम्मि ।

अणिगूहिदवलविरिओ तवोविधाणम्मि उज्जमदि ॥३०४॥

'तित्थयरो' तीर्थंकर तरति मसार येन भव्याम्नतीर्थ । केचन तरति श्रुतेन गणधरैर्बालवनभूर्तरिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणतीर्थंकर । अथवा 'तिसु तित्ठदित्ति तित्थ' इति व्युत्पत्तौ तीर्थशब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मक उच्यते तत्करणतीर्थंकरो भवति । 'चउणाणी' मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञानवान् । 'मुरमहिदो' मुरंश्चतु प्रकारं पूजित स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिर्क्रमणेषु । 'सिज्झदव्वयधुवम्मि' नियोगभावित्या सिद्धावपि । तथापि 'अणिगूहियवलविरिओ' अनुपहृतवलवीर्यं । 'तवोविधाणम्मि' तप-समाधाने । 'उज्जमदि' उद्योग करोति ॥३०४॥

किं पुण अवसेसाणं दुक्खसखयकारणाय साहूणं ।

होह ण उज्जम्मदव्वं मपच्चवायम्मि लोयम्मि ॥३०५॥

किं पुण अवसेसाणं' किं पुनर्न प्रयनितव्य अवशिष्टं साधुभिः । 'दुक्खसखयकारणाय' दुःखविनाशन-

टी०—शङ्का—'दु'सह परीषहोसि अभिमत होकर भी धर्मकी धुराको मत त्यागो । इतना कहनेसे आक्रोश परीषहका सहनेका उपदेश दे दिया, फिर 'तादृश आक्रोश वचन' आदिके कहनेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि भूख आदिकी वेदनाको सहनेवाला भी अनिष्टवचन नहीं सहता । अतः अति दुष्कर भी आक्रोश वचनका सहना चाहिए । यह बनलानेके लिए पृथक् सहण किया है ॥३०३॥

आगे उपदेश देते हैं कि आलस्य त्यागकर आपको पूरे प्रयत्नमे तपमे उद्योग करना चाहिए—

गा०—टी०—जिसके द्वारा भव्यजीव ससारको तरिते हैं वह तीर्थ है । कुछ भव्य श्रुत

अथवा आलम्बनभूत गणधरोंके द्वारा मसारको निरते हैं अतः श्रुत और गणधरोंको भी तीर्थ कहते हैं । इन दोनों तीर्थोंको जो करते हैं वे तीर्थंकर हैं । अथवा 'तिसु तित्ठदित्ति तित्थ' इस व्युत्पत्तिके अनुसार तीर्थ शब्दसे रत्नत्रयरूप मार्ग कहा जाता है । उसके करनेसे तीर्थंकर होता है । वे मति, श्रुत, अर्वाध और मन.पर्ययज्ञानके धारी होते हैं । स्वर्गमे गर्भमे आनेपर, जन्माभिषेक और तपकल्याणमे चार प्रकारके देव उनको पूजा करते हैं । उनको सिद्धिकी प्राप्ति नियममे होती है फिर भी वे अपने बल और वार्यको न छिपाकर तपके विधानमे उद्यम करते हैं ॥३०४॥

गा०—टी०—तब दुःखका विनाश करनेके लिए शेष साधुओका तो कहना ही क्या है ।

१ अभिभूता अ० । २. सहतोऽतिदुष्क-अ० ।

निमित्तं । सापामे लोके आयुष, शरीरस्य, बलम्य नीरोगतायाश्च विनाशे अविविक्तकाले मति, दावानलसमाने मृत्यावायाति, लोकवनमिद अणेष भस्मसात्कृतुं अथ इत्यपि मृच्चिर निमेषमात्रेणापि मृत्युरेयात् मासमर्द्धभास-मनुमयनं सबत्सरं वा प्रति वचनाधिकार कम्पाद्यावन्नायाति मृत्युस्तावत्तपस्युद्योग कार्य । न हि मृत्योर्बैश-नियमोऽस्ति । स्थल एव प्रचारो यथा जकटादीना, ममीरणपव एव ज्योतिषा, सलिल एव मीनमकरादीना । कष्टतमस्य पुनरस्य मृत्यां स्थले, जले, विद्यति च विद्वृति । दहनस्य, मुधासूतेर्वा मुराधिपते, प्रभजनस्य शीतस्योष्णस्य वा, हिमान्या वा अप्रवेशदेशा संति न तथा मृत्योः । यथा वा निदानमान व्याधीना पित्तानि-लदलेष्मरूपमेव मृत्यो पुनरखिलमेव निदान । वातस्य पित्तस्य कफस्य, शीतोष्णयोर्बैशहिमातपाना शब्द प्रतीकारविधिर्न पुन नमारे मृत्योः । हिमोष्णवर्षादीना च कालो विदितोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य किञ्चिद्विद्यते । यथा राहुवदनकुहरे प्रवेशो निशापते । अमत्यपि मृत्युपनिपाते जीवतोऽपि कुरोगाशान्म्यो महद्भय । यथा वियतो निपतत्यबुद्ध एवाशानि । आयुर्बल रूपादयश्च । गुणास्तावदेव यावन्तोपैति रोगो देहं । यत् तन्त्वलग्नस्य फलस्य तावदपातो यावन्न श्वपुसन । व्याधौ बाध्यमाने देहे न सुखेन शक्यते श्रेय कर्तुं, यथा वेश्मनि दह्यमाने मग्नान्त्न शक्यते पतीकार । अमन्तु वा रोगेषु रागशत्रु सुहृन्मुखेन शत्रुरिव प्रवृद्ध यदा नरम्य चित्त बाधते न तदा ममेर्षधिकार । पित्तोद्ययो वैद्यशुभप्रयोगी प्रशाम्येदपि, रागोद्यस्य

इम विनाशशील लोकमे आयु, शरीर, बल और नीरोगताके विनाशका काल अज्ञात है । दावा-नलके समान मृत्यु इस समस्तलोकरूपी वनको जला डालनेके लिए आज या देरमे या क्षणमात्रमे अथवा एकमास, एकपक्ष, ऋतु दो, मास, लहमास अथवा एक वर्षमे कब आ जायेगी यह कहना कठिन है । जबतक मृत्यु नहीं आनी तबतक तपमे उद्योग करना चाहिए । मृत्युका कोई देश नियत नहीं है । जैसे गाडी आदि स्थलपर ही चलती है । ज्योतिषीदेव आकाशमे ही चलते है, मीन मगर आदि पानीमे ही चलते है । किन्तु यह सबसे अधिक दु खदायी मृत्यु जल, धल और आकाश-मे विहार करती है । ऐसे देश है जहाँ आग, चन्द्रमा, इन्द्र, वायु, शीत, उष्ण अथवा बर्फका प्रवेश नहीं है । किन्तु ऐसा कोई देश नहीं जहाँ मृत्युका प्रवेश नहीं है । जैसे रोगोका निदान वात पित्त कफ ही है । किन्तु मृत्युका निदान नो सब ही है । वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, वर्षा, हिम, आतप इन सबका प्रतीकार करनेकी विधि है । किन्तु ससारमे मृत्युका कोई इलाज नहीं है । शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदिका काल तो ज्ञात है किन्तु मृत्युका काल ज्ञात नहीं है । जैसे चन्द्रमा गृहके मुखमे प्रवेश करके उससे दूर जाता है उस तरह मृत्युके मुखमे प्रवेश करके निकलना सम्भव नहीं है । मृत्यु न भी आये और जीवन बना रहे तब भी कुरोगरूपी वज्रपातका महाभय रहना है । जैसे आकाशमे अचानक वज्रपात होता है वैसे ही अचानक रोगका आक्रमण होता है । आयु, बल और रूपादि गुण तभी तक है जबतक शरीरमे रोग नहीं होता । तन्तुसे लगा फल तभी तक नहीं गिरता जबतक वायुको शोका नहीं आता । शरीरके रोगसे पीडित होनेपर सुखपूर्वक आत्मकल्याण नहीं किया जा सकता । जैसे घरके चारो ओरसे जलनेपर प्रती-कार सम्भव नहीं होता । अथवा रोगोके नहीं होनेपर रागरूपी शत्रु मित्रके रूपमे शत्रुकी तरह बढकर जब मनुष्यके चित्तको पीडा देता है तब समभाव कठिन होता है । पित्तका विकार वैद्यके कुशल प्रयोगोसे शान्त हो भी सकता है । किन्तु प्राणीके लिए अहितकर रागके उदयको समाप्त

प्राण्यहितस्य हन्तु प्रशम सुदुर्लभ । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धि पूर्वोक्तकर्मप्रशान्तौ तदैव श्रेयस्कृती शक्तिः पित्तोपशान्तौ कार्यचित्ते च । इत्यु मृत्युव्याधयो राग इत्येतै प्रत्यवाया जगति तारश्चेतसि कृत्वा, यदा ते न सन्ति तदोद्योग कार्य ॥३०५॥

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ।

आणाए णिज्जरित्ति य सबालउड्डाउले गच्छ ॥३०६॥

‘सत्तीए भत्तीए’ शक्त्या भक्त्या च । ‘विज्जावच्चुज्जदा’ वैयावृत्ये उद्यता । ‘सदा होह’ नित्य भवत । ‘आणाए णिज्जरित्तिय’ सर्वज्ञानाभाज्ञा वैयावृत्य कर्तव्यमिति तदाज्ञया हेतुभूतया, वैयावृत्य हि तप निर्जरा भवतीति च । ‘सबालउड्डाउले’ सह बालैर्वर्धमाना ये वृद्धास्तराकीर्णं गणे ॥३०६॥

वैयावृत्य कर्तुमित्युक्त तद्विदमिति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे ।

आहारोसहवायणविकिच्चणुवत्तणादीसु ॥३०७॥

‘सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे’ शय्याकाशस्य, निवद्यास्थानस्य, उपकरणानां च प्रतिलेखना<sup>२</sup>, उपग्रह उपकार । किंविषय ? ‘आहारोसहवायणविकिच्चणुवत्तणादीसु’ योग्यस्य आहारस्य औषधस्य वा दान स्वाध्यायोत्तमारण अशक्तस्य शरीरमलनिराम । ‘उवत्तणे’ पार्श्वान्याश्वान्तरस्थो-त्त्वापनं ॥३०७॥

अद्धाणतेण सावयरायणदीग्घेघासिबे ऊमे ।

वेज्जावच्चं उत्त संगहसारक्खणोवेदं ॥३०८॥

‘अद्धाण तेण सावयरायणदीग्घेघासिबे ऊमे’ अध्वना श्रमण श्रान्तानां पादादिमर्दन । स्तेनैरुपद्रूय-

करनेके लिए प्रशमभाव दुर्लभ है । जैसे पित्तके शान्त होनेपर चित्त काममे लगता है वैसे ही जिस समय पूर्वोक्त कर्मका उपशम होनेपर प्रशमभावकी प्राप्ति होती है, उसी समय आत्मकल्याण करनेकी शक्ति आती है । इस प्रकार ससार्गमे मृत्यु, व्याधि और राग ये बाधक है । उनको चित्तमे लाकर जब वे न हो तब तपमे उद्योग करना चाहिए ॥३०५॥

गा०—बालमुनि और वृद्ध मुनियोंसे भरे हुए गणमे सर्वज्ञकी आज्ञासि सदा अपनी शक्ति और भवितसे वैयावृत्य करनेमे तत्पर रहो । सर्वज्ञदेवको आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिये । वैयावृत्य तप है और तपसे निर्जरा होती है ॥३०६॥

वैयावृत्य करनेके लिये कहा है । उस वैयावृत्य को बतलाते है—

गा०—सोनेके स्थान, बँठनेके स्थान और उपकरणोकी प्रतिलेखना करना, योग्य आहार योग्य औषधका देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनिके शरीरका मल शोधन करना, एक करबट से दूसरी करबट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य है ॥३०७॥

गा०—जो मुनि मार्गके श्रमसे थक गये है उनके पैर आदि दबाना, जिन्हे चोरों ने सताया

१. कर्तुमित्युक्त प्रतीदमिति द-आ०, मु० । २ नाया उ-आ० ।



माणाना तथा श्वापदैः, दुर्दैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकै मायां च तदुपद्रवनिरासं विधादिभिः । 'ऊर्ध्वे' दुभिक्षे सुभिक्षदेशनयनम् । 'वेज्जावच्च वृत्तं' वैयावृत्ययमुक्तम् । 'संगहसारक्काणीवेदं' सग्रहसरक्षणाम्यामुपेतम् ॥३०८॥

वैयावृत्याकरणं निन्दति—

**अणिगूहिद्वलविरिओ वेज्जावच्च जिणोवदेसेण ।**

**जदि ण करोदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥३०९॥**

अनिगूहितेत्यादिना—अनिगूढवीर्यो यो वैयावृत्यं जिनोपदिष्टं क्रमेण न करोति । शक्तोऽपि सन् सन्निर्धर्मो भवति धर्मान्निष्क्रान्तो भवति इति सूत्रार्थः ॥३०९॥

दोषान्तराणि व्याचष्टे—

**तिथ्यराणाकोवो सुदधम्मविराघणा अणायारो ।**

**अप्यापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ॥३१०॥**

'तिथ्यराणाकोवो' तीर्थकराणामाजाकोप । 'सुदधम्मविराहणा' श्रुतोपदिष्टधर्मनाशनम् । 'अणायारो' आचारगभावः वैयावृत्याख्ये तर्पसि अवृत्ते । 'अप्यापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि' आत्मा साधुवर्गं प्रवचनं च त्यक्तं भवति । तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तो भवति, आपद्युपकाराकरणाद्यतिवर्गं, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्तः ॥३१०॥

गुणान्वैयावृत्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

**गुणपरिणामो सद्धा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य ।**

**संघाणं तव पूया अव्वोच्छिच्ची समाधी य ॥३११॥**

'गुणपरिणामो' यनिगुणपरिणामि । 'सद्धा' श्रद्धा । 'वच्छल्लं' वात्मल्यम् । 'भत्ति' भवति । 'पत्तलंभो

हे जगली ज्ञानवरोसे, दुष्ट राजामे, नदीको रोकने वालो से और मारी रोगसे जां पीडित है, विद्या आदिसे उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्षमे फंसे है उन्हें सुभिक्ष देशमे लाना, आप न डरे इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य देना तथा उनका सरक्षण करना वैयावृत्य कहा है ॥३०८॥

वैयावृत्यं न कर्णे की निन्दा करते है—

गा०—अपने बल और वीर्यको न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के डाग कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्य नहीं करता है तो वह धर्मसे वहिष्कृत होता है यह इस गाथा का अभिप्राय है ॥३०९॥

वैयावृत्यं न करनेसे तीर्थंङ्करोकी आज्ञाका भंग होता है । शास्त्रमे कहे गये धर्मका नाश होता है । आचारका लोप होता है और उस व्यक्तिके द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है । तप मे उद्योग न करनेसे आत्मा का त्याग होता है । आपत्ति मे उपकार न करनेमे मुनिवर्गका त्याग होता है और शास्त्र विहित आचरण न करनेसे आगमका त्याग होता है ॥३१०॥

दो गाथाओ से वैयावृत्य करनेमे गुणों को कहते हैं—

गा०—वैयावृत्य करनेका पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है ३६

य' पात्रस्य लाभ । 'संघातं' सघान । 'तव' तप । पूया पूजा । 'अव्युच्छिस्ती य तित्वस्य' अव्युच्छिस्तिश्च तीर्थस्य । 'समाधौ य' समाधिश्च ॥३११॥

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य ।

वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥३१२॥

'आणा संजमसाखिल्लदा य' आज्ञा समयसाहाय्य च । 'दाणं च' दान च । सर्वज्ञापट्टिवैयावृत्यकरणादाज्ञा सपादिता । आज्ञासपादनमाज्ञासयम । परस्य वैयावृत्यकृत उपकार । रत्तत्रयस्य निरतिचागम्य दानं । 'संजमसाखिल्लदा य' समयसाहाय्यमिति चार्थ । 'अविदिगिंछा य' अविचिकित्सा च । 'वेज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्यस्य गुणा । 'पभावणा' प्रभावना च । 'कज्जपुण्णाणि' कार्यानिर्वहणानि च ॥३१२॥

गुणपरिणामो इत्येतत्पद व्याचष्टे—

मोहग्गिणादिमहदा घोरमहावेयणाए कुट्टंते ।

डज्झदि हु घगघगंतो ससुरासुरमाणुमो लोओ ॥३१३॥

'मोहग्गिणा' अज्ञानाग्निना । 'अदिमहदा' अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महत्प्रज्ञान तेन । 'डज्झदि' दहते । 'घोरमहावेदणाए' घोरया महत्या वेदनया । 'कुट्टंते' विशीर्यमाण । 'घगघगंतो' भगवतायमान । 'ससुरासुरमाणुसो लोओ' देवासुरमानुषं मह वर्तमानो लोक ॥३१३॥

एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्झविदे ।

डाहम्म्युक्का होंति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ॥३१४॥

'एदम्मि' एतस्मिन्लोकं दहामाने । 'णवरि' पुन । 'मुणिणो णिव्वेदणा चेव होंति' मुनय एव निवेदना

उसकी पीडित साधुके गुणो मे वासना होती है कि मैं भी ऐसा वर्तूँ । और जिस साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणोमे विशेष प्रवृत्ति होती है । इसके मित्राण स्वद्धा, वात्मन्य, भक्ति, पात्रका लाभ, सन्धान-अपने मे जो गुण पूजा छूट गये है उनका पुन आरोगण, तप, धर्म तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि, ये गुण है ॥३१४॥

गा०—सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करनेसे सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है । आज्ञा पालनसे आज्ञा समय होता है । वैयावृत्य करने वालेका उपकार होता है । निर्दोष रत्तत्रय का दान होता है । समय मे सहायता होती है । विचिकित्सा—रुग्गिणं दूर हंती है । धर्म की प्रभावना होती है और कार्यका निर्वाह होता है ॥३१४॥

'गुण परिणाम' पद का व्याख्यान करते है—

गा०—अति महान मोहरूपी आगके द्वारा सुर असुर और मनुष्यो महित यह वर्तमान लोक धक्-धक् करते हुए जल रहा है । घोर महावेदनासे उनके अग तूट फूट रहे है ॥३१३॥

विशेषार्थ—'यह मेरा है और मे इसका हूँ' इत्यादि प्रत्यय रूप अज्ञान समस्त वस्तुओके सम्बन्धमे होनेसे उसे अतिमहान कहा है । तथा लोकमे बहिर्गत्मा प्राणियो का समूह लिया गया है ।

गा०—इस लोकके जलने पर भी मुनियो को कोई वेदना नहीं है । क्योंकि ज्ञानरूपी जलके

भवन्ति । कथं ? 'गणजलोवग्रहेण' ज्ञानजलोपग्रहेण । 'विज्जविवे' नष्टे मोहगती । 'बाहुम्मुक्का' दाहो-  
न्मुक्ताः । 'बभेण' रागद्वेषप्रशमन च । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहोन्मूलिताज्ञानवह्निप्रसरत्व  
नाम यतीना गुण निर्वेदनत्व चेति ॥३१४॥

**पिगाहृदिदियदारा समाहिदा ममिदसव्वचेट्ठंगा ।**

**धण्णा गिरावयक्खा तवसा विघुण्णति कम्मरय ॥३१५॥**

'पिगाहृदिदियदारा' इन्द्रिय द्विविध द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय इति । तत्र द्रव्येन्द्रिय पुद्गलस्कन्धा आत्म-  
प्रवेशाश्च तदाधारा । भावेन्द्रिय ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च । तत्रेहोपयोगेन्द्रिय  
गृहीत तन्माहचर्याद्रागद्वेषावमनोज्ञे मनोज्ञे च विषये प्रवृत्तौ इह पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारशब्देनोच्यते ।  
तैनायमर्थ — निगृहीतेन्द्रियविषयरोगद्वेषा इति । 'समाहिदा' रत्नत्रये समवहितचित्ता । 'समिदसव्वचेट्ठंगा'  
सम्यक्प्रवृत्तसर्वेहा । 'धण्णा' पुण्यवन्त । 'गिरावयक्खा' निश्चला इति केचिद्वदन्ति । अन्ये निरोपेक्षा ।  
सत्कार लाभ वानपेक्षमाणा इति कथयन्ति । 'तपसा विघुण्णति कम्मरयं' तपसा कर्मरजोविधूनन कुर्वन्ति ।  
निगृहीतेन्द्रियत्व, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवयुचेष्टावत्ता, सत्कारानिर्गपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूनन च  
यतिगुणा एतया गाथया सूचिता ॥३१५॥

**इय दहगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स ।**

**वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥३१६॥**

'इय' एव 'दहगुणपरिणामो' यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु दहपरिणाम । 'साहुस्स वेज्जावच्चं करेद'

प्रवाहसे—आत्मा और शरीर आदिके भेद ज्ञानरूपी जलके प्रवाहसे मोहरूपी आगके नष्ट हो जाने  
से तथा रागद्वेषके गान्त हो जानेसे वे दाह से मुक्त है । आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान रूपी जलके  
प्रवाहसे अज्ञानरूपी आगके फंलावको समाप्त कर देना और वेदना रहित होना अर्थात् ज्ञाना-  
नन्दमय होना यतियों का गुण है ॥३१४॥

गा०-टी०—इन्द्रियके दो भेद है द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । पुद्गल स्कन्धोके और उनके आधार  
भूत आत्म प्रदेशोके इन्द्रियाकार रचनाको द्रव्येन्द्रिय कहते है । और ज्ञानावरणके क्षयोपशम और  
इन्द्रियमं होने वाले रूपादि विषयक उपयोगको भावेन्द्रिय कहते है । इनमेंसे यहाँ उपयोगरूप  
इन्द्रियका ग्रहण किया है, क्योंकि उसकी सहायतासे मनको प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयो  
मे राग द्वेष होते है । पापकर्ममे निमित्त होनेसे यहाँ इन्द्रियद्वार कहा है अत यह अर्थ होता है  
जिन्होंने इन्द्रियोके विषयोमें होने वाले रागद्वेषका निग्रह कर दिया है । जिनका चित्त रत्नत्रयमे  
लीन रहता है । जो ईर्ष्याभाषा आदि चेष्टाएँ सम्यक् रूप करते है और जो 'पिगवयक्खा' है ।  
इसका अर्थ कोई 'निश्चल' कहते है और कोई निरपेक्ष कहते है अर्थात् जो सत्कार और लाभ की  
अपेक्षा नहीं करते । वे पुण्यधाला मुनि तपसे कर्म रूपी धूलिको नष्ट करते है । इस प्रकार इन्द्रियो  
का निग्रह करना, रत्नत्रयमे एकाग्र होना, निर्दोष चेष्टाएँ करना, सत्कार आदि की अपेक्षा न  
करना, तप मे लीन रहना और कर्म रूपी रजका दूर करना ये यतियोंके गुण इस गाथाके द्वारा  
कहे है ॥३१५॥

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे यतिके गुणोमे जिसका परिणाम दह होता है वह साधु  
की वैयावृत्य करता है । वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है । आशय यह है कि इस यतिमे

साधोर्वैयावृत्य करोति । 'बेज्जाबक्वेण' वैयावृत्येन । 'तबो' तेन 'गुणपरिणामो कवो होवि' गुणपरिणाम कृतो भवति । एतदुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुणा, इमे नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यश्चेत्सि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य चोपकारं कृतस्तस्य च गुणेषु परिणति कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यं इति आख्यात ॥३१६॥

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेदिं ।

बड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसड्ढावि ॥३१७॥

'अह जह' यथा यथा गुणपरिणामो भवति । 'तह तह आरुहइ धम्मगुणसेदिं' तथाऽऽरोहति चारित्र-गुणश्रेणीः । 'बड्ढदि' वर्धते । 'जिणवरमग्गे' जितेन्द्रमार्गं । किं वर्धते ? 'नवनवसवगसड्ढावि' प्रत्यय-ससारभीरुता श्रद्धापि । इह गुणशब्देन गुणनिर्भासं स्मार्तं प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थः—तथा यथा यति-गुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानुपारोहनि । विस्मृतयतिगुणो न तत्र प्रयतते । तेषां गुणानां स्मरणान्तरं र्हाचरूपजायते । गुणानुरागिणो हि भव्या । समारम्भोति श्रद्धा च प्रवर्तमाना दृढयति यति रत्नत्रये । एतया गाथया सूत्रिना श्रद्धा व्याख्याता ॥३१७॥

गुणानामनुस्मरणान्तरं रुचिर्भवति रुचौ प्रवृद्धाया वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याशङ्कते—

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्ल भावदो उवक्कमदि ।

तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥३१८॥

'सड्ढाए वड्ढियाए' श्रद्धया वद्धितया । 'वच्छल्ल भावदो उवक्कमदि' वात्सल्य भावतः भगवा प्रारभते । 'तो' तत । 'तिव्वधम्मराओ' धर्मं तीव्रो रागः । 'सव्वजगसुहावहो होइ' सर्वेषु जगन्मु यन्मुक्

ये गुण है । यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे । मेसा जा चिनम विचारता है वह उन गुणोंमें परिणत होता है । और जिसकी सेवा की है उसकी गुणों में परिणति होती है । अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणोंसे मुवामित होता है और जिसका वैयावृत्य किया जाता है वह यति अपने गुणोंसे च्युत नहीं होता । अतः अपने और दूसरोंके उपकारके लिए वैयावृत्य कहा है ॥३१६॥

गा०—टी०—जैसे-जैसे गुण परिणाम होता है वैसे वैसे चारित्र रूप गुणोंका सीढ़ो पर चढ़ता है, और जितेन्द्रके मार्गमें नई-नई ससार भीरुता और श्रद्धा भी उदती है । यहाँ गुण एन्द्रसं गुणोंको विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है । नव यह अर्थ होता है—जमें-जसे यतिके गुणोंका स्मरण होता है वैसे-वैसे चारित्र गुण पर आगेहण करता है । जो यतिके गुणोंको भूल जाता है वह उसमें प्रयत्न नहीं करता । उनके गुणोंका स्मरण करनेमें उनमें रुचि पैदा होती है । भव्य जीव गुणोंकी अनुरागी होते है । ससारसे भय और श्रद्धा यतिको रत्नत्रयमें दृढ करती है । इस गाथासे श्रद्धा गुणका कथन किया ॥३१७॥

आगे कहते है कि गुणोंके स्मरणसे उनमें रुचि होती है । रुचि बढ़ने पर सम्यग्दर्शनका वात्सल्य नामक गुण होता है—

गा०—श्रद्धाके बढ़ने पर मुनि मनसे वात्सल्य करने है । उससे धर्ममें तीव्र राग होता है । धर्ममें तीव्र राग समस्त जगतमें जो इन्द्रिय जन्म और अतीन्द्रिय मुख है उसे लाता है । अथवा

ऐन्द्रियमतीन्द्रिय वा तदावहत्याकर्मति धर्मो तीव्रो राग । तीव्रधर्मरागो वा यतिरात्मन सकल सुखमावहति । वात्मन्य इत्येतद्व्याख्यात गाययाज्यात ॥३१८॥

वैयावृत्यस्य च भक्तिर्नाम यो गुणस्त व्याचष्टे—

**अर्हंतसिद्धभक्ती गुरुभक्ती सखसाहुभक्ती य ।**

**आसेविदा ममग्गा विमला वरधम्मभक्ती य ॥३१९॥**

'अर्हंतसिद्धभक्ती' तत्रार्हन्तो नामातिक्रान्ते तृतीये भवे दर्शनविशुद्ध्यादिपरिणामविशेषवद्धर्तीयंकरन्व-  
नामकमतिशया, स्वर्गावतरणादिपद्गुरवापपञ्चमहाकल्याणभागिन, घातिकर्मप्रलयाधिगतसकलद्रव्यकालगो-  
चरस्वरूपावभासनपट्टनिर्गतिशयज्ञानदर्शनमोहोन्मूलनोपजातवीतरणसम्यक्त्वा, चारित्रमोहोत्पादनलब्धवीत-  
रागभावा, वीर्यान्तरायकर्मप्रक्षयाविभूतानन्तवीर्या, परीतममाग्भयजनोद्धरणवद्भक्तिगा, अष्टमहाप्रतिहार्य-  
चतुर्थाशयतिशयविशेषा । मिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्मोपकर्मवन्धनिर्मुक्ता अज्ञरामगव्यावाधा  
उपमातीतानन्तसुखा जाज्वल्यमाननिगवरणज्ञानतनव' पुरुषाकारावाप्तपरमात्मवस्था । एतयोरर्हन्तिद्वयो-  
र्भक्ति । गुरुशब्देनाशचार्योपाध्यायो गृहीतो तयोर्भक्ति । 'सखसाहुभक्ती य' मर्वाद्युभक्तिश्च । 'आसेविदा'  
आगविता भवति । 'ममग्गा' ममस्ता 'विमला वरधम्मभक्तीय' प्रधाने धर्मे रत्नत्रयात्मके भक्तिस्व आमेविता  
भवति । अर्हंदाद्युपदिष्टवैयावृत्यवर्णानेया भक्ति कृता भवति । रत्नत्रयवनामुपकारकरणान्तदादरत एव तत्र  
भक्ति । वैयावृत्य भक्तिमापादयति अर्हंदादिद्विव्यक्त ॥३१९॥

धर्ममे तीव्रराग रखने वाला यति सब सुखको प्राप्त होता है । इस गाथासे वात्सन्यका कथन-  
किया ॥३१८॥

वैयावृत्यका भक्ति नामक जो गुण है उसे कहते हैं—

गा०-टी०—इस भवमे पूर्व तीमरे भवमे दर्शन विशुद्धि आदि परिणाम विशेषमे जिसने  
तीर्थकरत्व नामक अतिशयशाली कर्मका बन्ध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पांच महाकल्याण  
का भागी है जो कल्याणक किमी अन्यको प्राप्त नहीं होने, घातिकर्मके विनाशमे जिमने-  
त्रिकालवर्ती सब द्रव्योके स्वरूपको प्रकाशित करनेमे पट निर्गतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन  
मोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्रमोहके क्षयसे जिमने वीतरागता  
प्राप्त की है, वीर्यान्तराग कर्मके प्रक्षयसे जिमने अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके ससारका अन्त  
आ गया है उन भव्यजीवोका उद्धार करनेकी प्रतिज्ञासे जो बद्ध है, जो आठ महाप्रतिहार्य और  
चौतीस अतिशय विशेषसे युक्त है, वे अर्हन्त है । मिथ्यात्व आदि परिणामसे आये आठ कर्मके  
बन्धनसे जो छूट चुके है, जो अजर अमर, अव्याबाध गुणसे युक्त है अनुपम अनन्त सुखसे शोभित  
है जिनके सदा प्रज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार है और  
जिन्होंने परमात्म अवस्थाको पालिया है वे सिद्ध है । इन अर्हन्तो और सिद्धोकी भक्ति अर्हन्त  
सिद्ध भक्ति है । गुरु शब्दसे यहाँ आचार्य और उपाध्यायका ग्रहण किया है । उनकी भक्ति गुरु भक्ति  
है । और सर्वसाधुओकी भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रयमे सम्पूर्ण निर्मल भक्ति । इन अर्हन्त आदि  
का ऊपर कहा वैयावृत्य करनेसे उनकी भक्ति की गई जानना । रत्नत्रयके धारकोका उपकार  
करनेसे उनका आदर ही उनकी भक्ति है । अभिप्राय यह है कि वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमे भक्ति  
व्यक्त होती है ॥३१९॥

इवानो तस्या माहात्म्यं स्तौति—

**संवेगजणियकरणा णिस्सल्ला मंदरुव्व णिक्कपा ।**

**जस्स दट्ठा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि ससारे ॥३२०॥**

'संवेगजणियकरणा' मगारभोरुताजनितोत्पादा । करणशब्द सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावत्तरङ्ग-  
गृहीत । 'णिस्सल्ला' मिथ्यात्वेन, मायाया, निदानेन च रहिता । 'मंदरुव्व णिक्कपा' पदत्रय इव निदर्शयति ।  
'जस्स दट्ठा जिणभत्ती' गम्य जिने भक्तिर्दृढा । 'णत्थि ससारे' तस्य भयं नास्ति समासार्थः । जिन-  
शब्देना चात्रार्हदादयः सर्वे एवोच्यन्ते—कर्मकदेशानां समस्तानां च जयान् । धर्माऽपि धर्मोपनिबन्धात् इति  
द्रव्यलाभादिकमनुद्दिश्य प्रवृत्तैस्तत्कथयति । 'संवेगजणियकरणा' इत्यनेन मगारभयानराज्यणापायभूता जिन-  
भक्तिरिति ज्ञात्वा प्रवृत्तेति यावन् । वैतयिकमिध्यादृष्टे सर्वत्र भक्तिं प्रवर्तने एति तन्निरागम्य णिस्सल्ला  
इत्युच्यते । 'मंदरुव्व णिक्कपा' इत्यनेन सर्वकालवृत्तिनाम्यता । मासादनसम्यग्दृष्टोर्जातायैकपत्राया न मगार-  
भ्रिस्सारयतीति ॥३२०॥

वैयावृत्यस्य पात्रलाभगुणमाचष्टे—

**पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गहिदकसायवेदणो दंतो ।**

**लब्भदि ह्नु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो ॥३२१॥**

'पंचमहव्वयगुत्तो' पञ्चभिर्महाव्रत कृत्वाभवनिरोधः । 'णिग्गहिदकसायवेदणो' निगृहीतकषयापवदन  
कषायस्तु तपयन्त्यान्मानमिति वेदना । 'दंतो' दान्तं शान्तरामब्रदोप । परिज्ञानाद्रेराम्यभावनाया प्रशान्त-  
राग इति कृत्वा दान्तं इत्युच्यते । 'लब्भदि ह्नु पत्तभूदो' लभ्यत पात्रभूत । 'णाणासुदरयणणिधिभूदो' नाना-

अत्र उस भक्तिका माहात्म्य कहेते है—

गा०—टी०—'संवेग जणिय करण'मे 'करण' शब्द क्रिया सामान्यका वाचा होने पर भी  
यहाँ उसका अर्थ उत्पत्तिरूप क्रिया लिया है । अतः मगारके भयमे जो उत्पन्न होनी है, मिथ्यात्व  
माया और निदान नामक शक्तियोंसे रहित सुमरुकी तरह निश्चल, पंखी वृद्ध जिन भक्ति जिसके है  
उसे मगारमे भय नहीं है । कर्मिक एक देशको अथवा सब कर्मको जीतनेस यहा 'जिन' शब्दसे  
अर्हन्त आदि सभी लिये है । धर्म भी कर्मको निरस्त करता है इसलिये जिन शब्दसे धर्म भी कहा  
जाता है । किन्तु वह धर्म द्रव्यलाभके उद्देशसे न होकर जिन भक्ति मगारका भय दूर करनेका  
उपाय है । यह जानकर होना चाहिये । वैतयिक मिध्यादृष्टिकी भक्ति मयमे होती है उसके निरा-  
करणके लिये नि शक्य कहा है । मेरुकी तरह निश्चल कहनेसे वह भक्ति सर्वकालम होनी चाहिये  
ऐसा कहा है । मासादन सम्यग्दृष्टोके अल्पकालीन भक्ति होनी है किन्तु वह मगारमे नहीं  
निकालती ॥३२०॥

वैयावृत्यका एक गुण पात्रलाभ है । उसे कहते है—

गा०टी०—वयावृत्य करनेसे, पाँच महाव्रतो के द्वारा कर्माके आश्रवको रोकने वाला,  
कषाय वेदनाका निग्रह करने वाला, कषाय आत्माको मरगत करती है इससे वेदना कहा है,  
दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये हैं, वस्तु तत्वको जाननेसे बराग्य भावना  
होती है और बराग्य भावनामे राग शान्त होता है इसमे दान्त कहा है, तथा जो नाना प्रकारके  
शास्त्रोहपी रत्नोका निधि है नाना शास्त्रोका ज्ञाता है, ऐसा पात्र प्राप्त होना है' अर्थात् वैयावृत्य

श्रुतरत्ननिधिभूत' ॥२२१॥

**दंसणणाणे तव सजमे य संधाणदा कदा होइ ।**

**तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ॥३२२॥**

'दंसणणाणे' दर्शनज्ञानयो । 'तवसजमे य' तपस्चारित्रयोश्च । 'संधाणदा होइ' कुतश्चित्रिमिला-  
द्विच्छिन्नाना दर्शनादीना संधान कृत भवति वैयावृत्येन । 'तो' तस्मात् तेनैव वैयावृत्यकारिणा । 'सिद्धिमग्गे'  
रत्नत्रये । 'ठविदो अप्पा परो चेव' स्थापित आत्मा परश्च । अनया संधानमित्येतस्मूत्रपदव्याख्यानम् ॥२२२॥

तव इत्येतद्व्याख्यातुमाह—

**वेज्जावच्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।**

**पफफोडितो विहरदि बहुभववाधाकरं कम्मं ॥३२३॥**

'वेज्जावच्चकरो पुण' वैयावृत्यकर पुन 'अणुत्तरं तवसमाधि मारूढो' उत्कृष्ट वैयावृत्याख्ये तपसि  
समाधिमेकाग्रनामुपाश्रित । 'पफफोडितो विहरदि' विघ्ननयस्विहरति । 'बहुभववाधाकरं कम्मं' बहुभवेपु वाधा  
मपादयन्कर्म ॥३२३॥

**जिणमिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा ।**

**तिविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होंति ॥३२४॥**

'जिणमिद्ध साहुधम्मा' तीर्थकृत, सिद्धा, माधवो, धर्मेश्वर । 'अणागदातीदवट्टमाणगदा' सर्वे त्रिकाल-  
वर्तिन 'सव्वे तिविधेण पूजिता होंति' सर्वे मनोवाक्कार्ये पूजिता भवन्ति । 'सुद्धमदिणा' शुद्धचेतसा । तीर्थ-  
कृदादयस्नदाज्ञानपाशनामपूजिता, दर्शविधे धर्मं तपसोज्तभविवाद्द्वैवावृत्यम्य च तदन्तर्गतत्वाद्द्वैवावृत्ये आदरगत्  
तत्प्रवन्नेश्च धर्मं पूजितो भवति ॥३२४॥

करन वालेको वैयावृत्यके लिये ऐसे मत्पात्र मुनी प्राप्त होते है यह एक महान् लाभ है ॥३२१॥

गा०—टी०—किमी निमित्तसे सम्यग्दर्शन आदिमे त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करनेसे  
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्त्तप और सम्यक् चारित्र्यमे पुन नियुक्ति हो जाती है । अत उसी  
वैयावृत्यकारिके द्वारा स्वय आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसको रत्नत्रय मे पुन  
स्थिति होनी है । इससे दोनो का ही लाभ है । इस गाथाके द्वारा 'संधान' पदका व्याख्यान  
किया है ॥३२२॥

तप गुणको कहते है—

गा०—वैयावृत्य करनेवाला भूनि उत्कृष्ट वैयावृत्यमात्रक तपमे एकाग्र होकर अनेक  
भवोमे कष्ट देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ विहार करता है ॥३२३॥

गा०—शुद्धचित्तसे वैयावृत्य करनेवालेके द्वारा भूत, भविष्यन् और वर्तमानकालके सब  
तीर्थकर, सिद्ध, साधु और धर्म मन-वचन-कायसे पूजित होते है । तीर्थकरोंकी आज्ञाका पालन  
करनेसे सभी तीर्थकर आदि इसके द्वारा पूजित होते है । तथा दस प्रकारके धर्मोंमे एक तपधर्म  
भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है अत वैयावृत्यमे आदरभाव रखने तथा वैयावृत्य करनेसे  
धर्म पूजित होता है ॥३२४॥

वैयावृत्यं दशविधं आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षकग्लानगणकुलसधसाधुमनोज्ञभेदेन । तत्राचार्यवैयावृत्यमाहात्म्यकथनायाचष्टे—

**आइरियधारणाए संघो सच्चो वि धारिओ होदि ।**

**संघस्स धारणाए अब्बोच्छित्ती कया होई ॥३२५॥**

'आइरियधारणाए' आचार्यधारणात, 'संघो सच्चो वि धारिओ होदि' सर्व संघोऽवधारितो भवति । कथं ? आचार्यो हि रत्नत्रयं ग्राहयति । गृहीतरत्नत्रयाम्तेषु द्रहयति । अतिचाराऽञ्जानानप्यपनयति । तदुपदेशबलेनैव गुणसहितस्वाता धत्ते संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति । सधधारणाया गुणमाचष्टे । **संघस्स धारणाए अब्बोच्छित्ती कया होदि** धर्मतीर्थस्याभ्युदयनि श्रेयससुखसाधनस्य अब्बुच्छित्तिं कृता भवति । उपाध्यायादयं सर्व एव साधयन्ति निरवशेषकर्मपापमिति साधुशब्देनोच्यन्ते ॥३२५॥

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणाया गुणं कथयति—

**साधुस्स धारणाए वि होई तह चेव धारिओ संघो ।**

**माधु चेव हि संघो ण ह्यु संघो साधुवदिरित्तो ॥३२६॥**

'साधुस्स धारणाए' एकस्य साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणाया । 'होदि' भवति । 'तह चेव' तथैव आचार्यधारणात सधधारणात् । 'धारिओ संघो' धारितो यतिसमुदाय । कथमेकस्य धारणाया समुदायधारणा, समुदायावयवयोर्भेदादित्याशङ्क्यामाह—'साधु चेव हि संघो' साधव एव हि सध । 'ण हि संघो साधुवदिरित्तो' नैव सर्वा नामार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्त । कथञ्चित्समुदायावयोरव्यतिरेक इति मन्यते साधा-

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, सध, साधु और मनोज्ञके भेदसे वैयावृत्यके दस भेद है । उनमेंसे आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

गा०-टी०—आचार्यका धारण करनेमें समस्त सध धारित होता है । क्योंकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण करते हैं और जो साधु रत्नत्रयको धारण किये होते हैं उन्हें उममें दृढ़ करते हैं । उत्पन्न हुए अतिचारको दूर करते हैं । आचार्यके उपदेशके प्रभावसे ही सध गुणोंके समूहको धारण करता है अत आचार्यके धारणसे सधका धारण होता है । आचार्यके बिना सधका धारण सम्भव नहीं है । संघके धारणमें अभ्युदय और मोक्षके सुखका साधन जो धर्म है उम धर्मतीर्थका विच्छेद नहीं होता । उपाध्याय आदि सभी समस्तकर्मोंके विनाशकी साधना करते हैं इसलिए साधु शब्दसे उन सबका ग्रहण होता है ॥३२५॥

**विशेषार्थ**—धाग्णाका अर्थ है अपने धर्मकर्मकी शक्तिको भ्रष्ट करनेके निमित्तोंको दूर करके उमको शक्ति प्रदान करना । इसीको वैयावृत्य भी कहते हैं ।

उक्त आचार्यादिमेंसे किसी एक साधुकी धारणाके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे आचार्यकी धारणासे संघकी धारणा होती है वैसे ही एक साधुकी धारणासे अर्थात् वैयावृत्य करनेमें साधु समुदायकी धारणा होती है ।

**शंका**—एक साधुकी धारणासे सब साधु समुदायकी धारणा कैसे हो सकती है ? क्योंकि समुदाय और व्यक्तिमें तो भेद है ? इनके उत्तरमें कहते हैं—

**समाधान**—साधु ही सध है । साधुओंसे भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नहीं है । समुदाय



द्वयेनानेन । अव्यञ्चित्तिव्याख्याता ॥३२६॥

सिद्धिसुखे चेतसि एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगूहनं कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीर्हि अणुत्तरविहीर्हि बिहरमाणेन ।

जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि ॥३२७॥

'गुणपरिणामादीर्हि य' गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्तिः, पात्रलाभ, सधानं, तप, पूजा, तीर्थ-  
व्यञ्चित्तिक्रियेत्येते । 'अणुत्तरविहीर्हि' प्रकृष्टे क्रमेः । 'बिहरमाणेन' आचरना । 'जा सिद्धिसुहसमाधी' या  
सिद्धिसुखैकाग्रता । 'सा वि य उवगूहिया होइ' साप्यालिङ्गता भवति । कारणे ह्यादरः कार्ये समाधानमन्तरेण  
न प्रवर्तते । न हि साध्ये घटे चेतस्यसति तदुपायभूतदण्डादिकारणकलापे जन प्रवर्तते । इह च गुणपरिणामा-  
दय उपाया सिद्धिसुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामन्तरेण ते युज्यन्ते इति भावः ॥३२७॥

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा हौति ।

णिगमहि याणि कसार्थिदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥३२८॥

'अणुपालिदा या आणा' अनुपालिता च आज्ञा भवति वैयावृत्यं कुर्वता । केषा ? तीर्थकुदादीना ।  
एतेन 'आणा' इत्येतत्सूत्रपदं व्याख्यातं भवति । 'संजम जोगा य पालिदा हौति' इत्यनेन सयमपदव्याख्या कृता  
मयमेन सह सम्बन्धः आचार्यादीनाम् । 'पालिदा हौति' रक्षिता भवन्ति । व्याध्याद्यापद्गताना रोगपरीषहान-  
सकलेशेन धारयितुमसमर्थानाम् । अथवा सयमयोगाश्च तपासि अनशनवितपीविषीषा रक्षिता भवन्ति स्वस्य  
परेषा च, करणानुमननाम्या स्वस्यापन्निरासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादीना सयमसपादनात् । परेषा सहायता

और उसके अवयव व्यक्तिके कथञ्चित् अभेद होता है यह इन गाथाओंके द्वारा माना है ॥३२६॥

अव्यञ्चित्तिका कथन समाप्त हुआ ।

सिद्धि सुखमे चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते है । वैयावृत्यसे उसका उपगूहन होता है,  
यह कहते है—

गा०—श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धान, तप, पूजा, तीर्थकी अव्यञ्चित्ति (अवि-  
नाश) इत्यादि गुणोका उत्कृष्ट क्रमके साथ आचरण करनेवाले मुनिको जो सिद्धि सुखमे एकाग्रता  
है, वह भी प्राप्त होती है; क्योंकि कार्यमे समाधान हुए बिना कारणमे आदर नहीं होता । यदि  
चित्तमे घट बनानेकी भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण है उनमे मनुष्य  
प्रवृत्त नहीं होता । यहाँ गुणपरिणाम आदि सिद्धिसुखके उपाय है, सिद्धिसुखमे एकाग्रताके बिना  
वे उपाय नहीं हो सकते । यह अभिप्राय है ॥३२७॥

गा०—टी०—'जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थकरोकी आज्ञाका पालन करता है । इस कथन-  
से गाथाके 'आणा' पदका व्याख्यान किया है । 'सयमयोगका पालन होता है' इस कथनसे सयम-  
पदका व्याख्यान किया है क्योंकि आचार्य आदिका सयमके साथ सम्बन्ध है । जो आचार्य आदि  
व्याधि आदिसे पीडित होते है और बिना संकलेशके रोगपरीषहको सहनेमे असमर्थ होते है उनकी  
वैयावृत्य करनेसे संयमकी रक्षा होती है । अथवा 'संयमयोग' अर्थात् अनशन आदि तपके भेदोकी  
रक्षा होती है । अपने भी और दूसरोंके भी तपकी रक्षा होती है । दूसरोंसे वैयावृत्य कराकर अथवा  
वैयावृत्य करनेकी अनुमोदना करके स्वास्थ्यको प्राप्तकर अपने तपकी रक्षा करता है तथा दूसरोंकी

व्याचष्टे—जम्हा इति वाक्यशेषाध्याहारेण सूत्रपदानि सम्बन्धनीयानि । यस्मान्निगृहीतानि कषायेन्द्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता तस्मात् 'साञ्जिल्लबा य कवा' सहायता कृता ॥३२८॥

**अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिच्छा दरिसिदा होइ ।**

**पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं सघकज्जं च ॥३२९॥**

'अदिसयदाणं दत्तं' अतिशयदान दत्तं भवति रत्नत्रयदानान् । 'णिव्विदिगिच्छा य दरिसिदा होइ' सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । द्रव्यविचिकित्सा निरस्ता शरीरमलाना निराकरणात् जुगुत्सा विना । 'पवयणपभावणा वि य' प्रवचनमागमस्तदुक्तार्थानुष्ठानान् प्रवचनप्रभावना कृता भवति । 'णिव्वूढं सघकज्जं च' सघेन कर्तव्यं कार्यं च निश्चयेन सपादितं भवति । एतेन 'कज्जपुण्णाणि' इत्येतद्व्याख्यातम् ॥३२९॥

वैयावृत्यस्य फलमाहात्म्यं दर्शयति—

**गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ।**

**तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥३३०॥**

'गुणपरिणामादीहिं य' अत्रैव पदसम्बन्ध 'वेज्जावच्चुज्जदो' वैयावृत्ये उच्यते । 'गुणपरिणामादीहिं' गुणपरिणामादिभिः कारणभूतैः । 'पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि' पुण्य तीर्थकरणनामकं समर्जयति । कीदृक् ? 'तिलोयसंखोभयं' त्रैलोक्यसंशोभकरणक्षमम् ॥३३०॥

**एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य ।**

**अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्जायं चैव कुव्वंतो ॥३३१॥**

'एदे गुणा महल्ला' एते गुणा महान्तः । 'वेज्जावच्चुज्जदस्स' वैयावृत्योद्यतस्य । 'बहुया य' बहवः ।

आपात्तिको दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करनेपर उनके सयमकी रक्षा होती है । दूसरोकी सहायताका कथन गाथाके उत्तराद्धसे करते है । उसमे 'जम्हा' पदका अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है—यत वैयावृत्य करनेवाला कषाय और इन्द्रियोके दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रियोका निग्रह करता है, अत वह दूसरोको सहायता प्रदान करता है ॥३२८॥

गा०—टी०—वैयावृत्य करनेवाला उक्त प्रकारसे दूसरे साधुओको रत्नत्रयका दान करता है इसलिए वह सातिशयदानका दाता होता है । तथा वैयावृत्यसे सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है । शरीरका मलमूत्र आदि विना ग्लानिके उठानेसे द्रव्यविचिकित्सा दूर होती है । आगममे कहे हुए धर्मका पालन करनेसे प्रवचनकी प्रभावना भी होती है । और सघका जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है । इस गाथासे 'कज्जपुण्णाणि' पदका व्याख्यान किया है ॥३२९॥

• वैयावृत्यके फलका माहात्म्य कहते है—

गा०—वैयावृत्यमे तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणोके द्वारा उम तीर्थङ्कर नामक पुण्यकर्मका बन्ध करता है जो तीनो लोकोंमे हलचल पैदा करता है ॥३३०॥

गा०—वैयावृत्यमे तत्पर साधुके बहुतसे महान् गुण होते है । जो केवल स्वाध्याय ही

'अप्यदिठवो ऽु आर्यवि' आत्मप्रयोजनपर एव जायते । 'सन्नाथ खेव कुण्वंतो' स्वाध्यायमेव कुर्वन् । वैयावृत्य-  
करस्तु स्वं पर चोद्धरतीति मन्यते ॥३३१॥

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गमग्गिविससरिसं ।

अज्जाणुचरो साधू लहदि अकित्ति खु अचिरेण ॥३३२॥

'वज्जेह' वजंयन अग्निना विषेण सद्दश आर्याजनससर्गं । प्रमादरहितैर्भवद्भ्रुत्याज्यं 'अज्जाणुचरो' आर्यानुचर । 'साधू' साधुलंहदि अकित्ति लभते अयश 'अचिरेण' अचिरेण । चित्तसतापकारितया अग्नि-  
सद्दशता । समयजीवितविनाशनाद्रिपसद्दशता । पापस्य अयशसश्च प्रायेण भीरुर्लोकोऽपि साध्वाचारः मिथ्या-  
दृष्टिरमयतोऽपि कि पुनर्विदिनवेदितव्यस्य परिह्रायंमशेष उद्यत परिहर्तुं यतिजन पापमयशश्च न परि-  
हरेत् । तथा च श्लोक —

काये पातिनि का रक्षा यशो रथ्यमपाति यत् ।

नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ [ ] ॥३३२॥

थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स ।

अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥३३३॥

'थेरस्स' स्वविरम्य । 'तवसिस्स वि' अनशनादितपस्युद्यतस्यापि । 'बहुभुदस्स वि' बहुभुतस्यापि ।  
'पमाणभूदस्स' प्रमाणभूतस्य । 'अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि' आर्यापरिचयाज्जनापवादो  
भवति ॥३३३॥

कि पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरित्तो ।

अज्जासंसग्गीए जणजंपणय ण पावेज्ज ॥३३४॥

करता है वह तो अपने ही प्रयोजनमे लगा रहता है । किन्तु वैयावृत्य करनेवाला अपना और  
दूसरोका उपकार करता है । अर्थात् केवल स्वाध्याय करनेवाले साधुसे वैयावृत्य करनेवाला विशिष्ट  
होता है । स्वाध्याय करनेवाले साधुपर विपत्ति आवे तो उसे वैयावृत्य करनेवालेका ही मुख  
ताकना होता है ॥३३१॥

गा०—टी०—हे साधुजनो ! आपको प्रमादरहित होकर आग और विषके तुल्य आर्याओके  
ससर्गको छोडना चाहिए । आयुके साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ।  
आर्याका संसर्ग चित्तको सन्तापकारी होनेसे आगके समान है और समयरूपी जीवनका विनाशक  
होनेसे विषके समान है । साधु आचारवाले मिथ्यादृष्टि असंयमी लोग भी प्राय पाप और अपयश-  
से डरते हैं । फिर जो सब कुछ जानते हैं और समस्त त्यागने योग्य पदार्थके त्यागमे तत्पर  
रहते हैं वे साधुजन पाप और अपयशके कामसे क्यों नहीं दूर रहेंगे ? कहा भी है—शरीर नष्ट  
होनेवाला है उसकी रक्षा सम्भव नहीं है । यशकी रक्षा करने योग्य है जो नष्ट नहीं होता ।  
शरीरके छूट जानेपर मनुष्य यशरूपी शरीरसे जीवित रहता है ॥३३२॥

गा०—बृद्ध, अनशन आदि तपमे तत्पर तपस्वी, बहुभुत और प्रमाण माना जानेवाला  
भी साधु आर्याजनके ससर्गसे लोकापवादका भागी होता है ॥३३३॥

'किं पुत्रं वा पावेज्ज अणंअणययं' किं पुनरं प्राप्नुयाज्जनापवादं वा ? प्राप्नोति नियोगत । केन ? 'अज्जासंसग्गीए' आर्यागोष्ठया । क ? "तरुणो अबहुस्सुवो अणुकिट्ठतवचरित्तो य" तरुणो यतिरबहुश्रुतोऽनुक्कट्ठतपस्चारित्रश्च ॥३३४॥

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसग्गिलद्धपसराए ।

अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चिणं खु अज्जाए ॥३३५॥

'जदि वि सयं थिरबुद्धी' यद्यपि स्वयं स्थिरबुद्धिः । 'तहा वि' तथापि । 'संसग्गिलद्धपसराए' संसग्गिल्लब्धप्रसरायाः । 'अज्जाए' आर्यायाः । 'चित्तं विलेज्ज' चित्तं द्रवति । किमिव ? 'अग्गिसमीवे व घदं' अग्निस्समीपस्थ घृतमिव । न केवलमार्याजन एव परिहरणीयं किं तु—॥३३५॥

सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ।

णित्थरदि बंभचेरं तत्थिवरीदो ण णित्थरदि ॥३३६॥

'सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि' सर्वस्मिन्नेव स्त्रीवर्गे बालाकन्यामध्यमास्यविरासुरूपविरूपेति विचित्रभेदे । 'अप्पमत्तो' अप्रमत्त प्रमादरहितः । मदा 'अवीसत्थो' विश्वासरहितः । 'णित्थरदि' निम्तर्गति 'बंभचेरं' ब्रह्मचर्यं । 'तत्थिवरीदो' तद्विपरीत प्रमत्त विश्वासवाञ्छ । 'ण णित्थरदि' न निम्तर्गति ॥३३६॥

आर्यानुचरणे दोषं प्रकटयति—

सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।

सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ॥३३७॥

'सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो' सर्वस्माद्भ्रान्तुक्षेत्रादिकाद्रिमुक्तं साधु सर्वत्र भवति स्ववश 'सो चेव' स एवात्मवश । 'होइ' भवति । 'अणप्पवसो' अनात्मवश । किं कुर्वन् ? 'अज्जाओ अणुचरंतो' आर्या अनुचरन् ॥३३७॥

गा०—तत्र जो अवस्थामे तरुण है, बहुश्रुत भी नहीं है और न जो अनुक्कट तपस्वी और चारित्रवान् हैं वे आर्याजनके ससर्गसे लोकापवादके भागी क्यों नहीं होंगे ? ॥३३४॥

गा०—मुनि यद्यपि स्वयं स्थिर चित्तवाला हो फिर भी उसके समर्गमें चित्तमें उल्लास पाकर आर्याका मन उसी प्रकार द्रवित होता है जैसे आगके समीपमें धी द्रवित होता है ॥३३५॥

गा०—तथा केवल आर्याओका ससर्ग ही त्याज्य नहीं है, बल्कि जो बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकारके स्त्रीवर्गमें प्रमाद रहित होता है और कभी भी उनका विश्वास नहीं करता वही साधु ब्रह्मचर्यको जीवन पर्यन्त पार लगाना है । जो उससे विपरीत होता है अर्थात् स्त्रियोके सम्बन्धमें प्रमादी और विश्वासी होता है वह ब्रह्मचर्यको पार नहीं कर पाता ॥३३६॥

आर्याके अनुचरणमें दोष बतलाते हैं—

गा०—जो साधु धर, जमीन आदि समस्त परिग्रहोंसे मुक्त है वह सर्वत्र अपनेको वशमें रखता है । किन्तु वही साधु आर्याका अनुगामी होकर आत्मवशी नहीं रहना ॥३३७॥

खेलपडिदम्प्याणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ।

अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥३३८॥

‘खेलपडिदम्प्याणं’ खेलमपरीतमात्मान । ‘जह ण तरदि मच्छिया विमोचेदुं’ यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुम् । ‘तह अज्जाणुचरो ण तरदि अप्पाणं विमोचेदुं’ तथा आर्याणुचरो न शक्नोति आत्मान विमोचयितुम् ॥३३८॥

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा ।

चम्मेण सह अवैतो ण य सरिसो जोणिकसिलेसो ॥३३९॥

‘साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा’ साधोर्नास्ति लोके आर्यासदृशी बन्धने उपमा । ‘चम्मेण सह अवैतो’ चर्मणा सह अपगच्छन् । ‘ण य सरिसो जोणिकसिलेसो’ नैव सदृशं चर्मकारप्लेथ । न केवल आर्याजनो दूरत एव परिहार्य अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥३३९॥

अण्ण पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुणदि ।

तं तं परिहरह तदो होहदि दढसंजदा तुज्झ ॥३४०॥

‘अण्णं पि तहा वत्थुं’ अन्यदपि तथाभूत वस्तु । ‘जं जं साधुस्स बंधणं कुणइ’ यद्यत्साधोर्बन्धनं करोति अस्वतन्त्रता करोति । ‘तं तं परिहरह तत्तत्परिहारे उद्योग कुत । ‘तत्त’ वस्तुन्यागात् । ‘होहदि दढसंजा तुज्झ’ भवता दृढसयतता गुणो भवत्येवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसयमस्तत्यागे त्यक्तो भवति ॥३४०॥

पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सन्वधा तुम्हे ।

इदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥३४१॥

‘पासत्थादीपणयं’ पार्श्वस्थादिपञ्चक पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक्त, कुशीलो, मृगचरित्र. इति पञ्च । तान् दूरतो निराकृत । अपरित्यागदोषमाह—‘मेलणदोसेण तम्मयदा होइ’ ससर्गदोषेण पार्श्वस्थादिमयता ॥३४१॥

तन्मयता प्रतिपत्तिरुक्त्वाख्यानायाता गाथा—

गा०—जैसे मनुष्यके कफमे फँसी हुई मक्खी उससे अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ होती है । वैसे ही आर्याका अनुगामी साधु उससे अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ होता है ॥३३८॥

गा०—साधुका आर्याके साथ सहवास ऐसा बन्धन है जिसकी कोई उपमा नहीं है । चर्मके साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नहीं है ॥३३९॥

गा०—साधुको केवल आर्याजनोके ससर्गसे ही दूर नहीं रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधुको परतन्त्र करती है उस-उस वस्तुको त्यागनेमें तत्पर रहो । उसके त्यागसे तुम्हारा संयम दृढ होगा । बाह्य वस्तुके निमित्तसे होने वाला असंयम उस वस्तुके त्यागसे त्यागा जाता है ॥३४०॥

गा०—पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक्त, कुशील और मृगचरित्र इन पाँच प्रकारके कुमुनियोंसे तुम सदा दूर रहो । उनसे मेल रखनेसे पुरुष उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४१॥

लज्जं तदो विहिंसं गिन्विसंकदं चेष ।

पियघम्मो वि क्रमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥३४२॥

पार्श्वस्थादिसंसर्गं कर्तुं वाच्छन्नपि 'लज्जं' लज्जा उपारोहति । 'ततः' पश्चाद्विहिंस असयमजुगुप्सा करोति । कथमहमेवंविधं व्रतमङ्गं करोमि दुरतसंसारपतनहेतुमिति । पश्चाच्चारित्रमोहोदयात्परवश 'पारंभं' प्रारभते । कृतप्राग्भ्यो यतिरारम्भपरिग्रहादियुं निन्विसंकदं चेष निर्विशङ्कतामुपैति । 'पियघम्मोवि' धर्मप्रियोऽपि । 'क्रमेणारुहंतओ' क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जादिक । 'तम्मओ होवि' पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥३४२॥

यद्यपि बाक्कायाम्या न प्रयतते तथापि मानसी पार्श्वस्थादिता प्रतिपद्यत इत्याचष्टे—

संविग्गस्सवि ससग्गीए पीदी तदो य बीसंभो ।

सदि बीसंभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा ॥३४३॥

'संविग्गस्स वि' ससारभीरोरपि यते । 'संसग्गीए' पार्श्वस्थादिसंसर्गणं । 'पीदी होवि' प्रीतिर्भवति । 'तदो य' प्रीते सकाशात् । 'बीसंभो होवि' विश्रम्भो भवति । 'सदि बीसंभे य रदी' विश्रम्भे सति रतिर्भवति । पार्श्वस्थादियुं 'रदीए वि तम्मयदा' रत्या च तन्मयता ॥३४३॥

ससर्गवशाद्गुणदोषो भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति—

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्टिया सुरभिणा व इदरेण ।

किइ जोएण ण होज्जो परगुणपरिभावो पुरिसो ॥३४४॥

'जवि' यदि । 'भाविज्जइ' भाव्यते वास्यते । 'गंधेण' गन्धेन, 'मट्टिया' मृत्तिका । 'सुरभिणा व इदरेण' सुरभिणा च इदरेण वा । 'कइ जोएण ण होज्जो' कथं सन्नधेन न भवेत् । 'परगुणपरिभावो पुरिसो' परेषा पार्श्वस्थादीना गुणं परिभावितं पुरुष ॥३४४॥ परगुणग्रहणायाह—

पार्श्वस्थ आदिके संसर्गसे कैसे पार्श्वस्थ आदिरूप हो जाता है यह व्रतलाते है—

गा०—पार्श्वस्थ आदिका संसर्ग करनेकी इच्छा रखते हुए भी लज्जा करता है । पश्चात् असयमके प्रति रग्लानि करता है कि मैं कैसे इस प्रकार व्रत भंग करूं, यह तो दुरन्त ससारमे गिराने वाला है । पश्चात् चारित्र मोहके उदयसे परवश होकर असयमका प्रारम्भ करता है । असयमका प्रारम्भ करके यति आरम्भ परिग्रह आदिमे निश्चक होकर प्रवृत्ति करता है । इस प्रकार धर्मका प्रेमी भी मुनि क्रमसे लज्जा आदि करते हुए पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४२॥

यद्यपि उनको सगतिसे वचन और कायसे तो उनके आचारमे प्रवृत्ति नहीं करता तथापि मनसे पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है यह कहते है—

गा०—ससारसे भयभीत भी मुनि पार्श्वस्थ आदिके संसर्गसे उनसे प्रीति करने लगता है । प्रीति करनेसे उनके प्रति विश्वासी हो जाता है । उनका विश्वास करनेसे उनका अनुरागी हो जाता है और उनमें अनुराग करनेसे पार्श्वस्थादिमय हो जाता है ॥३४३॥

संसर्गसे अचेतन वस्तुओमे भी गुण और दोष उत्पन्न हो जाते है, यह दृष्टान्त द्वारा समझाते है—

गा०—यदि मुगन्ध अथवा दुर्गन्धके संसर्गमे मिट्टी भी सुगन्धित अथवा दुर्गन्धयुक्त हो

जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चैव ।

वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसणेण ॥३४५॥

दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ता मृत्तिका छुरिका च । तथा बोक्तं सुरभिणा च इदरेण इति ॥३४५॥

दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि ।

सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥३४६॥

'दुज्जणसंसग्गीए' दुष्टजनसंसर्गण । 'पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि' विजहति रवगुण सुजनोऽपि । 'सीयलभावं जहा उदकं पजहवि' शैत्य भाव यथा जहात्युदक । 'अग्गिजोएण' अग्निसम्बन्धेन । साधु स्वगुण जहात्यनलसम्बद्धजलमिवेति सहजगुणत्यागे दृष्टान्त ॥ ३४६॥

अशोभनगुणेन संसर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंभेलाए दोसेण ।

माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिद्धा ॥३४७॥

'सुजणो वि होइ लहुओ' सुजनोऽपि भवति लघु । 'दुज्जणसंभेलाए दोसेण' दुर्जनगोष्ठीदोषेण । 'माला वि मोल्लगरुया' मालापि मुमनसा मोल्येन लघ्वी । 'होइ' भवति । 'मडयसंसिद्धा' मृतकस्य सखिलिष्टा ॥३४७॥

अदुष्टोऽपि दुष्ट इति शब्दव्यते यति. पार्श्वस्थादिगोष्ठ्या इत्येतद्दृष्टान्तेनाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण ।

पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंमणो चैव ॥३४८॥

दुज्जणसंसग्गीए इति स्पष्टार्था गाथा ॥३४८॥

जाती है तो ससर्गमे पुरुष पार्श्वस्थ आदिके गुणोसे तन्मय क्यो न होगा ? ॥३४४॥

गा०—जो जिस प्रकारकी वस्तुसं मैत्री करता है वह वैसा ही हो जाता है । स्वर्ण आदिके ससर्गसे लोहेकी छुगी भी उसी रूप हो जाती है ॥३४५॥

गा०—दुष्टजनके ससर्गसे सज्जन भी अपना गुण छोड़ देता है । जैसे आगके सम्बन्धसे जल अपने शीतल स्वभावको छोड़ देता है । आगके सम्बन्धसे जलकी तरह साधु भी अपना गुण छोड़ देता है । यह स्वाभाविक गुणके त्यागमें दृष्टान्त है ॥३४६॥

अशोभनीय गुण वाले मनुष्यके ससर्गमे मनुष्य उसीकी तरह स्वयं भी अशोभनीय गुणवाला हो जाता है, यह कहते हैं—

गा०—दुर्जनकी गोष्ठीके दोषसे सज्जन भी अपना बढप्यन खो देता है । फूलोंकी कीमती माला भी मुद्दे पर डालनेसे अपना मूल्य खो देती है ॥३४७॥

पार्श्वस्थ आदिके साथ ससर्ग करनेसे अच्छे भी यतिको लोग बुरा होनेकी शंका करते हैं, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—दुर्जनके संसर्गसे लोग संयमीके भी सदोष होनेकी शंका करते हैं । जैसे मद्यालयमे बैठकर दूध पीने वाले ब्राह्मणके भी मद्यपापी होनेकी शंका करते हैं ॥३४८॥

परदोसगहणलिच्छो पग्वादरदो जणो खु उस्खणं ।

दोसस्थाणं परिहरह तेण जणजपणोगासं ॥३४९॥

‘परदोसगहणलिच्छो’ परदोषप्रहृणच्छावान् । ‘परिवावरदो’ परीक्षे परदोषवचने रत । ‘जणो’ जन । ‘उस्खणं खु’ नितरार्थम् । तेण दोसस्थाणं परिहरहं तेन दोषस्थानपरिहारं कुरुत । ‘जणजपणोगासं’ जन-जल्पनावकाश ॥३४९॥

दुर्जनगोष्ठी अनर्थभावहृत्पैहलौकिकमित्येतत्कथयति—

अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं ।

जह घूगकए नोसे हंमो य हओ अपावो वि ॥३५०॥

अदिसंजदो वि इत्यनया । अनीव सयतांसिपि दुर्जनकृतं दोषेण प्राप्नोति । ‘दोसं’ अनर्थ । यथोलूक-कृतदोषनिमित्तं अपापोऽपि हसो हत ॥३५०॥

दुर्जनगोष्ठ्या दोषान्तरमाचष्टे—

दुज्जणसंमग्गीए वि भाविदो सुयणमज्झं ाग्ग्मि ।

ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे वेरग्गमवहाय ॥३५१॥

‘दुज्जणसंसंगीए वि भाविदो’ दुर्जनगोष्ठ्या भावित । ‘सुयणमज्झं ाग्ग्मि’ सुज्जनमध्ये । ‘ण रमवि’ न रमते । ‘रमवि य दुज्जणमज्झे’ रमते दुर्जनमध्ये । ‘वेरग्गमवहाय’ वैराग्य परित्यज्य ॥३५१॥

सुजनसमाश्रयणे गुणख्यापनायोत्तरसूत्राणि—

जहदि य णिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयग्गुणेण ।

जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि ॥३५२॥

‘जहवि य’ जहाति निजमपि दोष दुर्जनः सुजनमिश्रगुणेन । यथा मेरुमाश्रयणे काको जहाति सहजा-

गा०—लोग दूसरोके दोषोंको पकडनेके इच्छुक होते है और परोक्षमे दूसरोके दोषोंको कहनेमें रस लेते है । इसलिए जो दोषोंका स्थान है उससे अत्यन्त दूर रहो क्योंकि; ऐसा न करनेसे लोगोको अपवाद करनेका अवसर मिल जाता है ॥३४९॥

‘दुर्जनोकी सगति अनर्थकागी है यह एक लोक प्रचलित कथाके द्वारा कहते है—

गा०—महान् सयमी भी दुर्जनके द्वारा किए गये दोषसे अनर्थका भागी होता है । जैसे उल्लूके द्वारा किए गये दोषके लिए निर्दोष भी हंस मागा गया ॥३५०॥

दुर्जनोंकी संगतिका अन्य दोष कहते है—

गा०—दुर्जनोकी सगतिसे प्रभावित मनुष्यको सज्जनोका सत्सग रुचिकर नही लगता । वह वैराग्यको त्यागकर दुर्जनोंमे ही रमता है ॥३५१॥

सज्जनोके सत्संगमे गुणोंका कथन आगेकी गाथाओसे करते है—

गा०—सज्जनोकी सगतिके गुणसे दुर्जन अपना दोष भी छोड़ देता है । जैसे सुमेरु पर्वतका



मपि छायामशोभनां तद्वत्तां । सन्तोऽपि बोधा नश्यन्ति सुजनाश्रयेण ततस्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥३५२॥

सुजनसमाश्रयणे अभ्युदयफलं, पूजालाभं कथयति गाथा—

**कुसुममगधमवि जहा देवयसेससि कीरदे सीसे ।**

**तह सुयणमज्जवासी वि दुज्जणो पूहओ होइ ॥३५३॥**

कुसुममित्यादिका । यथा सौगन्धरहितमपि कुसुमं देवताशेषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजनमगध-  
वासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥३५३॥

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तालवनिरोधरूपे प्रवृत्तिगुण कथयति—

**संविग्गाणं मज्जे अप्पियघम्मो वि कायरो वि णरो ।**

**उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहिं ॥३५४॥**

संविग्गाणं मज्जे इत्यनया । ससारभीरूणा मध्ये वसन्त्यद्यपि धर्मप्रियो न भवति । कातरअ<sup>१</sup> सुखे  
तथापि उद्युक्ते पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥३५४॥

ससारभीरोरपि यते सुजनसमाश्रयणेन गुणमभिदधाति—

**संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्जयारम्मि ।**

**होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदव्वसंजोए ॥३५५॥**

संविग्गोऽपि इत्यनया । प्रागपि ससारभीरुर्जनं, संविग्गमध्यनिवासी संविन्नतरो भवति । यथा गन्ध-  
युक्ति कृतको गन्ध प्रकृतिसुरभिद्रव्यगन्धसंसर्गं सुरभितरो भवति ॥३५५॥

आश्रय लेने पर कौवा अपनी अमुन्दर छबिको छोड़ देता है । इसका भाव यह है कि सज्जनोकी  
सत्सगतिसे विद्यमान भी दोष नष्ट हो जाते हैं अतः सज्जनोका आश्रय लेना चाहिए ॥३५२॥

सज्जनोका आश्रय लेने पर अभ्युदय रूप फल और पूजाका लाभ होता है, यह कहते हैं—  
गा०—जैसे सुगन्धसे रहित भी फूल 'यह देवताका आशीर्वाद है' ऐसा मानकर सिर पर  
धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोके मध्यमे रहने वाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥  
वचन और कायके निमित्तसे होने वाले आश्रवके रोकनेको द्रव्य संयम कहते हैं । उस द्रव्य  
संयममें प्रवृत्तिका लाभ कहते हैं—

गा०—जिसको धर्मसे प्रेम नहीं है तथा जो दुःखसे डरता है वह मनुष्य भी संसार भीरु  
यतियोके मध्यमे रहकर भावना, भय, मान और लज्जासे पापके कार्योंसे निवृत्त होनेका उद्योग  
करता है ॥३५४॥

संसारसे भौत यति भी सज्जनोका सत्सग करनेसे लाभान्वित होता है यह कहते हैं—

गा०—जो मनुष्य पहलेसे ही संसारसे विरक्त है वह विरागियोंके मध्यमे रहकर और भी  
अधिक विरागी हो जाता है । जैसे बनावटी गन्धसे युक्त द्रव्य स्वभावसे ही सुगन्धित द्रव्यकी  
गन्धके संसर्गसे और भी अधिक सुगन्धित हो जाता है ॥३५५॥

१. क्वदु खे आ० । -क्वासुखे ग० ।

बहुव इत्येतावता चारित्र्यक्षुद्रा न भवद्भिः समाश्रयणीया एक इति वा न सुगुणः परिहायं  
इत्येतदाचष्टे—

वासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि ।

जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति ॥३५६॥

‘वासत्थसदसहस्सादो वि’ पार्श्वस्यग्रहणं चारित्र्यक्षुद्रोपलक्षणार्थं । चारित्र्यक्षुद्राच्छतसहस्रादपि एकोऽपि  
सुसीलो वरम् । य सयममाश्रितस्य शील, दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य च वद्धंते, स भवद्भिःसमाश्रयणीय इति  
भावार्थः ॥३५६॥

संजदजणावमाणं पि वरं खु दुज्जणकदादु पूजादो ।

सीलविणासं दुज्जणसंसग्गी कुणवि ण दु इदरं ॥३५७॥

सयता परिभवन्ति माम सुचरित तत पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेत कार्यमिरयाचष्टे—  
‘संजदजणावमाणं पि वरं’ सयतजनापमानमपि वर । ‘दुज्जणकदादु पूजादो’ दुर्जनकृताया पूजाया । कथं ?  
‘दुज्जणसंसग्गी सीलविणासं कुणवि’ दुर्जनससर्गं शीलविनाशं करोति । ‘त दु इदरं’ न तु इतर । सयत-  
जनावमान तु नैव शीलविनाश करोति ॥३५७॥

प्रस्तुतोपमहारगाद्या—

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावन्ति ।

तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह ॥३५८॥

‘आसयवसेण’ आश्रयवसेन । एवमुक्तेन क्रमेण । ‘पुरिसा दोसं गुणं व पावन्ति’ पुरुषा दोष गुण वा  
प्राप्नुवन्ति । ‘तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह’ तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आश्रय आश्रयेन् ॥३५८॥

चारित्र्यमे क्षुद्र यति बहुत भी हों तो आपको उनका सग नही करना चाहिए । और गुण-  
शाली एक हो तो उसको उपेक्षा नही करना चाहिए यह कहते है—

गा०—पार्श्वस्थ अर्थात् चारित्र्यमे क्षुद्र यति लाख भी हों तो उनसे एक भी सुगील यति-  
श्रेष्ठ है जो अपने सगीके शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यको बढाता है । आपको उसीका आश्रय  
लेना चाहिए । गाथांमे आगत ‘पार्श्वस्थ’ शब्द जो चारित्र्यमे क्षुद्र है उन मवके उपलक्षणके  
लिए है ॥३५६॥

गा०—सयमीजन मुझ चारित्र्यहीनका तिरस्कार करते है अत मे पार्श्वस्थ आदि चारित्र्य-  
हीन मुनियोंके ही पास रहें । ऐसा मनमे विचार नही करना चाहिए, क्योकि दुर्जनके द्वारा की  
गई पूजासे सयमीजनोके द्वारा किया गया अपमान श्रेष्ठ है । इसका कारण यह है कि दुर्जनका  
ससर्गं शीलका नाशक है किन्तु सयमीजनो द्वारा किया गया अपमान शीलका नाशक नही  
है ॥३५७॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते है—

गा०—उक्त प्रकारसे अच्छे बुरे आश्रयके कारण पुरुष दोष और गुणको प्राप्त करते है ।  
इसलिए प्रशस्त गुणयुक्त आश्रयका ही आश्रय लेना चाहिए ॥३५८॥

पथं ह्रिदयाणिट्टं पि भण्णमाणास्स सगणावासिस्स ।  
कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं ह्वइ तस्स ॥३५९॥

'पथं ह्रिदयाणिट्टं पि भण्णमाणास्स सगणावासिस्स' पथ्य हितं हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसत । 'कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं ह्वइ तस्स' 'कटुकमीषधामवापि तन्मधुरविपाक भवति । तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माकं स्वं प्रयोजनम् । किन्न वेत्ति स्वय इति नोपेक्षितव्यम् । परोपकार कार्य एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृत विनयेजनसबोधनार्थ एव तीर्थविहार कुर्वन्ति । महत्ता नामैव यत्-परोपकाराबद्धपरिकरता । तथा चोक्त—

क्षुद्राः संति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता ।  
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी ॥  
दुःपूरोवरपूरणाय पिबति ज्योतःपति बाडवो ।  
जीमूतस्तु निवाषसंभृतजगत्संतापविच्छिस्तये ॥ [ ] ॥३५९॥

इतरेणापि श्रवणयोरनिष्टमपि तद्ग्राह्य इति कथयति—

पथं ह्रिदयाणिट्टं पि भण्णमाणं णरेण घेत्तव्वं ।  
पेल्लेदूण वि छूढं बालस्स घदं व तं खु ह्रिदं ॥३६०॥

हृदयम्यानिष्टमपि पथ्य नरेण बुद्धिमता ग्राह्य हित उचि चेतो निधाय । 'पेल्लेदूण वि छूढं' अवष्ट-म्यापि प्रवेक्षित पृत बालाना हित भवति यथा तद्वदिति यावत् ॥३६०॥

अप्पपसंसं परिहरइ सदा मा ह्रोइ जसविणासयरा ।  
अप्पाणं थोवंतो तणलहुइो ह्रोदि हु जणम्मि ॥३६१॥

गा०-टी०—अपने गणके वासी साधुको हितकारी किन्तु हृदयको अनिष्ट भी लगनेवाले वचन बोलना चाहिए, क्योंकि वे वचन कडुवी औषधीकी तरह उसके लिए मधुर फलदायक होते हैं । दूसरेको अनिष्टवचन बोलनेसे हमारा अपना क्या प्रयोजन है, क्या वह स्वयं नहीं जानता । ऐसा मान उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए । परोपकार करना ही चाहिए । जैसे तीर्थकर शिष्यजनोंके सम्बोधनके लिए ही विहार करते हैं । महत्ता नाम इसीका है कि परोपकार करनेमें तत्पर रहना । कहा भी है—

'अपने ही भरण-पोषणमें लगे रहनेवाले क्षुद्रजन तो हजारों हैं किन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा पुरुष सज्जनोंमें अग्रणी विरल ही होता है । बडवानल अपना कभी न भग्नेवाला पेट भरनेके लिए समुद्रका जल पीता है । किन्तु मेघ ग्रीष्मसे सतस जगत्के सन्तापको दूर करनेके लिए समुद्रका जल पीता है ॥३५९॥

आगे कहते हैं कि कानोको अप्रिय भी गुस्का वचन ग्रहण करना चाहिए—

गा०—हृदयको अनिष्ट भी वचन गुस्के द्वारा कहे जाने पर मनुष्यको पथ्य रूपसे ग्रहण करना चाहिए । जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुंह खोलकर पिलाया गया घी हितकारी होता है उसी तरह वह वचन भी हितकारी होता है ॥३६०॥

‘अप्यवसंसं परिहरह’ आत्मप्रशंसा त्यजत सदा । ‘मा होह’ मा भवत । ‘जसविशासयरा’ यशसा विनाशका । सदिभर्गुणी प्रख्यातमपि यशो भवता नश्यति आत्मप्रशंसया । ‘अप्याणं बोवतो’ आत्मानं स्तु-  
वन् । ‘तणल्लुओ होवि हु जणमिन्’ तृणवल्लघुर्भवति सुजनमध्ये ॥३६१॥

संता वि गुणा कर्धंतयस्स णस्संति कंजिए व सुग ।

सो चेव हवदि दोसा जं सो थोएदि अप्पाणं ॥३६२॥

संता वि विद्यमाना अपि ‘कर्धंतयस्स’ ममते गुणा इति कथयत । ‘गुणा णस्संति’ गुणा नश्यन्ति । कंजिएव सुरा सौवीरेण सुरेव । ‘सो चेव हवदि दोसो’ स एव भवति दोष । ‘ज सो थोएदि अप्पाणं’ यदात्मानं स्तौति स’ ॥३६२॥

स्वगुणस्तवनाकरणे यदि ते नश्यन्ति तर्हि स्तोतव्या स्युर्न तथा नश्यन्ति इत्याषट्ठे—

संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति ।

अकहिंतस्स वि’ जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥३६३॥

संता विद्यमाना अपि । ‘अकहिंतयस्स’ अभावमाणस्य । ‘पुरिसस्स’ पुरुषस्य । ‘गुणा ण वि य णस्संति’ नैव नश्यन्ति । यदि न स्वयं स्तौति स्वगुणान् प्रख्यातिमृषयान्तीत्येतच्च नैति वदति । ‘अकहिंतस्स वि’ अस्तुवतोऽपि ‘गहवइणो’ प्रह्वते आदित्यस्य ‘जगविस्सुदो तेजो’ जगति विभ्रुत तेज ॥३६३॥

आत्मन्यसता गुणाना उत्पादक स्तवनामिति<sup>१</sup> च न युज्यत इत्याह—

गा०—अपनी प्रशंसा करना सदाके लिए छोड़ दो । अपने यशको नष्ट मत करो क्योंकि समीचीन गुणोंके कारण फैला हुआ भी आपका यश अपनी प्रशंसा करनेसे नष्ट होना है । जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनोके मध्यमे तृणकी तरह लघु होता है ॥३६१॥

गा०—‘मेरेमे ये ये गुण है’ ऐसा कहने वालेमे विद्यमान भी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे काँजीके पीनेसे मदिराका नशा नष्ट हो जाता है । वह जो अपनी प्रशंसा करता है यही उसका दोष है ॥३६२॥

आगे कहते हैं कि अपने गुणोंकी प्रशंसा न करनेसे यदि वे गुण नष्ट होते हो तो उनकी प्रशंसा करना उचित है किन्तु वे नष्ट नहीं होते—

गा०—जो पुरुष अपने गुणोंकी प्रशंसा स्वयं नहीं करना उसके विद्यमान गुण नष्ट नहीं होते । यदि वह अपने गुणोंकी प्रशंसा नहीं करता तो उसके गुणोंकी प्रख्याति नहीं होती, ऐसी बात नहीं है । सूर्य अपने गुणोंको स्वयं नहीं कहता । फिर भी उसका प्रताप जगत्मे प्रसिद्ध है ॥३६३॥

आगे कहते हैं कि अपनी प्रशंसा करनेसे अपनेमे अविद्यमान भी गुण प्रकट होते हैं ऐसा कहना युक्त नहीं है—

१ वि गहवइणो णो जगविस्सुदो—आ० । २. त्यस्य णो जग विस्सुदो तेजो न जगति विभ्रुत तेज —  
आ० मु० । ३ ति वचन—आ० मु० ।

ण य जायति असंता गुणा विकृत्यंतयस्स पुग्गिस्स ।  
घंति ह्मु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चैव ॥३६४॥

'ण य जायति असंता गुणा' नैवोत्पद्यन्ते असंतो गुणा । विकृत्यंतयस्स स्तुवत । 'घंति' नितरा  
'महिलायंतो व' वामलोचनेव आचरन्मपि । 'पंडवो पंडवो चैव' षड षड एव भवति न युवति ॥३६४॥

संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूण ।

लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा ॥३६५॥

'संतं सगुणं कित्तिज्जंतं' विद्यमानमपि स्वगुण कीर्त्यमान । 'सुजणो जणम्मि सोदूण' साधुजनस्य  
मध्ये श्रुत्वा । 'लज्जदि' ब्रीडामुपैति । 'किह पुण' कथ पुन 'सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा' स्वयमेवात्मनो  
गुणकीर्तनं कुयीत् ॥३६५॥

स्वगुणासंकीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकृत्यंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि ।

सो चैव होदि ह्मु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥३६६॥

'अविकृत्यंतो अगुणो वि होइ' अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति । 'सगुणो व' गुणवानिव । 'सुजण-  
मज्झम्मि' सुजनमध्ये । परस्परव्याहृतमिदं वच 'अगुणस्स गुण' इति एतस्यामाशंकायामाह—'सो चैव होदि  
गुणो' स एव गुणो भवति । 'जं अप्पाणं ण थोएइ' यदात्मानं न स्तोति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणामावा-  
न्निर्गुणा, आत्मप्रशंसाऽकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थः ।

यदि सन्ति गुणस्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।

न हि कस्तुरिकागन्धः शपथेन विभाष्यते ॥ [ ] ॥३६६॥

वायाए जं क्हणं गुणाण तं णासणं ह्वे तेसिं ।

होदि ह्मु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासणं तेसिं ॥३६७॥

गा०—अपने गुणोंकी प्रशंसा करने वाले पुरुषमे अविद्यमान गुण प्रशंसा करनेसे उत्पन्न  
नहीं होते । स्त्रीकी तरह खूब हाव-भाव करने पर भी नपुसक नपुसक ही रहता है, युवति नहीं  
बन जाता ॥३६४॥

गा०—सज्जन मनुष्योंके बीचमे अपने विद्यमान भी गुणकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होता  
है । तब वह स्वयं ही अपने गुणोंकी प्रशंसा कैसे कर सकता है ॥३६५॥

अपने गुणोंकी प्रशंसा न करनेके गुण कहते हैं—

गा०—अपनी प्रशंसा न करनेवाला स्वयं गुणरहित होते हुए भी सज्जनोंके मध्यमे गुणवान्-  
की तरह होता है । गुणरहितको गुणवानं कहना तो परस्पर विरुद्ध है, ऐसी आशंका करनेपर  
कहते हैं—वह जो अपनी प्रशंसा नहीं करता यही उसका गुण है । भावार्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान-  
दर्शन आदि गुणोंका अभाव होनेसे वह गुणरहित है किन्तु अपनी प्रशंसा न करनेके गुणसे गुणवान्  
है । 'यदि उसमे गुण है तो वे स्वयं कसौटीपर कसे जायेंगे । कस्तूरीकी गन्धके लिए शपथ करना  
नहीं होता ॥३६६॥

'वायाए जं कहूणं' वाचा गुणाना यत्कथनं । 'तं भासनं हृदं तैति' तन्नाशन भवेत्तेषा गुणाना ।  
'चरिदेहि गुणाण कहूणं' चरितैरेव गुणाना कथनं 'तैस्मिभूभासनं होइ' गुणाना प्रकटनं भवति । एतदुक्तं  
भवति—गुणान्प्रकटयितुकामस्य यद्वाचा कथनं गुणेष्व्वात्मन प्रवृत्तिरेव गुणप्रकाशन इति ॥३६७॥

'चरितेन गुणप्रकाशनस्य माहात्म्यं कथयति—

वायाए अकहँता सुजणे विकतहँया य चरिदेहि ।

सगुणे पुरिसाण पुरिसा हँति उवरीव लोगम्मि ॥३६८॥

'वायाए अकहँता' वाचया अकथयन्त । 'सुजणे' साधुजनमध्ये । 'चरिदेहि' विकहँतया य' चरितं  
प्रतिपादयन्त । 'सगुणे' आत्मीयान्गुणान् । 'पुरिसाण पुरिसा लोगम्मि उवरीव हँति' पुरुषाणामुपरीव  
भवन्ति पुरुषा लोके ॥३६८॥

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होह लहुगो णरो विकत्थितो ।

सगुणो वा अकहँतो वायाए हँति अगुणेषु ॥३६९॥

'सगुणम्मि जणे' गुणवति जने । 'सगुणो वि णरो' गुणवानपि नर । 'लहुगो होवि' लघुर्भवति । क ?  
'सगुणं णरो विकत्थितो' स्वगुणं नरो वाचा निरूपयन् । किमिव 'सगुणो वा' गुणवानिव । 'वाचा अकथ्येतो'  
वचनेन अप्रकटयन् । 'अगुणेषु' निगुणमध्ये ॥३६९॥

चरिएहि कत्थमाणो सगुणं सगुणेषु सोभदे सगुणो ।

वायाए विकहँतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ॥३७०॥

'चरिएहि कत्थमाणो' चरितैरेव प्रकटयन् । कि 'सगुणं' स्वगुणं । 'सगुणो सोभदे' गुणवान् जन  
शोभते । व 'सगुणेषु' गुणवत्सु । किमिव 'वायाए विकथ्यतो' वचसा ह्वन् । 'अगुणोव्व' निगुण इव ।  
'अगुणम्मि' निगुणमध्ये ॥३७०॥

गा०—वचनसे गुणोको कहना उनका नाश करना है । और आचरणसे गुणोका कथन  
उनको प्रकट करना है । अभिप्राय यह है कि जो गुणोको प्रकट करना चाहता है उसे वचनसे  
न कहकर गुणोमे अपनी प्रवृत्तिसे ही गुणोका प्रकाशन करना चाहिए ॥३६७॥

अपने आचरणसे गुणोको प्रकट करनेका माहात्म्य कहते है—

गा०—जो वचनसे न कहकर साधुजनके मध्यमे अपने आचरणसे अपने गुणोको कहते है  
पुरुष लोकमे सब पुरुषोसे ऊपर होते है ॥३६८॥

गा०—गुणवान पुरुषोमे गुणवान भी मनुष्य यदि अपने गुणोको कहता है सो लघु होता  
है । जैसे निर्गुणोके मध्यमे अपने गुणोको न कहने वाला गुणवान होता है ॥३६९॥

गा०—गुणवानोमे गुणवान मनुष्य अपने गुणोको अपने आचरणसे प्रकट करता हुआ ही  
शोभता है । जैसे निर्गुण मनुष्योमे निर्गुण मनुष्य वचनसे अपने गुणोको कहता हुआ शोभित  
होता है ॥३७०॥

१. नेय उत्यानिका । —आ० मु० ।

२. 'वायाए अकहँता सुजणे चरिदेहि कहयगा होति ।

विकहँतया य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव ॥' —आ० मु० ।

सगणे व परगणे वा परपरिपवादं च मा करेज्जाह ।

अच्चासादणविरदा होह सदा बज्जमीरू य ॥३७१॥

‘सगणे व परगणे वा परपरिपवादं च मा करेज्जाह’ आत्मीये गणे परगणे वा परापवादं मा कृया । ‘अच्चासादणविरदा व होह’ अत्यासादनतो विरता भवत । ‘सदा बज्जमीरू य’ पापभीरवच्च भवत ॥३७१॥

परनिन्दया दोषमाचष्टे—

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ ।

परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा ॥३७२॥

स्पष्टार्था गाथा ॥३७२॥

परनिन्दा किमर्थं क्रियते गुणित्वे स्वापयितुमात्मानमिति चेत्, तन्निराकरोति—

किञ्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ।

मो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कहुओसहे पीए ॥३७३॥

‘किञ्चा परस्स णिंदं’ परनिन्दा कृत्वा । ‘जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज’ य आत्मानं गुणिताया स्वापयितुमिच्छेत् । ‘सो इच्छदि व साछति । किं ‘आरोग्गं’ नीरोगता । ‘परम्मि कहुओसहे पीए’ कटुकोषधपायिन्यस्मिन् ॥३७३॥

सत्पुरुषक्रमं व्यानष्टे—

दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ।

रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपणभएण ॥३७४॥

‘दट्ठूण अण्णदोसं’ अन्यस्य दोष दृष्ट्वा । ‘सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ’ सत्पुरुष स्वयं लज्जामुपैति । ‘रक्खइ सयं दोसं व’ स्वदोषमिव व रक्षति । ‘जणजंपणभएण’ जननिन्दाभयेन ॥३७४॥

गा० अपने गणमे अथवा दूसरे गणमे दूसरोकी निन्दा नहीं करना चाहिये । तथा अर्ति आसादनासे विरत रहो और सदा पापसे डरो ॥३७१॥

पर निन्दाका दोष कहते हैं—

गा०—परनिन्दा आयास, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुताको करती है पापरूप है, दुर्भाग्यको लाती है और सज्जनोंको अप्रिय है ॥३७२॥

जो कहते हैं कि अपनेको गुणी कहलानेके लिये परनिन्दा की जाती है उनका निराकरण करते हैं—

गा०—जो परकी निन्दा करके अपनेको गुणी कहलानेकी इच्छा करता है वह दूसरेके द्वारा कहुवी औषधी पीनेपर अपनी नीरोगता चाहता है । अर्थात् जैसे दूसरेके औषधी पीनेपर आप नीरोग नहीं हो सकता । वैसे ही दूसरेकी निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नहीं बन सकता ॥३७३॥

गा०—सत्पुरुष दूसरोके दोष देखकर स्वयं लज्जित होता है । लोकापवादके भयसे वह अपनी तरह दूसरोके भी दोषोको छिपाता है ॥३७४॥

अप्यो वि वरस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ।

उदए व तेल्लबिन्दुं किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥३७५॥

'अप्यो वि वरस्स गुणो' परस्य गुण स्वल्पोऽपि । 'सप्पुरिसं पप्प' सत्पुरुषं प्राप्य । 'बहुदरो होदि' अतिमहान् भवति । 'उदए व तेल्लबिन्दुं' उदके तैलविन्दुरिव । 'किह सो जंपिहिदि परदोसं' कथमतो इत्यमृत-  
जल्पति परस्य दोषं ॥३७५॥

एसो सन्वसमासो तह जतह जह हवेज्ज सुजणम्मि ।

तुज्झं गुणेहिं जणिदा सन्वत्थ वि विस्सुदा किच्ची ॥३७६॥

'एसो सन्वसमासो' एष सर्वस्योपदेशस्य सक्षेप । 'तह जतह' तथा यतध्व । 'जह हवेज्ज सुजणम्मि' यथा भवेत्सुजने । 'तुज्झं गुणेहिं जणिदा सन्वत्थ वि विस्सुदा किच्ची' युष्माकं गुणेर्जनिता सर्वत्रापि विश्रुता कीर्ति ॥३७६॥

कामो संयताना कीर्तिरिति सकायामुच्यते—

एस अखडियसीलो बहुस्सुदो य अपरोवतावी य ।

चरणगुणसुद्धिदोत्तिय घण्णस्स खु घोसणा भमदि ॥३७७॥

'एस अखडियसीलो' एष अखडितसमाधि । 'बहुस्सुदो य' बहुसुतश्च । 'अपरोवतावी य' अपरोपता-  
पकारी च । 'चरणगुणसुद्धिदोत्तिय य' सुचारित्रगुणे सुस्थित इति । 'घण्णस्स खु' पुण्यवत । 'घोसणा भम'इ' यशो विचरति ॥३७७॥

एवं गुरूपदेशं श्रुत्वा गणः—

बाढत्ति भाणिदूणं ऐदं णो मंगलेत्ति य गणो सो ।

गुरुगुणपरिणदभावो आणंदसुं णिवाणेइ ॥३७८॥

'बाढत्ति भाणिदूणं' बाढमित्युक्त्वा । 'एदं णो मंगलेत्ति य' एतद्भूता वचन अस्माकं मंगल नितरा  
इत्युक्त्वा । 'गुरुगुणपरिणदभावो' गुरुगुणेषु परिणतचित्त । 'आणंदसुं णिवाणेइ' आनन्दश्रु निपात-

गा०—दूसरेका छोटासा भी गुण सत्पुरुषको पाकर अतिमहान हो जाता है । जैसे तेलकी  
बूँद पानीमें फेलकर महान हो जाती है । तब वह सत्पुरुष दूसरेके दोषको कैसे कह सकता  
है ॥३७५॥

गा०—यह समस्त उपदेश का सार है । ऐसा यत्न करो जिमसे सज्जनोंमें तुम्हारे गुणोंसे  
उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैले ॥३७६॥

सयमी जनोकी वह कीर्ति क्या है, यह बतलाते है—

गा०—यह साधु अखण्डित समाधिके धारी हैं, बहुश्रुत है, दूसरोंको कष्ट नहीं देते, और  
चारित्रगुणमें अच्छी तरह स्थित हैं । पुण्यशालीका यह यश सर्वत्र फैलता है ॥३७७॥

गा०—इम प्रकार गुरुका उपदेश सुनकर सध 'हमें स्वीकार है' ऐसा कहकर आपके ये  
वचन हमारे लिये अत्यन्त मंगल कारक है ऐसा कहता है । तथा गुरुके गुणोंमें मन लगाकर



याति ॥३७८॥

भगवं अणुगृहो मे जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे ।

सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हु पार्वेति ॥३७९॥

'भगवं अणुगृहो मे' भगवन्ननुग्रहोऽस्माकं । 'जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे' यस्त्वशरीरमिव पालिता वयम् । 'सारणवारणपडिचोदणाओ' एव कुरुत, 'मेव कृथा इति शिक्षा । 'धण्णा हु पार्वेति' धन्याः प्राप्नुवन्ति ॥३७९॥

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणा पमादरागेहिं ।

पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करंताणं ॥३८०॥

'अम्हे वि खमावेमो' वयमपि समा ग्राह्यामः । 'अण्णाणा' अज्ञानात् । 'पमादरागेहिं' प्रमादाद्भाग्यञ्च । 'जं पडिलोमिदा अम्हे' भवता प्रतिकूलवृत्तयो यद्वयं जाता । 'आणाहिदोवदेसं करंताणं' आज्ञा हितोपदेश कुर्वताम् ॥३८०॥

सहिदय सकण्णयाओ कदा सच्चव्खू य लद्धसिद्धिपहा ।

तुज्झ वियोगेण पुणो णट्ठदिसाओ भविस्सामो ॥३८१॥

'सहिदय सकण्णयाओ' सहृदया सकर्णकाश्च जाता । 'कदा सच्चव्खू य' कृता' सलोचना । 'लद्धसिद्धिपहा' लब्धसिद्धिमार्गा । 'तुज्झ वियोगेण पुणो' भवद्भूषो वियोगेन पुनः । 'णट्ठदिसाओ' नष्टदिवकाः । 'भविस्सामो' भविष्याम ॥३८१॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ।

पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होति ॥३८२॥

'सव्वजयजीवहिदए' सर्वस्मिञ्जगति ये जीवाः तेषां हिते । 'थरे' ज्ञानतपोवृद्धे । 'सव्वजग जीव-

आनन्दके आसू गिराता है ॥३७८॥

गा०—भगवन् ! आपका हमपर बड़ा अनुग्रह है । आपने अपने शरीरकी तरह हमारा पालन किया है । तथा 'यह करो' और 'यह मत करो' इत्यादि शिक्षा दी है । भाग्यशाली ही ऐसी शिक्षा प्राप्त करते हैं ॥३७९॥

गा०—आपकी आज्ञा और हितका उपदेश करनेपर हमने जो अज्ञान प्रमाद और रगवश उसके प्रतिकूल आचरण किया, उसके लिये हम भी आपसे क्षमा माँगते हैं ॥३८०॥

गा०—आपने हमें हृदय युक्त अर्थात् विचारशील बनाया । हमें सकर्ण बनाया अर्थात् आपके उपदेश सुनकर कानोंका फल प्राप्त किया । आपने हमें आँखें प्रदान की अर्थात् हमें शास्त्र स्वाध्यायमें लगाया । तथा आपके प्रसादसे हमने मोक्षका मार्ग प्राप्त किया । अब आपके वियोगसे हम दिशाहीन हो जायेंगे । हमें कोई मार्ग दिखाने वाला नहीं रहेगा ॥३८१॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोका हित करने वाले, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा समस्त जगत्

१. मा कुरुत मु० ।

३९.

‘पापन्मि’ सर्वजगतो जीवाना नाथे । ‘पवसंते य मरंते’ प्रवास मूर्ति वा प्रतिपद्यमाने । ‘देसा किर सुष्यवा होंति’ देसाः किल क्षुभ्या भवन्ति ॥३८२॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ।

पवसंते य मरंते होदि हु देसोंघयारोव्व ॥३८३॥

सीलड्ढगुणड्ढेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं ।

पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होंति ॥३८४॥

‘सीलड्ढगुणड्ढेहिं हु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं’ शीलाहर्षं बहुश्रुतं अपरोपतापिभि । ‘पवसंते य मरंते’ मूर्ति प्रवास वा प्रतिपद्यमानं । ‘देसा ओखंडिया होंति’ जनपदा अवस्रडिता भवन्ति । गतापूर्वतरा गाथा ॥३८४॥

सव्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण णिप्पकंपाणं ।

दुक्खं खु विसड्ढिदं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं ॥३८५॥

‘सव्वस्स दायगाणं’ ज्ञानदर्शनचारित्रतपोदानोद्यताना । ‘समसुहदुक्खाण’ सुखदुःखयो समानाना । ‘णिप्पकंपाणं’ परीषहेभ्यो निश्चलाना । ‘वरगुरूणं’ महता गुरूणा । ‘चिरप्पवासो’ चिरकालप्रदामो वियोगः । ‘दुक्खं खु विसड्ढिदं जे’ सोढुमतीव दुष्कर ॥३८५॥

एवं परिसमाप्य अनुशासनाधिकारं परगणचर्यां निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अब्भुज्जदं पविहरंतो ।

आराधणाणिमित्त परगणगमणे मइं कुणदि ॥३८६॥

‘एवं आउच्छित्ता’ आपृच्छय । ‘सगणं’ स्वगण । ‘अब्भुज्जदं पविहरंतो’ प्रकर्मण रत्नत्रये प्रवर्तमान । ‘आराधणाणिमित्तं’ आराधनानिमित्त । ‘परगणगमणे मइं कुणदि’ परगणगमने मतिं करोति ॥३८६॥

के जीवोंके स्वामीके अन्यत्र चले जानेपर अथवा मरणको प्राप्त होनेपर देश गूय्य हो जाते हैं ॥३८२॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोंके हितकारी, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा सब जगत्के जीवोंके स्वामीके अन्यत्र चले जाने या मरणको प्राप्त होनेपर देशमे अन्धकार-सा छा जाता है ॥३८३॥

गा०—शीलसे सम्पन्न और गुणोंसे समृद्ध, बहुश्रुत तथा दूसरोंको सताप न देने वाले महर्षियोंके प्रवासमें जानेपर या मरणको प्राप्त होनेपर सब देश उजाड सा प्रतीत होते हैं ॥३८४॥

गा०—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपका दान करनेमें तत्पर रहते हैं, सुख और दुःख में समभाव रखते हैं तथा परीषहोंसे विचलित नहीं होते उन महान् गुरुओंके वियोगका दुःख सहना अति कठिन है ॥३८५॥

इस प्रकार अनुशासन अधिकार को समाप्त करके परगणचर्याका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार अपने गण से पूछकर रत्नत्रयमे उत्कृष्ट रूपसे प्रवृत्ति करनेमें तत्पर आचार्य आराधना करनेके लिये दूसरे गणमे जानेका विचार स्थिर करते हैं ॥३८६॥

किमर्थं परगणप्रवेशं करोति इत्याशङ्क्याया स्वगणावस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकोवो फरुसं कलहपरिदावणादी य ।

जिभ्रयसिणेहकालुणियझाणविग्घो य असमाधी ॥३८७॥

‘सगणे आणाकोवो’ आत्मीये गणे आज्ञाकोपः । ‘फरुसं कलहपरिदावणादी य’ पश्यवचन कलहो, दुःस्वादीनि च । ‘जिभ्रयसिणेहकालुणियझाणविग्घो य’ निर्मयता, स्नेहः कारुष्यं, ध्यानविघ्नः । ‘असमाधी’ असमाधिश्च ॥३८७॥

उड्डाहकरा येरा कालहिया खुड्डया खरा सेहा ।

आणाकोवं गणिणो करेज्ज तो होज्ज असमाही ॥३८८॥

‘उड्डाहकरा येरा’ अयं सपादका स्थविरा । ‘कालहिया’ कलहकरा । ‘खुड्डया’ झल्लका । ‘खरा सेहा’ पल्या अमार्गज्ञा । ‘आणाकोवं गणिणो करेज्ज’ आज्ञाकोप सूरैः कुर्युः । ‘तो होज्ज असमाही’ तस्मादाज्ञाकोपाद्भवेदसमाधिः ॥३८८॥

स्वगणे स्थविरादिकृतमसमाधिकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

परगणवासी य पुणो अच्चावारो गणी ह्वदि तेसु ।

णत्थि य असमाहाणं आणाकोवम्मि वि कदम्मि ॥३८९॥

परगणेऽप्यमी सन्त्येव स्थविरादयस्तत्राप्यसमाधानं स्यादेवात्प्येति शङ्का निरस्यति । ‘परगणवासी य’ यः परगणे वसति गणी सोः । ‘अच्चावारो’ऽव्यापार तेषु शिक्षाव्यापाररहितः । तेन आज्ञाकोपो न विद्यते

किसलिये दूसरे गणमे जाते है ? ऐसी आशंका होने पर अपने गणमे रहनेके दोष कहते हैं—

शा०—अपने गणमे रहनेपर आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दुख आदि, निर्भयता, स्नेह, करुणा, ध्यानमे विघ्न और असमाधि ये नौ दोष होते हैं ।

विशेषार्थ—अपने सघमे रहने पर किसी को आज्ञा दे और वह न माने तो परिणामोंमे क्रोधभाव हो जाय । जो कोई गलती करे तो उसे अपना जान कठोर वचन बोला जाय । किसीको हितकी प्रेरणा करे और वह न माने तो कलह पैदा हो जाय । किसीको दोष करते देखकर मनमे सताप पैदा हो सकता है । रोगवश अपने ही परिणाम बिगड जायें तो किसीका भय न होनेसे अयोग्य आचरण भी कर सकता है । मरते समय परिचित साधुओंमे स्नेह भाव आ सकता है । या किसी को दुःखी देखकर करुणा भाव हो सकता है । ध्यानमे बाधा पड सकती है और समाधि नहीं बन सकती । ये दोष अपने गणमे रहकर समाधि करनेमे हैं ॥३८७॥

शा०—तथा अपने गणमे ही रहे तो किसी भी बातको लेकर बृद्ध मुनि अपयश कर सकते हैं । किसीको शिक्षा देनेपर क्षुद्र अज्ञानी कलह करते हैं । मार्गको नहीं जानने वाले और कठोर स्वभाववाले मुनि आचार्यकी आज्ञा न माने तो आचार्यको कोप उत्पन्न होनेसे समाधि बिगड जाती है ॥३८८॥

शा०—दूसरे गणमें भी ये बृद्ध मुनि आदि होते ही है, अतः वहाँ भी उनकी असमाधि हो सकती है, इस शंका को दूर करते हैं—जो आचार्य अपना गण त्यागकर दूसरे गणमे रहता है उसे

आज्ञाभङ्गो नास्तीत्यर्थ । 'परिष् व असमाधानं' नास्ति च असमाधि । 'आज्ञा कोवन्मि वि कवन्मि' आज्ञा-भङ्गे कृतेऽपि ममानुपकारिणो वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्ति इति चेत् प्रणिधानात् ॥३८९॥

आज्ञाकोपदोषं अभिधाय द्वितीय व्याचष्टे—

**खुड्डे धेरे सेहे असंबुडे दट्टण कुणह वा परुसं ।**

**ममिकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहि परुसेण ॥३९०॥**

'खुड्डे धेरे सेहे' क्षुल्लकान्स्थविरानमार्गज्ञाश्च । 'असंबुडे' असंबृतान् असयतान् । 'दट्टण' दृष्ट्वा । 'कुणवि वा परुसं' करोति वा पश्य । 'ममिकारेण भणेज्जो' ममत्वेन वदेद्वा पश्य । 'भणिज्ज वा तेहि परुसेण' भण्येत वा गणी तं पश्य वच ॥३९०॥

कलहं पूर्वाद्धेन व्याचष्टे—

**पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहि सह कलहो ।**

**परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥३९१॥**

'पडिचोदणासहणदाए' गुरुशिष्यासहनेन । 'होज्ज कलहो तेहि गणिणो वि' भवेत्कलहस्तं क्षुल्लकादिभि सह गणिन । 'परिदावणादिदोसा होज्ज' दुःखादिदोषा भवेयु । 'गणिणो व तेसिं च' गणिनस्तेषा क्षुल्लकादीना वा कलह ॥३९१॥

कलहपरिदावणादीय इत्येतत्सुत्रपद प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे—

**कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले करतेसु ।**

**गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥३९२॥**

'कलहपरिदावणादी दोसे व' कलहं परितापादिदोष वा । 'अमाकुले करतेसु' गणनं सह कुर्वन्सु क्षुल्लकादिषु । 'गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी' गणिणो भवेन्ममतादोषेण असमाधि ॥३९२॥

वहाँ शिक्षा आदि देनेका काम नहीं रहता । इससे वहाँ आज्ञा भगका प्रश्न नहीं रहता । आज्ञा भग होने पर भी वह मनमे विचारता है कि मैने इनका कोई उपकार नो किया नहीं, तब ये मेरी आज्ञाका पालन क्यों करेगे ? अतः आज्ञा भग होने पर भी असमाधि नहीं होती ॥३८९॥

आज्ञाकोप दोषको कहकर दूसरे दोषको कहते हैं—

गा०—गुणोसे हीन क्षुद्र मुनियो, तपमे वृद्ध स्थविरो और रत्नत्रय रूप मार्गको न जानने वालोको असयमरूप प्रवृत्ति करते हुए देखकर 'ये हमारे गिण्य है, मघके है' इस प्रकारके ममत्व भावसे उनके प्रति कठोर वचन कहा जाये अथवा वे क्षुद्र आदि उन्हे कठोर वचन कहें, यह दूसरा दोष है ॥३९०॥

पूर्वाद्धेसे कलह दोष कहते हैं—

गा०—गुरुको शिक्षाको सहन न करनेसे आचार्यको भी उन क्षुद्र आदिके साथ कलह हो सकती है । और उससे आचार्यको अथवा उन क्षुद्र आदि मुनियोको दुःख आदि दोष होते है ॥३९१॥

'कलहपरिदावणादीय' इस गाथाका प्रकारान्तरसे कथन करते हैं—

गा०—वे क्षुद्र आदि गणमे कलहं परिताप आदि दोष करे तो उसे देखकर ममत्व भावसे आचार्यको असमाधि हो सकती है ॥३९२॥

परितावणादि इत्येतत्सप्तपद अन्यथा व्याचष्टे—

**रोगादंकादीर्हि य सगणे परिदावणादिपचेसु ।**

**गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाही वा सिणेहो वा ॥३९३॥**

‘रोगातंकादीर्हि य’ अल्पमंहृदमिध्यादिभि । ‘परिदावणादिपचेसु’ परितापनादिप्राप्तेषु । ‘सगणे’ आत्मोयशिष्यवर्गे । ‘गणिणो हवेज्ज दुःखं’ आचार्यस्य भवेद्दुःख । ‘असमाही वा सिणेहो वा’ असमाधिर्वा स्नेहो वा ॥३९३॥

**तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिब्भओ संतो ।**

**जाएज्ज व सेएज्ज व अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥३९४॥**

‘तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि’ पिपासादिकेषु परीषहेषु सहनीयेष्वपि । ‘सगणम्मि णिब्भओ संतो’ स्वगणे निर्भयं सन् । ‘जाएज्ज व सेएज्ज व’ याचते वा सेवते वा । ‘अकप्पिदं’ अयोग्यं किञ्चित्प्रत्याख्यातम-  
शन पानं वा । ‘वीसत्थो’ विश्वस्त भयलज्जाविरहितः ॥३९४॥

सिणेह इत्यस्य व्याख्या—

**उद्धे सअकवड्ढिय बाले अज्जाउ तह अणाहाओ ।**

**पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अचंचितियविओगे ॥३९५॥**

उद्धे सअकवड्ढिय इत्यादिका वृद्धान्यतीन्स्वाकवद्धितवालान् यतीस्तथा आर्यिका, अनाथा. पश्यतः स्नेहो भवेदात्यन्तिके वियोगे ॥३९५॥

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

**खुड्डा य खुड्ढियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ।**

**तो होज्ज ज्जाणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥३९६॥**

‘परितावणादि’ इस गाथा पदको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

गा०—अपने शिष्य वर्गके छोटी बड़ी व्याधियोसे पीडित होने पर आचार्यको दुःख हो सकता है । अथवा स्नेह पैदा हो सकता है और उससे समाधिकी हानि हो सकती है ॥३९३॥

गा०—अपने गणमें रहकर समाधि करने पर प्यास आदि की परीषह सहने योग्य होने पर भी निर्भय होकर और भय तथा लज्जा को त्याग अयोग्य की भी याचना अथवा सेवन कर सकता । जो त्याग दिया है खानपान, उसको भी माँग सकता है या उसका सेवन कर सकता है. क्योंकि वहाँ उसे कोई भय नहीं है सब उसीके शिष्यगण हैं ॥३९४॥

स्नेह का कथन करते हैं—

गा०—बुद्ध यतियोंको, जिन्हे बचपनसे अपनी गोदमें बैठकर पाला है उन बाल यतियोंको, आर्यिकाओको अनाथ होते देखकर मरते समय सर्वदाके लिए वियोग होने पर स्नेह पैदा हो सकता है ॥३९५॥

‘कोलुगिण’ पदका व्याख्या न करते हैं—

'क्षुब्ध वा य क्षुब्धवाभो' क्षुल्लका, क्षुल्लिक्यः आर्या कुर्युरारटन । ततो ध्यानविघ्नोऽसमाधिर्वा गण-  
धरस्य भवतीति ॥३९६॥

कारण्यं विवृणोति—

भक्ते वा पाणे वा सुस्वसाए व सिस्सद्गम्मि ।

कुब्बंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥३९७॥

'भस्ते वा पाणे वा' भक्ते पाने वा क्षुभ्रुषाया वा प्रमाद शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भ-  
वति ॥३९७॥

एदे दोसा गणिणो विसेसदो ह्वेति सगणवासिस्स ।

भिक्खुस्स वि तारिसयस्स ह्वेति पाएण ते दोसा ॥३९८॥

'एदे दोसा गणिणो विसेसदो ह्वेति' एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे वसत । 'भिक्खुस्स वि तारिस-  
यस्स' भिक्षोरपि तादृशस्स उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रायेण ते दोषा ॥३९८॥

एदे सव्वे दोसा ण ह्वेति परगणनिवासिणो गणिणो ।

तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए ॥३९९॥

एदे सव्वे दोसा ण ह्वेति' एते सर्वे दोषा न भवन्ति । 'परगणनिवासिणो गणिणो' परगणनिवासिनो  
गणधरस्य । तस्मात्स्वगण परित्यज्य व्रजति परगण समाधये ॥३९९॥

सत्ते सगणे अम्हं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ।

सव्वादरसचीए भत्तीए वट्टइ गणो से ॥४००॥

'सत्ते सगणे' सत्यपि स्वगणे अस्मद्गणे जातरुचिरागतो गणमिमिति सर्वादरेण भक्त्या च गणो  
वर्तते ॥४००॥

गा०—क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ अर्थात् बालमुनि और आर्यिका भी गुरुका वियोग होते देख  
रो पडते हैं तो आचार्यके ध्यानमे विघ्न और असमाधि होनी है ॥३९६॥

गा०—खानपान और सेवा टहलमे शिष्यवर्गके प्रमाद करने पर आचार्यकी असमाधि हो  
सकती है । अर्थात् आचार्यको यह विकल्प पैदा हो सकता है कि हमने इनका उपकार किया  
और यह हमारी सेवा भी नहीं करते । इससे ध्यानमे विघात होनेसे समाधि बिगड सकती  
है ॥३९७॥

गा०—ये दोष विशेष रूपसे अपने गणमे रहकर समाधि करनेवाले आचार्यके होते हैं ।  
अन्य भी जो भिक्षु उपाध्याय या प्रवर्तक अपने गणमे रहकर समाधि मरण करते हैं उनके भी  
प्रायः ये दोष होते हैं ॥३९८॥

गा०—ये सब दोष दूसरे गणमे निवास करनेवाले आचार्यके नहीं होते । इसीलिए वह  
अपना गण छोड परगणमे समाधिके लिए जाता है ॥३९९॥

गा०—अपने गणके होते हुए यह हमारे गणमे रुचि रखकर यहाँ आया है ऐसा मानकर  
दूसरा गण पूर्ण आदरके साथ शक्ति और भक्तिसे उसकी सेवामे लगता है ॥४००॥

गीदत्थो चरणत्थो पच्छेदूणागदस्स स्ववयस्स ।

सव्वादरेण जु णिज्जवगो होदि आयरिओ ॥४०१॥

'गीदत्थो चरणत्थो' गृहीतार्थः ज्ञानो चरणस्थः । 'पच्छेदूणागदस्स' प्रार्थयित्वागतस्य । 'स्ववयस्स' क्षपकस्य । 'सव्वादरेण जुत्तो' सबविरेण युक्तः 'णिज्जवगो होदि आयरिओ' निर्यापको भवत्याचार्य ॥४०१॥

संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो ।

जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी ॥४०२॥

'संविग्गवज्जभीरुस्स' ससारभीरो, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरो पादमूले वर्तमानो जिनवचनसर्व-सारस्य भवत्याराधकः । 'तादि' यति । 'सते सगणे', 'गीदत्थो', 'संविग्गवज्जभीरु' इत्येतत्सूत्रत्रयेण पर-गणे चर्याया गुणो व्याख्यातः । परगणचर्या ॥४०२॥

मार्गणानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्ध —

'पंचच्छसत्तसदाणि जोयणाणं तदो य अहियाणि ।

णिज्जावयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०३॥

पंचच्छसत्तसदाणि पञ्चषट्सप्तयोजनगतानि ततोऽभ्यधिकानि वा गत्वा अन्वेषते निर्यापकः । शास्त्रेण-अनुज्ञात समाधिकामो यति ॥४०३॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

एक्कं व दो व तिण्णि य वारसवरिसाणि वा अपरिदंतो ।

'णिज्जवयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०४॥

गा०—उस प्रार्थना पूर्वक आये हुए क्षपकका निर्यापक आचार्य ज्ञानी, चारित्र्य निष्ठ तथा उस क्षपकके प्रति पूर्ण आदर भावसे युक्त होता है ॥४०१॥

गा०—संसार और पापकर्मसे डरने वाले उस निर्यापक आचार्यके चरणोंमें विहार करता हुआ वह क्षपक यति समस्त जिनागमके सार रूप आराधनाका आराधक होता है ॥४०२॥

'सते सगणे', 'गीदत्थो', 'संविग्गवज्जभीरु' इन तीन गाथा सूत्रोके द्वारा परगणमे चर्या करनेका गुण कहा है । इस प्रकार परगणमे चर्या करनेका गुण कहा है ॥४०२॥

आगे मार्गणाका कथन करते हैं—

गा०—समाधिका इच्छुक यति पाँच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे अधिक जाकर शास्त्रसम्मत निर्यापकको खोजता है ॥४०३॥

गा०—समाधिका इच्छुक यति एक अथवा दो अथवा तीन आदि बारह वर्ष पर्यन्त खेद-खिन्न न होता हुआ जिनागम सम्मत निर्यापकको खोजता है ॥४०४॥

१ पंचच्छ सत्त जोयण सदाणि ततोऽहियाणि वा गतुं । णिज्जावयमण्णे सदि समाधिकामो अणुण्णा-  
द-आ० पु० । २ जिणवयणम-आ० पु० ।

निर्यापकान्वेषणार्थं गच्छतः क्रममुदाहरति—

**गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झयणपुच्छणाकुसलो ।  
स्थंडिल्लो संभोगिय अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ ॥४०५॥**

'गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झयणपुच्छणाकुसलो' गच्छेदेकरात्रिभवावग्रहे अध्ययने परप्रदने च कुशलः । एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते । उपवासत्रय कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्बहिर्दशे स्मशाने वा प्राङ्मुख, उदङ्मुखवचैत्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरङ्गुलमात्रपदान्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत् । सुष्टु प्रणिहितचित्तं चतुर्विधोपसर्गसहं न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्य उदेति । स्वाध्याय कृत्वा गव्यूतिद्वयं गत्वा शोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्षपौरुष्या वा मगल कृत्वा याति एव स्वाध्यायकुशलता । प्रश्नकुशलतोच्यते—वैत्यसयतानायिका श्रावकाश्च, बालमध्यमवृद्धाश्च पृष्ट्वा कृतगवेषणो याति इति प्रश्नकुशल । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थण्डिलान्वेषणं कुर्यात् । कायशोषनार्थं संभोगयोग्यं, यति, सघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वयं वा तस्य सघाटको भवेत् । एवं स्थण्डिलान्वेषणं संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपरं स्थंडिलसंभोगी य इत्युच्यते । अतरालग्रामनगरादिसन्निवेशस्थयतिगृहिसत्कारमन्मानप्राघूर्णकभक्ततादौ सर्वत्र अप्रतिबद्धत्वात् 'अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ' इत्युच्यते ॥४०५॥

निर्यापकको खोजनेके लिए जाते हुए क्षपकका क्रम कहते हैं—

गा०—एक रात्रि प्रतिमामे, अध्ययन मे और दूसरेसे प्रश्न करनेमे कुशल वह क्षपक स्थंडिलसंभोगी और सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है ॥४०५॥

टी०—एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाको कहते हैं । तीन उपवास करके चतुर्थ रात्रिमे ग्रामनगर आदिके बाहर वनमें अथवा स्मशानमे पूरव अथवा उत्तर अथवा जिनप्रतिमाकी ओर मुख करके, दोनो पैरोंके मध्यमे चार अगुलका अन्तर रखकर, अपनी दृष्टि नाकके अग्रभाग पर रखते हुए शरीरसे ममत्व त्याग कर स्थित होवे । अपने चित्तको अच्छी तरहसे समाहित करते हुए चार प्रकारके उपसर्गको सहकर जब तक सूर्यका उदय न हो तब तक न विचलित हो, न पतित हो । फिर स्वाध्याय करके दो गव्यूतिप्रमाण गमन करके भिक्षाके क्षेत्रकी वसतिमे जाकर ठहरे । जहाँ मार्ग दूर हो वहाँ सूत्रपौरुषी अथवा अर्षपौरुषीमे मंगलाचरण करके गमन करता है । अर्थात् एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाकी समाप्ति पर स्वाध्याय करके भिक्षाके लिए गमन करता है । यदि भिक्षाका स्थान दूर हो तो स्वाध्यायकी स्थापना करके केवल मंगलाचरण करके भिक्षा स्थानके लिए गमन करता है यह उसकी स्वाध्याय कुशलता है । आगे प्रश्नकुशलता कहते हैं—जिनालयमे स्थित संयमियो, आयिका और श्रावकोसे तथा बाल, प्रौढ और वृद्ध पुरुषोसे भिक्षास्थान ज्ञात करके गमन करना है यह उसकी प्रश्न कुशलता है । जहाँ भिक्षा ग्रहण की वही मलत्यागके लिए स्थंडिल भूमिकी खोज करे । जिस यतिके साथ सामाचारी की जा सकती है ऐसे यतिको सहायक रूपसे ले ले या स्वयं उसका सहायक हो जावे । इस प्रकार स्थंडिल भूमिकी खोजमें और सामाचारीके योग्य यतिके साथ रहनेमे जो प्रयत्नशील होता है उसे स्थंडिल सम्भोगी कहते हैं । तथा वह क्षपक रास्तेमे आनेवाले ग्रामनगर आदिमे बने स्थानोंमे ठहरे हुए यति, गृहस्थ, उनके सत्कार, सम्मान और अतिथि भोजन आदिमे सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है । उनमें उसकी अनासक्ति

१. संभोगी यतिरित्यु—आ० मु० ।



**आलोचनापारिणदो सम्मं संपत्थिदो गुरुसयासं ।**

**जदि अंतरा हु अमुहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥४०६॥**

‘आलोचनापारिणदो’ रत्नत्रयातिचारान्मनोबाधकायविकल्पान्मदीयान्पुत्री निवेदयिष्यामीति कुतसकल्प । सम्मं आलोचनादोषान्परित्यज्य ‘संपत्थिदो’ यातुमुद्यत । ‘गुरुसयासं’ गुरुसमीप । ‘जदि अंतरा हु’ यद्यन्तराल एव । ‘अमुहो हवेज्ज’ पतितजिह्वो भवेत् । ‘आराहओ होज्ज’ आराधको भवति ॥४०६॥

**आलोचनापारिणदो सम्मं संपच्छिओ गुरुसयासं ।**

**जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०७॥**

‘आलोचनापारिणदो’ स्वापराधकथनावहितचित्तस्य गुरुसमीपमागच्छतो यद्यन्तराल एव कालं कुर्यात् । ‘आराधओ होइ’ आराधको भवात् ॥४०७॥

**आलोचनापारिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ।**

**जदि आयरिओ अमुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥४०८॥**

तथा आलोचनापारिणतः पूर्वान्तक प्रस्थितः आराधको भवति । यथाचार्यो वक्तुमशक्तो जात ॥४०८॥

**आलोचनापारिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ।**

**जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०९॥**

आचार्यकालकरणेऽप्याराधको भवति इति सूचार्थं ॥४०९॥

कथं आराधकता तस्य ? न कृता आलोचना नाचरितं गुरुरूपदिष्टं प्रायवित्तमित्यारोकायामाचष्टे—

**सल्ल उद्धारदुमणो संवेगुव्वेगतिव्वसङ्गाओ ।**

**जं जादि सुद्धिहेदुं सो तेणाराहओ होइ ॥४१०॥**

होती है ॥४०५॥

गा०—‘मन वचन कायके विकल्प रूप रत्नत्रयमें लगे अतिचारोंको, आलोचनाके दोषोंको त्यागकर मे सम्यग् रूपसे गुरुसे निवेदन करूंगा’ ऐसा सकल्प करके जो गुरुके समीप जानेके लिए निकला, वह यदि मार्गमें ही अपनी बोलनेकी शक्ति खो बैठे तो भी वह आराधक होता है ॥४०६॥

गा०—मे गुरुके पास जाकर अपने दोषोंकी सम्यक् आलोचना करूंगा, यह सकल्प करके जो गुरुके पास जानेके लिए निकला है वह यदि मार्गमें ही मर जाय तो भी आराधक है ॥४०७॥

गा०—आलोचना करनेका संकल्प करके जो गुरुके पास जाने के लिए चला है। यदि आचार्य बोलनेमें असमर्थ हो तो भी वह आराधक है ॥४०८॥

गा०—जो गुरुके सन्मुख अपना अपराध निवेदन करनेके लिए गुरुके पास जानेके लिए निकला है, यदि आचार्य मर जाये तो भी वह आराधक है ॥४०९॥

जिसने गुरुके सन्मुख अपने अपराधको आलोचना नहीं की और न गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त ही किया वह कैसे आराधक होता है ? इस शंकाका समाधान करते हैं—

गा०-टी०—किये गये अपराधकी आलोचना न करने पर मायाश्लय होता है। और माया-

सर्वं उद्धरिष्यन्ती कृतापराधनाआलोचनाया मायाशक्त्य भवति । सति मायाशक्त्ये न रत्नत्रयशुद्धि-  
रिति मत्वा शक्त्यमुद्धर्तुमनाः । 'संवेगशुद्धिः संसारभीरुता संवेगः, शरीरस्याशुचितामसारता,  
दुःखदायुता चाबलोक्य, तथेन्द्रियसुखानामतृप्तिकारिता, तृष्णाभिवृद्धिनिमित्ता च तत्रोद्वेगः । तो सर्वेगोद्वेगौ,  
तीव्रा मरणकाले रत्नत्रयाराधना श्रद्धा च यस्य विद्यते स उच्यते संवेगशुद्धिः संवेगशुद्धिः संवेगशुद्धिः संवेगशुद्धिः  
संवेगोद्वेगश्याम् प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नत्रयाराधनाया स एव भण्यते । 'जं जावि शुद्धिहेतु' यस्मा-  
च्छुद्धिनिमित्तं याति 'सो तेण आराहो होवि' स तेन आराधको भवति ॥४१०॥

निर्यापकसूर्यन्वेषणार्थं मच्छतो गुणमाचष्टे—

आयारजीदकप्यगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झम्मा ।

अज्जवमह्वलाषवत्तुट्टीपन्हादणं च गुणा ॥४११॥

'आयारजीदकप्यगुणदीवणा' आचारस्य जीदसंज्ञितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि  
निरतिचाररत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तदर्थमेवान्वेषक प्रयतते । 'अत्तसोधि' आत्मन शुद्धि । 'णिज्झम्मा' सकलेशा-  
भावः । न हि सकलेशवानित्यं दूर प्रयासुमीहते । स्वदोषप्रकटनान्माया त्यक्ता भवत्येव, तत एव माननिरासो  
मादर्वं । शरीरपरित्यागाहितबुद्धितया लाषव । कृतार्थोऽस्मीति तुष्टिर्भवति । प्रस्थितस्य प्रत्यादन हृदयसुख  
च स्वपरोपकाराभ्या गमित काल, इन् उत्तर मदीय एव कार्यं प्रधाने उद्युक्तो भविष्यामि इति  
चिन्तया ॥४११॥

इत्थं गुर्वन्वेषणार्थमायातं दृष्ट्वा तद्गणवासिना सामाचारकर्म व्याहरति—

आएसं एज्जंतं अब्भुद्धिंति सहसा हु ददट्ठण ।

आणासंगहवच्छल्लदाए चरणे य णादुं जे ॥४१२॥

शल्यके होने पर रत्नत्रयमें शुद्धि नहीं होती । ऐसा मानकर जो शल्यको निकालनेका भाव रखता  
है । तथा संसारसे भयभीत होनेको संवेग कहते हैं । और शरीरकी अशुचिता, असारता और  
दुःखदायकताको देखकर तथा इन्द्रियजन्य सुखोंको अतृप्ति करनेवाले तथा तृष्णाको बढ़ानेवाले  
जानकर उनमें विरक्ति होना उद्वेग है । जिसके संवेग और उद्वेग होते हैं तथा मरणकालमें  
रत्नत्रयकी तीव्र आराधना और श्रद्धा होती है उसे 'संवेग-उद्वेग-तीव्र श्रद्धावाला' कहते हैं । अथवा  
संवेग और उद्वेग द्वारा जिसकी रत्नत्रयकी आराधनामें तीव्र श्रद्धा होती है वह संवेग उद्वेग  
तीव्र श्रद्धावाला होता है । ऐसा वह क्षणक शुद्धिके लिए गुरुके पास जाता है इससे वह आराधक  
होता है ॥४१०॥

गा०—टी०—निर्यापक आचार्यको खोजमें जाते हुए क्षणकके गुण कहते हैं—आचार और  
जीतकल्प (आचार विशेषका प्रतिपादक ग्रन्थ) के गुणोंका प्रकाशन होता है । ये शास्त्र निरति-  
चार रत्नत्रयको ही बतलाते हैं । उसीके लिए क्षणक निर्यापककी खोज करता है । आत्माकी शुद्धि  
होती है । सकलेशका अभाव होता है क्योंकि जो सकलेश परिणाम वाला होता है वह इस प्रकार  
दूर गमन नहीं करता । तथा गुरुके पास जाकर अपने दोषोंको प्रकट करनेसे मायाचारका त्याग  
होता ही है । इसीसे मानका निरास मादर्व भी होता है । शरीरको त्यागनेका भाव होनेसे लाषव  
होता है । मे कृतार्थ हूँ इस प्रकार सन्तोष होता है । 'मैंने अपने और परके उपकारमें समय  
बिताया । अब आगे अपने ही कार्यमें प्रधान रूपसे उद्यत रहूँगा' ऐसे विचारसे हृदयमें सुख होता  
है । इस प्रकार गुरुके पास जानेके गुण है ॥४११॥

'आएस' प्रापूर्वक । 'एणन्त' आयान्त । 'बद्धून्' दृष्ट्वा । 'सहसा अब्भूद्विठति' शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यतय । 'आवासंगहवच्छलवाए' अब्भुद्वेयो सयणो सुसत्त्वविसारवो उवासेण्व' इति जिनाज्ञासप।दनार्थं आगच्छन्तं संग्रहीतु । वत्सलतया च तस्मि 'चरणे य णामेदु' चरितं समाचारक्रम तवीय ज्ञातु च अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । क्वचित्पाठः "चरणे य णामेदु" इति च 'चर'णावगमनार्थं इति तत्रा'ब्राह्मम् ॥४१२॥

आगतुगवच्छठवा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ।

अण्णोण्णचरणकरणं जाणणहेद् परिक्खंति ॥४१३॥

'आगतुगवच्छठवा' आगन्तुको वास्तव्यासच । 'पडिलेहाहिं तु' दृष्ट्वा । 'अण्णमण्णेहिं' अन्योन्य । 'अण्णोण्णकरणचरणं' अन्योन्यस्य चरणं करणं वा । 'परिक्खन्ति' परीक्षन्ते । किमर्थं । 'जाणणहेद्' ज्ञातुं । समितयो गुप्तयश्चरणशब्देनोच्यन्ते करणमित्थावष्यकानि गृहीतानि । आचार्याणामुपदेशमेवात्सामाचारोऽनेक-प्रकारो दुरवगम त ज्ञातु महावस्थानयोग्यो न वायमिति ज्ञातु वा ॥४१३॥

क्व परीक्ष्यन्ते इत्यत्राह—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिकस्सेवे ।

सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥४१४॥

'आवासगठाणाविषु' अवश्यमेव सवरनिर्जराधिभिः कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यन्ते तेषा

इस प्रकार गुच्छकी खोजमें आये हुए क्षपकको देखकर उस गणके वासी साधुओंकी सामा-  
चारीका क्रम कहते हैं—

गा०—अतिथिको आता हुआ देखकर यतिगण शीघ्र खड़े हो जाते हैं । जिनागमकी आज्ञा-  
का पालन करनेके लिए, आने वालेको ग्रहण करनेके लिए और वात्सल्य भावके लिए तथा उसका  
कैसा आचारादि है यह जाननेके लिए वे उठकर खड़े होते हैं । कहीं पर 'चरणे य णामेदु' पाठ है ।  
उसका अर्थ होता है—अतिथिके चरणोंमें नमन करनेके लिए खड़े होते हैं । यह यहाँ ग्रहण करने  
योग्य नहीं है ॥४१२॥

गा०-टी०—आने वाला मुनि और उस गणके वासी मुनि प्रतिलेखनाके द्वारा देखकर  
परस्परमें एक दूसरेके चरण और करणको जाननेके लिए परीक्षा करते हैं । यहाँ चरण शब्दसे  
समितिलेखन और गुप्ति कही है । और करण शब्दसे आवश्यककोका ग्रहण किया है । आचार्योंके उपदेशमें  
भेद होनेसे साधुओंका समाचार अनेक प्रकारका है । इससे वह दुरवगम है । उसका जानना कठिन  
है उसको जाननेके लिए वे परस्परमें परीक्षा करते हैं । अथवा यह हमारे साथ रहनेके योग्य है  
अथवा नहीं, यह जाननेके लिए परीक्षा करते हैं ॥४१३॥

कैसे परीक्षा करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—आवश्यक स्थान आदिमें, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और  
भिक्षाग्रहणमें परीक्षा करते हैं ॥४१४॥

टी०—संवर और निर्जराके इच्छुकोंको अवश्य ही करने योग्य सामायिक आदिको आव-

स्थान स्थिति आवश्यकपरिणतिकाल'। 'बुद्ध्यां ब्रह्माचारं बारसात्तत्त्व च। चतुष्टयं तत्तुद्ध'—(मूला-  
चार ७।१०४) मित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता। तेषु आवश्यकस्थानादिषु। 'प्रतिलेखनव्ययगह-  
षण्णिके' प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणेन वा, वचने, उपकरणाना ग्रहणे निक्षेपे, च 'सम्प्राप्ते' स्वाध्याये,  
'विहारे' जंचाविहारे, 'भिक्षाग्रहणे' भिक्षाग्रहणे च 'परिष्वसति' परीक्षन्ते। किमय सामायिकादीन्यावश्यकानि  
करोति ? कुर्वन्नपि वा यथाकालं करोति न वा ? किं वा द्रव्यसामायिकादौ प्रवर्तते उत भावसामायिकादौ ?  
द्रव्यसामायिकादिकं भवति सामायिकादिकं पठत, कायेन चोक्ता क्रिया कुर्वत। सावद्ययोगप्रत्याख्यानं, तीर्थ-  
कृद्गुणानुस्मरणं, आचार्योपाध्यायादीनां वा गुणानुस्मृती, स्वानिचारनिन्दाग्रहणं, प्रत्याख्येयप्रत्याख्यानं,  
शरीरममत्तानिरासे वा, परिणतिर्भावसामायिकादिकं। तत्र प्रवृत्तो न वेति परीक्षा। चक्षुषा पूर्वमिदं पति-  
लेखनं योग्यं न वेति किं पश्यति न वा। उपकरणेन मूढना लघुना प्रमार्जनं किं करोति न करोति वा।  
अथवा त्वरितं प्रमार्जयति, अवपीडयति, दूरावस्थानात् पातयति, प्रमार्जनेन विरोधिनो जीवान्मिश्रयति।  
आहारभिक्षान्, आहारग्राहिणो गृहीताण्डकान्, स्वनिवासदेशस्थान्, मूर्छामुपगतप्रमार्जयति न वेति परीक्षा।  
वचने परीक्षा—परुष वच, परनिन्दात्मप्रशंसाप्रवृत्त, आरम्भपरिग्रहयो प्रवर्तक, मिथ्यात्वसम्पादक, मिथ्याज्ञान-  
कारि, व्यतीक, गृहस्थानां वचो वा वदति न वेति। यतो यदादेयं यदा यत्र निक्षिपति तद्भयप्रमार्जनपूर्वकं  
किं गृह्णाति निक्षिपति वा नेति परीक्षा। कालादिशुद्धिं कृत्वा पठति किं वा न, अथवा उभयं ग्रन्थं पठति,

स्यक कहते हैं। उनका स्थान अर्थात् स्थिति यानो आवश्यक रूप परिणतिकाल। आदि शब्द-  
से 'दो बार नमस्कार, यथाजात, बारह आवर्त, चार बार सिंका नमन, मन वचन कायकी  
शुद्धि' इत्यादि क्रिया ग्रहण की है। चक्षु अथवा उपकरणसे प्रतिलेखना करने पर, वातालापसे  
उपकरणोंके ग्रहण और रखनेमें, स्वाध्यायमें, पैदल चलनेमें, और भिक्षा ग्रहणमें परीक्षा करते हैं  
कि यह सामायिक आदि करता है या नहीं ? करता है तो ममय पर करता है या नहीं / अथवा  
द्रव्य सामायिक आदि करता है या भाव सामायिक आदि करता है। सामायिक आदि गठ पढ़ते  
हुए और शरीरसे उक्त क्रिया करते हुए द्रव्य सामायिक आदि होते हैं। मावद्य योगका त्याग  
करनेपर, तीर्थकरके गुणोंका स्मरण करनेपर, अथवा आचार्य उपाध्याय आदिके गुणोंका स्मरण  
करनेपर, अपने अतिचारोंकी निन्दा गद्गं करनेपर, त्यागने योग्यका त्याग करनेपर, अथवा शरीरसे  
ममत्वको दूर करनेपर भाव सामायिक आदि होते हैं। उसमें प्रवृत्त होता है या नहीं, यह परीक्षा  
है। यह प्रतिलेखन योग्य है या नहीं ? ऐसा आँवोंसे पहले देखता है या नहीं, कोमल हल्के उप-  
करणमें प्रमार्जन करता है या नहीं ? अथवा क्या जल्दीमें प्रमार्जन करता है। क्या जीवोंको पीडा  
पहुँचाता है ? क्या दूर स्थानसे उपकरणादि गिराता है ? क्या प्रमार्जनके द्वारा विरोधी जीवोंको  
मिलाता है ? जो जीव आहारमें लगे हैं, या आहार ग्रहण कर रहे हैं, जिन्होंने मुँहमें अण्ड लिए  
हुए हैं, जो अपने निवास देशमें स्थित हैं, मूर्छाको प्राप्त है ऐसे जीवोंका प्रमार्जन-रक्षण करता है  
या नहीं, यह परीक्षा है। वचन परीक्षा—कठोर वचन, परकी निन्दा अपना प्रशंसा करने वाले  
वचन, आरम्भ और परिग्रहमें प्रवृत्त कराने वाले वचन, मिथ्यात्वके सम्पादक वचन, मिथ्याज्ञान  
कराने वाले वचन, झूठे वचन अथवा गृहस्थोंके योग्य वचन बोलता है क्या ? जहाँसे जो ग्रहण  
करता है अथवा जहाँ जो रखता है उन दोनोंके प्रमार्जन पूर्वकं ग्रहण और निक्षेप करता है या  
नहीं, यह परीक्षा है। कालादिकी शुद्धि पूर्वकं ग्रन्थ पढ़ता है या नहीं ? अथवा किस ग्रन्थको पढ़ता

कथं वास्यार्थं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशाद्बहू हस्तमात्रादिपरिमाणे स्थण्डिले, निर्जन्तुके निश्छिन्ने, समे, अविरोधे मार्गजनेनानवलोकेषु किं स्वशरीरमल त्यजति उवातां विपरीते इति विहारे परीक्षा । भिक्षाग्रहणे परीक्षा नाम भ्रामर्या या काञ्चिद्भिक्षा गृह्णाति लब्धामुत् नवकोटिपरिष्णुद्धामिति ॥४१४॥

आगन्तुको यतिगुरुमुपाश्रित्य सविनयं संघाटकदानेन भगवन्ननुब्राह्मणेष्मीति विशापना करोति । ततो गणधरेणापि समाचारज्ञो दातव्य सघाटक इति निगदति—

**आएसस्स तिरसं णियमा संघाडओ दु दादव्वो ।**

**सेज्जा संघारो वि य ज्झ वि असंभोइओ होइ ॥४१५॥**

'आएसस्स तिरसं' प्राधूर्णकस्य च तिरात्र । 'णियमा संघाडओ दु दादव्वो' निदचयेन सघाटको दातव्य एव । 'सेज्जा संघारो वि य' वसति. संस्तरश्च दातव्य । 'ज्झ वि असंभोइओ होइ' । यद्यप्यपरोक्षित्वात्सहानाचरणो भवति । तथापि सघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारश्चेत्सगृह्यते ॥४१५॥

दिनत्रयोत्तरकाल किं कार्यं गुरुणेत्याहक्काया वदति—

**तेण परं अवियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादव्वो ।**

**सेज्जा संघारो वि य गणिणा अवि जुत्तजोगिस्स ॥४१६॥**

'तेण गणिणा' तेन गणिना । 'परं' दिनत्रयात् । 'अवियाणिय' अविचार्य । स्वदत्तमघाटं यतिवचनश्रवणोत्तरकाल । तु शब्द एवकारार्थे प्रवर्तते स च दादव्वो इत्यंतस्मात्परतो द्रष्टव्य । न दातव्य एव सघाटक । 'सेज्जा संघारो वा' वसति सस्तरो वा न दातव्य । जुत्तजोगिस्सवि युक्ताचारस्यापि न

है और कैसे उसका अर्थ करना है ? अपने निवास देशसे दूर, एक हाथ आदि प्रमाण, जन्तुरहित, छिद्ररहित, सम और जिसमें किमीका विरोध नहीं, रास्ता चलते लोग जिसे देख नहीं सकते ऐसे स्थण्डिल प्रदेशमें यह अपने शरीर मलको त्यागता है या इससे विपरीतमें त्यागता है यह बिहारकी परीक्षा है । भिक्षाग्रहणमें परीक्षाका मतलब है कि भ्रामरीमें यह जैसी तैसी भिक्षा ग्रहण करता है या नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है ॥४१४॥

आने वाला यति गुरुके पास सविनय उपास्थित होकर निवेदन करता है कि भगवान् साहाय्य प्रदान करके मुझपर अनुग्रह करे । उसके पश्चात् आचार्यको भी आचारके ज्ञाता उस आगन्तुक यतिको साहाय्य देना चाहिए । ऐसा कहते हैं—

गा०—उस आगन्तुक यतिको नियमसे तीन रात तक साहाय्य देना चाहिए । तथा रहनेको वसति और सस्तर देना चाहिए । यद्यपि अभी उसकी परीक्षा नहीं ली है इससे वह साथमें आचरण करने योग्य नहीं है फिर भी यदि उसका आचार उचित है तो उसे साहाय्य देना चाहिए ॥४१५॥

गा०—तीन दिनके पश्चात् गुरु क्या करे, यह कहते हैं—तीन दिनके पश्चात् उस आचार्यको उस यतिके वचनको सुननेके पश्चात् जो साहाय्य दिया था वह साहाय्य बिना विचारे नहीं देना चाहिए । 'दु' शब्दका अर्थ एवकार (ही) है और उसे 'दादव्वो' के आगे रखना चाहिए । अतः उसे साहाय्य नहीं ही देना चाहिए, वसति अथवा सस्तर नहीं देना चाहिए । उसका आचार उचित भी हो तो भी उसे परीक्षा किये बिना साहाय्य आदि नहीं देना चाहिए । जब युक्ताचारको

वातव्यः संघाटकाधिः परीक्षामन्तरेण किं पुनरितरस्येत्वाधायः ॥४१६॥

अविचार्यं तेन सहायस्थानेको दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकायां दोषमाचष्टे—

**उग्गमउत्पादभेसणामु सौधी ण विज्जदे तस्स ।**

**अणगारमणालोइय दोसं संभुज्जमाणस्स ॥४१७॥**

'उग्गमउत्पादभेसणामु उद्गमोत्पादनैषणादोषपरिहारो न विद्यते तस्य गणिनः । अणगारं' यति । 'अणालोइय दोसं' अनालोचितदोषं । 'संभुज्जमाणस्स' सगृह्यत । उद्गमादिदोषग्रहणमाहारं वसति, उपकरण वा सेवते य यति तेन सह संवासात् संवासानुमति कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवति इति ॥४१७॥

**उब्बादो तद्विसं विस्सामिन्ना गणिसुबट्टादि ।**

**उब्बारिदुमणोसल्लं विदिए तदिए व विवसम्मि ॥४१८॥**

'उब्बादो' श्रान्तं स्थित्वा । त विवसं आगतदिनं । 'विस्सामिन्ना' विश्रान्त्य । 'गणिसुबट्टादि' आचार्यं दौकते । 'उब्बारिदुमणोसल्लं' उद्भुतं मन शक्यं अतिचारं । 'विदिए तदिए व विवसम्मि' द्वितीये तृतीये वा दिने । मार्गणापुरस्सरा क्रिया सर्वा मार्गणेत्युपम्यस्ता ॥४१८॥

कीदृग्गुणं सूरिरनेनोपाश्रित इत्याचष्टे—

**आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुब्बीय ।**

**आयावायविदंमी तहेव उप्पील्लगो चैव ॥४१९॥**

'आयारवं च' आचारवान् । 'आधारवं च' आधारवान् । 'ववहारवं च' व्यवहारवान् । 'पकुब्बीय' कर्ता । 'तहेव आयावायविदंसी' तथा आयापायवर्त्तनोद्यत । 'उप्पील्लगो चैव' अवपाठक ॥४१९॥

भी नहीं देना चाहिए तब अन्यको तो बात ही क्या है, यह इसका अभिप्राय है ॥४१६॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि बिना विचारों उसके साथ रहनेमें क्या दोष है जो इतनी सावधानी करते हैं, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो यति अपने दोषोंकी आलोचना नहीं करता, तथा जो उद्गम आदि दोषोंसे दूषित आहार, वसति अथवा उपकरणका सेवन करता है, उसके साथ संवास करनेसे उस आचार्यके उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंका परिहार रूप शुद्धि नहीं होगी। यदि वह आचार्य अन्य मुनियोंको उसके साथ रहनेकी अनुमति देता है तो भी उसकी अनुमोदनाका भागी होता है ॥४१७॥

गा०—मार्गके श्रमसे थका हुआ वह आगन्तुक मुनि अपने आनेके दिन तो विश्राम लेता है और दूसरे दिन मनमें शक्यकी तरह चुभने वाले दोषोंको दूर करनेके लिये आचार्यके समीप जाता है। गुरुकी मार्गणा अर्थात् खोज पूर्वक की जानेवाली सब क्रियाएँ मार्गणा कही जाती हैं इसलिये यहाँ उनका मार्गणारूपसे कथन किया है ॥४१८॥

गा०—वह आगन्तुक किन गुणोंसे युक्त आचार्यका आश्रय लेता है, यह कहते हैं—आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, तथा रत्नत्रयके लाभ और विनाश को दिखाने वाला और अवपीठक ॥४१९॥

अपरिस्साई णिञ्जावओ य णिञ्जावओ पहिदक्खिणी ।

णिञ्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥४२०॥

‘अपरिस्साई’ अपरिस्सावी । ‘णिञ्जावओ’ निर्वापकः । ‘पहिदक्खिणी’ प्रथितकीर्ति । ‘णिञ्जवणगुणोवेदो’ निर्यापनगुणसमन्वितः । ‘एरिसओ होदि आयरिओ’ ईदृग्भवत्याचार्य ॥४२०॥

आचारवत्त्वव्याख्यानायागता भाषा—

आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ।

उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥४२१॥

‘आयारं पंचविहं’ पञ्चप्रकार आचारं । ‘चरदि’ विनातिचारं चरति । परं वा निरतिचारे पञ्चविधे आचारे प्रवर्तयति । ‘उवदिसदि य आयारं’ उपविशति च आचारं । ‘एसो आयारवं णाम’ एष आचारवान्नाम । एतदुक्तं भवति—आचाराङ्गं स्वय वेति ग्रन्थतोऽर्थतश्च, स्वयं पञ्चविधे आचारे प्रवर्तते प्रवर्तयति च । प आचारवान् इति । पञ्चविधे स्वाध्याये वृत्तिज्ञानाचारः । जीवाहितत्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । चतुर्विधाहारत्यजनं, न्यूनभोजनं, वृत्ते परिसंख्यानं, रसाना त्यागः, कायसन्तापनं विविक्तवासा इत्येवमादिकस्तप सञ्जित आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः । एते पञ्चविधा आचाराः ॥४२१॥

प्रकारान्तरेण आचारवत्त्वं कथयति—

दसविहठिदिकप्पे वा हवेज्ज ओ सुट्ठिदो सयायरिओ ।

आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउचो ॥४२२॥

‘दसविहठिदिकप्पे वा’ दशविधे स्थितिकल्पे वा । ‘हवेज्ज ओ सुट्ठिदो सया’ भवेद्यः सुस्थित सदा ।

शा०—अपरिस्सावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और निर्यापन गुणसे युक्त ऐसा आचार्य होता है ॥४२०॥

आगे उक्त गुणोंमेंसे आचारवत्त्व गुणका व्याख्यान करते हैं—

शा०—पाँच प्रकारके आचारका जो अतिचार लगाये बिना पालन करता है तथा दूसरों को पाँच प्रकारके आचारके निरतिचार पालनमें लगाता है, और आचारका उपदेश देता है यह आचारवान् नामक गुण है ॥४२१॥

टी०—इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ रूपसे और अर्थरूपसे स्वयं आचारांगको जानता है । स्वयं पाँच प्रकारके आचारका पालन करता है और दूसरोंसे पालन कराता है इस तरह पाँच आचारवान् है । पाँच प्रकारके स्वाध्यायमें लगना ज्ञानाचार है, जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानरूप परिणत होना दर्शनाचार है । हिंसादिसे निवृत्ति रूप परिणति चारित्राचार है । चार प्रकारके आहारका त्याग, भूखसे कम भोजन करना, भिक्षाके लिये जाते समय गृह आदिका परिमाण करना, रसोंका त्याग, कायक्लेश, एकान्तमें निवास इत्यादि तप नामक आचार है, ‘तपमें अपनी शक्तिको न छिपाना वीर्याचार है । ये पाँच प्रकारके आचार हैं ॥४२१॥

दूसरे प्रकारसे आचारवत्त्वको कहते हैं—

शा०—जो आचार्य सदा दस प्रकारके स्थितिकल्पमें सम्यक् रूपसे स्थित है वह आचार-

'आयरिओ' आचार्य । 'आचारवं' ज् आचारवान् । 'एत्तो' एष । 'पष्यणमावासु आउत्तो' प्रवचनमातृकासु समित्तिषु गुत्तिषु च आयुक्- ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलककुद्देसियसेज्जाहरारायपिंडकितियम्मे ।

वदजेद्वपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

'आचेलककुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षण, तेन सकल्पपरिग्रहत्याग आचेलकव्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्म । त्यागश्च सर्वसगविरतिरचेलतापि सैव । नैनाचेलो यदित्यत्यागारूपे धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिञ्चनारूपे अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रह । परिग्रहार्था ह्यारम्भप्रवृत्तिनिष्परिग्रह-स्यासन्त्यागारूपे कुतोऽप्रत्ययः । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । पर परिग्रहनिमित्तं व्यलोकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अग्नन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनुतामिधानस्य । ततो ब्रुवन्नेवमचेल सत्यमेव ब्रुवति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नाप्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । मगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाद्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दवमपि तत्र सन्निहित । 'अजिह्वाभावस्य स्फुटमात्मीय भावमादर्शयतोऽचेलस्याजंबता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागान् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतं शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्नियोमे तत्पर रहना है ॥४२२॥

दस कल्पोका कथन करते है—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पयुषणा ये दस कल्प है ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते है । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अतः समस्त परिग्रह के त्यागको आचेलक्य कहते है । दस धर्मोंमें एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरति को त्याग कहते है वही अचेलता भी है । अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है । जो निष्परिग्रह है वह अकिञ्चन नामक धर्ममें तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमें प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यों करेगा । अतः उसके असयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममें भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योंकि परिग्रहके निमित्त ही क्रोध होनेका कारण नहीं है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमें झूठ बोलनेका कारण नहीं है । अतः बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होता है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह की इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नहीं होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोंकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है । परिग्रहके अभावमें उत्तम क्षमा रहती है । मे सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नहीं होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको बिना किसी छल कपट के प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योंकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर मुनि विराग



ततो विमुक्तेश्च शीतोष्णदशमशकादिपरिध्रमा<sup>१</sup>गामुरोदानात्, निश्चेलेतामम्युपगच्छता तपोऽपि धोरमनुष्ठितं भवति । एवमचेलत्वोपदेयेन दशविधधर्मास्थानं कृतं भवति संक्षेपेण ।

अथवाव्याया प्रक्रम्यते अचेलतागुणप्रशंसा । संयमशुद्धिरेको गुणः । स्वेदरजोमलाबलिप्ले चले तद्योनि-  
कास्तदाश्रयाश्च त्रसा सूक्ष्मा स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलप्राहिणा । ससक्त वस्त्र तावत्स्थाय-  
तीति चेत्तद्दि हिंसा स्यात् । विवेचने च ते त्रियन्ते तत्र ससक्तचेलवतः स्थाने, धयने, निषद्याया, पाटने, छेदने,  
वन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, सघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां बाधेति महानसंयमः । अचेलस्यैवविधासयमा-  
भावात् सयमविशुद्धिः । इन्द्रियविजयो द्वितीयः । सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् द्रव्यप्रयत्नो भवति  
एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि यतते । अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति । कषायाभावश्च गुणोऽ-  
चेलताया । स्तेनभयाद्गोमयादिरसेन लेप कुर्वन्निभूहृयिस्वा कथञ्चिन्माया करोति । उन्मार्गणं वा स्तेनवञ्चना  
कर्तुं यायात् । गुल्मवन्त्याद्यन्तर्हितो वा स्यात् । चेलदिर्ममास्तीति मानं चोद्गृहते । बलादपहरणात्तेन<sup>३</sup> सह  
कलहं कुर्यात् । लाभाद्वा लोभः प्रवर्तते । इति चेलप्राहिणाममी दोषा । अचेलताया पुनरित्यभूतदोषानुत्पत्तिः  
ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूचीसूत्रकपटादिपरिमार्गणसीबनादिव्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति । नि सयस्य  
तथाभूतव्यासंसाभावात् । सूत्रार्थपौरुषीयु निविघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रन्थत्यागश्च गुणः ।  
भावको प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोमे आसक्त नहीं होता । तथा परिग्रहसे मुक्त होनेसे शीत,  
उष्ण, ड्रास, मच्छर आदि परीषहको सहता है । अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप  
भी होता है । इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे संक्षेपसे दस प्रकारके धर्मों का कथन होता है ।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशंसा अन्य प्रकारसे कहते हैं । अचेलतामे सयम की शुद्धि एक  
गुण है । पसीना, धूलि और मँलसे लिप्त वस्त्रमे उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले  
त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती  
है । यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे सबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योंकि  
उन्हे अलग कर देनेसे वे वहाँ मर जायेंगे । जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने,  
सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बाँधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने, और धूपमे डालने पर जीवोंको  
बाधा होनेसे महान् असयम होता है । जो अचेल है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम  
की विशुद्धि होती है । दूसरा गुण है इन्द्रियोको जीतना । जैसे सर्पोंसे भरे जंगलमे विद्या मंत्र  
आदिसे रहित पुरुष दृढ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी  
इन्द्रियोको वशमें करनेका पूरा प्रयत्न करता है । ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो  
लज्जित होना पडता है । अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है । चोरोके डरसे वस्त्रको  
गोबर आदिके रससे लिप्त करके छिपानेपर कथञ्चित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोको  
धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पडता है या झाड अंखाड़मे छिपना होता है । मेरे पास वस्त्र हैं  
ऐसा अहंकार होता है । यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है । वस्त्रलाभ  
होनेसे लोभ होता है । इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोके ये दोष हैं । वस्त्रत्यागकर अचेल  
होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमे किसी प्रकारका विघ्न  
नहीं होता । सुई धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमे लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमे

१ मा सुरासुरोदीर्णा सोढाश्चोपसर्गा नि—आ० मु० ।

२ ससक्ता च—आ० मु० ।

३ शास्तेनेन—मु० ।

बाह्यचेलादिधाम्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः । यथा गुणनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपायः अतुष धान्यं नियमेन शुद्धपति । भाज्या तु ह्यस्तुषस्य शुद्धिः । एवमचेलवति नियमादेव भाज्या सचेलैः । वीतरागद्वेषता च गुणः । सचेलो हि मनोके वस्त्रे रक्तो भवति । दुष्प्रत्यमनोऽज्ञे । बाह्यद्रव्यालम्बनो हि रागद्वेषी तावत्सति परिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनादरो गुणः शरीरगतादरबोधैव हि जनोऽप्यमे परिग्रहे च वर्तते । अचेलेन तु त्वावरस्स्यक्तः, वातातपादिबाधासहनात् । स्ववशता च गुणः देशान्तरगमनादी सहान्याप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्रं वृहीत्या हि त्यक्तकलपरिग्रहः पक्षीव यातीति । सचेलस्तु सह्यापरवश चौरभयात् भवति परवशमानसश्च कर्षं समयं पालयेत् । चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलतायां । कौपीनादिना प्रच्छादयतो भावशुद्धिर्न ज्ञायते । निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतया स्फुटा विरागता । निर्भयता च गुणः । ममेव किमपहरन्ति चौरावयः, किं ताडयन्ति, बधन्तीति वा भयमुपैति सचेलो नाचेलो, भयानुरो वा किं न कुर्वान् । सर्वत्र विश्रम्भता च गुणः । निष्परिग्रहः न किंचनापि शङ्कते । सचेलस्तु प्रतिमार्गायिधन अन्व वा दुष्ट्या न तत्र विश्वासं करोति । को वेत्ययं, किं करोति इति । अप्रतिलेखनता च गुणः । चतुर्दशविध उपधि ग्लुता बहुप्रतिलेखनता न तथाचेलस्य । परिकर्मवर्जनं च गुणः । उद्वेष्टनं, मोचन, सीवन, बधन, रजन इत्यादिकमनेक परिकर्म

विघ्न होता है । जो निःसग है उसके इस प्रकारकी बाधा नहीं होती । मूत्र पीछी और अर्थ-पीछीमें निविघ्नता रहती है तथा स्वाध्याय और ध्यान की भावना होती है ।

अचेलतामें एक गुण परिग्रहका त्याग है । बाह्य वस्त्र आदि परिग्रहका त्याग अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागका मूल है । जैसे धानके छिलकेको दूर करना उसके अभ्यन्तर मलको दूर करनेका उपाय है । बिना छिलकेका धान्य नियमसे शुद्ध होता है । किन्तु जिसपर छिलका लगा है उसकी शुद्धि नियमसे नहीं होती । इसी प्रकार जो अचेल है उसकी अभ्यन्तर शुद्धि नियमसे होती है किन्तु जो सचेल है उसको शुद्धि भाज्य है । अचेलता में रागद्वेषका अभाव एक गुण है जो वस्त्र धारण करता है वह मनको प्रिय सुन्दर वस्त्रसे राग करता है और मनको अप्रिय वस्त्रसे द्वेष करता है । राग और द्वेष बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे होते हैं । परिग्रहके अभावमें राग द्वेष नहीं होते । तथा शरीरमें अनादर भी अचेलताका गुण है । शरीरमें आदर होनेसे मनुष्य असयम और परिग्रहमें प्रवृत्ति करता है । जो अचेल होता है उसका शरीरमें आदरभाव नहीं होता । तभी तो वह वायु धूप आदिका कष्ट सहता है । अचेलतामें स्वाधीनता भी एक गुण है क्योंकि देशान्तर में जाने आदिमें सहायकी प्रतीक्षा नहीं करनी होती । समस्त परिग्रहका त्यागी पीछी मात्र लेकर पक्षी की तरह चल देता है । जो सचेल होता है वह सहायके परवश होता है तथा चोरके भयसे उसका मन भी परवश होता है वह संयमको कैसे पाल सकता है । तथा अचेलतामें चित्तकी विशुद्धिको प्रकट करनेका भी गुण है । लंगोटी वगैरहसे ढाँकनेसे भावशुद्धिका ज्ञान नहीं होता । किन्तु वस्त्र रहितके शरीरके विकार रहित होनेसे विरागता स्पष्ट दीखती है । अचेलतामें निर्भयता गुण है । चोर आदि भेरा क्या हर लेंगे, क्यों वे मुझे मारेंगे या बंधेंगे । किन्तु मवस्त्र डरता है और जो डरता है वह क्या नहीं करता । सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है । जिसके पास कोई परिग्रह नहीं वह किसी पर भी शंका नहीं करता । किन्तु जो सवस्त्र है वह तब मार्ग में चलने वाले प्रत्येक जन पर अथवा अन्य किसी को देखकर उस पर विश्वास नहीं करता । यह कौन है क्या करता है यह शंका होती है । अचेलतामें प्रतिलेखनाका न होना भी एक गुण है । चौदह प्रकारकी परिग्रह रखनेवालों को बहुत प्रतिलेखना करना होती है, अचेलको बँसी प्रतिलेखना नहीं करना पड़ती । परिकर्मका नहीं होना भी एक गुण अचेलका है । सवस्त्रको लपेटना, छोड़ना,

सचेलेस्य । स्वस्थ वस्त्रप्रावरणादेः स्वयं प्रक्षालनं सीवनं वा कुत्सितं कर्म, विभूषा, मूर्च्छा वा । लाघवं च गुणः । अचेलेऽप्योपधि स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नेतर । तीर्थकराचरितत्व च गुणः—सहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपरा जिनाः सर्वे एवाचैला भूता भविष्यन्तश्च । यथा मेवादिपर्वतकक्षाः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेऽयचैलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलेत्व । चेलपरिवेष्टिताङ्गो न जिनसदृश । व्युत्सृष्टप्रलम्बभुजो निश्चेलो जिनप्रतिरूपता धत्ते । अनिमूढबलवीर्यता च गुणः । परीषहसहने शक्तोऽपि सचेलो न परीषहान्सहते इति । एवमेतद्गुणावेक्षणोपदेशेन जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रन्थं यो वदेत्स्य किमपरे पाषण्डिनो न निर्ग्रन्था ? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति बाहुमात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः । इत्थं चेले दोषा अचेलताया वा अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थितिकल्पत्वेनोक्ता ।

अर्थव मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपानादिव्रह्मणमुपदिष्टम् । तथा ह्याचारप्रणिधी भणित<sup>१</sup>—“पडिलेखे पात्र-कंबलं तु ध्रुवमिति । असत्सु पात्राविषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ।” आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तं—“पडिलेखणं पावपुच्छं, उग्गाह, कडासणं, अण्वरं

सीना, बोधना, रगना इत्यादि अनेक परिकर्म करने होते हैं । अपने वस्त्र, ओढ़ने वगैरहू को स्वयं धोना, सीना ये कुत्सित कर्म तथा शरीरको भूषित करना ममत्व आदि परिकर्म करने होते हैं । लाघव गुण भी अचेलतामे है । अचेलके पास थोड़ा परिग्रह होता है । उठना बैठना जाना आदि क्रियाओमे वह वायुका तरह बेरोक और लघु होता है, सवस्त्र ऐसा नहीं होता । तीर्थकरोके मार्ग का आचरण करना भी अचेलताका गुण है । सहनन और बलसे पूर्ण तथा मुक्तिके मार्गका उपदेश देनेमे तत्पर सभी तीर्थकर अचेल थे तथा भविष्यमे भी अचेल ही होंगे । जैसे मेरु आदि पर्वतो पर विराजमान जिन प्रतिमा और तीर्थकरोके मार्गके अनुयायी गणधर भी अचेल होते हैं । उनके शिष्य भी उन्ही को तरह अचेल होते हैं । इस प्रकार अचेलता सिद्ध होती है । जिसका शरीर वस्त्रसे वेष्टित है वह तीर्थकरके समान नहीं है । जो दोनो भुजाओंको लटका कर खड़ा है और वस्त्र रहित है वह जिनके समान रूपका धारी होता है । अपने बल और वीर्यको न छिपाना भी अचेलताका गुण है । सवस्त्र परीषहोको सहनेमें समर्थ होते हुए भी परीषहो को नहीं सहता । इस प्रकार उक्त गुणोके कारण अचेलता जिनदेवके द्वारा कही गई है । जो अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्टित करके अपनेको निर्ग्रन्थ कहता है उसके अनुसार अन्य मतानुयायी साधु निर्ग्रन्थ क्यों नहीं है । हम ही निर्ग्रन्थ है वे निर्ग्रन्थ नहीं हैं यह तो कहना मात्र है । मध्यस्थ पुरुष इसे नहीं मानते । इस प्रकार वस्त्रमे दोष और अचेलतामे अपरिमित गुण होनेसे अचेलताको स्थितिकल्परूपसे कहा है ।

यदि आप मानते है कि पूर्व आगमोंमें वस्त्र पात्र आदिके ग्रहणका उपदेश है । जैसे आचार प्रणिधिमे कहा है—“पात्र और कंबलकी प्रतिलेखना अवश्य करना चाहिये ।” यदि पात्रादि नहीं होते तो उनकी प्रतिलेखना आवश्यक कैसे की जाती । आचारांगका भी दूसरा अध्याय लोक विचय नामक है । उसके पाँचवें उद्देशमें कहा है—“प्रतिलेखना, पैर पूँछना, उग्गाह ( एक उपकरण ),

१ प्रतिलिखे-मु० ।

२. 'वत्वं पडिमाहं कंबलं पावपुच्छं उग्गाहणं च कडासणं एएसु चैव जाणिज्जा' ।-आचा० २।५।१०।

उपधि पाषेज्ज इति । तथा वर्त्तसणाए वृत्त 'तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विवियं, तत्थ एसे जुग्गि वेसे बुबे वत्थाभि धारिज्ज पडिलेहणव तवियं । तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासएस (अणधिहासए) त्तो वत्थाभि धारेज्ज पडिलीहणं चउत्थं ।' तथा पादेसणाए कथित 'हिरिमणे वा जुग्गिदे वाधि अण्णे वा तत्स वं कप्पवि वत्थाविकं पाव्वारिस्सए इति' । पुनश्चोक्त तत्रैव—'अलावुपत्त वा, दास्यपत्त वा मट्टिपत्त वा अल्पपाणं, अल्पबीज अल्पसरिदं तथा अल्पकार पात्रलाभे सति पडिग्गहिस्सामोति' । वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते । भावनाया चोक्त—'बरिस्स चोवरधारि तेन परमचेलके तु जिणे' इति । तथा सूत्रकृतस्य पुंडरीके अध्याये कथित 'ण कहेज्जो धम्मकह वत्थपत्ताविहेहुमिति ।

निसेधेषुक्त—'कसिणाइ<sup>१</sup> वत्थकवलाइ जो भिक्खु पडिग्गहिधि आपज्जवि मासिग लहुण' इति । एव सूत्रनिदिष्टे चले अचेलता कथ इत्यत्रोच्यते—आयिकाणामागमे अनुज्ञात वस्त्र कारणापेक्षया । भिक्षुणा हीमानयोग्य शरीरावयवो दुस्चर्माभिलम्बमाननवीजो वा परीषहमहने वा अक्षम स गृह्णाति ।

कटासन (चटाई) इनमेसे कोई एक उपधि पाता है । तथा वस्त्रेषणामे कहा है—'जो लज्जाशील हो वह एक वस्त्र धारण करे, दूसरा प्रतिलेखना । देश विशेषमे दो वस्त्र धारण करे, तीसरा प्रतिलेखना धारण करे । जो परीषह सहनेमे असमर्थ हो वह तीन वस्त्र और चतुर्थ प्रतिलेखना धारण करे ।'

तथा पात्रेषणामे कहा है—'जो लज्जाशील आदि है और पादचारी है उसके लिये वस्त्रादि योग्य हैं ।' पुनः उसीमे कहा है—

'तूम्बीका पात्र, लकडीका पात्र अथवा मिट्टीका पात्र, पात्रलाभ होनेपर ग्रहण करुंगा जो अल्पबीज आदि हो ।

यदि वस्त्र पात्र ग्रहण करने योग्य न होते तो ये सूत्र कैसे होते ? भावनामे कहा है—भगवान् जिनमे एक वर्ष तक देव दूष्य वस्त्र धारण किया । उसके पश्चात् अचेलक (निर्वस्त्र) रहे । तथा सूत्र कृतागके पुण्डरीक अध्ययनमे कहा है—'वस्त्र पात्र आदिकी प्राप्तिके लिये धर्मकथा नहीं कहनी चाहिये ।' निशीथ सूत्रमे कहा है—'जो भिक्षु पूर्ण वस्त्र कम्बल ग्रहण करता है वह मासिक लघु प्रायश्चित्त के योग्य है ।' इस प्रकार सूत्र ग्रन्थोमे चेलका निर्देश होत हुए अचेलना कैसे सभव है ?

इसका उत्तर देते है—कारणकी अपेक्षा आयिकाओको आगममे वस्त्रकी अनुज्ञा है । भिक्षुओमेसे यदि किसीके शरीरका अवयव लज्जा योग्य हो, अथवा लिंगके मुंह पर चर्म न हो या अण्डकोष लम्बे हो, अथवा परीषह सहनेमे असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण करता है । आचाराराग मे कहा है—

'आयुष्मात्' मैने मुना, भगवान्ने ऐसा कहा । यहाँ सयमके अभिमुख स्त्री पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक सर्वश्रमणागत, एक नो सर्वश्रमणागत । उनमेसे जो सर्वश्रमणागत, स्थिर अग हाथ-पैरवाले तथा सब इन्द्रियोसे पूर्ण होते है उनको एक भी वस्त्र धारण करना योग्य नहीं है केवल एक पीछी रखते है । तथा कल्प सूत्रमे कहा है—'लज्जाके कारण और शरीरके अगके ग्लानियुक्त होने पर तथा परीषहोंको सहनेमें असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे ।'

१. बद्धेसणाए अ० आ० । २. जुग्गिदे दे-मु० ।

३. जो भिक्षुककसिणाई वत्थाइ धरेइ धरेत वा मातिज्जति ॥—निशीथसू० १।२३ ।

तथा चोक्तमाचारानां 'सुद भे आउस्सत्तो भगवदा एवम्बन्नाबं । इह खलु सयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपु रिस्सा जवा' भवति । त जहा—सञ्चसमगागवे णोसमगागवे चेव । तत्थ जे सञ्चसमगावे चिरांगहत्थवाणिपावे सञ्चवियसमगागवे तस्स भं णो कप्पधि एगमच्च वत्थ चारिउ एव परिहिउ' एव अण्णत्थ एगेण पडिल्लहणंण इति' । तथा भोक्त कल्पे—'हिरिहेतुक व होइ बेइदुगु इति बेहे कुम्बिदवे । धारेण्ण सिवा वत्थ परिस्सहणं च ण विहासीति (वसहई)'

द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमिन्धस्य प्रसाधक आचारे विद्यते—“अह पुण एव जाणेज्ज उपातिकते हेमंतेहि सुपडिवण्णे से अथापडिज्जुण्णमुच्चं पविट्ठावेज्ज” इति । हिमसमये शीतवाधासह परिगृह्य चेल तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणोपेक्ष ग्रहणमाख्यात । परिजोर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोध । प्रक्षालनाविकसस्कारविरहात्परिजोर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्य (स्या) त्यागकथनार्थं । पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्याग पात्र च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणापेक्ष वस्त्रपात्रग्रहण । यदुपकरण गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यम् । तस्मादस्त्र पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निदिष्टमिति ग्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्त-विरिस वीवरचारी तेण परमेवल्गो जिणोति ।—तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात् । कथं ? केचिद्वदन्ति 'तस्मिन्नेव दिने तदस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति' । अन्ये 'षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टकाशाखादिभिरिति' । 'साधिकेन

आचारागमे दूसरा सूत्र भी कारणकी अपेक्षा वस्त्र ग्रहणका साधक है—

'यदि ऐसा जाने हेमन्त वीत गया, ग्रीष्म ऋतु आ गई और वस्त्र जीर्ण नही हुआ तो स्थापित कर दे ।' अर्थात् ठंडके समय शीतकी बाधा न सहने पर वस्त्र ग्रहण कर ले । उसके चले जाने पर और ग्रीष्मके आनेपर वस्त्रको कही रख दे । इस प्रकार कारणकी अपेक्षा वस्त्रका ग्रहण कहा है ।

शङ्का—जीर्ण विशेषण देनेसे दृढ वस्त्र ही तो न छोड़े ?

समाधान—तब तो अचेलता कथनके साथ विरोध आता है । धोना आदि सस्कार न किये जानेसे वस्त्रको जीर्ण कहा है, मजबूत वस्त्रका त्याग न करनेके लिए नही कहा ।

शङ्का—सूत्रके द्वारा पात्रकी प्रतिष्ठापना कही है । अतः सयमके लिए पात्रका ग्रहण सिद्ध होता है ?

समाधान—नही, अचेलताका अर्थ है परिग्रहका त्याग । और पात्र परिग्रह है अतः उसका भी त्याग सिद्ध ही है । अतः कारणकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका ग्रहण कहा है । और जो उपकरण कारणकी अपेक्षा ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण ग्रहणकी विधि और गृहीत उपकरणका त्याग अवश्य कहना ही चाहिए । इसलिए बहुतसे (श्वेताम्बरीय) सूत्रोंमें जो अर्थाधिकारकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका कथन किया है वह कारण विशेषकी अपेक्षा कहा है—ऐसा ग्रहण करना चाहिये ।

और जो भावनामें कहा है कि 'जिन एक वर्षतक वस्त्रधारी रहे उसके बाद अचेलक रहे ।' उसमें बहुत विवाद है । कोई कहते हैं कि उसी दिन वह वस्त्र वीर भगवान्के किसी व्यक्तिने ले लिया था । दूसरोका कहना है कि वह वस्त्र छह मासमें काँटे शाखा आदिसे छिन्न हो गया ।

१ जादा आ० मु० । २ 'अह पुण एव जाणिज्जा-उवाइक्कते हेमते गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नाइ ।

वत्याइ परिट्ठविज्जा'—आचारा० ७।४।२०९ ।

वर्षेण तद्वस्त्रं खडलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति । केचिद्वातेन पतितमुपेक्षित जिनैरेति । अपरे वदन्ति 'विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति' । एव विप्रतिपत्तिबाहुल्यान् न दृश्यते तत्त्व । सचेललिङ्ग-प्रकटनाथं यदि चेलग्रहण जिनस्य कथ तद्विनाश इष्ट । सदा तद्वारयितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञात निरर्थक तस्य ग्रहणं । यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत् "आचेल'कको धम्मो पुरिमच्चरिआण" इति वचो मिथ्या भवेत् । तथा नवस्थाने यदुक्त "यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इवि होक्खविस्ति" तेनापि विरोध । किं च जिनानामितरेषा वस्त्रत्यागकाल वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्र तेषामपि भवेत् । एव तु युक्त वक्तु 'सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचि'दस वस्त्र निक्षिप्त उपसर्गस इति ।

इदं चाचेलताप्रसाधनपर शीतवशमशक्तुणस्पर्शपरीषहसहनवचन परीषहसूत्रेषु । न हि सचेल शीतावयो बाधन्ते । इमानि च सूत्राणि अचेलता दर्शयन्ति—

'परिणत्तेसु वस्येषु ण पुणो चेलमादिए ।' अचेलवचरे भिक्खु जिणरूबधरे सदा ।।

सचेलगो मुक्खी भववि अनुक्खी चावि अचेलगो । अहं तो सचेलो होक्खामि इवि भिक्खु ण चितए ।।

कोई कहते हैं कि एक वर्षसे कुछ अधिक होने पर उस वस्त्रको खडलक नामके ब्राह्मणने ले लिया था । कुछ कहते हैं कि हवासे वह वस्त्र गिर गया और जिनदेवने उसकी उपेक्षा कर दी । अन्य कहते हैं कि उस पुरुषने उस वस्त्रको वीर भगवान्के कन्धेपर रख दिया । इस प्रकार बहुत विवाद होनेसे इसमें कुछ तत्त्व दिखाई नहीं देता । यदि वीर भगवान्ने सबस्त्र वेष प्रकट करनेके लिए वस्त्र ग्रहण किया था तो उसका विनाश इष्ट कैसा हुआ । सदा उस वस्त्रको धारण करना चाहिये था । तथा यह वस्त्र विनष्ट होने वाला है ऐसा उन्हें ज्ञात था तो उमका ग्रहण निरर्थक था । यदि उन्हें यह ज्ञात नहीं था तो वीर भगवान् अज्ञानी ठहरते हैं । तथा यदि चेलप्रज्ञापना इष्ट थी तो 'प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धर्म अचेल था' यह वचन मिथ्या ठहरता है । तथा नव स्थानमें कहा है—'जैसे मैं अचेल हुआ जैसे ही अन्तिम तीर्थङ्कर अचेल होगा ।' उससे भी विरोध आता है । तथा अन्य तीर्थङ्करोंने भी वस्त्र धारण किया था तो वीर भगवान् की तरह उनका भी वस्त्र त्यागनेके कालका निर्देश क्यों नहीं है ? इसलिए ऐसा कहना युक्त है कि जब वीर भगवान् सर्वस्व त्याग कर ध्यानमें लीन हुए तो किसीने उनके कन्धे पर वस्त्र रख दिया । यह तो उपसर्ग हुआ ।

परीषहोका कथन करनेवाले सूत्रोंमें जो शीत, डाल-मच्छर, तृणस्पर्श परीषहोंके सहनेका कथन है वह अचेलताको सिद्ध करता है । वस्त्रधारोको शीत आदि बाधा नहीं पहुँचाते । तथा ये सूत्र भी अचेलताको बतलाते हैं—'वस्त्रोका त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करता । सदा भिक्षु अचेल होकर जिनरूपको धारण करता है । भिक्षु ऐसा विचार नहीं करता कि सबस्त्र सुखी होता है और अबस्त्र दुःखी होता है इसलिए मैं वस्त्र धारण करूँगा ।' वस्त्र रहित साधुको कभी शीत सताता है तो वह धामको चिन्ता नहीं करता, आलस त्याग सहन करता है । मेरे

१ 'आचेलको धम्मो पुरिमस्य पच्छिमस्स य जिणस्स ।' बु, कल्पम् भा० गा० ६३६९ ।

२ इस्त्रं वस्तु नि-आ० मु० ।

अचेल्लण सल्लहस्स (एत लल्लुअस्स) सोढं भवदि एग्वा ।  
 णात्तप से विच्चित्तेज्जो अचिसिञ्ज अलाइसो (?) ॥  
 ण ये णिवारणं अत्थि छाइवं ता ण विउअदि ।  
 अहं तावदिग्गि सेवामि इति भिक्खू ण जित्त ॥  
 अचेल्लमाण ल्लहस्स सजवस्स त्तवस्सिणो ।  
 तणेसु अत्तमाणस्स णं ते होदि विराचिदो ॥  
 एणेण ताव कप्पेण सवुडंगतिणस्सित्त ।  
 वंसावाए जो संपत्तिडं किमंगं पुण दोहकप्पेहि ॥

एतान्युत्तराध्ययने—

आचेल्लणको य जो धम्मो जो बाय सणत्तरो ।  
 वेत्तिदो वड्डमानेण पत्तेण अ महप्पणा ॥  
 एणधम्मो पवत्ताण बुविधा लिंगकप्पणा ।  
 उभएस्सि पविट्ठाणमह संसयमाणवा ॥

इति वचनाच्चरमतीर्थस्यापि अचेल्लता सिद्धयति ।

णगस्स य भु डस्स य दोहलोमणस्स य ।  
 भेड्डणादो चिरत्तस्स कि विभूसा करिस्सवि ॥

इति दशवैकालिकायामुक्त । एवमाचेल्लवय स्थितिकल्प ।

श्रमणानुद्दिश्य कृत भक्तादिक उद्देशिमित्युच्यते । तच्च षोडशविध आधाकर्मादिविकल्पेन । तत्परि-  
 हारो द्वितीय स्थितिकल्प । तथा चोक्त कल्पे—

सोलसविधमुहंस वज्जेवञ्चति पुरिमच्चरिमाणं ।  
 तित्तणगराण तित्त्वे ठिक्कप्पो होदि विविओ ह्ण ॥

सेज्जाधरशब्देन त्रयो भण्यन्ते वसति य करोति । कृता वा वसति परेण भग्ना पतितकदेशा वा

पास शीत दूर करनेका कोई साधन नहीं है न कोई छाजन ही है । मैं आगका सेवन करूँ ऐसा भिक्षु विचार नहीं करता । जो तपस्वी अचेल होनेसे भारमुक्त है वह समयकी विराचना नहीं करता । उत्तराध्ययन सूत्रमें किसी गौतमसे प्रश्न करता है—जो यह वर्धमान भगवान्ने अचेलक धर्म कहा है और भगवान् पादर्वने 'सान्तरोत्तर' धर्म कहा है । एक ही धर्मके मानने वालोमें दो प्रकारके लिंगकी कल्पनासे मैं संशयमें पड़ा हूँ । इस कथनसे अन्तिम तीर्थकी भी अचेलता सिद्ध होती है ।

दशवैकालिक सूत्रमें कहा है—नग्न, मुण्डित और दीर्घ नख और रोम वाले तथा मंथुनसे विरक्त साधुको आभूषणोंसे क्या प्रयोजन है । इस प्रकार आचेलवय स्थितिकल्प है ।

२. श्रमणोंके उद्देशसे बनाये गये भोजनादिको औद्देशिक कहते हैं । अध.कर्म आदिके भेद-से उसके सोलह प्रकार हैं । उसका त्याग दूसरा स्थितिकल्प है । कल्पमें कहा है—प्रथम और अन्तिम तीर्थकरोंके तीर्थमें सोलह प्रकारका उद्दिष्ट छोड़ने योग्य है । यह दूसरा स्थितिकल्प है ।

३ 'शय्याधर' शब्दसे तीन कहे जाते हैं—जो वसति बनाता है, दूसरेके द्वारा बनाई गई

संस्करोति, यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यत्रास्वेति । एतेषा पिण्डो नामाहार, उपकरणं वा प्रतिलेखनादिक शय्याधरपिण्डस्तस्य परिहरणं तृतीय स्थितिकल्पः । सति शय्याधरपिण्डग्रहणं<sup>१</sup> प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिक ।<sup>२</sup> धर्मफललोभाद्यो वा आहार दातुमस्मो दरिद्रो लुम्बो वा न चासौ वसति प्रयच्छेत् । सति वसती आहारादाने लोको मा निन्दति-स्थिता वसतावस्य<sup>३</sup> यतयो न चानेन मन्दाभाष्येन तेषा आहारो दत्त इति । यते स्नेहः स्यादाहार वसति च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया । तत्पिण्डग्रहणं तु नोक्तदोषसम्पर्कः ।

**राजपिण्डग्रहणं चतुर्थः स्थितिकल्पः** । राजशब्देन इवामुप्रभृति कुले जाता । राजते प्रकृति रञ्जयति इति वा<sup>४</sup> राजा राजसदृशो महद्विको भण्यते । तस्य पिण्ड तत्स्वामिको राजपिण्डः । स त्रिविधो भवति । आहारः, अनाहारः, उपधिरिति । तत्राहारश्चतुर्विधो अशनादिभेदेन । तृणफलकपीठादि अनाहारः, उपधिर्नाम प्रतिलेखन वस्त्र पात्रं वा । एवभूतस्य राजपिण्डस्य ग्रहणे को दोषः इति चेत् अत्रोच्यते—द्विविधा दोषा आत्म-समुत्था परकृताश्चेति । द्विविधा परसमुत्था मनुजतिर्यत्कृतविकल्पेनेति । तिर्यक्कृता द्विविधा ग्रामारण्यपशु-भेदात् । ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति । हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्ड्रा, श्वानश्च ग्राम्या दुष्टाः ।

वसतिको टूटने पर या उसका एक हिस्सा गिर जाने पर जो उसको मरम्मत कराता है, जो न करता है न मरम्मत कराता है केवल देता है कि यहाँ ठहरिये । उनका पिण्ड अर्थात् भोजन, उपकरण अथवा प्रतिलेखना आदि शय्याधर पिण्ड कहाता है । उसका त्याग तीसरा स्थितिकल्प है । शय्याधरका पिण्ड ग्रहण करने पर वह धर्मके फलके लोभसे छिपाकर आहार आदिकी योजना कर सकता है । अथवा जो दरिद्र या लोभो होनेसे आहार देनेमें असमर्थ है वह ठहरनेका स्थान नहीं देगा क्योंकि वसतिमें ठहराकर आहार न देने पर लोक मेरी निन्दा करेगे कि इसकी वसतिमें यतिगण ठहरे और इस अभागने उन्हें आहार नहीं दिया । तथा आहार और वसति देने वाले पर यतिका स्नेह हो सकता है कि इसने हमारा बहुत उपकार किया है । किन्तु शय्याधरका आहार ग्रहण न करने पर उक्त दोष नहीं होते । ४ राजपिण्डका ग्रहण न करना चतुर्थ स्थितिकल्प है । राज शब्दसे इवामु आदि कुलमें उत्पन्न हुआका ग्रहण किया जाता है । जो 'राजते' शोभित होता है या जनताका रजन करता है वः राजा है । राजाके समान सम्पत्तिशाली भी राजा कहलाता है । उसका पिण्ड अर्थात् जिस पिण्डका वह स्वामी होता है, वह राजपिण्ड है । उसके तीन भेद है—आहार, अनाहार और उपधि । अशन आदिके भेदसे आहारके चार भेद है । तृणोका फलक, आसन आदि अनाहार है । प्रतिलेखन, वस्त्र पात्रका उपधि कहते हैं ।

**शङ्का**—इस प्रकारके राजपिण्डके लेनेमें क्या दोष है ?

**समाधान**—दो प्रकारके दोष है एक आत्मसमुत्थ-स्वय किया, और दूसरा परसमुत्थ । पर-समुत्थके दो भेद है—एक मनुष्यकृत और एक तिर्यक्कृत । तिर्यक्कृतके दो भेद है—एक ग्रामोण पशुके द्वारा किया गया और एक जगलों पशुके द्वारा किया गया । इन दोनों प्रकारके भी दो भेद है—दुष्टके द्वारा और भद्रके द्वारा किया गया । गाँवके घोड़े, हाथी, गाय, भैंस, भेड़, कुत्ते दुष्ट होते हैं । दुष्टोंसे संयमियोका उपघान होता है । भद्र हुए तो संयमीको देखकर भागने पर गिरकर

१ पिण्डग्रहण-अ० आ० ।

२ फलेभाष्ये वा-अ० । फलेभोयो वा-आ० ।

३ वसताववमा यत-अ० । वसत्यवसत्यवसाधते-आ० ।

४ वा राजा सदा अ० ।



दुष्टेभ्य संयतोपघातः । भद्रा पलायमानाः स्वय दुःखिताः पातेन अभिघातेन वा व्रतितो मारयन्ति वा घातनोल्लङ्घनादिपरा प्राणिन । आरभ्यकास्तु व्याघ्रक्रव्याददीपिनो, वानरा वा राजगृहे बन्धनमुक्ता यवि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्तिर्भद्राश्चेत्तत्पलायने पूर्वदोष । मानुषास्तु ईश्वरा तल्लवरा म्लेच्छा, भटा, प्रेष्या, दासा दास्य, इत्यादिका । तैराकुलत्वात् दुःप्रवेशन राजगृहं प्रविशन्तं भत्ता, प्रमत्ताः, प्रभूवित्ताश्च दासादय उपहसन्ति, आक्रोशन्ति वारयन्ति उल्लङ्घयन्ति वा । अब्रह्मदा या स्त्रियो मेषुनसन्नया बाध्यमाना पुत्राणिन्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति भोगार्थम् । विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिक परे गृहीत्वा अत्र संयता आयाता इति दोषमध्यारोपयन्ति । राजा विश्वस्त श्रमणेषु इति श्रमणरूप गृहीत्वागत्य दुष्टा खलीकुर्वन्ति । ततो ष्टा अविवेकिनः दूषयन्ति श्रमणान्मारयन्ति ब्रह्मन्ति । वा एते परसमुद्भवा दोषा । आत्मसमुद्भवान्स्तूचयन्ते । राजकुले आहार न शोषयति अदुष्टमाहृत च गृह्णाति । विकृतिसेवनाश्यालदोषः, मन्दभाग्यो वा दुष्टवानर्घ्यं रत्नादिक गृह्णीयादामलोचना वा सुरूपा समबलोचयानुरक्ततासु भवेत् । ता विभ्रूति, अन्त पुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदानं कुर्यात् । इति दोषसम्भो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते । म्लानार्थं राजपिण्डोऽपि दुर्लभं द्रव्य । अगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो मामूयति ।

चरणरथेनापि विनयो गुरुणा महतराणां शुभूषा च कर्तव्येति पञ्चमः कृतिकर्मसजित स्थितिकल्पः ।

या चोट खाकर स्वय दुःखो होते है अथवा दौडते हुए व्रतियोंको मारते है । जगलके रहने वाले व्याघ्र, सिंह, बन्दर यदि राजाके आंगनमे खुले घूमते ही और क्षुद्र हो तो उनसे अपने पर विपत्ति आ सकती है । यदि भद्र हुए तो यतिको देखकर दौडने पर स्वय चोट खा सकते है या यतिकोको चोट पहुँचा सकते है । मनुष्य स्वामी, कोतवाल, म्लेच्छ, योद्धा, सेवक दास दासी आदि अनेक है । राजका घर इन सबसे भरा होनेसे उसमे प्रवेश करना कठिन है । मत्त, प्रमत्त, और हर्षसे उत्फुल्ल दास आदि यतिको देखकर हँसते है, चिल्लाते है, रोकते है, अवज्ञा करते है । कामसे पीडित स्त्रियाँ अथवा पुत्र प्राप्तिको इच्छुक स्त्रियाँ बलपूर्वक भोगके लिए साधुको अपने घरमें ले जाती है । राजगृहमे पड़े हुए रत्न सुवर्ण आदिको दूसरे ग्रहण करके यह दोष लगा सकते है कि यहाँ साधु आये थे । राजाका श्रमणो पर विश्वास है ऐसा जानकर दुष्ट लोग श्रमणका रूप रखकर दुष्ट काम कर सकते है । तब रुष्ट होकर अविवेकी पुरुष श्रमणोको दोष देते है, उन्हें मारते और बाँधते है । ये परसे उत्पन्न हुए दोष है ।

अब आत्मासे हुए दोष कहते है—राजकुलमें आहारका शोधन नहीं होता, बिना देखा और छीना हुआ आहार ग्रहण करना होता है । सदोष आहार लेनेसे इगाल दोष होता है । कोई अभागा साधु बहुमूल्य रत्नादि देखकर उठा सकता है अथवा सुन्दर स्त्रियोको देखकर उनपर अनुरक्त हो सकता है । उस विभ्रूति, अन्त-पुर और बाजारू स्त्रियोको देखकर निदान कर सकता है कि मुझे भी ये वस्तुएँ प्राप्त हों । इस प्रकारके दोष जहाँ सम्भव हो वहाँ राजाका आहार नहीं लेना चाहिए । सर्वत्र लेनेका निषेध नहीं है । रोगीके लिए राजपिण्ड भी दुर्लभ होता है । अथवा कोई ऐसा कारण उपस्थित हो कि साधुका मरण बिना भोजनके होता हो और साधुके मरनेसे श्रुतका विच्छेद होता हो तो राजपिण्ड ले सकते है कि श्रुतका विच्छेद न हो ।

५ चारित्रमे स्थित साधुके द्वारा भी महान् गुरुओंकी विनय सेवा करना पाँचवाँ कृतिकर्म नामक स्थितिकल्प है ।

श्रातजीविकावस्थे दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति वृष्ट. स्थितिकल्प. । अचेलताया स्थित उद्दे-  
शिकराजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिद्विनीतो व्रतारोपणार्हो भवति । उक्त च—

आचेलकके य ठिवो उद्देसादी य परिहरवि दोसे ।  
गुरुभक्तिको विणोओ होबी बदाण सवा अरिहो ॥ [ ]

इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुख' स्थिताभ्यो विरतिभ्यः, श्रावकश्राविकावर्षाय च  
व्रतं पयच्छेत् । स्वयं स्थित सूरि. स्ववामे देशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात् । उक्त च—

विरवी सावगवग्गं च णिचिट्टु ठविय तं च सपडिमूखे ।  
विरव च ठिवो वामे ठवियं गणिवो उपट्ठाओ उवट्ठवेज्ज ॥ [ ]

इति ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमण व्रत वृत्तिकरण छादन संवरो विरतिरित्येकार्थः । उक्त च—

णाऊण अब्भुवेच्चव पावाण विरमण बव होई ।  
विदिकरण छावण सवरो विरविति एगट्टो ॥ [ ]

इति । आद्यपाश्चात्स्थतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणवष्टानि पंच महाव्रतानि । तत्र प्राणवियोगकरण  
प्राणिन प्रमत्तयोगात्प्राणव्यवस्ततो विरतिरहिंसाव्रत । व्यलीकभाषणेन दुःख प्रतिपद्यन्ते जीवा इति मत्वा  
वशावतो यत्सत्याभिधानं तद्विद्वितीय व्रत । ममेदमिति सकल्पोपनीतद्रव्यवियोगं दुःखिता भवन्ति इति सद्यया

६ जीवोके भेद-प्रभेदोको जानने वालेको ही नियमसे व्रत दना चाहिए । यह छठा स्थिति-  
कल्प है । जो अचेलतामें स्थित हो, उद्दिष्ट और राजपिण्डका त्याग करनेमें तत्पर हो, गुरुकी  
भक्ति करने वाला हो, विनयी हो, वही व्रत देनेके योग्य होता है । कहा है—

'जो अचेलकपनेमें स्थित है और उद्दिष्ट आदि दोषोका सेवन नहीं करता, गुरुका भक्त  
और विनीत है वह सदा व्रतोको धारण करनेका पात्र होता है ।' यह व्रत देनेका क्रम है— गुरु-  
जनोके स्वयं रहते हुए आचार्य स्वयं स्थित हाकर सामने स्थित विरत स्त्रियोको श्रावक श्राविका  
वर्गको व्रत प्रदान करे । तथा अपने वाम देशमें स्थित विरतोको व्रत प्रदान करे । कहा है—

'विरत स्त्रियोको और श्रावक वर्गको अपने सामने स्थित करके और विरत पुरुषोको  
अपने वाम भागमें स्थापित करके गणि व्रत प्रदान करे ।' इस प्रकार जानकर तथा श्रद्धा करके  
पापोंसे विरत होना व्रत है । वृत्तिकरण छादन, सवर और विरति, ये सब शब्द एकार्थक है ।  
कहा है—'जानकर और स्वीकार करके पापोसे विरत होना व्रत है । वृत्तिकरण, छादन, संवर,  
विरति ये सब एकार्थक है ।'

प्रथम और अन्तिम तीर्थं करके तीर्थमें रात्रिभोजन त्यागनामक छठे व्रतके साथ पाँच महा-  
व्रत होते हैं । प्रमादयुक्तभावके सम्बन्धसे प्राणिके प्राणोका वियोग करना हिंसा है और उससे  
विरति अहिंसा व्रत है । झूठ बोलनेसे जीव दुःखो होते हैं ऐसा मानकर दयालु पुरुषका सत्य  
बोलना दूसरा व्रत है । जिसमें 'यह मेरा है' ऐसा सकल्प है उस द्रव्यके चले जानेपर जीव दुःखी  
होते हैं । इसलिए उसपर दया करके बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें विरत होना तीसरा व्रत है ।

अदत्तस्यादानाद्विरमण तृतीयं व्रतम् । सर्वपूण्यां नाल्यां तसायसशस्त्राकाप्रवेशनवद्योनिद्वारस्थानेकजीवपीडा-  
साधनप्रवेशेनेति तडाषापरिहारार्थं तीव्रो रागाभिवेशः कर्मबन्धस्य महतो मूल इति ज्ञात्वा श्रद्धावद्-  
मैयुनाद्विरमण चतुर्थं व्रतम् । परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूल भूच्छान्निमित्त चेति सकलग्रन्थत्वात्  
भवति इति पञ्चम व्रतम् । तेषामेव पञ्चानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनचिरमर्षं बन्धं व्रतम् । सर्वजीवविषयम-  
हिंसाव्रत अवत्तपरिग्रहत्यागी सर्वद्रव्यविषयौ द्रव्यकदेशविषयाणि शेषव्रतानि । उक्तं च—

‘पदधम्मि सव्वजीवा तद्धिये चरिमे य सव्वदब्बाहं ।

सेसा महब्बवा खलु तवेकदंसम्मि दब्बाणं ॥ [आवश्यक ७९१ गा०]

पञ्चमहाव्रतधारिण्यादिचरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवति अधुनाप्रव्रजित पुमान् इत्येष सप्तम.  
स्थितिकल्प. पुरुषज्येष्ठत्व । पुरुषत्व नाम सग्रह उपकार, रक्षा च कर्तुं समर्थ. । पुरुषप्रणीतश्च धर्मः  
इति तस्य ज्येष्ठता । तत सर्वाभि सयताभि विनय कर्तव्यो विरतय । येन च स्त्रियो लघ्व्य.  
परप्रार्थनीया, पररक्षापेक्षिण्य, न तथा पुमास इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्व । उक्तं च—

जेणित्थो तु लघुसिगा परप्पसज्जा य पच्छणिज्जाय ।

भीरु अरक्खणज्जेति तेण पुरिसो भवदि जेहो ॥ [ ]

अचेलतादिकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमण कर्तव्यमित्येषोऽष्टम स्थितिकल्प । नामस्थापना-  
द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन पृथिव्य प्रतिक्रमणं । भट्टिणी भट्टदारिगा इत्याद्ययोग्यनामोच्चारण कृतवतस्तत्परि-

सरसोसे भरी हुई नलोमे तपाई हुई लोहकी कीलके प्रवेशकी तरह योनिद्वारमे स्थित अनेक जीवो-  
को लिंगके प्रवेशसे पाडा हांती है । उस पीडाको दूर करनेके लिए ‘रागका तीव्र अभिनिवेश महान्  
कर्मबन्धका मूल है’ ऐसा जानकर और श्रद्धा करके मैयुनसे विरत होना चतुर्थ व्रत है । परिग्रह  
छद्मकायके जीवाको पीडा पडवानेका मूल है और ममत्वभावमें निमित्त है ऐसा जानकर समस्त  
परिग्रहका त्याग पाँचवां व्रत है । ऊन्ही पाँच व्रतोंका पालन करनेके लिए रात्रि भोजनका त्याग  
छटा व्रत है । अहिंसाव्रतका विषय सब जीव हैं अर्थात् सब जीवोंकी हिंसाका त्याग उसमे है ।  
विना दी हुई वस्तुका त्याग और परिग्रहका विषय भी सब द्रव्य है । अर्थात् अचौर्यव्रती विना  
दिया हुआ कोई भी ऐसा द्रव्य नही लेता जिसका कोई स्वामी है । परिग्रहका त्यागी भी सब  
द्रव्योका त्याग करता है । किन्तु शेष व्रत द्रव्योके एकदेशको विषय करते हैं । कहा है—

‘प्रथम व्रतमे सब जीव, तीसरे और अचौर्यव्रतमें सब द्रव्य तथा शेष महाव्रत द्रव्योंके  
एकदेशमे होते हैं ।’

७ चिरकालसे दीक्षित और पाँच महाव्रतोंकी धारी आर्यिकासे तत्काल दीक्षित भी पुरुष  
ज्येष्ठ होता है । इस प्रकार पुरुषकी ज्येष्ठता सातवां स्थितिकल्प है । पुरुषत्व कहते हैं संग्रह,  
उपकार और रक्षा करनेमे समर्थ होना । धर्म पुरुषके द्वारा कहा गया है इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता  
है । इसलिए सब आर्यिकाओको साधुकी विनय करनी चाहिए । यतः स्त्रियाँ लघु होती है, परके  
द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य होती हैं । दूसरेसे अपनी रक्षाकी अपेक्षा करती हैं । पुरुष ऐसे नहीं  
होते इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है । कहा है—‘यतः स्त्री लघु होती है, दूसरेके द्वारा प्रसाध्य  
होती है, प्रार्थनीय होती है, डरपोक होती है, अरक्षणीय होती है इसलिए पुरुष ज्येष्ठ होता है ।’

८. अचेलता आदि कल्पमें स्थित साधुके यदि अतिचार लगता है तो उसे प्रतिक्रमण करना  
चाहिए । यह आठवां स्थितिकल्प है । नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह

हरणं नामप्रतिक्रमणं । असंयतमिध्यादृष्टिजीवप्रतिबिम्बपूर्वाविषु प्रवृत्तस्य तत्रतिक्रमणं स्थापनाप्रतिक्रमणं । सच्चित्तमच्चित्तं मित्रमिति त्रिविकल्पं द्रव्यं तस्य परिहरणं द्रव्यप्रतिक्रमण । त्रसस्थावरबहलस्य स्वाध्याय-  
ध्यानविघ्नसंपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रप्रतिक्रमण । संध्यास्वाध्यायाकालादिवु गमनागमनाविपरिहारः  
कालप्रतिक्रमणं । मिध्यात्वासंयमकषाययोगेभ्यो निवृत्तिभावप्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणसहितो धर्मः आद्यपाश्चात्य-  
योजिनयोः जातापराधप्रतिक्रमणं मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति ।<sup>१</sup>

‘आलोचनास्तुविचसिग राशिग इतिरियभिक्लचरिया य ।

पक्षिस्य चाउम्मासिय संबच्छर उत्तमद्वेय ॥ एते आलोचनाकल्पा ।’

पडिकमणं राशिग देवसिगं इतिरियभिक्लचरिया य ।

पक्षिस्य चाउम्मासिय संबच्छर उत्तमद्वेय य ॥ [ ]

अमी प्रतिक्रमणभेदा आद्यस्ततीर्थकरप्रणीते पचयमे धर्मे, इतरत्र च चतुर्थमे प्रतिक्रमणस्य कालनियम  
उक्त । यदायमतिचारं प्राप्तस्तदा प्रतिक्रमणमध्यात्मिक दर्शन । उक्तं च—

‘क्षमनो याजेत्सो विद्य दूरायावो य सक्लसमनो वि ।

सुमनो वि यद्वि य सद्बो जागरमाणो वि अगवो वि ॥

ठावशिगो आवरिय गावउन्नासि मग्निमजिगेसु ।

ण पडिकमणं तेण दु जे शात्तिकमदि सो गेव ॥ [ ]

प्रकारका प्रतिक्रमण होता है । भट्टिणी, भतु<sup>१</sup>दारिका इत्यादि अयोग्य नामका उच्चारण करनेपर उसका परिहार करना नाम प्रतिक्रमण है । असंयत मिध्यादृष्टि जीवके प्रतिबिम्बकी पूजा आदि करनेवाला जो उसका प्रतिक्रमण करता है वह स्थापना प्रतिक्रमण है । सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका द्रव्य होता है उसका परिहार द्रव्य प्रतिक्रमण है । जो क्षेत्र त्रस और स्थावर जीवोंसे भरा है, स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न करनेवाला है उसका परिहार क्षेत्र प्रतिक्रमण है । सन्ध्याके समय, स्वाध्यायके समय तथा असमयमे गमन आगमन आदिका परिहार-  
कालप्रतिक्रमण है । मिध्यात्व असयम, कषाय और योगसे निवृत्ति भावप्रतिक्रमण है । प्रथम और अन्तिम तीर्थकरका धर्म प्रतिक्रमण सहित है अर्थात् प्रतिक्रमण करना ही चाहिए । और मध्यके बाईस तीर्थ कर दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमणका उपदेश करते हैं । आलोचना देवसिक, रात्रिक, इतिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, उत्तमार्थ—ये दस आलोचनाकल्प है ।

देवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, इतिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक और उत्तमार्थ ये प्रतिक्रमणके भेद हैं । आदि और अन्तिम तांर्थकरके द्वारा कहे पाँच महाव्रतरूप धर्ममें और अन्य तीर्थकरोंके द्वारा कहे चार यमरूप धर्ममें प्रतिक्रमणके कालका नियम कहा है । जब साधु अतिचार लगाता है तब प्रतिक्रमण आध्यात्मिक दर्शन है । कहा है—

[इन गाथाओंका शुद्धपाठ न मिलनेसे अर्थका सगुटीकरण नहीं हो सका है ।] चौबीस तीर्थ करोंमेंसे मध्यके बाईस तीर्थकरोंके साधुओंके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक नहीं है । दोष

१. पडिकमण देवसिगं राश्व च इतिरियभावकहिय च ।

पक्षिस्य चाउम्मासिय संबच्छर उत्तमद्वेय ॥—आव० ४ अ० । (अभि० रा०, पंडक०)

२. सुमिसिगं विद्यसधं ।

सव्वादिषु वि पविस्ती आदिय अंतन्मि सौ पडिष्कमवि ।

मज्झिमया ज्ञोति य अमज्जसमाणं हुबे उमयं ॥

इरियं गीयर सुमिणादि सब्बमाचरुं मा व आचरुं ।

पुरिम चरिसेसु सब्बो सब्बं पियमा पडिष्कमवि ॥ [मूलाचार ७।३१]

मध्यमतीर्थकरशिष्या दृढबुद्धय, एकाग्रचित्ता, अमोषलक्ष्यास्तस्माद्यदाचरित तद्गर्हया शुद्धयति । इतरे तु चलचित्ता न लक्षयन्ति स्वापराधांस्तेन सर्वं प्रतिक्रमण उपदिष्ट जिनाभ्या अंधघोटकट्टणान्तन्यायेन ।

ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यथा विहरति इत्ययं नवम स्थितिकल्प । एकत्र चिर-कालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षम । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाप्राहिता च बोधा । पञ्जोसमणकल्पो नाम वशम । वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थान भ्रमणस्याग । स्थावरजगमजीवाकुला हि तदा धितिः । तदा भ्रमणे महानसयम वृट्पथा शीतवातपातेन च वात्मविराघना । पतेद् वाप्यादियु स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नेज्जलेन कर्हमेन वा वाघ्यत इति विशात्यधिक

लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते हैं । इसी बातको इन गाथाओंमें कहा है) शब्दादि विषयोंमें प्रवृत्ति होनेपर आदि और अन्तिम तीर्थं करोंके साधु प्रतिक्रमण करते ही हैं । मध्यम तीर्थं करोंके साधु करते भी है और नहीं भी करते ।

ईर्ष्यासमिति, गोचरी और स्वप्न आदिमें अतिचार लगे या न लगे । किन्तु प्रथम तीर्थं कर और अन्तिम तीर्थं करके शिष्य सब प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढते हैं अर्थात् अतिचार नहीं लगनेपर भी उन्हें प्रतिक्रमण करना होता है ।'

मध्यम बाईस तीर्थं करोंके शिष्य दृढ बुद्धिवाले, एकाग्रचित्त और अव्यर्थ लक्षवाले होते है । इसलिए अपने आचरणकी गहा करनेसे शुद्ध होते है । किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थं करके शिष्य चंचल चित्त होनेसे अपने अपराधोको लक्षमें नहीं लेते । इसलिए प्रथम और अन्तिम तीर्थं करने सबके लिए प्रतिक्रमण करनेका उपदेश दिया है । इसमें अन्ध घोड़ेका दृष्टान्त दिया जाता है । जैसे घोड़ेके अन्धे होनेपर अनजान वेद्यपुत्रने अपने पिताके अभावमें उसपर सब दवाइयोका प्रयोग किया तो घोडा ठीक हो गया । इसी तरह अपने दोषोंसे अनजान साधु भी प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है ।

९ छह ऋतुओंमें एक-एक महीना ही एक स्थानपर रहना और अन्य समयमें विहार करना नवम स्थितिकल्प है । एक स्थानमें चिरकाल ठहरनेपर नित्य ही उद्गमदोष लगता है । उसे टाला नहीं जा सकता । तथा एक ही स्थानमें बहुत समयतक रहनेसे क्षेत्रसे बंध जानेका, सुखशीलता, आलसीपना, सुकुमारताकी भावना तथा जाने हुएसे भिक्षा ग्रहण करनेके दोष लगते हैं ।

१० पञ्जोसमण नामक दसवाँ कल्प है । उसका अभिप्राय है वर्षाकालके चारमासोंमें भ्रमण त्यागकर एक ही स्थानपर निवास करना । उस कालमें पृथिवी स्थावर और जगम जीवोंसे व्याप्त रहती है । उस समय भ्रमण करनेपर महान् असंयम होता है । तथा वर्षा और शीतवायुके बहुनेसे आत्माकी विराघना होती है । वापी आदिमें गिरनेका भय रहता है । जलादिमें छिपे

दिवसगत एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः । कारणापेक्षया तु हीनमधिक वावस्थान, सयताना आषाढशुद्धदशम्यां स्थिताना उपरिष्ठाच्च कार्तिकपूर्णिमास्यास्त्रिंशद्विंशत्सावस्थानं । वृष्टिबहुलता, श्रुतग्रहणं, शक्यमावधैवाव्यकरण प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रैति उत्कृष्ट काल । मार्या, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलेन वा गच्छनाश-निमित्ते समुपस्थिते देशांतरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति । पूर्णिमास्यामाषाढाधामतिक्रान्तायां प्रतिपदाविषु दिनेषु याति । यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतवपेक्ष्य होनता कालस्य । एष दशमः स्थितिकल्पः ।

हुए ठूँठ, कण्ठक आदिसे अथवा जल कीचड़ आदिसे कण्ठ पहुँचता है । इसलिए एक सौ बीस दिनतक एकस्थानपर रहना उत्सर्गरूप नियम है । कारणवश कम या अधिक दिन भी ठहरते हैं । आषाढ शुक्लादशमीको ठहरनेवाले साधु आगे कार्तिककी पूर्णिमासीको पश्चात् तीस दिन ठहर सकते हैं । वर्षाकी अधिकता, शास्त्रपठन, शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करनेको उद्देश से एकस्थानपर ठहरनेका यह उत्कृष्टकाल है । इस बीचमें यदि मारी रोग फैल जाये, दुर्भिक्ष पड़ जाये या गच्छका विनाश होनेके निमित्त मिल जाये तो देशान्तर चले जाते हैं क्योंकि वहाँ ठहरनेपर भविष्यमें रत्नत्रयकी विराधना हो सकती है ।

आषाढकी पूर्णिमासी बीतने पर प्रतिपदा आदिके दिन देशान्तर गमन करते हैं । इस तरह बीस दिन तक कम होते हैं । इस अपेक्षा कालकी हीनता होती है । यह दसवाँ स्थितिकल्प है ।

**विशेषार्थ—**श्वेताम्बर परम्परामें भी ये ही दस कल्प माने गये हैं । किन्तु उनमेंसे चार स्थितिकल्प हैं और छह अस्थितिकल्प हैं । शय्यातर पिण्ड, चातुर्याम, पुरुषकी ज्येष्ठता और कृत्तिकर्म य चार कल्प स्थित हैं । अर्थात् मध्यम बार्हस्पतीयकरोके साधु और महा विदेहोंके साधु शय्यातर पिण्ड ग्रहण नहीं करते, चतुर्याम रूप धर्मका पालन करते हैं, पुरुषकी ज्येष्ठता पालते हैं अर्थात् चिरदीक्षित आधिका भी उसी दिनके दीक्षित साधुको नमस्कार करती है । तथा सब कृत्तिकर्म करते हैं । आचेलक, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मास और पर्युषण ये छह कल्प मध्यम तीर्थकरोके तथा महाविदेहके साधुओंके लिए अनवस्थित हैं । यदि वस्त्र धारण करनेसे वस्त्रको लेकर रागद्वेष उत्पन्न होता है तो अचेल रहते हैं अन्यथा सचेल रहते हैं । साधुओंके उद्देशसे बनाया भोजन उद्दिष्ट होनेसे सदीष होता है । किन्तु उक्त तीर्थकरो और महाविदेहोंके साधु अपने उद्देशसे बना भोजन नहीं लेते । अन्य साधुओंके उद्देशसे बना भोजन ले लेते हैं । प्रतिक्रमण भी दोष लगने पर करते हैं, अन्यथा नहीं करते । राजपिण्डमें यदि कहे गये दोष होते हैं तो ग्रहण नहीं करते । यदि एक क्षेत्रमें रहने पर दोष न हो तो पूर्वकोटी काल भी रहते हैं । दोष हो तो मास पूर्ण नहीं होने पर भी चल देते हैं । पर्युषणामें भी यदि वर्षामें बिहार करने पर दोष हो तो एक क्षेत्रमें रहते हैं दोष न हो तो वर्षाकालमें भी बिहार करते हैं । श्वेताम्बर परम्परामें प्राकृतमें दसवें कल्पका नाम 'पञ्जोसवणा' है उसका संस्कृत रूप पर्युषणाकल्प है । इसीसे भादोके दश लक्षण पर्वको पर्युषण पर्व भी कहते हैं । श्वेताम्बर परम्परामें इसका उत्कृष्ट काल आसाढी पूर्णिमासे कार्तिकी पूर्णिमा तक चार मास है । जपन्य काल सत्तर दिन है । भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे कार्तिककी पूर्णिमा तक सत्तर दिन होते हैं । सम्भवतः इसीसे दिग्म्बर परम्परामें पर्युषण पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे प्रारम्भ होता है । इस कालमें साधु बिहार नहीं करते ।

एदेसु दससु णिच्चं समाहिदो णिच्चवज्जभीरू य ।

खवयस्स विसुद्धं सो जधुत्तचरियं उवविषेदि ॥४२४॥

'एदेसु दससु णिच्चं' एतेषु दशास्थितिकल्पेषु नित्यं । 'समाहिदो' समाहित । 'णिच्चवज्जभीरू य' नित्य पापभीरुः । 'खवयस्स' क्षपकस्म । 'विसुद्धं जधुत्तचरियं' यथाक्ता चर्या । 'सो उवविषेदि' स विदधाति ॥४२४॥

निर्यापकस्य सूरेराचारवत्त्वे क्षपकस्य गुण व्याचष्टे—

पंचविधे आयारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ ।

सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुट्ठु आयारे ॥४२५॥

'पंचविधे आयारे समुज्जदो' पञ्चप्रकारे आचारे समुद्यतः । 'समिदचेट्ठाओ' सम्प्रक् प्रवृत्ता सर्वा-  
चेष्टा यस्य स । 'सुट्ठु उज्जमेदि' सुष्ठु उद्योग कारयति । 'खवयं' क्षपकं । क्व ? 'पंचविधे' आचारे ॥४२५॥

यः आचारवान् भवति तदाश्रयणे दोषमाचष्टे—

सेज्जोवधिसंधारं भसं पाणं च चयणकप्पगदो ।

उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरणं वा असंविग्गे ॥४२६॥

'सेज्जं' वसति । 'उवधि' उपकरण । 'संधारभसपाणं च' सस्तर भक्तमान च । 'असुद्ध' उद्गमा-  
दिदोषोपहत । 'उवकप्पेज्ज' उपकल्पयेत् । क 'चयणकप्पगदो' ज्ञानाचारादिकादोषच्यवनमुपगत 'पडिचरणं  
वा' प्रतिचारकान्वा योजयेत् । 'असंविग्गे' असंविग्नात् । एवमसयमे कृते महात्मकर्मबन्धो भविष्यति ततोऽप्राप्तक  
महती ससृतिरनेकापन्मूलेति भयरहितान् ॥४२६॥

सल्लेहणं पयासेज्ज गंधं मल्लं च समणुजाणिज्जा ।

अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज सह्रं व जंपिज्ज ॥४२७॥

'सल्लेहणं पयासेज्ज' सल्लेखना प्रकाशयेत् लोकस्य । 'गंधं मल्लं च समणुजाणेज्ज' गन्ध माल्य  
वानुजानीयात् । गन्धमाल्यानयनमभ्युपगच्छेत् । 'अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज' अप्रयोग्या वा कथा कथयेत्

गा०—इन दस कल्पोंमें जो सदा समाधान युक्त रहता है और नित्य पापसे डरता है वह  
आचार्य क्षपक ऊपर कहे विशुद्ध आचरणको पालन कराता है ॥४२४॥

निर्यापकाचार्यके आचारवान होने पर क्षपकका लाभ बतलाते है—

गा०—जो आचार्य पांच प्रकारके आचारमे तत्पर रहता है और जिसकी सब चेष्टाएँ  
सम्यग्रूपसे होती हैं वह क्षपकसे पांच प्रकारके आचारमे उद्योग कराता है ॥४२५॥

जो आचार्य आधारवान नहीं होता, उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते है—

गा०—ज्ञानाचार आदिसे थोडा सा च्युत हुआ आचार्य उद्गम आदि दोषोसे दूषित अशुद्ध  
बसति, उपकरण, सस्तर और भक्तपानकी व्यवस्था करेगा । तथा ऐसे परिचारक मुनियोंको नियुक्त  
करेगा जिन्हे यह भय नहीं है कि इस प्रकारका असंयम करने पर महान् कर्मबन्ध होगा और  
उससे हमारा संसार बढ़ेगा जो अनेक आपत्तियोंका मूल है ॥४२६॥

गा०—तथा वह क्षपककी सल्लेखनाको लोगों पर प्रकाशित कर देगा । सुगंध माला आदि  
सेबनकी अनुमति दे देगा । क्षपकके अशुभ परिणाम करने वाली अयोग्य कथा वार्ता करेगा । और

क्षपकस्याशुभपरिणामविधायिनी । 'सङ्घरं वा' स्वेरं वा । 'जपेज्ज' जलेत् । आराधकस्याघत इदं युक्तं न  
वेत्यविचार्य वदेद्वा ॥४२७॥

**ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकप्पमादो ।  
उद्देज्ज वा महल्लं खवयस्स वि किंचणारंभं ॥४२८॥**

'ण करेज्ज' न कुर्यात् । कि 'सारणं' रत्नत्रये वृत्ति । 'वारणं च' निषेध न कुर्यात् । तेभ्यः प्रच्यव-  
मानस्य । 'खवयस्स क्षपकस्य । क ? 'चयणकप्पमदो च्यवनकल्पगत । 'उद्देज्ज वा महल्लं' आरम्भ कार-  
येद्वा महान्त आरम्भ पट्टशाला, पूजा, विमान वा । 'खवयस्स वि' क्षपकस्यापि कथन ॥४२८॥

**आयारत्थो पुण से दोसे सज्जे वि ते विवज्जेदि ।**

**तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥४२९॥**

'आयारत्थो पुण' आधारत्थः पुन सूरि तान्सर्वान्विजयति दोषान् । 'तम्हा' तस्मात् । गुणेषु प्रवर्त-  
मानो दोषेभ्यो व्यावृत्तश्च । 'आयारत्थो आयरिओ णिज्जवओ होदि' आधारत्थ एवाचार्यो नियामको भवति  
नापर । व्याख्यातमाचारवत्त्वम् ॥४२९॥

आधारवत्त्वव्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध—

**चोद्दसदसणवपुज्जी महामदी सायरोव्व गंभीरो ।**

**कप्पववहारघारी होदि हु आधारवं णाम ॥४३०॥**

'चोद्दसदसणवपुज्जी' चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वी वा । 'महामदी' महामति । 'सायरोव्व गंभीरो'  
सागर इव गम्भीर । 'आधारवं णाम कप्पववहारघारी वा' कल्पव्यवहारघातो वा आधारवान् ज्ञानी । दुष्परि-  
णामा एते मनोवाक्कायविकल्पा, शुभा वा पुण्यास्त्रयभूता । मृदा वा शुभाशुभकर्मसंवरहेतव, इति बोधयति ।

यह उचित है या नहीं यह विचार किये बिना क्षपकके आगे स्वच्छन्दता पूर्वक बात करेगा ॥४२७॥

गा० तथा स्वय आचार च्युत आचार्य क्षपकके रत्नत्रयसे डिगने पर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति  
और रत्नत्रयसे च्युत होनेका निषेध नहीं करेगा । तथा क्षपकसे कोई महान् आरम्भ पूजा, विमान-  
यात्रा, पट्टकशाला आदि करायेगा ॥४२८॥

गा०—किन्तु आचारवान् आचार्य इन सब दोषोंको नहीं करता । इसलिए जो गुणोंमें  
प्रवृत्ति करता है और दोषोंसे दूर रहता है ऐसा आचारवान् आचार्य ही नियामक होता है, दूसरा  
नहीं । इस प्रकार आचारवत्त्वका कथन किया ॥४२९॥

आगे आधारवत्त्वका कथन करते हैं—

गा०—टी०—जो चौदह पूर्व, दस पूर्व अथवा नौ पूर्वका घारी हो, महावुद्धिशाली हो, सागर  
की तरह गम्भीर हो, कल्प व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता हो वह ज्ञानी आधारवान्  
होता है । वह समझता है कि मन वचन कायके विकल्प रूप ये परिणाम अशुभ हैं, शुभ परिणाम  
पुण्यकर्मके आस्रवके कारण हैं और शुद्ध परिणाम शुभ और अशुभ कर्मोंके संवरमें कारण हैं । तथा  
वह रात दिन श्रुतका उपदेश करते हुए शुभ और शुद्ध परिणामोंमें क्षपकको लगाता है । इसलिए  
वह दर्शन, चारित्र्य और तपका आधारवाला होनेसे आधारवान् होता है । ज्ञान आधार है और



शुभेषु शुद्धेषु वा प्रवर्तयति श्रुतमनारतमुपदिशन्मतोऽज्ञो दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च आधारवत्वात् ।  
ज्ञानमाधारस्तद्धानाधारवान् ॥४३०॥

यस्तु ज्ञानवान् भवति तदाश्रयणे दोषान्ध्याचष्टे—

‘**भासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ।**

**णट्ठम्मि य चउरंगे ण उ सुलहं होवि चउरंगं ॥४३१॥**

‘**भासेज्ज अगीदत्थो**’ नाशयदगृहीतसूत्रार्थः । ‘**तस्स**’ तस्य क्षपकस्य । ‘**चउरंगं**’ चत्वारि ज्ञानदर्शन-  
नचारित्रतपासि अङ्गानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं चतुरङ्ग । लोके यत्सारं निर्वाणं तस्याङ्गं उपकारक । चतुरङ्गं  
यदि नाम नष्टं तथापि तच्चतुरङ्गं पुनर्लभ्येत इति शङ्कामिमां निरस्यति । ‘**णट्ठम्मि य चउरंगे**’ नष्टे इह  
जन्मनि चतुरङ्गे मुक्तिमार्गे । ‘**ण उ सुलहं होवि चउरंगं**’ नैव सुखेन लभ्यते तच्चतुरङ्गं । विनाशितचतुरङ्गो  
मिथ्यात्वपरिणत कुयोनिमुपगत कथमिव लभते चतुरङ्गं इत्यभिप्रायः ॥४३१॥

क्षपकस्य चतुरङ्गं कथमगृहीतार्थो नाशयतीत्यारेकायामित्थमसौ नाशयतीति दर्शयति—

**संसारसायरम्मि य अणंतबहुतिव्वदुक्खसल्लिम्मि ।**

**संसरमाणो दुक्खेण लहदि जीवो मणुस्सत्तं ॥४३२॥**

**तह चैव देसकुलजाइरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिं ।**

**सवणं गहणं सद्धा य संजमो दुल्लहो लोए ॥४३३॥**

जो ज्ञानवान् है वह आधारवान् है ॥४३०॥

जो ज्ञानवान् नहीं है उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते हैं—

गा०—टी०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण नहीं किया है ऐसा आचार्य उस क्षपकके चतुरंगको  
नष्ट कर देता है । ज्ञान दर्शन चारित्र तप ये चार अंग जिस मोक्षमार्गके होते हैं वह चतुरंग है ।  
लोकमें जो सारभूत निर्वाण है उसका चतुरंग-मोक्षमार्ग उपकारक है । वह नष्ट कर देता है ।  
शायद कोई कहे कि यदि चतुरंग नष्ट हुआ तो पुनः प्राप्त हो जायेगा ? इस शंकाका निरास करते  
हैं—इस जन्ममें चतुरंग मोक्षमार्गके नष्ट होने पर चतुरंग सुलभ नहीं है—सुखसे नहीं मिलता ।  
क्योंकि जो चतुरंगको नष्ट कर देता है वह मिथ्यात्व रूप परिणत होकर कुयोनिमें चला जाता  
है । तब वह कैसे चतुरंगको प्राप्त कर सकता है यह उक्त कथनका अभिप्राय है ॥४३१॥

सूत्रके अर्थको ग्रहण न करने वाला आचार्य क्षपकके चतुरंगको कैसे नष्ट करता है ? ऐसी  
आशंका करने पर बतलाते हैं कि वह इस प्रकार नष्ट करता है—

गा०—जिसमें अनन्त अत्यन्त तीव्र दुःखरूप जल भरा है उस संसार सागरमें भ्रमण करते  
हुए जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४३२॥

गा०—उस संसारमें देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्मका सुनना, उसे  
ग्रहण करना, उस पर श्रद्धा होना तथा संयम ये सब दुर्लभ हैं ॥४३३॥

१ स्तद्धानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् आ० सु० । २. इयं गाथा व्यवहारसूत्रे (उ० ३, गा० ३७७)  
अस्ति ।

एवमत्रि दुल्लहपरंपरेण लब्धूणा संजमं खवओ ।  
 ण लह्विज्ज सुदी संवेगकरी अबहुसुयसयासे ॥४३४॥  
 सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्वं मुत्तिमुवगमित्ता वि ।  
 परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥४३५॥  
 सका वंसी छेत्तुं तत्तो उक्कडिहओ पुणो दुक्खं ।  
 ह्य संजमस्स वि मणो विसएसुक्कडिदुं दुक्खं ॥४३६॥  
 आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ।  
 अट्टदुहट्टो जीवो ण रमदि णाणे चरित्ते य ॥४३७॥  
 सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयणेण य पुणो उवग्गहिदो ।  
 तण्हाछुहाकिलंतो वि होदिं ज्ञाणे अवक्खित्तो ॥४३८॥  
 पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ।  
 ण कुणादि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ॥४३९॥

'पढयेण वा' क्षुधा । 'दोवेण वा' पिपासया वा । 'वाधिज्जंतस्स तस्स' बाध्यमानस्य तस्य । 'खवयस्स' क्षपकस्य । 'न कुणादि उवदेसादि' न करोत्युपदेशादि । 'समाधिकरणं' समाधिः क्रियते येनोपदेशादिना त । 'अगीदत्थो' अगृहीतार्थ ॥४३९॥

गा०—इस प्रकार परम्परा रूपसे दुर्लभ समयको पाकर क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पासमे वैराग्य करने वाली देशना नही प्राप्त करता ॥४३४॥

गा०—सम्यक् उपदेश प्राप्त न करनेसे चिरकाल तक असमयके त्यागपूर्वक समयको धारण करके आधारवत्त्व गुणसे रहित आचार्यके पासमे मरते समय समयमे गिर जाता है ॥४३५॥

गा०—जैसे छोटेसे वाँसको छेदना शक्य है । किन्तु बाँसके झाड़मेमे खीचकर निकालना बहुत कठिन है । इसी तरह समयकी भी मन विषयोमे हटाना अल्प ज्ञानी गुरुके लिए कठिन है । आशय यह है कि यद्यपि क्षपकने रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की तथापि शरीरकी सल्लेखना करनेपर जब भूख प्यासकी परीषह सताती है तो वह श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाये बिना अल्पज्ञ आचार्यके पासमे राग-द्वेषमे पडकर चारित्रिका आराधक नही रहता ॥४३६॥

गा०—यह जीव आहारमय है, अन्न ही इसका प्राण है । आहारके न मिलनेपर आर्त और रौद्रध्यानसे पीडित होकर ज्ञान और चारित्रमे मन नही लगाता ॥४३७॥

गा०—किन्तु ज्ञानी आचार्यके द्वारा श्रुतका पान करानेसे और योग्य शिक्षारूप भोजनसे उपकृत होनेपर भूख प्याससे पीडित होतें हुए भी ध्यानमे स्थिर होता है ॥४३८॥

गा०—भूख और प्याससे पीडित उस क्षपकको अल्पज्ञानी आचार्य समाधिके साधन उपदेश आदि नही करता ॥४३९॥

सो तेण विडज्जंतो पप्यं भावस्स भेदमप्यसुदो ।

कलुणं कोलुणियं वा जायणकिविणत्तणं कुणइ ॥४४०॥

‘सो तेण विडज्जंतो’ स क्षपकस्तेन प्रथमेन द्वितीयेन वा । ‘विडज्जंतो’ विविधं दह्यमान । ‘पप्यं भावस्स भेदमप्यसुदो’ प्राप्य शुभपरिणामस्य भेद ‘विडज्जंतो’ ‘अप्यसुदो’ अल्पभ्रुत । ‘कलुणं कोलुणियं वा कुणवि’ यथा भृष्टवता करुणा भवति तथा करोति । ‘जायण वा कुणवि’ याञ्चा वा करोति । ‘किविणत्तणं कुणवि’ दीनतां वा करोति ॥४४०॥

उक्कूवेज्ज व सहसा पिएज्ज असमाधिपाणयं चावि ।

गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ॥४४१॥

‘उक्कूवेज्ज व सहसा’ पूत्कुयांटा सहसा । ‘पिएज्ज’ पिबेद्वा । ‘असमाधिपाणयं चावि’ असमाधिपानक-मुच्यते यत्स्वय स्थित्वा स्वहस्ताभ्या काले प्रायोग्यपान ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पान तदसमाधिपानक-मुच्यते । ‘गच्छेज्ज व मिच्छत्तं’ मिथ्यात्व वा गच्छेन् । कष्टोऽयं धर्मः, किमनेन श्रमविधायिनेति निन्दापरणे चेतसा । ‘मरेज्ज असमाधिमरणेण’ मृतिमुपेयात् असमाधिना ॥४४१॥

संधारपदोसं वा णिम्मच्छिज्जंतो णिगच्छेज्जा ।

कुव्वंते उड्डाहो णिच्चुम्भंते विक्किंते वा ॥४४२॥

‘संधारपदोस वा कुणवि’ इति शेषः, नस्तर वा दुष्यति । ‘णिम्मच्छिज्जंतो णिगच्छेज्ज’ रोदन प्रकार वा कुर्वन्त यदि निभर्त्सयन्ति निर्यायान् । ‘कुव्वंते’ पूत्कुर्वन्ति मति क्षपके । ‘उड्डाहो’ अयसो धर्मस्य भवति । ‘णिच्चुम्भंते’ बहिर्नि सरणे । ‘विक्किंते वा’ पृथक्करणे वा । ‘उड्डाहो होवि’ धर्मदूषणो भवति । एवमगृहीतार्थं प्रतिकारानभिज्ञो नाशयति क्षपकम् ॥४४२॥

गृहीतार्थं पुन कि करोतीति चेदाह—

गीदत्थो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ।

कण्णाहुदीहिं उव-गहिदो य पज्जलइ ज्झाणग्गी ॥४४३॥

गा०—वह अल्पज्ञानी क्षपक भूख प्याससे पीडित हो शुभभावको छोड़ देता है और ऐसा रुदन करता है कि सुननेवालोंको दया आती है, याचना करता है और दीनता प्रकट करता है ॥४४०॥

गा०—अथवा सहसा चिल्लाने लगता है अथवा असमाधिपानक पीता है । स्वयं खडे होकर अपने दोनो हाथोसे भोजनके कालमे जो योग्यपान किया जाता है उससे अन्य विना खडे हुए असंप्रयमें जो पान किया जाता है उसे असमाधिपानक कहते हैं । तथा यह धर्म कष्टदायक है इससे केवल श्रम ही होता है ऐसे निन्दायुक्त चित्तसे मिथ्यात्वको प्राप्त होता है असमाधिपूर्वक मरणको प्राप्त होता है ॥४४१॥

गा०—अथवा वह संस्तरको दोष देता है । रोने चिल्लानेपर उसका तिरस्कार करो तो बाहर भाग जायेगा । उसके रोने चिल्लानेपर, या बाहर निकल जानेपर अथवा सघसे निकाल देनेपर धर्ममें दूषण लगता है । इस प्रकार अज्ञानी आचार्य प्रतीकार न जानता हुआ क्षपकका जीवन नष्ट कर देता है ॥४४२॥

गृहीतार्थज्ञानी आचार्य क्या करता है—यह कहते हैं—

१. उवडोइदो आ० मु० ।

'गौडत्वो गुण' गृहीतार्थः पुनः । 'क्षपकस्स' क्षपकस्य । 'कुणधि' करोति । 'विधिणा' क्रमेण । 'समाधि-  
करणानि' समाधानक्रिया । 'कण्णाहुवीहि' कर्णाहुतिभिः । 'उभगहिवो' उपगृहीतः । 'पञ्जललि' प्रज्वलति ।  
'ज्ज्ञाणणो' ध्यानानि ॥४४३॥

**खवयस्सिच्छासंपादणेण देहपडिक्कम्मकरणेण ।**

**अण्णेहि वा उवाएहि सो हु समाहिं कुणइ तस्स ॥४४४॥**

'खवयस्सिच्छासंपादणेण समाधिं कुणधि' क्षपकस्येच्छासम्पादनेन समाधिं करोति । यदिच्छत्यसौ  
तद्वा 'समाधिं' रत्नत्रये समवधानं तस्य करोति इति यावत् । 'देहपडिक्कम्मकरणेण' शरीरबाधाप्रतिकार-  
क्रियया । 'अण्णेहि वा उवाएहि' अन्यैर्वा सामवचनोपकरणदानचिन्तनक्षपकोपाख्यानादिभिरुपायै समाधिं  
करोति ॥४४४॥

**णिज्जूढ पि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो ।**

**संघेइ समाधिं पि य वारेइ असंबुडगिरं च ॥४४५॥**

'णिज्जूढं पि य पासिय' नियमित्यति परित्यक्त दृष्ट्वा किं भवता परीषहासहनेन चलचित्तोना-  
स्माकं ? त्यक्तोऽस्यस्माभिरिति । 'मा भीहि देइ' मा भीरीरित्यभयं ददाति । 'होइ' भवति । 'च आसासो'  
च आश्वास । 'संघेइ' सघत्ते 'समाधिं पि य' रत्नत्रयैकान्यमविच्छिन्नम् । 'वारेइ असंबुडगिरं च' वारयत्य-  
सम्भूतानां वचनं नैव वक्तव्यां भवद्भिरयं महात्मा । को हि नामायमिव शरीर आहारं तुस्त्यज त्यक्तुं क्षम  
इति प्रोत्साहयन् ॥४४५॥

**जाणदि फासुयदब्बं उवकप्पेद् तहा उदिण्णाणं ।**

**जाणइ पडिकार वादपित्तसिंभाण गीदत्थो ॥४४६॥**

'जाणधि य' जानाति च । 'फासुयदब्बं' योग्यं द्रव्यं । 'उवकप्पेवु' विधातु । 'तहा उदिण्णाणं' तयो-

गा०—किन्तु गृहीतार्थं आचार्यं विधिपूर्वकं क्षपकका समाधानं कर्मेकी क्रिया करता है ।  
उसके कानोमें धर्मोपदेशकी आहुति देता है उससे उपगृहीत होकर ध्यानरूपी अग्नि भडक उठती  
है ॥४४३॥

गा०—वह क्षपककी इच्छा पूर्ति करके—जो वह चाहता है वह देकर—समाधि करता है  
अर्थात् रत्नत्रयमें उसका मन स्थिर करता है । तथा शारीरिक बाधाका प्रतिकार करके और  
अन्य उपायोसे जैसे शान्तिदायक वचन, उपकरणदान और प्राचीन क्षपकोके दृष्टान्त आदिसे  
समाधि करता है ॥४४४॥

गा०—नियमित अर्थात् सेवा करनेवाले यतियों जिस क्षपकको यह कहकर 'कि आप  
परीषह सहन नहीं करते और आपका चित्त चंचल है हमें आपसे अब कुछ भी प्रयोजन नहीं है,  
छोड़ दिया है, उसको भी देखकर बहुश्रुत आचार्य 'मत डरो' इस प्रकार अभय देते हैं । आश्वासन  
देते हैं, और रत्नत्रयमें एकाग्रता बनाये रखते हैं । तथा असयतवचनोका निवारण करते हैं कि  
इस महात्माको आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए । इनके समान कठिनतासे छोड़नेके योग्य शरीर  
और आहारको कौन छोड़नेमें समर्थ है । इस प्रकार प्रोत्साहन देते हैं ॥४४५॥

गा०—शास्त्रके अर्थको हृदयगम करनेवाले आचार्य उदीर्ण हुई भूल प्यासकी वेदनाको

१ अन्यैर्वा उपायैः तस्य समाधिं करोति—अ० ।

दीर्घानां क्षुधादीना विनाशने समर्थ । 'आचरि पठितारं' जानाति प्रतिकार । 'बाधचित्सिंभाणं' वातपित्त-  
प्लेष्मणां । 'गीबन्धो' गृहीतार्थः ॥४४६॥

अह्व सुदिपाणयं से तद्देव अणुसिद्धिभोयणं देइ ।

तण्हाछुहाकिलितो वि होदि ज्जाणे अबक्खित्तो ॥४४७॥

'अह्व सुदिपाणयं' अथवा धृतिपानं । 'से देवि' तस्मै ददाति । 'अणुसिद्धिभोयणं देवि' अनुशासन-  
भोजन वा । तेन पानेन भोजनेन च । 'तण्हाछुहाकिलितो वि' क्षुधा तृषा वा बाध्यमानोऽपि । 'ज्जाणे  
अबक्खित्तो होवि' ध्याने अव्यासितचित्तो भवति ॥४४७॥

दोषान्तरमप्याचष्टे—अगृहीतार्थसकाशे बसतः क्षपकस्य—

संसारसागरम्मि य णंते बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ।

संसरमाणो जीवो दुक्खेण लहइ मणुस्सत्तं ॥ ४४८ ॥

'संसारसागरम्मि य' संसार. सागर इव तस्मिन्संसारसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमान. संसार-  
सागर । तत्र द्रव्यससारो नाम शरीरद्रव्यस्य ग्रहणमोक्षणाभ्यामृतिसकृत् । तद्वथा—प्रथमाया पृथिव्या सप्त-  
धनूपि त्रयो हस्ता षडङ्गलाधिका प्रमाण नारकाणा शरीरस्य । अघोऽघस्तद्विगुणोच्छ्रयता यावत्पञ्चधनु-  
शतानि । एवविकल्पेषु शरीरेषु एकैकं शरीरमनन्तवार गृहीतमतीते काले अभ्याना तु भविनि काले भाज्य-  
मनन्तवारग्रहण । अभ्याना तु भविष्यति कालेऽन्यनन्तानि तथाविधानि शरीराणि । एष द्रव्यससार  
स्थूलत ।

नष्ट करनेमें समर्थ प्रासुकद्रव्योको देना जानते हैं । तथा बात पित्त कफका प्रकोप होनेपर उनका  
प्रतिकार करना भी जानते हैं ॥४४६॥

गा०—अथवा वह आचार्य क्षपकको शास्त्रोपदेशरूपी पेय और अनुशासनरूप भोजन  
देते हैं । उस पान और भोजनसे भूख और व्याससे पीड़ित भी क्षपक ध्यानमे एकाग्रचित्त होता  
है ॥४४७॥

अल्पज्ञानी आचार्यके पास रहने वाले क्षपकके अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—बहुत तीव्र दुःख रूपी जलसे भरे अनन्त संसार रूपी सागरमे संसरण करता हुआ  
जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४४८॥

टी०—संसारके पाँच प्रकार हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव संसार और  
भाव संसार । शरीर द्रव्यका बार-बार ग्रहण और त्याग द्रव्य संसार है । प्रथम नरकमे नारकियों-  
के शरीरका प्रमाण सात धनुष, तीन हाथ छह अंगुल है । नीचे-नीचेके नरकोमे उसकी दुगुनी  
ऊँचाई होते होते अन्तमे पाँच सौ धनुष ऊँचाई है । इस प्रकारके भेद वाले शरीरोमे जीवोने अतीत  
कालमें एक-एक शरीर अनन्त बार ग्रहण किया । भविष्य कालमे भव्य जीवोंका अनन्तवार ग्रहण  
करना भाज्य है अर्थात् जो मुक्त हो जायेंगे वे अनन्त बार ग्रहण नहीं कर सकेंगे, शेष कर सकेंगे ।  
किन्तु अभव्य जीव तो भविष्य कालमें भी उन शरीरोंको अनन्त बार ग्रहण करेंगे । यह द्रव्य  
संसारका कथन स्थूलरूपसे है ।

क्षेत्रसंसार उच्यते—सीमन्तकादीनि अप्रतिष्ठान्तानि चतुरशीतिनरकशतसहस्राणि । तत्रैकैकस्मिन् नरके अनन्ता जन्ममरणयोर्वृत्तिरतीते काले । भविष्यति तु भाज्या भव्यान्प्रति । अभव्याना तु भविष्यत्यप्यनन्ताः ।

कालसंसार उच्यते—उत्सर्पिण्या कस्याश्चित्प्रथमसमये प्रथमनरके उत्पन्नो, भूत्वान्यत्रोत्पन्न, पुन कदाचिदुत्सर्पिण्या द्वितीयादिसमये उत्पन्न एव तृतीयादिसमयेषु । एव उन्मार्पिणी समाप्ति नीता । तथा अवसर्पिण्या अपि । एवमितरेष्वपि नरकेषु । एवमुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालयोरनन्तवृत्ति । भवसंसार उच्यते—

प्रथमाया पृथिव्या दशवर्षसहस्रायुर्जात पुन समयेनैकैकेन अधिकानि दशवर्षमहत्स्राणि । एव द्विसम-याद्यधिकक्रमेण सागरोपमपर्यंतमायु समाप्ति नीतम् । द्वितीयाया समयाधिक सागरोपमादि कृत्वा द्वितीयादि-समयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमत्रयपरिसमाप्ति । तृतीयाया समयाधिक त्रिसागरोपमादिक कृत्वा द्वितीयादि-समयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमसप्तकपरिसमाप्ति । चतुर्थ्या समयाधिकसप्तसागरोपमादारभ्य द्वितीयादि-समयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्ति । पञ्चम्या समयाधिकदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमया-धिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्ति । षष्ठ्या समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादि-समयाधिकक्रमेण यावद्द्वाविंशतिसागरोपमपरिसमाप्ति । सप्तम्या समयाधिकद्वाविंशतिसागरोपमादारभ्य यावत्त्रयविंशत्सागरोपमपरिसमाप्ति । एवमेतेष्वायुर्विकल्पेषु परावृत्ति भवसंसार ।

क्षेत्र संसार कहते हैं—प्रथम नरकके सीमन्तव से लेकर सातवे नरकके अप्रतिष्ठ विले पर्यन्त चौरासी लाख विले हैं । उनमेंसे एक-एक विलेमें अतीत कालमें अनन्त बार जन्म मरण जीवोंने किया है । भविष्यमें भव्य जीवोका अनन्त बार जन्म मरण भाज्य है । अभव्य जीवोका तो भविष्य-में भी अनन्त जन्म मरण होंगे ।

काल संसार कहते हैं—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें प्रथम नरकमें जीव उत्पन्न हुआ । मरने पर अन्यत्र उत्पन्न हुआ । फिर कभी उत्सर्पिणीके दूसरे आदि समयमें उत्पन्न हुआ । इसी तरह तीसरे आदि समयोंमें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जन्म लेकर उत्सर्पिणी समाप्त की । इसी प्रकार अवसर्पिणी भी समाप्त की । इस तरह अन्य नरकोंमें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें अनन्त बार जन्मा मरा ।

भव संसार कहते हैं—प्रथम नरकमें दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा । पुन. एक एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा । ऐसा करते करते क्रमसे एक सागर प्रमाण आयु पूर्ण की । फिर दूसरे नरकमें एक समय अधिक एक सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ मरा । इस तरह एक एक समय बढ़ाते हुए तीन सागर प्रमाण आयु पूर्ण की । तीसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और एक एक समय बढ़ाते हुए सात सागरकी आयु पूर्ण की । फिर चतुर्थ नरकमें एक समय अधिक सात सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा । फिर एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते दस सागरकी आयु पूर्ण की । फिर पाँचवे नरकमें एक समय अधिक दस सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा । फिर एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते सतरह सागरकी आयु पूर्ण की । फिर छठे नरकमें एक समय अधिक सतरह सागरसे लेकर एक एक समय बढ़ाते-बढ़ाते बाईस सागरकी आयु पूर्ण की । फिर सातवेंमें एक समय अधिक बाईस सागरसे लेकर तैतीस सागरकी आयु पूर्ण की' इस प्रकार इन आयुके विकल्पोंके परावर्तनको भव संसार कहते हैं ।

भावसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिगम्य इति नेह प्रतप्यते । एवंभूते संसारसागरे अनन्ते । बहुतिष्ठदुष्कलस-  
लिखन्मि' शारीरं, आगन्तुक, मानसं, स्वाभाविकमिति विकल्पेन बहूनि तीव्राणि दुःखानि सल्लिखानि यस्मिन्  
तस्मिन् संसरमाणो परिवर्तमानः । जीवो 'दुष्कलं' काटेन । 'लक्ष्मण' लभते । किं 'मनुष्यसत्' मनुष्यत्वम् ।  
मनुष्यक्षेत्रस्थाल्पत्वात् सर्वजगति तिरमन्मनुष्यत्तमं नृजतानिर्वर्तकानां कर्मणा कारणभूता ये परिणामास्तेषां  
दुर्लभत्वाच्च । के ते परिणामा इत्यत्रोच्यते—

सर्व एव हि जीवपरिणामा मिथ्यात्वासंयमकषायाख्यास्त्रिप्रकारा भवन्ति । तीव्रो मध्यमो मन्द इति ।  
कुत कर्मनिमित्ता हि मिथ्यात्वादय कर्माणि च तीव्रमध्यममन्दानुभवविशिष्टानि । तेन कारणभेदत कार्याणां  
परिणामानां विचित्रता । तत्र ये हिंसादश परिणामा मध्यमास्ते मनुजगतिनिर्वर्तका बालिकाराज्या, दारुणा,  
गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समाना यथासख्येन क्रोधमानमायालोभा परिणामा । जीवघात कृत्वा हा दुः  
कृतं, यथा दुःख मरणं वास्माकं अप्रिय तथा सर्वजीवाना । अहिंसा शोभना वयं तु असमर्था हिंसादिक परि-  
हृत्तुमिति च परिणाम । मूषा परदोषसूचनं, परगुणानामसहनं वञ्चनं वाऽमज्जनाचार । साधूनामयोग्य-  
वचने दुष्यपारे च प्रवृत्ताना का नाम साधुतास्माकमिति परिणाम । तथा शस्त्रप्रहारादप्यनर्थ परद्रव्यापहरण,  
द्रव्यविनाशो हि सकलकुटुम्बविनाशो । नेतरत्र तस्माद्दुष्टं कृत परधनहरणमिति परिणाम । परदारादि-  
लङ्घनमस्माभि कृत तदतीवाशोभन । यथारमहागणा परैर्ब्रह्मेण दुःखमात्मसाक्षिक तद्वत्तत्त्वमिति परिणाम ।  
यथा गङ्गादिमहानदीना अनवरतप्रवेशेऽपि न तृप्ति सागरस्यैव द्रविणेनापि जीवस्य सन्तोषो नास्तीति परि-

भाव संसारको तो सभी सुखपूर्वक जान लेते हैं । अतः यहाँ उसका विस्तार नहीं किया ।  
इस प्रकारके अनन्त संसार सागरमें मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है । क्योंकि मनुष्य क्षेत्र अल्प है ।  
तिर्यक्ष तो सब जगन्में उत्पन्न होते हैं । मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेके कारणभूत जो परिणाम हैं वे  
दुर्लभ हैं । वे परिणाम कौनसे हैं यह कहते हैं—मिथ्यात्व असंयम और कषाय रूप सभी जीव  
परिणाम तीन प्रकारके हैं—तीव्र, मध्यम, मन्द, क्योंकि मिथ्यात्व आदि परिणाम कर्मके निमित्त-  
से होते हैं और कर्म तीव्र मन्द और मध्यम अनुभाग शक्तिसे युक्त होते हैं । अतः कारणके भेदसे  
उनके कार्य परिणामोंमें भी विचित्रता होती है । उनमेंसे जो हिंसा आदि रूप परिणाम मध्यम  
होते हैं वे मनुष्य गतिके कारण होते हैं । ऐसे परिणाम हैं बालूकी लकीरके समान क्रोध, लकड़ीके  
समान मान, गोमूत्रिकाके समान माया और कीचड़के रागके समान लोभ । जीवघात करके पछ-  
ताना, हा बुग किया । जैसे दुःख और मरण हमें अप्रिय हैं उस तरह सभी जीवोंको अप्रिय है ।  
अहिंसा उत्तम है किन्तु हमलोग हिंसा आदिको त्यागनेमें असमर्थ हैं । इस प्रकारके परिणाम  
मनुष्यगतिके कारण हैं । दूसरेको झूठा दोष लगाना, दूसरेके गुणोंको न सहना, ठगना ये दुर्जनोके  
आचार हैं । साधुओंके अयोग्य वचन और खोटे व्यापारमें लगे हम लोगमें साधुता कैसे संभव है  
इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं । दूसरेके द्रव्यका हरण करना शस्त्र प्रहारसे भी बुरा  
है । द्रव्यका विनाश समस्त कुटुम्बका विनाश है । इसलिए दूसरेका धन हरना खोटा काम है ।  
इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं । हमने जो परस्त्री आदिका सेवन किया यह बुरा  
किया । जैसे हमारी स्त्रियोंको दूसरे पकड़े तो हमें दुःख होता है उसी तरह दूसरोंको भी होता है ।  
इस प्रकारके परिणाम मनुष्य गतिके कारण हैं । जैसे गंगा आदि महा नदियोंके द्वारा रात दिन  
जल आने पर भी सागरकी तृप्ति नहीं होती, इसी तरह धनसे भी जीवोंको सन्तोष नहीं होता ।

णामः । एवमादिपरिणामानामसुलभता अनुभवसिद्धिः । इत्य दुर्लभमनुजत्वं साधुवदने परुषमिव वचं । धर्मरश्मिमण्डले तम इव, चण्डकोपे दयेव, सुखे सत्यवचनमिव, मानिनि परगुणस्तवनमिव, वामलोचनाया-  
मार्जवमिव, खलूपकारजतेव, आप्ताभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव । तह चैव अनुजत्वमिव । 'बिसकुलख्खवा-  
रोगभाउरं बुद्धी' देश, कुलं, रूपं, आरोग्य, आयुर्बुद्धिश्च । 'सवणं गहणं सद्धा इ' संजयो श्रवणं, ग्रहणं  
अद्धा संयमञ्जयेते 'बुल्लहा' दुर्लभा लोके । तत्र देशदुर्लभतोष्यते । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वीपजाः  
सम्मूर्च्छिमा' इति चतु प्रकारा मनुजा । पञ्च भरता, पञ्च रावताः, पञ्च विदेहा' इति पञ्चदशकर्मभूमय ।  
पञ्च हैमवतवर्षा, पञ्च हरिवर्षा, पञ्च देवकुरवः, पञ्च उत्तरकुरव, पञ्च रम्यका, पञ्च हैरष्यवतवर्षाः  
त्रिचन्द्रोभूमयः । लवणकालोदधिसमुद्रयोन्तरद्वीपा । चक्रिक्खन्धावारप्रलवोच्चारभूमय. शुक्रसिंहाणकख्लेष्म-  
कर्णदन्तमलानि चाङ्गुलासख्यातभागमात्रशरीराणा सम्मूर्च्छिमाना जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमन्तरद्वीप च  
परिद्वय कर्मभूमिपत्तिर्दुर्लभा । कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकपारसीकादिदेशपरिहारेण अङ्गवङ्गमगधादिदेशेषु  
उत्पत्ति । लब्धेऽपि देशे चाण्डालादिकुलपरिहारेण तपोयोग्ये कुले जातौ । जातिमार्तुवश । सुकुल कथं दुर्लभ  
इति चेदत्रोच्यते । जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तपो, बलं वा प्राप्य अगवितत्वं अन्येऽप्येत्युर्णरश्मिका  
स्वबुद्धधानमन, परानवज्ञाकरण, गुणाधिकेषु नीचवृत्ति, परेण पृष्ठस्यापि अन्यदोषाकथन, आत्मगुणस्यास्तवन,  
इत्येतै परिणामै उच्चैर्गोत्रं कर्म आपाद्यते तेन कुलेषु पूज्येषु जायते जन्तुरय पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमति ।  
किन्वेतद्विपरीतेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव बध्नाति असकृत्तेन पूज्य कुल दुर्लभ । उक्त च—

इस प्रकारके परिणामोकी दुर्लभता अनुभवसे सिद्ध है । इस प्रकार मनुष्य जन्म वैसे ही दुर्लभ है  
जैसे साधुके मुखसे कठोर वचन, सूर्यमण्डलमे अन्धकार, प्रचण्ड क्रोधीमे दया, लोभीमे सत्यवचन,  
मानीमे दूसरेके गुणोका स्तवन, स्त्रीमे सरलता, दुर्जनोमे उपकारकी स्वीकृति, आप्ताभासोके मर्तों  
में वस्तु तत्त्वका ज्ञान दुर्लभ है । देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, ग्रहण, श्रवण और सयम  
ये लोकमे उत्तरोत्तर दुर्लभ है ।

उनमेसे देशकी दुर्लभता कहते हैं—मनुष्य चार प्रकारके है—कर्मभूमिया, भोगभूमिया,  
अन्तर्द्वीपज और सम्मूर्छिम । पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमिया हैं ।  
पाँच हैमवत वर्ष, पाँच हरिवर्ष, पाँच उत्तरकुरु, पाँच देवकुरु, पाँच रम्यक, पाँच हैरष्यवत, ये  
तीस भोगभूमियाँ है । लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रमे अन्तर्द्वीप है । चक्रवर्तीकी सेनाके निवास-  
स्थानकी मलमूत्र त्यागनेकी भूमियाँ, वीर्य, नाक, थूक, कान और दाँतका मैल, ये अगुलके  
असंख्यात भाग शरीरवाले सम्मूर्छित जीवोके जन्मस्थान है । उनमेसे भोगभूमि और अन्तरद्वीपको  
छोड़ कर्मभूमियोमे उत्पत्ति दुर्लभ है । कर्मभूमियोमे बर्बर, चिलातक, पारसीक आदि देशोंको  
छोड़ अग, बग, मगध आदि देशोमे उत्पत्ति दुर्लभ है । योग्य देश मिलनेपर भी चाण्डाल आदि  
कुलोको छोड़ तपके योग्य कुल जाति मिलना दुर्लभ है । मातृवशको जाति कहते हैं ।

**शङ्का—सुकुल कैसे दुर्लभ है ?**

**समाधान—**जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप और बलको पाकर अन्य भी इन गुणोंसे  
अधिक है ऐसा अपनी बुद्धिसे मानकर गर्व न करना, दूसरोंकी अवज्ञा न करना, अपनेसे जो  
गुणोंमें अधिक हों उनसे नम्र व्यवहार करना, दूसरेके पूछनेपर भी किसीके दोष न कहना, अपने  
गुणोंकी प्रशंसा न करना, इस प्रकारके परिणामोसे उच्चगोत्रका बन्ध होता है । उससे पूज्य  
कुलोमे जन्म होता है । किन्तु यह अज्ञानी जीव उस प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करता, बल्कि उक्त



आत्मा मत्तो यः कुलाद्यापि कर्णार्थैश्चर्यादित् ज्ञानतो वा बलदा ।  
 प्राप्यार्थं वा यस्तपो वा परेषु निन्वायुक्तः स्तौति वास्तानमेव ॥ १ ॥  
 अन्याकानावरतिक्कमाणां कर्ता मामं बोधित्मात्रं विभति ।  
 नीचैर्गोत्रं नाम कर्मैव वात्यादध्यात्पुत्रं निमित्तं जन्मवासे ॥ २ ॥  
 यस्तु प्राप्याप्तुत्तमत्वं कुलाद्यैरन्यान्बुद्ध्या जन्मगतो विशिष्टान् ।  
 अन्यान्काश्चिन्नावानाति धीरान्नीचैर्बुध्या युज्यते वायिकेव ॥ ३ ॥  
 पृष्टोऽप्यन्यैर्नाप्यबोधान्बोति नात्मानं वा स्तौति निमुंक्तमानः ।  
 उर्ध्वगोत्रं नाम कर्मैव धीमान् कृत्वास्तीष्टं जन्मवासे प्रजानाम् ॥ ४ ॥ इति । [ ]

नीरोगतापि दुर्लभा, असक्रुदसद्वेद्यकर्मबन्धनात् । बन्धाच्छेदात्ताडनान्मारणाद्दाहाद्रोधाच्चासद्वेद्यमेव  
 वध्नाति । तथा चाभ्यधायि—

अन्यां यो दुःखमज्ञोऽनुकम्पां त्यक्त्वा तोत्रं तीव्रसंक्लेजयुक्तः ।  
 बन्धच्छेदैस्ताडनैर्मारणैश्च दाहै रोधैश्चापि नित्यं करोति ॥  
 तीक्ष्णं काङ्क्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सदैव ।  
 पदवासापं तापिना यः प्रयाति बन्नात्येवोऽज्ञातबेधं सदैवम् ॥ इति । [ ]

रोगाभिभवान्पष्टबुद्धिचेष्ट कथमिव हितोद्योगं कुर्यात् ।

तथा चाभाणि—

प्रान्तीत्युपास्तादिह जीवतोऽपि महाभय रोगमहागमिभ्यः ।  
 यथाशानिः क्षान्तिपतत्यबुद्धो रोगस्तथापत्य निहन्ति वेहम् ॥ १ ॥

परिणामोसे विपरीत परिणाम करके बार-बार नीचगोत्रका बन्ध करता है इससे पूज्य कुल दुर्लभ  
 है । कहा है—

जो जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान या बलका मद करता है, धन अथवा तपको प्राप्त  
 करके दूसरोकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अन्यकी अवज्ञा, अनादर और तिरस्कार  
 करके खूब घमण्ड करता है वह बचपनसे ही नीचगोत्र नामक कर्मका बन्ध करके नीचकुलमे  
 जन्म लेता है । और जो उत्तमकुल आदि प्राप्त करके दूसरोको अपनेसे विशिष्ट मानता है,  
 किसीकी भी अवज्ञा नहीं करता । अपनेसे अधिकोमे नम्रव्यवहार करता है । पूछनेपर भी दूसरोके  
 दोष नहीं कहता और अपनी प्रशंसा नहीं करता । वह मानरहित व्यक्ति उच्चगोत्रका बन्ध करता  
 है जो जनताको इष्ट है ।

नीरोगता भी दुर्लभ है क्योंकि जीव निरन्तर असातावेदनीयकर्मका बन्ध करता है ।  
 बन्धन, छेदन, ताडन, मारण, दाह, और रोगसे असातावेदनीय ही कर्म बंधता है । कहा है—  
 जो अज्ञानी तीव्र सक्लेशसे युक्त हो, दया त्याग दूसरोको बन्धन, छेदन, ताडन, मारण, दाह और  
 रोधसे नित्य तीव्र दुःख देता है, जो दुष्टचित्त नीच पुरुष अपनेको सुख चाहता हुआ सदैव  
 नीचकर्म करता है और सताये हुऐसे सताये जानेपर पछताता है वह सदैव असातवेदनीयको  
 बांधता है ।

रोगसे ग्रस्त होनेपर उसकी बुद्धि और चेष्टा नष्ट हो जाती है तब वह कैसे अपने हितका  
 उद्योग कर सकता है ? कहा है—

इस लोकमें जीवन प्राप्त करके भी वह रोगरूपी महान् वज्रपातसे महाभयग्रस्त रहता  
 ४४

बलायुधो रूपयुधावच तावच्छाबन् रोगः समुपैति वेहन् ।

फलस्यै क्वन्स्य हि जालु तप्तोत्साक्त्वं पातं श्वसतो न याचत ॥

तस्मिन्स्ववेहे परित्राचसाने ध्वयः प्रकृतुं न सुखेन शक्यम् ।

यूहे समन्तान् हि बहुरामाने शक प्रकृतुं पुरुषोऽञ्ज किञ्चित् ॥ इति । [ ]

सदा परप्राणिघातोद्यतस्तदीवप्रियतमजीवितविनाशनात् प्रायेणात्पायुरेव भवति । आयुश्छेदने बहूनि निमित्तानि—जल, ज्वलन, मारुत, सर्पा, वृषिचका, रोगा, उच्छ्वासनिश्वासनिर्गेष, आहारालाभ, वेद-नेत्येवमादीनि । ततो दीर्घमायुर्न सुलभं मनुजभवे । सामान्यवचनोऽप्यायु शब्द दीर्घं मनुजायुषि वर्तमानो गृहीतोऽप्यथायुर्मानस्य सत्सारिण सुलभत्वात् । लब्धेष्वपि देशादिषु बुद्धिदुर्लभा । परलोकान्नेषणपरा बुद्धिरत्र बुद्धिशब्दनेष्यते न ज्ञानमात्रवाची । तद्वि सुलभ ज्ञानावरणेनावरुद्धबोधवीर्यस्य जलधर<sup>१</sup>घटावरुद्धमण्डलस्य छायामान्द्यमिव दिनपतेरिव वेदक भवति ज्ञानम् । किञ्चिन्मिथ्यात्वोदयादिप्रयत्नमूदेति विज्ञान । नैवात्मा नाम कश्चित्कर्ता शुभाशुभयो कर्मणो । नापि तत्फलानुभवनिरत, नापि परलोक प्राप्य कर्मवशवर्तिना कश्चि-दिति । तथाभ्यघायि—

लोको नायं नापरो नापि चात्मा धर्माधर्मौ पुण्यपापे न चापि ।

स्वर्गो वृष्टः केन केनाथवा से घोरा वृष्टा नारकाणां निवासाः ॥

बन्धः को वा कोऽथवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्वं यन्त्रयेयं निरर्था ।

प्राज्ञाः कामाः सेवितव्या मयेष्टं दृष्टं त्यक्त्वा दूरगे कोऽभिलाष ॥ [ ]

है । जैसे आकाशसे अचानक वज्रपात होता है वैसे रोग अचानक आकर शरीरका घात करता है । बल, आयु, रूपादिगुण तभी तक है जब तक शरीरमे रोग नहीं होता । पेड़की डालमें लगा फल तभी तक नहीं गिरता जब तक हवा नहीं चलती । उसे अपने शरीरमे पीडा होने पर सुख-पूर्वक कल्याण करना शक्य नहीं है । घरके चारो ओरसे न जलने पर ही पुरुष कुछ कर सकता है । घर भस्म हो जाने पर कुछ नहीं कर सकता ।

जो सदा दूसरे प्राणियोंके घातमे तत्पर रहता है वह उनके प्रियतम जीवनका विनाश करने से प्राय अल्प आयु वाला होता है । आयुके तण्ट होनेके बहूतसे निमित्त है—जल, आग, वायु, सर्प, विच्छु, रोग, श्वासोच्छ्वासका रुकना, भोजनका न मिलना, वेदना आदि । अतः मनुष्य भवमे दीर्घ आयु सुलभ नहीं है । यह आयुशब्द सामान्य आयुका वाचक होने पर भी दीर्घ मनुष्यायुके अर्थमे ग्रहण किया है । अन्यथा आयु मात्र तो सत्सारी जीवोमे सुलभ है । देश आदि प्राप्त होने पर भी बुद्धिकी प्राप्ति दुर्लभ है । यहाँ बुद्धि शब्दसे परलोकको खोजमे तत्पर बुद्धि ग्रहण की है, ज्ञान मात्रको वाचक बुद्धि नहीं । ज्ञानमात्र तो सुलभ है । जैसे सूर्यमण्डलके मेघकी घटासे ढक जानेपर हलकी छाया रहती है वैसे ही ज्ञान शक्ति ज्ञानावरणमे ढक जानेपर साधारण ज्ञान रहता है । मिथ्यात्वका उदय होनेसे ज्ञान विपरीत हो जाता है । यथा—आत्मा नहीं है न कोई शुभ अशुभ कर्मका कर्ता है और न कोई उसके फलका भोक्ता है । न कोई कर्मके परवश होकर परलोक जाता है । कहा है—

‘न कोई इह लोक है, न कोई परलोक है । न आत्मा है, न धर्म अधर्म है, न पुण्य पाप है । किसने स्वर्ग देखा है और किसने वे भयानक नारकियोंके निवास देखे है ? कौन बन्ध है और कौन

१ फल्प्य शाखा गतवृत्तन्तो । २, रपटाव-आ० । रपलाव-मु० ।

इति । तथा चान्ये—दृषष्टवर्षिका स्त्री विद्यतिवार्धिकः पुमान् तयो परस्पर प्रेमपूर्वहावभावविभ्रम-  
कटाक्षकिल्किचित्तादिभावपूर्वकः समयो एव स्वर्गः नान्यः ।

स्त्रीमुद्रां मकरद्वयस्य जयिनीं सर्वाभिसंपत्करां  
एनां ये प्रविहाय यागति कुचिपः स्वर्गापवर्गेच्छया ।  
तद्दोषैर्विनिहृत्य ते द्रुततरं नमोऽकृता मुचिष्टताः  
केचिद्गणकपटोऽकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥ [श्रु० श० पृ० ४५]

तयान्यैरभिहित—जलदुदबुदवज्जीवा, परलोकिनोऽभावात्परलोकाभाव इति च । सत्यामपि बुद्धी  
ममोचीनज्ञानलोचनवता, मकलप्राणिभूदुगोचररूपपरिख्यक्तचेतसा लाभसत्काराविनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरि-  
भ्रमणप्रभवयातनामहस्यमवलोक्य प्राणभूता परमामनुकम्पामुपगतेन हा जनों विचेतनः मिथ्यादर्शनाद्यशुभपरिणाम-  
कदम्बकमिदमस्माभिरनुभूयगतिनिवर्तनप्रवणमवहातव्यमित्यजानानस्तत्रैवासकृत्प्रवर्तमानो दुःखरत्नाकरमपारमुप-  
विशत्यणरो वरगक इति कृन्मकल्पेन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभ । कुत ? दर्शनमोहोदयाज्जानावरणोदयाच्च  
न यतिगुणान्वेति श्रद्धने वा जन । तत एव न ढीकते यतीन्म वा सुगुणमविवृष्टस्तदुसर्पणमुपपद्यते । अपि च  
चारित्रमोहोदयादभयनैरगतिरतिनरा ागिनस्ततोऽसौ हिंसादिक स्वय करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिषु  
मोक्ष है । यह सब मिथ्या और व्यर्थकी यन्त्रणा है । जो काम भोग प्राप्त है उन्हें यथेष्ट सेवन  
करना चाहिए । सामने वर्तमानको छोड़ दूरवर्तीकी अभिलाषा क्यों ? ।'

तथा अन्य भी कहते हैं—मोलह वर्षकी स्त्री और बीस वर्षके पुरुषका परस्परमे प्रेमपूर्वक  
हाव भाव, विलास, कटाक्ष, शृङ्गारादि भावपूर्वक संयोग ही स्वर्ग है । इसके सिवाय कोई दूसरा  
स्वर्ग नहीं है । कहा है—'कामदेवको जीतनेवाली और समस्त अर्थ सम्पदाको करने वाली स्त्री  
मुद्रा है । जो कुबुद्धि स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे इसे छोड़कर जाते हैं वे उसके दोषोसे सताये जाकर  
जन्म ही सिर मण्डाकर नग्न हो जाते हैं । कुछ लाल बस्त्र धारण करते हैं और कुछ जटाये बढ़ाते  
हैं । कुछ हाथमे मनुष्यकी खोपडी लेकर कापालिक हो जाते हैं ।' तथा कुछ दूसरोंने भी कहा है—  
जोव जलके बुलबुलेके समान है और जब कोई परलोकी आत्मा नहीं है तो परलोक भी नहीं है ।

यतिजनोका चित्त समस्त प्राणियों पर कृपा भावसे युक्त होता है, उन्हें लाभ सत्कार पुरस्कार  
आदिकी अपेक्षा नहीं होती । चार गतियोंमें परिभ्रमणसे होनेवाली हजारो यातनाओको देखकर  
प्राणियोंमें अत्यन्त दयालु हो उन्होंने सकल्प किया—'हा, वह अज्ञानी जन—अशुभगतिमे ले जानेमे  
समर्थ यह मिथ्यादर्शन आदि अशुभ परिणामोका समूह हमे त्यागना चाहिए' ऐसा नहीं जानते  
और बार-बार उसीमे प्रवृत्ति करते हुए बेचारे अशरण होकर दुःखके अपार समुद्रमे प्रवेश करते  
हैं । उनमें बुद्धि होते हुए भी यतिजनके साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो पाता, क्योंकि दर्शनमोहके  
उदय और ज्ञानावरणके उदयसे मनुष्य यतिजनोके गुण न तो जानता है और न उनपर श्रद्धा  
करता है । इसीसे न तो यतियोंकी ओर देखता है और उनके गुणोको न जाननेसे उनके पास नहीं  
जाता । तथा चारित्र मोहका उदय होनेसे असंयमी जनोंके प्रति उसका अत्यधिक प्रेम होता है  
इससे वह प्राणियोंको स्वयं हिंसा करता है, दूसरोसे कराता है और कोई स्वयं हिंसा करता है तो

वर्तमानेष्वेव रतिं बध्नाति न हिंसादिपरिहारोऽयतेषु । विना रतिं कथं तैः ससर्गस्तत्सेवा वा । सा हि—  
 संसारोच्छेदकरी प्रथमकरी ज्ञानबुद्धिबुद्धिकरी ।  
 कोतिकरी पुण्यकरी संसेवा साधुवर्गस्य ॥  
 दर्शनमात्रमपि सतां संसारोच्छेदने भवति बीजं ।  
 किं पुनरधिकारकृता संसेवा साधुवर्गस्य ॥  
 तत्सेवा यदि न स्यान्न स्याद् ज्ञानागमां विना ज्ञानात् ।  
 हितकर्मप्रतिपत्तिर्न स्यान्न स्यात्सतो मोक्षः ॥  
 साधुपसेवनं यदि पारपर्येण मोक्षमानयति ।  
 हानिधनो च नृणां की साधुसेवमानानाम् ॥  
 श्रेयाः कथं न यतयो विदुषा श्रेयोधिना मनुष्येण ।  
 अक्षयमिह<sup>१</sup> ये श्रेयो मूषाभितेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥  
 इति सततमपोह्यमानमोहाविहपरलोकहितपिणा नरेण ।  
 जगदधिकतपोधिभूतियुक्ता यतिवृषभा विनयेन सेवितव्याः ॥

यदृच्छया जातेऽपि यतिजनससर्गं न गुणः न चेद्धिनं शृणुयात् । यथा न वर्षस्य पात एव गुणो नरस्य अपि नु भुवि बीजवाप । तदृच्छव्रणं गुणो यतिसमोपगमनेन । तदेव श्रवणं दुर्लभं कथयति । ममीपमपगतोऽपि निद्रायति ।

समोपस्थाना वचो यत्किञ्चित् शृणोति, न रोचते, वा तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशनं माहोदयात् । न जानाति

उसकी अनुमोदना करता है । जो हिंसा आदिमें लगे रहते हैं उन्हींमें प्रेम करता है । जो हिंसासे बचनेमें तत्पर हैं उनमें उसकी प्रीति नहीं होती । बिना प्रीति हृष्ट कैसे उनके साथ सम्बन्ध हो सकता है अथवा कैसे उनकी सेवा कर सकता है ?

ऐसे यतिजनोकी सेवा ससारका विनाश करती है, शान्ति प्रदान करती है, ज्ञान और बुद्धिको बढ़ाती है, यश तथा पुण्यको लाती है ।

सज्जनोका दर्शनमात्र भी मसारके विनाश करनेमें बीज होता है फिर साधुवर्गकी अधिकार पूर्वक की गई सम्यक् सेवा का तो कहना ही क्या है ? यदि उनकी सेवा न की जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । ज्ञानके बिना हितकारी कर्मोका ज्ञान नहीं होता और हितके ज्ञान बिना मोक्ष नहीं होता । यदि साधुजनोकी सेवा परम्परासे मोक्ष लाती है तो साधुओकी सेवा करनेवाले मनुष्योकी हानि और श्रम कैसे सम्भव है ? कल्याणका इच्छुक ज्ञानी मनुष्य यतियोंका आश्रय क्यों न लेवे, जो निष्प्रयोजन भी आश्रय लेनेवालोको अक्षय कल्याण प्रदान करते हैं । इसलिए इस लोक और परलोकमें हित चाहने वाले मनुष्यको निरन्तर मान और मोहको त्यागकर जगत्में अधिक तपकी विभूतिमें युक्त श्रेष्ठ यतियोंको विनयपूर्वक सेवा करनी चाहिए ।

अज्ञानक यतिजनोका ससर्ग होनेपर भी यदि उनसे हितकी बात न सुने तो कोई लाभ नहीं है । जैसे वर्षाके होनेसे ही मनुष्यका लाभ नहीं है किन्तु जमीनमें बीज बोने पर लाभ है । उसी तरह यतिजनके समागमका लाभ उनसे हितकी बात सुननेमें है । इस प्रकार आचार्य उपदेश सुननेको दुर्लभ कहते हैं । मनुष्य समीपमें जाकर भी सोता है । समीपमें स्थित जनोके वचन

१ य महाश्रियो ये मूषा-आ० ।

वा मतिमान्द्यादत् एव तत्र नानुरागोऽप्य । अन्तरेण चानुरागं कथं श्रुतमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

'साधूनां शिववृत्तिभाग्यवैशिकानां संग्राह्यो निलयमपि प्रभाववोधात् ।

आस्ते धौ जनवचनानि तत्र श्रुत्वात् नानुरागोऽप्येव सन्तः ॥' इति [ ]

सत्यपि श्रवणं ग्रहणं विज्ञानं तन्निरूपितस्यार्थस्य दुष्कर । सौम्याज्जीवादिबस्तुतत्त्वस्य कदाचिद्व्य-  
श्रुतत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावाच्च । ज्ञाते धर्मतत्त्वे तत्र श्रद्धा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्म-  
अहिमालक्षण, सत्याधिष्ठान, परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मक, नवविषयब्रह्मचर्यगुप्त, परित्यक्ताशेषमूर्छ, विनय-  
मूल, समीचीनज्ञानपुर सर, क्षमामार्दवाजंबसतोष<sup>१</sup>गुण, नरकवर्तनीवज्रागलभूत, तिर्यग्गतिलताकुठार,  
कठोराशनिर्दु स्वाचलशिखराणा, मोहमहामहीहोत्पाटनपटुमातरिखा जरादवानलशिखामुखप्रशमनमुखरो  
घनाघन, प्रावर्षक, प्राक्वेष्य, मरणहरिणविशसनचटुलक्ष्णडण्डरीक, क्रूररोगरोगाणा विनतासुतः,  
सपत्सुरापगया हिमाचल, य सेनुरगाधशोकपङ्कस्य, पिता सुभगताया, ऐश्वर्यरत्नानामाकर, कुयोनिवनवि-  
प्रनष्टाना पृथुलशिवपुर, इति श्रद्धान अतिदुर्लभ दर्शनमोहोदयात् । उपशमात् क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शन-  
मोहस्य जातेऽपि श्रद्धाने नयमो दुर्लभतर प्रत्याख्यानावरणोदयात् । उक्तं च—

घोडा बहुत सुनता है किन्तु रुचते नहीं । अथवा मोहके उदयसे उनके धर्मके महत्त्वका प्रकाशन  
उसे नहीं रुचता । अथवा बुद्धिकी मन्दतासे समझता नहीं है । इसीसे उसका उस उपदेशमे अनु-  
राग नहीं होता । और अनुरागके बिना सुननेका उत्साह कैसे हो सकता है । कहा है—'जो  
मोक्षमार्गके उपदेशक साधुओंके निवास स्थान पर जाकर भी प्रमादवश वहाँ लोगोंकी बातचीत  
सुनता हुआ बँठना है वह तालाव पर जाकर भी कीचडमे ही फँस जाता है ।

उपदेश सुनकर भी उसमे कहे गये अर्थका ग्रहण, उसका ज्ञान कठिन है; क्योंकि एक तो  
जीवादि वस्तु तत्त्व सूक्ष्म है, दूसरे पहले कभी सुना नहीं, तीसरे श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमका  
प्रकर्ष नहीं है । धर्मतत्त्वको जानने पर भी उसमे श्रद्धा दुर्लभ है । वह यह जिन भगवानके द्वारा  
कहा गया धर्म अहिंसा रूप है, सत्य उसका आधार है, उसमे परद्रव्यका अपहरण त्यागना होता  
है, नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यसे वह रक्षित है, उसमे समस्त ममत्वभाव छोडना होता है । विनय उसका  
मूल है । समीचीन ज्ञानपूर्वक वह धर्म होता है । क्षमा, मार्दव, आजंब, सन्तोष उसके गुण है ।  
नरकके मार्गके लिए वज्रकी साकल रूप है । तिर्यञ्चगतिरूपी बेलके लिए कुठार है । दुःखरूप  
पर्वतके शिखरके लिए कठोर वज्र है । मोहरूपी महावृक्षको उखाडनेमें चतुर प्रचण्ड वायु है ।  
जराहारी जगलकी आगकी लपेटोको शान्त करनेके लिए वर्षाकालीन मेघ है । मृत्युरूपी हरिण-  
का वध करनेके लिए प्रचण्ड बाघ है । क्रूर रोगरूपी सर्पके लिए गरुड है । सम्पत्तिरूपी गंगाकी  
उत्पत्तिके लिए हिमवान पर्वत है । गम्भीर शोक रूपी कीचडसे पार उतरनेके लिए पुल है ।  
सौभाग्यका पिता है । ऐश्वर्य रूपी रत्नोकी खान है, कुयोनिरूपी वनमे भटकते हुए लोगोंके लिए  
विशाल मोक्ष नगर है ।' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शनमोहका उदय होनेसे अति दुर्लभ है । दर्शन-  
मोहका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे श्रद्धान होनेपर भी प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेसे  
सयम उससे भी अधिक दुर्लभ है । कहा है—

बुद्धों को भवति नरेष तस्वधर्मा ज्ञात्वापि प्रयत्नमत्र कष्टमेव ।  
 तस्मात्त्वा धृतिमुपलभ्य वृष्टतरुः, सद्धर्मं क्षणमपि मा कृपाः प्रभावम् ॥  
 भूस्वार्थं सुकरतरोऽपि पापकार्यात् धर्मोऽभूत्क्षणमपि बुद्धको मनुष्ये ।  
 आश्वर्यं किमपि न धाम सन्ति मूढाः स्यादेतद् ध्रुवमिह कर्मणां गुह्यत्वम् ॥  
 काकिष्यामपि गणयन्गुणं महान्तं तद्धेतो धममनुलं करोति यत्नात् ।  
 न त्वत्र सुरमनुजद्विमोक्षमूले सद्धर्मं हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥  
 यस्यापे भूशमहिते करोति चेष्टामालस्य परमहिते च याति धर्मं ।  
 युक्त तद्यदि न तथा भवेत्पृथिव्या संसारं ननु पुरुषः कथं लभेत ॥ इति । [ ]

एवमपि 'परंपरिण' दुर्लभपरपरया । 'लङ्गूण वि' लब्ध्वापि । 'संयमं' मजम । 'सर्वगो' क्षपक । कि  
 न 'लभेच्छ सुवि' न लभते श्रुति । 'सर्वेकरि' ससारभयजननी । 'अबहुस्तुवसकासे' अबहुत्पुतस्य सूरै पाष्वे ।  
 तस्माच्छ्रुतवानाचार्य आश्रयणीय इति प्रस्तुतेन सबन्ध ॥

'सम्भं सुविमलमती' समीचीना श्रुतिमलभमान । कदा ? मरणकाले । 'अबहुस्तुवसगासे' अबहुत्पुतस्य  
 पाष्वे । 'विण्यद्ध' चिर काल । 'श्रुतिमुच्यमिस्तावि' मुक्तिशब्देनात्र प्राणोन्द्रियविषयामयमत्याग परिगृह्यते ।  
 तेनायमर्थ — चिरप्रवर्तितसयमोऽपीति । 'परिवर्द्धवि' प्रच्यवते । कुत ? सयमात् । सयमहानिकथनेन चारित्र्या-  
 राधनाया अभाव आह्वयते । मयमात्प्रच्यवने उच्यमिति चेत्—मनोज्ञानाममनोज्ञाना च विषयाणा सर्वत्र सदा  
 च सानिध्यत् अभ्यन्तरकारणस्य कर्मणोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामा प्रादुर्भवन्तीति ते दुर्निवारा इति वदन्ति ।

मनुष्यके द्वारा धर्मका तत्त्व जानना कठिन है । जानकर भी उसमें प्रयत्नशीलता कष्टकर  
 है । उस धर्मको जानकर, तत्त्व दृष्टिसे सम्पन्न मनुष्यों धैर्य धारण करके समीचीन धर्मके विषय-  
 में एक क्षणके लिए भी प्रमाद मत करो । पापकार्यमें अति सुकर होने पर भी यह धर्म मनुष्योको  
 क्षणभरके लिए टुफ्फर होता है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । यह निश्चय ही कर्मकी गुस्ताका  
 फल है । यह मनुष्य एक कौड़ीमें भी महान् गुण मानकर उसके लिए अतुल श्रम करता है ।  
 किन्तु अज्ञानी देव और मनुष्योकी ऋद्धिके मूल समीचीन धर्ममें अपने मनको भी स्थिर नहीं  
 करता । अत्यन्त अहितकारी पापमें तो चेष्टा करता है और परमहितकारी धर्ममें आलस्य  
 करता है । यह ठीक ही है । यदि ऐसा न होता तो पुरुष इस पृथिवी पर ससार कैसे पाता,  
 कैसे सर्वत्र भ्रमण करता ।

इस तरह उत्तरोत्तर दुर्लभ संयमको धारण करके भी क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पास  
 ससारसे मयभीत करनेवाला उपदेश नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिए शास्त्रज्ञ आचार्यका आश्रय  
 लेना चाहिए, ऐसा प्रस्तुत कथनके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । अल्पज्ञानी आचार्यके पास  
 समीचीन उपदेश न पाकर चिरकाल तक मुक्तिको—यहाँ मुक्तिशब्दसे प्राणी और इन्द्रियोके विषयमें  
 असयमका त्याग लिया जाता है । अतः उसका अर्थ होता है—सयमको धारण करके भी मरते  
 समय सयमसे गिर जाता है । मयमकी हानि कहेनेसे उसके चारित्र आराधनाका अभाव कहा है ।  
 संयमसे क्यो गिरता है । यह कहते हैं—

मनको प्रिय और अप्रिय लगनेवाले विषयोके सदा सर्वत्र समीप रहनेसे तथा अभ्यन्तर  
 कारण कर्मका उदय होनेसे रागद्वेष और मोहरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं और वे दुर्निवार होते

'सर्षपं बंसी छेत्' अल्पवंश वंशीत्युच्यते गाढावलम्बना हि तत्र संभवति शक्यते वशी च्छेत् । 'तसो' गुल्मात् 'उष्णाद्विदुः' अवक्रुद्धं । 'पुणो' पश्चात् । 'दुष्कं' दुष्करं । 'इषं' एवं । 'संभवस्स चि' सयतस्यापि मन । 'विसएषु' रूपादिविषय । 'उष्काद्विदुः' अपक्रुद्ध । 'दुष्कं' दुष्करं । रागद्वेषयो व्यावर्तयितु अशक्य । एत-  
दुक्तं भवति—रागद्वेषविजये यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसल्लेखनस्य कृदादिपरीषहैरुपद्रुत य मन्दवीर्यस्य न श्रुतज्ञानप्रणिधानन्तश्चान्तरेण रागद्वेषयोः प्रवृत्तेर्न चारित्रावकता स्यात् । बहुश्रुत पुन यथास्य रागद्वेषो न जायेत तद्योपदिशति भोगनिर्वेजनी शरीरनिर्वेजनी वा कथामित्य—

एकान्तदुःखं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्षु देवेषु च मानुषेषु ।

कश्चित्कदाचिन्नु कर्षंविदेव सौख्यस्य संज्ञान शरीरिणां स्यात् ॥ १ ॥

एकेन जन्मस्वटताऽप्रयेयं शरीरिका दुःखमवाप्यते यत् ।

अनन्तभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखम् सर्वशरीरसंस्थं ॥ २ ॥

तत्रैकजीवः सुखभाग्येकं भवेत्किम्यन्तं जननार्णवंऽस्मिन् ।

बर्च्यमाणः परितो वराको वनेऽतिभीतो हरिणो यथैकः ॥ ३ ॥

भवत्वनन्तेषु सुखे तथापि शरीरिणैकेन समापनीये ।

एकप्रसूतो घबराप्यते तत्किमुद्ध्वेसस्य विमुग्धमात्रे ॥ ४ ॥

अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु तावत्सद्दुःखराज्ञी पतितं तदीयम् ।

स्यात्सद्रसं स्वादुरसं घबाम्बु प्राप्याम्बुदानां लवणार्णवाम्बु ॥ ५ ॥

यच्चाप्यवः सौख्यमितीष्यतेऽत्र पूर्वोक्तदुःखप्रतिकार एवः ।

विना हि दुःखस्यप्रथमप्रसूतात् न लभ्यते किञ्चन सौख्यमत्र ॥ ६ ॥

है । जैसे बाँसका झुड़ गाढरूपसे बृहद् रहता है उसमेसे छोटा बाँस तो खीचा जा सकता है । किन्तु पीछे उसको अलग करना बहुत कठिन है । उसी तरह सयमीका भी मन रूपादिविषयोमे फँसनेपर निकालना कठिन होता है अर्थात् रागद्वेषसे हटाना अशक्य होता है । कहनेका आशय यह है कि यद्यपि रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है फिर भी शरीरकी सल्लेखना करनेपर भूख आदिकी परीषहसे पीडित और मन्दशक्ति उस क्षणके श्रुतज्ञानकी ओर उपयोग नहीं होता । और उसके विना रागद्वेषमे प्रवृत्ति होनेसे चारित्रकी आराधना नहीं होती । किन्तु बहुश्रुत आचार्य उसको रागद्वेष पैदा न हों इस प्रकारकी भोग और शरीरसे वंराग्य करानेवाली कथा इस प्रकार कहता है—

नगक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोमे सर्वथा दुःख ही है । उनमे प्राणियोंको सुखकी सजा कभी, कही किञ्चित् ही होती है । एक प्राणी नाना जन्मोमे भ्रमण करते हुए जो अपरिमित दुःख भोगता है उसका अनन्तभाग भी सब सुख सब शरीरोमे मिलकर भी नहीं होता । तब इस जन्म-रूपी समुद्रमे एक जीव उस सुखका कितना भाग भोगता है ? जैसे वनम एक अत्यन्त डरा हुआ बेचारा हरिण सब ओरमे त्रस्त हुआ रहता है वैसी ही दशा जीवकी ससारमे है । अनन्तभवोमे एक प्राणी के द्वारा प्राप्त सुख की जब यह स्थिति है तो उसका विचार करनेपर एक जन्ममे जो सुख प्राप्त होता है वह कितना होगा । अत्यन्त अल्प भी यह सुख दुःखके समुद्रमें गिरकर दुःखरूप ही हो जाता है । जैसे मीठा भी मेघोंका पानी लवण समुद्रके जलमे पड़कर खारा हो जाता है । तथा उसमे जो सुखका आभास होता है वह सुख नहीं है किन्तु पहले उत्पन्न हुए दुःखका प्रतीकार है ।

प्रतीयते ह्यम्बु तृषाप्राशान्से क्षुन्नाशनायाशानमस्यते च ।  
 वेदमानुष्यातातपवारणाय गुह्यपतिच्छादनमम्बरं च ॥ ७ ॥  
 शीतापनूतजावरणं च वृष्ट शय्या च निद्राश्रमनोवनाय ।  
 धानानि धावन्नभ्रवारणार्थं स्नानं श्रमस्वेदमलापनुर्यै ॥ ८ ॥  
 स्थानश्रमस्थौषधमासनं च दुर्गन्धनाशाय च गन्धसेवा ।  
 वेद्यनाशाय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिबाधनाय ॥ ९ ॥  
 तथेह सर्वं परिबिल्यमानं भोगाभिधानं सुरमानुषाणाम् ।  
 दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भेषज्यसेवेव र्गार्हितस्य ॥१०॥  
 पित्तप्रकोपेन विवह्यमाने द्रव्याणि शीतानि निषेवमाणः ।  
 मन्वेत भोगा इति तानि योज्ञ कुर्वीत सोऽन्नाविषु भोगसज्ञाः ॥११॥  
 यतश्च नैकान्तसुखप्रदानि द्रव्याणि तोयप्रभृतीनि लोके ।  
 अतश्च दुःखप्रतिकारखुद्भि तेषु प्रकुर्वान्नु तु भोगसंज्ञाम् ॥१२॥  
 क्षुधाभिभूतस्य हि यत्सुष्णाय तथैव तुसस्य विषायतेऽन्नम् ।  
 उष्णदितः काङ्क्षति यानि चेह ताम्येव विद्वेषकराणि शीते ॥१३॥

किं च स्वचक्रविक्रमाक्रान्तदेवमानवविद्याधरचक्राणां निकटोपनिविष्टाशयनबनिधीना, समधिगतचतुर्द-  
 शरत्नाना, चक्रलाञ्छनाना, दशाङ्गभोगानुभवचतुराणां तथा मुधाशानानामप्यनेकममुद्रोपमजीविना, अप्रच्यवप्रत्य-  
 ग्रयौवनाना, सहजस्वेच्छानुसारिदिव्याभरणमाल्यवसनमपत्सीभाग्यस्कन्धेन मनोनयनबल्लभरूपप्रसूनोज्ज्वलेन

पहले हृष्ट दुःखके बिना उसमे किञ्चित् भी सुख प्रतीत नहीं हो सकता। प्यासकी शान्तिके लिए पानी पिया जाता है और भूखकी शान्तिके भोजन किया जाता है। पानी, हवा और धामसे बचनेके लिए मकान होता है और गुह्यभागको ढकनेके लिए वस्त्र होता है। टडमे बचनेके लिए ओढना होता है। निद्रा तथा थकान दूर करनेके लिए शय्या होती है। मार्गिके श्रमसे बचनेके लिए सवारी होती है। थकान, पमीना और मल दूर करनेके लिए स्नान होना है। बंठनेके श्रमका इलाज आसन है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए सुगन्धका सेवन होता है। विरूपताको दूर करनेके लिए आभूषण पहने जाते हैं। अरतिको दूर करनेके लिए कलाप है। इस प्रकार विचार करने पर देव और मनुष्योके जो ये भोग हैं वे सब दुःखको दूर करनेमे ही निमित्त हैं। जैसे रोगसे पीड़ित रोगी औषधिका सेवन करता है। पित्तके प्रकोपमे शरीरके जलने पर जो शीत पदार्थोके सेवनको भोग मानता है वही अज्ञानी अन्न आदिको भोग नाममे कहता है। किन्तु यत लोकमे जल आदि पदार्थ एकान्तमे सुख देनेवाले नहीं हैं अत उनको दुःखका प्रतीकार करनेवाला ही कहना चाहिए, भोग नामसे नहीं कहना चाहिए। जो अन्न भूखसे पीड़ितको सुख देता है वही अन्न पेटभरे व्यक्तिको विषके समान लगता है। गर्मसे पीड़ित मनुष्य जिन पदार्थो की इच्छा करता है, शीतसे पीड़ित उन्हीसे द्वेष करता है।

तथा अपने चक्ररत्नसे देव, मनुष्य और विद्याधरोके समूहको वशमे करनेवाले, अक्षय नौ निधियोके स्वामी और चौदह रत्नोसे सम्पन्न चक्रवर्तियो की, जो दस प्रकारके भोगोको भोगनेमे चतुर हैं, भोगोसे तृप्ति नहीं होती। तथा अनेक सागरोकी आयुवाले अमृतभोजी देवोकी भी भोगोसे तृप्ति नहीं होती जो देवागनारूपी लताओके वनसे घिरे रहते हैं। वे देवागना लताएँ भी कैसी हैं? जो जन्मजात अपने इच्छानुसार दिव्य आभरण, माला, वस्त्र सम्पदारूपी सौभाग्य



विलासपराशोने, सौकुमार्याङ्कुरेण विगङ्गनामुखवासायमानसौरभेण विद्दुमाधरपल्लवैः, निम्बिद्रोभ्रतवृत्स्तनफलनेन, मनोभवदक्षिणानिलप्रेरणान्दोलितेन, ललितभुजशाखाप्रतानेन, स्फुरत्पनीयमयरशनावेदिकापरीतकाममीरभ्ररितविशालजघनसरोविभूषणेन, मुखरनूपुरभ्रमरकृतकलकलेन देवकन्यालताबनेन परिवृत्तानामपि परैर्भोगैस्तुतिर्नि किं पुनरितरमानवानां । अपि च तीव्रतरपुषेदोदयानलजनितचेतोविदाहाना नैवौषध वामलोचनासगम ताप-प्रकर्षानुबधत्वात् । रूपयीवनविलासबातुयंसौभाग्यादीना प्रकल्पिकथंरूपेणावस्थितत्वादाङ्गनासु । तास्ता पश्य-तोऽपि उत्कण्ठानुपरतमुपजायमाना विदाहमावहति दुर्बहं । तास्त्यवत्वा चेम यान्ति मृति वा ढोकन्ते, परैर्बाल-भिर्वापिन्ध्यन्ते । स्वयं वा दुर्विभोचतमपातकयमपाशेनाकृष्यमाणो विहाय तानि विवृतमुखो, निधिमेषनयनो नितान्तरौदनाच्छादितलोहितलोचना जहाति । तासा तनवोऽपि स्फटिकमालेबोपाश्रितगुणधार्मिण्यः ताश्चास्थिर-रागा सध्यासमयजलदलेखेव दुर्लभाश्च । स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादीश्च लब्धानप्यं पहरन्ति बलिन इति महद्भय, न च तैर्ऽप्यन्ति । तदजनायं धट्कर्मसु प्रयतितव्य । तानि च संदिग्धकलानि बहुतरायासमूहानि हिंसादि-सावद्यक्रियापरतन्त्राणि, दुर्गतिवर्धनानि इत्येवमग्निभक्ता भोगनिर्वजनी । शरीरं पुनरिदमशुचिनिधान, आत्मनो महान् भाग, न चात्रान्ति किञ्चित्सारभूत । सन्नहितानेकापाय व्याधिषस्यमाना क्षेत्र, जराडाकिनीपितृगृह । किं

स्कन्धवाली है, मन और नेत्रोको प्रिय रूप सौन्दर्यरूपी पुष्पोसे शोभित हैं, विलासरूपी पत्तोसे वेष्टित है, सौकुमार्यं उनका अङ्कुर है, दिशारूपी अगनाओंके मुखकी सुवास जैसी उनकी सुगन्ध है, मृगके समान उनके ओठरूपी पल्लव है, घने ऊँचे गोल स्तनरूपी फल हैं, कामदेव-रूपी दक्षिण वायुकी प्रेरणासे वे हिलती है, ललित भुजारूपी उनका शाखाविस्तार है, चमकदार सोनेकी करधनीरूपी वेदिकासे घिरे और कामजलसे भरे विशाल जघनरूपी सरोवरसे भूषित है, बजते हुए नूपुररूपी भौगोकी गुंजारसे गुजित हैं । ऐसी देवांगनाओंसे घिरे हुए देवोकी भी जब भोगोसे तृप्ति नहीं होती तब अन्य मनुष्योका तो कहना ही क्या है ? तथा जिनका चित्त तीव्रतर पुरुषवेदके उदयरूपी अग्निसे जल रहा है, स्त्रियोका संगम उनकी औषधी नहीं है । उससे तो उनका सन्नाप और भी अधिक बढ़ेगा; क्योंकि स्त्रियोमे रूप, यौवन, विलास, चतुरता, सौभाग्य आदि कमती बढ़ती पाया जाता है । उन-उन स्त्रियोको देखकर निरन्तर उत्कण्ठा उत्पन्न होकर ऐसी दाह होती है जिसको सहना कठिन होता है । वे स्त्रियाँ पतिको छोडकर चली जाती है, या मर जाती हैं अथवा दूसरे बलवान् पुरुष उन्हें हर लेते है । अथवा जिससे छूटना किसी भी तरह सम्भव नहीं है उस मनुष्यके फन्देसे खिचकर मनुष्य, मुँह खोले, आँखे पथरायें हुए स्वयं, अत्यन्त रुदन करनेसे लाल आख हई स्त्रीको स्वयं छोडकर चला जाता है । उन स्त्रियोके शरीर भी स्फटिककी मालाकी तरह जो पासमे आता है उसीके गुणोको ग्रहण करनेवाले होते है । जैसे सन्ध्या-कालीन मेवोका रंग अस्थिर होता है वैसे ही स्त्रियोका अनुराग भी अस्थिर होता है । तथा वे दुर्लभ होती हैं क्योंकि स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदिको बलवान् हर लेते है और देते नहीं हैं । इस प्रकार बड़ा भय रहता है । स्त्रीकी प्राप्तिके लिए छह कर्मोंको करना पड़ता है । उनका फल संदिग्ध होता है । उनके लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता है । तथा वे धट्कर्म हिंसा आदि सावद्य क्रियाके अधीन होते हैं उनमे हिंसा आदि होती है । अतः वे दुर्गतिको बढ़ाते है । इत्यादि कथा भोगोसे वैराग्य उत्पन्न करती है । तथा यह शरीर अपवित्रताकी खान है, आत्माके लिए बड़ा भाररूप है । इसमे कुछ भी सार नहीं है इसके साथ अनेक संकट लगे हैं । व्याधिरूपी धानके

ब मान्ये कुले जातो विशालकीर्तिः गुणवानपि प्रहीणविभवो नीचं कर्म, पुरो धावन, प्रेषणकरण, तदुच्छिष्ट-  
भोजनं वा करोति शरीरपोषणाय ।

नान्तर्गतोऽथ न बहिर्न च तस्य सन्ध्ये सारोऽस्ति येन मनसा परिगम्यमाणः ।  
तस्मिन्सारजनकालितकामसारे कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबुद्धसारः ॥  
वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च रोगैः सवा दुरितजैः प्रविमथ्यमानः ।  
देहोऽप्यधेवमतिदुःखानिमित्तभूतो नाशं प्रयाति बहुपैति कुण्ठ्य धमं ॥  
संधातजं प्रसाधिकारिण्य सत्प्रगाढ स्नायुप्रबद्धमशुभं प्रगतं शिराभिः ।  
लिप्तं च मांससंधिरोक्ककवंभेन रोगाहृतं स्पृशति को हि शरीरगेहं ॥ [ ]  
इत्येवमादिका शरीरनिबन्धनी ।

गीदत्थपादमूले ह्येति गुणा एवमादिया बहुगा ।

ण य होइ सकलिसो ण चावि उपपज्जदि विवत्ती ॥४४९॥

'गीदत्थपादमूले' गृहीतार्थस्य बहुभुतस्य पादमूले । 'ह्येति बहुगा गुणा' 'गोदत्तो पुण खवगस्स' इत्येव-  
मादिसूत्रपञ्चकनिर्दिष्टा । 'ण य होइ सकलिसो' नैव भवति सकलेश । 'ण चावि उपपज्जदि विवत्ती' न चोत्पद्यते  
विपन्नत्रयस्य । तस्मादाधारवानाचार्य उपाश्रयणीय इत्युपमहार इति आधारव ॥४४९॥

व्यवहारवत्त्वरूपणायोत्तरगाथा—

लिए यह खेत है । जराहूपी डाकिनीके लिए इमसान है । मान्यकुलमे जन्म लेकर विशाल यग  
अर्जन करके गुणी मनुष्य भी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर शरीर-पोषणके लिए नीचकर्म करता है,  
आगे-आगे दीडता है, मालिकका सन्देश ले जाता है उसका जूठा भाजन करता है । कदा है—

उस शरीरके अन्दर, बाहर और मध्यमे कोई सार नहीं है जिससे मन उसे स्वीकार करे ।  
असारजनकोके द्वारा पसन्द किये जानेवाला काम ही जिसमे सार है उस शरीरके सारको जानने-  
वाला कौन व्यक्ति अपना मन लगायेगा । यह शरीर वायुके प्रकोपसे उत्पन्न हुए और कफ तथा  
पित्तके प्रकोपसे और पापकर्ममे उत्पन्न हुए रोगोसे सदा मथा जाता है । इस तरह यह अति  
दुःख का निमित्त होता और नाशको प्राप्त होता है इसलिए धर्मका आचरण करो ।

यह शरीररूपी घर रज और वीर्यके मेलसे बना है । इसकी अस्थियाँ ढीली-ढाली हैं ।  
स्नायुबोसे बँधा है, अशुभ है, सिराओमे वेण्डित है, मांस और रधिररूपी कोचड तथा जलसे लीपा  
गया है । रोगोसे घिरा है इसे कौन छूना पसन्द करेगा ।

इत्यादि कथा शरीरमे वेराग्य उत्पन्न करती है ॥४४८॥

गीतार्थ अर्थात् बहुभुत आचार्यके 'पादमूलमे रहनेक 'गीदत्तो पुण खवगो' इत्यादि पाँच  
गाथासूत्रोमे कहे गये बहुत गुण-लाभ होते है । उस क्षणके परिणामोमे सबलेश नहीं होता और  
न रत्नत्रयको लेकर ही कोई विपत्ति आती है अर्थात् उसके रत्नत्रयका विनाश नहीं होता । अतः  
आधारवान् आचार्यका आश्रय लेना चाहिए । इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका कथन हुआ ॥४४९॥

आगे व्यवहारवत्त्वगुणका निरूपण करते है—

पाँचविहं व्यवहारं जो ज्ञानइ तच्चदो सवित्यारं ।

बहुसो य दिदृक्कयपट्टवणो व्यवहारवं होइ ॥४५०॥

‘पाँचविहं व्यवहारं’ पञ्चप्रकार प्रायश्चित्त । ‘जो ज्ञानवि तच्चदो सवित्यारं’ यो जानाति तत्त्वतः मविस्तर । ‘बहुसो य दिदृक्कयपट्टवणो’ बहुशब्च दृष्टकृतप्रस्थापन । आचार्याणां प्रायश्चित्तदान दृष्ट, स्वय चान्येषा दत्तप्रायश्चित्त । ‘व्यवहारवं होइ’ व्यवहारवान् भवति । पूर्वाह्नेन प्रायश्चित्तज्ञानता दशिता, कर्मदर्शन कर्माभ्यासश्च प्रस्थापित । अशास्त्रज्ञो यत्किञ्चिद्वात्यात्मनोऽभिलषित न तेन पर. शुद्धघति, शास्त्र-जोऽप्यदृष्ट कर्मकर्मसु विषादमेति । ततो ज्ञान, कर्मदर्शन, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणा यस्य स व्यवहारवानित्युच्यते ॥४५०॥

क पञ्चविधो व्यवहार, कां वा विस्तर इत्याशङ्क्या तदुभय निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणा य जीवो य हुंति व्यवहारा ।

एदेसि सवित्यारा परूवणा सुत्तणिदिट्ठा ॥४५१॥

‘आगमसुद आणाधारणा य जीवो य हुंति व्यवहारा’ आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीव इति व्यवहारा पञ्च । ‘एदेसि’ एतेषा आगमादीना । परूवणा कीदृशी ? सवित्यारा’ विस्तारमहिता । ‘सुत्तणिदिट्ठा’ सूत्रेषु चित्रतनेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽक्रथनीयत्वाच्छास्त्रान्तरे च निर्दिष्टत्वादिह नाच्यते ॥४५१॥ उक्त च—

सम्बेण वि जणवयण सोवब्बं सिद्धिदेण पुरिसेण ।

छेवसुवस्स नु अत्थो ण होवि सम्बेण सोवब्बो ॥ इति ॥ [ ]

गा०—जो पाँच प्रकारके व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्तको तत्त्वरूपसे विस्तारके साथ जानता है तथा जिनने अनेक आचार्योंका प्रायश्चित्त देना देखा है और स्वयं भी दूसरोको प्रायश्चित्त दिया है वह आचार्य व्यवहारवान् होता है । गाथाके पूर्वाह्नेसे आचार्योंका प्रायश्चित्तका ज्ञान होना दर्शाया है तथा प्रायश्चित्तकर्मका दर्शन और प्रायश्चित्तकर्मका अभ्यास होना कहा है । जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञान नहीं होता वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रायश्चित्त देता है किन्तु उससे दूसरेके दोषकी विशुद्धि नहीं होती । प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान हांते हुए भी यदि उसने अन्य आचार्योंको प्रायश्चित्त देते न देखा हो तो प्रायश्चित्त देते समय खेदखिन्न होता है । इसलिए प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान, प्रायश्चित्तकर्मका देखना तथा प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास ये तीन गुण जिसमें होते हैं उस आचार्योंको व्यवहारवान् कहते हैं ॥४५०॥

पाँच प्रकारका व्यवहार कौन-सा है ? और उसका विस्तार क्या है? ऐसी आशका होनेपर दोनोंको कहते हैं—

गा०—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीव ये पाँच प्रकारका व्यवहार है । इन आगम आदिका विस्तारसे कथन प्राचीन सूत्रोंमें कहा है । प्रायश्चित्त सब जनोके आगे नहीं कहा जाता, तथा अन्य शास्त्रोंमें उसका कथन है इसलिए यहाँ नहीं कहा । कहा है—‘समस्त श्रद्धालु पुरुषोंको जिनागम सुनना चाहिए । किन्तु छेदशास्त्रका अर्थ सबको नहीं सुनाना चाहिए’ ॥४५१॥

व्यवहारवानसी परालोचितापराधस्य कथं प्रायश्चित्त ददातीत्याशङ्क्याया प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणाय  
गाथाद्वयम्—

**द्वयं क्षेत्रं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ।**

**संघर्षं परियायं आगमपुरिसं च विष्णाय ॥४५२॥**

'द्वयं क्षेत्रं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं' द्रव्यमित्यादीना विज्ञापेत्यनेन मन्वथ । तत्र द्रव्य त्रिविध सचित्तमचित्त मिश्रमिति । पृथिवी, आपस्तेजो वायु, प्रत्येककाया, त्रसाश्चेति सचित्तद्रव्यमित्युच्यते । तृण-फलकादिकं जीवैरनुमिश्र अचित्त । ससक्त उपकरण मिश्र । एव त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना । वर्षामु क्रोशाद्ध-गमनमिष्टं अर्धयोजन वा । ततः अधिकक्षेत्रगमन क्षेत्रप्रतिसेवना । अथवा प्रतिषिद्धक्षेत्रगमन, विरुद्धराज्य-

**विशेषार्थ—**पं० आशाधरजीने अपनी मूलाराधना टीकामे इनका अर्थ इस प्रकार किया है—ग्यारह अगोमे कहे गये प्रायश्चित्तको आगम कहते है । चौदह पूर्वोक्ते कहेको श्रुत कहते है । अन्य स्थानमे स्थित अन्य आचार्यके द्वारा अन्य स्थानमे स्थित अन्य आचार्यके द्वारा आलोचित अपने गुरुके दोषको ज्येष्ठ शिष्यके हाथ भजना आज्ञा है । कोई एकाकी मुनि पैरोमे चलनेकी शक्ति न होनेसे दोष लगनेपर वही रहते हुए पूर्वनिश्चित प्रायश्चित्तको करता है यह धारणा है । बहनर पुरुषोके स्वरूपको लेकर वर्तमान आचार्योंनि जो शास्त्रमे कहा है वह जीत है । श्वेताम्बरीय आगमोमे भी व्यवहारके ये ही पांच भेद किये है । आगमव्यवहारो छह है—केवल-ज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी और नौपूर्वी । शेष पूर्वधारी और ग्यारह अगके घारी श्रुतसे व्यवहार करते है । आगमव्यवहारो आगमसे ही व्यवहार करता है अन्यसे नही करता । यह भी चर्चा आती है कि केवलीका व्युच्छेद हो जानपर चौदह पूर्वधरोका भी विच्छेद हो गया अत प्रायश्चित्तदायक न रहनेसे प्रायश्चित्तका विच्छेद हो गया । किन्तु इसका निराकरण किया है । जो व्यवहार एक बार प्रवृत्त हुआ, दुबारा और त्रिवारा प्रवृत्त हुआ उसे महाजनने स्वीकार किया । वही पांचवां जीतकल्प व्यवहार है । जीत अर्थात् अवश्य ही कल्प-आचार जीतकल्प है । द्रव्य क्षेत्र काल भाव, सहनन आदिको हानिका लक्षमे रखकर दिया गया प्रायश्चित्त जीत है ॥४५१॥

वह व्यवहारवान् आचार्य दूसरेके आलोचित दोषका प्रायश्चित्त कसे देता है ? ऐसी आशका किये जाने पर दो गाथासे प्रायश्चित्त देनेके क्रमका निरूपण करते है—

गा०—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रव्रज्याकाल, आगम और पुरुषको जानकर प्रायश्चित्त देते है ॥४५२॥

टी०—द्रव्यके तीन भेद है—सचित्त, अचित्त और मिश्र । पृथिवी, जल, आग, वायु, प्रत्येककाय, अनन्तकाय और त्रस इन्हे सचित्त द्रव्य कहते है । जीवोसे रहित तृण, फलक आदि अचित्त द्रव्य है । जीवोसे सम्बद्ध उपकरण मिश्र है । इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवनाके तीन भेद हैं । वर्षामे आधा कोस अथवा आधा योजन जाना सम्मत है । उससे अधिक क्षेत्रमे जाना क्षेत्र प्रति-

गमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीयागमनं तस्यार्द्धो यदा क्रान्तः । उन्मार्गेण वा गमन । अन्त पुरप्रवेश । अननुशासगृहभूमिगमन । इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा । आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरण वर्षावप्रहाति-  
क्रमः इत्यादिका कालप्रतिसेवना । दर्पः, प्रमादः, अनाभोग, भयं, प्रदोष इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भाव-  
सेवा । एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा अथवा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्द्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसबहुल, धान्यबहुल, शाकबहुल  
यवागुशाकमात्र वा पानकमैव वेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञान । प्रायश्चित्तमाचरत अनुपजागलसाधारणक्षेत्रपरिज्ञान ।  
घर्मशीतसाधारणकालज्ञानं । क्षमामार्दवाज्वसतोषकादिक भावं क्रोधादिक वा । करणपरिणाम प्रायश्चित्त-  
क्रियाया परिणाम । सहवासार्थं किमयं प्रायश्चित्ते प्रवृत्त उत यशोर्थं, लामार्थंमृत कर्मनिर्जराथं इति ।  
'उच्छाहं' उत्साह । 'संघबन्ध' शरीरबल । 'परिघाथ' प्रव्रज्याकाल । 'आगमं' अल्प श्रुतमस्य बहु वेति । पुरितं  
'जावतरोभयातरंगो इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा ॥४५२॥

**मोक्षूण रागदोसे ववहारं पट्टवेइ सो तस्स ।**

**ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो ॥४५३॥**

'मोक्षूण' त्यक्त्वा । 'रागदोसे' राग द्वेष च मध्यस्थ सन्निवि यावत् । 'ववहारं पट्टवेइ सो तस्स'  
प्रायश्चित्तं ददाति स मूरिस्तस्मै । 'ववहारकरणकुसलो' प्रायश्चित्तदानकुशल । 'जिणवयणविसारदो' जिन-  
प्रणीते आगमे निपुण । धीरो घृतिमान् ॥४५३॥

सेवना है । अथवा वजित क्षेत्रमे जाना, विरुद्ध राज्यमे जाना, कट-टूटे मार्गसे जाना, ऐसे मार्गका  
आधा भाग जानेपर बहुसि अरक्षणीय मानकर लौट आना अथवा उन्मार्गसे जाना, अन्त पुरमे  
प्रवेश करना, जहाँ जानेकी आज्ञा नहीं है ऐसी गृहभूमिमे जाना इत्यादिके द्वारा क्षेत्र प्रति-  
सेवना करना । आवश्यककालमे छह आवश्यक न करके अन्यकालमे करना, वर्षाकालके नियम-  
का उल्लंघन करना, इत्यादि काल प्रतिसेवना है । घमण्ड, प्रमाद, अनाभोग, भय, प्रदोष आदि  
परिणामोमे प्रवृत्ति भाव सेवा है । इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवना आदिके द्वाग अपराधका निदान  
जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए । अथवा प्रकृतिके द्रव्यादिको जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए ।  
आहारके सम्बन्धमे ज्ञान होना द्रव्यपरिज्ञान है, रसबहुल—जिसमे रसकी अधिकता हो, धान्य-  
बहुल—जिसमे अन्नकी अधिकता हो, शाकबहुल—जिसमे शाकसब्जीकी अधिकता हो, यवागु—  
हलवा लपसी, शाकमात्र अथवा पानकमात्र । आहारके साथ दोषीकी प्रकृति जानकर उसे आहार  
बतलाना चाहिये । प्रायश्चित्त देते समय क्षेत्रका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह क्षेत्र जलबहुल  
है या जलकी कमी वाला है अथवा साधारण है । कालका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह गमीकं  
दिन है या शीतके दिन है अथवा साधारण है । क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि भाव है ।  
अथवा क्रोधादि भाव है । करण परिणामका अर्थ है प्रायश्चित्त करनेके परिणाम । यह प्राय-  
श्चित्त क्यों लेना चाहता है ? क्या यह साथ रहनेके लिए प्रायश्चित्तमें प्रवृत्त हुआ है अथवा  
यश, लाभ या कर्मों की निर्जराके लिए प्रवृत्त हुआ है । उसका प्रायश्चित्तमें उत्साह कैसा है,  
शरीरमे बल कितना है, दोषा लिए कितना काल हुआ है, शास्त्रज्ञान थोड़ा है या बहुत है ।  
और वैराग्यमें तत्पर है या नहीं ॥४५२॥

गा०—प्रायश्चित्त देनेमे कुशल और जिन भगवान्के द्वारा कहे गये आगममे निपुण धीर  
बहू आचार्य रागद्वेषको त्याग अर्थात् मध्यस्थ होकर उसको प्रायश्चित्त देता है ॥४५३॥

अज्ञात्वा प्रायश्चित्तग्रन्थ यो ददाति तस्य दोष सकीर्तयत्युत्तरगाथया—

बवहारमयाणंतो बवहरणिज्जं च बवहरंतो सु ।

उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदियदि ॥४५४॥

'बवहार अयाणंतो' प्रायश्चित्त ग्रन्थतोऽर्थात् कर्मतत्त्वाविद्वान् । 'बवहरणिज्जं च' व्यवहियते अति-  
चारविनाशायितेति बवहरणीयमालोचनादिक प्रायश्चित्त इति नवधा । 'बवहरंतो' प्रयच्छन् । उस्सीयदि  
अवसावति । क्व ? 'भवपंके' ससारपक्के । 'अजसं आदियदि' अयश तुण्डाचार्योऽयं यत्किञ्चन ददाति नाय पर  
शोधयति, ससारभीरुयतिजन द्यूयैव बलेषयति इति । 'कम्मं च आदियदि' बध्नाति कम्मं दर्शनमोहनीयास्य  
उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाशच । तस्मादजो न दद्यात्प्रायश्चित्तमिति सूत्रार्थ । आचार्याणामियं शिक्षा ।  
वयमाचार्या यदस्माभिर्दत्तं तथिद 'कुर्वन्तीति यत्किञ्चन न वक्तव्यम् । श्रुतरहस्या प्रायश्चित्तवानं  
यद्वलमिति ॥४५४॥

जह ण करेदि तिगिंछं वाधिसस तिगिंछओ अणिम्मादो ।

बवहारमयाणंतो ण सोधिकामं वि सुज्जेइ ॥४५५॥

यदि नाम मुखरा मुग्धानेकशिष्यजनपरिवृत्तन्वमात्रेणोपजाताहकारा मुखलोकैनादृता मन्ति सूरयस्ते  
भवद्भिः शुद्धयर्थं न डोकनीया इति शिक्षयति— 'जह ण करेदि तिगिंछं'—यथा न करोति चिकित्सा  
वाहित्स व्याधे । 'तिगिंछणो' वैद्यो । 'अणिम्मादो' अनिपुण । 'तहा' तथा । 'बवहारमयाणंतो' प्रायश्चित्त-  
मज्जनसूत्रि । 'सोधिकामं' रत्नत्रयशुद्धयभिलाष । ण सोवेदि नु न बोधयन्त्येव ॥४५५॥

जो प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने विना प्रायश्चित्त देता है उसका दोष कहते है—

गा०—टी०—जो प्रायश्चित्त शास्त्रको ग्रन्थरूपसे, अर्थरूपसे और कर्मरूपसे नहीं जानता,  
तथा अतिचारके विनाशके इच्छुक मुनिके द्वारा जिसका व्यवहार किया जाता है वह व्यवहरणीय  
है । आलोचना आदि नौ प्रकारका प्रायश्चित्त, उस जो देता है वह आचार्य ससाररूपी कीचड़मे  
फँसकर दुःख उठाता है तथा अपयश पाता है । लोग कहते हैं यह तुण्डाचार्य है जो कुछ भी प्राय-  
श्चित्त दे देता है, दूसरेके दोषकी विशुद्धि नहीं करता । ममारमे भीरु साधुओंको व्यर्थ ही कष्ट  
देता है । तथा उन्मार्गका उपदेश देनेसे और सन्मार्गका नाश करनेसे दर्शनमोहनीय नामक कर्मका  
बन्ध करता है । अतः अज्ञानीको प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिये यह इस गाथाका अभिप्राय है । यह  
आचार्यों की शिक्षा है । हम आचार्य हैं । हमने जो प्रायश्चित्त दिया है उसे करो, इस प्रकार जो  
कुछ भी नहीं बोलना चाहिये । प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाताओ ही प्रायश्चित्त देनेमे समर्थ होते  
हैं ॥४५४॥

जो वाचाल आचार्य मूढ़ अनेक शिष्योंसे घिरे रहने मात्रसे गर्वित हैं और मुखं लोग  
जिनका आदर करते हैं, प्रायश्चित्तके लिए उनके पास नहीं जाना चाहिये यह शिक्षा देते हैं—

गा०—जैसे अनिपुण वैद्य व्याधिकी चिकित्सा नहीं करता, वैसे ही प्रायश्चित्तको न जानने  
वाला आचार्य रत्नत्रयकी विशुद्धिके इच्छुकको शुद्ध नहीं करता ॥४५५॥

१. कुर्वतीति आ० । कुर्वति मू० । २. यत्त्वमिति आ० मू० ।

तम्हा णिव्विसिदव्वं ववहारविदो हु पादमूलम्मि ।

तत्थ हु विज्जा चरणं समाधि सोधी य णियमेण ॥४५६॥

'तम्हा णिव्विसिदव्वं' तस्मात्स्थितव्यं । 'ववहारविदो' व्यवहारवतः एव । 'पादमूलम्मि' पादमूले । 'तत्थ' तत्र व्यवहारविस्पादमूले । 'विज्जा' विद्या ज्ञान भवति । 'चरणं समाधी य' चारित्र समाधिदत्त । 'सोधी य' शुद्धिष्व । 'णियमेण' निवचयेन भवति । ववहारव ॥४५६॥

पगुब्बी एतद्व्याचष्टे—

जो णिक्खमणपवेसे सेज्जासंथारउवधिसंभोगे ।

ठाणणित्सेज्जागासे अगदूण विक्किंचणाहारे ॥४५७॥

'जो णिक्खमणपवेसे' यो यः सूरिः क्षपकस्य वसतेति क्रमणे प्रवेसे वा । 'सेज्जासंथारउवधिसंभोगे' वसते, संस्तरस्य, उपकरणस्य शोधने । 'ठाणणित्सेज्जागासे' स्थाने, निषद्यावकाशे, 'अगदूणविक्किंचणाहारे' शय्याया, शरीरमलाहरणे, भक्षपानढीकने च ॥४५७॥

अब्भुज्जदचरियाए उवकारमणुत्तरं वि कुव्वंतो ।

सव्वादरसत्तीए वट्टइ परमाए भत्तीए ॥४५८॥

'अब्भुज्जदचरियाए' क्षपकस्य अद्भ्यस्तचर्याया 'उपकारं' अनुग्रह हस्तावलम्बनादिकं । 'अणुत्तरं पकुव्वंतो' उत्कृष्ट प्रकुर्वन् । 'सव्वादरसत्तीए' सर्वादरभावत्या । 'भत्तीए' भक्त्या । 'परमाए' उत्कृष्टया । 'वट्टइ' वर्तते । स प्रकुर्वक सूरिर्भवति इति सबन्धः ॥४५८॥

इय अप्परिस्सममगणित्ता खवयस्स सव्वपडिचरणे ।

वट्टंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ ॥४५९॥

'इय' एव । 'अप्परिस्समं' आत्मपरिश्रम । 'अगणिता' अपरिमण्य । 'खवयस्स' आराधकस्य । 'सव्वपडिचरणे' सर्वशुश्रूषाया । 'वट्टंतो' वर्तमान । 'आयरिओ' आचार्य । 'पकुव्वओ णाम' 'प्रकारको नाम' 'सो होइ' स भवति । पकुव्वी गद ॥४५९॥

इसलिये क्षपकको प्रायश्चित्तके ज्ञाता आचार्यके पादमूलमे ही ठहरना चाहिये । उनके पादमूलमे रहनेसे ज्ञान, चारित्र, समाधि और शुद्धि निश्चयसे होती है ॥४५६॥

इस प्रकार व्यवहारवान्का कथन समाप्त हुआ । प्रकुव्वित्व गुणका कथन करते है—

गा०—जो आचार्य क्षपकके वसतिसे निकलने अथवा उसमे प्रवेश करनेमे, वसति संस्तर और उपकरणके शोधनमे, खड़े होने, बैठने, सोने, शरीरसे मल दूर करनेमे, खानपान लानेमे, इन पण्डितमरण सम्बन्धी चर्यामे समस्त आदर शक्तिसे और उत्कृष्ट भक्तिसे हस्तावलम्बन आदि द्वारा उत्कृष्ट उपकार करते हैं, वह आचार्य प्रकुर्वक होते है ॥४५७-४५८॥

गा०—इस प्रकार अपने श्रमका परवाह न करके जो आचार्य क्षपकको सब प्रकारसे सेवा करते हैं वह प्रकारक नामसे कहे जाते हैं ॥४५९॥

क्षपकशिक्षापरा गाथा—

खवओ किलाभिदंगो पडिचरयगुणेण णिच्चुदिं ल्हइ ।

तम्हा णिच्चिसिदच्चं खवएण पकुच्चयसयासे ॥४६०॥

‘खवओ’ क्षपक । ‘गिलामिदंगो’ ग्लानशरीर । ‘पडिचरयगुणेण’ शुभ्रवागुणेनेव, ‘णिच्चुदिं ल्हइ’ सुख लभते । यस्मात् । तम्हा—तस्मान् णिच्चिसिदच्चं-निवेद्य । ‘खवणेण’ क्षपकेण । पकुच्चयसयासे विनय-कारिण. समोपे । पगुच्चोपे ॥४६०॥

आयोपायविदसीत्येतद्द्विधाक्यानायोत्तरप्रबन्ध —

खवयस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा हु ।

तम्हा छहादिण्हिं य खवयस्स विसोत्तिया होइ ॥४६१॥

‘खवयस्स’ क्षपकस्य । ‘तीरपत्तस्स वि’ तीर प्राप्तस्यापि । ‘रागदोसा गुणा होंति’ रागद्वेषी गुरु तीव्री भवत । ‘तम्हा’ तस्मात् ‘छहादिण्हिं य’ क्षुत्पिपासादिभिः परोषद्वेष कारणभूतैः । ‘खवयस्स’ क्षपकस्य ‘विसोत्तिया होइ’ अशुभपरिणामो जायते ॥४६१॥

थोलाइदूण पुच्चं तप्पडिवक्ख पुणो वि आवण्णो ।

खवओ तं तह आलोचेदु लज्जेज्ज गारविदो ॥४६२॥

‘थोलाइदूण पुच्चं’ प्रव्रज्यादिक्रमेण तद्दिनपर्यवसान रत्नत्रयातिचार निवेदयामोति पूर्वं प्रतिज्ञाय । ‘तप्पडिवक्ख’ तस्यापराधप्रत्याख्यानस्य प्रतिपक्षेन निवेदन । ‘आवण्णो’ आपन्न प्राप्तः । ‘खवओ तं तह आलोचेदु लज्जेज्ज गारविदो’ क्षपकस्तमपराध तथा स्वाचरितक्रमेण गदितु जिन्हेंति सभावनागुहः ॥४६२॥

तो सो हीलणभीरू पूयाकामो ठवेणइत्तो य ।

णिज्जूहणभीरू वि य खवओ वि न दोसमालावे ॥४६३॥

‘तो’ पदचात् । ‘सो’ क्षपक । ‘हीलणभीरू’ जातमदीयापराधा इमे मामवजानन्ति इति अवज्ञाभोस ।

गा०—यत् रोगस्य प्रसूत क्षपक आचार्यके सेवागुणसं सुख प्राप्त करता है, अत क्षपकको सेवा करनेवाले आचार्यके समोप ठहरना चाहिये ॥४६०॥

प्रकारकका कथन समाप्त हुआ ।

आय अपाय विदग्धित्व गुणका कथन करते हैं—

गा०—यद्यपि क्षपक ससार समुद्रके किनारे पटुच जाता है फिर भी उसे तीव्र रागद्वेष होते हैं । अत भूख प्यासकी परीषदांके कारण क्षपकके अशुभ परिणाम होते हैं ॥४६१॥

गा०—क्षपक पूर्वमे प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेनेके दिनसे समाधि धारण करनेके दिन तक रत्नत्रयमे जो दोष लगे हैं उन सबको मे गुरुके सामने निवेदन करूंगा । ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध निवेदनका समय आता है तो अपना बडप्पन जानकर क्षपक उस अपराधको जिस प्रकार वह किया गया उसी प्रकारसे कहनेमे लज्जा करता है ॥४६२॥

गा०—पश्चात् वह क्षपक डरता है कि मेरे अपराधको जानकर ये सब मेरी अवज्ञा



‘पूजाकारो य’ बन्दनाभ्युत्थानं इत्यादिकायां पूजायामभिलाषवान् । सापराधं न पूजयन्तीति । ‘ठञ्जइसो य’ आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामश्च । ‘गिञ्जहृणनीक वि य’ मामिमे सापराध त्यजन्तीति त्यागभीक्ष्ण्च । ‘सञ्चो वि’ स्वापराधं शरीरं च क्षापयामीति प्रवृत्तोऽपि । ‘बालोचेञ्च दोषं’ न कथयेद् गुरोरात्मीयं दोषं ॥४६३॥

तस्स अबायोपायविदंसी खवयस्स ओषपण्णवओ ।

आलोचेंतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥४६४॥

‘तस्स खवयस्स गुणदोसे दंसेविति पदसंबन्ध । तस्य अनालोचकस्य आलोचनाया गुणमितरत्र दोषं च दर्शयति । क ? ‘आयोपायविदसी’ आयोपायविदर्शी सूरिः । अपायो रत्नत्रयस्य विनाशः उपायो लाभ । उपशब्दोऽनर्थक इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आठ शुद्धिर्लाभ तदुभयदर्शी । ‘ओषपण्णवओ’ सामान्य प्ररूपयन् यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोष इति । ‘आलोचेंतस्स वि’ अपि शब्दोऽत्र लुप्तनिदिष्टो आलोचना कुर्वंतोऽपि । ‘अणुज्जगस्स’ मायावत् ॥४६४॥

मायाया दोष याथात्म्यकथने गुणं च दर्शयति । एव दोषप्रकटन कर्तव्यमित्याचष्टे—

दुक्खेण लहइ जीवो संसारमहण्णवम्मि सामण्णं ।

त संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ॥४६५॥

‘दुक्खेण लहइ जीवो’ क्लेशेन लभते जीवः । कि ? ‘सामण्णं’ श्रामण्य चारित्रं समयम् । क्व ? ‘संसार-महण्णवम्मि’ चतुर्गतिपरिभ्रमणमहर्णवं दुष्प्रापपारतया संसारो महर्णव इव । ‘खु’ शब्द ‘णासेइ’ इत्यत परतो अवधारणायां द्रष्टव्यम् । त मयमं नाशयत्येव ‘बुधः’ अविद्वान् । ‘ससल्लमरणेण’—यद्यपि शल्यमनेक-प्रकार मिथ्यामायानिदानशल्यभेदेन तथापीह प्रकरणवशान्मायाशल्यं गृह्यते, मायाशल्यसहितेन मरणेनेत्यर्थः ।

करेगे । उसकी अभिलाषा अपनी पूजा कराने की है कि मेरी बन्दना करे, मेरे लिए उठकर खड़े होंगे । किन्तु अपराध जात होने पर तो पूजा नहीं करेगे । वह अपनेको सम्यक् आचारमे स्थापित करना चाहता है । किन्तु अपराधी जानकर यह मुझे त्याग देगे, इसमे डरता भी है । अत अपने अपराध और शरीरको त्यागनेके लिए तत्पर होते हुए भी वह गुरुसे अपने दोषोको नहीं कहता ॥४६३॥

गा०—उस अपने दोषोकी आलोचना न करनेवाले अथवा आलोचना करते हुए भी माया-चार पूर्वक आलोचना करनेवाले क्षपकको आय और उपायको दिखलाने वाले आचार्य आलोचना-के गुण और आलोचना न करनेके दोष सामान्यसे बतलाते हैं कि जो अपना अपराध नहीं कहता उसको यह दोष होता है ॥४६४॥

टी०—रत्नत्रयके विनाशको अपाय और रत्नत्रयके लाभको उपाय कहते है । ‘उप’ शब्द व्यर्थ है’ ऐसा मानकर रत्नत्रयका ‘आठ’ अर्थात् शुद्धि और लाभ दोनोको दिखानेवाले आचार्य आयोपायविदर्शी होते है ॥४६४॥

गा०—टी०—इस संसारका पार पाना बड़ा कठिन है इसलिये चारो गतिमे भ्रमण रूप संसारको महासमुद्रकी उपमा दी है । उसमें भ्रमण करते हुए ‘श्रामण्य’ अर्थात् चारित्रको—समयको जीव बड़े कष्टसे प्राप्त करता है । अज्ञानी उस समयको संशय मरणसे नष्ट कर देता है । यद्यपि मिथ्यात्व, माया और निदानके भेदसे शल्यके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ प्रकरणवश मायाशल्य

ननु समाप्तनायाः प्रस्तुतत्वात् श्रामण्यं इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्तं 'त संजयमिति' । अस्या-  
यमभिप्रायः<sup>१</sup> श्रमणशब्दस्य द्रव्येऽप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छ्रामण्यं किं च तत्संयमः । तथाहि सावद्यक्रियापरो नायं  
श्रमण इति कोको वदति । ततो युक्तमेव भावशाल्यमात्मन्यवस्थितमिव<sup>२</sup> दोषभावहतीति दृष्टान्तमुखेन  
कथयति—॥४६५॥

जह धाम दृक्वसन्ले अणुद्दे वेदणुद्दिदो होदि ।

तह भिक्खु विं ससन्लो तिक्वदुहड्डो भयोच्चिग्गो ॥४६६॥

'जह धाम' यथा नाम स्फुट । 'दृक्वसन्ले' शरकण्टकादौ 'अणुद्दे' अनुद्देते अनिराकृते । 'वेदणुद्दिदो  
होदि' वेदनाती भवति । 'तह' तथा । 'भिक्खु विं' भिक्षुरपि । 'ससन्लो' भावशाल्यवान् । 'तिक्वदुहड्डो  
होदि' तीव्रदुःखितो भवति । 'भयोच्चिग्गो' भयेन चलो भवति । एवमनुद्दतशाल्यो गमिष्यामि का गतिमिति  
भयमस्य जायते । एवमर्थं दृष्टान्तेनाविरोधयति ॥४६६॥

कंटकसन्लेण जहा वेघाणी चम्मखीलणाली य ।

रफ्फइयजालगसागदो य पादो पडदि पच्छा ॥४६७॥

'कंटकसन्लेण जहा' कण्टकास्थेन शल्येन करणमृतेन यथा । 'वेघाणी चम्मखीलणाली य' व्यधनचम-  
कीलनालिकाश्च भवन्ति । 'रफ्फइयजालगसागदो य' कुपितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः स पाद 'पडदि' पतति  
पश्चाद्यथा ॥४६७॥

एवं तु भावसन्लं लज्जागारवभएहिं पडिबद्धं ।

अप्यं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥४६८॥

लिया है । मायाशाल्य सहित मरणसे अज्ञानी संयमको नष्ट करता है ।

शब्द—यहाँ तो 'श्रामण्य' शब्दसे समानता ली गई है । उसे छोड़कर 'संयम' क्यों कहा ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यमे प्रवृत्ति न करनेमे निर्मित जो श्रामण्य है  
वही संयम है । लोग कहते ही हैं कि यह पापकार्योमे प्रवृत्ति करता है अत श्रमण नही है । अत  
आत्मामें स्थित भावशाल्य दोषकारी है यह कहना उचित ही है ॥४६५॥

इसे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—जैसे शरीरमें लगे बाण, काँटा आदि द्रव्यशाल्यको न निकालनेपर मनुष्य कष्टसे  
पीड़ित होता है । उसी प्रकार भावशाल्यसे युक्त भिक्षु भी तीव्र दुःखित होता है और भयमे विचल  
होता है कि शाल्यको दूर न करनेपर मे किस गतिमें जाऊँगा । इस प्रकार दृष्टान्तसे अविरोध  
दिखलाया है ॥४६६॥

गा०—जैसे पैरमें काँटा घुसनेपर पहले पैरमें छिद्र होता है फिर उसमे माँसका अंकुर उग  
आता है और वह नाडीतक पहुँचता है । पीछे उस पैरमे साँपकी बाँबी जैसे दुर्गन्ध युक्त छिद्र हो  
जाते हैं ॥४६७॥

१. प्रायः तदिति सजम श्रामण्यमेवेति निरूपित ज्ञातव्यमिति ततो युक्त-आ० । २. मिह बो-आ० ।

‘एवं तु’ एवमेव । ‘भावसत्त्वं’ परिणामसत्त्व । ‘लज्जान्तरवधोर्हि पञ्चवक्त्रं’ स्वापराधनिग्रहं लज्जातो भवति । भयेन अपराध कथिते कृप्यन्ति गुरवस्त्यजन्ति वा मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति । भयात् । तपस्व्यय सुसंयत इति महती प्रसिद्धि सा विनश्यतीति गौरवेण च प्रतिबद्धमायाशल्य । ‘अल्पं वि’ अल्पमपि । शल्यं ‘अणुद्धरित्वं’ अनुद्धृतं । ‘भवसील्युणे’ व्रतानि शीलानि गुणाश्च विनाशयति ॥४६८॥

तो भद्रबोधिलाभो अणंतकालं भवण्णए मीमे ।

जम्मणमरणावचे जोणिसहस्साउले भमदि ॥४६९॥

‘तो’ पश्चात् । ‘भद्रबोधिलाभो’ विनष्टदीशामिमुलबुद्धिलाभ । ‘अणंतकाल भमदि’ अनन्तकाल भ्रमति । क्व ? ‘भवण्णवे’ भवार्णवे । ‘मीमे’ भयंकरे । ‘जम्ममरणावंचे’ जन्ममरणावर्ते । ‘जोणिसहस्साउले’ चतुरशीतियोनिसहस्राकुले ॥४६९॥

तत्थ य कालमणंतं घोरमहावेदणासु जोणीसु ।

पच्चंतो पच्चंतो दुक्खसहस्साइ पप्पेदि ॥४७०॥

‘तत्थ य’ तत्र च भवार्णवे । ‘अणंतकालं दुक्खसहस्साइ पप्पेदि इति’ पदघटना । अनन्तकाल दुःखसहस्राणि अनुभवति । ‘घोरमहावेदणासु जोणीसु पच्चंतो’ घोरमहावेदनासु योनिषु पच्यमान ॥४७०॥

तं न खमं खु पमादा मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण ।

आयरियपादमूले उद्धरिदव्वं हवदि सल्लं ॥४७१॥

‘तं’ तस्मात् । ‘मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण न शानो खु’ मुहूर्तमात्रमपि आसितु शल्यसहितेन रत्नत्रयेण सह न शक्त प्रमादवशाद्यति संसारमीश । ‘आयरियपादमूले’ उक्तगुणस्याचार्यस्य पादमूले । ‘उद्धरिदव्वं हवदि सल्लं’ शल्यमुद्धृतव्यं भवति ॥४७१॥

गा०—टी०—इसी प्रकार लज्जा भय और गारवसे प्रतिबद्ध थोड़ा-सा भी भावशल्य यदि दूर न किया जाये तो व्रत शील और गुणोंको नष्ट करता है । लज्जावश साधु अपने अपराधको छिपाता है । या अपराध प्रकट करनेपर गुरुजन क्रुद्ध होंगे, मुझे त्याग देंगे अथवा बड़ा प्रायश्चित्त देंगे इस भयसे दोषको छिपाता है । अथवा मेरी जो महती प्रसिद्धि है कि यह तपस्वी उत्तम संयमी है वह नष्ट हो जायेगी इस भयसे दोषको छिपाता है । यह मायाशल्य है । इसे यदि दूर नहीं किया गया तो क्षणिके व्रत शील गुण नष्ट हो जाते हैं ॥४६८॥

गा०—पीछे दीक्षा धारण करके जो बुद्धिलाभ किया था वह नष्ट हो जाता है और चौरासी हजार योनियोंसे भरे, और जन्ममरणरूपी भँवरोंसे युक्त भयंकर भवसमुद्रमें अनन्तकालतक भ्रमण करता है ॥४६९॥

गा०—और उस भवसमुद्रमें भयंकर महावेदनावाली योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनन्तकालतक हजारों दुःख भोगता है ॥४७०॥

गा०—इसलिए संसारसे भीत यतिको प्रमादवश एक मुहूर्तमात्रके लिए भी शल्यसहित रत्नत्रयके साथ रहना उचित नहीं है । उक्त गुणवाले आचार्यके पादमूलमें उसे अपने शल्यको निकाल देना चाहिए ॥४७१॥

**तम्हा जिणवयणरुई जाइजराभरणदुखवित्तथा ।**

**अज्जवमह्वसंपण्णा भयलज्जाउ पमोत्तूण ॥४७२॥**

'तम्हा' तस्मात् । 'जिणवयणरुई' जिनागमे श्रद्धावन्त । 'जाइजराभरणदुखवित्तथा' जातिजराभरणदुखवित्तथा । 'अज्जवमह्वसंपण्णा' आर्जवेन मार्दवेन च युक्ता । 'भयलज्जाओ' भय लज्जा वा । 'पमोत्तूण' मुक्त्वा ॥४७२॥

**उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणभवलयाए ।**

**संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥४७३॥**

'उप्पाडित्ता' उत्पाद्य । धीरा । कि ? मूल । कथ ? 'असेस' निरवशेष । कस्य मूल ? 'पुणभवलयाए' पुनर्भवलयाया । कि तन्मूल ? शल्य । 'संवेगजणियकरणा' ससारभीक्षुतोत्पादितक्रिया । 'तरंति' तरन्ति । 'भवसायरमणंतं' भवसागरमनन्त ॥४७३॥

उक्तवस्तूपनहारार्था गाथा—

**इय जइ दोसे य गुणे ण गुरू आलोयणाए दंसेइ ।**

**ण गियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥४७४॥**

'इय' एव । 'जइ गुरू ण दंसेवि' यदि गुरुं दर्शयेत् क्षपकस्य । कि 'आलोयणाए गुणे' स्वापराधक-यनस्य गुणान् । 'दोसे य' दोषाश्च यदि न दर्शयेत् । आलोयणाए इति वान्यशेष । 'सो खवओ ण गियत्तवि' असौ क्षपको न निवर्तते । कुत ? 'तत्तो' पूर्वोक्तदोषान्मायाशल्यात् । 'गुणे य ण परिणमवि' गुणे च नि शल्यत्वं न परिणमते ॥४७४॥

**तम्हा खवण्णाओपायविदंसिस्स पायमूलम्मि ।**

**अप्पा णिव्विसिदव्वो धुवा हु आराहणा तत्थ ॥४७५॥**

'तम्हा' तस्मान् आयोपायदर्शिनः पादमूले यस्माद्दोषान्निवर्तते क्षपको गुणे च परिणमते तदुभयार्थी च । 'तम्हा' तस्मात् 'खवणेण' क्षपकेन 'आयोपायविदंसिस्स' गुणदोषदर्शिनः । पादमूलमिह पादमूले । 'अप्पा णिव्वि-

गा०—अतः जिनागमके श्रद्धालु और जन्म जरा मरणके दुखमें भीत क्षपकको भय और लज्जाको छोड़ आर्जव और मार्दवसे युक्त होना चाहिए ॥४७२॥

गा०—धीर क्षपकः पुनर्जन्मरूपी लताके मूल सम्पूर्ण शल्यको उखाड़कर ससारके भयसे उत्पन्न किये चारित्रिको धारण करके अनन्तभवसागरको तिर जाते है ॥४७३॥

उक्त कथनका उपसंहार करते है—

गा०—इस प्रकार यदि गुरु क्षपकको आलोचना अर्थात् अपने अपराधको कहनेके गुण और दोष न बतलावे तो वह क्षपक पूर्वोक्त मायाशल्य दोषसे निवृत्त न हा और निःशल्य नामक गुणसे युक्त न हो ॥४७४॥

गा०—यत आय-उपायके दर्शी आचार्यके पादमूलमें रहनेसे क्षपक दोषसे निवृत्त होता

सिबब्बो' आत्मा स्थापयितव्य । तत्र गुणमाचष्टे 'बुवा बु आराहणा तत्त्वं' निश्चिता रत्नत्रयाराधना तत्र ।  
आधोवायः ॥४७५॥

अवपीडकत्व व्याख्यातुकाम सबन्धति पूर्वैण उपायदर्शित्वेन—

आलोचणगुणदोसे कोई सम्म पि पण्णविज्जंतो ।

तिच्चेहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए खवए ॥४७६॥

'आलोचणगुणदोसे' आलोचनाया गुणदोषान् । 'कोई' कश्चित् । 'सम्मं पि पण्णविज्जंतो' सम्यग्बोध-  
मानोऽपि । 'खवगो णालोचए सम्म' क्षपक सम्यक् न कथयेत् । केन हेतुना ? 'तिच्चेहिं गारवादिहिं' तीव्रगार-  
वादिभिः आदिशब्देन लज्जाभयकलेशासहत्वं च गृह्यते ॥४७६॥

एवमनालोचयतोऽपि भाव प्रचान्ति नेतव्यो निर्यापकेनेत्येतद्व्याचष्टे—

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पन्हादणिज्जमेगंते ।

तो पन्हावेदव्वो खवओ सो पण्णवंतेण ॥४७७॥

'णिद्धं' स्नेहवत् । 'मधुरं' श्रुतिमुग्ध । 'हिदयंगमं' हृदयानुप्रवेशि । 'पन्हादणिज्जं' सुखदं । 'एगंते'  
एकान्ते । 'पन्हावेदव्वो' शिक्षयितव्य । 'खवगो' क्षपक । 'सो' स । आत्मापराध यो न कथयति । 'पण्णवं-  
तेण' प्रजापयता मूरिणा । आयुष्मन् ! उपलब्धमन्मार्गरत्नत्रयनिरतिचारकरणे समाहितचित्त । अतिचार  
निवेदय लज्जा, भय, गारव च विहाय । गुरुजनं हि मात्रा पित्रा च मद्दृश, तेषा कथने का लज्जेति । स्वदोष-  
निव न प्रख्यापयन्ति परेषा यतीना । यतिधमस्य वा अवर्णवाद प्रयत्नेन विनाशयितुमुद्यता किमयश प्रययन्ति ।

हे और गुणसे युक्त होता है । अत क्षपकको गुणदोष दिखलानेवाले आचार्यके पादमूलमे अपनेको  
ग्वना चाहिए । ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी आराधना होना निश्चित है ॥४७५॥

आयोपायका कथन समाप्त हुआ ।

अब अवपीडक गुणका कथन करनेकी इच्छासे उसका उक्त उपायदर्शित्व गुणके साथ  
सम्बन्ध जोडते है—

गा०—कोई क्षपक आलोचनाके गुण और दोषोको अच्छी तरह समझनेपर भी तीव्र गारव,  
आदिके कारण सम्यक् रूपसे अपने दोषोको नहीं कहता । यहाँ आदि पदसे लज्जा, भय और कष्टको  
सहन न करना लिए गये है ॥४७६॥

इस प्रकार आलोचना न करनेवाले क्षपकके भावको निर्यापक आचार्यको शान्त करना  
चाहिए, यह कहते है—

गा०—टी०—जो अपना अपराध नहीं कहता उस क्षपकको समझानेवाले आचार्यको  
एकान्तमे स्नेहसे भरे, कानोको सुखकर और हृदयमे प्रवेश करनेवाले मुखदायक वचनोसे शिक्षा  
देना चाहिए । प्राप्त सन्मार्ग रत्नत्रयके निरतिचार पालनसे सावधान आयुष्मन् ! लज्जा, भय  
और मान छोडकर दोषोको निवेदन करो । गुरुजन माता-पिताके समान होते है उनसे कहनेमे  
लज्जा कैसी ? वे अपने दोषकी तरह दूसरे यतियोके भी दोष किसीसे नहीं कहते । जो यतिधर्म

समीचीनदर्शनस्य मुक्तिपार्श्वे प्रधानस्य मलं हि तद्यतिजने दूषणं । अतिचारहिमान्या दृत च रत्नत्रयकमलवनं न शोभते । परनिन्दा नीचैर्गोत्रस्यालव । स्वयं च निन्द्यते बहुषु जन्मसु निन्दक । परस्य मनःसंतापं दुस्सहं सम्पादयती असद्वेद्यकर्मबन्ध स्यात् । साधुजनोऽपि निन्दति स्वधर्मतनयं किमर्थमय एव अयथा पङ्कजे लम्प्यतीति । एवमनेकानर्थान्वहपरदोषप्रकटनं क सचेतन करोतीति ॥४७७॥

शिद्वं महुरं हृदयंशमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।

कोइ तु पण्णविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ॥४७८॥

एव प्रज्ञापमाया सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरसूत्रार्थं ।

तो उप्पीलेद्व्वा ख्वयस्सोप्पीलएण दोसा से ।

वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ॥४७९॥

'तो' पदचात् । 'उप्पीलएण' अवपीडयितव्या । के ? 'दोसा' दोषा । कस्य ? 'से' तस्य । 'ख्वयस्य' क्षपकस्य । केन ? 'उप्पीलएण' अवपीडकेन सूरिणा । अपसरास्मत्सकाशात्, किमस्माभिर्भवत प्रयोजनं ? यो हि स्वशरीरग्लानमलप्रक्षालनेच्छ स ढीकते काचच्छायानुसारिसलिल सर । यो वा महारोगीरगप्रस्तस्तदपनयनाभिलाषवान् स वैद्य ढीकते । एव रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुंमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजन । भवत्तत्र रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवादर किमनया क्षपकत्वविडम्बनया । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्रायता सल्लेखनेय ।

पर मिथ्या दोषारोपणको नष्ट करनेमें तत्पर रहते हैं वे क्या अपयश फैला सकते हैं ? मोक्षमार्गमें प्रधान सम्यग्दर्शन है और यतिजनमें दूषण लगाना सम्यग्दर्शनका अतिचार है । रत्नत्रयरूपी कमलोका वन यदि अतिचाररूपी हिमपातसे नष्ट हो तो वह शोभित नहीं होता । परनिन्दासे नीचगोत्र कर्मका आस्रव होता है । जो दूसरोकी निन्दा करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें निन्दाका पात्र बनता है । दूसरेके मनको असह्य सन्ताप देनेवालेके असातावेदनीयकर्मका बन्ध होता है । साधुजन भी निन्दा करते हैं कि अपने धर्मपुत्रको यह इस प्रकार अपयशरूप कीचडसे क्यों लिप्त करता है । इस तरह दूसरोके दोषोंको प्रकट करना अनेक अनर्थोंका मूल है । कौन समझदार उसे करना पसन्द करेगा ॥४७७॥

गा०—स्निग्ध, मधुर, हृदयग्राही और सुखकर वचनोके द्वारा एकान्तमें समझानेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोंको सम्यक् रूपसे नहीं कहता ॥४७८॥

गा०—तब जैसे सिंह स्यारके पेटमें गये मासको भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमें छिपे हुए मायाशल्य दोषोंको बाहर निकालता है ॥४७९॥

टी०—हमारे सामनेसे दूर हो जाओ । आपको हमसे अब क्या प्रयोजन है ? जो अपने शरीरमें लगे मलको धोना चाहता है वह काचके समान निर्मल जलवाले सरोवरके पास जाता है । अथवा जो महान् रोगरूपी सर्पसे डँसा गया है और उसे दूर करना चाहता है वह वैद्यके पास जाता है । इसी प्रकार जो रत्नत्रयमें लगे अतिचारोंको दूर करना चाहता है उसे गुरुजनके पास जाना चाहिए । आपको अपने रत्नत्रयकी शुद्धि करनेमें आदर नहीं है तब इस क्षपकका रूप धारण करनेसे क्या लाभ ? यह सल्लेखना केवल चार प्रकारके आहारका त्याग करनेमात्रसे

अपि तु कषायसल्लेखनायता । संवरो निर्जरा च, कषाया ह्यभिनवकर्मादाने, बन्धे, स्थितिविधाने चोद्यता परिहरणीयाः । तेषु च कषायेषु मायातिनिकृष्टा तिर्यग्योनिनिर्बर्तनप्रवणा । ता त्यक्तुमसमर्थस्यापि प्रविष्टस्य भवत संसारोद्वेष्टिर्यग्यवावर्त्त । ततो निःसरणमतिदुष्करं । वस्त्रमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रन्थताभिमानोद्बृहन्मयसत्यं, सत्येव तिर्यग्बोधिनिर्ग्रन्थाः स्युः । चतुर्दशप्रकारस्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य त्यागाद्भावनेर्ग्रन्थ्य ममवतिष्ठते । तदेव हि मुक्तैरुपायः । भावनैर्ग्रन्थस्य उपाय इति दशविधबाह्यग्रन्थत्याग उपयोगी मुमुक्षोः । न हि जीवपुद्गलद्रव्यसन्निधानमात्राधीनः कर्मबन्धः । अपि तु तन्निमित्तजीवपरिणामालम्बन । अतिचारवन्ति दर्शनादीनि न मुक्तैरुपायः । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भोक्ष्यमाणः' इति किन्तु भवत श्रुतिगोचरमायातं जैन वचः ? समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारित्राणा निरतिचारता । सा च गुरुपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणे । गुरवोऽपि कृतान्लोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरभयं अभव्यो वा । आसन्नभयस्यैव सति किमेव महात्मायाशल्यं भवति ? नैव यतिजनवन्दनाहोऽसि । 'समणं बंदेज्ज येथावो संबवं सुसमाहिं' इति वचनात् । जीवितमरणयोल्लभाभयोनिन्दाप्रशंसयोश्च समानचित्ततया समानो भवति । अतिचारनिवेदने मा निन्दन्नि न प्रशंसन्तीति भवता नालोच्यते । तत्कथं समानोऽसि ? कथं वा वन्द्य ?

'सिंहो अहा सियालं उवरम्वि नवं पि मंस वामेवि' सिंहो यथा शृगालमुदरप्रविष्टमपि माममुद्गारयति तदन्मायाशल्यमन्तर्लीनं निस्सारयत्यवपोडक ॥४७९॥

नही होती । किन्तु इसके लिए कषायको कृश करना चाहिए । तभी यह सल्लेखना होती है । तथा संवर और निर्जरा भी करना चाहिए । कषाय तो नवीन कर्मोंके ग्रहण, बन्ध और उनके स्थितिवन्धको करती है अतः वह त्यागने योग्य है ।

उन कषायोंमें माया अत्यन्त खराब है वह तिर्यग्भ्रगतिमें ले जाती है । आप उसे छोड़नेमें असमर्थ है अतः आप संसार समुद्रके तिर्यग्भवरूपी भँवरमें फँस गये हैं । वहाँसे निकलना अत्यन्त कठिन है । वस्त्रमात्रके त्यागसे अपनेको निर्ग्रन्थ माननेका अभिमान करना भी झूठा है । यदि कोई इतनेसे ही निर्ग्रन्थ हो तो पशु भी निर्ग्रन्थ कहे जायेंगे । चौदह प्रकारकी अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागसे भावनैर्ग्रन्थ्य होता है । वही मुक्तिका उपाय है । भावनैर्ग्रन्थ्यका उपाय है दस प्रकारकी बाह्यपरिग्रहका त्याग । वह मुमुक्षुके लिए उपयोगी है । जीव और पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धमात्रसे कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु उसके निमित्तसे होनेवाले जीवके परिणामोंके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है । अतिचार सहित सम्यग्दर्शन आदि मुक्तिके उपाय नहीं है । 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भोक्षका मार्ग है ।' क्या यह जिनागमका वचन आपके कानोंमें नहीं गया ? निरतिचार होना ही दर्शन ज्ञान और चारित्रकी समीचीनता है । और वह निरतिचारता गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको करनेपर ही होती है । गुरु भी उसीको प्रायश्चित्त देते हैं जो आलोचना करता है । अतः आप या तो दूर भय है या अभय हैं । यदि निकट भय होते तो इस प्रकारका महात्मायरूप शल्य क्यों होता । तुम यतिजनोंके द्वारा वन्दना करने योग्य नहीं हो । क्योंकि आगममें कहा है—

'बुद्धिमान्को संयमी और सम्यक् रूपसे समाहित श्रमणकी वन्दना करनी चाहिए ।' जीवनमरणमें, लाभ अलाभमें, निन्दा प्रशंसामें जिसका चित्त समान रहता है वही श्रमण या समण होता है । 'दोष कहनेपर लोग मेरी निन्दा करेंगे, प्रशंसा नहीं करेंगे' इसलिए आप आलोचना नहीं करते । तब आप कैसे समण (समान) हैं और कैसे वन्दनीय हैं । इस प्रकार

इदृगवपीडको भवतीत्याचष्टे—

उज्जस्सी तेजस्सी वरुचस्सी पहिदकित्तियायरिओ ।

सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥४८०॥

यो यद्वितकामस्स त बलात्तत्र प्रवर्तयति । यथा हिता माता बाल घृतपाने इत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिल्लेदूण गडंत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता ।

पज्जेह घदं माया तस्सेव हिदं विचितंती ॥४८१॥

‘पिल्लेदूण मुहं विदारित्ता घदं पज्जेवि’ यथा जननी बालहितचिन्तोयता पूर्वकुर्वन्समपि बाल अवष्टम्य  
मुख विदायं घृत पाययति ॥८८१॥

वाष्टान्तिकेनायोजयति—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोमणीहरणं ।

कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडु ओसहं वत्ति ॥४८२॥

‘तह’ तथा । ‘आयरिओ’ आचार्योऽपि । ‘अणुज्जयस्स खवयस्स’ अनुजो क्षपकस्य । ‘दोमणीहरणं कुणदि’  
मायाशल्पनिरास करोति । ‘कडुओसहं वत्ति’ कटुकमोपघमिव । ‘से’ तस्य । ‘पच्छाहिं होवि’ पश्चाद्वित  
भवतीति ॥४८२॥

यो न निर्भर्त्सयति दोष दृष्ट्वापि प्रियमेव वक्ति, स गुरु गोभन इति न भवदिभर्मन्तव्यमित्यु-  
पदिशति—

जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि ।

पाएण वि ताडितो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि ॥४८३॥

कहकर अवपीडक आचार्य उसके मुखमें दोष उगलवाते है ॥४७९॥

अवपीडक आचार्य ऐसे होते है, यह कहते है—

गा०—जो ओजस्वी-बलवान्, तेजस्वी-प्रतापवान्, वर्चस्वी-प्रदोका उत्तर देनेमें कुशल,  
प्रसिद्ध कीर्तिशाली और मिहके समान आचार्य होते है उन्हें जिवभगवान्ने उल्पीडक नामसे कहा  
है ॥४८०॥

जो जिमका हित चाहता है वह उस बलपूर्वक उममे लगाता है उसे हित चाहनेवाली  
माता बालकको बलपूर्वक घी पिलाती है यह आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—जमे बालकके हितकी चिन्तामें नरार माता चिल्लात हुए भी बालकको पकडकर  
उसका मुंह फाडकर घी पिलाती है ॥४८१॥

उक्त दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिके साथ जोडते है—

गा०—उसी प्रकार आचार्य भी कुटिल क्षपकके मायाशल्पन दोषको निकालते है । और  
वह कडुवी औपधिकी तरह पीछे उस क्षपकके लिए हितकारो होता है ॥४८२॥

जो क्षपकके दोष देखकर भी उसका तिरस्कार नहीं करता, प्रियवचन ही बोलता है वह  
गुरु उत्तम है ऐसा आप न सोचना, यह उपदेश क्षपकको देते है—



'जिम्भाए बि लिहंतो' जिह्वाया स्वावयक्षपि 'ग भद्गो' नैव भद्रक । 'जल्प सारणा णत्वि' यम्भि-  
मगुरो दोषनिवारणा नास्ति । 'पाएण बि ताडितो' पादेन ताडयक्षपि 'स भद्गो' स मूरिभद्रक । 'सारणा  
जल्प अत्वि' सारणा यत्र गुरो विद्यते ॥४८३॥

सारणकस्य सूरेभद्रताप्रकटनाय गाथा—

सुलहा लोए आदट्टचित्तगा परहिदम्मि मुक्कधुरा ।

आदट्टं व परट्टं चितंता दुल्लहा लोए ॥४८४॥

'सुलहा लोए आदट्टचित्तगा' सुलभाः प्रचुरा । 'लोए' लोके । 'आदट्टचित्तगा' स्वकार्ये तत्परा ।  
परहिदम्मि मुक्कधुरा' परहितकरणे अलसा । 'आदट्टं व' आत्मप्रयोजनमिदं । 'परट्टं चितंता' परप्रयोजन-  
चिन्तासमुद्यता लोके दुर्लभा ॥४८४॥

आदट्टमेव चितेदुमुट्टिदा जे परट्टमवि लोमे ।

कडुय फरुसेहिं साहेति ते हु अदिदुल्लहा लोए ॥४८५॥

'आदट्टमेव चितेदुमुट्टिदा' आत्मीयमेव प्रयोजन चिन्तयितुमुत्थिता । 'जे' ये 'परट्टमवि' परप्रयो-  
जनमपि 'कडुयफरुसेहिं' कटुकं परुषं प्रवचनं 'साहेति' साधयन्ति लोके । 'अदिदुल्लहा' अतीव  
दुर्लभा ॥४८५॥

मूरियंदि नायपोडयेत् नसो क्षपको मायाशल्यान्निवर्तते । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नत्रये च गुणे न  
प्रवर्तते इति आचार्यमपाद्यमुपकार प्रकटोकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहमे व इदरे वा ।

ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥४८६॥

'खवयस्स ण सुहमे व इदरे वा दोसे जइ ण उग्गालेइ' क्षपकस्य सूक्ष्मान् स्वूलान्वा दोषान्यदि नोद्गार-  
यति । 'सो खवओ तत्तो ण णियत्तइ' स क्षपकस्तेभ्य सूक्ष्मेभ्य स्थूलेभ्यो वा दोषेभ्यो न निवर्तते । 'नैव गुणे

जो गुरु शिष्यके दोषोका निवारण नही करता, वह जिह्वासे मधुर बोलनेपर भी भद्र नहीं  
है । और जो गुरु दोषोका निवारण करता हुआ परसे मारता भी है वह भद्र है ॥४८३॥

दोषोका निवारण करनेवाले आचार्यको भद्रता वतलाते है—

गा०—अपने काममे तत्पर किन्तु दूसरोका हित करनेमे आलसी मनुष्य लोकमे बहुत है ।  
किन्तु अपने कार्यकी तरह दूसरोके कार्यकी चिन्ता करनेवाले मनुष्य लोकमे दुर्लभ है ॥४८४॥

गा०—जो अपने ही कार्यकी चिन्तामे तत्पर होते हुए दूसरोके कार्यको भी कठोर और  
कटुकवचनोमे साधते है वे पुरुष लोकमे अत्यन्त दुर्लभ है ॥४८५॥

गा०—आचार्य यदि क्षपकको पीडित न करे तो वह मायाशल्यसे न निकले । और माया-  
शल्यसे निकले बिना निरतिचार रत्नत्रय गुणमे प्रवृत्त न हो ॥४८६॥

इस प्रकार आचार्यके द्वारा किये जानेवाले उपकारको प्रकट करते है—

यदि आचार्य क्षपकके सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषोको न उगलबाये तो वह क्षपक उन सूक्ष्म  
अथवा स्थूल दोषोमे निवृत्त न हो और न गुणमे प्रवृत्त हो । और दोषोको दूर किये बिना तथा

परिष्कृतो निराकृतदोषो गुणे बाञ्जरिणतो कथमाराधकः स्यादाराधनार्थमायातोऽप्यसत्यवपीडके । उत्पीलति  
वर्ष ॥४८६॥

तम्हा गणिणा उत्पीलणेण खवयस्स सव्वदोसाहु ।

ते उग्गालेद्व्वा तस्सेव हिदं तथा चेव ॥४८७॥

उत्पीलतीति गर्व ।

एवं अवपीडकता व्याख्यायावसरप्राप्तमपरिश्राविता व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ।

ण परिस्सवन्ति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥४८८॥

‘लोहेण पीदमुदयं व’ एवमत्र पदसम्बन्ध । ‘जस्स आलोचिदा बोसा ण परिस्सवन्ति अण्णत्तो’ यस्मिं कथिता दोषा न परिस्सवन्त्यन्त्यतः । किमिव ‘लोहेण पीदमुदयं व’ लोहेन मत्पतेन पीतमिवादि । ‘सो’ सः । एवंभूतोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्सवो भवति ॥४८८॥

दंसणणाणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ।

देसञ्चाए विविचे सव्वञ्चाए य आवण्णो ॥४८९॥

दंसणणाणादिचारे य वदादिचारे’ श्रद्धानस्यातिचार शङ्काकाङ्क्षाविकित्सान्यदृष्टिप्रशमानस्तवा, ज्ञानस्य अतिचारा अकाले पठन, श्रुतस्य श्रुतघरस्य वा विनयाकरण अनुयोगादीना ग्रहणे तत्प्रायोग्यावग्रहण-ग्रहण, उपाध्याय निह्वव, व्यञ्जानाना न्यूनताकरण, अधिक्यकरण, अर्थस्य अन्यथाकथन वा । तपनोऽनशना-

गुणमे लगे विना आराधक कैसे हो सकता है ? आराधनाके लिए गुरुके पास आकर भी यदि गुरु अवपीडक न हो तो उक्त बात नहीं बन सकती है ॥४८६॥

गा०—इसलिए उत्पीडक आचार्यको क्षपकके सब दोष उगलवाना चाहिए । क्योंकि क्षपकका हित इसीमे है ॥४८७॥

उत्पीडक गुणका कथन समाप्त हुआ ।

इस प्रकार अवपीडक गुणका व्याख्यान करके अवसर प्राप्त अपरिश्रावी गुणको कहते हैं—

गा०—जैसे तपाये हुए लोहेके द्वारा पिया गया जल बाहर नहीं जाता वैसे ही जिरा आचार्यसे कहे गए दोष अन्य मुनियोपर प्रकट नहीं होते, वह आचार्य अपरिश्राव गुणसे युक्त होता है ॥४८८॥

गा०—किसीके सम्यग्दर्शनमे अतिचार लगा हो, अथवा ज्ञानमे अतिचार लगा हो, या व्रतोमें अतिचार लगा हो, या तपमें अतिचार लगा हो, यह एकदेशसे अथवा सर्वदेशसे अतिचार लगा हो तो ॥४८९॥

टी०—सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और संस्तव । ज्ञानके अतिचार हैं—असमयमे स्वाध्याय, श्रुत अथवा श्रुतके धारीकी विनय न करना, अनुयोग आदिको ग्रहण करनेमें उसके योग्य अवग्रह न करना, गुरुका नाम छिपाना, व्यंजन शब्द छोड़ जाना या अधिक जो उसमें नहीं हैं, बोल्ना, और अर्थका अन्यथा कथन

देरतिचारः—स्वयं न भूङ्क्ते अन्य भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च, स्वयं क्षुषा पीडित आहारमभिलषति, मनसा पारणा मम कः प्रयच्छति, वच वा छन्द्यामीति चिन्ता अनशनतिचारः । रसवशाहारमन्तरेण परिश्रमो मम नापति इति वा । षट्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्तिः प्रचुर-निद्रतया । सकलेशकमनर्धिमदमनुष्ठितं मया, संतापकारीवं नाचरिष्यामि इति सकल्पः । अवमोदयतिचारः मनसा बहुभोजनादरः परं बहु भोजयामीति चिन्ता । भूङ्क्त्व यावद्भवतस्तृप्तिरिति वचनं भुवन्तं मया ब्रह्मि-त्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचन, हस्तसजया प्रदर्शनं कण्ठदेशमुपस्पृश्य । वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचाराः गृहसप्तक-मेव प्रविशामि, एकमेव पाट दरिद्रगृहमेव । एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्त ग्रहीष्यामीति वा कृत-मकल्पः गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेश, पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिक । कृतरसपरित्यागस्य रसाति-सक्ति, परस्य वा रसवशाहारभोजन, रसवशाहारभोजनानुमनन, वात्तिचारः । कायक्लेशस्यातपनस्यातिचारः उष्णादितस्य शीतलद्रव्यसमागमच्छा, सन्तापापायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशाना स्मरण, कठोरातपस्य द्वेष, शीतलाद्देशादकृतगात्रप्रमार्जनस्य आतपप्रवेश, आतपसतप्तशरीरस्य वा अत्रमृष्ट-गात्रस्य छायानुप्रवेश इत्यादिक । वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन, पादेन, शरीरेण वा वा कायाना पीडा ।

करना । तप अनशन आदिके अतिचार है—स्वयं भोजन न करते हुए भो दूसरोको भोजन कराना, मनवचनकायसे दूसरेको भोजनकी अनुमति देना, स्वयं भूखसे पीडित होनेपर मनसे आहारकी अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा, अथवा कहाँ पारणा होगी, इत्यादि चिन्ता अनशन तपके अतिचार है । अथवा रसीले आहारके विना मेरी थकान दूर नहीं होती, प्रचुर निद्रामे पडकर छह्कायके जीवोको बाधामे मन या वचन या कायसे प्रवृत्ति होना । मैने यह सकलेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह सन्तापकारी है इसे नहीं करूँगा इस प्रकारका सकल्प भी अनशनका अतीचार है ।

अवमोदयतपके अतिचार—मनसे बहुत भोजनमे आदर, दूसरेको बहुत भोजन करानेकी चिन्ता, जबतक आपकी तृप्ति हो तबतक भोजन करो ऐसा कहना, 'मैने बहुत भोजन किया' ऐसा कहनेपर 'आपने अच्छा किया' ऐसा कहना, हाथके सकेतसे कठ देशको स्पर्श करके बतलाना कि मैने आकण्ठ भोजन किया ।

वृत्तिपरिसंख्यानतपके अतिचार—सात घरमें ही प्रवेश करूँगा, या एक ही मुहालमे जाऊँगा, वा दरिद्रके घर ही जाऊँगा, इस प्रकारका दाता पुरुष या दात्री स्त्रीके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करूँगा । ऐसा संकल्प करके दूसरेको भोजन कराना है इस भावसे सात घरसे अधिक घरोंमे प्रवेश करना और एक मुहालसे दूसरे मुहालमें जाना ।

रसपरित्यागतपके अतिचार—रसोमे अति आसक्ति, दूसरेको रसयुक्त आहारका भोजन कराना, अथवा रसयुक्त आहारके भोजनकी अनुमति । ये अतिचार है ।

कायक्लेशतपके अतिचार—गर्मासि पीडित होनेपर शीतलद्रव्यकी प्राप्तिकी इच्छा होना, मेरा सन्ताप कैसे दूर हो यह चिन्ता होना, पूर्वमें भोगे हुए शीतलद्रव्यो और शीतल प्रदेशोको याद करना, कठोर धूपसे द्वेष करना, शीतल प्रदेशसे अपने शरीरको पीछीसे शोधे विना धूपसे या गर्मस्थानमे प्रवेश करना, अथवा धामसे सन्तप्त शरीरको पीछीसे शोधे विना छायामे प्रवेश करना आदि । वृक्षके मूलमें जाकर हाथ, पैर अथवा शरीरसे जलकायिक जीवोंको पीडा देना,

कर्म ? शरीरावलम्बजलकणप्रमार्जन हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयेन मृदुकाद्रिया भूमौ धानं निम्ने जलप्रवाहमनदेशो वा अवस्थानम्, अवग्राहे वर्षापातः कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरम. स्यादिति वा, छत्रकटादिधारण वर्षानिवारणायेत्यादिक । तथा अन्नाभ्रकाशस्यातिचार सच्चिताया भूमौ त्रससहितहरितसमृत्थितायां विवरवत्या धान । अकृतभूमिशरीरप्रमार्जनस्य हस्तपादमकोचप्रसारणे, पार्श्वान्तरसञ्चरण, कण्डूयन वा । हिमसमीरण्या हृतस्य कदैतद्रुपशमो भवतीति चिन्ता, वषट्कालादिभिरुपरनिर्णतितहिमापकर्षण, अवश्यायषट्कना वा प्रचुरबानापातदशाऽप्यमिति सबलेश, अभिन्नावरणादीना स्मरणमित्यादिक । प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा—तत्रालोचनातिचारा 'आकम्पिय अणुमाणियमित्यादिका । स्वभूतातिचारेऽप्य मनसा अजुगुप्सा । अज्ञानत, प्रमादाकर्मगुणत्वादालस्याच्चेद अशुभकर्मवन्धननिमित्त अनुष्ठित, दुष्ट कृतमिति एषमादिकप्रतिक्रमणातिचार । उक्तोभयातिचारसम्भावयस्तदुभयातिचार । भावतोऽविवेको विवेकातिचार । व्युत्सर्गातिचार<sup>१</sup> कृत शरीरममताया न निवृत्ति अणुभ्रमणपरिणत । कायोत्सर्गदोषाद्व तप<sup>२</sup> अतिचारे उक्ता । एव छेदस्यातिचार न्यूनो जातोऽहमिति सबलेश । भावतो रत्नत्रयानादान मूलातिचार । सर्वो द्विप्रकार इत्याचष्टे—'देशच्छाए विविधे' देशातिचार नानाप्रकार मनोवाक्कायभेदान्कृतकारितानुमत-

शरीरमे लगे जलके कणोको हाथ वर्गहसे पोछना, हाथ या पंरसे शिलातल आदिपर पडे जलको दूर करना, कोमल गीली भूमिपर सोना, जलके बहनेके निचले प्रदेशमे ठहरना, निश्चित स्थानपर रहते हुए 'कब वर्षा होगी' ऐसी चिन्ता करना अथवा वर्षा होनेपर 'कब रुकेगी' ऐसी चिन्ता करना, वर्षसि बचनेके लिए छाता आदि धारण करना ।

अन्नावकाशके अतिचार—सच्चित्त भूमिपर जिसमे त्रससहित हरितकाय हो, तथा छिद्रवाली भूमिपर सोना, भूमि और शरीरको पीछीसे शुद्ध किये बिना मोतें दूर हाथ पर सकांचना फेलाना, करबट लेना अथवा शरीर खोजना । बर्फ और वायुसे पीडित होनेपर 'कब ये वन्द होगे' ऐसी चिन्ता करना, बांसके पत्ते वर्गहसे शरीरपर गिरे बर्फको हटाना, अथवा बर्फसे घट्टन करना, इस प्रदेशमे अधिक वायु चलती है ऐसा सबलेश करना, अथवा शीत दूर करनेके साधन आग, ओढनेके वस्त्र आदिका स्मरण करना ।

प्रायश्चित्तके अतिचार—आलोचना प्रायश्चित्तके अनिचार 'आकम्पिय अणुमाणिय' इत्यादि आगे कहे गये है । अपने लगे अतिचारोमे मनसे ग्लानिका न होना अतिचार है । अज्ञानमे, प्रमादसे, कर्माकी गुरुतासे, और आलस्यसे मेने यह अशुभकर्मके बन्धमे निमित्त कार्य किया, यह बुरा किया, यह जुगुप्सा है । उसका न होना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तका अतिचार है । उक्त आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचार तदुभय प्रायश्चित्तके अतिचार है । भावपूर्वक विवेकका न होना विवेक प्रायश्चित्तका अतिचार है । शरीरसे ममत्व न हटना, और अशुभध्यानरूप परिणति तथा दायोत्सर्गके दोष व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तके अतिचार है । तपके अतिचार पहले कहे है । मेरी दीक्षा छेदनेसे मैं छोटा हो गया, यह संकलेश छेदप्रायश्चित्तका अतिचार है । भावपूर्वक रत्नत्रयको ग्रहण न करना मूलनामक प्रायश्चित्तका अतिचार है ।

अतिचारके दो प्रकार है—देशातिचार और सर्वातिचार । मनवचनकाय और कृत-कारित

१ मृत्तिकार्द्रा—आ० मु० । २ अन्नावकशम्य—अ० । ३ त्रसरहितकायचित्ताया विव—अ० । ४ र कृतो भवत—आ० । ५ तप अतिचारा उक्ता—आ० । तप अतिचारे उक्त मु० । ६ कुतो भवति मु० ।

मतविकल्पाच्च । 'सर्ववचनाने च' सर्वातिचारे च 'आपन्नो' आपन्न ॥४८९॥

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खु कहेदि सगदोसे ।

कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥४९०॥

'आहरियाण' आचार्याणा । 'भिक्खु' भिक्षु । 'कहेदि' कथयति । 'वीसत्थदाए' विद्वासेन । 'क ? 'सगदोसे' स्वातिचारान् । 'कोई पुण' कश्चित्पुनराचार्यपाशः । 'णिद्धम्मो' निष्कान्तो बहिर्भूतो जिनप्रणी-  
ताद्धर्मात् । 'अण्णेसिं' अन्येभ्यः । 'कहेदि ते दोसे' कथयति तान् आलोचितान्दोषान् । अनेन किलायमपराध  
कृत इति ॥४९०॥

तेण रहस्सं भिदंतएण साधु तदो य परिचत्तो ।

अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा खेव ॥४९१॥

'तेण' तेन । 'रहस्सं भिदंतएण' प्रच्छाद्यालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । 'साधु' साधु । 'तदो य परि-  
चत्तो' ततस्तु परित्यक्त । स्वदोषप्रकाशने मया कृते लज्जावानय दु खितो भवति । आन्मान वा घातेयेत् ।  
कुपितो वा रत्नत्रयं त्यजेत् इति स्वचित्तंज्जुर्बता परित्यक्तो भवति । 'अप्पा परिचत्तो', 'गणो परिचत्तो, संघो  
परिचत्तो', इति प्रत्येकाभिसंबन्धः । 'मिच्छत्ताराधणा खेव' मिथ्यात्वाराधना दोषो भवति ॥४९१॥

इत्य साधु परित्यक्तो भवतीत्याचष्टे—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि ।

विपरिणामिज्ज उधावेज्ज व गच्छेज्ज वाध मिच्छतं ॥४९२॥

'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण व' गुरुतया वा । 'कोई' कश्चित् । 'दोसे' दोषान् । 'परस्स' परस्मै ।  
'कहिदो वि' कथितोऽपि । 'विपरिणामेज्ज' पृथग्भवेत् । नाय मम गुरु प्रियो यदि स्यात्किं मदीयान्दोषान्ति-  
अनुमोदनाके भेदसे देशातिचारके अनेक भेद है ॥४८९॥

ग।०—भिक्षु विद्वासपूर्वक अपने दांपोको आचार्योसि कहता है । कोई आचार्य जो जिन  
भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मसे भ्रष्ट होता है, वह भिक्षुके द्वारा आलोचित दोषोको दूमगोसे  
कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसे करनेवाला आचार्य जिनधर्मसे बाह्य  
होता है ॥४९०॥

ग।०—उस आलोचित दोषको प्रकट करनेवाले आचार्यने ऐसा करके उस साधुका ही  
त्याग कर दिया । क्योंकि उसने अपने चित्तमे यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इसके दोष  
प्रकट कर देनेपर यह लज्जित होकर दुखी होगा, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर  
रत्नत्रयको ही छोड देगा । तथा उस आचार्यने अपनी आत्माका त्याग किया, गणका त्याग किया,  
संघका त्याग किया । इतना ही नहीं, उसके मिथ्यात्वकी आराधना दोष भी होता है ॥४९१॥

उस आचार्यने साधुका परित्याग कैसे किया, यह कहते है—

ग।०—निर्यापकाचार्यके द्वारा दूसरेसे साधुके गुप्त दोष कहनेपर कोई क्षपक लज्जावध  
या मानकी गुस्तावश विपरीत परिणाम कर सकता है । यह मेरा गुरु नहीं है । यदि मैं इसे

१ गच्छाहि वा णिज्जा—मु० । 'गच्छाहि वा णिज्जा', 'गच्छेज्ज मिच्छतमितिपाठे—मूलारा० ।

गदति । मदीया बहिवचरा प्राणा गृहरयमिति या संभावना साद्य नष्टेति चिन्ता विपरिणामः 'उघावेज्ज वा' त्यजेदा रत्नत्रय दोषप्रकटनेन कुपितः । 'गच्छेज्ज वा' गणान्तर प्रविशेत् ॥४९२॥

आत्मपरित्यागं व्याचष्टे—

कोई रहस्यभेदे कदे पदोसं गदो तमायरियं ।

उद्दावेज्ज व गच्छं भिदेज्ज व होज्ज पडिणीओ ॥४९३॥

'कोई' करिचत् । 'रहस्यभेदे कदे' रहस्यभेदे कृते । 'पदोसं गदो' प्रद्वेष गत । 'तमायरियं' तमाचार्यं । 'उद्दावेज्ज व' मारयेत् । 'गच्छं भिदेज्ज' गणभेद कुर्यात् । किमनेन सूरिणा स्नेहरहितेन, यथा ममापराध प्रकटितवान् एव युष्मानपि निवेदितापराधान्द्रूपयिष्यतीति ब्रुवन् । 'होज्ज पडिणीओ' प्रत्यनीको भवेत् ॥४९३॥

गणत्याग कथयति—

जह धरिसिदो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ।

सव्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छडेज्ज वायरियं ॥४९४॥

'जह धरिसिदो इमो' यथा दूषितोऽयम् । 'तह' तथा । 'अम्हं पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति' 'अस्मद् दूषण कुर्यात् अयमिति । 'विप्परिणमेज्ज' पृथग्भवेन् । 'छ डेज्ज वायरियं' त्यजेदाचार्यं । 'सव्वेनेन सूत्रेण गण आचार्यं त्यजतीति कथ्यते तेन गणस्यैक इति पूर्वसूत्रिन ततांजयानं सगतिरित्यत्रोच्यते । यत एव सूरिणा

प्रिय होता तो यह भेदे दोष क्यों कहता । यह गुरु मेरे बाहरमे चलते-फिरते प्राण है ऐसा जो मैं सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकारकी चिन्ता विपरीत परिणाम है । अथवा दोष प्रकट कर देनेसे कुपित होकर रत्नत्रयको छोड़ सकता है ॥४९२॥

उस आचार्यने आत्माका त्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—रहस्यभेद करनेपर कोई धपक द्वेषी बनकर उस आचार्यको मार सकता है । अथवा गणभेद डाल सकता है कि इस स्नेहरहित आचार्यसे क्या लेना देना है ? जैसे इसने मेरा अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हें भी अपराध निवेदन करने पर दोष लगायेगा । ऐसा कहकर अन्य साधुओको विरोधी बनाकर गणभेद डाल सकता है । अथवा विरोधी हो सकता है ॥४९३॥

उस आचार्यने गणका त्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—जैसे इस आचार्यने अमुक साधुका दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष भी प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण गणसे अलग हो सकता है अथवा आचार्यका त्याग कर सकता है ।

टी०—शांका—इस गायामे तो कहा है कि गण आचार्यको छोड़ देता है और पूर्व गायामें कहा है कि आचार्यने गणका त्याग किया । इन दोनों कथनोकी सगति नहीं बंठती ?

१ 'अ मान् दूषितान् कुर्यात्'—आ० सु० । २. बधनन सूत्रेण—आ० ।

दोष प्रख्यापनपरेण त्यक्तोऽसौ तत एव गणस्तं त्यजति ॥४९४॥

सघस्त्यक्तो भवतीत्येतद् व्याचष्टे—

तह चैव पवयणं सच्चमेव विप्परिणयं भवे तस्स ।

तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जहूणं चावि ॥४९५॥

'तह चैव पवयणं सच्चमेव' तथैव प्रवचन सघ सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रय यस्मिन्निति शब्दव्युत्पत्ती सघवाची भवति प्रवचनशब्द । 'विप्परिणय' विरुद्धतया परिणतं प्रवृत्त । 'हवे तस्स' भवेत्तस्य । 'तो' तत. । 'से' तस्य । 'दिसावहारं करेज्ज' कुर्यात् आचार्यापहरणं कुर्यात् सघ 'णिज्जहूणं चावि करेज्ज' इति पद-सबन्ध । परित्याग वा कुर्यात् ॥४९५॥

मिथ्यात्वाराराधनाप्रतिपादनार्था गाथा—

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चैव आयरिओ ।

घिद्धि अपुट्ठघम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छज्जणो ॥४९६॥

'जदि धरिसणमेरिसयं' यदि दूषणं एवभूतं । 'करेदि' करोति । 'सिस्सस्स चैव' शिष्यस्यैव । क आचार्यं । 'घिद्धि अपुट्ठघम्मो समणोत्ति भणेज्ज' धिग्धिग् अपुट्ठघमांन् ध्रमणान् । इति 'भणेज्ज मिच्छ-जणे' वदेन्मिथ्यादृष्टिजनं ॥४९६॥

प्रस्तुतापरिश्रावितोपसहारगाथा प्रसिद्धार्था—

इच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सघारिस्स ।

पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स ॥४९७॥

'इच्चेवमादि दोसा इति' । अपरिस्सव तु गद ॥४९७॥

समाधान—यतः दोषोको प्रकट करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया अतः गण भी उसे छोड़ देता है ॥४९४॥

सघ कैसे त्यागा, यह कहते हैं—

गा०—जिसमे रत्नत्रय 'प्रोच्यते' कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचन शब्दका अर्थ यहाँ सघ है । सभी संघ आचार्यके विरुद्ध हो सकता है और उसके आचार्य पदको छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है ॥४९५॥

दोष प्रकट करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना कैसे होती है, यह कहते हैं—

गा०—यदि आचार्य अपने शिष्यको ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते हैं तो इन अपुट्ठ धर्मवाले ध्रमणोंको निबन्धक है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेंगे ॥४९६॥

प्रस्तुत अपरिश्रावि गुणके कथनका उपसहार करते हैं—

गा०—जो आचार्य पूछनेपर अथवा बिना पूछे शिष्यके द्वारा प्रकट किये दोषोको दूसरोसे नहीं कहता वह रहस्यको गुप्त रखनेवाला आचार्य अपरिस्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते । ४९७॥

अपरिस्रावी गुणका कथन पूर्ण हुआ ।

'**गिञ्जवगो**' इत्येतस्त्रपदव्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध —

सधारभक्तपाणे 'यस्य येनाभिसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स' इति कृत्वा—

**संधारभक्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरंते ।**

**पडिचरगपमादेण य सेहाणमसंबुडगिराहिं ॥४९८॥**

**संधारभक्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरंते कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ।** इति क्रियाभि. पदसंबन्धोऽत्र कार्य । सस्तरं भक्त्याने वा । 'अमणुण्णे' अमनात्ते । 'कीरंते' क्रियमाणे । 'कुविदो' कुपितो भवेत्क्षपक । 'मेरं वा मर्यादा वा । भेत्तुमिच्छेत् । 'चिरं व कीरंते' चिराद्वा सस्तरकरणे भक्त्याना-नयने वा । 'पडिचरगपमादेण वा' निर्यापकाना वैयावृत्यकरणे य प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत् । मर्यादा वा आत्मीया भेत्तु इच्छेत् । 'सेहाणमसंबुडगिराहिं' अगृहीतार्थाना असवृताभि पर्याभि प्रतिकूलाभिर्वा कुपितो भवेत् ॥४९८॥

**सीदुण्हछुहातण्हाकिलामिदो तिञ्चवेदणाए वा ।**

**कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ॥४९९॥**

'सीदुण्हछुहातण्हा किलामिदो' शीतेनोष्णेन क्षुधा तृपया पीडित कुपितो भवेत् । 'तिञ्चवेदणाए वा' तीव्रवेदनाया वा कुपितो मर्यादोल्लङ्घनेऽर्भवन् ॥४९९॥

**गिञ्जवएण तदो से चित्तं खवयस्स गिञ्जवेदव्वं ।**

**अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पणट्टमाणेण ॥५००॥**

'गिञ्जवएण' सन्तोषमुत्पादयता सूरिणा । 'तदो' तत । 'से खवयस्स' तस्य कुपितस्य मर्यादा भेत्तुमिच्छता वा । 'चित्तं गिञ्जवेदव्वं' चित्तं प्रशान्तिं नेय । 'अक्खोभेण' चलनगहितेन व्यवस्थावता । 'खमाए जुत्तेण' क्षमया युक्तेन । 'पणट्टमाणेण' प्रणष्टमानेन । न हि रोपी माना वा सूरि परचित्तकलङ्क प्रशमयित्नु ईहते ततो नि कषायेण भाव्यमिति भाव ॥५००॥

गाथाके 'गिञ्जवगो' पदका व्याख्यान करते है—

गा०—मस्तर और भोजनपान क्षपकको मनके अनुकूल न होने पर, अथवा उससे दूरी करने पर अथवा निर्यापकोके वैयावृत्य करनेसे प्रमाद करने पर अथवा मल्लेखना विधिसे अन-जान नये माधुओके कठोर और प्रतिकूल वचनोसे क्षपक कुपित हो सकता है अथवा अपनी मर्यादा-का उल्लघन कर सकता है ॥४९८॥

गा०—अथवा शीत, उष्ण, भूख, प्याससे पीडित होनेसे अथवा तीव्र वेदनासे क्षपक कुपित हो सकता है और मर्यादाको तोड़नेको इच्छा करता है ॥४९९॥

गा०—तब विचलित न होनेवाले, क्षमाशील और मानरहित आचार्यको सन्तोष वचन कहते हुए उस कुपित अथवा मर्यादाको तोड़नेके इच्छुक क्षपकके चित्तको शान्त करना चाहिये ॥५००॥

टी०—क्रोधी अथवा घमण्डी आचार्य दूसरेकी चित्तकी अशान्तिको शान्त करना नहीं पसन्द करता । इसलिए आचार्यको कषायसे रहित होना चाहिए, यह इस गाथाका भाव है ॥५००॥



एवंभूतो निर्वापयतीत्येतद्वधाचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते ।  
रक्षणकरंडयभूदो सुष्णो अणिओगकरणम्मि ॥५०१॥

‘अंगसुदे य’ श्रुतं पुरुषं मुखचरणायङ्गस्थानीयत्वादङ्गशब्देनोच्यते आचारादिकं द्वादशविधं तस्मिन्ङ्ग-  
श्रुते । ‘बहुविधे’ नानाप्रकारे । आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति । ‘णो अंगसुदे य’ अङ्ग-  
बाह्ये वा । ‘बहुविधविभक्ते’ सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवो, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवै-  
कालिका उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहार, कल्प्य, महाकल्प्यं, पुण्डरीक, महापुण्डरीक इत्यादिना विचित्रभेदेन  
विभक्ते । ‘रक्षणकरंडयभूदो’ रत्नकरण्डकभूत । ‘सुष्णो अणियोगकरणम्मि’ यद्यत्प्रस्तुतं च वस्तु तत्र तत्र  
समाधिकारानुयोगयोजनाया कुशल । अनेन ज्ञानमाहात्म्यं सूचितं ॥५०१॥

वक्ता क्त्वा च मुष्णी विचित्तसुदधारओ विचित्तकहो ।  
तह य अपायविदण्हू महसपण्णो महाभागो ॥५०२॥

‘वक्ता’ वक्ता । ‘क्त्वा य’ कर्ता च विनयवैयावृत्ययो । ‘विचित्तसुदधारणो’ विचित्र श्रुत प्रथमानुयोग,   
करणानुयोगचरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विकल्पेन । ‘विचित्तकहो’ विचित्राया कथाया निरूपणा अस्य  
स विचित्रकथ । ननु च ‘अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते’ इत्यनेनैव गतत्वात् किमनेन  
‘विचित्तसुदधारणो’ इत्यनेन ? नैष दोष । पूर्वसूत्रे श्रुतकेवलो निर्वापकत्वेनोक्त । अनया तु असमस्तश्रुताचा-

आगे कहते है कि इस प्रकारका आचार्य क्षपकका चित्त शान्त करता है—

गा०—टी०—श्रुत एक पुरुषके समान है । आचार्य आदि बारह उस श्रुतपुरुषके मुख, पैर  
आदि अंगोके स्थानापन्न होनेसे अंग शब्दसे कहे जाते हैं । आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय,  
व्याख्याप्रज्ञप्ति इत्यादिके भेदसे वह अंगश्रुत नाना प्रकारका है ।

नो अंगश्रुत अर्थात् अंगबाह्य भी सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक,  
कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक  
इत्यादि विचित्र भेदसे विभक्त है । जो आचार्य इन सब श्रुत भेदोके लिए रत्न रखनेके पिटारेके  
समान है अर्थात् जैसे पिटारेमे रत्न सुरक्षित रहते है वैसे ही वह इन श्रुतरूपी रत्नोका अभ्यास  
करके उन्हें अपने हृदयमे धारण करता है । तथा जो जो प्रस्तुत विषय है उस उस विषयमे सत्,  
संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व आदि अनुयोगोकी योजना करनेमे कुशल  
होता है वही आचार्य क्षपकको अशान्तको शमन कर सकता है । इससे आचार्यके ज्ञान माहात्म्यको  
सूचित किया है ॥५०१॥

गा०—टी०—तथा वह वक्ता अर्थात् व्याख्यान करनेमे कुशल, विनय और वैयावृत्यका  
कर्ता और प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे नाना प्रकारके श्रुत-  
का धारक और विविध प्रकारका निरूपण करनेवाला तथा रत्नत्रयके अतिचारोका ज्ञाता और  
स्वाभाविक बुद्धिसे सम्पन्न तथा जितेन्द्रिय महात्मा होता है ।

शंका—पूर्व गाथामे आचार्यको अंगश्रुतका और विविध अंगबाह्यका ज्ञाता कहा ही है ।  
फिर यहाँ विचित्र श्रुतका धारक क्यों कहा ?

योऽपि एवभूतो निर्वापको भवतीत्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता । 'तद्द य' तथा च । 'आपायविषण्णु' रत्नत्रयाति-  
चारज्ञः । 'सहस्रपण्णो' स्वभावविषया बुद्धया समन्वित । 'महाभागो' स्ववशो महात्मा ॥५०२॥

पगदे णिस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुत्तं च ।

अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं मण्णिणव्वेमाणो ॥५०३॥

'अणुसासेदि' अनुशास्ति । 'पगदे' वस्तु प्रारब्धे वस्तुनि । 'णिस्सेसं गाहुगं' समस्तमवबोधयत्तदनु-  
शासन करोति । 'आहरणहेदुजुत्तं च' दृष्टातेन हेतुना च युक्त । एतस्माद्धेतोरिदमर्थेति युक्त्यानुशास्ति  
'सुविहिदो' यति । 'कुविदं' कुपित 'मण्णिणव्वेमाणो' सम्यक् प्रथमयन् सम्यक्प्रमादमुपनयन् ॥५०३॥

णिद्धं मधुरं गंभीरं मणप्पसादणकरं सवणकतं ।

वेद्वे कहं णिणव्वगो सदीसमण्णाहरणहेउ ॥५०४॥

'णिद्धं' प्रियवचनबहुलतया स्निग्ध । 'मधुरं' अनतिकठोरगक्षरतया मधुरं । 'गंभीरं' अर्थगाढतया ।  
'मणप्पसादणकरं' मन प्रवृत्तादविषयायिनो । 'सवणकतं' श्रुतिसुख । 'वेदि कथं' कथा कथयति । 'णिणव्वगो'  
निर्वापक । 'सदीसमण्णाहरणहेउ' स्मृतिमानयनकारण । पूर्वम्पस्तथुतार्थगोचरस्मरण इह स्मृतिरिति गृह्यते  
मतिवचनो वा । 'यतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनबोध इत्यनर्थान्तरम्'—[त० सू० १] इति वचनात् । तेन  
बुद्धिसमानयनकारणमित्यर्थ इति केचित् ॥५०४॥

णिज्जावगो इत्येतसूपद व्याचष्टे—

जह पक्खुभिदुम्मोए पोद रदणभरिदं ममुद्दम्मि ।

णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥५०५॥

'जह पक्खुभिदुम्मोए' यथा प्रचलिततरङ्गे । 'ममुद्दम्मि' समुद्रे । 'पोदं' पोत नाव । 'रदणभरिदं' रत्न-  
भरित । 'णिज्जवगो' निर्यापक । 'धारेदि हु' धारयति । 'जिदकरणो' परिचितक्रिय । 'बुद्धिसंपण्णो' बुद्धि-  
सपन्न बुद्धिमान् ॥५०५॥

समाधान—पूर्वं गाथामे श्रुतकेवलीको निर्वापक रूपसे कहा है और इसमे समस्त श्रुतका  
जो ज्ञाता नहीं है ऐसा आचार्य भी निर्वापक होता है यह कहा है । इससे पुनरुक्त दोष नहीं  
है ॥५०२॥

गा०—जिस वस्तुका निवेदन करना प्रारम्भ करे तो उसके समस्त हेतु उपादेय रूपका  
बोध दृष्टान्त और युक्तिसे करावे कि इस हेतुमे यह ऐसा ही है । ऐसा आचार्य कुपित हुए क्षपक-  
को सम्यक् रूपसे प्रमन्न करके उसे शिक्षा देता है ॥५०३॥

गा०—निर्वापक आचार्य प्रियवचनोकी बहुतायत होनेसे स्निग्ध, अधिक कठोर अक्षर  
न होनेसे मधुर, अर्थकी प्रगाढता होनेसे गंभीर, मनको प्रसन्नता और कानोको सुख देनेवाली  
कथा कहते है जिससे क्षपकको पहले अभ्यास किये हुए श्रुतके अर्थका स्मरण होता है । यहाँ  
स्मृतिसे कोई व्याख्याकार मतिका ग्रहण करते है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमे मति, स्मृति संज्ञा, चिन्ता  
अभिनबोधको अर्थान्तर कहा है । अत वे अर्थ करते है कि उस कथामे अपकमे बुद्धिका आगमन  
होता है, उसको बुद्धि जाग्रत हो जाती है ॥५०४॥

आगे गाथाके णिज्जावग (निर्यापक) पदका व्याख्यान करते है—

तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्भीहिं खुभिदमाइइं ।

णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥५०६॥

‘तह संजमगुणभरिदं’ तथा संयमेन गुणैश्च सम्पूर्णं । संयमस्य सर्वेभ्यो गुणैश्च प्रधानत्वात् संयम-  
शब्दस्य पूर्वनिपातः । ‘परिस्सहुम्भीहिं’ क्षुत्पिपासादु खानि परीषहास्ते ऊर्मय इवानुक्रमेणोदगच्छन्तीति  
ऊर्मिव्यपदेशं लभन्ते । परीषहोर्मिभिः ‘क्षुभिदं’ चलितं । ‘आइइ’ तिर्यग्भूत यतिपोतं । ‘णिज्जवओ धारेदि  
हु’ निर्यापकसूरिधारयति । ‘मधुरेहिं हिदोवदेसेहिं’ मधुरैहितोपदेशः ॥५०६॥

घिदिबलकरमादहिदं महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ ।

सिद्धिसुहमावहंती चत्ता आराहणा होइ ॥५०७॥

‘घिदिबलकर’ घृतिबलकारिणी । स्मृते. स्वयं घृतिस्तस्या अवष्टम्भकारिणी । ‘आवहिदं’ आरभ  
हितां । ‘मधुरं’ मधुरा । ‘कण्णाहुदिं’ कर्णाहुति । ‘जदि ण देइ’ यदि न दद्यात् । सिद्धिसुहमावहन्तीति ।  
सिद्धिसुखानयनकारिणी । ‘आराहणा’ आराधना । ‘चत्ता होइ’ त्यक्ता भवति ॥५०७॥

प्रस्तुतापसंहारगाथा—

इय णिज्जवओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ।

होइ य किन्ती पधिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥५०८॥

‘इय’ एव । ‘णिज्जवओ’ निर्यापक । ‘खवयस्स’ क्षपकस्य । ‘णिज्जावओ होइ’ निर्यापको भवति ।  
‘सदायरिओ’ सदाचार्यं निर्यापकत्वगुणसमन्वित क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूरेर्दशयति ।  
‘होइ य किन्ती पधिदा’ भवति च कीति प्रथिता । ‘एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स’ आचारवत्त्वाविभिर्गुणै-  
युक्तस्य ॥५०८॥

गा०—जेसे नौका चलानेका अभ्यासी बुद्धिमान् नाविक तरगोमे क्षुभित समुद्रमे रत्नोसे  
भरे जहाजको धारण करता है ॥५०५॥

गा०—वंसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणोसे पूर्ण, किन्तु परीषह रूप लहरोसे  
चचल और तिगछे हुए क्षपकरूप जहाजको मधुर और हितकारी उपदेशोसे धारण करता है  
उसका सरक्षण करता है ॥५०६॥

टी०—संयम सब गुणोसे प्रधान है इसलिए संयम शब्दको गुणसे पहले रखा है । तथा  
भूख-प्यासका दुःख परीषह है । वे लहरोकी तरह एकके बाद एक क्रमसे उठती हैं इसलिए परी-  
षहोको लहरे या तरंगे कहा है ॥५०६॥

गा०—यदि आचार्य स्मृतिकी स्थिरता रूप धैर्यको बल देने वाली और आत्माका हित  
करनेवाली मधुर वाणी क्षपकके कानोमे न सुनाये तो मोक्ष सुखको लानेवाली आराधनाको  
क्षपक छोड बैठे ॥५०७॥

प्रस्तुत चर्चा का उपसंहार करते है ।

गा०—इस प्रकार निर्यापकत्व गुणसे युक्त आचार्य क्षपकका निर्यापक होता है । वह  
उसका उपकारी होता है । इतना कहकर उस निर्यापकाचार्यका भी इससे स्वार्थ बतलाते है कि

इय अद्भुतगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविषेदि ।

खवगो वि तं भयवदी उवगूहदि जादसवेगो ॥५०९॥

‘इय’ एव । ‘अद्भुतगुणोवेदो’ आचारवानित्याद्यष्टगुणोपेत’ सूत्रि । ‘कसिणं’ कृत्स्ना । ‘आराधणं’ आराधना । ‘उवविषेदि’ ढीक्यति । ‘खवगो वि’ अणकोऽपि । ‘तं’ ता ‘भगवति’ भगवती सकलबाधापनयन-  
माहात्म्यवती । ‘उवगूहदि’ आलिंगति । ‘जादसवेगो’ उत्पन्नसंसारभीस्त्व । सुट्टिद्वं सम्मत्म् ॥५०९॥

एवं सुट्टिद इत्येतद्दधाख्यात, इत उत्तर उवसम्मा इत्येतद्व्याख्यायते—

एवं परिमग्गित्ता णिज्जवयगुणेहिं जुत्तमायरियं ।

उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमग्गो तगो साहू ॥५१०॥

‘एवं परिमग्गित्ता’ अन्विष्य । क ? ‘आयरियं’ आचार्य । कीदृभूत ? ‘णिज्जवयगुणेहिं’ निर्यापक-  
गुणैराचारवत्त्वादिभिः समन्वितं । ‘उवसंपज्जइ’ ढीकते । क ? ‘तगो’ म । ‘साहू’ साधु । ‘कीदृभूतः’ ?  
विज्जाचरणसमग्गो ज्ञानेन चारित्र्येण समग्र सम्पूर्ण ॥५१०॥

गुरुकुले आत्मनिसर्ग उवसपानाम ममाचार । तत्क्रम निरूपयति—

तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं ।

विणएणमंजलिकदो वाइयवसभं इमं भणदि ॥५११॥

‘तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं’ । तस्य निर्यापकस्य सूरे कृतिकर्म बन्धना  
कृत्वा । कीदृश ‘तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं’ मनोवाक्कायात्मसर्वावश्यकप्रतिपूर्णा । सामायिक, चतुर्विंशति-  
स्तवोबन्धना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, इत्येते मनोवाक्कायविकल्पेन त्रिविधा षड्भावश्यकसज्जिता ।  
मनसा सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति, वचसा ‘सव्वं सावज्जजोगं पक्खस्वामिं’ इति वचन । कायेन सावद्यक्रियानु-

इन आचारवत्त्व आदि गुणोसे युक्त निर्यापकाचार्यकी कीर्ति मव जगह फैलती है ॥५०८॥

शा०—इस प्रकार आचारवान् आदि आठ गुणोसे सहित आचार्य समस्त आराधनाको प्राप्त होता है । अणक भी ससारसे विरक्त होकर समस्त बाधाओंको दूर करनेसे माहात्म्यशाली उस भगवती आराधनाका आलिंगन करता है उसे अपनाता है ॥२०९॥

इस प्रकार सुस्थित गुणका व्याख्यान हुआ । इसमें आगे उपसपदाका कथन करते हैं—

शा०—इस प्रकार ज्ञान और चारित्र्यसे सम्पूर्ण अणक निर्यापकके आचारवत्त्व आदि गुणोसे युक्त आचार्यको खोजकर उनके निकट जाता है ॥५१०॥

गुरुकुलमें आत्मोत्सर्ग करनेको ‘उवसपा’ नामक ममाचार कहते हैं । यहाँ उसके क्रमका कथन करते हैं—

शा०—मन वचन कायसे छह आवश्यकोको पूर्णरूपसे करके निर्यापकाचार्यकी बन्धना करता है और विनयपूर्वक दोनो हाथोंको जोड़ उनकी अजली बनाकर उन आचार्य श्रेष्ठसे इस प्रकार कहता है ॥५११॥

टी०—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, बन्धना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक मन वचन कायके भेदसे तीन भेदरूप होते हैं । मनसे सर्व सावद्ययोगकी निवृत्ति, वचनसे

प्लानं, मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृता गुणानुस्मरणं 'लोगस्सुज्योयकरे' इत्येवमादीना गुणाना वचन । ललाट-  
विन्ध्यस्तकरमुकुलता जितेभ्यः कायेन । वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवन्दना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशन-  
परवचनोच्चारणं । कायवन्दना प्रदक्षिणीकरणं कृतानतिश्च । मनसा कृतातिचारान्निवृत्ति । हा दुष्कृतमिति वा  
मनःप्रतिक्रमणं । सूत्रोच्चारणं वाक्प्रतिक्रमणं । कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणं । मनसातिचारादीन् क-  
रि-  
ष्यामि इति मनःप्रत्याख्यानं । वचसा तन्नाचरिष्यामि इति उच्चारणं । कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यङ्गीकार ।  
मनसा शरीरे ममेदभावनिवृत्ति' मानसः कायोत्सर्ग । कायं दोसरामीति वचन वाचा कायोत्सर्ग । प्रलम्ब-  
भुजस्य, चतुरङ्गुलमात्रपादान्तरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्ग । कायापायनिरासमकृत्वा एकान्ते  
गुरावासीने प्रसन्नचेतसि शनैरागत्य शरीरं भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृताञ्जलि भगवन्कृति-  
कर्मवन्दनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञातं शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकरं अविलम्बितमनुद्रुतं सामायिकं पठेत् ।  
सूत्रानुगतं, अविचलं, अविकृतं स्थितं कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवमभिधाय सूरिणानुरक्तमना गुह्यस्तवन  
पठेत् इत्येया कृतिकर्मवन्दना । वन्दनोत्तरकालं 'विणएण' विनयेन 'अञ्जलिक्खो' मुकुलीकृताञ्जलि । 'बाइय-  
वसभं' आचार्यवृषभ 'इणं' इदं । भणविं ववीति इति ॥५११॥

तुज्जेत्थं चारसंगमुदपारया सवणसंघणिज्जवया ।

तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥५१२॥

'गुह्येत्थं' गुह्यमत्र । 'चारसंगमुदपारया' द्वादश आचारादीनि अञ्जानि यस्य तत् द्वादशाङ्गं श्रुतं सागरं  
इव तस्य पारं गता । 'सवणसंघणिज्जवया' श्रामयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणा तेषां समुदायं श्रमणसंघं

'मैं सर्व सावद्ययोगको त्यागता हूँ' ऐसा कहना, कायसे सावद्य क्रियाओंका न करना । मनरो  
चौबीस तीर्थकरोंके गुणोका स्मरण, वचनसे 'लोगस्सुज्योयकरे' इत्यादि स्तुतिका पढना, कायसे  
दोनो हाथ मुकुलित करके मस्तकसे लगाना । वदनीय गुणोका स्मरण करना मनोवन्दना है ।  
वचनसे उनके गुणोके माहात्म्यको प्रकट करने वाले वचनोका उच्चारण करना वचन वन्दना है ।  
प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना काय वन्दना है । मनसे किये हुए दोषोकी निवृत्ति या हा, मेने  
बुरा किया' ऐसा सोचना मनःप्रतिक्रमण है । प्रतिक्रमण सूत्रका पढना वाक् प्रतिक्रमण है । कायसे  
उन दोषोका न करना काय प्रतिक्रमण है । मनसे मे अतिचार आदि नही कर्हंगा ऐसा संकल्प  
मन प्रत्याख्यान है । मे उन्हे नही कर्हंगा ऐसा कहना वचन प्रत्याख्यान है । कायमे नही कर्हंगा  
ऐसा स्वीकार करना काय प्रत्याख्यान है । मनसे शरीरमे 'यह मेरा है' ऐसा भाव न होना मानस  
कायोत्सर्ग है । वचनसे मे कायका त्याग करता हूँ ऐसा कहना वचन कायोत्सर्ग है । दोनो हाथोको  
लटकाकर और दोनो पैरोके मध्यमे चार अगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खडा होना कायसे  
कायोत्सर्ग है । कायके अपायका निरास न करके (?) जब गुरु एकान्त मे बैठे हो और प्रसन्न मन  
हो तब धीरेसे आकर शरीर और भूमिकी प्रतिलेखना करके, गुरुसे न तो दूर और न समीप बैठकर  
हाथोकी अञ्जलि बनाकर निवेदन करे कि भगवन् । कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ । इस प्रकार  
आलोचना करके गुरुकी अनुज्ञा मिलने पर धीरेसे उठकर दोनो हाथ मस्तकसे लगा न बहुत धीरे,  
न बहुत जल्दीमें सामायिक पाठ पढे । शास्त्रके अनुसार विकार रहित निश्चल खडे होकर कायो-  
त्सर्ग करे । फिर चौबीस तीर्थ' करोंका स्तवन करे । फिर आचार्यमें अनुराग पूर्वक गुरु स्तवन  
पढे । यह कृतिकर्म वन्दना है । वन्दनाके अनन्तर विनयपूर्वक दोनो हाथ जोड़ आचार्यसे इस प्रकार  
निवेदन करे ॥५११॥

तस्य निर्यापका । 'तुम्हें खु पावमूले' युष्माकं पादमूले 'उत्सववेज्जासि' उद्योतयिष्यामि । 'सामन्थं' श्रामण्यं ॥५१२॥

आत्मवेच्छां सूरये प्रकटयति—

**पञ्चज्जादी सच्चं कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं ।**

**दंसणणाणचरित्ते णिस्सल्लो विहरिदुं इच्छे ॥५१३॥**

'पञ्चज्जादी सच्चं' दीक्षाग्रहणादिका सर्वा । 'कादूणालोयणं' कुत्वालोचना 'सुपरिसुद्धं' दोषरहिता । 'दंसणणाणचरित्ते' दर्शनज्ञानचरित्र । 'णिस्सल्लो' शल्यरहितो भूत्वा । 'विहरिदुं' विहृतुं वाचरित्तु । 'इच्छे' इच्छामि ॥५१३॥

**एवं कदे णिसग्गे तेण सुविहिदेण वायओ भणइ ।**

**अणगार उत्तमदुं साधेहि तुमं अविग्घेण ॥५१४॥**

'एवं कदे णिसग्गे' स्वभारत्यागे कृते । कण 'तेण सुविहिदेण' तेन सुचरितेन क्षपकेण । 'वायओ भणइ' वाचक सूरिर्बदति । 'अणगार' त्यक्तद्रव्यभावागारस्वादनगार तस्य नबोधन । 'उत्तमदुं' उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय द्रव्य 'साधेहि' साधय । 'तुमं' त्व । 'अविग्घेण' अविघ्नेन ॥५१४॥

**धण्णोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ।**

**संसारदुक्खमहणीं घेत्तुं आराहणपडायं ॥५१५॥**

'धण्णोसि तुमं' धन्योसि । पुण्यवानामि 'तुमं' भवान् । 'सुविहित्व' यते । 'एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ' । उपलक्षणपर मनोज्ञाहारग्रहणे ईदृग्यस्य निश्चयो जात । 'संसारदुक्खमहणीं' संसारं चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि दुःखानि तन्मूर्हनोद्यता । 'घेत्तुं' ग्रहीतु । 'आराहणपडायं' आराधनापताका । रत्नत्रयाराधना कर्माण्यपयान्ति । तदवयवमात्तददुःखनिवृत्ति इति भाव ॥५१५॥ उपसपा ।

गा०—आप द्वादशांग श्रुत सागरके पारंगामी हो । आचार आदि बाग्रह जिसके अंग है वह द्वादशांग श्रुत समुद्रके समान है आपने उसे पार कर लिया है । तथा जो श्राम्यन्ति अर्थात् तपस्या करते हैं वे श्रमण हैं । उनका समुदाय श्रमणसघ है उनके आप निर्यापक है । मैं आपके चरणोमें बैठकर अपने श्रामण्यको उद्योतित करूँगा ॥५१२॥

गा०—अपनी इच्छा आचार्यके सामने प्रकट करता है—दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर जो दोष किए हैं उनकी दोषरहित आलोचना करके मैं दर्शन, ज्ञान और चार्मिकको शल्यरहित होकर पालन करना चाहता हूँ ॥५१३॥

गा०—इस प्रकार उस उत्तम चरित वाले क्षपके द्वारा अपना भाग त्यागने पर वाचक आचार्य कहते हैं—हे द्रव्य और भावरूप अगार (घर) का त्याग करने वाले अनगार ! तुम बिना किसी विघ्न बाधाके उत्तम अर्थ रत्नत्रय रूप द्रव्यकी साधना करो ॥५१४॥

गा०—हे सुविहित श्रमण ! तुम धन्य हो—पुण्यशाली हो, जो तुमने चार गतियोसे परिभ्रमण रूप संसारमें जो दुःख हैं, उन दुःखोंको नष्ट करने पर तत्पर आराधना पताकाको ग्रहण

अच्छाहि ताव सुविहिद वीसत्यो मा य होहि उज्वाढो ।

पडिचरएहिं समंता इणमट्टं संपहारेमो ॥५१६॥

'अच्छाहि ताव सुविहिद' भास्व तावद्यते । 'वीसत्यं' विस्वगतं । 'मा य होहि उज्वाढो' व्याकुलित-चित्तो मा य भू । 'पडिचरएहिं समं' प्रतिचारकं सह । 'इणमट्टं' इद प्रयोजनं । 'संपहारेमो' सप्रधारयाम । 'उज्जसंपा' निर्वसपता ॥५१६॥

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमट्टे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ।

खीरोदणदच्चुग्गाहदुगुच्छणाए ममाधीए ॥५१७॥

'तो' पश्चात् । 'तस्स' तस्य क्षपकस्य । 'उत्तमट्टे करणुच्छाहं' रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साह । 'पडिच्छदि' परीक्षते । 'विदण्हू' मार्गज्ञ । कथं 'खीरोदणदच्चुग्गाहदुगुच्छणाए' क्षीरोदनद्रव्यग्रहण मनोसाहारप्रहेण जुगुप्सा-परेण । 'ममाधीए' समाधिनाहारगत लौन्यमस्य किं विद्यते न वेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । समाधिनिमित्तं पडिच्छा ॥५१७॥

खवयस्सुबसंपण्णस्स तस्स आराधणा अविक्खेव ।

दिज्जेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ॥५१८॥

'खवयस्स' क्षपकस्य । 'उबसपण्णस्स' आत्मान्तिकमुपाधितस्य । 'तस्स' तस्य । 'आराधणा अविक्खेव' आराधनाया अविक्षेप । 'पडिलेहदि' परीक्षते । क ? 'सो' स सूरिनिर्यापक । 'अप्पमत्तो' प्रमादरहित । केण ? 'दिज्जेण' देवतोपदेशेन । 'णिमित्तेण' निमित्तेन वा इयमेका परीक्षा ॥५१८॥

करनेका निश्चय किया । रत्नत्रयकी आराधनासे कर्मोका विनाश होता है । उनका विनाश होनेसे दुःखसे छुटकारा होता है ॥५१५॥

गा०—हे सुविहित ! विश्वस्त होकर तब तक बैठो । अपना चित्त व्याकुल मत करो । हम वैयावृत्य करने वालोंके साथ इस विषय पर विचार करते है ॥५१६॥

'उज्जसंपा' का कथन पूर्ण हुआ ।

आगे गायक 'पडिच्छा' (परीक्षा) पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—उसके पश्चात् मार्गको जाननेवाले आचार्य क्षपकके रत्नत्रयकी आराधना करनेमें उत्साहकी परीक्षा करते हैं कि उसके आराधना करनेका उत्साह है या नहीं है । तथा दूध भात आदि द्रव्यको ग्रहण करनेमें इसकी लोलुपता है या ग्लानि है ऐसी परीक्षा करते हैं । यहाँ दूधभात मनोज्ञ आहारका उपलक्षण है । अतः आहारके सम्बन्धमें उसकी परीक्षा करते है । यह परीक्षा समाधिके निमित्त की जाती है ॥५१७॥

परीक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

गा०—आराधनाके निमित्तसे अपने पास आये क्षपककी आराधना निर्विघ्न होनेके लिए

१ ग्रहणोपलक्षण मु० । 'खीरोदणदच्चुग्गाहदुगुच्छणाए' क्षीरोदनद्रव्यं मनोसाहारोपलक्षणं तस्य अवग्रहो ग्रहणं तत्र विचिकित्सा निन्दा तथा ।—मूलारा० ।

रज्जं खेचं अधिवदिगणमप्याणं च पडिलिहिसाणं ।

गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ॥५१९॥

‘रज्जं खेचं अधिवदिगणमप्याणं च’ राज्य, क्षेत्र, देव प्रामनगरादिक अधिपति गणमात्मान च । ‘पडिलिहिसाणं’ परीक्ष्य । ‘गुणसाधणो’ गुणान्साध्यत्वादीन् साधयति य सूत्रि स । ‘पडिच्छदि’ प्रतिगुह्णाति । कं । क्षपक । अन्यत्र गुणसाधण इति पाठ । गुणान्साधयितु उद्यत साधु प्रतिगुह्णाति । ‘अप्पडिलेहाए’ उक्ताया परीक्षाया अभावे । ‘बहुदोसा’ बहुवो दोषा भवन्ति । के ते इति चेदुच्यन्ते । निरस्ताहारतुष्णो न वेति यदि न परीक्षित, आहारे तृष्णावात्रवतदिन तमेव चितयतीति क्षपमाराधक । क्षुत्पिपासापरीषहावष्टम्भामहनात्सू-  
त्कुर्वन् धर्मदूषणं कुर्यात् । आगधनाया व्याक्षेपो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि न त्याज्यति तस्यापि न कार्य-  
सिद्धिः स्वयं च निन्द्यते जनेन । राज्यक्षेत्रादीनां शुभानुभपरीक्षा येन कृता सोऽप्युभ चै’त्यर्थयति तस्य राज्यादेश्च  
स राज्यक्षेत्रादिकं अन्यदुद्दिश्य स गृहीत्वा याति । तथा च तस्योपकारको भवति । अपरीक्षाया तु राज्याधि-  
भ्रंशे स च क्षपक स्वयं च बिलश्यति गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति, आत्मनो वा न प्रारभते कार्यं । अपरो-  
क्षितकारी मर्त्तव तस्योपकारको न चात्मन इति दोषा ॥५१९॥

परीक्षानन्तर आपृच्छा इत्येतस्मिन्पद व्याचष्टे—

आचार्यं प्रमादग्रहितं होकर दिव्यं निमित्तज्ञानके द्वारा परीक्षा करते हैं कि इसकी आराधना निर्विघ्न होगी या नहीं होगी ॥५१८॥

गा०—टी०—सम्यक्त्व आदि गुणोका साधक वह आचार्य राज्य, क्षेत्र, अधिपति, गण, और अपनी शरीरकी परीक्षा करके क्षपकको ग्रहण करता है । अन्यत्र ‘गुणसाधण’ पाठ मिलता है । उसके अनुसार आचार्य गुणोकी साधनाके लिए उद्यत साधुको ग्रहण करता है । उक्त परीक्षा न करनेमें बहुत दोष है ।

उन्हे ही कहते हैं—क्षपककी आहार विषयक तृष्णा दूर हुई है या नहीं, ऐसी परीक्षा यदि नहीं की और क्षपक आहारमें तृष्णा रखनेवाला हुआ, तो रात दिन आहार की ही चिन्ता करनेपर कौंसे आगधक हो सकता है । भूख प्यासकी परीपहोकी न सहनेसे चिल्ला-चिल्लाकर धर्मको दूषित करेगा । आगधनामें विघ्न आयेगा या नहीं, इसकी परीक्षा न करके यदि उस विघ्नको दूर नहीं किया जाय तो क्षपकका भी कार्य मिट्ट न हो और स्वयं आचार्य लोगोंकी निन्दाका पात्र बने । जो आचार्य राज्य क्षेत्र आदिकी अच्छे बुरेकी परीक्षा करता है वह यदि क्षपक और राज्य आदिका अशुभ देखता है तो उस क्षपकको लेकर अन्य राज्य और अन्य क्षेत्र आदिमें चला जाता है । ऐसा करनेसे वह क्षपकका उपकार करता है । परीक्षा न करनेपर यदि राज्य आदिमें उत्पात हुआ तो क्षपक और आचार्य दोनोंको कष्ट उठाना पड़ता है । यदि गणका या अपना अनिष्ट देखता है तो आचार्य कार्यका प्रारम्भ नहीं करता । अतः बिना परीक्षा किए कार्य करनेवाला आचार्य न क्षपकका उपकार करता है और न अपना उपकार करता है ॥५१९॥

परीक्षाके अनन्तर ‘आपृच्छा’ का कथन करते हैं—



पडिचरए आपुच्छिय तेहिं गिसिट्टं पडिच्छदे खवयं ।  
तेसिमणापुच्छाए असमाधी होज्ज तिण्हपि ॥५२०॥

आपुच्छा । 'पडिचरए' प्रतिचारकान्यतीन् । 'आपुच्छिय' आपुच्छय रत्नत्रयाराधने अस्मानय सहायान्कामयन् प्रापूर्णेको यति' साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरण च तीर्थकरनामकर्मणो मूलमिति भवद्भिरिदमवगतमेव, ततो बद्ध किमस्माभिरयमप्राप्तो न वेति, परार्थवन्त परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि किमुत यतयः । सकलमासन्नभव्यलोक ससात्पद्भ्यादुत्तरादगाधातुलारयितुमुद्यता ।

'अप्यहियं कायव्य जइ सककइ परहियं च कायव्यमिति' वचनाच्च ।

एतदनुग्रहोद्योग कि कार्य इति प्रष्टव्य इति कथयति । 'तेहिं' परिचारके । 'गिसिट्टं' निमुष्ट अम्युपगत । 'पडिच्छदे' प्रतिगृह्णाति । 'खवयं' क्षपक । 'तेसिमणापुच्छाए' परिचारकाणामपरिप्रप्ने तु । 'असमाधी होज्ज तिण्हपि' सूरं क्षपकस्य सघस्य च असमाधि सकलेशो भवेत् । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा अनुद्योगादिना मम' न किञ्चिन् कुर्वन्ति इति क्षपकस्य सकलेशो भवति । गुरोरपि सकलेशो भवति, मयास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमं नोपयान्ति इति । परिचारकाणा च सकलेशो बहुजनमाध्य कार्यमस्मान्मूर्खान्नुमोदयति । न बलाबलमस्माक परीक्षते इति ॥५२०॥

पडिच्छणा इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

एगो संथारगदो जजइ सरारं जिणोवदेसेण ।

एगो सल्लिहदि मुणी उग्गोहिं तवोविहाणेहिं ॥५२१॥

'एगो संथारगदो एक संस्तरमाळ । 'जजइ सरार' यजते शरीरं । 'जिणोवदेसेण' जिनानामुपदे-

गा०—टी०—आचार्य परिचर्या करनेवाले यतियोसे पूछता है—यह क्षपक रत्नत्रयकी साधनामे हमारी सहायता चाहता है । साधु समाधि और वैयावृत्य करना तीर्थकर नामकर्मके बन्धके कारण है यह आप जानते ही है । अतः कहिये, हमलोग इसपर अनुग्रह करे या न करे ? प्रायः लौकिकजन भी परोपकारी और परोपकारके लिए सदा तत्पर रहनेवाले होते हैं । तब यतिजनोंका तो कहना ही क्या है ? वे तो समस्त निकट भव्यजीवोंको गहरे ससार पकसे निकालनेमे तत्पर रहते हैं । आगममे भी कहा है—'आत्माका हित करना चाहिए । यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए ।' अतः क्या इसके कल्याणका उद्योग करना चाहिए या नहीं । इस प्रकार आचार्यके पूछनेपर यदि वे स्वीकार करते हैं तो आचार्य क्षपकको स्वीकार करते हैं । परिचारक यतियोसे न पूछनेपर आचार्य, क्षपक और सघ तीनोंको ही सकलेश होता है । हम लोगोंने इस क्षपकको स्वीकार नहीं किया ऐसा मानकर यतिगण यदि उसकी विनय या वैयावृत्य न करें तो क्षपकको सकलेश होता है कि ये मेरा कुछ भी नहीं करते । गुरुको भी सकलेश होता है कि मैंने इसका उपकार करना प्रारम्भ किया किन्तु वे इसमे सहायता नहीं करते । परिचारक यतियोको भी सकलेश होता है कि यह कार्य बहुत जनोके करनेका है किन्तु हमारा गुरु यह नहीं मानता और न हमारे बलाबलकी परीक्षा करता है ॥५२०॥

आगे 'पडिच्छणा' पदको कहते हैं—

गा०—एक मुनि तो संस्तरपर चढकर जिनेन्द्रके उपदेशसे शरीरको आराधनामे लगाता

१ मम भक्ति विकु—आ० । मम न भक्ति कु—मु० ।

घेन । 'एगो सल्लिहवि कुमो' एको मुनिस्तनूकरोति शरीर । 'उम्येहि तवोबिहाणोहि' उद्वेस्तपोविधानं ॥५२१॥

तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाधादो ।

पडिदेषु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥५२२॥

'तदिओ णाणुण्णादो' तृतीयो यतिर्ननुजात तीर्थकृद्भिः एकेन नियामकेनानुष्ठाप्यत्वेन । कुतो यस्मात् । 'जजमाणस्स हु हवेज्ज वाधादो' यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । 'पडिदेषु दोसु तीसु य' सस्तरं पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षपकेषु 'समाधिकरणाणि हायन्ति' चित्तसमाधानक्रिया विनयवैयावृत्या-दयो हीयन्ते यस्माद्यजमानस्य व्याघात ॥५२२॥

यस्मादेक एव यजमानो भवति—

'तम्हा पडिचरयाणं सम्मदमेयं पडिच्छदे खवयं ।

भणदि य तं आयरियो खवयं गच्छस्स मज्झम्मि ॥५२३॥

'तम्हा' तस्मात् । 'एणं' एक । 'पडिच्छदे' अनुजानाति । 'खवयं' क्षपकमेक । 'पडिचरयाणं सम्मदं' प्रतिचारकाणा इष्ट । 'भणदि य' भणति च । 'तं' क्षपक । क ? 'आयरियो' आचा । क्व ? 'गच्छस्स मज्झम्मि' गणस्य मध्ये । क्षपकस्य शिक्षा । किमर्थं ? गणोऽपि मार्गशी यथा स्यात् इति । पडिच्छणे-गस्त ॥५२३॥

एवमसौ क्षपक वदतीति कथयति—

फासेहि तं चरित्तं सव्वं सुहसीलय पयहिदूण ।

सव्वं परीसहचमुं अधियासतो घिदिवलेण ॥५२४॥

'फासेहि' प्रतिपद्यस्व । 'तं' भवान् । कि ? 'चरित्तं' चारित्र । 'सव्वं सुहसोलेव' सर्वा सुखशीलता । 'पयहिदूण' त्यक्त्वा । सुखशीलतया हि चारित्र मन्द भवति पिण्डस्योपकरणस्य वसनेदचागोधनात् । मनोज्ञाहार-  
है । एक मुनि उग्रतप करके शरीरको कुश करता है ॥५२१॥

गा०—टी०—तीर्थकरने एक नियामक आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य तीसरे यतिकी अनुज्ञा नहीं दी है अर्थात् एक आचार्यकी देख-रेखमें एक साथ एक दो ही मुनि सन्लम्बना कर सकता है क्योंकि तपरूपी अग्निमें अपने शरीर आहुति देनेवाले मुनिकी समाधिमें विघ्न आता है । इसका कारण यह है कि यदि दो या तीन क्षपक सस्तर पर पड जाये तो चित्तको समाधात देनेवाली विनय वैयावृत्य आदिमें कमी आती है ॥५२२॥

गा०—अत आचार्य एक ही क्षपकको स्वीकार करते है जो परिचर्या करनेवाले यतियोंको इष्ट होता है । तथा आचार्य गणके मध्यमें क्षपकको शिक्षा देते है जिससे गण भी समाधिको जान जाये ॥५२३॥

गा०—हे क्षपक । तुम धैर्यके बलसे सम्पूर्ण सुखशीलताको त्यागकर सम्पूर्ण परीषहोंकी सेनाको सहन करने हुए चारित्रको धारण करो । सुखशीलतासे चारित्र मन्द होता है क्योंकि

१ तम्हा खवय एय पडिचरगणसम्मद पडिच्छेइ । भणदि य त आयरियो सगच्छमज्झम्मि खव-यस्स ॥—आ० ।

लम्पटो न भिक्षा शोचयति नाप्युपकरण । सुखशील उद्गमाविदोषं न परिहरति मनोजोपकरणवद्धामिलाष-  
त्वात् । क्लेशासहो यस्य कस्यचिद्वसतावास्ते ॥५२४॥

इन्द्रियजय कषायजयं च कुर्वित्युपदिशति—

सहे रूवे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं ।

सव्वेसु कसाएसु य णिग्गहपरमो सदा होह ॥५२५॥

'सहे रूवे गंधे' इत्यनया । ननु शब्दादयो विषयस्तेषां जयो नाम क ? तद्विषयो हि रागो बन्धहेतु-  
त्वात् तत्र द्विपक्षवैराग्यभावनया जेतव्यत्वेनोपदेष्टव्यः । अत्रोच्यते—सोपस्कात्स्वात्सुत्राणां सव्वे, रूवे, गन्धे,  
रसे य फासे य रागं तुमं जिणाहि इति पदसम्बन्धः । अथवा शब्दादीनां विषयाणां वशे न स्थित इति कृत्वा  
जेता भण्यते । यथा पुरुषो जितोऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशानुवर्तिनो न भवति । 'सव्वेसु कसाएसु य' सर्वेषु  
कषायेषु वा क्रोधादिषु । 'णिग्गहपरमो' निग्रहप्रधान क्षमादिभावनया सदा भव ॥५२५॥

एव कृतैन्द्रियकषायजयेन मया पञ्चारिक कर्तव्यमित्यत्रोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता ।

तो मल्लिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धिं ॥५२६॥

मुखशील मुनि भोजन, उपकरण और वसतिका शोधन नहीं करता । जो स्वादिष्ट भोजनका  
लम्पट होता है न वह भिक्षाका शोधन करता है और न उपकरणका शोधन करता है । तथा  
मुखशील मुनि उद्गम आदि दोषका परिहार नहीं करता, उसका मन तो मनोज भोजन और  
उपकरणमें रहता है । कष्ट न सहकर जिस किसीकी वसतिमें ठहर जाता है ॥५२६॥

आगे इन्द्रिय और कषायोको जीतनेका उपदेश देते हैं—

गा०—टी०—हे यति ! तुम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच इन्द्रियोके विषयोको जीतो ।

शब्द—शब्द आदि इन्द्रियोके विषय है उनको जीतना कैसे ? उन विषयोमें राग बन्धका  
कारण है । अतः उनके विरोधी वैराग्य भावनाके द्वारा उनको जीतनेका उपदेश देना चाहिए ?

समाधान—सूत्र उपस्कार सहित होते हैं अतः शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शमें जो राग  
है उसे तुम जीतो ऐसा पदका सम्बन्ध होता है । अथवा जो शब्दादि विषयोके वशमें नहीं है उसे  
जीतनेवाला कहते हैं । जैसे जो स्त्री पुरुषकी अनुगामिनी नहीं होती उसके सम्बन्धमें कहा जाता  
है कि इसने पुरुषको जीत लिया ।

तथा सब क्रोधादि कषायोंमें क्षमा आदि भावनाके द्वारा सदा निग्रह करनेमें तत्पर  
रहो ॥५२५॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायोको जीतनेपर मुझे क्या करना चाहिए, क्षपके इस प्रश्नका  
उत्तर देते हैं—

१ कुशील उद्गमाविदोषा परिहरति—आ० ।

'हंतुष' हत्वा । 'कस्ताए' कषायान् । 'इवियाणि' इवियाणि च हत्वा । 'सम्बं च गारवं हंतु' सर्वं च गारवं हत्वा ऋद्धिरससातभेदात्त्रिकल्प । 'तो' पश्चान् । 'बलिबराणबोसो' मुदितरागद्वेष । 'करेहि' कुश । 'आलोचनाशुद्धि' आलोचनाख्यां शुद्धि । रागद्वेषो असत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्याविति कथितौ । रागाप्रपश्यति नरो दोषान् । द्वेषाद् गुणाश्च गृह्णीते । तस्माद्रागद्वेषो व्युत्सय कार्याणि कार्याणि ॥५२६॥

निरतिचार मदीय रत्नत्रय तत कि गुरोर्निवेदयामोति न मन्तव्यमित्याचष्टे—

**छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि अवस्समेव कायन्वा ।**

**परसच्चिखया विसोधी सुट्ठुवि वचहारकुसलेण ॥५२७॥**

'छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि' षट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि । 'अवस्समेव होइ कायन्वा' अवश्यमेव भवति कर्तव्या । का ? 'विसोहो' विशुद्धि मुक्त्युपायात्तिचाराणामपाकृति ॥५२७॥

**आयारवमादीया अट्टगुणा दसविधो य ठिदिक्खो ।**

**वारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुण्येयन्वा ॥५२८॥**

'सुट्ठुवि वचहारकुसलेण' सुट्ठु अपि प्रायश्चित्तकुशलेनापि । अष्टौ ज्ञानाचारा दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविध, पंच समितय, तिस्रो गुण्यश्च षट्त्रिंशद्गुणा. ॥५२८॥

गा०—कषाय और इन्द्रियोको नष्ट करके तथा ऋद्धि, रस, और सातके भेदसे सम्पूर्ण गारवको नष्ट करके, पश्चात् राग और द्वेषका मर्दन करके आलोचनाकी शुद्धि करो । राग और द्वेष झूठ बोलनेसे कारण होते है इसलिए उन्हें छोडने योग्य कहा है । रागवश मनुष्य दोषोको नहीं देखता, और द्वेषवश गुणोको ग्रहण नहीं करता । इसलिए रागद्वेषको दूर करके कार्य करना चाहिए ॥५२६॥

मेरे रत्नत्रय निरतिचार है अत गुरुसे क्या निवेदन करूँ ? ऐसा मानना योग्य नहीं, ऐसा कहते हैं—

गा०—छत्तीस गुणोके धारण और व्यवहारमे कुशल आचार्यको भी अवश्य अन्य मुनिको साक्षीसे अपने रत्नत्रयकी विशुद्धि—अतिचारोका शोधन करना होता है । आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकारका तप, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण है ॥५२७॥

गा०—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस प्रकारका स्थितिकल्प, वाग्द तप, छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण जानना चाहिए ॥५२८॥

विशेषार्थ—दोनो प्रतियोमे यह गाथा इससे पूर्वकी गाथाकी विजयोदया टीकाके मध्यमे दी है । किन्तु विजयोदया टीकामे जो छत्तीस गुण गिनाये है वे इस गाथासे भिन्न है । दोनो प्रतियोमे यद्यपि इसपर क्रमाक न० ५२२ है किन्तु इससे आगेकी गाथापर भी यही नम्बर है । इससे प्रतीत होता है कि इस गाथाको मूलमे नहीं गिना गया है । प० आशाधरजीने अपनी टीकामें छत्तीस गुण संस्कृत टीकामे विजयोदयाके अनुसार बतलाकर प्राकृतटीकाके अनुसार अट्टाईस मूल-गुण और आचारवत्त्व आदि आठ इस तरह छत्तीस बतलाए है । 'यदि वा' लिखकर दस आलोचना गुण, दस प्रायश्चित्त गुण, दस स्थितिकल्प, छह जीतगुण इस तरह छत्तीस गुण बतलाकर लिखा है कि यह गाथा प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है ॥५२८॥

सव्ये वि तिष्णसंगा तिस्थयरा केवली अणंतजिणा ।

छद्मस्थस्स विसोधिं दिसंति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥५२९॥

सर्वेषां तीर्थकृताभियमाज्ञा—गुरोर्निर्व्यातापराध तदुक्तं प्रायश्चित्त कृत्वा शुद्धिं कार्येति । 'सव्येवि तिस्थयरा' सर्वेऽपि तीर्थकराः । 'तिष्णसंगा' उल्लङ्घितपरिग्रहाभाषणकृत् । 'सव्ये वि केवली' सर्वेऽपि केवलिनः । परिप्राप्तस्वर्गावतरणादिकत्याणत्रयाः केवलज्ञानावरणक्षयादधिगतविश्वज्ञाना केवलिनः । 'अणंतजिणा' अनन्तसंसारकारकत्वाच्चारित्रसर्वघातिमिध्यात्व<sup>१</sup> सम्यग्मिध्यात्व<sup>२</sup> द्वादशकषायाश्च अनन्त तज्जयादनन्तजिना आचार्योपाध्यायसाधवः । तेऽपि सर्वे 'सदा गुरुसयासे सोधिं विसंति' सदा गुरुसमीपे रत्नत्रयशुद्धिं दर्शयन्ति । कस्य ? 'छद्मस्थस्स' छद्मस्थस्य सम्बन्धनोमिति केचिद्वदन्ति । रत्नत्रयपरिणामात्मको<sup>३</sup> रत्नत्रयशुद्ध्या शुद्धो । भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युच्यते इति वाज्या ॥५२९॥

यो न वेत्यतिचारजातमनिराकरणक्रम मोऽन्यस्मै कथयेद्यस्तु स्वयं वेत्ति स कस्मात् परस्मै कथयति-तदुक्तं वाचरतीत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोमं ।

वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारभइ ॥५३०॥

'जह सुकुसलो वि वेज्जो' यथा सुष्ठु कुशलोऽपि वैद्यः । व्याधिनारामे 'आदुरो' आतुरः । 'अण्णस्स कहेदि' अन्यस्मै कथयति । 'रोमं' व्याधिः । एवभूतो मम व्याधिः, चिकित्सा कुर्विति । 'वेज्जस्स तस्स सोच्चा' तस्य वैद्यस्य श्रुत्वा वचनम् । 'सो वि य' सोऽपि च आतुरो<sup>१</sup> वैद्यः । 'पडिकम्ममारभइ' प्रतिक्रियामारभते ॥५३०॥

सब तीर्थकरोकी यह आज्ञा है कि गुरुसे अपने अपराधको निवेदन करके, वे जो प्रायश्चित्त कहे उसे करके शुद्धि करना चाहिए । यही कहते हैं—

शा०—टी०—परिग्रहरूपी अथाह कीचड़को लाँघनेवाले सभी तीर्थकर, स्वर्गसे अवतरण, जन्म और दीक्षा इन तीन कल्याणकोंको प्राप्त करके, केवलज्ञानावरणके क्षयसे समस्त विश्वको जाननेवाले केवलज्ञानी, तथा अनन्तसंसारका कारण होनेसे चारित्रका सर्वघात करनेवाले मिध्यात्व, सम्यग्मिध्यात्व और बारह कषायको अनन्त कहा है । उनको जीतनेसे आचार्य, उपाध्याय और साधु अनन्तजिन कहे जाते हैं । ये सभी सदा गुरुके समीपमे रत्नत्रयकी शुद्धि करनेको कहते हैं । यह शुद्धि छद्मस्थ अवस्थासे सम्बन्ध रखती है ऐसा कोई कहते हैं । अथवा रत्नत्रयके परिणामवाला आत्मा रत्नत्रयकी शुद्धिसे शुद्ध होता है इससे उसे छद्मस्थकी विशुद्धि कहते हैं ॥५२९॥

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न मलको दूर करनेका क्रम नहीं जानता उसका दूसरे आचार्यादि से कहना उचित है । किन्तु जो स्वयं जानता है वह दूसरेसे क्यों कहता है और क्यों उसके कहे अनुसार आचरण करता है इस शंकाका उत्तर देते हैं—

शा०—जैसे अत्यन्त निपुण भी वैद्य रोगी होनेपर अपना रोग दूसरे वैद्यसे कहता है और उस वैद्यकी चिकित्सा सुनकर वह रोगी वैद्य उसका कहा इलाज प्रारम्भ करता है ॥५३०॥

१ मिध्यात्व द्वाद-आ०मु० । २. त्रयशुद्ध्या भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युक्तवानयं आ०मु० ।

३ अनातुरो आ० मु० ।

एवं जाणंतेण वि प्रायच्छित्तविधिम्पणो सव्वं ।

कादब्बादपरविसोधणाए परसब्बिखगा सोधी ॥५३१॥

'एवं जाणंतेण वि' विज्ञानतापि । कि ? 'प्रायश्चित्तविधि' प्रायश्चित्तकर्म । 'अपणो' आत्मनः । 'सव्वं' सर्वं । 'कादब्बा' कर्तव्या । 'परसब्बिखगा सोधी' शुद्धि । 'आदपरविसोधणाए' आत्मन परा उत्कृष्टा विशोधना यथा न्यादित्येवमथ स्वसाधिका परसाधिका च विशुद्धिरुक्तेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकविद्वत्सं तस्य मनो भवेत् ।

'तच्छित्तप्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥ [ ]

इति वचनान् । शुद्धिरतिचाराणा अनेन कृतेति परं मानयन्ति । निरतिचाररत्नत्रयोऽयमिति परे भव्या एतदुपदेशेनास्माभि प्रवर्तितव्यमिति ढीकन्ते । अन्यथा तद्गुणातिशयानवगममान् तदनुयायिनो भवन्ति । तत कथमनेन परानुग्रहं कृतं स्यात् । कर्तव्यं स्वपरानुग्रहं ।

तथा चोक्तं—अपहिवं कावस्व जइ सक्कइ परहिद च कायस्व ॥ इति । तथापि—

अधोपिना हि जिनाशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हिसोपदेशः—[ वराग० ११३३ ] । इति । वेश इव । अथवा आत्मन परस्परविशोधनार्थं परसाधिका । मम शुद्धिं दृष्ट्वा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाधिकाया शुद्धी प्रयतते । अन्यथा सर्वं स्वसाधिकायै कुर्यात् । तथा च न शुद्धयन्ति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥५३१॥

यस्मात्परसाधिका शुद्धिं प्रधाना—

तम्हा पव्वज्जादी दसणणाणचरणादिचारो जो ।

तं सव्वं आलोचेहि गिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥५३२॥

गा०—इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रायश्चित्त विधिको जानते हुए भी मुनिको अपनी उत्कृष्ट विशुद्धि के लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । क्योंकि अपनी और दूसरेकी साक्षीपूर्वक विशुद्धि उत्कृष्ट मानी जाती है । कहा है—'प्रायश्चित्त' शब्दमे प्रायका अर्थ लोक है और उसका मन चित्त उस चिन्तका ग्राहक अथवा उम चित्तको शुद्ध करनेवाले कर्मको प्रायश्चित्त कहा है ॥५३१॥

टी०—प्रायश्चित्त करनेसे दूसरे मानते है कि इसने अतिचारोकी शुद्धि कर ली । इसका रत्नत्रय निरतिचार है । अन्य भव्यजीव उमके पास इस विचारसे आते है कि हमे भी इनके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करना चाहिए । यदि दोषांकी विशुद्धि साधु न करे उसके गुणोके अतिशयको न जाननेसे भव्यजीव उमके अनुयायी नही होते । तब साधु कैसे दूसरोका उपकार कर सकता है । कहा भी है कि 'अना हित करना चाहिए । अपना हित करनें हुए शक्य हो तो परका हित करना चाहिए ।' तथा और भी कहा है—'कल्याणके इच्छुक जिनगामनके प्रेमीको नियमसे हितका उपदेश करना चाहिए । जैसे वेश दूसरोका हित करता है । अथवा अपनी और परकी शुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । मेरी शुद्धिको देखकर दूसरे भी ऐसा ही करेंगे, इसलिए साधु परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना है । ऐसा न करनेसे सब केवल अपनी ही साक्षीपूर्वक शुद्धि करने लगेंगे । और ऐसा करनेपर वे शुद्ध नही हो सकेंगे । लोग तो प्रायः देखा-देखी करनेवाले होते है ॥५३१॥

१ चित्तशुद्धिकर कर्म आ० मु० । २ परस्य वि-मु० ।

'तस्मात्' तस्मात् । 'पञ्चब्राह्मी' प्रब्रज्यादिक । 'वंसनानाधरथाधिचारो जो' वर्शनज्ञानधरणातिचारो य । 'तं सखं' सर्वं अतिचारं । 'आलोचेहि' कथय । 'पणिह्वय्या' प्रणिहितचित्तो भूत्वा । 'निरखसें' सर्वमित्यनेनैवावगतत्वात् । निरवशेषमित्येतत्किमर्थं इति चेत्—ज्ञानदर्शनचारित्र्यावधायानामतिचाराणा कतिपयाना सामस्येषुपि सर्वशब्दस्य प्रवृत्तिरस्तीति निरवशेषग्रहणं प्रत्येकं ज्ञानाद्यतिचारान् ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति तन्न दोष ॥५३२॥

कथं निरवशेषालोचना कृता भवतीत्यरेकायामाह—

**काइयवाइयमाणसियसेवणं दुप्पओगसंभूय ।**

**जइ अत्थि अदीचारं तं आलोचेहि णिस्सेसं ॥५३३॥**

'काइयवाइयमाणसियसेवणां' कायेन, वाचा, मनसा च प्रवृत्तिं प्रतिसेवना । 'दुप्पओगसंभूया' दु प्रयोग-समूहा 'तं' तां । 'आलोचेहि' कथय । 'णिस्सेसं' निःशेष । 'जइ अत्थि अदीचारो' यद्यस्त्यतिचार ॥५३३॥

**अमुगंमि इदो काले देसे अमुगत्य अमुगमावेण ।**

**जं जह णिसेविदं तं जेण य सह सच्चमालोचे ॥५३४॥**

चरण अतिक्रम्याचरण । 'इदो' अस्मादिनादतिक्रान्ते । 'अमुगंमि काले' अमुकस्मिन्काले । 'देसे' अमुष्मिन्देशे । 'अमुगमावेण' अनेन भावेन । 'जं' यत् । 'जथा णिसेविदं' यथा निषेवित । 'जेण य सह' येन च सह । 'तं सच्चमालोचे' तत्सर्वं कथयेदृशभेदान् कालभेदान् परिणामभेदात्, सहायभेदान् च दोषाणा गुरुलघु-भाव । गुरुलघुभावानुसारेण वा गुरु लघु वा प्रायश्चित्तं दीयते । तत्त्वं कथयति ॥५३४॥

शिक्षयत्यालोचनाक्रमं सूचि—

गा०—यत् परकी साक्षीपूर्वक की गई शुद्धि हो प्रधान है अतः दीक्षामे लेकर अबतक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यमे जो अतिचार लगे है वे सब निरवशेष सावधान चित्त होकर कहो ।

शङ्का—सब कहनेसे ही सबका ज्ञान हो जाता है फिर निरवशेष क्यों कहा ?

समाधान—ज्ञान दर्शन और चारित्र्यविषयक कुछ अतिचारोंको पूरी तरहसे कहनेमे भी सर्वशब्दकी प्रवृत्ति है, इसलिए 'निरवशेष' का ग्रहण ज्ञानादिके प्रत्येक अतिचारको ग्रहण करनेके लिए किया है । अतः कोई दोष नहीं है ॥५३२॥

निरवशेष आलोचना कैसे की जाती है ? इसका उत्तर देते है—

गा०—मनवचन और कायकी प्रवृत्ति करते हुए यदि उनके दुरुप्रयोगसे अतिचार लगा हो तो उसकी पूरी तरहसे आलोचना करो ॥५३३॥

गा०—इस दिनसे लेकर अमुक कालमे, अमुक देशमे, अमुक भावसे जो दोष, जिसके साथ जिस प्रकारसे किया हो वह सब कहना चाहिए । देशभेद, कालभेद, परिणामभेद, और सहायकके भेदसे दोषोंमे गुरुपना और लघुपना होता है । और दोषोंकी गुरुता और लघुताके अनुसार गुरु या लघु प्रायश्चित्त दिया जाता है । इसलिए क्षपक सब कहता है ॥५३४॥

आचार्य आलोचनाके क्रमकी शिक्षा देते है—

आलोचना हु दुविधा ओषेण य होदि पदविभागी य ।

ओषेण मूलपक्षस्स पयविभागी य इदरस्स ॥५३५॥

'आलोचना हु दुविधा होवि' द्विप्रकारवालोचना भवति । 'ओषेण पदविभागी य' सामान्येन विशेषेण च । यत्रो हि सामान्ये विशेषेण चावलम्ब्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह— 'ओषेण मूलपक्षस्स' सामान्यालोचना मूलाख्य प्रायश्चित्त प्राप्तस्य । 'पदविभागी' विशेषालोचना । 'इदरस्स' मूलमप्राप्तस्य ॥५३५॥

सामान्यालोचनाहं सामान्यालोचनास्वरूपं च कथयति—

आषेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधिसव्वघादी वा ।

अज्जोपाए इच्छं सामण्णमहं खु तुच्छोत्ति ॥५३६॥

'आषेणालोचेदि हु' सामान्येन कथयति । 'कोऽपरिमिदवराधो सव्वघादी वा' बहुषो अपराधा यस्य मिथ्यात्व व्रतभङ्गो वा । परसाक्षिकाया शुद्धो मायाशक्त्य निरस्त भवति । मानकषायो निमूलितो भवति । गुरुजन पूजितो भवति । तत्परतन्त्रया वृत्तेर्मार्गप्रख्यापना च कृता स्यात् । 'अज्जोपाए' अद्यप्रभृति । 'इच्छं सामण्ण' इच्छामि श्रामण्य । 'अहं खु तुच्छोत्ति' अहं स्वल्पको रत्नत्रयेणेति इय सामान्यालोचना ॥५३६॥

विशेषालोचनामाचष्टे—

गा०—आलोचना दो प्रकारकी होती है—एक सामान्यसे और दूसरी विशेष से । क्योंकि सामान्य और विशेषका अवलम्बन लेकर ही वचनकी प्रवृत्ति होती है । किस दोषकी सामान्यसे आलोचना होती है और किसकी विशेषसे होती है ? यह कहते हैं—जिसको मूल नामक प्रायश्चित्त दिया जाता है वह सामान्यसे आलोचना करता है और जिसको मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता वह विशेष रूपसे आलोचना करता है ॥५३५॥

विशेषार्थ—जिसकी मूलसे ही दोषा छेद दी जाती है वह अपने दोषोंकी सामान्य आलोचना करता है किन्तु जो सम्यक्त्व आदिमें दोष लगाता है वह अपने दोषकी विशेष आलोचना करता है । यहाँ सामान्यसे मतलब है किसी गुणविशेषमें लगे दोषकी आलोचना न करके सामान्य मुनिधर्म मात्रमें लगे दोषकी आलोचना करना, और किसी गुणविशेषमें लगे दोषकी आलोचना विशेष आलोचना है ।

सामान्य आलोचनाके योग्य कौन होता है और सामान्य आलोचनाका स्वरूप कहते हैं—

गा०—जो अपरिमित अपराधी है जिसने बहुत अपराध किए हैं या जिसने सब सम्यक्त्व व्रत आदि का घात किया है वह सामान्य आलोचना करता है । मैं आज से मुनि दीक्षा लेना चाहता हूँ । मैं रत्नत्रय से तुच्छ हूँ । यह सामान्य आलोचना का स्वरूप है । आचार्य आदिकी साक्षो पूर्वक शुद्धिमें मायाशक्त्य दूर होता है । मान कषाय जड़ से उखड़ जाती है । गुरुजनके प्रति आदर भाव व्यक्त होता है । उनके अधीन रह कर व्रताचरण करनेसे मोक्षमार्गकी ख्याति होती है ॥५३६॥

विशेष आलोचनाको कहते हैं—



पव्वज्जादी सव्वं क्रमेण जं जत्थ जेण भावेण ।

पडिसेविदं तहा तं आलोचितो पदविभागी ॥५३७॥

‘पव्वज्जादी सव्वं’ प्रव्रज्यादिकं सव्वं । ‘क्रमेण जं जत्थ जेण भावेण पडिसेविदं’ क्रमेण यद्यत्र कालत्रये वा देवो येन भावेन प्रतिसेवित । ‘तहा तं’ तथा तत् । आलोचितो निरूपयन्ति । यदि पदविभागी विशेषा-  
लोचना भवति ॥५३७॥

शल्यानिराकरणे दोष शल्यापाये च गुणं दृष्टान्तेन दर्शयति—

जह कटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्धुदो होदि ।

तम्हि दु समुद्धिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥५३८॥

‘जह कटएण विद्धो’ यथा कण्ठकेन विद्ध । ‘सव्वंगे’ सर्वस्मिन् शरीरे । ‘वेदणुद्धुदो होदि’ वेदन-  
योपद्रुतो भवति । ‘तम्हि समुद्धिदे’ तस्मिन्कण्ठके उद्घृते । ‘सो’ दु खित । ‘णिस्सल्लो’ निःशल्यो शल्येन  
रहितः । ‘णिव्वुदो’ निवृत्तो । ‘होदि’ भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥५३८॥

दाष्टान्तिकयोजना—

एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ।

सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥५३९॥

‘एव’ कण्ठकेन विद्ध इव । ‘अणुद्धुददोसो’ अनुद्घृतदोषः । ‘माइल्लो’ मायावान् । स्वापराधा-  
कथनानुद्घृतदोषेण । ‘दुक्खिदो होइ’ दुःखितो भवति । ‘सो चेव वंददोसो’ स एव वान्तदोषः । ‘सुविसुद्धो  
णिव्वुदो होइ’ निवृत्तो भवति ॥५३९॥

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदानसल्लं च ।

अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥५४०॥

‘मिच्छादंसणसल्लं’ मिथ्यादर्शनशल्य । ‘मायासल्लं’ मायाशल्य । ‘णिदानसल्लं’ निदानशल्य च ।  
‘अहवा सल्लं दुविहं’ अथवा शल्य द्विप्रकार । ‘दव्वे भावे य’ द्रव्यशल्य भावशल्यमिति । ‘बोधव्वं’ बोध-  
व्यम् ॥५४०॥

गा०—दीक्षासे लेकर सब कालमे सब क्षेत्रमे जिस भावसे और जिस क्रमसे जो दोष किया  
हो उसकी उसी प्रकार आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना है ॥५३७॥

शल्यको दूर न करनेमे दोष और दूर करनेमे गुण दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

गा०—जैसे कण्ठकसे विधा हुआ सर्वशरीरमे पीड़ासे पीडित होता है और उस कण्ठकके  
निकल जानेपर वह दुःखी मनुष्य शल्यसे रहित हो सुखी होता है ॥५३८॥

गा०—उसी प्रकार जो कटिकी तरह दोषको नहीं निकालता वह मायावी अपने अपराध-  
को न कहने रूप दोषसे दुःखी रहता है । और वही दोषको प्रकट करनेपर विशुद्ध होकर सुखी  
होता है ॥५३९॥

गा०—शल्यके तीन भेद हैं—मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, अथवा  
शल्यके दो भेद जानना—द्रव्यशल्य और भावशल्य ॥५४०॥

तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य ।

सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ॥५४१॥

'तिविहं तु' त्रिविध एव । 'भावसल्लं' परिणामशल्यं । 'दंसणणाणे चरित्तजोगे य' दर्शन, ज्ञान, चारित्र्ययोगे वा । दर्शनस्य शल्यं शकादि । ज्ञानस्य शल्यं अकाले पठन अविनयादिकं च । चारित्र्यस्य शल्यं समितिगुण्योरनादर । [ 'योगस्य तपस प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजातं । असयमपरिणमनं वा । तपसश्चारित्र्ये अन्तर्भावविवक्षया तिविहंमिरयुक्तम् ] 'दव्वम्मि सल्लं तिविहं' द्रव्ये शल्यं त्रिविध । 'सच्चित्तं अचित्तं मिस्सगे य' सच्चित्तद्रव्यशल्यं दासादि । अचित्तद्रव्यशल्यं सुवर्णादि । 'मिस्सगे वा' विमिश्रद्रव्यशल्यं ग्रामादि । एतत्त्रिविध द्रव्यशल्यमित्युच्यते—चारित्र्याचारस्य शल्यस्य कारणत्वात् ॥५४१॥

भावशल्यानुद्धरणे दोषमाचष्टे—

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं ।

लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥५४२॥

'एगमवि' एकमपि भावाना रत्नत्रयाणां शल्य । अतिचार । 'अणुद्धरित्ताण' अनुद्धृत्य । 'जो कुणइ कालं' य करोति मरण । कस्मान्नाद्धरति ? 'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण य' गारवेण वा । 'सो ण हु आराधओ होदि' स आराधको नैव भवति । निरतिचारता हि तेषा यतीना आराधना ॥५४२॥

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्य न कालक्षेप कार्य इति शिक्षयति—

कल्ले परे व परदो काहं दंसणणाणचरित्तसोच्चित्ति ।

इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणंति ॥५४३॥

'कल्ले' श्व प्रभृतिके काले । अहं करिष्यामि 'दंसणणचरित्तसोच्चित्ति' दर्शनज्ञानचारित्र्यशुद्धिमिति । 'इय संकप्पमदीया' एव कृतसंकल्पमतय । 'गयं पि कालं ण याणंति' गतमतिक्रान्तमपि आयुःकालं नैव जानन्ति ।

गा०-टी—भावशल्यके तीन भेद है—दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य, चारित्र्ययोगशल्य । शका आदि दर्शनके शल्य है । अकालमे पढ़ना, विनय न करना आदि ज्ञानके शल्य है । समिति और गुणमिमे अनादर चारित्र्यके शल्य है । पहले कहे अनशन आदिके अतिचार अथवा असयमरूप परिणाम योग अर्थात् तपके शल्य है । तपका अन्तर्भाव चारित्र्यमे होता है इस विवक्षासे यहाँ भावशल्य तीन कहे हैं । द्रव्यशल्य भी तीन है—सच्चित्त, अचित्त और मिश्र । दास आदि सच्चित्त द्रव्यशल्य हैं । सुवर्ण आदि अचित्त द्रव्यशल्य हैं । गाँव आदि मिश्र द्रव्यशल्य है । इन तीनोंको द्रव्यशल्य कहते हैं क्योंकि ये चारित्र्याचारके शल्यके कारण हैं ॥५४१॥

भावशल्यको दूर न करनेमे दोष कहते हैं—

गा०-जो साधु लज्जा अथवा गारवसे एक भी भाव अर्थात् रत्नत्रयके शल्य अर्थात् अतिचारको निकाले विना मरण करता है, वह मुनि आराधक नहीं है । निरतिचारता ही यतियोंकी आराधना है ॥५४२॥

आगे शिक्षा देते हैं कि अपराध होनेपर तत्काल कहना चाहिए, देर नहीं करना चाहिए—

गा०-टी०—कल या परसो मे दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यकी शुद्धि करूँगा । ऐसा संकल्प

१ कोष्ठान्तर्गत पाठो नास्ति—अ० आ० प्रत्यो ।

तत् सशल्यं मरणं तेषां भवति । अत एवोक्तं—‘उप्यन्नापुप्यन्ना माया अनुपुष्वसो विहृतव्या’ इति ॥—  
[मूलाचार ७।१२५ ॥] व्याघ्रः शत्रुः । कर्माणि, चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाश्यन्ते । अथवा  
अतिचारकालं गतं चिरातिक्रान्तं नैव जानन्ति । ये हि अतिचाराः प्रतिदिनं जातास्तेषां कालः, सन्ध्या रात्रि-  
दिन इत्यादिकः । पञ्चाशालोचनाकाले गुरुणा ‘पृष्ठा वा न वक्तुं जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य । अथागत  
त्वतीचारकालं तस्यातिचारस्य । अपिशब्देन क्षेत्रभावौ वातिचारस्य हेतून् जानन्ति न स्मरन्ति । सामान्य-  
वाच्यपि जानाति । इह स्मृतिज्ञानं चोचर इति केषांचिद्ब्रह्माख्या ॥५४३॥

सशल्यमरणे को दोष इत्याशङ्क्यायामाचष्टे—

**रागदोषाभिहृदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा ।**

**ते दुःखसल्लबहुले भमंति संसारकांतारे ॥५४४॥**

‘रागदोषाभिहृदा’ रागद्वेषाम्यामभिहृताः । ‘ससल्लमरणं’ सशल्यमरणं । ‘मरंति’ म्रियन्ते । ‘जे मूढा’  
ये मूढास्ते ‘संसारकांतारे भमंति’ । ते ससाराटव्या भ्रमन्ति । कीदृशं ? ‘दुःखसल्लबहुले’ दुःखानि शल्यवत्  
दुर्द्धरत्वाच्छल्य इत्युच्यन्ते । दुःखशल्यसङ्कुले ॥५४४॥

शल्योद्धरणं गुणं व्याचष्टे—

**तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताणं जो कुणदि कालं ।**

**पञ्चज्जादी सच्चं स होइ आराधओ मरणे ॥५४५॥**

‘तिविहं पि’ त्रिविधमपि । ‘भावसल्लं’ भावशल्यं । ‘समुद्धरित्ताणं’ समुद्धृत्य । ‘जो कुणदि कालं’ यः  
कालं करोति । कीदृग्भूतः ? ‘पञ्चज्जादी’ प्रव्रज्यादिकः । ‘सच्चं’ सर्वं । ‘स होइ’ स भवति । ‘आराधओ’  
आराधको दर्शनादीनां । ‘मरणे’ भवपर्यायप्रच्यवे ॥५४५॥

करनेवाले वीनते हुए आयुकालको नहीं जानते । इसीसे उनका मरण शल्य सहित होता है ।  
इसीसे कहा है—‘जैसे ही मायाशल्य उत्पन्न हो, उत्पन्न होते ही उसे आनुपूर्वीक्रमसे नष्ट कर  
देना चाहिए ।’ व्याधि, शत्रु और कर्मकी यदि उपेक्षा की जाये तो उनकी जड़ जम जाती है फिर  
सुखपूर्वक उनका विनाश नहीं होता । अथवा अपराधकी उपेक्षा करनेवाले साधु दोष लगनेके  
कालको बहुत दिन वीत जानेपर भूल जाते हैं । जो अतिचार प्रतिदिन होते हैं उनका काल  
सन्ध्यामे अतिचार लगा था या रातमे या दिनमे, इत्यादि भूल जाते हैं । पीछे आलोचना करते  
समय गुरुके पूछनेपर नहीं कह पाते क्योंकि बहुत काल वीतनेसे भूल जाते हैं । अथवा वीते  
अतीचारके कालको और ‘अपि’ शब्दसे अतिचारके हेतु क्षेत्र और भावको नहीं जानते, उन्हें  
उनका स्मरण नहीं होता । ऐसी किन्हींकी व्याख्या है ॥५४३॥

शल्यसहित मरणमें दोष कहते हैं—

**गा०—**राग और द्वेषसे पीडित जो मूढ मुनि शल्यसहित मरते हैं वे दुःखरूपी शल्योंसे  
भरे ससाररूपी वनमें भटकते हैं । शल्यकी तरह दुर्द्धर होनेसे दुःखोको शल्य कहा है ॥५४४॥

शल्यको निकालनेमें गुण कहते हैं—

**गा०—**जो दीक्षा लेनेके दिनसे लेकर तीन प्रकारके सब भावशल्यको निकालकर मरण

जे गारवेई रहिदा णिस्सन्ला दंसणे चरिचे य ।

बिहरंति मुत्तसंगा खवंति ते सम्बदुक्खाणि ॥५४६॥

'जे गारवेई रहिदा' ये गारवेविरहिता । 'णिस्सन्ला दंसणे चरिचे य' नि'शल्या सन्तो दर्शने चरिचे च । 'बिहरन्ति' प्रवर्तन्ते । 'मुत्तसंगा' निरस्तमूच्छा । ते 'सम्बदुक्खाणि खवंति' ते सर्वाणि दुःखानि क्षपयन्ति ॥५४६॥

तं एवं जाणंतो महंतयं लाभयं सुबिहिदाण ।

दंसणचरित्तमुद्धो णिस्सन्लो बिहर तो धीर ॥५४७॥

'तं' भवान् । 'एषम्' उक्तप्रकारेण । 'जाणंतो' जानन् । 'महंतयं' महान्त लाभ । 'सुबिहिदाणं' सुसय-  
ताना । 'दंसणचरित्तमुद्धो' दर्शने चरित्रे च शुद्धि । तयोः शुद्धिर्ज्ञानदर्शनशुद्धिमन्तरेण न भवतीति त्रयाणां  
शुद्धिरुक्ता । 'णिस्सन्लो' शल्यरहितः सन् । 'बिहर' चर । 'तो' तस्माद् 'धीर' वैयंपित ॥५४७॥

तम्हा सतूलमूलं अविच्छूढमविप्पुदं अणुच्चिग्गो ।

णिम्मोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्वं ॥५४८॥

'तम्हा' तस्मात् यस्मात्सशल्यमरणे दोष । नि शल्यमरणे च सकलदुःखनिवृत्ति दुःखकारणानां कर्म-  
णाम'भावात् । 'तम्हा' तस्मात् । 'सम्मं सम्भ्रमालोचणे' सम्यक् सर्वमतिचारं कथयेत् । दुःखनिवृत्त्यर्थं मति ।  
कथमालोचयेदित्याशङ्क्यामालोचनाविशेषमाह—'सतूलमूलं' तूलमूलाभ्या सहित । 'सव्वं' निरवशेष । 'अवि-  
च्छूढं' अविस्मृत । 'अविप्पुदं' अदुत । 'अणुच्चिग्गो' निर्भय । 'णिम्मोहियं' मोहरहित । 'अणिगूढं' अनि-  
गूढं ॥५४८॥

जह् बालो जंपतो कज्जमकज्ज व उज्जुअं मण्ह ।

तह् आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥५४९॥

करते हैं वे मरते समय दर्शन आदिके आराधक होते हैं ॥५४५॥

गा०—जो तीन प्रकारके गारव और तीन प्रकारके शल्योसे रहित हो ममत्वभावको त्याग दर्शन ज्ञान और चारित्र्यमे विहार करते है वे सब दुःखोका क्षय करते है ॥५४६॥

भा०—हे धीर ! निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले समयियोंके ऊपर कहे महान् लाभको जानते हुए तुम दर्शन और चारित्र्यकी शुद्धि करके शल्यरहित होकर मोक्षमार्गमे प्रवर्तन करो । दर्शन और चारित्र्यकी शुद्धि ज्ञान और दर्शनकी शुद्धिके बिना नहीं होती । इसलिए दर्शन और चारित्र्यकी शुद्धिमे दर्शन ज्ञान चारित्र्य तीनोंकी शुद्धि कही है ॥५४७॥

गा०—यतः शल्यसहित मरणमे दोष है और निःशल्य मरणमे दुःखके कारण कर्मोंका अभाव होनेसे समस्त दुःखोसे छुटकारा होता है । इसलिए दुःखसे निर्वातके लिए दीक्षाके दिनसे लेकर आज तक जो अतिचार लगे है वे सब विना भूल किये, धीरे-धीरे, विना किसी भय और मोहके सम्यक् रूपसे प्रकट करो ॥५४८॥

'अहं बालो जंप्तो' यथा बालो जल्पन् । 'अज्ञानकर्मणं च' कार्यमकार्यं वा । 'भणवि' वदति । 'उज्ज्वलं' ऋजुना क्रमेण । 'तह' तथा । 'आलोचनबन्ध' वक्तव्योपराध । 'मायाभोगं च मौल्यं' मनोगता वक्रता, वचनगतौ, मूया च मुक्त्वा ॥५४९॥

उपसंहरति प्रस्तुतम्—

दंसणणाचरित्ते कादणालोचणं सुपरिसुद्धं ।

णिसल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥५५०॥

'दंसणणाचरित्ते' दर्शनज्ञानचरित्रविषया । 'आलोचनं कादण' अपराधमभिधाय । 'सुपरिसुद्धं' 'णिसल्लो' मायाखलहरहित । 'कदसुद्धी' कृतयुस्निरूपितप्रायश्चित्त । 'कमेण सल्लेहणं कुणसु' क्रमेण सल्लेखना कुरु ॥५५०॥

तो सो एवं भणिओ अब्हुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ ।

सव्वंजादहासो पीदीए पुल्लदसरीरो ॥५५१॥

एव शिक्षितोऽपि क्षपक 'तो' तत । 'सो' आराधक । 'एवं भणियो' एव विहितं स्मरिणा । 'अबभुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ' अम्युषते मरणे निश्चितबुद्धि । 'सव्वंजादहासो' सर्वांगजातहर्षं । 'पीदीए पुल्लदसरीरो' प्रीत्या पुलकितशरीरः ॥५५१॥

पाचीणोदीचिद्युहो चेदियहुत्तो व कुणादि एगंते ।

आलोयणपचीयं काउस्सगं अणावाधे ॥५५२॥

'पाचीणोदीचिद्युहो' प्राङ्मुख उदङ्मुखः । 'चेदियहुत्तो च' चैत्याभिमूलो वा भूत्वा । 'कुणादि काउस्सगं' करोति कायोत्सर्गं । कोदुग्भूत ? 'आलोयणपचीयं' आलोचनाप्रत्यय आलोचनानिमित्त । कायोत्सर्गं स्थित्वा दोषा यत स्मर्यन्ते कथयितु तस्मात्कायोत्सर्गं आलोचनाहेतु । क्व त करोति ? 'एगंते' एकान्ते जनरहित-

गा०—जैसे बालक बोलते हुए कार्य हो या अकार्य हो, सरलभावसे ही कहता है कुछ छिपाता नहीं है । वैसे ही साधुका भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूठको त्यागकर अपना अपराध कहना चाहिए ॥५४९॥

प्रस्तुत चर्याका उपसहार करते है—

गा०—अत दर्शन ज्ञान और चारित्र्यसम्बन्धी अपने अपराधोको कहकर, मायाशयसे रहित होकर, गुल्के द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करके क्रमसे सल्लेखना करो ॥५५०॥

गा०—इस प्रकार गुल्के द्वारा शिक्षित किया गया वह क्षपक समाधिभ्रमण करनेका निश्चय करता है । उसके सब अंगोमे हर्षकी लहर दौड़ती है और प्रीतिसे शरीर रोमांचित हो जाता है ॥५५१॥

गा०—टी०—वह पूरव, उत्तर या जिनबिम्बकी ओर मुख करके जनरहित एकान्त प्रदेशमे जहाँ किसी प्रकारकी बाधाकी सम्भावना नहीं है ऐसे जनरहित एकान्तमे स्थानमे आलोचनाके निमित्त कायोत्सर्ग करता है । यत कायोत्सर्गसे खड़े होनेपर गुल्के कहनेके लिए दोषोका स्मरण

देशे । 'अग्राणांशे' अर्माणे बहुजनमध्ये एकमुखं न भवति चित्तं । मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातकृद्भवति इति मत्वा एकान्ते । अमार्गेषु कायोत्सर्गदेश आख्यात ॥५५२॥

कायोत्सर्गं किमर्थं करोति आलोचयितुकाम इत्याशङ्क्या कायोत्सर्गन्य उपयोगमाचष्टे—

एवं खु वोसरिस्ता देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो ।

णिम्ममदा णिस्संगो णिस्सल्लो जाइ एयत्तं ॥५५३॥

'एवं खु' इत्यादिना । एवमित्यनन्तरसूत्रनिदिष्टक्रमेण । प्राङ्मुख उद्दङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा । एकांते मार्गे । वोसरिस्ता त्यक्त्वा किं ? न हि त्याज्यमन्तरेण त्यागो युज्यते । देहमिति चेत् 'देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो' इति न घटते निर्ममत्वं ननु त्यागः । भिन्नयो पूर्वापरकालविषययो क्रिययोर्बन्ध एक कर्ता तत्र पूर्वकाल-क्रियावचनात् क्त्वा विधीयते । अत्रोच्यते वचसा त्यागः 'वोसरिस्ता' इत्यनेन उच्यते । मनसा ममाय न भवति देह इति त्याग पश्चात्तन्यते । तेन बाङ्मन करणभेदात्यागो भिद्यते । 'णिम्ममदा णिस्संगो' निर्ममताया निस्संगो निष्परिग्रहः । 'णिस्सल्लो' नि परिग्रहत्वादेव नि शल्यः । 'एयत्तं जावि' एकत्वभावना' प्रतिपद्यते ॥५५३॥

होता है अतः कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है । बहुतसे लोगोंके मध्यमे चित्त एकाग्र नहीं होता तथा रास्तेमे खड़े होकर कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोंके कार्यमे बाधा आती है । ऐसा मानकर कायोत्सर्गका स्थान एकान्त और मार्गरहित कहा है ॥५५२॥

आलोचना करनेवाला कायोत्सर्ग क्यों करता है, ऐसी शका होनेपर कायोत्सर्गका उपयोग कहते हैं—

गा०—टी०—इस प्रकार आलोचनाके लिए एकान्त स्थानमे पुरबके सन्मुख अथवा उत्तरके सन्मुख अथवा जिनविम्बके सन्मुख होकर 'मे शरीरका त्याग करता हूँ' इस प्रकार वचनसे त्याग करके 'यह शरीर मेरा नहीं है' इस प्रकार मनसे त्याग करता है । अतः वचन और मनके भेदसे त्यागके दो भेद होते हैं । इस प्रकारसे शरीर ममत्व त्यागकर निर्ममत्वको प्राप्त होता है और निर्ममत्वको प्राप्त होनेसे बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहसे रहित होता है । परिग्रह रहित होनेसे ही निःशल्य होकर एकत्वभावनाको प्राप्त होता है ।

शङ्का—'त्याज्यके बिना त्याग नहीं होता । यदि देहका त्याग करता है तो देहमे भी निर्ममत्व होता है' यह कथन नहीं घटता । क्योंकि शरीरमे निर्ममत्व ही शरीरका त्याग है । आगे पीछे होनेवाली दो भिन्न क्रियाओंका कर्ता जहाँ एक ही होता है वहाँ पूर्वकालकी क्रियासे 'क्त्वा' (करके) प्रत्यय किया जाता है । शकाकारका अभिप्राय यह है कि गाथामे कहा है कि देहका त्याग करके देहमे निर्ममत्व होता है । किन्तु देहका त्याग और देहमे निर्ममत्व यह भिन्न कार्य नहीं है निर्ममत्व ही त्याग है । अतः देहका त्याग करके देहमे निर्ममत्व होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है ।

समाधान—'वोसरिस्ता' शब्दसे वचनमे त्याग कहा है । उसके पश्चात् ही 'यह शरीर मेरा नहीं है' इस प्रकार मनसे त्याग होता है । अतः वचन और मनके भेदसे त्यागमे भेद होनेसे उक्त कथन घटित होता है ।

तो एयत्तमुच्यगदो सरदि सञ्चे कदे सगे दोसे ।

आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सन्ल्लत्ति ॥५५४॥

‘एयत्तमुच्यगदो’ एकत्वभावनामुपगत । निरतिचारज्ञानदर्शनचारित्र्यान्धेवाहं । शरीरमिदमन्यदनुपकारि मम दु खानिमित्तात्वात्, तद्विनाशे मम किं विनश्यति, क्रशयितव्योऽमरातिरिति मन्यमान, प्रायश्चित्तात्करणे न सिद्ध्यते । माया च कर्मोदयनिमित्ता हातुं ईहवो मम शुद्धरूपस्येयमशुद्धिरिति । ‘तो’ तन । ‘सरेबि’ स्मरति । ‘सञ्चे’ सर्वेषा । ‘कदे’ कृताना । ‘सगे’ स्वकाना । ‘बोसे’ दोषाणा । किमर्थं स्मरति ? ‘आयरियपावमूले’ आचार्यपादमूले । ‘उप्पाडिस्सामि’ उत्पाटयिष्यामि । ‘सन्ल्लत्ति’ दर्शनातिचारमिति ॥५५४॥

स्मृत्वा किं करोति पश्चादित्याशङ्क्यामित्याचष्टे—

इय उज्जुभावमुपगदो सञ्चे दोसे सरिचु तिक्खुचो ।

लेस्साहिं विसुज्झंतो उवेदि सन्ल्लं समुद्धरिदुं ॥५५५॥

‘इय’ एव । ‘उज्जुभावं उवगदो’ ऋजुभाव उपगत । ‘सञ्चे बोसे’ सर्वेषा दोषाणा । ‘तिक्खुचो सरित्तु’ त्रि स्मृत्वा । ‘लेस्साहिं विसुज्झंतो’ लेस्यांभविशुद्धाभिविशुद्धपन् । ‘उवेदि’ दौकते आचार्य । ‘सन्ल्लं’ शल्य । ‘समुद्धरिदुं’ सम्यगुद्धन् ॥५५५॥

आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स ।

पुञ्जण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरिक्खवेलाए ॥५५६॥

‘आलोयणादिका’ आलोचनप्रतिक्रमणादिका क्रिया । अथवा ‘आलोयणं’ आलोचना । ‘विया’ दिवसे । ‘पुण’ पश्चात् । ‘होइ’ भवति । क्व ? ‘पसत्थे’ प्रशस्ते क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रशुद्धिक्ता । विसुद्धभावस्स विशुद्धि-

**विशेषार्थ—**इस समय मैं आलोचना करता हूँ । मेरे सम्यक्त्व आदिमें कोई भी दोष नहीं है । इस प्रकार दोषकी शकासे मुक्त होकर मैं एक असहाय अथवा नित्य हूँ । यह शरीर मुझसे भिन्न है । दुःखका कारण होनेसे मेरा उपकारी नहीं है । मैं तो निरतिचार रत्नत्रयस्वरूप ही हूँ । अतः देहके नाशसे मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होता । मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ । इस प्रकार एकत्व भावना-मय होता है ॥५५३॥

गा०—टी०—एकत्व भावनामय होकर प्रायश्चित्तका आचरण करनेमें खिन्न नहीं होता । कर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाली मायाको छोड़नेमें तत्पर होता है । मैं शुद्धस्वरूप हूँ । मेरी यह माया अशुद्धि है ऐसा मानता है । अतः यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है । मैं आचार्यके पादमूलमें अपने दोषोको जड़मूलसे दूर करूँगा, इस भावनासे अपने द्वारा किये गये सब दोषोको स्मरण करता है ॥५५४॥

दोषोके स्मरण करनेके पश्चात् क्या करता है यह कहते है—

गा०—इस प्रकार सर्गभावको प्राप्त हुआ क्षपक सम्पूर्ण दोषोको तीन बार स्मरण करके लेश्याओसे विशुद्ध होता हुआ शल्योंको दूर करनेके लिए आचार्यके पास जाता है ॥५५५॥

गा०—आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया विशुद्ध परिणामवाले क्षपकके प्रशस्त क्षेत्रमें

परिणामस्य भावशुद्धिरनेन कथिता । 'पुष्करे' पूर्वाह्ने । 'अबरणे' च अपराह्णे वा । 'सोधतिहिरण्यवेलाए' सीम्ये दिने, नक्षत्रे, वेलायां च ॥५५६॥

एवमादिषु अप्रशस्तेषु देशेषु आलोचना न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापरं वचनं—

**णिपत्तकंठइल्लं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुददुदं ।**

**सुण्णघररुददेउलपत्थररासिद्धियापुंजं ॥५५७॥**

'णिपत्तकंठइल्लं' निपत्र कण्टकाकुल । 'विज्जुहदं' अयानिनाहृत । 'सुक्खरुक्खकडुददुदं' शुष्कमूलं, कटुकरम, 'वडुदं' दग्ध । 'सुण्णघररुददेउलपत्थररासिद्धियापुंजं' शून्य गृह, रुद्रदेवकुल, पाषाणराशि, द्रष्टकापुञ्जं ॥५५७॥

**तणपत्तकठ्ठारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा ।**

**रुद्दाणं खुद्दाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥५५८॥**

'तणपत्तकठ्ठारिय असुइ सुसाणं च' तृणवत्पत्रवत्काष्ठवत् यत्स्थान । 'अशुचिसुसाणं वा' अशुचिघम-  
शान वा । भग्नानि पतितानि वा भ्राजानि गृहाणि वा यस्मिन् स्थाने तद्भ्रमनपतित । 'अधिउत्ताणं च  
ठाणाणि' देवताना स्थानानि । कीदृशीना ? 'रुद्दाणं' रौद्राणा । 'खुद्दाणं' क्षुद्राणा स्वल्पकाना ॥५५८॥

**अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं ।**

**आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥५५९॥**

'अण्णं च' अन्यद्वा स्थान एवमादिक । 'अप्पसत्थं' अप्रशस्त । 'हवेज्ज' भवेत् । 'जं ठाणं' यत्स्थान ।  
'तत्थ' तस्मिन्स्थाने । 'आलोचणं पडिच्छदि' आलोचना न प्रतीच्छति । 'गणी' गणघर । किमर्थं ? 'से' तस्य  
क्षपकस्य । 'अविग्घत्थं' अविघ्नार्थं । एतेष्वालोचनाया कृताया प्रारब्धकार्यसिद्धिर्न भवतीति मत्वा ॥५५९॥

पूर्वाह्णे अथवा अपराह्णकालमे शुभदिन, शुभनक्षत्र और शुभवेलामे होती है । यहाँ प्रशस्त क्षेत्रसे क्षेत्रशुद्धि कही है । विशुद्धपरिणामसे भावशुद्धि कही है तथा शुभदिन आदिसे कालशुद्धि कही है ॥५५६॥

आगे आचार्य शिक्षा देते हैं कि इस प्रकारके अप्रशस्त देशोंमें आलोचना नहीं करनी चाहिए—

गा०—जहाँ वृक्ष पत्ररहित हो, कण्टक भरे हो, वज्रपात हुआ हो, सूखे वृक्ष हों, कटुक रसवाले हो, दावानलसे जल गये हो तथा शून्य घर, रुद्रदेवका मन्दिर, पत्थरी और ईंटोंका ढेर हो ॥५५७॥

गा०—तृण, पत्र और काष्ठसे भरा स्थान, स्मशान, जहाँ टूटे पात्र और खण्डहर हो, चामुण्डा आदि रौद्र देवताओंका स्थान, नीचजनोंका स्थान ॥५५८॥

गा०—अन्य भी जो इस प्रकारके अप्रशस्त स्थान हों, वहाँ आचार्य उस क्षपककी निबि-  
धनताके लिए आलोचना नहीं करते, क्योंकि इन स्थानोंमें आलोचना करनेपर प्रारब्ध कार्यकी सिद्धि नहीं होती ऐसा वे मानते हैं ॥५५९॥



कव तर्हि आलोचना प्रतीच्छतीत्यत्राह—

अरहंतसिद्धसागरपउमसरं खीरपुष्पफलभरियं ।

उज्जाणभवनतोरणप्रासादं पागजवक्ष्वरं ॥५६०॥

‘अरहंतसिद्धसागरपउमसरं’ अर्हन्ति सिद्धेषु साहचर्यात्स्थान अर्हंतिसिद्धशब्दान्म्यामिह गृहीतं । अर्हंतिसिद्धप्रतिमासाहचर्याद्वा । सागरादिसमीपं स्थान सामीप्यात्सागरादिशब्देनोच्यते । ‘खीरपुष्पफलभरिदं’ क्षीरपुष्पफलभरिततरुसामीप्यात् स्थान क्षीरपुष्पफलभरितमित्युच्यते । ‘उज्जाणभवनतोरणप्रासादं’ उद्यान-भवनं, तोरण, प्रासाद । ‘पागजवक्ष्वरं’ नागाना यक्षाणा च गृह ॥५६०॥

अण्णं च एवमादिय सुपसत्थं हवइ जं ठाणं ।

आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से आविंघत्थं ॥५६१॥

सूरिरेव म्पित्वा आलोचना प्रतिगुह्यतीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ।

आलोयणं पडिच्छदि एको एकस्स विरहाम्मि ॥५६२॥

‘पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व’ । प्राङ्मुख. उदङ्मुख । आयतनशब्द स्थानसामान्यवचनोऽपि जिनप्रतिमास्थानवाच्यत्र गृहीतस्तेन जिनायतनाभिमुखो वा । ‘सुहणिसण्णो हु’ सुखेनासीन । ‘आलोयणं’ आलो-चना । ‘पडिच्छदि’ शृणोति । ‘एको’ एक एव सूरिरेकस्यैवालोचना । ‘विरहाम्मि’ एकान्ते । तिमिरापसारण-परस्य घर्भरस्मेश्चदविगिति उदयार्थो तद्वदस्मत्कार्याभ्युदयो यथा स्यादिति लोक प्राङ्मुखो भवति । सूरैस्तु

तव कहीं आलोचना स्वीकार करते है । यह कहते है—

गा०—टी०—यहाँ अरहंत और सिद्ध शब्दसे अर्हन्तो और सिद्धोके साहचर्यसे युक्त अथवा अर्हन्त और सिद्धोकी प्रतिमाके साहचर्यसे युक्त स्थान लिया गया है । सागर आदि शब्दसे सागर आदिके समीपका स्थान लिया गया है । क्षीर, पुष्प और फलोसे भरे वृक्षोके समीप होनेसे स्थान-को ‘क्षीर पुष्पफल भरित’ कहा है । अतः अरहंतका मन्दिर, सिद्धोका मन्दिर, समुद्रके समीप, कमलोके सरोवरके समीप, या जहाँ दूध वाले वृक्ष हों, पुष्पफलोसे भरे वृक्ष हों, उद्यानमें स्थित भवन हो, तोरण, प्रासाद, नागों और यक्षोंके स्थान ॥५६०॥

गा०—अन्य भी जो सुन्दर स्थान हों वहाँ आचार्य क्षपककी निर्विघ्न समाधिके लिए आलोचना स्वीकार करते है ॥५६१॥

आगे कहते है कि आचार्य इस प्रकार स्थित होकर आलोचना ग्रहण करते है—

गा०—पूरवकी ओर अथवा उत्तरकी ओर अथवा जिनमन्दिरकी ओर मुख करके मुख-पूर्वक बैठकर आचार्य एकान्त स्थानमें अकेले ही एक ही क्षपककी आलोचना सुनते है ।

टी०—गाथामे आया आयतन शब्द यद्यपि स्थान सामान्यका वाचो है फिर भी यहाँ जिन प्रतिमाके स्थानका वाचो ग्रहण किया है ।

शङ्का—पूरव दिशा अन्धकारको दूर करनेमें तत्पर सूर्यके उदयकी दिशा है इसलिए अपने उदयका इच्छुक व्यक्ति उसीकी तरह हमारे कार्यका अभ्युदय हो इसलिए पूरवकी ओर मुख

कोऽभिप्रायो येन प्राङ्मुखो भवति । प्रारम्भपरानुग्रहणकार्यसिद्धेरङ्गं तद्विभिमुखता तिथिवारादिवदिति । उदङ्मुखता तु स्वयंप्रभाषितोत्कृतो विदेहस्थान् श्वेतसि कृत्वा तद्विमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चैत्यायतनाभि-  
 मुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धेरङ्गं । निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्ववर्णं तदालोचयितुं सम्माननं । यथा  
 कथञ्चिच्छब्दे मयि अनादरो गुरोरिति नोत्साह- परस्य स्यात् । एक एव शृणुयात्सूरिलज्जापरो बहूना मध्ये  
 नात्मदोषं प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदवशास्य भवति, तथा कथयत एकस्वैवालोचना शृणुयात् दुरवधारत्वा-  
 युगपदनेकवचनसंदर्भस्य । सहोषनिग्रहं नायं वराकः 'पडिलेहणं' । प्रतीच्छति इत्यनेनैवावगतत्वाद्द्विरहम्मि इति  
 वचन निरर्थकं । यच्छनेऽपि तत्र स्युर्न एकैव श्रुतं स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधवशास्य अनेनावगत एवेति  
 नान्यस्य सकाशे शृणुयात् इति एतत्सूच्यते । 'विरहम्मि' एकान्ते इति आचार्यशिक्षति ॥५६२॥

शिष्यस्य आलोचनाक्रममाचष्टे—

**काऊण य किरियम्म पडिलेहणमंजलीकरणमुद्धो ।**

**आलोएदि सुविहिंदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ॥५६३॥**

'काऊण य किरियम्म' कृतिकर्म वन्दना पूर्वं कृत्वा । 'पडिलेहणमंजलीकरणमुद्धो' प्रतिलेखनामहितः

करता है । आचार्य किस अभिप्रायसे पूरवकी ओर मुख करके बैठते हैं ?

**समाधान—**शुभ तिथि वार आदिकी तरह पूरवकी ओर मुख करना, प्रारम्भ किए गये क्षपक पर अनुग्रह करनेके कार्यकी सिद्धिका अंग है इसलिए आचार्य पूर्वाभमुख बैठते हैं । विदेह क्षेत्र उत्तर दिशामें है । अतः विदेह क्षेत्रमें स्थित स्वयंप्रभ आदि तीर्थकरोको चित्तमें स्थापित करके उनके अभिमुख होनेसे कार्यकी सिद्धि होती है इस भावनासे उत्तर दिशाकी ओर मुख करते हैं । जिनालयके अभिमुख होना भी शुभ परिणामरूप होनेसे कार्यसिद्धिका अंग है । व्याकुलता रहित हो बैठकर सुनना आलोचना करने वालेका सम्मान है । जिस किसी प्रकारसे सुननेपर क्षपक समझेगा कि गुरुका मेरें प्रति आदरभाव नहीं है, इससे उसे उत्साह नहीं होगा । आचार्यको अकेले ही सुनना चाहिए क्योंकि लज्जालु क्षपक बहुत जनोके बीचमें अपना दोष प्रकट करना नहीं पसन्द करता । सबके सामने कहते हुए उसके चित्तको खेद भी होता है । आचार्यको एक समयमें एककी ही आलोचना सुनना चाहिए क्योंकि एक साथ अनेक क्षपकोके वचनको अवधारण करना कठिन होता है । लोग कहेंगे कि गुरु इसके दोषोका निग्रह करना नहीं चाहता ।

**शंका—**उक्त कथनसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि गुरु एकाकी आलोचना सुनते हैं । फिर गाधामे 'विरहम्मि' वचन निरर्थक है ?

**समाधान—**'विरहम्मि' या 'एकान्तमे' पदसे यह सूचित किया है यदि अन्य भी वहाँ हों तो वह एकके द्वारा ही सुना गया नहीं होगा । सुनने वाले कहेंगे कि यह लज्जित नहीं होता । इसने इसका अपराध जान ही लिया । अतः अन्यके पास होते हुए आचार्यको आलोचना नहीं सुनना चाहिए ॥५६२॥

क्षपककी आलोचनाका क्रम कहते हैं—

प्राञ्जलीकरणशुद्ध । 'आलोचि' कथयति । 'सुविहितो' मुचारित्र । 'सम्ब दोसे' पूर्वदोषान् । 'पत्तेतुष्ण' त्यक्त्वा । आलोचना ॥५६३॥

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोसा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध.—

आकंपिय अनुमाणिय जं दिहुं बादरं च सुहुमं च ।

छण्णं सहाउलयं बहुजण अच्चस तस्सेवी ॥५६४॥

'आकंपिय' अनुकम्पामात्मनि सम्पाद्य आलोचना । 'अनुमाणिय' गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना । 'जं दिहुं' यद् दृष्ट दोषजात परैस्तस्यालोचना । 'बादरं च' यत्स्थूलमतिचारजात तस्यालोचना । 'सुहुमं च' यत्सूक्ष्ममतिचारजात तस्यालोचना । 'छण्णं' प्रच्छन्न अदृष्टलोचना । 'सहाउलयं' शब्दा आकुला यस्यां आलोचनायां सा शब्दाकुला । बहुजनशब्द सामान्यविषयोऽपि गुरुजनबाहुल्ये वर्तते । गुरोरालोचनायाः प्रस्तुतत्वाद्बहुना गुरुणा आलोचना क्रियते सा बहुजनशब्देनोच्यते । 'अच्चस' अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना । 'तस्सेवी' तानात्मवरितान्दोषान्य' सेवते स तस्सेवी तस्य आलोचना । इद सूत्र । अस्य व्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः ॥५६४॥

आकम्पिय इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ।

अणुक्केण गणिं करेइ आलोयणं कोइ ॥५६५॥

'भत्तेण व पाणेण व' स्वयं भिक्षालब्धिसमन्वितत्वात्प्रवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्राप्तुकेन उद्गमादिदोष-

गा०—सुविहित अर्थात् मुचारित्र सम्पन्न क्षपक दक्षिण पाश्र्वमे पीछीके साथ हाथोकी अजलिको मस्तकसे लगाकर मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक प्रथम गुरुकी वन्दना करके सब दोषोको त्याग आलोचना करता है ॥५६३॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामे लिखा है कि गुरुकी वन्दना सिद्धभक्ति और योगभक्तिपूर्वक की जाती है ऐसा बूढोका मत है । किन्तु श्रीचन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्र-भक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक कहते हैं ॥५६३॥

आलोचनाका क्रम कहकर उसके गुण-दोष कहते है—

गा०—टी०—१ आकम्पित—अपने पर गुरुकी कृपा प्राप्त करके आलोचना करना । २ अनुमानित—उपायसे गुरुका अभिप्राय जानकर आलोचना करना । ३ दूसरोंने जो दोष देखा उसकी आलोचना करना । ४ बादर—स्थूल अतिचारकी आलोचना करना । ५ सूक्ष्म अतिचारकी आलोचना करना । ६ छन्न—कोई न देखे इस प्रकार आलोचना करना । ७ शब्दाकुलित—शब्दोकी भरमार होते समय आलोचना करना । ८ बहुजन शब्द सामान्य वाची होते हुए भी यहाँ गुरु-जनोकी बहुलतामें लिया गया है । गुरुसे आलोचना करनेका प्रकरण होनेसे बहुतसे गुरुओंसे आलोचना करना बहुजन है । ९ अव्यक्तसे आलोचना करना । १० तस्सेवी—जो अपने समान दोषोका भागी है उससे आलोचना करना । इसका व्याख्यान आगे करेंगे ॥५६४॥

आकम्पित दोषको कहते हैं—

गा०—स्वयं भिक्षालब्धसे युक्त होनेके कारण प्रवर्तक होकर आचार्यकी उद्गम आदि

रहितेन भक्तेन वा पानेन वा वैयावृत्य कृत्वा, उपकरणेण कमण्डलुपिच्छादिना । 'किदिकम्मकरणेन' कृति-कर्म-  
बन्दनया वा । 'आकपेइण' अनुकम्पामुत्पाद्य । 'गणि' आचार्यं । 'कोइ आलोयणं करेइ' क्वचित्त्वापराध  
कथयति ॥५६५॥

तस्यालोचयतो मनोभ्यापार दर्शयति—

**आलोइदं असेसं होहिदि काहिदि अणुगहं इमेत्ति ।**

**इय आलोचंतस्स हु पढमो आलोयणादोसो ॥५६६॥**

'आलोइदं असेसं होहिदि' निरवगेष आलोचित भविष्यति । 'काहिदि' करिष्यति । 'अणुगहं इमेत्ति'  
अनुग्रह ममेति । भक्तादिदानेन कृतोपकारस्य मम तुष्टो गुरुर्न महत्प्रायश्चित्त प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव ।  
महत्प्रायश्चित्तदानभयाभावात्स्थूल सूक्ष्म वातिचार सर्व कथयामीति । 'इय' एव । 'आलोचंतस्स खु' एवं  
मनसि कृत्वा आलोचयत । 'पढमो' प्रथम । 'आलोयणा दोसो' आलोचनादोष । कोऽसौ ? अविनयो नाम ।  
यत्किञ्चित्कृत्वा गुरवस्तुष्यन्ति लघुप्रायश्चित्तदायिनो भविष्यन्तीति स्वबुद्ध्या असद्वेषाध्यारोपणान्मानसोऽ-  
विनय । अन्ये तु वर्णयन्ति आलोचना च दोषश्च आलोचनादोष । अनुभाभिसन्धिपुर मरा आलोचना<sup>२</sup> इति  
यावत् ॥५६६॥

दृष्टान्तमुखेन दुष्टतामालोचनाया दर्शयति—

**केदूण विसं पुरिसो पिएज्ज जह कोइ जीविदत्थीओ ।**

**मण्णंतो हिदमहिदं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६७॥**

'केदूण विसं पुरिसो' इत्यादिना । 'अहं कोइ पुरिसो जीवित्त्वा विसं केदूण पिबेज्ज' इति मन्बन्ध ।  
यथा कश्चित्पुरुषो जीवितार्थी विष कृत्वा पिबति । 'अहिबं' अहित कृत्वा । विषपान 'हिबं मण्णतो' हितमिति  
दोषोसे रहित प्रासुक भक्तसे अथवा पानसे अथवा कमडलु पीछी आदि उपकरणसे अथवा कृति-कर्म-  
बन्दनासे वैयावृत्य करके अपने पर आचार्यकी कृपा उत्पन्न करके कोई साधु अपना अपराध  
कहता है ॥५६५॥

उसके आलोचना करत समय मनकी प्रवृत्ति दिखलाने है—

गा०—टी०—भोजन आदिके दानके द्वारा उपकार करनेसे भुञ्जपर प्रसन्न होकर गुरु महान्  
प्रायश्चित्त नहीं देगे, बल्कि थोड़ा ही देगे । अतः महान् प्रायश्चित्तका भय न होनेसे मैं स्थूल और  
सूक्ष्म सब अतिचार कहूंगा । इस प्रकार मनमें विचार कर आलोचना करने वालेके अविनय  
नामक प्रथम आलोचना दोष होता है । जो कुछ प्राप्त करके गुरु प्रसन्न होंगे और वे लघु प्राय-  
श्चित्त देगे ऐसा अपनी बुद्धिमें असन् दोषका अध्यारोपण करना मानसिक अविनय है । अन्य  
टाकाकार कहते हैं—आलोचना और दोष आलोचना दोष है । अशुभ अभिप्रायपूर्वक आलोचना  
दोष है ॥५६६॥

दृष्टान्त द्वारा आलोचनाकी दुष्टता दिखलाते है—

गा०—टी०—जैसे कोई जीनेका अभिलाषी पुरुष विष खरीद कर पीता है वह अहित करके

१. अणुगह ममेत्ति आ० । अणुगह मिमात्ति—य० मूलारा० । २. चना द्रष्टात्मालोचनादपि—  
आ० मु० ।

मन्यमानः । 'तधिमा' तथा इय । 'सल्लुद्धरणसोधी' मायाशल्योद्धरणशुद्धिः । सामान्यवचनोऽपि शल्यशब्दोऽत्र मायाशल्ये वृत्त । तस्य उद्धरण नाम स्वकृतापराधकथन । आलोचनाशल्योद्धरणमेव शुद्धिरूप्यते ज्ञानदर्शन-चारित्र्यतपसा नैर्मल्यहेतुत्वात् । जीवितार्थिन हितबुद्ध्या गृहीताकीर्तविषयान् उपमान तद्वतीयमालोचना । भक्तपानादिदानेन वन्दनया वा क्लीत्वा गुरु स्वबुद्ध्या क्रियमाणा न शुद्धि सम्पादयति विषयान्मिव जीवित-<sup>२</sup> क्रयणलब्धा च दुष्टता उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेय तयोश्च साधारण धर्ममाश्रित्य सर्वत्रोपमानोपमेयता । चन्द्रमुखी कन्या इत्यादौ चन्द्र उपमान, उपमेयं मुखं, वृत्तता सर्वजनमनोवल्लभता च साधारणो धर्म ॥५६७॥

उपमानान्तरेणापि उपमेय आलोचना प्रथयति—

वर्णरसगंधजुक्तं किंपाकफलं जहा दुहविवागं ।

पच्छा णिच्छयकटुयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६८॥

वर्णरस इत्यादि । 'किंपाकफलं वर्णरसगंधजुक्तमिव जहा दुहविवागं' । किंपाकाख्यस्य तरो फल । वर्णादिशून्यस्य तरो फलस्या<sup>१</sup>भावादवचनसिद्धेर्वर्णादियुक्तवचनमतिशयितवर्णादिपरिग्रह सूचयति । तेनायमर्थ—नयनप्रियरूप, मधुरसयुक्त, घ्राणसुखव सेवितमिति वाक्यघोष । 'दुहविवाक' दुहविवाक । 'पच्छा' अनुभवांतरकाण्ड । 'णिच्छयकटुयं' निश्चयेन कटुक । 'तधिमा' त यथा । 'सल्लुद्धरणसोधी' आलोचनाशुद्धि

विषयान्को हित मानता है । वैसा ही यह माया शल्यको निकालकर शुद्धिका अभिलाषी साधु है । यद्यपि यहाँ शल्य शब्द सामान्य शल्यका वाची है फिर भी यहाँ मायाशल्यका वाचक लिया है । उसका उद्धरण अर्थात् अपने किये अपराधको कहना । शल्यका उद्धरण ही शुद्धि कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान दर्शन और चारित्र्य तपको निर्मलतामे कारण है । जोनेके अभिलाषीने हितबुद्धि-से ग्रहण क्रिया खरीदे हुए विषका पान उपमान है । उसीके ममान यह आलोचना है । भक्त पान आदि देकर या वन्दनाके द्वारा गुरुको खरीदकर अपनी बुद्धिसे की गई आलोचना शुद्धि नहीं करती जैसे विषयान् जीवन नहीं देता । खरीदकर प्राप्त करना और दुष्टता उपमान और उपमेयका साधारण धर्म है । उपमान उपमेय और उन दोषोमे पाये जाने वाले साधारण धर्मको लेकर सर्वत्र उपमान उपमेय व्यवहार होता है । जैसे 'चन्द्रमुखी कन्या' आदिमे चन्द्र उपमान है मुख उपमेय है । और गोलपना तथा सब लोगोके मनको प्रिय होना दोनोका साधारण धर्म है ॥५६७॥

अन्य उपमानके द्वारा उपमेय आलोचनाको कहते है—

गा०-टी०—किंपाक नामक वृक्षका फल वर्णरसगन्धसे युक्त होनेपर भी जैसे परिणाममें दुःख देता है । वृक्षका फल वर्ण आदिसे शून्य नहीं होता अतः उसका रूपदिमान होना सिद्ध है । फिर भी जो उसे वर्णादियुक्त कहा है वह विशिष्टरूप रसगन्ध आदिका सूचक है । अतः यह अर्थ होता है—किंपाक वृक्षका फल नेत्रोको अत्यन्त प्रियरूपवाला होता है । मधुररससे युक्त होता है और नाकको सुखदायक होता है । परन्तु सेवन करनेपर दुःखकारी होता है उसे खानेसे मृत्यु ही जाती है । अतः सेवन करनेके पश्चात् निश्चयसे कटुक होता है । यह आलोचना शुद्धि

१. गृहीता अहिता त्रीत-अ० मू० । २. जीवितविक्रयण लब्ध पान दु-आ० मू० । १. स्या-भावादवचन-आ० ।

किपाकफलोपेक्षा उपमान, उपमेयं आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ॥५६८॥

किमिरागकम्बलस्स व सोधी जदुरागवत्थसोधीव ।

अवि सा ह्वेज्ज किहइ ण इमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६९॥

'किमिरागकम्बलस्स व' कृमिमुक्ताहारवर्णतन्तुमिरुत् कम्बल. कृमिरागकवल. 'तस्स सोधी' विशुद्धि-रिव पीतनीलरक्तादीना अन्यतमवर्णस्य शुक्लतेव । 'जदुरागवत्थसोधीव' अनुवर्णवस्त्रशुद्धिरिव वा यथासौ क्लेशेन प्रवर्तमानापि न भवत्येवमियमपीति सधर्मता । 'अहवा' अथ वा । 'अवि सा' कृमिरागकम्बलशुद्धिर्जन्तुरागवस्त्रशुद्धिर्वा 'ह्वेज्ज भवेत् । 'इमा इय सल्लुद्धरणसोधी मायाशल्योद्धरणशुद्धिर्न भवत्येव ॥५६९॥ इति अणुकपिय ।

द्वितीयमालोचनादोषमाचष्टे—

धीरपुरिसचिष्णाहं पवददि अदिधम्मिओ व सव्वाहं ।

धष्णा ते भगवंता कुव्वंति तवं विकट्टं जे ॥५७०॥

'धीरपुरिसचीष्णाहं' धीरे. पुरुषैराचरितानि । 'पवदति' प्रवदति । 'अदिधम्मिओ व' अतीव धामिक इव । 'सव्वाहं' सर्वाणि । 'धष्णा' धन्याः पुष्यवन्त । 'ते भगवंता' महात्म्यवन्त । 'जे' ये । 'कुव्वंति' कुर्वन्ति । 'तवं' तपः । 'विकट्ट' उत्कृष्ट इति वदति ॥५७०॥

भी उसीके समान है । यहाँ किपाकफलका सेवन उपमान है । आलोचना उपमेय है । परिणाममे दुःख होना दोनोंका साधारण धर्म है ॥५६८॥

गा०—टी०—कीड़ोंके द्वारा खाये गये आहारके रंगमें रंगे धागोंसे बने कम्बलको कृमिराग कम्बल कहते हैं । उसकी विशुद्धिकी तरह, जैसे पीला-नीला-लाल आदिमेंसे कोई एकवर्ण सफेद नहीं होता उसकी तरह कृमिराग कम्बलकी विशुद्धि नहीं होती । अथवा लाखके रंगमें रंगे वस्त्रकी शुद्धि बहुत प्रयत्न करनेपर भी नहीं होती । उसी तरह मायाशल्ययुक्त आलोचनासे भी शुद्धि नहीं होती । अथवा कृमिराग कम्बलकी शुद्धि और लाखके रंगमें रंगे वस्त्रकी शुद्धि ही भी जावे किन्तु यह मायाशल्यके निकलनेरूप शुद्धि नहीं होती ॥५६९॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें कृमिराग कम्बलकी कई व्याख्या दी हैं एक तो उक्त संस्कृत टीका विजयादया की है । दूसरी टिप्पण की है—कृमिके द्वारा त्यागे गये रक्त आहारसे रजित तन्तुओंसे बना कम्बल कृमिरागकम्बल है । तीसरी व्याख्या प्राकृतटीका की है । उसमें कहा है—उत्तरापथमें चर्मरंग (?) म्लेच्छ देशमें म्लेच्छ जोकोंके द्वारा मनुष्यका रक्त लेकर बरतनोमें रखते हैं । उस रकमें कुछ दिनोंमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं तब उससे धागोंको रंगकर कम्बल बुनते हैं । उसे कृमिरागकम्बल कहते हैं । वह अत्यन्त लाल रंगका होता है । आगमें जलानेपर भी वह कृमिराग नहीं जाता ।

दूसरे आलोचना दोषको कहते हैं—

गा०—आलोचना करनेवाला मुनि अत्यन्त धामिककी तरह कहता है—धीर पुरुषोंके द्वारा आचरित उत्कृष्ट तपको जो करते हैं वे धन्य हैं, महात्म्यशाली हैं ॥५७०॥

**धामापहारपासत्थदाए सुइसीलदाए देहेसु ।**

**वददि णिहीणो हु अहं जं ण समत्थो अणसणस्स ॥५७१॥**

‘धामापहारपासत्थदाए’ बलनिगृह्णेन पार्वस्वतया च । ‘सुइसीलदाए च’ सुखशीलतया च । ‘तवो’ ततः । ‘सो’ सः । ‘वददि’ कथयति । ‘णिहीणो’ जघन्य । ‘अहं’ अहम् । ‘जं’ यस्मात् । ‘ण समत्थो’ असमर्थोऽसक्त । ‘अणसणस्स’ अनशनस्य ॥५७१॥

**जाणह य मज्झ धामं अंगाणं दुब्बलदा अणारोगं ।**

**णेव समत्थोमि अहं तवं विकट्टं पि कादुं जे ॥५७२॥**

‘जाणह य’ अस्मद्बल गुप्ताभिरवसितमेव । ‘अंगा’ णं दुब्बलदा’ उदरान्निदीर्घस्य । ‘अणारोगं’ रोगवत्ता च । ‘अहं तवं विकट्टं कादुं’ णेव समत्थोमि’ अहं तप उल्कष्टं कर्तुं नैव समर्थोऽस्मि ॥५७२॥

**आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुग्गहं कुणह ।**

**तुज्झ सिरीए इच्छं सोपी जइ णिच्छरेज्जामि ॥५७३॥**

‘आलोचेमि य सव्वं’ सर्वमतिचारजातं आलोचयामि । ‘जदि पच्छा अणुग्गहं कुणह’ मम यदि पश्चादनुग्रहं क्रियते भवद्भिः । ‘तुज्झ सिरीए’ भवता त्रिया । ‘इच्छं’ इच्छामि । ‘सोपी’ मुद्धि । ‘णिच्छरेज्जामि’ निस्तारयिष्याम्यात्मानं ॥५७३॥

**अणुमाणेदूणं गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा ।**

**कुणइ ससल्लं सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥५७४॥**

‘एव अणुमाणेदूणं’ एव अनुमानेन शक्त्वा । गुरुं प्रायित् । करिष्यति स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानुग्रहं इति । ‘पच्छा आलोयणं कुणइ’ पश्चादालोचनां करोति । ‘ससल्लं’ शल्यसहितः । ‘सो’ स । ‘से’ तस्य । ‘विदिओ’ द्वितीयः ‘आलोयणादोसो’ आलोचनादोषः ॥५७४॥

**गुणकारि ओत्ति भुंजइ जहा सुहत्थी अपच्छमाहारं ।**

**पच्छा विवायकडुगं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५७५॥**

गा०—अपनी शक्तिको छिपाने, पार्वस्व मूनि होने तथा शरीरमें सुखशील होनेसे वह कहता है—मैं तो एक जघन्य प्राणी हूँ, उपवास करनेमें असमर्थ हूँ ॥५७१॥

गा०—आप मेरे बलको जानते ही हैं । यह भी जानते हैं कि मेरी उदरान्नि दुर्बल है, मैं रोगी हूँ । अतः मैं उल्कष्ट तप करनेमें असमर्थ हूँ ॥५७२॥

गा०—मैं समस्त अतिचारोकी आलोचना करूँ यदि आप उन्हें सुनकर मुझपर कृपा करें अर्थात् लघु प्रायश्चित्त दें । मैं आपकी कृपासे शुद्ध होना चाहता हूँ और शुद्ध होकर अपना निस्तार करूँगा ॥५७३॥

गा०—प्रार्थना करनेपर लघु प्रायश्चित्त देकर गुरु मेरेपर अनुग्रह करेंगे, ऐसा अनुमानसे जानकर पीछे वह शल्यसहित आलोचना करता है । यह दूसरा आलोचना दोष है ॥५७४॥

'गुणकारिभोति भुंजइ' गुणमुपकारं करोति इति भुङ्क्ते । 'जहा सुहृत्वी' यथा सुखार्थी । 'अपच्छमाहार' अपथ्यमाहार । कीदृभूत 'पच्छाविभागकटुक' भोजनोत्तरकाल विपाककटुक । 'तषिमा' तथा इमा । 'सल्लुद्धरणसोथी' शल्योद्धरणशुद्धि अपथ्यमाहार स्वबुद्ध्या गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम भुङ्क्ते तथापि विपाककटुक एवासी । एव गुर्वभिप्रायानुमानेन 'प्रवृत्ता हितबुद्ध्या गृहीताप्यालोचना अनर्थाविहेति । न हि सकल्पवशाद्बस्तुनोज्ययामात्रं । नापथ्यस्याहारस्य पथ्यतास्ति सकल्पमात्रेण । अणुमाणिय ॥५७५॥

जं होदि अप्णदिट्ठ तं आलोचेदि गुरुसयासम्मि ।  
अदिट्ठं गूहंतो माइल्लो होदि णायच्चो ॥५७६॥

'जं अप्णदिट्ठं होवि' यदन्यदृष्टं भवति अपराधजात । 'तं आलोचेदि' कथयति । 'गुरुसयासम्मि' गुरुसमीपे । 'अदिट्ठं' परैरदृष्टं । 'गूहंतो' प्रच्छादयन् । 'माइल्लो इति णावच्चो होवि' मायावानिति ज्ञातव्यो भवति ॥५७६॥

दिट्ठं व अदिट्ठं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण ।  
आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥५७७॥

'दिट्ठं व अदिट्ठं वा' परैरदृष्टमदृष्टं वापराध । 'परमेण विणएण जदि ण कहेइ' प्रकृष्टेन विनयेन यदि न कथयेत् । वव 'आयरियपायमूले' आचार्यपादमूले । 'तदिओ आलोयणादोसो' तृतीय आलोचनादोष ॥५७७॥

जह बालुयाए अवडो पूरदि उक्कीरमाणओ चेव ।  
तह कम्मादाणकरी इमा ह्नु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥५७८॥

'जह बालुयाए' यथा बालुकाभि । 'पूरवि' पूर्यते । 'अवडो' बालुकामध्यकृतो गर्तं । 'उक्कीरमाणओ चेव' उत्कीर्यमाणोऽपि सन् । 'तह कम्मादाणकरी' तथा कर्मग्रहणकारिणी । 'इमा सल्लुद्धरणसोथी' इयमालो-

गा०—जैसे सुखका इच्छुक पुरुष अपथ्य भोजनको अपनी बुद्धिसे गुणकारी मानकर खाता है तथापि भोजन करनेके पश्चात् उसका परिपाक दुःखदायी होता है । उसीके समान यह अनुमानित दोषसहित शल्यको दूर करके शुद्धि करनेवाला है । अर्थात् अनुमानसे गुरुके अभिप्रायको जानकर हितबुद्धिसे की गई भी आलोचना अनर्थकारी होती है । संकल्पसे वस्तुका अन्यथाभाव नहीं होता । सकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्य नहीं हो सकता ॥५७५॥

अनुमानित दोषका कथन हुआ ।

गा०—जो अपराध दूसरे ने देख लिया है, गुरुके पासमे उसकी आलोचना करता है । और जो अपराध दूसरोने नहीं देखा है उसे छिपाता है । वह मायावी है ऐसा जानना ॥५७६॥

गा०—दूसरेके द्वारा देखे गये अथवा न देखे गये, अपराधको यदि आचार्यके पादमूलमे अत्यन्त विनयपूर्वक नहीं कहता तो यह तीसरा आलोचना दोष है ॥५७७॥

गा०—जैसे रेतके मध्यमे गढ़ा खोदने पर वह गढ़ा खोदने खोदते ही रेतसे भर जाता है,

१ प्रवृत्त आ०, प्रवृत्तो म० । प्रवृत्तहित—मूला० ।



बनास्या शुद्धिः । मायाशल्यनिराकरणार्थमालोचनाया प्रवृत्तौ ज्यया माययात्मान प्रच्छादयति । यथा बालुका-  
विक्षेपो गर्तसंस्कारार्थो बालुकाभिरापुरयति गर्तमिति ॥५७८॥

**बादरमालोचैतो जचो जचो वदाओ पडिभगो ।**

**सुहुमं पच्छादेतो जिणवयणपरंहुओ होइ ॥५७९॥**

'बादरमालोचैतो' । अत्रैवं पदसम्बन्धः, 'जचो जचो वदाओ पडिभगो' यस्माद्यस्माद्द्रवतात्प्रतिभ्रमः ।  
तत्र 'बादर' आलोचैतो' स्थूल कथयन् । 'सुहुमं पच्छादेतो' सूक्ष्मदोष प्रच्छादयन् । 'जिणवयणपरंहुओ होइ'  
जिनवचनपराद्मुखो भवति ॥५७९॥

**सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण सुगुरूणं ।**

**आलोचनाए दोसो एसो हु चउत्थओ होदि ॥५८०॥**

स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वातिचारजातस्यानालोचना चतुर्थो दोषः इति 'सुहुम व' इत्यस्यार्थं ॥५८०॥

**जह कंसियभिगारो अंतो णीलमइलो बहिं चोक्खो ।**

**अंतो ससल्लदोसा तधिमा सल्लुद्धरणसोघी ॥५८१॥**

बादर ॥४॥ 'जह कंसियभिगारो' यथा कांस्यरचितो भृङ्गारः । 'अंतो' अन्त्यन्तरे । 'णीलमइलो'  
नीलः सन्मलिनः । 'बहिं चोक्खो' बहिः शुद्धः । 'अंतो ससल्लदोसा' अन्तः सशल्यदोषा इमालोचना  
शुद्धिः ॥५८१॥

**चंकमणे य द्वाणे णिसेज्जउवड्डणे य सयणे य ।**

**उल्लामाससरक्खे य गम्भिणी बालवत्याए ॥५८२॥**

'चंकमणे' अवस्थायवद्बुलेन पथा व्याकुलितचित्तो मनागीर्यायामनुपयुक्तो बतवान् । 'ठाणे णिसेज्ज'  
उवट्टणे य सयणे य' प्रमार्जनमकृत्वा स्थान, निषद्या, शय्या च कृता । 'उल्लामाससरक्खे य' 'आर्द्रगानाधिक

उसी प्रकार यह आलोचना शुद्धि कर्मको लाने वाली है इससे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है ।  
आशय यह है कि मायाशल्यके दूर करनेके लिए साधु आलोचना करता हुआ भी अन्य मायासे  
अपनेको आच्छादित करता है । जैसे गढ़ा बनानेके लिए उसमेंसे रेत निकाली जाती है किन्तु  
उसमें और रेत भर जाती है ॥५७८॥

गा०—जिन-जिन व्रतोंमें जो दोष लगे हों उनमेंसे जो साधु स्थूल दोषोंकी तो आलोचना  
करता है और सूक्ष्म दोषोंको छिपाता है वह साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५७९॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक सुगुरुसे सूक्ष्म अथवा बादर दोषको नहीं कहता तो यह  
आलोचनाका चतुर्थ दोष है ॥५८०॥

गा०—जैसे कसिका बना भूगार अन्दरसे नीला और मलिन होता है तथा बाहरसे स्वच्छ  
होता है वैसे ही यह आलोचना शुद्धि मायाशल्य दोषसे युक्त होती है ॥५८१॥

गा०—टी०—साधु गुप्ते निवेदन करता है—ओससे भीगे हुए मार्गसे ईर्यासमितिकी ओर  
ध्यान न रखते हुए मैं चला था । उस समय मेरा चित्त व्याकुल था । या प्रतिलेखना किए बिना

स्पृष्टं । 'सरस्वती व' सचित्तपूर्वलिप्तहिते स्थाने स्थित सुप्तमासित वा । 'गन्धिनी' गन्धिण्या । 'बालवत्स्याए' बालवत्सया वा । दीयमानं गृहीतं इति ॥५८२॥

**इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहदे धूलं ।**

**भयमयमायाहिद्वयो जिणवयणपरंमुहो होदि ॥५८३॥**

'इय' एवं । 'जो' य । 'दोस' अतिचार । कीदृग्भूत ? 'लहुग' स्वल्प । 'आलोचेदि' कथयति । 'विचिणुहदि' विनिगूहयति । किं ? 'धूलं' स्थूल । 'भयमयमायाहिद्वयो' भयमयमायामहितचित्त । महनो दोषान्यदि ब्रवोमि महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति भय, त्यजन्ति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानभङ्गासह स्थूलान्न शक्नोति बक्तुं । कश्चित्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न नियदाति । 'जिणवयणपरंमुहो होवि' जिनवचनपराह्मुखो भवति ॥५८३॥

**सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण स गुरुणं ।**

**आलायणाए दोसी पंचमओ गुरुसयासे से ॥५८४॥**

मायाशल्यत्यागस्य जिनवचनोपदमितस्य अकरणात् प्रसिद्धार्था ॥५८४॥

उत्तर गाथा—

**रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुक्कडं जहा कडयं ।**

**अहवा जदुपुरिदयं तधिमा सन्लुद्धरणसोषी ॥५८५॥**

'रसपीदयं व कडयं' रसोपलेमान्मनाम्बहि पीतवर्णकटकमिव । 'अथवा कवडुक्करं' तनुमुवर्णपत्राच्छादितमिव वा अन्तनिस्सार । 'अथवा जदुपुरिवगं' अन्तश्च्छिद्रं जतुपूरणकटकमिव । पीतता रसोपलिप्तस्य यथा तथात्पा शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्तः । गुरुतरपापप्रच्छादनमात्रताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्तः । गुरुतर-

मे बैठा, या सोया या खड़ा हुआ । या जलादिसे मैने शरीरको छुआ । या सचित्त धूलसे सहित स्थानमे मैं खड़ा हुआ या बैठा या सोया । अथवा भाठ आदि मासका गर्भ धारण करने वाली या जिसे प्रसव किए एक माह भी नहीं बीता था ऐसी स्त्रीसे मैने आहार ग्रहण किया ॥५८२॥

गा०—इस प्रकार जो अपने सूक्ष्म दोषको कहता है और भय, मद, माया सहित चित्त होनेसे स्थूल दोषको छिपाता है । यदि मैं महान् दोष कहता हूँ तो गुरु मुझे महान् प्रायश्चित्त देंगे या मुझे त्याग देंगे यह भय है । मेरा चारित्र्य निरतिचार है ऐसा गर्व करके स्थूल दोषोंको नहीं कहता ।

कोई स्वभावसे ही मायावी होनेसे अपने दोषोंको नहीं कहता । ऐसा करने वाला साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५८३॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक गुरुके सामने सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषको नहीं कहता तो यह आलोचनाका पांचवां दोष है क्योंकि उसने जिनागममें कहा मायाशल्यका त्याग नहीं किया ॥५८४॥

गा०—टी०—जैसे सोनेके रसके लेपसे लोहेका कड़ा बाहरसे पीला दिखाई देता है । अथवा जैसे सोनेके पतले पत्रसे ढका लोहेका कड़ा अन्दरसे निःसार होता है । अथवा लाखसे भरा कड़ा जैसा होता है उन्हीके समान यह आलोचना शुद्धि है । यहाँ तीन दृष्टान्तोंके द्वारा सूक्ष्म दोषकी आलोचनाकी निन्दा की गई है । जैसे सोनेके रससे लिस कड़ा ऊपरसे पीला होता है उसी प्रकार

मय प्रभृति निस्मार वस्तु बाह्ये तु सुवर्णशकलेन प्रच्छादितं यथा तद्भा स्वल्पानपराधान्कथयति । पापभीरुता-  
प्रकर्षादयं मुनिरित्य सयत कथ महत्यतिचारे प्रवर्तत इति प्रत्ययजननाय अतः 'साररहितता तृतीयेनोच्यते ।  
सुद्धमं ॥५८५॥

**जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ विराहणा होज्ज ।**

**पढमे विदिए तदिए चउत्थए पंचमे च वदे ॥५८६॥**

यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यचिद्विद्यते मूलगुणे, चारित्र्ये, तपसि वा अनशनादावुत्तरगुणे अतिचारा  
भवेत् । अहिंसादिके व्रते ॥५८६॥

**को तस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा ह्वदि सुद्धो ।**

**इय पच्छण्णं पुच्छदि पायच्छित्तं करिस्सत्ति ॥५८७॥**

'को तस्स विज्जइ तवो' किं तस्मिं दीयते तपः ? 'केण उवाएण होवि वा सुद्धो' केनोपायेन वा शुद्धो  
भवतीति । 'पच्छण्णं' प्रच्छन्न । 'पुच्छदि' पृच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मयायमपराधः कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्त  
इति न पृच्छति । किमयमेव प्रच्छन्न पृच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिस्सत्ति करिष्यामि ॥५८७॥

**इय पच्छण्णं पुच्छिय साधु जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं ।**

**तो सो जिणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥५८८॥**

'इय' एव । 'पच्छण्णं' प्रच्छन्न । 'पुच्छिय' पृष्ट्वा । 'जो साधु' य साधु । 'अप्पणो सोधिं कुणवि'  
आत्मन शुद्धिं करोति । 'सो छट्ठो आलोयणा दोसो वुत्तो जिणेहिं' । पष्ठोऽज्ञावालोचनादोषस्तस्य भवतीति  
जिनैरुक्त ॥५८८॥

अल्प शुद्धि होती है यह प्रथम दृष्टान्तका भाव है । गुरुत्वर पापको ढाँकने मात्रको प्रकट करनेके  
लिए दूसरा दृष्टान्त है । भारी लोहा वगैरह वस्तु निस्सार होती है, बाहरमे उसे सोनेके पत्रसे जैसे  
ढाक देने हैं उसी प्रकार वह सूक्ष्म अपराधको कहता है । ऐसा वह यह विश्वास उत्पन्न करनेके  
लिए करता है कि गुरु समझे कि यह मुनि पापसे इतना भयभीत है कि सूक्ष्म पापको भी नहीं  
छिपाता तब बड़ा पाप कैसे कर सकता है ? तीसरे दृष्टान्तके द्वारा इसे अन्तःसार रहित कहा  
है ॥५८५॥

गा०—यदि किसीके मूलगुण चारित्र अथवा उत्तर गुण अनशन आदि तपमे या अहिंसा,  
सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग व्रतमे अतिचार लग जाये ॥५८६॥

गा०—तो उसे कौन सा तप दिया जाता है ? वह किस उपायसे शुद्ध होता है ? ऐसा  
प्रच्छन्न रूपसे पूछता है । अर्थात् अपनेको लक्ष करके कि मुझसे यह अपराध हुआ है उसका क्या  
प्रायश्चित्त है ऐसा नहीं पूछता । किन्तु यह जानकर प्रायश्चित्त करूँगा इस भावसे पूछता  
है ॥५८७॥

गा०—इस प्रकार प्रच्छन्नरूपसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि करता है उसको छठा  
आलोचना दोष होता है ऐसा जिनदेवने कहा है ॥५८८॥

बाधो हवेज्ज अण्णो जदि अण्णम्मि जिमिदांम्मि संतम्मि ।

तो परववदेसकदा सोधी अण्णं विसोधेज्ज ॥५८९॥

'बाधो हवेज्ज अण्णो' तृप्तो भवेदन्य । 'जदि अण्णम्मि जिमिदांम्मि संतम्मि' यद्यन्यस्मिन्भुक्तवति सति । 'तो' तत । 'परववदेसकदा सोधी' परव्यपदेशकृता शुद्धि । 'अण्णं विसोधेज्ज' अन्यं विशोधयेत् ॥५८९॥

तवसंजमम्मि अण्णेण कदे जदि सुग्गदि लहदि अण्णो ।

तो परववदेसकदा सोधी सोधिज्ज अण्णंपि ॥५९०॥

स्पष्टोत्तरा गाथा ।

मयतण्हादो उदयं इच्छइ चंदपरिवेसणा कूरं ।

जो सो इच्छइ सोधी अकहंतो अप्पणो दोसे ॥५९१॥

'मयतण्हादो' इत्यत्र पदघटनेत्य । 'जो अप्पणो दोसे अकहंतो सोधी इच्छइ सो मयतण्हादो उदग इच्छइ, चंदपरिवेसणे कूरं इच्छइ य' । य आत्मनो दोषाननभिधाय गुरुणा शुद्धिमिच्छति स मृगतृष्णिकात् उदकं वाछति, चन्द्रपरिवेशादशनमिच्छति । निष्कलतासाधर्म्यादय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावा । छन्नं ॥५९१॥

पक्खियचाउम्मासियसंबच्छरिएसु सोधिकालेसु ।

बहुजणसहाउलए कहेदि दोसे जहिच्छाए ॥५९२॥

'पक्खियचाउम्मासिय' पक्षाद्यतिचारशुद्धिकालेषु । 'बहुजणसहाउलए' बहुजनशब्दमकटे । 'जहिच्छाए दोसे कथेवि' यथेच्छया दोषानात्स्वीयान्कथयति ॥५९२॥

गा०—यदि अन्यके भोजन करनेपर अन्यको तृप्ति हो तो दूसरेके नामसे की गई विशुद्धि उससे अन्यकी शुद्धि कर सकती है ॥५८९॥

गा०—अन्यके द्वारा तपसयम करनेपर यदि अन्य व्यक्ति मुग्तिको प्राप्त हो सकता हो तो दूसरेके नामसे किया गया प्रायश्चित्त भी दूसरेको शुद्ध कर सकता है ॥५९०॥

गा०—जो अपने दोषोको न कहकर गुरुसे शुद्धि चाहता है वह मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन प्राप्त करना चाहता है । अर्थात् जैसे मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन नहीं प्राप्त होता उसी तरह अपने दोषोको कहे बिना शुद्धि नहीं होती । इस तरह निष्फलताकी समानता होनेसे दोनोंमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभावा है ॥५९१॥

विशेषार्थ—चन्द्रपरिवेशसे भोजन न मिलनेका अर्थ श्रीचन्द्रके टिप्पणमें इस प्रकार किया है—राजाने चन्द्रनामक रसोद्भयेको निकाल दिया । यह जानकर उसके परिवारने भोजन करना छोड़ दिया । एक दिन जब राजा भोजनके लिए बैठा तो आकाशमें चन्द्रका परिवेश देखकर लोगोंने कहा चन्द्रका परिवेश (प्रवेश) हो गया । यह सुनकर परिवारने समझा कि राजकुलमें चन्द्रनामक रसोद्भयेका प्रवेश हो गया । वह भोजनके लिए गया किन्तु भोजन नहीं मिला ॥५९१॥

गा०—पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रायश्चित्तके समय जब सब मुनिगण अपने-अपने दोष निवेदन करते हैं और इस तरह बहुतसे मनुष्योंके शब्दोंका कोलाहल होता है उस समय जा मुनि अपनी इच्छानुसार दोषको कहता है ॥५९२॥

इय अन्वत्तं जइ सार्वतो दोसे कहेइ सगुरूणं ।

आलोचनाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥५९३॥

‘जदि इय अन्वत्तं सार्वतो दोसे कहेइ सगुरूणं’ यद्येवमव्यक्तं श्रावयन्दीपान्कथयति स्वगुरुभ्यः । ‘सत्तमगो आलोचनादोसो’ सत्तम आलोचनादोषः । ‘गुरुसयासे’ गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥५९३॥

अरहडुघडीसरिसी अहवा चु दछुदोवमा होइ ।

भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लुद्धरणसोधी ॥५९४॥

‘अरहडुघडीसरिसी’ अरगतघटीसदृशी यथा घटी पूर्णप्यपूर्णा । एवमपराधकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमपि अप्रवृत्तमेव गुरुणा अभूतत्वात् । ‘अहवा चु दछुदोवमा होइ’ अथवा मथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुक्तापि वध्नाति एवमिय वाङ्मुखकुहरमुक्तापि मायाशल्यसहितेति वध्नाति । ‘भिण्णघडसरिच्छा वा’ भिन्नघटसदृशी वा । यथा भिन्नो घटो घटकार्यं जलधारण अलाद्यानयन वा कर्तुमसमर्थ एवमियमालोचना न निर्जरा संपाद्यतीति साधर्म्यं । सहाउलय ॥५९४॥

आयरियपादमूले हु उवगदो बदिऊण तिविहेण ।

कोई आलोषेज्ज हु सव्वे दोसे जहावत्ते ॥५९५॥

‘आयरियपादमूले उवगदो’ आचार्यपादमूलमुपगतः । ‘तिविहेण बंदिऊण’ मनोवाक्यायशुद्धया वन्दना कृत्वा । ‘कोई’ कश्चित् । ‘आलोषेज्ज हु’ कथयेत् । ‘सव्वे दोसे जहावत्ते’ सर्वान्दीपान्स्थूलान्सूक्ष्माश्च ‘यथावृत्तान्मनोवाक्याकार्यारूपान् कृतकारितानुमतभेदान् ॥५९५॥

तो दंसणचरणाधारएहिं सुत्तथसुव्वहंतेहिं ।

पवयणकुसलेहिं जहारिहं तवो तेहिं से दिण्णो ॥५९६॥

गा०—यदि अपने गुरुओंको स्पष्टरूपसे सुनाई न दे इस प्रकार दोषोको कहता है तो गुरुके निकट शब्दाकुल नामक सातवें आलोचना दोषका भागी होता है ॥५९३॥

गा०-टी०—जैसे रहटमे लगी हुई पानी भरनेकी घटिकाएँ भरकर भी रीति होती जाती है उसी प्रकार वह आलोचना करनेवाला मुनि है । वह अपने मुखसे अपराध प्रकट करनेके लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त हो है क्योंकि गुरुने उसे नहीं सुना । अथवा वह मन्थन चर्मपालिकाके समान है । जैसे मथानी डोरीसे छूटते हुए भी डोरीसे बंधती जाती है उसी प्रकार उसकी आलोचनावाणी मुखरूपी गर्तसे छूटकर भी मायाशल्यसे सहित होनेसे कर्मसे बद्ध करती है । अथवा फूटे घटके समान है । जैसे फूटा घड़ा घटका कार्य जलधारण अथवा जल आदिका लाना करनेमें असमर्थ होता है । उसी प्रकार यह आलोचना निर्जरारूप कार्यको नहीं करती । यह इन दृष्टान्तोंमे और दार्ष्टान्तमें समानता है । यह शब्दाकुलित नामक सातवाँ आलोचना दोष है ॥५९४॥

गा०—कोई साधु आचार्यके पादमूलमे जाकर, मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक वन्दना करके मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदरूप सब स्थूल और सूक्ष्म दोषोंको कहता है ॥५९५॥

'तो' पश्चात् आलोचनोत्तरकालं । 'बंसणचरणाधारण्ह' समीचीनदर्शनचारित्रप्रधारणोद्यते । 'सुस्तथ-  
मुच्चंहेतोहि' सूत्रार्थमुदहृद्भिः । 'पषयणकुसलेहि' सूत्रार्थमुदहृद्भिरित्यनेनैव गतत्वात्किमनेन 'प्रवचनकुशलै' इति ।  
अयमभिप्रायः—प्रायश्चित्तप्रत्यवृत्ति प्रवचनशब्द तेन प्रायश्चित्तकुशलैरित्यर्थ । अन्यशास्त्रज्ञोऽपि न शोधयति  
न चेत्प्रायश्चित्ताज्ञ इति प्राधान्यकथनार्थं पृथगुपादान । 'हेहि' तैः । 'से' तस्मै । 'जघारिह' तत्रो विष्णो' अपरा-  
धानुरूपं तपो दत्त । तपोग्रहण प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं तेन प्रायश्चित्त दत्त इत्यर्थं ॥५९६॥

ॐ वमम्मि य जं पुच्चे भणिदं कप्पे तहेव ववहारो ।

अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥५९७॥

तेसि असइहंतो आइरियाणं पुणो वि अण्णाणं ।

जइ पुच्छइ सो आलोचनाए दोसो हु अट्टमओ ॥५९८॥

'तेसि' तथा । 'आयरियाणं' आचार्याणां वचन । 'असइहंतो' अश्रद्धवान् । 'पुणो वि जवि' पुनरपि  
यदि पृच्छत्यन्यान्तरी । 'अट्टमओ आलोचनादोसो' सोऽष्टम आलोचनादोष ॥५९७-९८॥

पगुणो वणो ससल्लं जघ पच्छा आदुरं ण तावेदि ।

बहुवेदणाहिं बहुसो तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५९९॥

'पगुणो वणो' प्रगुण वा व्रण उपचितं । 'ससल्लं' शक्यसहित । 'पच्छा' पश्चात् । 'आदुरं' व्याधित ।  
'किमु न तावेदि' किमु न तापयति तापयत्येव । 'बहुवेदणाहिं' बहुभोभिर्वेदनाभि । 'बहुसो' बहुशः<sup>३</sup> । 'तधिमा'

गा०—टी०—आलोचनाके पश्चात् सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके धारण करनेमें तत्पर,  
सूत्रके अर्थको वहन करनेवाले और प्रवचन कुशल आचार्योंने उसे अपराधके अनुरूप तप दिया ।  
यहाँ तपका ग्रहण प्रायश्चित्तके उपलक्षणके लिए है अतः आचार्योंने उसे प्रायश्चित्त दिया ।

शङ्का—सूत्रके अर्थको वहन करनेसे प्रवचनकुशलका भाव आ जाता है फिर उसे अलग  
ग्रहण क्यों किया ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रवचन शब्दका अर्थ प्रायश्चित्तग्रन्थ है ।  
अतः उसका अर्थ होता है प्रायश्चित्तशास्त्रमें कुशल । अन्य शास्त्रोका ज्ञाना होते हुए भी यदि  
प्रायश्चित्तका ज्ञाना नहीं है तो दोषका शोधन नहीं कर सकता । इसलिए प्रायश्चित्तकी प्रधानता  
कहनेके लिए 'वचनकुशल' पदका अलगसे ग्रहण किया है ॥५९६॥

गा०—प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्वमें तथा और व्यवहार नामक अग बाह्यमें, तथा  
शेष अगो और प्रकीर्णकोमें जो प्रायश्चित्तका कथन है तदनुसार ही आचार्योंने उसे प्रायश्चित्त  
दिया ॥५९७॥

गा०—किन्तु वह साधु उन आचार्योंके वचनोंपर श्रद्धान न करके फिर भी यदि अन्य  
आचार्योंसे पूछता है तो यह आलोचनाका आठवाँ दोष है ॥५९८॥

गा०—ऊपरसे अच्छा हुआ किन्तु भीतरमें कील सहित घाव पीछे बढकर क्या बहुत कष्ट

१ शो न ददाति न चेत् आ० मु० । २. अ० ज० प्रति में यह गाथा नहीं है । ३ ष ।  
यथा तथा इमा स-अ० आ० ।

तथा इयं । 'सल्लुद्धरणसौधी' आलोचनासुद्धिः । मायाभूषापारित्यागेन कृता अतिशोभना सद्बुक्ता दोषा' गुरु-  
दत्तप्रायश्चित्ताश्रद्धानशाल्यसमन्वितत्वाद्दुःस्वावहृत्वात् । बहुजन ॥५९९॥

आगमदो वा बालो परियाएण व ह्वेज्ज जो बालो ।'

तस्स सगं दुच्चरियं आलोचेदूण बालमदी ॥६००॥

'आगमदो वा बालो' आगमेन ज्ञानेन वा बाल । 'परियाएण व ह्वेज्ज जो बालो' चारित्रबालो वा यो  
भवेत् । य' स 'तस्स' तस्मै । 'सगं दुच्चरियं' आत्मीयमतिचारं । 'आलोचेदूण बालमदी' उक्त्वा बाल-  
बुद्धि ॥६००॥

आलोचिदं असेसं सच्चं एदं मएत्ति जाणादि ।

बालस्सालोचेंतो णवमो आलोचना दोसो ॥६०१॥

'आलोचिदं' कथित । 'असेसं सच्चं' निरवशेषं सर्वं । मनोवाककायकृतोऽतिचारः सर्वशब्देन उच्यते ।  
कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याख्यायन्ते । 'मएत्ति जाणादि' मयेति जानाति । 'बालस्सालोचेंतो' ज्ञान-  
बालाय चारित्रबालाय वा कथयति । 'णवमो आलोचनादोसो' नवम आलोचनादोष ॥६०१॥

कूडहिरणं जह णिच्छएण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ।

पच्छा होदि अपत्थं तधिमा सल्लुद्धरणसौधी ॥६०२॥

कूडहिरणं जह पच्छा अपत्था णिच्छएण होबिति पदघटना । यथा कूटहिरण्य धनमिति गृहीत पश्चाद-  
पथ्य निश्चयतो भवति अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वाद् । एवमपि इयमपि बालस्य क्रियमाणालोचना अनुरूप-  
प्रायश्चित्तप्राप्तो अनुपायत्वात् सद्दृशी । न ज्ञानबाल परार्थयोग्यप्रायश्चित्त दातुं क्षम । 'दुज्जणकदा य मेत्ती'

नही देता ? देता ही है । उक्त आलोचना भी उसी घावकी तरह है । यद्यपि यह आलोचना माया  
और असत्यको त्यागकर की जानेसे अति सुन्दर है, दोष रहित है । तथापि गुरुके द्वारा दिए गये  
प्रायश्चित्तके प्रति अश्रद्धान रूपी शाल्यसे युक्त होनेसे दुःखदायी है । यह बहुजन नामक दोष  
है ॥५९९॥

गा०—जो मुनि आगम अर्थात् ज्ञानसे बालक है अथवा जो चारित्रसे बालक है अर्थात्  
जिसे शास्त्रज्ञान भी नहीं है और चारित्र भी जिसका हीन है उसके सम्मुख जो अज्ञानी अपने दोष-  
की आलोचना करता है ॥६००॥

गा०—और मेने अपने मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे किए सब दोष कह  
दिये, ऐसा जानता है । इस प्रकार ज्ञान बालक और चारित्र बालक मुनिसे दोषोका निवेदन करना  
नौवाँ आलोचना दोष है । इसे अव्यक्त दोष कहते हैं ॥६०१॥

गा०—टी०—जैसे नकली सोनेको धन समझकर ग्रहण करे तो पीछेसे वह निश्चय ही अहित-  
कर होता है क्योंकि उससे यदि कुछ इच्छित वस्तु खरीदना चाहे तो नहीं खरीद सकते । इसी  
प्रकार बालमुनिके सम्मुख की गई आलोचना भी अनुरूप प्रायश्चित्तकी प्राप्तिका उपाय न होनेसे  
नकली सोनेके ही समान अहितकारी है । क्योंकि ज्ञानसे बालमुनि परमार्थके योग्य प्रायश्चित्त

जहा पच्छा होइ अत्यन्त इति सम्बन्धः कार्यः । दुर्जने कृता मैत्री यथा न पथ्यं, दुःखं प्रयच्छतीति एवं चारित्र-  
बालस्य समयोभयविकलस्य कृतापि प्रायश्चित्तालाभमूला अनेकानर्थाविहेति भावः ॥६०२॥

पासत्थो पासत्थस्स अणुगदो दुक्कडं परिकहेइ ।

एसो वि मज्झसरिसो सच्चत्थवि दोससंचइओ ॥६०३॥

'पासत्थो पासत्थस्स' पार्श्वस्थ पार्श्वस्थमनुगतः । 'दुक्कडं परिकहेइ' दुष्कृतं परिकथयति । 'एसो वि'  
एषोऽपि । 'मज्झसरिसो' मत्सदृश । 'सच्चत्थ वि' सर्वेभ्यपि व्रतेषु । 'दोससंचइओ' दोषसचयोद्यत ॥६०३॥

जाणइ य मज्झ एसो सुहसीलत्तं च सच्चदोसे य ।

तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महन्लत्ति ॥६०४॥

'एसो मज्झ सुहसीलत्तं जाणवि' एष मम दुःखासहत्व वेत्ति । 'सच्चदोसे य जाणवि' सर्वांश्च व्रताति-  
चारानवगच्छति । 'तो' तस्मात् । 'एस मे न दाहिदि' एष मे न दास्यति । 'महन्लत्तं पायच्छित्तं' महत्प्राय-  
श्चित्तमिति मत्या कथयतीति सम्बन्धः ॥६०४॥

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।

सो पवयणपडिक्कुद्धो दसमो आलोचना दोसो ॥६०५॥

स्पष्टार्था ॥६०५॥

उत्तर गाथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं घोवेज्ज लोहिदेणेव ।

ण य तं होदि विसुद्धं तधिमा सल्लुद्धरणसोची ॥६०६॥

'जह कोइ लोहिदकयं' करोति क्रियासामान्यवाची इह लेपे वर्तते तेनायमर्थ—यथा कश्चिच्छ्लोहिनेन  
लिप्त वस्त्र । 'घोवेज्ज' प्रकालयेत् । 'लोहिदेणेव' लोहितेर्नव । 'ण य तं ह्यवि विसुद्धं' नैतद् भवति विसुद्ध ।

देनेमे समर्थ नहीं होता । अथवा जैसे दुर्जनसे की गई मित्रता हितकर नहीं होती, दुःखदायक होती  
है उसी प्रकार प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमसे रहित चारित्र बालमुनिके सम्मुख की गई भी आलो-  
चना प्रायश्चित्तका लाभ न होनेसे अनेक अनर्थोंको लानेवाली है ॥६०२॥

गा०—पार्श्वस्थमुनि पार्श्वस्थमुनिके पास जाकर अपने दोषोंको कहता है । वह जानता  
है कि यह भी मेरे समान है । सब व्रतोंमें दोषोंसे भरा है ॥६०३॥

गा०—यह मेरी सुखशीलताको जानता है कि मैं दुःख सहन नहीं कर सकता । मेरे सब  
व्रतोंके दोषोंको भी यह जानता है । अतः यह मुझे बड़ा प्रायश्चित्त नहीं देगा । यह मानकर वह  
उससे अपने दोष कहता है ॥६०४॥

गा०—यह पार्श्वस्थमुनि मेरे द्वारा कहे सब दोषोंको जानता है ऐसा मानकर उससे  
प्रायश्चित्त लेना आगमसे निषिद्ध है । और यह आलोचनाका दसवाँ दोष है ॥६०५॥

गा०—जैसे कोई रुधिरसे सने हुए वस्त्रको रुधिरसे ही धोता है तो वह विशुद्ध नहीं होता ।

१. सच्चदोसे य जानाति सर्वदोषाश्च । तो—मु० ।



‘तथिमा सल्लुद्धरणसोधी’ आलोचनाशुद्धिः दोषं न निरस्यति । तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजलं पङ्क वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्त वस्त्रं शोधयति तथाभूतमेव लोहितं । एवमतीचाराशुद्धिः अशुद्धरत्नत्रयोद्देशप्रभृतेः अशुद्धयालोचनया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥६०६॥

**पद्मयणणिह्वययाणं जह दुष्कण्डपावयं करेताणं ।**

**सिद्धिगमणमहदूरं तथिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०७॥**

‘पद्मयणणिह्वययाणं’ जिनप्रणीतवचननिह्वयकारिणा । ‘दुष्कण्डपावयं करेताणं’ दुष्करपापकारिणा । ‘जह सिद्धिगमणमहदूरं’ यथा सिद्धगमनमतिदुष्कर । तस्सेवी गद ॥६०७॥

**सो दस वि तदो दोसे भयभायाभोसमाणलज्जाओ ।**

**णिज्जुहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥६०८॥**

‘सो’ क्षपक । ‘तसो’ ततः आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । ‘दोसे णिज्जुहिय’ दोषास्त्यक्त्वा । ‘दस वि’ दशापि । ‘भयभायाभोसमाणलज्जाओ’ भयं माया मनोगता भूया वचनगता, मान लज्जा च त्यक्त्वा । ‘संसुद्धो’ सम्यक्शुद्ध । ‘विधिना आलोयणं करेदि’ विधिना आलोचनां करोति ॥६०८॥

कोऽसावालोचनाविधिरित्याशंभ्याह—

**णट्टचलवलयिगिहिभासमूगदब्दुरसरं च मोसूण ।**

**आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥६०९॥**

‘णट्टचलवलयिगिहिभासमूगदब्दुरसरं च’ हस्तनर्तनं, भ्रूक्षेप, चलनं गात्रस्य, वलित, गृहिवचनं, मूकवत्समाकरण, घर्घरस्वरं च मुक्त्वा । ‘आलोचेदि’ कथयति । ‘विणीदो’ कृताब्जलिपुटोऽनतधिरस्क । ‘अब्दुव’ अद्भुतं । अविलम्बितं । स्पष्ट । ‘गुरुणो अहिमुहत्थो’ गुरोरभिमुखः ॥६०९॥

उसी तरह यह आलोचना शुद्धि दोषको दूर नहीं करती । उसके विपरीत निर्मल जल वस्त्रमें लगे कीचड़को दूर करता है । किन्तु रुधिरसे लिप्त वस्त्रको रुधिर शुद्ध नहीं कर सकता । इसी प्रकार अशुद्ध रत्नत्रयवाले मुनिसे की गई अशुद्ध आलोचनासे अतीचार सम्बन्धी अशुद्धि दूर नहीं होती । इस प्रकार दृष्टान्त और दाष्टान्तमें समानता जानना ॥६०६॥

गा०—जैसे जिन भगवान्के वचनोका लोप करनेवाले और दुष्कर पाप करनेवालोका मुक्तिगमन अति दुष्कर है उसी प्रकार पार्श्वस्थ मुनिसे दोषोको कहेनेवालोकी शुद्धि अति दुष्कर है । यह तस्सेवी नामक दसवें दोषका कथन हुआ ॥६०७॥

गा०—सदोष आलोचनासे शुद्धि नहीं होती, इसलिए निर्यापकाचार्यके पादमूलमे उपस्थित क्षपक दसो दोषोको तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जाको त्यागकर सम्यक्प्रकारसे शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करता है ॥६०८॥

वह आलोचनाकी विधि क्या है, यह कहते हैं—

गा०—हाथका नचाना, भौं मटकाना, शरीरको मोड़ना, गृहस्थकी तरह बोलना, गूँगेकी तरह संकेत करना और घर्घर स्वरको त्याग कर, दोनों हाथोकी अजली बनाकर, सिर नवाकर गुरुके सामने उनकी बायीं ओर एक हाथ दूर गबासनसे बैठकर, न अति जल्दीमे धीर न अति रुकरुकर कर स्पष्ट आलोचना करता है ॥६०९॥

**पुढविदगागणिवपने य वीयपत्तयेर्णतकाए य ।  
विगतगचदुपंचिदियसत्तारंमे अणेयबिहे ॥६१०॥**

'पुढविदगागणिवपने य' पृथिव्यामुदकेऽनी पवने च । 'वीयपत्तयेर्णतकाए य' बीजे प्रत्येककाये च वनस्पती । 'विगतगचदुपंचिदियसत्तारंमे' द्वित्रिचतु षड्चेन्द्रियसत्त्वविषये चारम्भे । 'अणेयबिहे' अनेगप्रकारे । पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणाश्रजमित्यादिकाया खननं, विलेखन, वहनं, कुट्टन, भञ्जन इत्यादिकया-रम्भ । उदककरकावश्यायतुषारादीना अब्भेदाना पान, स्नानमवगाहन, तरण हस्तेन, पादेन, मात्रेण वा मर्दन इत्यादिकं । 'अग्निज्वाला, प्रदीप उल्मुकं इत्यादिकस्य तेजस' उपर्युदकस्य, पाषाणस्य, मृत्तिकाया-सिकताया वा प्रक्षेपण, पाषाणकाष्ठादिभिर्हननं इत्यादिक । अंशामण्डलिकादौ वायी वातिव्यजनेन, तालवृन्तेन, शूर्पेण, चेलादिना वा समीरणोत्थापनादिक वाते वाभिगमन । बीजाना प्रत्येककायानां अनस्तकायाना च वृशवत्कीगुल्मलतातृणपुष्पफलादीना वहन, छेदन, मर्दन, भञ्जनं, स्वर्शन, भक्षणमित्यादिक । द्वीन्द्रियादीना मारण, छेदनं, ताडन, बन्धन, रोषनमित्यादिक ॥६१०॥

**पिंडोवधिसेज्जाए गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे सिंगे ।  
तेणिककराहभत्ते मेहूणपरिग्गहे मोसे ॥६११॥**

'पिंडोवधिसेज्जाए' पिण्डे, उपकरणे, वसती च उद्गमोत्पादनीयणादानातिचार । 'गिहिमत्तणिसेज्ज-वाकुसे सिंगे' । गृहस्थाना भाजनेषु कुम्भकरकशारावादिषु कस्यचिन्निक्षेपण, तैर्वा कस्यचिदादान च चारित्रा-तिचार । दु प्रतिलक्ष्यत्वाच्छोधयितुमसक्यत्वाच्च । पीठिकायामासन्धा, खट्वाया, मञ्चे वा आसन निपद्यो-

गा०-टी०—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक वन-स्पति, साधारणकायिक वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और षड्चेन्द्रिय जीवसम्बन्धी अनेक प्रकारके आरम्भ की आलोचना करता है । मिट्टी, पत्थर, शर्करा, रेत, नमक इत्यादिका खोदना, हलसे जोतना, जलाना, कूटना, तोडना आदि पृथिवी सम्बन्धी आरम्भ है । जल, बर्फ, ओस, तुषार आदि पानीके भेदोका पीना, स्नान, अवगाहन, तैरना, हाथ पैर या शरीरसे मर्दन करना आदि जलसम्बन्धी आरम्भ है । आग, ज्वाला, दीपक, उल्मुक इत्यादि आगके रूपर पानी, पत्थर, मिट्टी, अथवा रेत फेकना या पत्थर लकड़ी आदिसे आगको पीटना आगसम्बन्धी आरम्भ है । अंश और माण्डलिक आदि वायुको ताडके पत्रसे, सूपसे, लकड़ी आदिसे रोकना, या पहले आदिसे हवा करना, वायुके सन्मुख गमन करना ये सब वायुकायसम्बन्धी आरम्भ हैं । बीज, प्रत्येक काय और अनन्तकाय वृक्ष, लता, बेल, झाडी, तृण, पुष्पाफल आदिको जलाना, छेदना, मसलना, तोडना, छूना, खाना आदि वनस्पतिकाय सम्बन्धी आरम्भ हैं । दो इन्द्रिय आदि जीवोको मारना, छेदना, पीटना, बांधना, रोकना आदि दो इन्द्रिय आदि सम्बन्धी आरम्भ हैं । ये सब आरम्भ मुझसे हुए हैं ॥६१०॥

गा०-टी०—भोजन, उपकरण और वसतिमे उद्गम, उत्पादन और गणनासम्बन्धी अतिचार होते हैं । गृहस्थोके पात्र घट, झारी, सकोरा आदिमें किसी वस्तुका निक्षेपण करना अथवा उनके द्वारा किसी वस्तुका ग्रहण चारित्रसम्बन्धी अतिचार हैं क्योंकि उन पात्रोंकी प्रति-

च्यते । पीठिकादिबिन्दुकच्छिद्राकुलासु दुःप्रेक्ष्या प्राणिनो दृष्टाश्च नापकतुं शक्यन्ते । ततोर्हि साव्रतातिचार । तथा चोक्तम्—

पीठिकासंघवल्लके 'मंचए भालए तथा । अणोच्चरिदमञ्जाणं आसिबुं सइवु पि वा ॥

गंभोरवासिणो पाणा बुप्पेक्खा बुब्बिकिचणा । तन्हा बुप्पविलेह च बञ्जाए पढमब्बए ॥ [ ]

अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निषद्याया कस्तत्र दोष इति चेत् ब्रह्मचर्यस्य विनाश स्त्रीभि सह सवासात् ? असकृत्तदीयकुचतटविम्बाधरादिसमवलोकनाद् भोजनाग्निना च विघ्न । कथमिव यतिसमीपे भुजिक्रिया सम्पादयाम । अशुचि वेद चेतकथमस्यामासन्धा तु तावदमी इति क्रुध्यन्ति वा गृहस्था । किमर्थमयमत्र दाराणा मध्ये निषण्णो यतिर्भुङ्क्ते न यातीति । स्नानमुद्वर्तनं, गात्रप्रक्षालन च वाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरकादिना वा बिलस्था घात्रीक्षुद्रविवरस्था इतरेऽपि स्वल्पकाया कुन्युपिपीलिकादयो वा नश्यन्ति । तथा चोक्तम्—

सुहृमा संति पाणा खु पासिमु अ बिलेसु अ ।

सिण्हायंतो यतो भिक्खु विकटुणोपपीडए ॥

ण सिण्हायंति तन्हा ते सीवुसणोचणेण चि ।

जाबजीवं बव घोर अण्हाणगमचिह्वं ॥

लेखना कठिन है तथा उनकी शक्ति अशक्य होती है । पीठेपर, आसनपर, खाट या मचपर बैठना निषद्या है । अनेक छिद्रवाली पीठिका आदिमे रहनेवाले जन्तुओको देखना अशक्य होता है और देख भी लिया जायं तो उन्हें दूर करना शक्य नहीं होता । और उससे अहिंसाव्रतमे अतिचार लगता है । कहा भी है—

पीढा, आसद, पलका, मच आदि आसनोपर स्नान न करनेवाले साधुओका बंठना या शयन करना उचित नहीं है । गहराईमें रहनेवाले जीवजन्तु देखे नहीं जाते । उनका बचाव कष्ट साध्य होता है । इसलिए अहिंसा नामक प्रथम व्रतमे 'ठीकसे नहीं देखना' छोडना चाहिए ।

अथवा गोचरीके लिए जाकर घरमे प्रवेश करना और वहाँ बैठना निषद्या है ।

**शङ्का**—इसमे क्या दोष है ?

**समाधान**—स्त्रियोके साथ रहनेसे ब्रह्मचर्यका विनाश होता है । क्योंकि बार-बार उनके कुचो और ओष्ठोपर दृष्टि जाती है । तथा भोजन करनेके इच्छुक गृहस्थोको वाधा होती है । वे सोचते है—हम यतियोके सामने कैसे भोजन करे ? अथवा उन्हें क्रोध हो सकता है कि इस अपवित्र पलके पर ये कयो बैठे है ? यह यति यहाँ स्त्रियोके मध्यमे बैठकर कयो भोजन करता है, जाता कयो नहीं है ।

स्नान, उबटन और शरीर धोनेको वाकुस कहते है । गर्मजल, ठडे जल अथवा सौवीरक आदिसे स्नान करनेसे पृथ्वीके बिलोमे स्थित प्राणी अथवा अन्य कुन्यु चीटी आदि क्षुद्रजीव मर जाते है । कहा है—

'बिलोमे तथा आस-पासमे सूक्ष्मजन्तु रहते है । यदि भिक्षु स्नान करे तो वे पीडित हांते हैं । इसलिए वे भिक्षु ठडे या गर्मजलसे या काँजीसे स्नान नहीं करते । वे जीवन पर्यन्त घोर अस्नानव्रतको धारण करते है ।'

लोम्रगन्धादिभिः उद्धर्षनं च नाचरन्ति । लिङ्गविकाशानक्रिया तात्स्थ्याल्लिङ्गशब्देनोच्यते । 'तेणिक्का-  
राविभक्ते' अदत्तादानं रात्रिभोजनं च । अदत्तादाने कृते तत्स्वामिन प्राणायहार एव कृतो भवति । बहिष्कारः  
प्राणा धनानि प्राणभूतां राजानो वण्डयन्तीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासयममूल । रात्रौ भ्रमणे षड्जीवनि-  
कायबधो । अयोग्यस्य प्रत्यास्थातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासम्भवः । करस्य, भाजनस्योच्छिद्यनिपतनदेशस्य,  
दायिकागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चावस्थानदेशस्य अपरीक्षा । 'भेहूचपरिग्रहे खेच' मैथुन परिग्रहदचैव । 'भोसे'  
मूषा च ॥४११॥

**पाणे दंसणतववीरिये य मणवयणकायजोगेहिं ।**

**कदकारिदेणुमोदे आदपरपओगकरणे य ॥६१२॥**

'पाणे' जाने । 'दंसणतववीरिए' श्रद्धाया तपसि वीर्यं च योजितचार । 'मणवयणकायजोगेहिं' मनो-  
वाक्कायक्रियाभिः । मनसा सम्यग्ज्ञानस्यावज्ञा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्रमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्यग्ज्ञान-  
स्य वा मिथ्याज्ञानमिदमिति दूषण । मनसा वाचा कायेन वा स्वारुचिप्रकाशन, मुल्लभैवर्ष्येन नैतदेवमिति शिर-  
कम्पनेन वा । शङ्काकाङ्क्षादि वर्धनेऽतिचारः । तपस्यसयम । वीर्ये स्वशक्तिग्रहण । स चातीचार सर्वस्त्रि-  
प्रकार इति कथयति । 'कदकारिदे अनुमोदे' कृत-, कारितोऽनुमतश्च । 'आदपरपओगकरणे य' आत्मनैव कृत  
कारितोऽनुमतश्च, परयोगक्रियया कृत कारितोऽनुमतो वा ॥६१२॥

वे भिक्षु लोम्र वगैरह सुगन्धित द्रव्योका उबटन भी शरीरपर नहीं लगाते है । लिगशब्दसे  
लिगको विकसित करनेकी क्रिया ली गई है । वह भी भिक्षु नहीं करते ।

तेणिक्का चोरीको कहते है । भिक्षु विना दी हुई वस्तुका ग्रहण और रात्रिभोजन नहीं  
करते । विना दी हुई वस्तुका ग्रहण अर्थात् चोरी करनेपर उसके स्वामीका प्राण ही हर लिया  
जाता है क्योंकि धन मनुष्योका बाहरी प्राण होता है । इसी लोकमे राजा उसे दण्ड देते हैं ।  
तथा रात्रिमें भोजन अनेक असयमोका मूल है । रात्रिमे साधु भ्रमण करे तो छहकायके प्राणियो-  
का घात होता है । तथा रात्रिमे दृष्टिगोचर न होनेसे त्यागी हुई तथा अयोग्य वस्तु भी खानेमे  
आ जाती है । दाताकी परीक्षा भी असम्भव होती है । हाथमे स्थित भोजन, जूटन गिरनेका  
स्थान, आहार देनेवालेके आने जानेका मार्ग, उसके तथा अपने खडे होनेके प्रदेशकी परीक्षा भी  
रातमे नहीं होती । मैथुन, परिग्रह और असत्यके वे त्यागी होते है ॥६११॥

गा०—टी०—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और वीर्यके सम्बन्धमे मन वचन कायकी क्रियाके  
द्वारा अतिचार हुए है—

मनसे सम्यग्ज्ञानकी अवज्ञा करना, इस ज्ञानसे क्या लाभ है, तप और चारित्र ही फल-  
दायक है । उन्हे ही करना चाहिए । अथवा सम्यग्ज्ञानको यह मिथ्याज्ञान है, ऐसा दूषण लगाना ।  
अथवा मनसे वचनसे कायसे अपनी अरुचि प्रकट करना । अथवा मुखकी विरूपतासे या सिर  
हिलाकर 'यह ऐसा नहीं है' यह प्रकट करना सम्यग्ज्ञानके अतिचार है । सम्यग्दर्शनमे शका  
कांक्षा आदि अतिचार कहे है । तपमें असयम अतिचार है । वीर्यमे अपनी शक्तिको छिपाना  
अतीचार है । वह सब अतिचार कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे तीन प्रकार है । तथा स्वयं ही  
करना कराना अनुमोदना करना और परके द्वारा करना, कराना, अनुमोदना करना इस तरह  
कृत कारित अनुमोदनाके भी दो प्रकार हैं ॥६१२॥

अद्वाण रोहणे जणवण य रादो दिवा सिधे उमे ।

दप्पादिसमावण्णे उद्धरदि कमं अमिदंतो ॥६१३॥

‘अद्वाण रोहणे जणवणे’ यस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गास्तेषां रोषके परचक्रं जाते यदि निस्तर्तुं न लभते संकिल्पटा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तामपि कथयति । ‘रादो दिवा’ रात्री अयमतिचारी जातो दिवसे इति वा कथनं । मार्या उपबृते संघे विद्यया मन्त्रेण वा तन्निषेधनायामयमतिचारी जात इति वा । दुर्मिक्षे वा महति अवमोदर्यमन्नेन यदात्मना सेवितं, अन्ये वाऽयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । ‘दप्पादिसमावण्णे’ दर्पादिभिः समापन्नः ।

दप्पमादवणाभोगआपणा आधुरे य तित्तिणिदा ।

संकिण्हसहसाकारे य भयपयोसे य मीमंसं ॥

अण्णाणणेहवारच अण्ण्यवसमलस उपधि सुमिण्ठे ।

पल्लकुच्चणं ससोचो करंति बीसंतये भेदे ॥

इति दर्पादि । अत्र दर्पाज्जेकप्रकारः क्रीडासंघर्षः, व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्य, गीतशृंगार-वचन, प्लवनमित्यादिको दर्पः । प्रमादः पञ्चविधः—विकथा, कषाया, इन्द्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति । अथवा प्रमादो नाम संकिल्पटहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरण, समितिष्वनुपयुक्तता । छेदन भेदन, पेषणमभिघातो, व्यधनं, बन्धन, स्फाटन, प्रक्षालन, रञ्जन, वेष्टन, ग्रथन, पूरण, समुदायकरण, लेपन, क्षेपणं, आलेखनमित्यादिकं संकिल्पटहस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षणं निमित्त, ज्योतिर्ज्ञानं, छंदः, अर्थशास्त्र, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमायाश्च बाह्यशास्त्राणि । उपयुक्ताऽपि सम्यगतीचार न वेत्ति सोऽनाभोगकृतः, व्याक्षिप्तचेतसा

गा०-टी०—देशसे बाहर जानेके जितने मार्ग हैं, शत्रुसेनाके द्वारा उन सबके बन्द कर देनेपर साधु निकल नहीं पाता । उस समय परवश होकर साधुको भिक्षाचर्या करनेमें जो सबलेश हुआ हो, अथवा अपने द्वारा अयोग्य पदार्थका सेवन हुआ है उसे भी गुरुसे कहता है । रातमें यह अतिचार हुआ, दिनमें यह अतिचार हुआ, यह भी कहता है । अथवा संघमें भारी रोगका उपद्रव होनेपर विद्या या मन्त्रके द्वारा उसे रोकनेमें यह अतिचार लगा, यह भी कहता है । महान् दुर्भिक्ष पडनेपर अवमोदर्यं तपको भंग करके स्वयंने जो सेवन किया हो, अथवा दूसरे साधुओको अमुक प्रकारसे अयोग्य भिक्षाके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त किया हो, वह भी कहता है । दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आपात, आतंता, तित्तिणिदा, शक्ति, सहसा, भय, प्रदोष, मीमांसा, अज्ञान, स्नेह, गारव, अनात्मवशता, आलस्य, उपधि, स्वप्नान्त, पल्लकुचन, और स्वयशुद्धि ये बीस दर्पादि कहे हैं । इनका विवरण—

इनमेंसे दर्पके अनेक प्रकार हैं—१ खेलकूदमें संघर्ष, व्यायाम, इन्द्रजाल, रसायन सेवन, हास्य, गीत, शृङ्गार, दौड़ना, तेरना आदिको लेकर घमंड करना । २ प्रमादके पांच भेद हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियोंके विषयमें आसक्ति, निद्रा और प्रणय (स्नेह) । अथवा संकिल्पट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रोंकी रचना करना, काव्यरचना और समितियोंमें उपयोग न लगाना ये पांच प्रमाद है । छेदना, भेदना, पीसना, अभिघात, बीधना, खोदना, बाँधना, फाड़ना, धोना, रंगना, वेष्टित करना, गूँथना, पूरना, समुदाय करना, लीपना, फेंकना, चित्रकारी करना ये सब संकिल्पट हस्तकर्म हैं । स्त्री पुरुषके लक्षण जिसमें बतलाये हों ऐसा शास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, छन्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र तथा लौकिक और वैदिकशास्त्र बाह्यशास्त्र हैं—

वा कृत'। नदीपूर, अम्युत्थापनं, महावातापातः, वर्षाभिघातः, परचक्ररोध इत्यादिका आपाता । रोगार्तं, शोकार्तां, वेदनार्तं इत्यार्ताता त्रिविधा । रसासक्तता 'मुखरता चेति द्विप्रकारता तित्तिण्दिदा शब्दवाच्या । सचित्त किमचित्तमिति शक्तिते द्रव्ये भज्जनभेदनभक्षणादिभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उद्गमादिदोषोपहृतिरस्ति न वेति शक्नुयामप्युपादानं । अशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्ति सहोत्थयन्ते ।

एकान्ताया वसती व्यालमृगव्याघ्रादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्र-  
कषायपरिणाम' प्रदोष इत्युच्यते । उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विकल्पावहत्वार कषाया । आत्मन-  
परस्य वा बललाघवादिपरीक्षा भीमासा तत्र जातोऽतिचार । प्रसारितकराकुञ्चितम् आकुञ्चितकरप्रसारण  
धनुषाधारोपण उपलाघुक्षेपण, वाधन, वृत्तिकण्टकाद्युल्लङ्घन, पशुसर्पादीना मन्त्रपरीक्षणाय वा धारण, औषध-  
वीर्यपरीक्षणार्थमञ्जनस्य, चूर्णस्य वा प्रयोग, द्रव्यसंयोजनया त्रसानामेकेन्द्रियाणा च समुच्छन्ना परीक्षा ।  
अज्ञानामाचरण दुष्टवा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानभिज्ञ । अथवाऽज्ञानिनोपनीतमुद्गमादिदोषोपहत उप-  
करणादिकं सेवते इति अज्ञानात्प्रवृत्तोऽतीचार । शरीरे, उपकरणे, वसती, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, बन्धुषु,  
पाद्वर्षस्येपु वा ममदभाव' स्नेहस्तेन प्रवर्तित अतीचार । मम शरीरमिद शीतो वातो वाधयति कटादि-

३ उपयोग लगानेपर भी सम्यक् रूपसे अतीचारको नहीं जानना अथवा चित्त चञ्चल होनेसे अतीचारको न जानना अनाभोगकृत है । ४ नदीमें बाढ़ आना, आग लग जाना, महती आँधी आना, वर्षाकी अत्यधिकता, शत्रुसेनाका आक्रमण इत्यादि आपात है । ५ आर्तताके तीन प्रकार हैं—रोगसे पीड़ित, शोकसे पीड़ित, कष्टसे पीड़ित । ६ रसमें आसक्ति और ब्रकवादमें आसक्ति इन दोनोंको तित्तिणदा कहते हैं । ७. यह सचित्त है या अचित्त ऐसी आशंका होनेपर भी उसको तोड़ना-फोड़ना खाना, अथवा आहार, उपकरण और वसतिमें उद्गम आदि दोष है या नहीं, ऐसी शका होते हुए भी ग्रहण करना शकित है । ८ अशुभ मन और वचनकी झटपट प्रवृत्ति सहसा है ।

९. एकान्त वसतिमें सिंह मृग सर्प और चोर आदि प्रवेश करते हैं इस भयसे द्वार बन्द कर देना भय है । १० तीव्र कषाय युक्त परिणामको प्रदोष कहते हैं । क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं इनमेंसे प्रत्येकके चार-चार भेद हैं जैसे जलकी रेखा, धूलकी रेखा, पृथ्वीकी रेखा और पत्थरकी रेखाके समान क्रोध होता है ।

११ अपने या दूसरके बल लाघव आदिकी परीक्षाको भीमासा कहते हैं । फेले हुए हाथको मोड़ने, मोड़े हुए हाथको फैलाने, धनुष आदिके चढ़ाने, पत्थर आदिके फेंकने, दौड़ने, बाड कण्टक आदिकी लांघने, मन्त्र परीक्षाके लिए पशु सर्प आदिकी धारण करने, औषधकी शक्तिकी परीक्षाके लिए अजन अथवा चूर्णका प्रयोग करने, द्रव्योंके संयोगसे त्रस जीवो और एकेन्द्रिय जीवोकी उत्पत्ति करने आदिकी परीक्षा भीमासा है ।

१२ अज्ञानी जनोका आचरण देखकर स्वय भी वैसा करता है उसमें दोष नहीं जानता । अथवा अज्ञानीके द्वारा लाये गये उद्गम आदि दोषोमें दूषित उपकरण आदिका सेवन करता है । यह अज्ञानवश हुआ अतिचार है ।

१३ शरीरमें, उपकरणमें, वसतिमें, कुलमें, ग्राममें, नगरमें, देशमें, बन्धुमें और पार्श्वस्थ

भिरन्तर्धान, अग्निदेवा शीतापनोदनार्थं प्रावरणग्रहणं वा, उद्वर्तनं, ब्रह्मणं वा । उपकरणं विनश्यतीति तेन स्वकार्यकरणं यथा पिच्छविनाशभयादप्रमार्जनं इत्यादिकं । ब्रह्मणं तैलादिना, कमण्डलादीना प्रक्षालनं वा, वसतितृणविभक्षणस्य मञ्जनादेर्वा ममतया निवारणं, बहूना यतीना प्रवेशन मदीयं कुल न सहते इति भाषणं, प्रवेशे कोपः, बहूना न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्यैव वैयावृत्यकरणं । निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र मभतया ग्रामे नगरे देसे वा अवस्थाननिषेधनं । यतीना सम्बन्धिनां मुखेन मुखमात्मनो दु खेन दु खमित्यादिरतिचारः । पाश्वरस्थाना वन्दना, उपकरणादिवान वा तदुल्लङ्घनासमर्थता । गुप्ता ऋद्धित्यागासहता, ऋद्धिगौरव, परिवारे कृतादर । परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन । अभिमतर्सात्यागोज्ज्विमितानादरश्च नितरा रसगौरवं । निकागभोजने, निकामक्षयनाथी वा आसक्तिः । मातगौरव अनात्मवशतया प्रवर्तितातिचारः । उन्मादेन, पित्तं पिशाचादेशेन वा परवशता । अथवा जातिभिः परिगृहीतस्य बलात्कारेण गन्धमाल्यादिवसेवा प्रत्याख्यातभोजन, रात्रिभोजन भुववासतादूलादिभक्षण वा स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलादब्रह्मकरण । चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्य । उवधिशब्देन मायोष्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः । ज्ञात्वा दातृकुल पूर्वमन्येभ्यः

मुनियोंमें ममत्वभाव स्नेह है । उससे हुआ अतीचार स्नेह कहाता है । मेरे इम शरीरको शीत कष्ट देता है । इसलिए चटाई वगैरहसे शीतको रोकना, आग तापना, शीत दूर करनेके लिए कुछ प्रावरण ग्रहण करना, उबटन लगाना, तेलकी मालिश करना । उपकरण नष्ट हो जायेगा इसलिए उससे अपना कार्य न करना, जैसे पिच्छीके नाशके भयसे उससे प्रमार्जन न करना, कमडलु आदिको धोना । वसतिके तृण आदि खानेको अथवा उसके टूटने आदिको ममत्व भावसे रोकना, मेरे कुलमें बहुत यतियोंका प्रवेश सह्य नहीं है ऐसा कहना, प्रवेश करने पर कोप करना, बहुत यतियोंका प्रवेश देनेका निषेध करना, अपने कुलकी ही वैयावृत्य करना, निमित्त आदिका उपदेश देना, ममत्व होनेसे ग्राम नगर अथवा देशमें लहरनेका निषेध न करना, सम्बन्धी यतियोंके मुखसे अपनेको सुखी और दु खसे दु खी मानना इत्यादि अतिचार है । पाश्वरस्थ आदि मुनियोंकी वन्दना करना, उन्हे उपकरण आदि देना, उनका उल्लघन करनेमें असमर्थ होना, इत्यादि अतीचारोकी आलोचना करता है ।

१४ ऋद्धिके त्यागमें असमर्थ होना ऋद्धिगारव है । मुनि परिवारमें आदरभाव होनेसे प्रिय वचन और उपकरण दानके द्वारा दूसरोका अपनाता है । इष्ट रसका त्याग न करना और अनिष्ट रसमें अनादर होना रसगारव है । अति भोजन अथवा अतिगयनमें आसक्ति सात गौरव है । ये गारव सम्बन्धी अतिचार है ।

१५ अपने वशमें स्वयं न होनेसे अतिचार होते हैं । उन्मादसे, पित्तके प्रकापसे अथवा पिशाच आदिके कारण परवशता होती है । अथवा जातिके लोगोंके द्वारा बलपूर्वक पकड़कर गन्ध माल्य आदिका सेवन, त्यागी हुई वस्तुका भोजन, रात्रि भोजन, मुखवास, ताम्बूल आदिका भक्षण कराया गया है । स्त्रियों अथवा नपुंसकोके द्वारा बलपूर्वक अब्रह्म सेवन कराया गया हो ।

१६ चार प्रकारकी स्वाध्याय अथवा आवश्यकोंमें आलस्य किया हो ।

१७ उर्पाश शब्दसे माया कही है अर्थात् छिपकर अनाचार करना । दाताका घर जानकर

प्रवेशः । कार्योपदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा वा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमद्यां भुक्तमिति कथनं । ग्लान-  
स्याचायदिवर्षा वैद्यावृत्यं करिष्यामि इति किञ्चिद्गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवा । स्वप्नेनाऽभ्योम्यप्रतिसेवा सुमिण-  
मित्युच्यते । द्रव्यक्षेत्रकालभावाभ्येण प्रवृत्त्यातिचारस्यान्वया कथनं पलिकुञ्चनशब्देनोच्यते । कथं ? सचित्त-  
सेवां कृत्वा अचित्तं सेवितमिति । अचित्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि  
कृतमिति, सुमिधे कृतं दुर्मिधे कृतमिति, दिवसे कृतं रात्रौ कृतमिति, अकषायतया संपादितं तीव्रक्रोधाधिना  
संपादितमिति । यथावत्कृतालोचनो यतिर्यावरसूरिः प्रायश्चित्तं न प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेवं मम प्रायश्चित्तं  
इति स्वयं गृह्णाति स स्वयं शोधक । एष मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदन । एवमेतैर्दोषादिभिः समापन्नोऽति-  
चार 'उद्धरिवि' कथयति । 'कम्' स्वकृतातिचारक्रम । 'अभिबंधतो' अनिराकुर्वन् ॥६१३॥

इयं पयविभागियाए व ओधियाए व सल्लुद्धरिय ।  
सव्वगुणसोधिक्खी गुरूवएसं समायरइ ॥६१४॥

'इयं' एव । पदविभागियाए व विशेषालोचनया वा । 'ओधियाए व' सामान्यालोचनया वा । 'सल्लं'  
मायाशल्यं । 'उद्धरिय' उद्धृत्य । 'सव्वगुणसोधिक्खी' सर्वेषां गुणानां दर्शनज्ञानचारित्रतपसा शुद्धिमभिलषन् ।  
'गुरूवएसं' गुरुणोपविष्टं प्रायश्चित्तं । 'सभावियवि' सम्यगादत्तं । रोषं दैन्यमश्रद्धान च त्यक्त्वा ॥६१४॥

परिहायलोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचना निन्दना गुणवतीति वदति—

दूसरे साधुओसे पहले ही किसी बहानेसे भिक्षाके लिए पहुँचना जिससे दूसरे न जान सके । या  
अच्छा भोजन करके यह कहना कि मैंने नीरस भोजन किया है । मैं रोगीकी या आचार्यकी वैया-  
वृत्य करूँगा, इस बहानेसे कुछ वस्तु ग्रहण करके स्वयं उसका सेवन करना ।

१८ स्वप्नमें अयोग्य वस्तुके सेवनको सुमिण कहते हैं ।

१९ द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे हुए अतिचारको अन्य रूपसे कहना पलिकुञ्चन शब्दसे  
कहा जाता है । जैसे सचित्तका सेवन करके कहना कि मैंने अचित्तका सेवन किया है । अचित्तका  
सेवन करके कहना कि सचित्तका सेवन किया है । तथा अपने स्थान पर किये गये दोषको 'मार्गमें  
किया है' ऐसा कहना । सुमिक्षमें किये गये दोषको दुर्मिक्षमें किया कहना । दिनमें किये को रातमें  
किया कहना । अकषाय पूर्वक कियेको कषायपूर्वक किया कहना ।

२० विधिपूर्वक आलोचना करके आचार्यके प्रायश्चित्त देनेसे पहले स्वयं ही 'यह मेरा  
प्रायश्चित्त है' इस प्रकार जो स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करता है उसे स्वयं शोधक कहते हैं । उसे  
आचार्यसे निवेदन करना चाहिए मैंने इस प्रकार स्वयं शुद्धि की है ।

इस प्रकार क्षपक अपने द्वारा किये गये दोषोके क्रमका उल्लघन न करके वर्षादिसे हुए  
अतिचारोको गुरुसे कहता है ॥६१३॥

गा०—इस प्रकार विशेष आलोचना अथवा सामान्य आलोचनाके द्वारा मायाशल्यको  
दूर करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन सब गुणोकी शुद्धिका इच्छुक क्षपक  
गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको रोष, दीनता और अश्रद्धाको त्यागकर स्वीकार करता है ॥६१४॥

त्यागने योग्य आलोचना दोषोंको कहकर गुरुके समीपमें आलोचना और निन्दनाके गुण  
कहते हैं—



**कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिदओ गुरुसयासे ।**

**होदि अचिरेण लहुओ उरुहियमारोव्व भारवहो ॥६१५॥**

'कदपावो वि मणुस्सो' कृतपापोऽपि मनुष्य समजिताशुभकर्मसंक्षयोऽपि मनुष्य' । अथवा पापस्याशुभ-  
कर्मण कारणभूताऽसंयमादिरह पापशब्देनोच्यते, तेनायमर्थ —कदपावोऽपि कृतासंयमादिकोऽपि । 'आलोयण-  
णिवओ' कृतालोचन' कृतनिन्दितश्च । क्व ? 'गुरुसयासे' गुरुसमीपे । 'होदि' भवति । 'अचिरेण लहुओ'  
लघुनाम 'उरुहियमारोव्व' अवतारितभार इव । 'भारवहो' भारस्य बोधा ॥६१५॥

भावशुद्धयर्था आलोचना असत्या भावशुद्धी को वा दोष इत्याह—

**सुबहुस्सुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेषु ।**

**ण उव्वेति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा ह्येति ॥६१६॥**

'सुबहुस्सुदा वि संता' सुष्ठु बहुश्रुता अपि सन्त' । 'जे मूढा' ये मूढा । 'सीलसंजमगुणेषु' शीले  
क्षमादिके धर्म, समये, व्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतप सु च । 'भावसुद्धिं' परिणामेन शुद्धि । 'ण उव्वेति' नोपयान्ति  
ते । 'दुक्खणिहेलणा' दुःखनिष्पीडया । 'ह्येति' भवन्ति ॥६१६॥

कृतायामालोचनाया गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

**आलोयणं सुणित्ता तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण ।**

**जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्टवेदव्वं ॥६१७॥**

'आलोयणं' आलोचना । 'सुणित्ता' श्रुत्वा । 'तिक्खुत्तो' त्रि पृष्ट्वा । 'भिक्खुणो' निशो । 'उवायेण'  
उपायेन । 'जदि उज्जुगोत्ति यं' यदि ऋजुरयमिति । 'णिज्जइ' ज्ञायते । वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण  
ऋजुता । 'जहा' यथा । 'कद' कृतं पाप मुञ्जदिति शेषः शुद्धयति तथा 'पट्टवेदव्वं' प्रायश्चित्त दातव्य ।

शा०—'कृतपाप' अर्थात् अशुभकर्मका सचय करनेवाला भी मनुष्य । अथवा पाप अर्थात्  
अशुभकर्मके कारणभूत असंयम आदिको यहाँ पापशब्दसे कहा है । तब यह अर्थ होता है—असंयम  
आदि करनेवाला भी मनुष्य गुरुके समीप आलोचना और निन्दा करके शीघ्र ही हलका हो जाता  
है जैसे बोझको उतारनेपर बोझा ढोनेवाला हलका हो जाता है ॥६१७॥

भावोक्ती शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है । भावशुद्धिके अभावमे दोष कहते है—

शा०—जो मूढ मति बहुत अच्छे बहुश्रुत विद्वान् होकर भी क्षमा आदि धर्ममे, संयममे,  
व्रतोमे, ज्ञान दर्शन और तप गुणोमे भावशुद्धि नहीं रखते वे दुःखोसे पीडित होते है ॥६१६॥

आलोचना करनेपर गुरुको क्या करना चाहिए, यह कहते है—

शा०—आलोचना सुनकर गुरु भिक्षुसे तीन बार उपायसे पूछते है—सुम्हारा अपराध  
क्या है मैं भूल गया या मैंने सुना नहीं । इत्यादि उपायसे गुरु तीन बार पूछते है । यदि 'वचन'  
कहनेके ढंगसे और आचरणसे जानते है कि यह सरल हृदय है तो जिस प्रकार किया पापशुद्ध हो

' १ ते तनुभवनेन वाचर—आ० ।

अनुजोर्भावशुद्धधभावान्न व्यवहारिणः प्रायश्चित्तं प्रवच्छन्ति मूरयः । भावशुद्धिमन्तरेण पापानपायात् रत्नत्रयस्य निरतिचारत्वाभावात् ॥६१७॥

शुद्धी इतरा वा आलोचना कीदृशी यस्या सत्या प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आचष्टे—

**आदुरसल्ले मोसे मालागररायकज्ज तिकसुत्तो ।**

**आलोयणाए वक्काए उज्जुगाए य आहरणे ॥६१८॥**

‘आदुरसल्ले’ आतुरो व्याधित स वद्येन वारत्रयं पृच्छघते । किं भुक्त ? किमाचरित ? कीदृशी वा रोगस्य वृत्तिरिति । शल्यमपि शरीरलम्नं त्रि परीक्ष्यते । शुद्धता व्रणस्य जाता न वेति । ‘**रायकज्जं तिकसुत्तो**’ राज्ञा आज्ञत कार्यं किमेव करिष्यामीति त्रि पृच्छघते । ‘**आलोयणाए**’ आलोचनाया । ‘**वक्काए**’ वक्राया । ‘**उज्जुगाए**’ शुद्ध्याश्च । ‘**आहरणे**’ दृष्टान्त । यदि नारत्रयमप्येकरूपेण वक्ति ततो शुद्धी अन्यथा अन्यदन्यदाचष्टे वक्रेति ग्राह्य ॥६१८॥

**पडिसेवणातिचारे जदि णो जंपदि जघाकमं सन्वे ।**

**ण करेति तदो सुद्धि आगमववहारिणो तस्स ॥६१९॥**

‘पडिसेवणातिचारे’ प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारान् । तत्र प्रतिमेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । द्रव्यप्रतिसेवा त्रि प्रकारा सच्चित्तमचित्त मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात् । चित्त ज्ञान तथा च प्रयोग—चित्तमात्र जगतत्त्वं ज्ञानमात्रमिति यावत् । ज्ञानम्यात्मन कथञ्चिदव्यतिरेकात्सात्तास्थादा चित्तशब्देनाभि-

उस प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए । जो सरल हृदय नहीं होता उसके भावशुद्धि नहीं होती । इसलिए व्यवहार कुशल आचार्य उसे प्रायश्चित्त नहीं देते । भावशुद्धिके बिना पाप दूर नहीं होता । इसलिए उसके रत्नत्रय निरतिचार नहीं होते ॥६१७॥

सरल या वक्र आलोचना कैसी होनी है जिसके होनेपर प्रायश्चित्त दिया जाता है या नहीं दिया जाता, यह कहते हैं—

गा०—टी०—वेद्य रोगीसे तीन बार पूछता है—तुमने क्या खाया था, क्या किया था, रोगकी क्या दशा है ? शरीरमें लगे घावकी भी तीन बार परीक्षा की जाती है कि घाव भरा या नहीं ? चोरी होनेपर तीन बार पूछा जाता है कि क्या-क्या चोरीमें गया है, कैसे चोरी हुई है ? मालाकारसे भी तीन बार पूछा जाता है कि तेरी मालाका क्या मूल्य है । राजाने जिसे कार्य करनेकी आज्ञा दी है वह तीन बार पूछता है कि क्या इस प्रकार करूँ ? इसी प्रकार आलोचनाकी परीक्षा भी तीन बार की जाती है । अपना अपराध पुनः कहो ? ये सरल और वक्र आलोचनाके सम्बन्धमे पाँच दृष्टान्त हैं । यदि तीनों बार भी एकरूपसे ही कहता है तो सरल आलोचना है । यदि अन्य अन्यरूपसे कहता है तो वक्र आलोचना है ऐसा समझना चाहिए ॥६१८॥

गा०—टी०—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे प्रतिसेवनाके चार भेद हैं । द्रव्यप्रतिसेवनाके तीन प्रकार हैं क्योंकि सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे द्रव्यके तीन प्रकार हैं । चित्त ज्ञानको कहते हैं । कहा जाता है—जगत् तत्त्वं चित्तमात्र है अर्थात् ज्ञानमात्र है । ज्ञान आत्मासे

धानं । सह चित्तनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्यं । न विद्यते चित्तं आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्तं । मिश्र नाम सचित्ताचित्तपुद्गलसंहतिः । पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतय जीवपरिगृहीता सचित्तशब्देनोच्यन्ते । अचित्त जीवेन परित्यक्तं शरीरं तयोष्पादाय क्षेत्रादिप्रतिसेवना च योज्या । 'जडि षो' अर्थात् 'न कथयेद्यदि । 'जहाकर्म' यथाक्रमं । 'सञ्चे' सर्वान् स्थूलान् सूक्ष्मांश्चातिचारान् । 'न करंति' न कुर्वन्ति । 'ततो' तत । 'तस्व सौमि' तस्य शुद्धिः । 'आगमववहारिणो' आगमानुसारेण व्यवहरन्त ।

एषु बु उज्ज्वलभावा बचहरिवन्वा भवति ते पुरिसा ।

सका परिहरिवन्वा तेसे ऽपहृहि जहि विमुद्धा ॥ [ ]

इति वचनात् सर्वमतिचारं निबेदयत एव ऋजुता, तस्वीव प्रायश्चित्तदान ॥६१९॥

पडिसेवणादिचारे जदि 'आजंपदि जहाकर्म सञ्चे ।

कुर्वन्ति तहो सोधि आगमववहारिणो तस्म ॥६२०॥

स्पष्टा गाथा ॥६२०॥

यतिना निर्दोषाया मालोचनाया कृताया गणिना कि कर्तव्यमित्याशङ्किते तद्व्यापार कथयति—

सम्मं खवणालोचिदग्नि छेदसुदजाणगो गणी सो ।

तो आगममीमंसं करेदि सुत्ते य अत्थे य ॥६२१॥

कथञ्चित् अभिन्न होता है अथवा आत्मामें रहता है इसलिए उसे चित्त शब्दसे कहते हैं । जो चित्त अर्थात् आत्माके साथ रहता है वह सचित्त है । अर्थात् जीवके शरीररूपमें स्थित पुद्गलद्रव्य सचित्त है । और जिस पुद्गलमें चित्त अर्थात् आत्मा नहीं है वह अचित्त है । सचित्त और अचित्त पुद्गलको समूह मिश्र है । जीवके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जिनमें जीव वर्तमान है उन पृथिवी, जल, आग, वायु और वनस्पतिको सचित्त कहते हैं । जीवके द्वारा त्यागे हुए शरीरको अचित्त कहते हैं । इन सचित्त अचित्तको लेकर क्षेत्र प्रतिसेवना, काल प्रतिसेवना और भाव प्रतिसेवना लगा लेना चाहिए । इन प्रतिसेवनाके निमित्तसे हुए सब सूक्ष्म और स्थूल दोषोको यथाक्रम यदि नहीं कहता तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि नहीं करते । आगममें कहा है—

'जो पुरुष सरल भावसे अपने दोष कहते हैं वे प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य होते हैं । और जिनके विषयमें शका ही वे प्रायश्चित्त देनेके योग्य नहीं है ।'

अतः सब अतिचारोको कहने वालेके ही सरलता होती है । उसीको प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥६१९॥

गा०—प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारोको क्रमानुसार यदि कहता है तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते हैं ॥६२०॥

यतिके निर्दोष आलोचना करने पर आचार्यको क्या करना चाहिए ? ऐसी आशका करने पर उसे कहते हैं—

१. तयोष्पादान क्षेत्रादि प्रतिसेवना योज्या—आ०मु० । २. जदि णाकुटिदि—अ० । ३. पावहि अ० ।

४. आउंटेदि अ० ।

'क्षयमेण सम्मं आलोचिदग्निं' क्षपकेन सम्यगालोचते । 'छेदसूत्रञ्च सूत्रि स' । 'तो' पश्चात् । 'आगम्यमीसं' आगमविचार । 'करेबि' करोति । कथं ? 'सुते य अन्धे य' सूत्रे च अर्थे च । इदं सूत्रं अस्य चागमर्थं इति अपराधस्वीकृतस्य इदं प्रायश्चित्तमनेन सूत्रेण चेद निदिष्ट इति प्राप्तिरूप-  
यति ॥६२१॥

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीय किमर्थमित्यत आह—

पडिसेवादो हाणी वड्डी वा होइ पावकम्मस्स ।

परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिच्चा व मंदा वा ॥६२२॥

'पडिसेवावो जातस्स पावकम्मस परिणामेण हाणी वड्डी वा होइ' । कीदृशो ? तिच्चा वा मन्दा वा इति पदघटना । प्रतिसेवनातो जातस्य पापकर्मण परिणामेन पाश्चात्त्येन करणेन हानिर्वा वृद्धिर्वा भवति । तीव्रा हानिस्तीव्रा वृद्धि । मन्दा वा हानिमन्दा वा वृद्धि ॥६२२॥

तदुभयव्याख्यानाय गाथाद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंकलिद्धो गालेइ गुणे णवं च आदियदि ।

पुव्वकदं व ददं सो दुग्गादिभ'वबंधणं कुणदि ॥६२३॥

'सावज्जसंकलिद्धो' सावद्य<sup>१</sup>सकलेशो द्विप्रकार । सह अवद्येन पापेन वर्तत इति सावद्य एक । अन्यस्तु सकलेशचित्तबाधा । न तु सावद्य । ज्ञान विमल किं मम न जायते, सम्पूर्णं चारित्र शरीर वा किमर्थमिदमति-

गा०—क्षपकके द्वारा सम्यक् आलोचना करने पर छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता आचार्य सूत्र और उसके अर्थको लेकर आगमका विचार करता है कि यह सूत्र है और इसका यह अर्थ है । इस प्रकारके अपराधका यह प्रायश्चित्त इस सूत्रमे कहा है, ऐसा पहले विचार करता है ॥६२१॥

दोषके अनुसार प्रायश्चित्तका विचार करने वाले आचार्यको अतिचारके समय तथा उसके बाद होने वाले क्षपकके परिणामोका भी विचार करना चाहिए क्योकि—

गा०—प्रतिसेवना अर्थात् असयम आदिका सेवन करनेसे उत्पन्न हुए पापकर्मकी पीछे हुए शुभ या अशुभ परिणामोंसे तीव्र हानि अथवा तीव्र वृद्धि, मन्द हानि अथवा मन्द वृद्धि होती है । अर्थात् असंयम सेवन करते समय जैसे तीव्र अशुभ परिणामसे तीव्र पाप बन्ध और मन्द अशुभ परिणामसे मन्द पापबन्ध हुआ था वैसे ही आलोचनाके पश्चात् तीव्र शुभ परिणाम होनेसे पापकी तीव्र हानि और मन्द शुभ परिणाम होनेसे पापकी मन्द हानि होती है इसका विचार भी आचार्य करते है ॥६२२॥

इन दोनों का व्याख्यान आगे दो गाथाओंसे करते है—

गा०—टी०—सावद्य सकलेश दो प्रकारका है । एक वह जो अवद्य अर्थात् पापके साथ होता है । दूसरा सकलेश है चित्तकी बाधा । वह सावद्य रूप नहीं होता । जैसे मेग ज्ञान निर्मल क्यो

१ भयवषण—मूलारा० ।

२. सावद्यसंकलेशसहित. कलेशो—आ० ।

दुर्बलं तपोयोगासहमिति एवमादिकस्तत्रिरासाय सावद्यविशेषणं सावद्यसंक्लिष्टं । 'गालेवि गुणे' गालयति गुणान् दर्शनज्ञानचारित्राणि । 'णवं च आरिषयि' कर्म च आदत्ते अभिनव । 'पुष्ककवं च वडं कुणवि' पूर्वोर्जितं च वृद्धीकरोति कषायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिबन्धस्य । 'बुग्माविभयकारणं' दुर्गतय नारकत्वाद्य विचित्रवेदनासहस्रसकुलास्तासु भय वर्द्धयति, यत्कर्मशुभ तदादत्ते स्थिरयति ॥६२३॥

**पडिसेवित्ता कोई पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो ।**

**संवेगजणित्दकरणो देसं धाएज्ज सव्वं वा ॥६२४॥**

'पडिसेवित्ता कोई' कश्चित्कृतासयमादिसेवनोऽपि । 'पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो' पश्चात्तापेन दह्यमान-चित्त । 'संवेगजणित्दकरणो' संसारभीष्टानजितसयमनक्रिय । 'देसं सव्वं वा धाएज्ज' आत्माभिनवसंचितकर्म-पुद्गलस्कन्धैकदेशनिर्जरा वा करोति, समस्त वा तद् धातयेत् । यदि मध्यमो मन्दो वा परिणामो देशं धातयति । अथ तीव्र समस्त इति भावः ॥६२४॥

**तो णच्चा सुत्तविद् णालियधमगो व तस्स परिणामं ।**

**जावदिएण विसुज्झदि तावदियं देदि जिदकरणो ॥६२५॥**

'तो' तस्मात् । 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'सुत्तविद्' प्रायश्चित्तसूत्रज्ञः सूरि । किं ? 'तस्स परिणामं' कृता-पराधस्य परिणाम । कथं परकीय परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहवामेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिकं सुज्ञात-मेव तत्कार्योपलम्भात्, तमेव वा परिपृच्छय, कीदृग्भवत् परिणामोऽजितचारसमकालं वृत्त इति । किमिव ? 'णालि-यधमगो' नालिकया यो धमति सुवर्णकारः सोऽग्नेर्बलाबलं विदित्वा घनन करोति, एव सूरिरपि अस्य कर्म तनुतर महद्वेति विदित्वा । 'जावदिणेण' यावता प्रायश्चित्तने । 'विसुज्झदि' विशुद्धयति । 'तावदियं' तावत्परि-माणं प्रायश्चित्तं अन्यं महदा । 'देदि' ददाति । 'जिदकरणो' परिचित्तप्रायश्चित्तदानक्रिय ॥६२५॥

नहीं होता ? या मेरे सम्पूर्णं चारित्र्यं क्यों नहीं है ? मेरा शरीर क्यों इतना दुर्बल है कि तपोयोग-को सहन नहीं करता ? इत्यादि सकलेश चित्त बाधारूप है । उससे अलग करनेके लिए सावद्य विशेषण देकर 'सावद्य संक्लिष्ट' कहा है । यह सावद्य सकलेश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य गुणोंका नाश करता है । नवीन कर्मका बन्ध करता है । पूर्व संचित कर्मोंको दृढ करता है । क्योंकि स्थिति बन्ध कषाययुक्त परिणामके निमित्तसे होता है । नाना प्रकारके हजारा वेदनाओंसे व्याप्त नारक आदि दुर्गतियोंके भयको बढ़ाता है । अशुभ कर्मको स्थिर करता है ॥६२३॥

गा०-टी०—कोई असयम आदिका सेवन करके भी पश्चात्तापके द्वारा अपने चित्तको जलाता है अर्थात् उसे अपने कर्म पर पश्चात्ताप होता है और वह संसारसे भयभीत होकर सयमका पालन करता है । तब वह अपने द्वारा संचित नवीन कर्म पुद्गल स्कन्धोंके एक देशकी निर्जरा करता है अथवा समस्त कर्म पुद्गल स्कन्धका घात करता है । यदि परिणाम मध्यम या मन्द होते हैं तब एक देशकी निर्जरा करता है । और तीव्र होते हैं तो समस्तका घात करता है ॥६२४॥

गा०-टी०—अतः प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता और प्रायश्चित्त देनेकी क्रियासे परिचित्त । आचार्य उस अपराधी भिक्षुके परिणामोको जानकर जितने प्रायश्चित्तसे उसको विशुद्धि हो उतना ही थोड़ा या बहुत प्रायश्चित्त देते हैं । जैसे सुवर्णकार आगका बलाबल जानकर तदनुसार उसे धौकनी से धौकता है । उसी प्रकार आचार्य भी उसका अपराध थोड़ा या बहुत है यह जानकर प्रायश्चित्त देते हैं । दूसरेके परिणाम आचार्य कैसे जानते हैं ? इसका उत्तर है कि साथ रहनेसे यह

आउब्बेदसमत्ती तिगिछिदे मदिविसारदो वेज्जो ।

रोगादंकाभिहदं जह गिरुजं आदुरं कुणइ ॥६२६॥

‘आउब्बेदसमत्ती’ निज्जातसमस्तायुर्वेद । ‘तिगिछिदे’ चिकित्साया । ‘मदिविसारदो’ बुद्धथा निपुण । ‘वेज्जो’ वैद्य । ‘रोगादंकाभिहदं’ महता अल्पेन वा व्याधिना पीडित । ‘आदुरं’ व्याधत । ‘जह’ यथा । ‘गिरुजं कुणवि’ विशुद्धं करोति ॥६२६॥

एवं पवयणसारसुयपारगो सो चरित्तसोधीए ।

पायच्छित्तविदण्हू कुणइ विसुद्धं तयं खवयं ॥६२७॥

‘एवं पवयणसारसुयपारगो’ प्रवचने यत्सारभूत श्रुतं तस्य पारगत । ‘पायच्छित्तविदण्हू’ प्रायश्चित्त-  
क्रमज्ञ । ‘चरित्तसोधीए’ चारित्र्यशुद्धया । ‘तयं खवयं’ तत्र क्षपकं । ‘विसुद्धं कुणवि’ विशुद्धं करोति ॥६२७॥

स्थविरं व्यावर्णितगुणे असत्यन्योऽपि भवति निर्वापक इति शङ्काया कथयति—

एदारिसंमि बेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए ।

होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जदणाए ॥६२८॥

‘एदारिसंमि’ व्यावर्णितगुणे । ‘बेरे’ स्थविरं अविद्यमाने । ‘गणत्थे’ गणस्थे । ‘तहा’ तथा । ‘उवज्झाए’ उपाध्याये वाऽस्मति । ‘होदि’ भवति । ‘गिण्जवओ’ निर्वापक । ‘पवत्ती’ प्रवर्तक । ‘थेरो’ स्थविरविवरप्रव-  
जितो मार्गज्ञो । ‘गणधरवसहो य’ बालाचार्यो वा । ‘जदणाए’ यत्नेन प्रवर्तमान । एवमालोचनाया गुणदोष-  
निरूपणा समाप्ता ॥६२८॥

सो कदसामाचारी सोज्झं कटटुं विधिणा गुरुसयासे ।

विहरदि सुविसुद्धप्पा अब्भुज्जदचरणगुणकंखी ॥६२९॥

‘सो कदसामाचारी’ स क्षपक कृतसमाचार । ‘सोज्झं’ शुद्धि । ‘कटटुं’ कृत्वा । ‘विधिणा’ विधिना ।

ज्ञात हो जाता है कि यह तीव्र क्रोधी या तीव्र मानी है । अथवा उसीसे पूछनेसे कि दोष करते समय आपके परिणाम कैसे थे, ज्ञात हो जाता है ॥६२९॥

गा०—अथवा जैसे समस्त आयुर्वेदका ज्ञाता और चिकित्सामे निपुण बुद्धि वाला वैद्य महती अथवा अल्प व्याधिसे पीडित रोगीको नीरोग करता है ॥६२६॥

गा०—उसी प्रकार प्रवचनके सारभूत श्रुतका पारगामी और प्रायश्चित्तके क्रमका ज्ञाता आचार्य चारित्र्यकी शुद्धिके द्वारा उस क्षपकको विशुद्ध करता है ॥६२७॥

उक्त गुणवाला आचार्य न होने पर क्या अन्य भी निर्वापक हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं—

गा०—उक्त गुणवाले आचार्यके तथा उपाध्यायके संघमें न होने पर सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला प्रवर्तक अथवा स्थविर अथवा बालाचार्य निर्वापक होता है । जो अल्प शास्त्रज्ञ होते हुए भी सर्व संघकी मर्यादा चर्याको जानता है उसे प्रवर्तक कहते हैं । जिसे दीक्षा लिए बहुत काल बीत गया है तथा जो मार्गको जानता है उसे स्थविर कहते हैं ॥६२८॥

‘गुह्यसाते’ गुह्यमीपे । ‘विहरवि’ प्रवर्तते । ‘सुखिसुदृष्या’ सुष्टु विभुद्धारमा । ‘अभ्युज्ज्वलनगुणकंसो’ अभ्यु-  
द्यतचारित्रगुणकाक्षासमन्वितः ॥६२९॥

**एवं वासारसे फासेदूण विविषं तवोकम्मं ।**

**संधारं पडिवज्जदि हेमते सुहविहारम्मि ॥६३०॥**

‘एवं वासारसे’ वर्षकाले ‘फासेदूण’ स्पृष्ट्वा । ‘विविष’ नानाप्रकीरं । ‘तवोकम्मं’ तपःकर्म । ‘संधारं’  
संस्तरं । ‘पडिवज्जदि’ प्रतिपद्यते । ‘हेमते’ शीतकाले । ‘सुहविहारम्मि’ सुखविहारे । अनशने समुद्यतस्य  
महान्परिश्रमो न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते ॥६३०॥

**सव्वपरियाइयस्स य पडिवकमित्तु गुरुणो णिओणेण ।**

**सव्वं समारुहत्ता गुणसंभारं पविहरिज्जा ॥६३१॥**

‘सव्वपरियाइयस्सय’ सर्वस्य ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायस्य अतिचारान् । ‘पडिवकमित्तु’ प्रतिनिवृत्तो  
भूत्वा । ‘गुरुणिओणेण’ गुरुपदेनेन । ‘गुणसंभारं’ गुणाना समूह । ‘सव्वं’ कृत्स्न ‘समारुहत्ता’ सम्यगारुह्य ।  
‘पविहरिज्ज’ प्रवर्तते । आलोचनागुणदोषा ॥६३१॥

कीदृशी वसतियोग्या का वा नेत्येतद्व्याचष्टे उत्तरेण ग्रन्थेन तथा योग्या निरूपयति—

**गंधव्वणट्टज्जट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य ।**

**णत्तियरजया पाडहियडोबणडरायमग्गे य ॥६३२॥**

‘गंधव्वणट्टज्जट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य’ गायकाना, नर्तकाना, गजानामश्वाना च शालाया, तिष्ठ-  
मर्दनकुम्भकारशालाया च यन्त्रशालाया रजकपाटहिकडोबनट्टगृहाणा समीपे । राजमार्गस्य वा समीपभूताया  
वसती ॥६३२॥

गा०—वह क्षपक सामाचारी करके विधिपूर्वक प्रायश्चित्त द्वारा अपने दोषोकी विशुद्धि  
करता है । और अच्छी तरहसे आत्माको विशुद्ध करके स्वीकृत चारित्र्यमे गुणोकी इच्छा करता  
हुआ गुरुके पासमे साधना करता है ॥६२९॥

गा०—इस प्रकार वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतुमें  
संस्तरका आश्रय लेता है । हेमन्त ऋतुमे अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नहीं होता, सुख-  
पूर्वक हो जाता है इसलिए उसे सुखविहार कहा है ॥६३०॥

गा०—समस्त ज्ञान दर्शन और चारित्र्यके अतिचारोसे शुद्ध होकर, गुरुके उपदेशसे समस्त  
गुणोके समूहको धारण करके क्षपकको समाधि मरणमे लगना चाहिए ॥६३१॥

आगे कौन वसतिका योग्य है और कौन अयोग्य है यह कहते हैं । प्रथम अयोग्यका कथन  
करते हैं—

गा०—गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, शंख  
ह्रायी दाँत आदिका काम करने वालेका स्थान, कोलिक, धोबी, बाजा बजाने वाले, डोम, नट  
और राजमार्गके समीपका स्थान ॥६३२॥

चारणकोट्टकल्लालकरकचे पुष्पदयसमीपे य ।

एवंविधवसवीए होज्ज समाधीए वाषादो ॥६३३॥

‘चारणकोट्टकल्लालकरकचे’ चारणकोट्टकशालाया, रजकशालायां, रसवणिकशालाया । पुष्पवाटस्य वा जलाशयस्य वा समीपभूताया । ‘एवंविधवसवीए’ इदृश्या वसती वसत । ‘होज्ज वाषादो’ भवति व्याघात । कस्य ? ‘समाधीए’ समाधेद्विजतैकान्यस्य । इन्द्रियविषयाणा मनोज्ञाना शब्दाना रूपादीना च मन्निधानाच्छब्दबहुलत्वाच्च ध्यानविघ्नो भवतीति प्रतिषिध्यते व्यावणिता वसति ॥६३३॥

बव तर्हि कथं तिष्ठत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पंचिदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जर्हि णत्थि ।

चिद्धदि तर्हि तिगुत्तो ज्झाणेण सुहप्पवत्तेण ॥६३४॥

‘पंचिविप्ययारो’ पञ्चानामिन्द्रियाणां स्वविषयाभिमुख्येनावरात् प्रकृष्ट गमन । ‘जर्हि’ यस्या वसती नास्ति । कीदृमिन्द्रियप्रचारो ‘मणसखोभकरणो’ मन मशोभकारी । ‘तर्हि’ तस्या वसती । ‘चिद्धि’ तिष्ठति । ‘तिगुत्तो’ कृतमनोवाचकायसरक्षक । ‘ज्झाणेण’ ध्यानेन । ‘सुहप्पवत्तेण’ सुखप्रवृत्तेन ॥६३४॥

मन मशोभहेतुं पञ्चानामिन्द्रियाणा प्रचारो यस्या वसती नास्ति तस्या सर्वस्या तिष्ठति न वेत्याचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु ।

वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥६३५॥

‘उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए’ उद्गमोत्पादनैषणादोषरहिताया । ‘अकिरियाए हु’ आत्मानमृद्ध्य उपलेपनमार्जनक्रियारहिताया । ‘वसइ’ वसति आस्ते । ‘असंसत्ताए’ तत्रस्थैरागन्तुकैश्च सर्वैर्वाजिताया ।

गा०—टी०—चारणशाला, पत्थरका काम करनेवालोका स्थान, कलालोका स्थान, आरासे चीरने वालोका स्थान, पुष्पवाटिका, मालाकारका स्थान, जलाशयके समीपका स्थान वसतिके योग्य नहीं है । ऐसी वसतिकामे रहनेसे समाधिका व्याघात होता है । इन्द्रियोंके विषय मनोज्ञ शब्द रूप आदिके सम्बन्धसे तथा शब्दोकी बहुलता—होहल्लेने ध्यानमे विघ्न होता है । इसलिए ऊपर कही वसतिकाओका निषेध किया है ॥६३३॥

तब कहाँ रहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जहाँ मनको सशोभ करने वाला पाँचों इन्द्रियोंका अपने विषयोंमे उत्सुकतापूर्वक गमन संभव नहीं है उस वसतिकामें साधु क्षपक मन वचन कायको गुप्त करके, सुखपूर्वक ध्यान करता हुआ निवास करता है ॥६३४॥

मनको सशोभका कारण.पाँचों इन्द्रियोंका विषयोंमे गमन जहाँ नहीं है ऐसी सब वसतिकाओमें क्या निवास करता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो वसति उद्गम उत्पादन और एषणा दोषसे रहित होती है, अपने उद्देशसे जिसमें लिपाई पुताई आदि नहीं कराई गई है जिसमें उसी वसतिकामें रहने वाले तथा बाहरसे



'शिप्याहुडिगाए' सस्काररहिताया । 'सेवत्राए' वसती ॥६३५॥

निर्दोषा वसतिस्ताहि का आश्रयितव्या इत्यत्र वसति व्यावर्णयति—

सुहृणिकस्रवणपवेसणघणाओ अवियडअणंधयाराओ ।

दो तिण्णि वि 'वसधीओ वेसव्वाओ विसालाओ ॥६३६॥

'सुहृणिकस्रवणपवेसणघणाओ' अवलेशप्रवेशनिर्गमन'घना । 'अवियडअणंधयाराओ' अविमृतद्वारा अनन्धकाराएच जघन्यतो द्वे गाले ग्राह्ये । एकत्र क्षपको वसति, अन्यस्या अन्ये यतयो बाह्यजनाएच धर्मप्रवर्णार्थमायाता । विदूतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्त्वगस्थिमात्रतनोर्दुस्सह दु ख स्यात् । शरीरमलत्यागोऽपि कथमप्रच्छन्ने क्रियेत । अन्धकारबहुले असंयम स्यात् । असुखनिष्क्रमणप्रवेशनाया आत्मविराधना सयमविराधना च ॥६३६॥

अन्यच्चाचष्टे—

घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालबुड्डगणजोग्गे ।

उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णघरे ॥६३७॥

'घणकुड्डे' दुबकुड्डये । 'सकवाडे' कपाटसहिते । 'गामबहिं' ग्रामबाह्ये देशे । 'बालबुड्डगणजोग्गे' बालाना वृद्धाना गणस्य चतुर्विधस्य योग्ये उद्यानगृहे । 'गुहाए' गुहाया । वा 'सुण्णघरे' शून्यगृहे वा । 'संघारो होविति' क्रियापदाभिःसम्बन्धः ॥६३७॥

आने वाले प्राणी आकर वास नहीं करते, तथा जो सस्कार रहित वसति है उसमे साधु निवास करते है ॥६३५॥

तब कैसी निर्दोष वसतिमें रहना चाहिए, इसके उत्तरमे वसतिका वर्णन करते है—

गा०—टी०—जिसमे विना कष्टके सुखपूर्वक प्रवेश और निर्गमन होता हो, जिसका द्वार खुला न हो तथा जिसमे अन्धकार न हो । ऐसी दो अथवा तीन विशालवसतिका ग्रहण करनी चाहिए । जघन्यसे दो वसति लेना चाहिए । एकमे क्षपक रहता है । दूसरीमे अन्य यति और धर्म मुननेके लिए आये बाह्यके आदमी रहते है । [यदि तीन ग्रंण करते है तो एकमे क्षपक, एकमें अन्य यति और एकमे धर्मोपदेश होता है] यदि वसतिका द्वार खुला हो तो शीतवायु आदिके प्रवेशसे हाडचाममात्र शेष रहे क्षपकको दुःसह दु ख होता है । खुले स्थानमे वह मलमूत्रका त्याग भी कैसे करेगा ? अन्धेरी वसतिमे असंयम होगा— जीवजन्तु दृष्टिगोचर नहीं होंगे । सुखपूर्वक आना जाना सम्भव न होनेसे अपनी भी विराधना होती है और सयम की भी विराधना होती है ॥६३६॥

और भी कहते है—

गा०—जिसको दीवार मजबूत हो, कपाट सहित हो, गाँवके बाहर ऐसे प्रदेशमे हो जहाँ बच्चे बूढ़े और चार प्रकारका संघ जा सकता हो, ऐसी वसतिमें, उद्यानघरमे, गुफामें अथवा शून्यघरमे क्षपकका सथरा होता है ॥६३७॥

१. शालाओ—मु० । २. मना अपि—आ० मु० ।

आगतुषरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो ।  
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥६३८॥

‘आगतुषरादीसु वि’ आगन्तुकैः स्कन्धावारायातं सार्थिकं कृतेषु गृहादिषु ‘संधारो होविति’ वक्ष्यमाणेन सम्बन्ध । उक्ताना वसतीनामलाभे ‘कडएहिं खवयस्सोच्छागारो कावडव्वो’ कटकैः क्षपकस्य अवस्थितये प्रच्छादन कार्यं । ‘धम्मसवणमंडवादी य’ धर्मश्रवणमण्डपादिक च । अनेन बहुतरासयमनिमित्तवसतित्यागः, सधमसाधनवसतिविकल्पश्च कथित । सेज्जा ॥६३८॥

एवंभूताया वसती सस्तर इत्थंभूत इत्याकष्टे—

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो ।  
होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अह व पुव्वसिरो ॥६३९॥

‘पुढवीसंधारो होवि’ पृथ्वीसस्तरो भवति । ‘सिलामओ वा’ शिलामयो वा । ‘फलकमओ वा’ फलकमयो वा । ‘तणमओ वा’ तणमयो वा ‘समाधिणिमित्तं’ समाध्यर्थं । ‘उत्तरसिरमव पुव्वसिर’ पूर्वोत्तमाग उत्तरोत्तमागो वा सस्तर कार्यं । प्राची दिग्गम्युदयिकेषु कार्येषु प्रगमता । अथवोत्तरा दिक् स्वयंप्रभाङ्गुत्तरदिग्गततीर्थकरभक्त्युद्देशेन ॥६३९॥

भूमिसंस्तरनिरूपणाय गाथा—

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ।  
असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंधारो ॥६४०॥

‘अघसे’ अमृद्धौ । ‘समे’ अनिमोन्नता । ‘असुसिरे’ असुषिरा ‘अविला’ । ‘अहिसुया’ उद्देहिकारहिता । ‘अप्पपाणे’ निर्जन्तुका । ‘असिणिद्धे’ अनार्द्रा । ‘घणगुत्ते’ घना गुप्ता । ‘उज्जोवे’ उच्चोत्तवती भूमि

गा०—सेनाके पडावके साथ आये हुए व्यापारियोंके द्वारा बनाये गये घरोंमें और आदि शब्दसे इस प्रकारके श्रमणोंके योग्य उद्यानगृह आदिमें क्षपकका सन्धरा करना चाहिए । उक्त प्रकारकी वसतियोंके न मिलनेपर क्षपकके रहनेके लिए बांसके पत्तोंसे आच्छादित और प्रकाशके लिए झीरी सहित घर बना देना चाहिए । तथा धर्म सुननेके लिए मण्डप आदि भी बना देना चाहिए । इससे बहुत असयममें निमित्त वसतिका त्याग और सयममें साधन वसतिका निर्माण कहा ॥६३८॥

गा०—इस प्रकारकी वसतिमें इस प्रकारका सस्तर होना चाहिए, यह कहते हैं—समाधिके निमित्त संथरा पृथिवीमय, या शिलामय या फलकमय—लकडीका, अथवा तृणोका होता है । उसका सिर उत्तर की ओर अथवा पूरब की ओर होना चाहिए, क्योंकि लोकमें मांगलिककार्योंमें पूरब दिशा अच्छी मानी जाती है उसीमें सूर्यका उदय होता है । अथवा उत्तर दिशामें विदेह क्षेत्रमें स्थित तीर्थकरोंके प्रति भक्ति प्रदर्शित करनेके उद्देशसे उत्तरदिशा भी शुभ मानी जाती है ॥६३९॥

पृथ्वीमय संस्तरका कथन करते हैं—

गा०—टी०—जो भूमि कठोर हो, ऊँची नीची न हो, सम हो, छिद्र रहित हो, चींटी आदिसे

'भूमिसंधारो' भूमिसंस्तरः । मृदी भूमिर्बाध्यते गात्रकरचरणमर्दनेन । असमाने तदात्मनो बाधा । सुषिरे बिले वा प्रविष्टा निर्गतास्तत्रस्थाः पीडयन्ते । आर्द्रा बेल्ल्यामिकाना पीडा । अनुद्योते अपश्यत कथमसयमपरिहारः । अन्ये तु सप्तम्यन्तता व्याचक्षते । अमृद्वर्षा अनिभोन्नतायामसुषिराया इति तदयुक्त । आधेयस्य सस्तरस्य अन्यस्याभावात् । अपि च पुढवी सिलामओ वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया संस्तरस्योक्ते ॥६४०॥

विद्वत्थो य अफुडिदो णिक्कंपो सव्वदो अससत्तो ।

समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संधारो ॥६४१॥

विद्वत्थो य विध्वस्त दाहात्कृत्नाद्धर्षणाद्वा । 'अफुडिदो' अस्फुटितः । 'णिक्कंपो' निश्चल । 'सव्वदो' समन्तात् । 'असंसत्तो' जीवरहित । पाषाणमत्कुणादिरहित इति यावत् । 'समपट्ठो' समपृष्ठः । 'उज्जोव' उद्योते । 'सिलामओ होवि संधारो' शिलामयो भवति संस्तर ॥६४१॥

भूमिसमरुंदलहुओ अकुक्कुचोकंग' अप्पमाणो य ।

अच्छिदो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंधारो ॥६४२॥

'भूमिसमरु बलहुयो' भूम्यवलग्न, महान् लघु । 'अकुक्कुचोगि अप्पमाणो य' अचल, एकशरीर, निर्जन्तुक । 'अच्छिदो य' अच्छिद्र । 'अफुडिदो' अस्फुटित । 'लण्हो' मसृण । 'फलसंधारो' फलक-संस्तर ॥६४२॥

रहित हो, जन्तुरहित हो, क्षपकके शरीरके बराबर प्रमाणवाली हो, गीली न हो, मजबूत और गुप्त हो, प्रकाशमहित हो वही भूमि संस्तररूप होती है । कोमल भूमि शरीर हाथ पैरके दबावसे दब जाती है । ऊँची-नीची भूमिमें क्षपकको कष्ट होता है । बिल होनेसे उनमें रहनेवाले या उनसे निकलनेवाले जीवोंको पीड़ा होती है । गीली होनेसे जलकायिक जीवोंको पीडा पहुँचती है । प्रकाशरहित भूमिमें कुछ दिखाई न देनेसे असयमसे बचाव नहीं होता ।

अन्य व्याख्याकार उक्त शब्दोंकी सप्तमी विभक्तिपरक व्याख्या करते हैं कि कठोर भूमिमें, छिद्ररहितमें संस्तर होना चाहिए आदि । किन्तु यह युक्त नहीं है क्योंकि आधेय संस्तर भूमिसे भिन्न नहीं है भूमि ही संस्तररूप होती है । तथा 'पुढवीसिलामओवा' गाथाके इस पदसे संस्तरको पृथ्वीरूप कहा है ।

विशेषार्थ—यदि भूमिमें चीटी आदिका वास होता है तो सन्यासकालमें वे क्षपकको काट सकती हैं । जन्तुसहित होनेपर प्राणिसयमकी विराधना होती है । क्षपकके शरीरके प्रमाणसे अधिक होनेपर व्यर्थ प्रतिलेखना आदि करना होती है । शरीरके प्रमाणसे कम होनेपर क्षपकको शरीर सकोचनेसे दुःख होता है । यदि भूमि दृढ न हो तो शरीरके भारसे दबनेपर उसके अन्दर जन्तु हो तो उन्हें बाधा होती है और क्षपकको भी कष्ट होता है । प्रकट भूमि होनेपर मिथ्या-दृष्टिजनोका सम्पर्क होता है ॥६४०॥

गा०—शिलामय संस्तर आगसे, कूटनेसे अथवा घिसनेसे प्राप्त हुआ हो, टूटा-फूटा न हो, निश्चल हो, सब ओरसे जीवरहित हो, अर्थात् पत्थरमें रहनेवाले खटमल आदिसे रहित हो । समतल हो, ऊँचा-नीचा न हो । प्रकाशयुक्त हो । ऐसा शिलामय संस्तर होता है ॥६४१॥

गा०—फलकसंस्तर सब ओरसे भूमिसे लगा हो, विस्तीर्ण हो, हलका हो, उठाने लाने ले

गिस्संधी य अपोन्लो गिरुबहदो समधिवास्सणिज्जतु ।  
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥६४३॥

'गिस्संधी य' ग्रन्थिरहित । 'अपोन्लो' अच्छिद्रः । 'गिरुबहदो' निरुपहत अर्चुणित । समधिवास्स-  
णिज्जन्तु मृदुस्पर्शो निजन्तुकश्च । 'सुहपडिलेहो सुखेन प्रतिलेखनीय सुखेन शोध्य इति यावत् । 'मउओ'  
मृदु । तणसंथारो हवे चरिमो' तृणसस्तरो भवेदन्य ॥६४३॥

जुत्तो पमाणरहओ उभयकालपडिलेहणासुद्धो ।  
विधिविहियो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥६४४॥

'जुत्तो' युक्तो योग्य । 'पमाणरहओ' प्रमाणसमन्वितः । नात्यल्पो नातिमहान् । 'उभयकालपडि-  
लेहणासुद्धो' सूर्योदयास्तमनकालद्वये प्रतिलेखनेन शुद्ध । 'विधिविहियो संथारो' शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतमस्तरः ।  
'आरोहव्वो' आरोहव्य । केन ? 'तिगुत्तेण' त्रिगुप्तेन कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधेन ॥६४४॥

गिसिदित्ता अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिणंदमि गिज्जवए ।  
संथारम्मि गिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा ॥६४५॥

'गिसिदिता' स्थापयित्वा त्यक्त्वा । 'अप्पाणं' आत्मान । 'सव्वगुणसमण्णिणंदमि' सर्वगुणसमन्विते  
गिज्जवणे' निर्यापके । 'संथारम्मि' सस्तरः । 'गिसण्णो' निवण्णो । 'विहरदि' चेष्टते । 'सल्लेहणा विधिणा'  
सल्लेखना द्विप्रकारा बाह्याभ्यन्तरा चेति । द्रव्यसल्लेखना भावसल्लेखना च । आहार परिहाय शरीरसल्लेखना  
जानेमें सुकर हो, अचल हो—शब्द न करता हो, एकरूप हो, जन्तुरहित हो, छिद्ररहित हो,  
टूटा-फूटा न हो, चिकना हो । ऐसा फलक सस्तर होता है ॥६४५॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'अप्पाणो' के स्थानमें 'अपमाणो'  
पाठ रखकर उसका अर्थ पुरुष प्रमाण किया है अर्थात् फलक क्षपकके शरीरके प्रमाण होना  
चाहिए ॥६४५॥

गा०—तृणसस्तर गांठरहित तृणोसे बना हो, तृणोके मध्यमें छिद्र न हो, टूटे तृण न लगे  
हो, मृदुस्पर्शवाला हो, जन्तुरहित हो, सुखपूर्वक शुद्धि करनेके योग्य हो, और कोमल हो । ऐसा  
अन्तिम तृणसस्तर होता है ॥६४३॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजी ने अपनी टीकामें 'समधिवास्स' का अर्थ 'सम्यक्' रूपसे  
अधिवास करनेके योग्य' किया है अर्थात् जिसपर लेटनेसे खाज पैदा न हो ॥६४३॥

गा०—इस प्रकार मस्तर योग्य हो, प्रमाणयुक्त हो—न बहुत छोटा हो और न बहुत बड़ा  
हो, दोनों समय अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्तके समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध किया गया हो, और  
शास्त्रमें निर्दिष्ट क्रमके अनुसार बनाया गया हो । ऐसे सस्तर पर अशुभ मन वचन कायका  
निरोध करके क्षपकको आरोहण करना चाहिए ॥६४४॥

गा०—टी०—सर्वगुणोसे सम्पन्न निर्यापकाचार्य पर अपनेको समर्पित करके क्षपक सस्तर  
पर आरोहण करता है और सल्लेखनाकी विधिसे विचरता है । सल्लेखनाके दो प्रकार हैं—बाह्य  
और अभ्यन्तर । अथवा द्रव्य सल्लेखना और भावसल्लेखना । आहारको त्यागकर शरीरकी सल्ले-

करोति । सम्यग्दर्शनादिभावनाया मिथ्यात्वादिपरिणामास्तनुकरोति । 'एव वसतिस्तरोति एवं वसतिस्तरोति' इति रूपिती ॥६४५॥

निर्यापकान्तिरूपयति—

प्रियधम्मा ददुधम्मा संविग्गा बज्जभीरुणो धीरा ।

छंदण्ह पच्चइया पच्चस्साणम्मि य विदण्ह ॥६४६॥

'प्रियधम्मा' प्रियो धर्मो येषां ते भवन्ति प्रियधर्माणि । 'ददुधम्मा' धर्मं स्थिरा । 'संविग्गा' संविग्ना ससारभोरवः । 'बज्जभीरुणो' पापभीरवो । 'धीरा' वृत्तिमन्त्र । 'छंदण्ह' अभिप्रायज्ञा । 'पच्चइया' प्रत्ययिता । 'पच्चस्साणम्मि य विदण्ह' प्रत्याख्यानक्रमज्ञा । धर्मव्यतिरेकं तेन प्रियचारित्रा यतय । ततश्चारित्रे क्षपकमपि वर्तयितुमुत्सहन्ते तत्साहाय्यता च कुर्वन् । यद्यपि चारित्रेऽनुरागवन्तं सम्यग्दृष्टितया तथापि चारित्र-मोहोदयाददुधचारित्रा भवन्ति इति विशेषणभूपादत्ते ददुधचारित्रा इति । अदुधचारित्रा हि न असयमं परिहरेयुः । कस्मादसयमं परिहरन्ति पापभीरवो यस्मात् ? संविग्ना विचित्रव्यसननिघानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुला । धीरा इत्यनेन परोषहसहा इत्याख्यायते । परिषहै पराजितो न सयमं परिपालयतीति मन्यते । क्षपकेण अनुक्रमपि तदिङ्गानेनावगततत्प्रयोजना वैद्यावृत्त्ये वर्तन्ते । नानभिप्रायज्ञा इति दर्शयितुं छन्दण्ह इत्युक्तं । प्रत्ययितव्या गुरुधर्मा असयमं कुर्वन्ति क्षपके वैद्यावृत्त्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्याख्यानक्रमज्ञा ॥६४६॥

खना करता है । और सम्यग्दर्शन आदि भावनासे मिथ्यात्व आदि परिणामोको कुश करता है । इस प्रकार वसति और सस्तरका कथन किया ॥६४५॥

अब निर्यापकोका कथन करते हैं—

गा०—जिन्हे धर्म प्रिय है, जो धर्ममें स्थिर है, ससारसे भीरु है, पापसे डरते हैं, धैर्यवान् है, अभिप्रायको जानते हैं, विश्वासके योग्य हैं, प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं, ऐसे यति निर्यापक होते हैं ॥६४६॥

टी०—यहाँ धर्मसे चारित्रका अभिप्राय है । अतः निर्यापक यतियोको चारित्र प्रिय होता है । इससे वे क्षपकको भी चारित्रमें प्रवृत्ति करनेके लिए उत्साहित करते हैं और उसकी सहायता करते हैं । यद्यपि सम्यग्दृष्टि होनेसे यति चारित्रमें अनुराग रखते हैं तथापि चारित्र मोहका उदय होनेसे चारित्रमें दृढ नहीं होते । इसलिए 'दृढ चारित्र' विशेषण दिया है । जिनका चारित्र दृढ नहीं होता वे असयमका परिहार नहीं करते । पापभीरु होनेसे असयमका परिहार करते हैं क्योंकि वे विचित्र दुःखोकी खानरूप चार गतियोमें भ्रमणके भयसे व्याकुल होते हैं । तथा 'धीर' पदसे परोषहोका सहने वाले कहा है । जो परोषहोसे हार जाता है वह सयमका पालन नहीं करता ऐसा माना जाता है । क्षपकके न कहने पर भी उसके संकेत मात्रसे उसका अभिप्राय जानकर वैद्यावृत्त्ये प्रवृत्त होते हैं इसलिए निर्यापक अभिप्रायको न जानने वाले नहीं होते । यह बतलानेके लिए 'छंदण्ह' कहा है । तथा गुरुओके द्वारा विश्वास योग्य होते हैं कि ये असयम नहीं करते और क्षपककी वैद्यावृत्त्ये तत्पर रहते हैं । वे साकार और निराकार प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं । अर्थात् उक्त गुण युक्त होने पर भी जिन्होंने पहले किसी क्षपककी समाधि नहीं देखी है ऐसे यतियो-

कप्पाकण्णे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा ।

गीदत्त्वा भयवंतो अडदालीसं तु णिज्जवया ॥६४७॥

'कप्पाकण्णे कुसला' योग्यमिदमयोग्यमिति भक्तपानपरीक्षाया कुशला । 'समाधिकरणुज्जदा' क्षपक-  
चित्तसमाधानकरणीयता । 'सुदरहस्सा' श्रुतप्रायश्चित्तग्रन्था । 'गीदत्त्वा' गृहीतमूत्रार्था । भगवन्ते भगवन्त  
स्वपरोद्धरणमाहात्म्यवन्त । 'अडदालीसं तु' अष्टचत्वारिंशत्सख्या । 'णिज्जवया' नियामिका यतय ॥६४७॥

नियामिका इम इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनायोत्तरप्रबन्ध —

आमासणपरिमासणचंक्रमणसयण-णिसीदणे ठाणे ।

उच्चत्तणपरियत्तणपसारणा-उंटणादीसु ॥६४८॥

'आमासणपरिमासणचंक्रमणसयणणिसीदणे ठाणे' क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शन आमर्शन, समस्त-  
शरीरस्य हस्तेन स्पर्शन परिमर्शन । चंक्रमणमितस्तो गमन शयन । 'णिसीदणे ठाणे' निषङ्गास्थानमित्येतेषु ।  
'उच्चत्तणपरियत्तणपसारणाउंटणादीसु' उद्धर्तने पादवात्पाद्वान्तरसचरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आकुञ्चन-  
मित्यादिषु च ॥६४८॥

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिञ्चमाउत्ता ।

चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरन्ति ॥६४९॥

'संजदकमेण' प्रयत्नेनैव । 'खवयस्स' क्षपकस्य । 'देहकिरियासु' शरीरक्रियामु व्यावर्णितासु । 'णिञ्च'  
प्रतिदिन । 'आजुत्ता' आयुक्ता । 'चदुरो' चत्वारो यतय । समाधिकामा क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्त ।  
'ओलग्गंता' उपासना कुर्वन्त । 'पडिचरन्ति' प्रतिचारका भवन्ति ॥६४९॥

को गुरु क्षपककी परिचर्यामे नियुक्त नहीं करते । किन्तु जो विश्वस्त होते हैं उन्हें ही नियुक्त करते  
हैं ॥६४९॥

गा०—जो यह योग्य है और यह अयोग्य है इस प्रकार भोजन और पानकी परीक्षामे  
कुशल होते हैं, क्षपकके चित्तका समाधान करनेमे तत्पर रहते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त ग्रन्थोंको  
सुना है, जो सूत्रक अर्थको हृदयसे स्वीकार किये हैं, अपने और दूसरोंके उद्धार करनेके माहात्म्यसे  
शोभित है । ऐसे अडदालीस नियामक यति होते हैं ॥६४७॥

नियामक क्या-क्या करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—क्षपकके शरीरके एकदेशके स्पर्शन करनेको आमर्शन कहते हैं । और समस्त शरीर-  
का हस्तसे स्पर्शन करनेको परिमर्शन कहते हैं । इधर-उधर जानेको चंक्रमण कहते हैं । अर्थात्  
परिचारक मुनि क्षपकके शरीरको अपने हाथसे सहलाते हैं, दबाते हैं । चलने फिरनेमें सहायता  
करते हैं । सोने, बैठने, उठनेमें सहायता करते हैं । उद्धर्तन अर्थात् एक करबटसे दूसरी करबट  
लिवाते हैं । हाथ पैर फैलानेमें संकोचनेमें सहायता करते हैं ॥६४८॥

गा०—चार परिचारक यति मुनिमार्गके अनुसार क्षपककी ऊपर कही शारीरिक क्रियाओंमें  
प्रतिदिन लगे रहते हैं । वे क्षपककी समाधिकी कामना करते हुए उपासनापूर्वक परिचर्या करते  
हैं ॥६४९॥

‘चत्वारि जणा धम्मं कइति विकथाओ वज्जिता’ इति पदसम्बन्धः चत्वारो धर्मं कथयन्ति विकथाः परित्यज्य । कास्ता विकथा भवन्ति—

**भस्तिस्विरायजणवदकंदप्पत्थणइणद्धियकहाओ ।**

**वज्जिता विकहाओ अज्झप्पविराधणकरीओ ॥६६०॥**

‘भस्तिस्विराय जणवदकंदप्पत्थणइणद्धियकहाओ’ भक्त भज्यते सेव्यते इति भक्त चतुर्विधाहार । भक्तस्य, स्त्रीणां, राजा, जनपदानां रामोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्राशिष्टवाक्प्रयोग कन्दर्पं तस्य अर्थस्य, नटानां, नर्तकानां च या कथास्ता । ‘अज्झप्पविराधणकरीओ’ आत्मानमधि वर्तते इत्याध्यात्मिक । आत्मनस्तत्त्व-निश्चयनिरूपणं ध्यान (?) तस्य ‘विराधणकरीओ’ विराधनाकारिणी ॥६६०॥

कथं तहि कथयन्ति —

**अखलिदममिडिदमव्वाइट्टमणुच्चमविलंचिदममंदं ।**

**कंतममिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्त ॥६६१॥**

‘अवलिदं’ अस्खलित अन्यथा शब्दोच्चारण शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना । ‘अमि-विदं’ अनाम्रं इति । असमुग्ध । ‘अव्वाइट्टं’ अव्याहृत अप्रतिहृत प्रत्यक्षादिना । ‘अणुच्चं’ नातिमहद्वचनिसमेत । ‘अविलंबितं’ नातिशान्ति । ‘अमंदं’ नात्यल्पधोषं । ‘वत्त’ भोजनमनोहर । ‘अमिच्छामेलिदं’ मिथ्यात्वे-नानुमिश्र । ‘अणत्थहीणं’ अभिषेयशून्यं यन्न भवति । ‘अपुणरुत्तं’ उक्तस्य अविशेषेण भूयोऽभिधान पुनरुक्तं यथा तत्पौनरुक्तं न भवति ॥६६१॥

**णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पण्हादणिज्ज पत्थं च ।**

**चत्तारि जणा धम्मं कइति णिच्चं विचित्तकहा ॥६६२॥**

चार परिचारक मुनि विकथा त्यागकर धर्मकथा कहते है ऐसा आगे कहेंगे । यहाँ विकथाओ-को कहते है—

गा०—जो भोगा या सेवन किया जाता है वह भक्त है अर्थात् चार प्रकारका आहार । आहारकी कथा, स्त्रीकी कथा, राजाकी कथा, देशोंकी कथा । रागके उद्रेकसे हँसीसे मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्पं है । उसकी कथा, नटोंकी और नाचनेवालिओंकी कथा विकथा हैं । ये अध्यात्मकी विराधना करती है । जो आत्मासे मन्वद्ब हो उसे आध्यात्मिक कहते है । आत्म-तत्त्वेके यथार्थ कथनको अध्यात्म कहते है । ये कथाएँ उसका विघात करती है ॥६६०॥

गा०—टी०—वे मुनि अस्खलित धर्मकथा कहते हैं । कुछका कुछ शब्द बोलना शब्दस्खलन है । विपरीत अर्थ करना अर्थस्खलन है । इस स्खलनसे रहित कथा कहते है । एक बातको दुहराते नहीं । सन्देशमें डालनेवाला कथन नहीं करते । प्रत्यक्ष आदिसे अतिरुद्ध कथन करते हैं । बहुत जोरसे नहीं बोलते । न बहुत रुक-रुककर बोलते हैं । बहुत मन्द आवाजसे भी नहीं बोलते । कामोको प्रिय वचन बोलते है । मिथ्यात्वकी बात नहीं करते । ऐसी बात नहीं कहते जिसका कुछ अर्थ ही न हो । जो बात कही हो उसे ही पुनः कहना पुनरुक्त है । वे पुनरुक्त कथन नहीं करते ॥६६१॥

'गिद्ध' प्रिय । 'मधुर' ललितपदवर्णरचन । 'हृदयंगम' श्रोत्रहृदयानुप्रवेश । 'पल्हावहिष्ण पश्य च' सुखद पद्य च । 'कहंति' कथयन्ति 'गिच्छं' अनुपरत । 'विचित्रकहा' विचित्रकथा नानाकथाकुशला ॥६५२॥

कीदृशी क्षपकस्य कथा भणितव्या इत्यत्राचष्टे—

**खवयस्स कहेदव्वा दु सा कहा जं सुणिचु सो खवओ ।**

**जह्दिदविसोत्तिगभावो गच्छदि संवेगणिव्वेगं ॥६५३॥**

'खवयस्स' क्षपकस्य । 'सा कहा' सा कथा । 'कहेदव्वा' कथयितव्या । 'सो खवयो' असी क्षपकः । 'जं' या कथा । 'सुणिचु' श्रुत्वा । 'जह्दिदविसोत्तिगभावो' त्यक्ताशुभपरिणाम । 'गच्छदि संवेगणिव्वेगं' ससार-भीरुता शरीरभोगनिर्वेद च प्रतिपद्यते ॥६५३॥

**आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स ।**

**पावोग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥६५४॥**

आक्षेपणी, विवेकणी, सवेजनी, निर्वेजनी चेति चतस्र कथा । तासा मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्य-त्रोत्तर ब्रवीति । 'आक्खेवणी य' इति आक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतु, आख्यान्तु च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थः ॥६५४॥

तासा कथाना स्वरूपनिर्देशायोत्तर गाथाद्वय—

**आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ।**

**ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥६५५॥**

:आक्खेवणी कहा सा' सा आक्षेपणी कथा भण्यते । 'जत्थ' यस्या कथाया । 'विज्जाचरणमुवदिस्सदे' ज्ञान चारित्र्य चोपदिश्यते । एवभूतानि मर्यादीनि ज्ञानानि सामायिकादीनि वा चारित्र्येष्वेवस्वरूपाणि इति । 'ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम' या कथा स्वसमय परसमय वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी

गा०—नाना कथाओमे कुशल वे चार परिचारक यति प्रिय, मधुर अर्थान् ललितपद और वर्णवाली, श्रोताके हृदयमे प्रवेश करनेवाली सुखदायक हितकारी कथा निरन्तर कहते हैं ॥६५२॥

गा०—क्षपकको किस प्रकारकी कथा कहनी चाहिए, यह कहते हैं—क्षपकको ऐसी कथा कहनी चाहिए जिसे सुनकर वह अशुभ परिणामको छोड़े और मसारस तथा शरीरसे विरक्त होवे ॥६५३॥

गा०—चाह प्रकारकी कथाएँ होती है—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेजनी । इनमेंसे कौन योग्य है और कौन अयोग्य है ? इसका उत्तर देते हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी और निर्वेजनी कथा क्षपकके सुनने और कहनेके योग्य है किन्तु विक्षेपणी कथा योग्य नहीं है ॥६५४॥

आगे दो गाथाओसे उनका स्वरूप कहते हैं—

गा०—टी०—जिसमें ज्ञान और चारित्र्यका उपदेश हो उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं । यथा, मति आदि ज्ञान इस प्रकारके होते हैं अथवा सामायिक आदि चारित्र्यका ऐसा स्वरूप है ।

१. जह्दिदविसूत्तय भाव-अ० ।



अप्यते । सर्वथा नित्य, सर्वथा क्षणिक, एकमेवानेकमेव वा, सदेव असदेव वा, विज्ञानमात्रमेव । शून्यमेवेत्यादिकं परसमय पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोध प्रदर्श्य कथंचित् नित्य, कथंचिदनित्य, कथंचिदेकं, कथंचिदेकं, इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी ॥६५५॥

**संबेयणी पुण कहा णाणचरित्तववीरियइद्धिदग्गदा ।  
णिब्बेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोषे य ॥६५६॥**

'संबेयणी पुण कहा' संबेजनी पुन कथा । 'णाणचरित्तववीरियइद्धिदग्गदा' ज्ञानचारित्रतपोभावना जनितशक्तिसम्पन्नरूपणपरा । 'णिब्बेयणी पुण कथा' निर्वेजनी पुन कथा सा । 'सरीरभोगे भवोषे य' शरीरे, भोगे, भवसन्ततो च पराङ्मुखताकारिणी । शरीराप्यशुचीनि, रसादिसप्तधातुमयत्वात् शुक्रशोणितबीजत्वात्, अगुण्याहारपरिवर्द्धितत्वात् अशुचिस्थाननिर्गतत्वात् च । न केवलमशुष्यसारमपि अनित्यकायस्वभावा प्राणभूत इति शरीरतत्त्वश्रवणात्<sup>१</sup> । तथा भोगा दुर्लभा स्त्रीवत्स्त्रमन्थमाल्यभोजनादयो लब्धा अपि कथंचिन्न तृप्ति जनयन्ति । अलाभे तेषा, लब्धाना वा विनाशे शोको महानुदेति । देवमनुजभवावपि दुर्लभो, दुःखबहुलो अल्प-सुखो इति निरूपणात् । तथा ॥६५६॥

**विक्खेवणी अणुरदस्स आउगं जदि ह्वेज्ज पक्खीणं ।  
होज्ज असमाधिमरणं अप्पागमियस्स खवगस्स ॥६५७॥**

'विक्खेवणी अणुरदस्स' विक्षेपण्या परसमनिरूपणाया अनुरक्तस्य । 'आउगं' आयुर्कं । 'जदि ह्वेज्ज' यदि भवेत् । 'पक्खीणं' प्रक्षीण । 'होज्ज' भवेत् 'असमाधिमरणं' । 'अप्पागमियस्स खवगस्स' अल्पभूतस्य

जिस कथामे स्वसमय और परसमयकी चर्चा होती है वह विक्षेपणी है । वस्तु सर्वथा नित्य है, या सर्वथा क्षणिक है, अथवा एक ही है या अनेक ही है, अथवा सत् ही है या असत् ही है, अथवा विज्ञानमात्र ही है या शून्य ही है, इत्यादि परसमयको पूर्वपक्ष बनाकर प्रत्यक्ष अनुमान और आगममे उसमे विरोध दर्शाकर वस्तुको कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक इत्यादि स्वसमयका कथन करना विक्षेपणी कथा है ॥६५५॥

गा०—टी०—ज्ञान चारित्र और तपोभावनासे उत्पन्न शक्तिसम्पदाका निरूपण करनेवाली कथा संबेजनी है । शरीर भोग और भवसन्ततिकी ओरसे विमुख करनेवाली कथा निर्वेजनी है । जैसे, शरीर अशुचि है क्योंकि वह रस आदि सात धातुओंसे बना है, रज और वीर्य उसके बीज है । अशुचि आहारसे वह बढ़ता है और अशुचि स्थानसे निकलता है । शरीर केवल अपवित्र ही नहीं है वह निस्सार भी है, क्योंकि प्राणियोंका शरीर स्वभावसे अनित्य है ऐसा शरीरके विषयमे सुना जाता है । तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला, भोजन आदि दुर्लभ भोग किसी तरह प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नहीं देते । उनके प्राप्त न होनेपर अथवा प्राप्त होकर नष्ट होनेपर महान् शोक होता है । तथा देव और मनुष्यभवा भी दुर्लभ हैं, दुःखसे भरे हैं, सुख अल्प है । इस प्रकारका कथन निर्वेजनी कथा है ॥६५६॥

गा०—विक्षेपणी कथामें अनुरक्तदशामें यदि क्षपककी आयु समाप्त हो जाये तो अल्प-

१. सत्त्वाश्रयणात्—आ० म० ।

क्षपकस्य । यदेव पूर्वपक्षीकृतं दूषणाभिधानाय तदेव तत्त्वमित्यप्यवसायादसमीचीनज्ञानदर्शनस्य रत्नत्रयकाम्यं नास्तीति मन्यते ॥६५७॥

बहुश्रुतस्य तद्द्वययोगिनी विक्षेपणीतीमा शक्नुः निरस्यति—

आगममाहृष्यगओ विक्रहा विक्रखेवणी अपाउग्गा ।

अब्भुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ॥६५८॥

'आगममाहृष्यगवो वि' बहुश्रुतस्यापि । 'विक्रखेवणी' विक्षेपणी । 'अपाउग्गा' अप्रायोग्या । अब्भुज्जदम्मि मरणे' रत्नत्रयााराधनपरं मरणे । 'तस्स वि' बहुश्रुतस्यापि 'एवं' एतत् । 'अणायदणं' अनायतन आघार ॥६५८॥

अब्भुज्जदम्मि मरणे संधारत्थस्स चरमबेलाए ।

तिविहं पि क्हंति क्हं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥६५९॥

'अब्भुज्जदम्मि मरणे' निकटभूते मरणे । कस्य 'संधारत्थस्स चरिमबेलाए' सस्तरस्थस्य अन्तकाले । 'तिविहं वि' क्हंति क्वं सवेजनी, निर्वेजनी आक्षेपणी वा कथा कथयन्ति । 'तिवडपरिमोडया' अशुभमनो-वाक्काया दण्डशब्देनोच्यन्ते तद्भेदनकारिण सूत्र्य' । 'तम्हा' तस्मात् अनायतनत्वाद्भिर्वापिष्या ॥६५९॥

जुत्तस्स तवधुराए अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि ।

तह ते क्हंति घीरा जह सो आराहओ होदि ॥६६०॥

'जुत्तस्स' युक्तस्य । 'तवधुराए' तपोभारेण । 'अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि' समीपीभूतमरणवशस्य सिरसि स्थितस्य क्षपकस्य । 'ते घीरा तह क्हंति' ते घीरान्तया कथयन्ति । 'जघ सो आराधगो होदि' यथासावाराधको भवति रत्नत्रयस्य ॥६६०॥

ज्ञानी क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण द्रोगा; क्योंकि विक्षेपणीमे दूषण देनेके लिए पहले परमत-का कथन होता है । अल्पज्ञानी क्षपक उसे तत्त्व समझ बैठे तो मिथ्याज्ञान और मिथ्या श्रद्धान होनेसे रत्नत्रयकी एकाग्रता नहीं रहती ॥६५७॥

तो क्या बहुशास्त्राभ्यामी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी है ? इस शकाका निरसन करते हैं—

गा०—बहुश्रुत भी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी नहीं है; क्योंकि मरणके समय रत्नत्रयकी आराधनामे तत्पर रहना होता है । अत उसके लिए भी यह कथा अनायतन है वह उसका आधार नहीं है ॥६५८॥

गा०—जब सस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल होता है और मरण निकट होता है तब अशुभ मनवचनकायको निमूल करनेवाले साधु सवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी इन तीन ही कथाओंको कहते हैं । अत विक्षेपणी कथा अनायतनरूप है ॥६५९॥

गा०—जो तपका भार उठाये हुए है अर्थात् तपस्यामे लीन है और निकटवर्ती मरणरूपी बाँसके अग्रभागपर खडा है उस क्षपकको वे घीर परिचारक ऐसा उपदेश देते हैं जिसमे वह रत्नत्रयका आराधक होता है । अर्थात् क्षपककी स्थिति उस नटके समान है जो सिरपर बोझ

चत्वारि जणा भक्षं उवकप्पेति अगिलाए पाओग्गं ।

छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६१॥

'चत्वारि जणा' चत्वारो यतय । 'भक्षं' अशन । 'पाओग्गं' प्रायोग्य उद्गममादिदोषानुपहृत् । 'उव-  
कप्पेति' आनयन्ति । 'अगिलाए' ग्लानिमन्तरेण । किमन्तं कालमानयाम इति सक्लेश विना । 'छंदिय'  
क्षपकेण इष्ट अशन पान वा । क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरणक्षर्मात्म्येतावता तेनेष्ट न तु लीत्यात् । 'अवगद-  
दोसं' वातपित्तश्लेष्मणामजनक । क आनयन्ति ? 'अमाइणो' मायारहिता अयोग्य योग्यमिति ये नानयन्ति ।  
'लद्धिसंपण्णा' मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता । अलब्धिमान्क्षपक क्लेशयति । मायावी अयोग्य  
योग्यमिति कल्पयेत् ॥६६१॥

चत्वारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।

छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६२॥

चत्वारि जणा पाणया इति स्पष्टार्था गाया—सूरिणा अनुज्ञातो निवेदितात्मानो द्वो द्वो पृथग्भन. पृथ-  
क्पान चानयत ॥६६२॥

चत्वारि जणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं ।

अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स ममाधिभिच्छंति ॥६६३॥

तेरानोत भवन पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिता त्रया यथा न प्रविशन्ति, यथा वापरे न  
पातयन्ति ॥६६३॥

उठाये बांसके अग्रभाषपर अपनी कलाका प्रदर्शन करता है अत परिचारक ऐसा ही प्रयत्न करते  
है जिससे वह सफल हो ॥६६०॥

गा०—चार परिचारक यति उस क्षपकके लिए उसको इष्ट खान-पान विना ग्लानिके  
लाते है । उन्हे ऐसा सक्लेश नही होता कि कबतक हम इसके लिए लावे । तथा खान-पान उद्गम  
आदि दोषोसे रहित होना है । और वात पित्त कफको उत्पन्न करनेवाला नही होता । क्षपक  
भी लिप्सावश आहार पसन्द नही करता । किन्तु भूख और प्यास परीषहको शान्त करनेमे  
समर्थ खान-पानकी इच्छा करता है । जो यति आहार लाते है वे मायावी नही होते, अयोग्य  
आहारको योग्य नही कहते । मायावी अयोग्यको योग्य कह सकता है । तथा वे मोह और  
अन्तरायकर्माका क्षयोपशम होनेसे भिक्षालब्धिसे युक्त होते है । उन्हे भिक्षा अवश्य मिल जाती  
है । अलब्धिमान् मुनि भिक्षा न मिलनेपर खाली हाथ लौटकर क्षपकको कष्ट पहुँचाता है ॥६६१॥

गा०—चार परिचारक मुनि क्षपकके लिए विना ग्लानिके उद्गम आदि दोषोसे रहित,  
वात पित्त कफको पैदा न करनेवाला तथा क्षपककी प्यास परिषहको शान्त करनेवाला पानक  
लाते हैं । वे लानेवाले यति मायारहित और भिक्षालब्धिसे सम्पन्न होते हैं । आचार्यकी अनुज्ञासे  
स्वयं अपनेको उपस्थित करनेवाले दो-दो परिचारक भोजन और पान अलग-अलग लाते  
हैं ॥६६२॥

गा०—चार यति उन यतियोंके द्वारा लाये गये खान-पानकी विना किसी प्रकारकी  
ग्लानिके प्रमादरहित होकर रक्षा करते है कि उसमे त्रसादि न गिरे अथवा कोई उसमे त्रसादि

काइयमादी सव्वं चत्तारि पदिहुवन्ति खवयस्स ।

पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधिसंधारं ॥६६४॥

'काइयमादी सव्वं' पुरीषप्रभृतिक मलं सर्वं । क्षपकस्य चत्वार । 'पदिहुवन्ति' प्रतिष्ठापयन्ति । 'पडिलेहंति य' प्रतिलिखन्ति च । 'उवधो काले' उदयास्तमनकालवेलयो । 'सेज्जुवधिसंधारं' वसतिमुपकरण, संस्तरं च ॥६६४॥

खवगस्स घरदुवारं सारक्खति जदणाए दु चत्तारि ।

चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खति जदणाए ॥६६५॥

'खवगस्स' क्षपकस्य । 'घरदुवारं' गृहद्वार । 'सारक्खति' पालयन्ति । 'जदणाए' यत्नेन । 'चत्तारि' चत्वार । असयतान् शिक्षकाश्च निषेद्धु द्वारपालायन्ते । 'चत्तारि' चत्वार । 'समोसरणदुवारं' समवसरण-द्वार । 'जदणाए' यत्नेन । 'आरक्खति' पालयन्ति ॥६६५॥

जित्तिहा तल्लिच्छा रादो जग्गंति तह य चत्तारि ।

चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥६६६॥

'जित्तिहा' जितनिद्रा 'तल्लिच्छा' निद्राजयलिप्सव । 'रादो' रात्रौ । 'जग्गंति' जागर कुर्वन्ति । 'तह य' तत्र क्षपकमकाशे । 'चत्तारि' चत्वार । 'गवेसंति खु' परीक्षा कुर्वन्ति । 'खेत्ते' क्षेत्रे स्वाध्यायिते । 'देसप्पवत्तीओ' देशस्य क्षेमवाता ॥६६६॥

वाहिं असह्वडियं कंठंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।

ससमयपरसमयविदू परिसाए समोसदाए दु ॥६६७॥

जन्तु न गिरा दे । वे सब क्षपककी समाधिके इच्छुक होते है कि उसकी समाधि निर्वाचन पूर्ण हो ॥६६३॥

गा०—चार मुनि क्षपकके सब मलमूत्र उठानेका कार्य करते है । और सूर्यके उदय तथा अस्त होनेके समय वसति, उपकरण और संथरेकी प्रतिलेखना करते है ॥६६४॥

गा०—चार यति सावधानतापूर्वक क्षपकके घरके द्वारकी रक्षा करते है । ऐसा वे असंयमी जनो और शिक्षकोको अन्दर प्रवेश करनेसे रोकनेके लिए करत है । चार मुनि सावधानतापूर्वक समवसरण द्वार अर्थात् धर्मोपदेश करनेके घरके द्वारकी रक्षा करते है ॥६६५॥

गा०—निद्राको जीत लेनेवाले और निद्राको जीतनेके इच्छुक चार यति रातमे क्षपकके पास जागते है । और चार मुनि अपने रहनेके क्षेत्रमे देशकी अच्छी बुरी प्रवृत्तियोंकी परीक्षा करते है । अर्थात् जिस क्षेत्रमे क्षपक समाधि मरण करता है उस देशके अच्छे बुरे समाचारोकी खबर रखकर उनकी परीक्षा करते है कि समाधिमें कोई बाधा आनेका तो खतरा नही है ॥६६६॥

विशेषार्थ—गाथामे 'तल्लिच्छा' पाठ है और विजयोदयामे उसका अर्थ निद्राको जीतनेके इच्छुक किया है । किन्तु पं० आशाधरजीने अपनी टीकामे 'तण्ण्डा' पाठ रखकर उसका अर्थ क्षपककी सेवामे तत्पर किया है । जितनिद्राके साथ यह पाठ मंगत प्रतीत होता है ॥६६६॥

'बाहि' बहि क्षपकावासात् । 'असह्यधिर्ग' यावत् दूरे स्थिताना शब्दो न भ्रूयते तत्र स्थित्वा । 'अउरो' चत्वारः पर्यायेण । 'कथाओ' बहुविधाः कथाः पूर्वव्यावर्णिता । कीदृग्भूटास्ते कथका अत आह— 'ससम्यपरसम्यबिद्' स्वपरपक्षसिद्धान्तज्ञा । 'परिसाए' परिवदे । 'समोसबाए' द्वाक् समागतयौ ॥६६७॥

वादी चत्वारि जणा सीद्धानुग तद् अणोयसत्थविद् ।

धम्मकइयाण रक्खाहेदुं विहरति परिसाए ॥६६८॥

'वादी' वादिनः । 'चत्वारि जणा' चत्वारः । 'सीद्धानुग' सिद्धसमाना । 'अणोयसत्थविद्' अनेकशाम्प्रज्ञ धम्मकइयाण धर्म कथयता । 'रक्खाहेदुं' रक्षार्थं । 'विहरति' इतस्तो यान्ति । 'परिसाए' परिवधि ॥६६८॥

उपसहरन्ति प्रस्तुत—

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए ।

तं णिज्जवन्ति ख्वयं अडयालीसं हिं णिज्जवया ॥६६९॥

'एवं' महाणुभावा' एव माहात्म्यवन्तः । 'पग्गहिदाए' प्रकृष्टया । 'समाधिजदणाए' समाधौ क्षपकस्य प्रयत्नवृत्त्या । 'तं णिज्जवन्ति ख्वयं' त निर्यापयन्ति क्षपकः । 'अडयालीसं हिं' अष्टचत्वारिंशत्प्रमाणा । 'णिज्जवया' निर्यापका ॥६६९॥

व्यावर्णितगुणा एव निर्यापका इति न प्राह्य, किन्तु भरतैरावतयोर्विचित्रकालस्य परावृत्ते कालानुसारेण प्राणिना गुणा प्रवर्तन्ते तेन यदा यथाभूता शोभनगुणा सम्भवन्ति तदा तथाभूता यतयो निर्यापकत्वेन प्राह्या इति दर्शयति—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ।

ते तारिसया तदिया चोदालीसं पि णिज्जवया ॥६७०॥

गा०—क्षपकके आवासके बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तके ज्ञाता चार यति क्रमसे एक एक करके सभामें धर्म सुननेके लिए आये हुए श्रोताओको पूर्ववर्णित चार कथाएँ इस प्रकार कहते हैं कि दूरवर्ती मनुष्य उनका शब्द न सुन सके । अर्थात् क्षपकको सुनाई न दे इतने धीरेसे बोलते हैं । उससे क्षपकको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती ॥६६७॥

गा०—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता और वाद करनेमें कुशल चार मुनि धर्मकथा करनेवालोकी रक्षाके लिए सभामें सिंहेके समान विचरते हैं । अर्थात् धर्मकथामें कोई विवादी विवाद खड़ा कर दे तो वाद करनेमें कुशल मुनि उसका उत्तर देनेके लिए तत्पर रहते हैं ॥६६८॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार माहात्म्यशाली अडयालीस निर्यापक यति क्षपककी समाधिमें उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए उस क्षपकको ससार समुद्रसे निकलनेके लिए प्रेरित करते हैं ॥६६९॥

ऊपर कहे गुणवाले यति ही निर्यापक होते हैं ऐसा अर्थ नहीं लेना । किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालका विचित्र परिवर्तन होता रहता है । और कालके अनुसार प्राणियोंके गुण भी बदलते रहते हैं । अतः जिस कालमें जिस प्रकारके शोभनीय गुण सम्भव है

'जो जारिसओ काको इत्याधिन' यो यादुकालो । 'भरवेरबवेसु भासेसु' भरतेरावतेसु जनपदेसु । पञ्चभरता पञ्चरावतासे नियार्पाकस्तारिसगा तादुग्भूता कालानुगुणा इति यावत् । 'तइया' तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः ॥६७०॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदुवगा य जदणाए ।

कालम्मि संकिलिद्धमि जाव चत्तारि सार्वेति ॥६७१॥

णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा ।

एक्को णिज्जावयो ण होइ कइया वि जिणसुने ॥६७२॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथाद्वयमिति न व्याख्यायते ।

जघन्यतो द्वौ निर्यापको इति किमर्थमुच्यते । एको जघन्यतो निर्यापक कस्मान्नोपन्यस्त इत्याशङ्क्या एकस्मिन्निर्यापके दोषमाचष्टे—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च ।

वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि ॥६७३॥

एको यदि निर्यापक । 'अप्पा चत्तो' आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, पर क्षपकस्यक्तो भवति । 'पवयणं च' प्रवचन च त्यक्त भवति । 'वसणं' व्यसनं दुःख भवति । 'असमाधिमरणं' समाधानमन्तरेण मृतिः स्यात् । 'उड्डाहो' धर्मदूषणा भवति । 'दुग्गदी चावि' दुर्गतिपच भवति ॥६७३॥

एवं निर्यापकेणात्मा त्यक्तो भवति, एव क्षपक इत्येतत्कथयन्ति—

खवगपडिजग्गणाए भिक्खग्गहणादिभकुणमाणेण ।

अप्पा चत्तो तच्चिवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥६७४॥

उस कालमे उन गुणवाले यति निर्यापकरूपमे ग्राह्य है यह कहते है—

गा०—पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रोमे जब जैसा काल हो तब उसी कालके अनुकूल गुणवाले चवालीस निर्यापक स्थापित करना चाहिए ॥६७०॥

गा०—इस प्रकार ज्यो-ज्यो काल खराब होता जाये त्यो-न्यो देशकालके अनुसार सावधानतापूर्वक चार-चार निर्यापक कम करते जाना चाहिए । अन्तमे चार निर्यापक ही समाधि-मरणको सम्पन्न करते है । अधिक काल खराब होनेपर कमसे कम दो निर्यापक भी होते है । किन्तु जिनागममे किसी भी अवस्थामे एक निर्यापक नहीं कहा ॥६७१-६७२॥

जघन्यसे दो निर्यापक क्यो कहे ? जघन्यसे एक निर्यापक क्यो नहीं कहा ? ऐसी आशंकामें एक निर्यापकमे दोष कहते है—

गा०—यदि एक निर्यापक होता है तो निर्यापकके द्वारा आत्माका भी त्याग होता है, क्षपकका भी त्याग होता है और प्रवचनका भी त्याग होता है । तथा दुःख उठाना होता है । क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होता है, धर्ममे दूषण लगता है और दुर्गति होती है ॥६७३॥

एक निर्यापकके द्वारा आत्मा और क्षपक इस प्रकार त्यक्त होते है, यह कहते है—

खवगपडिजगणाए इत्यनया गायमा अत्रैवं पवचटना 'भिक्षवगणाहणाभिमकुणमज्जेण' मिसाग्रहणं, निद्रा, कायमरुस्याग वाऽकुर्वता निर्यापकेण 'खवगपडिजगणाए' क्षपककार्यकरणे । 'अप्पा चत्तो' आत्मा त्यक्तो भवति । अशनाग्रहणान्निद्राया अभावात् कायमलाना वाऽनिराकरणान्महती निर्यापकस्य पीडा । 'तम्बिचवरीवो षडि' निर्यापको भिक्षा भ्रमति निद्रातिशयशरीरमलनिरासार्थं याति, 'खवगो चत्तो भवति' क्षपकस्त्यक्तो भवति ॥६७४॥

**खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो ।**

**णाणस्स य वुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥६७५॥**

'खवयस्स अप्पणो वा चाए' क्षपकस्यात्मनो वा त्यागे । 'चत्तो हु होइ जइधम्मो' त्यक्तो भवति यति-धर्मः । यतेर्धर्मो वैयावृत्यकरण म परित्यक्तो भवति क्षपकमपहाय गमने । अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु त्यक्तानि भवन्ति शक्तिवैकल्यात् । 'णाणस्स य वुच्छेदो' ज्ञानस्यापि व्युच्छेदो भवति, निर्यापकेन सह मृति-मुपयाति । 'तवो' तस्मान् । 'पवयणचाओ होइ' पवचनव्यागो भवति । प्रवचनशब्देनागम उच्यते । प्राजा हि केचिदेव भवन्तीति चेदेकका निर्यापका अनशनादिनातिखिन्ना मृतिमुपेय क शास्त्राभ्युपदिशेत्<sup>१</sup> कश्च धारयेद्वेति प्रवचनव्याग ॥६७५॥

व्यगमन व्याचष्टे—

**चायम्मि कीरमाणे वसणं खवयस्स अप्पणो चावि ।**

**खवयस्स अप्पणो वा चायम्मि हवेज्ज असमाधि ॥६७६॥**

'चायम्मि कीरमाणे' त्यागे क्रियमाणे । 'वसणं खवगस्स' क्षपकस्य दुःख भवति, प्रतिकाराभावात् । 'अप्पणो वा वसणं' निर्यापकस्य वा व्यसन भवति अशनादित्यागात् । असमाधिमरण व्याचष्टे—'चायम्मि'

गा०-टी०—क्षपकका कार्य करते रहनेसे निर्यापक भिक्षाग्रहण, निद्रा और मलमूत्रका त्याग नहीं कर सकता । अतः वह आत्माका त्याग करता है क्योंकि भोजन न करने से निद्रा नहीं आती । और शारीरिक मल न त्यागनेसे निर्यापकको कष्ट होता है । यदि निर्यापक भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तथा सोता है और शरीरमल त्यागने जाता है तो क्षपकका त्याग करता है ॥६७४॥

गा०-टी०—अपना अथवा क्षपकका त्याग करनेपर यतिधर्मका त्याग होता है । अर्थात् यतिका धर्म वैयावृत्य करना है । क्षपकको छोड़कर जानेपर उसका त्याग होता है । न जानेपर यतिधर्ममें आवश्यक प्रधान है उनका त्याग होता है । ज्ञानका भी व्युच्छेद होता है क्योंकि निर्यापकके साथ वह भी मर जाता है । और ऐसा होनेसे प्रवचनका त्याग होता है । यहाँ प्रवचन शब्दसे आगम कहा है । विद्वान् तो विरल ही होते हैं । अकेला निर्यापक उपवास आदिसे अति-खिन्न होकर यदि मर जाये तो कौन शास्त्रोका उपदेश देगा और कौन शास्त्रोको याद रखेगा । अतः प्रवचनका त्याग होता है ॥६७५॥

गा०—क्षपकको त्यागने पर क्षपकको दुःख होता है क्योंकि उसका कोई प्रतिकार नहीं

त्यागे सति । 'स्रवणस्र असमाधि' क्षपकस्य असमाधिमरणं भवति, चित्तसमाधि कुर्वत समीपे अभावात् । 'अप्यथो वा' नियोपकस्य वा । 'हवेज्ज' भवेत्, असमाधिः अशमाधित्यागजनितदुःखव्याकुलस्य ॥६७६॥

उदाहो इत्येतत् सूत्रं व्याचष्टे—

सेवेज्ज वा अकप्पं कूज्जा वा जायणाइ उड्डाहं ।

तण्हाछुधादिभग्गो खवओ सुण्णम्मि णिज्जवहे ॥६७७॥

'सेवेज्ज वा अकप्प' अयोग्यसेवा कुर्यात्, अस्वितभोजनादिक पाष्ववतिन्यसति । 'कूज्जा वा' कुर्याद्वा । 'जायणाइ उड्डाहं' मिथ्यादृष्टीना गत्वा याचते क्षुधा वा तृषा वा अभिभूतोऽहं अशनं पानं वा देहीति । 'सुण्णम्मि णिज्जवहे' असति नियोपके ॥६७७॥

दुग्गदि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिज्ज सो सुण्णम्मि णिज्जवगे ।

गच्छेज्ज तवो खवओ दुग्गदिमसमाधिकरणेण ॥६७८॥

'असमाधिणा वा' असति नियोपके समीपस्थे समाधिमन्तरेण कालं कुर्यात् । ततस्तेन असमाधिमरणेन । 'स्रवणे दुग्गदि गच्छेज्ज' क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभघ्यानात् ॥६७८॥

सल्लेहणं सुणित्ता जुत्ताचारेण णिज्जवेज्जंतं ।

सव्वेहिं वि गंतव्वं जदीहिं इदरत्थ भयणिज्जं ॥६७९॥

'सल्लेहणं' सल्लेखना । 'सुणित्ता' श्रुत्वा । 'जुत्ताचारेण' युक्ताचारेण सूरिणा 'णिज्जवेज्जंतं' प्रवर्त्यमाना । सर्वैरपि गन्तव्यं यतिभिरितरत्र नियोपके सूरौ मन्वचारित्रं भाष्यं । यान्ति न यान्ति वा यतयः ॥६७९॥

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्वभत्तिरायेण ।

भोत्तूण य देवसुहं सो पावइ उचमं ठाणं ॥६८०॥

हे । और भोजनादि त्यागनेसे नियोपकको दुःख है । तथा क्षपकको त्यागने पर क्षपकका असमाधिमरण होता है क्योंकि उसके समीपमें कोई चित्तको समाधान देने वाला नहीं है । अथवा नियोपक की असमाधि होती है क्योंकि वह भोजन आदिके त्यागसे उत्पन्न दुःखसे व्याकुल होता है ॥६७६॥

गा०—यदि एक नियोपक आहारादिके लिए गया तो उसके अभावमें क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् बैठकर भोजनादि करेगा । अथवा मिथ्यादृष्टियोंके पास जाकर याचना करेगा कि मैं भूख वा प्याससे पीड़ित हूँ । मुझे खानेको वा पीनेको दो ॥६७७॥

गा०—समीपमें नियोपक न होने पर क्षपक समाधिके बिना मरण कर सकता है । और उस असमाधिमरणसे अशुभ ध्यानवश दुर्गतिमें जा सकता है ॥६७८॥

गा०—युक्त आचार वाले आचार्यके द्वारा क्षपककी सल्लेखना हो रही है यह सुनकर सब यतियोंको वहाँ जाना चाहिए । किन्तु यदि नियोपक आचार्य मन्द चारित्र्य वाला हो तो यति चाहे तो जा सकते हैं, न चाहे तो न जाये ॥६७९॥



एगमि भवग्माहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।  
 ण हु सो हिंडदि बहुसो सचट्टभवे पमोत्तूण ॥६८१॥  
 'सोदूण उचमट्टस्स साघणं तिच्चभक्तिसंजुत्तो ।  
 जदि णोवयादि का उचमट्टमरणमि से भत्ती ॥६८२॥

सोदूण श्रुत्वा उत्तमार्थसाधनं । तीव्रभक्तिसयुक्तो यदि न गच्छन् । नैव तस्य उत्तमार्थमरणे  
 भक्ति ॥६८२॥

उत्तमार्थमरणभक्त्यभावे दोषमाचष्टे—

जत्थ पुण उत्तमट्टमरणमि भत्ती ण विज्जदे तस्स ।

किह उत्तमट्टमरणं संपज्जदि मरणकालमि ॥६८३॥

'अस्स पुण' यस्य पुन उत्तमार्थमरणे भक्तिर्न विद्यते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरण मप्यद्यते इति  
 दोषः सूचित ॥६८३॥

सद्वदीणां पासं अल्लियदु असंबुडाण दादव्वं ।

तेसि असंबुडगिराहिं होज्ज खगयस्स असमाधी ॥६८४॥

'असंबुडाण पासं सद्वदीणां अल्लियदु ण दादव्वं' । असंबुदाना क्षपकसमीप दौकन न दातव्य । यावद्देश-  
 स्थाना तेषा वचो न श्रूयते । कस्मादसंबुतजनसमीपागमनं निषिध्यते इत्याचष्टे—'तेसि असंबुडगिराहिं होज्ज  
 खगयस्स असमाधी' । तेषामसंबुताभिर्वाग्भिर्भवेत्क्षपकस्य असमाधिः । क्षीणो हि जनो यत्किञ्चिच्छ्रुत्वा कुप्यति  
 मकलेशमुपयाति वा ॥६८४॥

गा०—जो यति तीव्र भक्तिरागसे सल्लेखनाके स्थान पर जाते हैं वे देवगतिका सुख भोग  
 कर उत्तम स्थान मोक्षको प्राप्त करते है ॥६८०॥

गा०—जो जीव एक भवमे समाधिमरण पूर्वक करता है वह सात आठ भवसे अधिक काल  
 तक संसारमें परिभ्रमण नहीं करता ॥६८१॥

विशेषार्थ—इत पर टीका नहीं है । पं० आशाधरने लिखा है—यहाँ ये दो गाथा परम्परा-  
 से सुनी जाती हैं । इन्हे विजयोदयाके कर्ता आचार्य नहीं स्वीकार करते है ।

गा०—उत्तमार्थ—समाधिक । साधन कोई मुनि करता है ऐसा मुनकर भी जो तीव्र भक्तिसे  
 युक्त होकर यदि नहीं जाता तो उसकी समाधिमरणमे क्या भवित हो सकती है ? ॥६८२॥

समाधिमरणमे भक्ति न होनेमें दोष कहते है—

गा०—जिसकी समाधिमरणमें भवित नहीं है उसका मरते समय समाधिपूर्वक मरण नहीं  
 होता ॥६८३॥

गा०—टी०—वचन गुप्ति और वचन समितिसे रहित जो हल्ला-गुल्ला करने वाले लोग हैं  
 उन्हें क्षपकके समीप नहीं जाने देना चाहिए । यदि जावें तो वही तक जावें जहाँसे उनके वचन  
 क्षपकको सुनाई न देवे । ऐसे असंबुत जनोका क्षपकके समीप जानेका निषेध करनेका प्रयोजन यह

१. एते गाथे श्री विजयो नेच्छति ।

भक्तादीणं तत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादब्बा ।

आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादब्बिया तत्थ ॥६८५॥

'भक्तादीणं 'तत्ती' भक्तादिकथा । गृहीतार्थेरपि यतिभिस्तत्र क्षपकसकाशे न कर्तव्येति ४ 'आलोयणा वि हु' आलोचनागोचराद्यतिचारविषया । 'तत्थ' क्षपकसमीपे । 'पसत्थमेव कादब्बा' यथासी न श्रुणोति तथा कार्या । बहुषु युक्ताचारेषु तस्यु ॥६८५॥

पच्चक्खणाणपडिक्कमणुवदेसणिओगतिविहवोसरणे ।

पट्टवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥६८६॥

प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणादिक<sup>१</sup> । कस्य सकाशे सर्वं कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽसौ, न चेतदनुज्ञा-  
तस्य समीपे ॥६८६॥

तेल्लकायादसीहिं य बहुसो गंइसया दु घेत्तब्बा ।

जिम्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंढं च से विसदं ॥६८७॥

'तेल्लकतायादीहिं य' तैलेन कथायादिभिश्च । 'बहुसो' बहुशो । 'गंइसया बु' गइथा । 'घेत्तब्बा' ग्राह्या । तत्र गुण वदति—'जिम्भाकण्णाण बलं' जिह्वाया कर्णयोश्च बल शक्ति वचने श्रवणे च । 'होहिदि'

है कि उनके मर्यादा-रहित वचनोको सुनकर क्षपककी समाधिमे बाधा हो सकती है, क्योंकि कम-  
जोर व्यक्ति ऐसे वैसे वचन सुनकर क्रुद्ध हो सकता है अथवा सकलेशरूप परिणाम कर सकता  
है ॥६८४॥

विशेषार्थ—टीकामे 'असंवुडाण पासं सट्टवदीण अल्लियदु ण दादब्ब' ऐसा पाठ है । तथा  
'सट्टवदीण' का अर्थ नहीं किया है । आशाघर जीने 'शब्दपतीना शब्दवतीना' लिखकर उसका अर्थ  
'कल-कल करने वाले' किया है ।

गा०—आगमके अर्थके ज्ञाता यतियोको भी क्षपकके पासमे भोजन आदिकी कथा नहीं  
करनी चाहिए और आलोचना सम्बन्धी अतिचारोकी भी चर्चा नहीं करनी चाहिए । यदि करना  
ही हो तो बहुतसे युक्त आचार वाले आचार्योंके रहते हुए प्रच्छन्न रूपसे ही करना चाहिए जिससे  
क्षपक उसे न सुन सके ॥६८५॥

गा०—प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, उपदेश, नियोग—आज्ञादान, जलके सिवाय तीन प्रकारके  
आहारका त्याग, प्रायश्चित्त, आदि सब प्रथम स्वीकार किये आचार्योंके पास ही करना चाहिए,  
क्योंकि जिसे उस क्षपकने अपना नियामक बनाया है वही उसके लिए प्रमाण होता है । किन्तु  
वह नियामकाचार्य ऐसा करनेमे असमर्थ हो तो उसकी अनुज्ञासे अन्य भी प्रमाण होता है ॥६८६॥

विशेषार्थ—युक्त आचार वाले अनेक आचार्योंके होते हुए भी क्षपकको प्रत्याख्यान आदि  
प्रथम स्वीकार किये नियामकके पास ही करना चाहिए यह आशय उक्त गाथाका है ।

गा०—तेल और कसैले आदिसे क्षपकको बहुत बार कुल्ले करना चाहिए । इससे जीभ

१. भक्ती—आ० । २ दिक् से तस्य सकाशे—आ० मु० ।

भविष्यति । 'सुं' च से क्लिबं होषित' पदसम्बन्धः । तुण्डवैशद्यं अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापकव्या-  
वर्णना समाप्ता ॥६८७॥

णिज्वावयपमासणा इत्येतद्वदति—

दन्वपयासमकिञ्चा जइ कीरइ तस्स तिविह्वोसरणं ।

कञ्जिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवजो ॥६८८॥

'दन्वपयासमकिञ्चा' द्रव्यस्याहारस्य प्रकाशन तं प्रति ढोकन अकृत्वा । 'जइ कीरइ' यदि क्रियते ।  
'तस्स' तस्य क्षपकस्य । 'तिविह्वोसरणं' त्रिविधाहागत्याग । 'कञ्जिवि' कस्मिन्चिदपि । 'भत्तविसेसंमि'  
भक्तविशेषे । 'उस्सुगो होज्ज सो खवजो' उत्सुको भवेत्स क्षपक । आहारीत्सुक्य च चित्त व्याकुलयति ॥६८८॥

तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दन्वाणि ।

सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥६८९॥

पासित्तु कोइ तादी तीर पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।

वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९०॥

'पासित्तु' दृष्ट्वा आहारमुपदेशित । 'कोइ' कश्चित् । 'तादी' यति । 'तीरं पत्तस्स' तीर प्राप्त य ।  
'मेहिं' अमीभिर्मनोमैराहारैः । 'किं मेत्ति' किं ममेति । 'वेरग्गमणुप्पत्तो' भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगत ।  
'संवेगपरायणो होदि' सत्सारभयत्यागे<sup>१</sup> प्रघातो भवति ॥६९०॥

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।

वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९१॥

और कानोको बल मिलता है और मुख साफ होता है ॥६८७॥

इस प्रकार निर्यापकका कथन समाप्त हुआ ।

अब निर्यापकके द्वारा आहारके प्रकाशनका कथन करते हैं—

गा०—आहारका प्रकाशन अर्थात् क्षपकके सामने विविध भोजनोंको उपस्थित न करके  
यदि तीन प्रकारके आहारका त्याग कराया जाता है तो क्षपक किसी भी भोजन विशेषमे उत्सुक  
बना रह सकता है । और आहारमे उत्सुकता चित्तको व्याकुल करती है ॥६८८॥

गा०—अतः उत्तम-उत्तम भोजन पात्रोंमें अलग-अलग उसके सामने रखकर जब वह सन्तुष्ट  
हो जाये तो अन्तिम आहार उपस्थित करे । ऐसा करनेसे क्षपक तीनों प्रकारके आहारको छोड़  
देगा ॥६८९॥

विशेषार्थ—टीकाकारने यह गाथा नहीं मानी ।

गा०—कोई यति दिखाये गये आहारोंको देखकर 'मरणको प्राप्त मुझे इन मनोज्ञ आहागो-  
से क्या प्रयोजन' ऐसा विचार भोगोंसे विरक्त होकर सत्सारके भयको त्यागनेमे प्रमुख होता  
है ॥६९०॥

देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।  
 वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९२॥  
 सच्चं भोच्चा चिद्धी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।  
 वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥६९३॥

मनोज्ञविषयसेवा हि पौन पुन्येन प्रवर्तमाना अभिलाष जनयति जन्तो । स चानुराग कर्मपुद्गलादाने हेतु, ततो भीम<sup>१</sup> भवाम्भोधिप्रवेशेन भवभूतामिति स्पष्टार्थं गाथात्रय<sup>२</sup> । उत्तर प्रकाशना समाप्ता पया-सणा ॥६९३॥

हाणी इति सूत्रपद व्याचष्टे—

कोई तमादइत्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो ।  
 तं चेषणुबंधेज्ज हु सच्चं देसं च गिद्धीए ॥६९४॥

‘कोई’ कश्चिद्यति । ‘तं’ दशिनमाहार । ‘आवयिस्ता’ भुक्त्वा । ‘मणुण्णरसवेदणाए’ मनोज्ञरसानु-भवनेन । ‘संविद्धो’ मूर्च्छित । ‘तं चेषणुबंधेज्ज हु’ तमेवास्वादित मनोज्ञाहारमनुबन्धीयात् । दशितेष्वकं वा, ‘गिद्धीए’ गृह्णा ॥६९४॥

तत्थ अवाओवायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो ।  
 उद्धरिदु मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्वेमाणो ॥६९५॥

गा०—कोई क्षपक भोजनका स्वाद मात्र लेकर ‘मरणको प्राप्त’ मुझे इस मनोज्ञ भोजनसे क्या, ऐसा विचार विरक्त हो, ससारके भयको त्यागनेमे तत्पर होता है ॥६९१॥

गा०—कोई क्षपक थोडा सा खाकर ‘मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या’ ऐसा विचार विरक्त हो ससारके भयको त्यागनेमे तत्पर होता है ॥६९२॥

गा०—टी०—कोई सब आहारको भोगकर ‘मुझे बार-बार धक्का है । मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या प्रयोजन’ इस प्रकार विरक्त हो ससारके भयसे मुक्त होनेमे तत्पर होता है ।

बार-बार मनोज्ञ विषयोका भवन यदि चलता रहे तो उसमे जीवमे उसकी अभिलाषा बनी रहती है । और वह अनुगम कर्म पुद्गलांके ग्रहणमें कारण होता है और उससे प्राणिगण ससार समुद्रमे पडे रहते है । यह स्पष्ट करनेके लिए ये तीन गाथा कही है ॥६९३॥

आहारका प्रकाशन समाप्त हुआ ।

हानिका कथन करते है—

गा०—कोई क्षपक उस दिखाये आहारको खाकर मनोज्ञ रसके स्वादसे मूर्च्छित होकर तुष्णावग उस खाये आहारमे से सबको अथवा किसी एक वस्तुको ही खानेकी इच्छा करता है ॥६९४॥

१ तो भोग-भ-आ० मु० । २ त्रयोत्तरं श्र० ।

'सत्व' तत्राहारसक्तौ जानाया । 'अबाओषार्थ' इन्द्रियसयमस्वापार्य, असयमस्य च दौकनं । 'बंसेवि' दर्शयति । 'चित्सेसबो' विशेषेण । 'उबविसंतो' उपदिशन् । 'उडरिदु' उडत्तु । 'मणोसत्लं' मन.शाल्य । 'सुहृषं' सूडमं । 'सृण्णिव्वेमाणो' सम्यक् प्रशमयन् ॥६९५॥

सोच्चा सन्लमणत्थं उडरदि असेसमप्पमादेण ।

वेरगमणुप्पसो संवेगपरायणो खवओ ॥६९६॥

'सोच्चा' श्रुत्वा वैराग्यकथा । 'सत्लं' शल्यं । 'उडरवि' उत्पाटयति । 'असेसं' अशेष । 'अप्पमादेण' प्रमादं विना । 'वेरगमणुप्पसो' वैराग्यमनुप्राप्तः । 'संवेगपरायणः' सवेगपर । क्षपक शल्योडरणपरो भवति ॥६९६॥

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वसुवहरिय ।

एक्केक्कं हावेंतो ठवेदि पोरणमाहारे ॥६९७॥

'अणुसज्जमाणए पुण' कृतेऽप्याहाराभिलाषस्य दोषोपदर्शने । 'अणुसज्जमाणो' आहारे अनुरागवति क्षपके । 'समाधिकामस्स' ममाधिमरणमिच्छत । 'सव्वसुवहरिय' सर्वमाहारमूपसहृत्य । कथं ? 'एक्केक्कं हावेंतो' एकैक आहार हापयन् सूरि । 'ठवेदि' स्वापयति क्षपक । 'पोरणमाहारे' प्राक्तने आहारे ॥६९७॥

अणुपुब्बेण य ठविदो संबट्टेदूण सव्वमाहारं ।

पाणयपरिक्कमेण दु पच्छ भावेदि अप्पाणं ॥६९८॥

'ठविदो' स्थापित सूरिणा प्राक्तनाहारे क्षपक पश्चात्क कगेत्यत आह—'सव्वमाहारं', अशन स्वाद्य, खाद्य च । 'अणुक्कमेण' क्रमेण । 'संबट्टेदूण' उपसहृत्य । 'पाणयपरिक्कमेण दु' पानकास्येन परिकरेण । 'अप्पाणं' अत्मानं । 'पच्छ भावेदि' पश्चाद्भावयति । हा निर्व्याख्याता । हापिति ॥६९८॥

कतिप्रकार पानकमित्यारेकायमाचष्टे—

गा०—इस प्रकार आहारमे आसवित होने पर आचार्य उस क्षपकके मनसे सूक्ष्म शल्यको निकालनेके लिए इन्द्रिय सयमका विनाश और असयमकी प्राप्ति बतलाते हुए विशेष रूपसे उपदेश देते हैं और इस तरह उसे सम्यक् रूपसे शान्त करते हैं ॥६९५॥

गा०—वैराग्यका उपदेश सुनकर वैराग्यको प्राप्त हुआ क्षपक प्रमाद छोडकर समस्त अनर्थकारी शल्यको निकाल देता है और सवेगमे तत्पर होता है ॥६९६॥

गा०—आहारकी अभिलाषामे दोष दिखानेपर भी यदि क्षपक आहारमे अनुरागी रहता है तो आचार्य समाधिमरणके इच्छुक क्षपकको सब आहार दिखलाकर एक-एक आहार छुडाते हुए उसे अपने पूर्व आहार पर ले आते है ॥६९७॥

गा०—आचार्यके द्वारा पूर्व आहारपर स्थापित होनेके पश्चात् क्षपक क्रमसे अशन खाद्य स्वाद्य सब आहारोका त्याग करके पीछे अपनेको पानक आहारमे लगाता है ॥६९८॥

हानिका कथन समाप्त हुआ ।

पानकके भेद कहते है—

१ अणुपुब्बेण अनुक्कमेण—भूलारा० ।

सत्थं बहलं लेवडमलेवडं च ससिस्थयमसिस्थं ।

छञ्चिहपाणयमेथं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ॥६९९॥

'सत्थं' स्वच्छं एकं पानकं उष्णोदक सौवीरक । तिन्तिणीकाफलरसप्रभृतिक च अन्यद्रव्यैः । दृश्यादिक 'लेवडं' लेपसहित । 'अलेवडं' अलेपसहितं यन्म हस्ततल विलिपति । 'ससिस्थयं' सिन्धसहित, 'असिस्थयं' सिन्धरहित । 'छञ्च' घोडा । 'पाणयमेव' एतत्पानकं । 'पाणयपरिकम्मपाओग्गं' पानकाख्यपरिकर्मप्रायोग्यं ॥६९९॥

आयंजिलेण सिंभं खीयदि पिभं च उवसमं जादि ।

वादस्स रक्खणट्ठं एत्थ पयत्तं सु कादव्वं ॥७००॥

'आयंजिलेण' आचाम्लेन । 'सिंभं खीयदि' दलेष्मा क्षयमुपयाति । 'पित्तं च' पित्तं च । 'उवसमं जादि' उपशममुपयाति । 'वादस्स' वातस्य । 'रक्खणट्ठं' रक्षणार्थं । 'एत्थ' अत्र । 'पयत्तं सु कादव्वं' प्रयत्नं कर्तव्यं ॥७००॥

पानभावनोत्तरकालभाविन व्यापारं दर्शयति—

तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए ।

मधुरं पज्जेदव्वो मंडं व विरेयणं खबओ ॥७०१॥

'तो' पश्चात् । 'पाणएण' पानेन । 'परिभाविदो' भावित क्षपक । 'मधुरं पज्जेदव्वो' मधुरं पायित्तव्यं । किमर्थं / 'उदरमलसोधणिच्छाए' उदरगतमलनिरासाय ॥७०१॥

आणाहवत्तियादीहिं वा वि कादव्वमुदरसोधणयं ।

वेदणमुप्पादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे ॥७०२॥

'आणाहवत्तियादीहिं' अनुवासनादिभिः । 'कादव्वं' कर्तव्यं । 'उदरसोधणयं' उदरस्थमलमुदरशब्देनोच्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना । किमर्थमेव प्रयासेन महता मल निराक्रियते इत्यत्राचष्टे । 'वेदणमुप्पादेज्ज'—

गा०—पानकके छह भेद है—एक भेद स्वच्छ है । जंगे गर्मजल सौवीरक । इमली आदि फलोके रसको बहल कहते है । यह दूसरा भेद है । दही आदि लंबड है जो हाथसे लिप्त हो जाता है । यह तीसरा भेद है । जो हाथसे लिप्त न हो वह चौथा भेद अलेवड है । सिन्ध सहित पेय पाँचवाँ भेद है और सिन्धरहित पेय छठा भेद है । ये छह प्रकारका पानक पानक परिकर्मके योग्य है ॥६९९॥

गा०—आचाम्लसे कफका क्षय होता है, पित्त शान्त होता है और वातसे रक्षा होती है । इसलिए आचाम्लके सेवनका प्रयत्न करना चाहिए ॥७००॥

पानककी भावनाके पश्चात्कार्य बतलाते हैं—

गा०—पानकका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धिके लिए माँडकी तरह मधुर विरेचन पिलाना चाहिए ॥७०१॥

गा०—अनुवासन और गुदाद्वारमें बत्ती आदि चढाकर पेटके मलकी शुद्धि करना चाहिए ।

शु' वेदनामुत्पादयेवेव । 'उदरे करिस्सर्ग' पुरीयं 'अस्वत्सर्ग' स्थित ॥७०२॥

एवं कृतोदरशोधनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्वापकसूरितपाद्यमादर्शयति—

जावज्जीवं सन्वाहारं तिविहं च बोसरिहिदिति ।

गिज्जवओ आयरिओ संघस्स गिवेदणं कुज्जा ॥७०३॥

'जावज्जीवं' जीवितावधिक । 'सन्वाहारं' सर्वाहारं । 'तिविहं' त्रिनिध अशन, खाद्य, स्वाद्यं च । 'बोसरिहिदिति' त्यजतीति । 'गिज्जवओ आयरिओ' नियामिक सूरि । 'संघस्स गिवेदणं कुज्जा' सङ्घं निवेदयेत् ॥७०३॥

स्वामेदि तुम्ह खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स ।

दावेदव्वो णेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ॥७०४॥

'स्वामेदि' क्षमा ग्राहयति । 'तुम्ह' युष्मान् । 'खवओत्ति' क्षपक इति । 'तस्स चेव खवगस्स' तस्यैव क्षपकस्य । 'कुंचओ' प्रतिलेखन । 'दावेदव्वो' दर्शयितव्य । 'णेदूण' नीत्वा । 'सव्वसंघस्स वसधीए' सर्व-सङ्घस्य वसतीषु ॥७०४॥

तेन सङ्घेन ज्ञातक्षपकामिप्रायेण कर्तव्यमित्याषष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स व गिरुवसग्गपत्तीयं ।

काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादव्वो ॥७०५॥

'आराधणपत्तीयं' रत्नत्रयाराधना क्षपकस्य यथा स्यादित्येवमर्थ । 'खवगस्स गिरुवसग्गपत्तीयं' क्षपकस्योपसर्गं मा भूवन्नेवमर्थं च । 'काओसग्गो' कायोत्सर्गं । 'संघेण सव्वेण' सर्वेण सङ्घेन । 'होइ कायव्वो' कर्तव्यो भवति ॥७०५॥

गाधामे आये उदर शब्दसे पेटका मल लेना चाहिए । उसको निकालना उदरमलका शोधन है । ऐसे महान् प्रयासके द्वारा पेटके मलको निकालनेका यह कारण है कि उदरमे रहा हुआ मल कष्ट देता है ॥७०२॥

इस प्रकार क्षपकके उदरके मलकी शुद्धि हो जानेपर नियामिकाचार्य क्षपकके योग्य जो कार्य करते है उसे कहते हैं—

शा०—नियामिकाचार्य सघसे निवेदन करते हैं कि अब यह क्षपक जीवनपर्यन्तके लिए अशन, खाद्य और स्वाद्य तीनों प्रकारके सब आहागका त्याग करता है ॥७०३॥

शा०—तथा यह क्षपक आप सबसे क्षमा माँगता है । इसके प्रमाणके लिए आचार्य उस क्षपककी पिच्छिका लेकर सर्वसघकी वसतियोमे दिखलाते हैं । अर्थात् क्षपक सबके पास क्षमा माँगने स्वयं नही जा सकता, इसलिए उसकी पीछी सर्वत्र ले जाकर दिखलाते हैं कि वह आप सबसे क्षमा माँगता है ॥७०४॥

क्षपकका अभिप्राय जानकर संघको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

शा०—क्षपककी रत्नत्रयकी आराधनापूर्ण हो और उसमें कोई विघ्न न आवे, इसके लिए सर्वसंघको कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥७०५॥

खवयं पञ्चक्लावेदि तदो सव्वं च चतुर्विधाहारं ।  
संघसमवायमज्जे सागारं गुरुणिजोगेण ॥७०६॥

‘खवयं’ क्षपक । ‘पञ्चक्लावेदि’ प्रत्याख्यानं कारयति, निर्यापकः दूरि । ‘तदो’ पश्चात् । ‘सव्वं’ सर्वं । ‘चतुर्विधाहारं’ चतुर्विधाहार । ‘संघसमवायमज्जे’ सङ्घसमुदायमध्ये । ‘सागारं’ साकार । ‘गुरु-  
नियोगेन’ इतरं गुर्वनुज्ञया ॥७०६॥

अहवा समाधिहेतुं कायव्वो पाणयस्स आहारो ।  
तो पाणयंपि पच्छा वोसरिदव्वं जहाकाले ॥७०७॥

‘अहवा’ अथवा । ‘समाधिहेतुं’ समाधिश्चित्तकार्यं, तदर्थं । ‘कायव्वो’ कर्तव्यं ‘पाणयस्स आहारो’ पानकस्य विकल्प । ‘तो’ पश्चात् । ‘पाणयंपि’ पानकमपि । ‘वोसरिदव्वं’ त्यक्तव्यं । ‘जहाकाले’ यथाकाले नितरा शक्तिहानिकाले । पूर्वगाथया चतुर्विधाहारत्याग कार्यं इति, योजितशयेन परीषद्वाधाक्षमस्त प्रयुक्त । अनया तु यो न तथा भवति त प्रति त्रिविधाहारत्याग इति निर्दिश्यते ॥७०७॥

कीदृशानं तस्य योग्यमित्यत्राह—

जं पाणयपरियम्ममि पाणयं छव्विहं ममक्खादं ।  
तं से ताहे कप्पदि तिविहाहारस्स वोसरणे ॥७०८॥

‘जं’ यत् । ‘पाणयपरियम्ममि’ पानकाख्ये परिकरे । ‘पाणयं’ पान । ‘छव्विहं’ षड्विध । ‘सम-  
क्खादं’ समाख्यातं । सच्छ बहलमित्यादिकं । ‘तं’ तत्पान । ‘से’ तस्य । ‘ताहे’ तदा । ‘कप्पदि’ योग्य  
भवति । ‘तिविहाहारस्स’ अशनस्य, स्वाद्यस्य, स्वाद्यस्य च त्यागे । पञ्चक्लावणं ॥७०८॥

तो आयरियउवज्जायसिस्ससाधम्मिगे कुलगणे य ।  
जो होज्ज कसाओ से तं सव्वं तिविहेण खामेदि ॥७०९॥

‘तो’ प्रत्याख्यानोत्तरकाले । ‘आयरियउवज्जायसिस्ससाधम्मिगे’ आचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, सधर्मिणि ।  
‘कुलगणे’ य कुले गणे च । ‘जो होज्ज कसाओ’ यो भवेत्कथायः क्रोधो, मानो, लोभो वा । ‘तं सव्वं’ निरव-

गा०—उसके पश्चात् निर्यापकाचार्यं संघके समुदायके मध्यमें चारो प्रकारके आहारका  
सविकल्पक त्याग करता है और क्षपक गुरुकी आज्ञासे ऐसा करता है ॥७०६॥

गा०—अथवा समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रताके लिए पानकको छोड़कर शेष सब  
आहारका त्याग करता है और अत्यन्त शक्तिहीन होनेपर पानकका भी त्याग करता है ॥७०७॥

विशेषार्थ—पूर्वगाथामे चार प्रकारके आहारका त्याग उस क्षपकके लिए कहा है जो  
अत्यन्त परीषद्की बाधाको सहनेमें समर्थ होता है और इस गाथामे जो ऐसा नहीं होता उसके  
लिए तीन प्रकारके आहारका त्याग कहा है ॥७०७॥

उसके योग्य पानक किस प्रकारका है यह बताते हैं—

गा०—पानकके प्रकरणमें जो छह प्रकारका पानक कहा है, तीन प्रकारके आहारका  
त्याग करनेपर वह उस क्षपकके योग्य होता है ॥७०८॥

गा०—आहार त्याग करनेके पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साध्वी, कुल और गणके



शेषं । 'तिबिद्देण' त्रिविधेन । 'क्षामेवि' क्षमयति निराकरोति ॥७०९॥

**अम्भहियजादहासो मत्थम्मि कर्दंजली कदपणामो ।**

**खामेह सच्चसंधं संवेगं संजणेमाणो ॥७१०॥**

'अम्भहियजादहासो' नितरामुपजातचित्तप्रसादः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सकल मयानुष्ठित इति । 'मत्थम्मि कर्दंजली' मस्तकन्यस्ताञ्जलि । 'कदपणामो' कृतप्रमाण । 'क्षामेवि' क्षमा ग्राहयति । 'सच्चसंध' सर्वं श्रमणगणं । 'संवेगं' धर्मानुरागं । 'संजणेमाणो' सम्यगुत्पादयन् सर्वस्य सङ्घस्य ॥७१०॥

**मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा ।**

**सच्चे अवराधपदे एम खामेभिं णिस्सल्लो ॥७११॥**

'मणवयणकायजोगेहिं' मनोवाक्काययोगी । 'पुरा' पूर्वं । 'कदकारिदे अणुमदे वा' कृतकारितानुमताश्च । 'सच्चे अवराधपदे' सर्वनिपराधविशेषान् । 'एम' एष । 'क्षामेभिं' क्षमा ग्राहयामि । 'णिस्सल्लो' शल्यरहितोऽहमिति ॥७११॥

**अम्मापिदुसरिसो मे खमहु खु जगसीयलो जगात्तारो ।**

**अहमवि खमामि सुद्धो गुणसंघायस्स संघस्स ॥७१२॥**

'अम्मापिदुसरिसो' मात्रा पित्रा च सद्गो । 'मे' मम 'खमहु' क्षमा करोतु । 'जगसीयलो' जगत सर्व-प्राणिलोकस्य शीतल । 'जगात्तारो' आसन्नभव्यलोकस्य आधारः । 'अहमवि खमामि' परकृतमपराध मनसि न करोमि । 'सुद्धो' शुद्ध क्रोधादिकलङ्कविरहात् । 'गुणसंघायस्स' गुणममुदायस्य 'संघस्स' सङ्घस्य । खमणा ॥७१२॥

**संधो गुणसंघाओ संधो य विमोचओ य कम्माणं ।**

**दंसणणाणचरित्ते सघायंतो हवे संधो ॥७१३॥**

सम्बन्धमे क्षपकके अन्दर जो क्रोध, मान, माया या लोभ कषाय होती है उसे सबको वह मन-वचनकायसे निकाल देता है ॥७०९॥

गा०—मुमुक्षुका जो कर्तव्य है वह सब मेने किया, इस विचारसे उस क्षपकके चित्तमे अत्यन्त प्रसन्नता होती है और धर्मानुरागको प्रकट करते हुए दोनो हाथोकी अञ्जलि मस्तकसे लगाकर प्रणामपूर्वक समस्त मुनिसंघसे वह क्षमा माँगता है ॥७१०॥

गा०—कि मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनासे पूर्वम किये गये सब अपराधो की मैं निःशल्य होकर क्षमा माँगता हूँ ॥७११॥

गा०—गुणोंका समूहरूप यह संघ समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाला है, निकट भव्यजीवो-का आधार है । वह सघ मुखे माता-पिताके समान क्षमा प्रदान करे । मैं भी क्रोधादि दोषोसे शुद्ध होकर किये हुए अपराधको मनसे निकाल देता हूँ ॥७१२॥

गा०—गुणोंके समूहका नाम संघ है । यह संघ कर्मोंसे छुड़ाता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके मेलसे संघ होता है ॥७१३॥

इय स्नामिय वेरगं अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।

पप्फोडितो विहरदि बहुभववाधाकरं कम्मं ॥७१४॥

वट्टंति अपरिदंता दिवा य रादो य सच्चपरियम्मे ।

पडिच्चरया गणहरया कम्मरयं णिज्जरेमाणा ॥७१५॥

'वट्टंति' वर्तन्ते । 'अपरिदंता' अपरिधान्ता । 'दिवा य रादो य' दिने रात्रौ च । 'सच्चपरिकम्मे' सर्वपरिचरणे । 'पडिच्चरया' निर्यापका । गणहरया गणान् घर्मस्थान् धारयन्तीति गणधरा । 'कम्मरयं' कर्मस्थि रज 'णिज्जरेमाणा' निर्जरयन्त ॥७१५॥

जं वद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ।

सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥७१६॥

'जं' यत् । 'वद्धं रयं' वद्ध रज कर्म । यथा रजस्र्छादयति परस्य गुण शरीरादे कच्छूदद्रुप्रभृतिक दोषमावहति तद्वद्वोधादिगुणमवच्छादयति च विचित्रा विषद तेन रज इव रज इत्युच्यते । 'भवसदसहस्स कोडीहिं' भवगतसहस्रकोटिभि । तद्रज 'खवेति' क्षपयन्ति । केन ? 'सम्मत्तुप्पत्तीए' श्रद्धानोत्पत्त्या । 'एयसमयेण' एकेनैव समयेन । तथा चोक्त—सम्यग्गृष्टिभावकविरतान्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोह क्षपकक्षीणमोहहिनाः क्लमसोऽन्तस्थेयगुणनिर्जरा इति ॥ [ तत्त्वा० ९।४५ ] ॥७१६॥

एयसमएण विधुणदि उवउत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ।

अण्णयरम्मि य जोग्गे पच्चक्खाणे विसेसेण ॥७१७॥

'एयसमयेण विधुणदि' अल्पेन कालेन निधुनाति । 'उवउत्तो' परिणत । क्व ? 'अण्णयरम्मि जोग्गे' यस्मिन्कस्मिन्चित् तपसि । कि ? 'बहुभवज्जियं' अनेकभवसचित । 'कम्मं' कर्म । 'पच्चक्खाणे उवउत्तो विसेसेण

गा०—इस प्रकार सर्वसघको क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्यको धारणकर, तप और समाधिमें लीन हुआ क्षपक भवभवमे कष्ट देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१६॥

गा०—धार्मिकोंका संरक्षण करनेवाले निर्यापक मुनिगण रात दिन विना थके उस क्षपककी समस्त परिचर्यामें लगे रहते हैं । और इस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करते हैं ॥७१६॥

गा०—असंख्यात लक्षकोटिभवोमे जो कर्मरज बाँधा है उसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक समयमे ही जीव नष्ट कर देता है ॥७१६॥

टी०—जैसे रज अर्थात् धूल शरीर आदिके सौन्दर्यको ढाँक देती है और शरीरमे दाद खाज आदि दोष उत्पन्न करती है वैसे ही कर्म जीवके ज्ञानादिगुणको ढाँकता है और अनेक कष्ट देता है इसलिए उसे रजके समान होनेसे रज कहा है । असंख्यातभवोमे सचित कर्मरज सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेपर एक समयमे ही निर्जीर्ण हो जाती है । तत्त्वार्थसूत्रमे कहा है—सम्यग्दृष्टी, श्रावक, प्रमत्तविरत, अनन्तानुबन्धीका विसयोजक, दर्शनमोहका क्षपक, उपशम श्रेणिवाला, उपशान्तमोही, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोही और अरहन्तके उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥७१६॥

गा०—जिस किसी तपमे लीन हुआ आत्मा अनेकभवोमे सचितकर्मोंको अल्पसमयमें ही

‘विष्णुर्षि’ यावज्जीव चतुर्विधाहारत्यागं परिणतं विशेषेण निरस्यति ॥७१७॥

एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसज्जाए ।

अणुपेहासु य जुत्तो संथारगजो धुणदि कम्मं ॥७१८॥

‘एवं’ उक्ततेन क्रमेण । ‘पडिक्कमणो’ प्रतिक्रमणे । ‘काउस्सगे य’ कायोत्सर्गे च । ‘विणयसज्जाए’ विनयस्वाध्याययो । ‘अणुपेहासु य जुत्तो’ अनुप्रेक्षासु च युक्त । ‘संथारगजो’ मस्तरारूढः । ‘कम्मं धुणदि’ कर्म क्षपयति । स्ववण गदं ॥७१८॥

इत उत्तर अनुशासन प्रक्रम्यते इति निगदति—

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्म दिंति अणुसिद्धि ।

संवेशां णिव्वेगं जणतयं कण्णजावं से ॥७१९॥

‘णिज्जवया आहारिया’ निर्यापका सूरय । ‘अणुसिद्धिं विंति’ श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षा प्रयच्छन्ति । ‘संथारत्थस्स’ मस्तरग्गस्य । ‘संवेगं’ ससारभीक्ता । ‘णिव्वेगं’ वैराग्यं च । ‘जणतयं’ उत्पादयन्त । ‘कण्ण-जावं’ कर्णजाप । ‘से’ तस्मै क्षपकाय ॥७१९॥

णिस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंधारं ।

उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणि ॥७२०॥

‘णिस्सल्लो’ मिथ्यादर्शनं, माया, निदान इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो नि क्कन्त । तत्त्वश्रद्धानेन, ऋजुतया, भोगनिस्पृहता वा ‘कदसुद्धी’ कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धि । विज्जावच्चकरव-सधिसंधारं’ विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याधय, उपसर्गा, परीषदा, असंयमो, मिथ्याज्ञान इत्यादि-भेदेन तस्यामापदि यत्प्रतिविधानं तद्वैयावृत्यं तत्करोति य आत्मन स वैयावृत्यकरस्त । वसतिसंधारं

निर्जाण कर देता है । और जो जीवनपर्यन्त चारो प्रकारके आहारका त्याग करता है वह विशेष-रूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१७॥

गा०—इस प्रकार मस्तरपर आरूढ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओमे लगनेपर कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१८॥

आगे कहते हैं कि क्षपकको सूरि शिक्षा देते है—

गा०—निर्यापक आचार्य मस्तरपर आरूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उसके कानमे शिक्षा देते है । वह शिक्षा ससारसे भय और वैराग्यको उत्पन्न करती है ॥७१९॥

कानमे क्या शिक्षा देते है, यह कहते है—

गा०—हे क्षपक ! निःशल्य होकर, रत्नत्रयको निर्मल करके तथा वैयावृत्य करनेवाले, वसति मस्तर और पीछी आदि उपधिका शोधन करके अब सल्लेखना करो ॥७२०॥

टी०—मिथ्यादर्शनं, माया, निदान ये तीन शल्य है । तत्त्वश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनको, सरलतासे मायाको और भोगोंको निस्पृहतासे निदानको दूर करके नि शल्य बनो । व्याधि, उपसर्ग, परीषद्, असंयम, मिथ्याज्ञान आदिके भेदसे विविध आपदाओंको विपदा कहते है । उस विपदाके आनेपर उसके प्रतिकार करनेको वैयावृत्य कहते है । जो क्षपककी वैयावृत्य करता है

वसतिस्तरं । उर्षां पिच्छादिक च । 'सोचयित्वा' विषोध्य । 'सल्लेहणं' सल्लेखना । 'कुण' कुरु । 'इवार्णं' इदानी । किं ? समयमासंयमविवेकज्ञा. असयम त्रिधा मनोवाक्यैः परिहरन्ति न वेति परीक्ष्य अयोग्यवैयावृत्यकरणा त्याग । योग्याना चानुज्ञा । पूर्वापरारङ्गयोर्वसते, सस्तरस्योपकरणाना च शुद्धिं कुर्वतेति आज्ञापयता तच्छुद्धिं कृता भवति ॥७२०॥

**मिच्छत्तस्स य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ।**

**भावणमोक्काररदिं णाणुवजुत्ता मदा कुणसु ॥७२१॥**

'मिच्छत्तस्स य वमणं' मिथ्यात्वस्य वमन । 'सम्मत्ते भावणा' तत्त्वश्रद्धाने असकृद्वृत्ति । 'परा भत्ती' । उत्कृष्टा भक्ति । 'भावणमोक्काररवी' नमस्कारो द्विविध द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कार इति । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारण, उत्तमाङ्गावनति, कृताञ्जलिता च द्रव्यनमस्कारः । नमस्कृतं व्याना गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रति । 'णाणुवयोगं' श्रुतज्ञानोपयोग च । सदा 'कुणसु' कुर्वति । सूत्रमिदं ॥७२१॥

**पंचमहव्वयरक्खा कोहचउक्कस्स णिग्गहं परमं ।**

**दुहंतिंदियविजयं दुविहतवे उज्जमं कुणसु ॥७२२॥**

'पंचमहव्वयरक्खा' पञ्चाना महाव्रताना रक्षा । 'कोहचउक्कस्स' रोषचतुःकस्य । 'णिग्गहं' निग्रह । 'परमं' प्रकृष्ट । 'दुहंतिंदियविजयं' दुर्दांतिन्द्रियविजय । 'दुविहतवे' द्विप्रकारे तपसि । 'उज्जमं' उद्योग । 'कुणसु' कुरु ॥७२२॥

**'मिच्छत्तस्स य वमणं' इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—**

वह वैयावृत्य करनेवाला है । हे क्षपक ! वैयावृत्य करनेवाला, वसति, सस्तर और पीछी आदिका शोधन करके तुम सल्लेखना करो ! इसका अभिप्राय यह है क्षपक यह देखे कि वैयावृत्य करनेवाले भुनि संयम और असयमके भेदको जानते है या नहीं ? वे मनवचनकायसे असयमका परिहार करते है या नहीं ? यह परीक्षा करके अयोग्य वैयावृत्य करनेवालोंको हटा दे और योग्य वैयावृत्य करनेवालोंको स्वीकार करे । पूर्वाह्नं और अपराह्नमे वसति, सस्तर और उपकरणोंकी शुद्धि करो ऐसी आज्ञा देनेपर उनकी शुद्धि मानी जाती है । इनकी शुद्धिपूर्वक तुम समाधि करो । अब तुम्हारा मरणसमय निकट है । ऐसा क्षपकके कानमे कहते है ॥७२०॥

गा०—मिथ्यात्वका त्याग करो । तत्त्वश्रद्धानकी भावना करो । अर्हन्त आदिमे उत्कृष्ट भक्ति करो । भावनमस्कारमे मन लगाओ । नमस्कारके दो भेद है—द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार । जिनदेवको नमस्कार हो इत्यादि शब्दोंका उच्चारण करना, मस्तक झुकाना, दोनो हाथ जोडना, ये सब द्रव्यनमस्कार है और नमस्कार करने योग्य अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुराग होना भावनमस्कार है । उस भावनमस्कारमे मन लगाओ और सदा श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाओ ॥७२१॥

गा०—गाँव महाव्रतोंकी रक्षा करो । क्रोध आदि चार कषायोंका उत्कृष्ट निग्रह करो । दुर्दान्त इन्द्रियोंको जीतो और दो प्रकारके तपमें उद्योग करो ॥७२२॥

'मिथ्यात्वका त्याग करने' गाथाके इस पदका व्याख्यान करते हैं—

संसारमूलहेतुं मिच्छत्तं सन्वधा विवज्जेहि ।

बुद्धी गुणणिणदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणादि ॥७२३॥

‘संसारमूलहेतुं’ संसारस्य मूलकारणं । ‘मिच्छत्तं’ अग्रदानं । ‘सन्वधा’ मनोवाककार्यं । ‘विवज्जेहि’ वञ्जय । ‘बुद्धी’ बुद्धिः । ‘गुणणिणदं पि हु’ गुणान्वितामपि । ‘मिच्छत्तं’ मिथ्यात्वं ‘मोहिदं’ मूढा । ‘कुणादि’ करोति । अत्रैवं विचार्यते । कथं प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न हीद संभाव्यते असयमादिभ्यो मिथ्यात्व प्रथममुपजातमिति कुत ? यथा मिथ्यात्व स्वनिमित्तसन्निधानाद्भवति, एवमसयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ? अथ तद्धेतुरेव दर्शनमोहः प्रथमं भवति परचाञ्चारित्रमोहादीनीत्येतदपि असत् सदा कर्माष्टकसद्भावात् । ‘एवं प्रामाण्यते सूत्रकार ‘मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः’ इति वचने मिथ्यात्व बन्धहेतुषु पूर्वमुपन्यस्त बन्धपुरःसरश्च संसारः, संसारमूलहेतुमिथ्यात्वमिति बुद्धि अर्थयाचात्म्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि मिथ्यात्व विपरीता करोति । अन्ये तु वदन्ति । ‘बुद्धी गुणणिण्या पि हु’ शुभूषाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेर्गुणास्तद्धेतुमपीति ॥७२३॥

अतद्वपवस्तुनि तद्गूपावभासिता कथं विज्ञानस्येत्याशङ्क्या विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावादित्याचष्टे—

मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा ।

तह य णरा वि असद्भूदं सद्भूतं ति मण्णंति मोहेण ॥७२४॥

‘मयतण्हिया’ मृगतृणिकाशब्देन आदित्यरश्मयो भ्रमेनोष्मणा संपृक्ता उच्यन्ते । ता अजलभूता । ‘मया मण्णंति उदयति’ मृगा मन्यते उदकामति । ‘यथा सतण्हया’ तृणासतत्तलोचना । ‘तह य’ तथैव । मृगा

गा०—मिथ्यात्व संसारका मूल कारण है उसका मनवचनकायसे त्याग करो; क्योंकि मिथ्यात्व गुणयुक्त बुद्धिको भी मूढ बना देता है ॥७२३॥

टी०—शङ्का—यहाँ विचारणीय यह है कि मिथ्यात्वको प्रथमस्थान क्यों दिया गया है ? असयम आदिसे मिथ्यात्व पहले उत्पन्न हुआ है यह सम्भावना भी सम्भव वही है क्योंकि जैसे मिथ्यात्व अपने निमित्तके होनेपर होता है वैसे ही असयम आदि भी होते हैं तब वह प्रथम क्यों ? यदि कहोगे कि उसका हेतु दर्शनमोह पहले होता है पीछे चारित्रमोह आदि होते हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आठो कर्म सदा रहते हैं ?

समाधान—सूत्रकारने तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है—‘मिथ्यादर्शनं अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्धके कारण है।’ यहाँ उन्होंने बन्धके कारणोमे मिथ्यात्वको प्रथम स्थान दिया है और बन्धपूर्वक संसार होता है अतः संसारका मूल कारण मिथ्यात्व है। वह पदार्थको यथार्थ रूपसे जाननेका गुण रखने वाली बुद्धिको भी विपरीत कर देता है।

अन्य आचार्य ऐसा व्याख्यान करते हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना और धारण करना आदि बुद्धिके गुण हैं। ऐसी गुणयुक्त बुद्धिको भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है ॥७२३॥

जो वस्तु जिस रूप नहीं है उसे ज्ञान उस रूप कैसे दिखलाता है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं कि मिथ्यात्व रूप निमित्तके सद्भावमे ज्ञान विपरीत भी होता है—

गा०—सूर्यकी किरणें पृथ्वीकी ऊष्मासे मिलकर जलका भ्रम उत्पन्न करती हैं उसे मृग-

१. एव सामान्यत सू०—आ० मु० ।

इव नरा अपि । 'असम्भवं सम्भवंति नन्वन्ति मोहेण' अतस्त्वमपि तत्त्वमित्यवगच्छन्ति दर्शनमोहेन हेतुना ॥७२४॥

परिहर तं मिच्छत्तं सम्पत्ताराहणाए ददच्चित्तो ।

होदि णमोक्कारम्मि य णाणे वदभावणासु धिया ॥७२५॥

मिथ्यात्वजन्यमोहमाहात्म्यप्रख्यापनायाह—

मिच्छत्तमोहणादो धत्तूर्यमोहण वर होदि ।

वड्ढेदि जम्ममरणं दसणमोहो दु ण दु इदरं ॥७२६॥

'मिच्छत्तमोहणादो' मिथ्यात्वजन्यान्मोहात् । 'धत्तूर्यमोहणं' उन्मत्तरसंस्वाजनितमोहन । 'वरं होदि' शोभन भवति । कथं ? 'वड्ढेवि' वर्धयति । 'जम्ममरणं' जन्ममरणं च विचित्रासु योनिषु । किं ? 'दंसणमोहो' दर्शनमोहजन्य कलङ्क । 'ण दु इदरं जम्ममरणं वड्ढेवि' नैव धत्तूरकमोहन जन्ममरणपरम्परा आनयति कतिपयदिनभाविमोहसम्पादनोद्यता-(-न्) अनन्तकालवर्तिवैपरीत्यजननक्षममोहन अतिशयेन निकृष्टमिति भावः । ततो जन्मरणप्रवाहमोहणा भवता त्याज्य मिथ्यात्व इति ॥७२६॥

ननु प्रागेव परित्यक्त मिथ्यात्व तत्कथं इदानीं तस्यागोपदेश इत्यत्राशङ्क्यायामिदमुच्यते—

जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभावितो संतो ।

ण रमिज्जं हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादब्बं ॥७२७॥

'जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभावितो संतो' जीवोऽनादिकालप्रवृत्तमिथ्यात्वभाविता सन् । 'ण रमिज्जं खु' नैव रमेत । 'सम्मत्ते' सम्यक्त्वं, 'एत्थ' अत्र सम्यक्त्वं । 'पयत्तं' प्रयत्न 'कादब्बं' खु' कर्तव्य एव ।

तूष्णा कहते है । जैसे प्याससे पीड़ित मूग उसे पानी जानते हैं वैसे ही मनुष्य भी दर्शनमोहके कारण अतस्त्वको भी तत्त्व जानता है ॥७२४॥

गा०—अतः हे क्षपक, सम्यक्त्वकी आराधनाके द्वारा उस मिथ्यात्वको दूर कर । ऐसा करनेसे पचपमेष्टीके नमस्कारमे ज्ञान और व्रताकी भावनामे चित्त दृढ़ होता है ॥७२५॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुए मोहका माहात्म्य कहते है—

गा०—टी०—मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न हुए मोहसे धत्तूरके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह (मूर्छा) उत्तम है; क्योंकि दर्शन मोहसे उत्पन्न हुआ मोह नाना योनियोंमे जन्ममरणको बढ़ाता है किन्तु धत्तूरके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह जन्ममरणकी परम्पराको नहीं बढ़ाता । अतः कुछ दिनोंके लिए मोह उत्पन्न करने वाले धत्तूरके मदसे अनन्त कालके लिए विपरीत बुद्धि उत्पन्न करनेमे समर्थ मिथ्यात्वका मोह अत्यन्त बुरा है । अतः जन्ममरणकी परम्परासे भीत आपकी मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिए ॥७२६॥

यहाँ यह शंका होती है कि मिथ्यात्वका त्याग तो पहले ही कर दिया यहाँ उसके त्यागका उपदेश क्यों ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यह जीव अनादि कालसे चले आते हुए मिथ्यात्वसे भावित होता आया है इससे

अनन्तकाले परिभाविर्त मिथ्यात्वं दुस्त्यजं तदेव दुःखत्याज्य । यथोरगश्चिरपरिचित छिद्र निवार्यमाणोऽपि बलात्प्रविशति इति कर्तव्य सम्यक्त्वे दाढर्षं ॥७२७॥

**अग्निविसर्किण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू ।**

**जं कुण्णदि महादोसं तिब्बं जीवस्स मिच्छत्तं ॥७२८॥**

‘अग्निविसर्किण्हसप्पादियाणि’ अग्निविष कृष्णसर्प इत्यादीनि । ‘बोस ण तं करेज्जण्हू’ दोष त न कुर्मुः । ‘जं कुण्णदि’ य करोति । ‘महादोसं’ महान्त दोषं । ‘जीवस्स’ जीवस्म । ‘तिब्बं’ तीव्र । किं ? ‘मिच्छत्तं’ मिथ्यात्वं अग्रदान ॥७२८॥

**अग्निविसर्किण्हसप्पादियाणि दोसं करति एयभवे ।**

**मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भवकोडिकोडोसु ॥७२९॥**

अग्न्यादिभिः क्रियमाणस्य अल्पता मिथ्यात्वेन सपात्तरय च महत्ता दर्शयत्युत्तरगाथया । अग्न्यादीन्येक-भवदुःखदानि मिथ्यात्वं पुनर्दोषं करोति भवाना कोटाकोटोपु ॥७२९॥

**मिच्छत्तसल्लविद्धा तिब्बाओ वेदणाओ वेदंति ।**

**विसल्लत्तकंडविद्धा जह पुग्गिमा णिप्पडीयारा ॥७३०॥**

‘मिच्छत्तसल्लविद्धा’ मिथ्यात्वाख्येन शल्येन विद्धा ‘तिब्बाओ वेदणाओ’ तीव्रा वेदना । ‘वेदंति’ अनुभवन्ति । ‘विसल्लत्तकंडविद्धा’ विफलितेन शरेण विद्धा । ‘जह’ यथा । ‘पुग्गिमा’ पुरुषा । ‘णिप्पडीयारा’ निघ्नतीकारा ॥७३०॥

**अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पडिडाइं ।**

**कालगदो वि य सतो जादो सो दीहसंसारे ॥७३१॥**

‘अच्छीणि’ अक्षिणी । ‘संघसिरिणो’ मद्ब्रथीसजितस्य । ‘मिच्छत्तणिकाचणेण’ मिथ्यात्वप्रकर्षेण । ‘पडिडाणि’ पतिते । ‘इहेव’ जन्मनि । ‘कालगदो वि य सतो’ मृत्वापि । ‘जादो सो’ जातोऽसौ । ‘दीहसंसारे’ दीर्घमसारे ॥७३१॥

सम्यक्त्वमे वह नही रमता । इसलिए सम्यक्त्वमे प्रयत्न करना ही चाहिए । अनन्त कालमे अच्छी तरह भाया गया मिथ्यात्व बडे कष्टसे छूटता है । जैसे सर्प रोकने पर भी अपने चिर परिचित बिलमे बलपूर्वक घुस जाता है । अतः सम्यक्त्वमे दृढता कर्तव्य है ॥७२७॥

गा०—आग, विष, काला सर्प आदि जीवका उतना दोष नहीं करते जैसा महादोष तीव्र मिथ्यात्व करता है ॥७२८॥

आगेकी गाथासे आग आदिके द्वारा किये गये दोषकी अल्पता और मिथ्यात्वके द्वारा किये गये दोषकी महत्ता बतलाते है—

गा०—आग आदि तो एक भवमे ही दुःख देते हैं । किन्तु मिथ्यात्व करोडो भवोमे दुःख देता है ॥७२९॥

गा०—मिथ्यात्व नामक शल्यसे बीधे गये जीव तीव्र वेदना भोगते हैं । जैसे विपैले बाणसे छेदे गये मनुष्योंका कोई प्रतीकार नहीं होता । अर्थात् वे अवश्य मर जाते हैं ॥७३०॥

यदि नाम उपगतमिध्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धरं चारित्रमनुष्ठित मया तवस्मान्निस्तरणे समर्थमित्याशा न कर्तव्येति निदर्शयति—

**कडुगम्भि अणिव्वल्लिदम्भि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं ।**

**होदि णिहिदं तु णिव्वल्लियम्मि य मधुरं सुगंध च ॥७३२॥**

‘कडुगम्भि दुद्धिए’ कटुकालाब्दां । ‘अणिव्वल्लिदम्भि’ अशुद्धाया । ‘णिहिदं खीरं’ निक्षिप्तं खीर । ‘जहा कडुगमेव होदि’ यथा कटुकरसमेव भवति । एवकारेण माधुर्यव्यावृत्तिः क्रियते । ‘णिव्वल्लियम्मि य’ शुद्धायामलाब्दा । ‘णिहिदं’ निक्षिप्तं खीरं ‘जह मधुरं होदि सुगंध च’ यथा मधुरं भवति सुरभि च ॥७३२॥

**तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि ।**

**णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥७३३॥**

‘तह’ तथा ‘मिच्छत्तकडुगिदे’ मिध्यात्वेन कटुकृते जीवे । ‘तवणाणचरणविरियाणि’ तपो, ज्ञानं, चारित्र्य, वीर्यमित्येतानि ‘णासंति’ नश्यन्ति ‘सम्यक् रूपविनाशात्’ । समीचीन तपो, ज्ञान, चरण, वीर्यानि-गूहन च मुक्त्युपायो न तप प्रभृतिमात्र । स च सम्यक्श्रद्धाबलेनैव नान्यथा । ‘वंतमिच्छत्तम्मि’ निरस्तमिध्यात्वे जीवं । सफलाणि फलसमन्वितानि तप प्रभृतीनि । ‘जायन्ति’ जायन्ते । [ कि<sup>२</sup> तपस फल ? अभ्युदयसुख, नि.श्रेयससुख वा । मि छत्तस्स य वमण इत्येतद्व्याख्यात । मिच्छत्त ] ॥७३३॥

सम्मत्त भावणा इत्येतद्व्याचष्टे—

**मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे ।**

**सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥७३४॥**

गा०—मंघश्री नामक राजमन्त्रीकी आंखें तीव्र मिध्यात्वके कारण फूट गईं और वह मर कर भी दीर्घ ससारी हुआ ॥७३४॥

शायद क्षपक विचारे कि यदि मैं मिध्यादृष्टि हूँ तब भी मैंने दुर्धर चारित्रका पालन किया है अतः मैं ससार समुद्रको पार करनेमें समर्थ हूँ ? आचार्य कहते हैं कि ऐसी आशा नहीं करना—

गा०—जैसे अशुद्ध कडुवी तूम्बीमें रखा दूध कटुक ही होता है और शुद्ध तूम्बीमें रखा दूध मीठा तथा सुगन्धित होता है ॥७३२॥

गा०—वैसे ही मिध्यात्वसे दूषित जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, ये सब नष्ट हो जाते हैं क्योंकि सम्यक् रूप नहीं होते । समीचीन तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य मुक्तिके उपाय हैं, केवल तप आदि मात्र मुक्तिका उपाय नहीं है । और समीचीन तप आदि श्रद्धाके बलसे ही होते हैं, श्रद्धाके अभावमें नहीं होते । अतः मिध्यात्वको दूर कर देने वाले जीवमें तप आदि सफल होते हैं । तपका फल सासारिक सुख अथवा मोक्षका सुख है । इस प्रकार मिध्यात्वके वमनका कथन किया ॥७३३॥

अब सम्यक्त्यकी भावनाका कथन करते हैं—

१ सम्यक् रूपविनाशात्—मूलारा० मु० ।

२. [ ] एतदन्तर्गत पाठ ‘अ’ प्रती नास्ति ।

३ कि त्येतद्व्याचष्टे—अ० ।



'आ कासि' मा कार्षीः । 'क्ष' भवान् । 'पमाव' प्रमादं । 'सम्पत्ते' सम्पत्त्वे । 'सम्बहुःक्षणसासणे' सर्व-  
दुःखनिर्मूलनोद्यते । कथं सम्पत्त्वं सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीन्यपि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत  
वाह—

'सम्पत्सं क्षु' श्रद्धानमेव तत्त्वस्य । 'पबिद्व' आधारः । 'गणचरणवीरियतवाणं' ज्ञानस्य, चरणस्य,  
वीर्याचारस्य, तपसश्च । ननु सर्व एव परिणाम परिणामिद्रव्याधारो न परस्परमधिकरणता याति तत कथ-  
मुच्यते सम्पत्त्वभाधार इति । यथा परिणामिद्रव्यमन्तरेण ज्ञानादीनामनवस्थितिरेवं समीचीनता तथा न दर्शन  
बिनेति दर्शनस्याधारता ॥७३४॥

गगरस्स जह दुवारं मुहस्स चवस्स तरुस्स जह मूलं ।

तह जाण सुसम्भत्तं पाणचरणवीरियतवाणं ॥७३५॥

'गगरस्स जह दुवारं' नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशनोपायो यथा द्वार । 'तह' तथा 'सम्पत्सं' सम्पत्त्वं  
द्वार । 'पाणचरणवीरियतवाणं' ज्ञानादीना । एव हि ज्ञानादीन्यनुप्रविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो भवेत्स-  
म्पत्त्वे तदन्तरेण सम्पत्ज्ञानाद्यनुप्रवेशस्यामभवात् । न हि सातिशयमवध्यादि, यथाख्यातं चारित्र, बहुतरनिर्ज-  
रनिमित्त वा तप प्रतिलभते जन्तु सम्पत्त्वं विना । 'मुहस्स चवस्स जहा' मुखस्य चक्षुर्यथा शोभाविधायि  
ताय ज्ञानादीना सम्पत्त्व विधत्ते श्रद्धान । 'तस्स मूलं यथा' तनूमूल यथा स्थितिनिबन्धन, तथा सम्पत्त्व  
ज्ञानादिस्थितिनिमित्त ॥७३५॥

भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरतो वा ।

घम्माणुरागरतो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥७३६॥

गा०-टी०—सब दु खोको जडमूलसे उखाडनेमे तत्पर सम्पत्त्वके विषयमे आप प्रमाद न  
करे । 'सम्पत्त्व ही सब दु-खोका नाश करने वाला कैसे है ? ज्ञान आदि भी तो सब दु खोको दूर  
करनेमे निमित्त है ? ऐसा कोई कहे तो आचार्य कहते हैं—ज्ञान, चारित्र, वीर्याचार और तपका  
आधार तत्त्वका श्रद्धान ही है ।

शंका—सब परिणाम परिणामी द्रव्यके आधारसे रहते है । वे परस्परमे एक दूसरेके आधार  
नहीं होते । तब आप सम्पत्त्वको ज्ञानादिका आधार कैसे कहते है ?

समाधान—जैसे परिणामी द्रव्यके बिना ज्ञानादि नहीं रहते वैसे ही वे सम्पददर्शनके बिना  
समीचीन नहीं होते । इसलिए सम्पददर्शन उनका आधार होता है ॥७३४॥

गा०-टी०—जैसे नगरमे प्रवेश करनेका उपाय उसका द्वार होता है वैसे ही ज्ञान, चारित्र,  
वीर्य और तपका द्वार सम्पत्त्व है । यदि जीव सम्पत्त्व रूपसे परिणत होता है तो वह ज्ञानादि-  
मे प्रवेश कर सकता है । सम्पत्त्वके बिना ज्ञानादिमे प्रवेश सम्भव नहीं है । सम्पत्त्वके बिना  
जीव सातिशय अवधि ज्ञान आदि, यथाख्यात चारित्र अथवा बहुत निर्जरामे निमित्त तपको प्राप्त  
नहीं कर सकता । तथा जैसे नेत्र मुखको शोभा प्रदान करते हैं वैसे ही सम्पत्त्वसे ज्ञानादि शोभित  
होते हैं । तथा जैसे जड़ वृक्षकी स्थितिमें कारण है वैसे ही सम्पत्त्व ज्ञानादिकी स्थितिमें निमित्त  
है ॥७३५॥

गा०—इस जगत्मे लोग परपदार्थोंमे अनुराग रूप है, स्नेही जनोमे प्रेमानुरागी हैं । कोई

दंसणमड्डो भड्डो दंसणमड्डस्स णत्थि णिव्वाणं ।  
 सिज्झन्ति चरियमड्डा दंसणमड्डा ण सिज्झन्ति ॥७३७॥  
 दंसणमड्डो भड्डो ण हु भड्डो होइ चरणमड्डो हु ।  
 दंसणमड्डुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ॥७३८॥

‘दंसणमड्डो भड्डो’ दर्शनाद्भ्रष्टो भ्रष्टतमः । ‘चरणमड्डो षि’ चारित्र्यभ्रष्टोऽपि दर्शनाद्भ्रष्टः । ‘ण हु’ न वा । ‘भड्डो होविति’ वाक्यशेषे कृत्वा सवन्धः । न तु तथा भ्रष्टो भवति चारित्र्यभ्रष्ट यथा दर्शनाद्भ्रष्टः । ‘बंसणं’ श्रद्धानि । ‘अड्डुयत्तस्स’ अत्यजत । चारित्र्याद्भ्रष्टस्यापि ‘परिवडणं संसारे णत्थि षु’ परिपतन संसारे नास्त्येव । अमयमनिमित्ताजितपापसंहृतेरस्त्येव ससारः । किमुच्यते परिपतन नास्तीति ? अयमभिप्रायः—परि समन्तात्सवामि गतिषु चतसृषु सचरण नास्तीति । स्वल्पत्वात्संसारः सन्नपि नास्तीति व्यवह्रियते । तथा हि स्वल्पप्रविणोऽधन इत्युच्यते । दर्शनात् प्रभ्रष्टस्य अर्धपुद्गलपरिवर्तनं भवत्यतिमहत्संसारमिति निकृष्टतमो दर्शनाद्भ्रष्टः ॥७३८॥

एकं कस्य दर्शनस्य माहात्म्यं कथयति—

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ।

जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि ॥७३९॥

‘शुद्धे’ शुद्धे । ‘सम्मत्ते’ सम्यक्त्वे । शङ्काघटिचाराभावात् । ‘अविरदो वि’ अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानामुदयात् हिंसादिनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । ‘तित्थयरणामकम्मं’ तीर्थकरत्वस्य कारणं कर्म

मज्जानुरागी है । किन्तु तुम जिनशासनमे रहकर सदा धर्मानुरागी रहो ॥७३९॥

गा०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टका अनन्तानन्त कालमे भी निर्वाण नहीं होता । जो चारित्र्यसे भ्रष्ट है किन्तु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं है उसका कुछ कालमे निर्वाण होगा । परन्तु जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है उसका निर्वाण अनन्त कालमे भी नहीं होगा ॥७३७॥

गा०-टी०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह अत्यन्त भ्रष्ट है । किन्तु चारित्र्यसे भ्रष्ट होने पर भी सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं है वह भ्रष्ट नहीं है । सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जंसा होता है चारित्र्यसे भ्रष्ट वैसा नहीं होता । चारित्र्यसे भ्रष्ट होकर भी जो सम्यग्दर्शनको नहीं त्यागता उसका ससारमे पतन नहीं होता ।

शंका—असयमके निमित्तसे उपाजित पाप कर्मके होनेसे उसका ससार रहता ही है । आप कैसे कहते है कि उसका ससारमे पतन नहीं होता ?

समाधान—हमारे कथनका अभिप्राय यह है कि उसका चारो गतियोमे भ्रमण नहीं होता । यद्यपि ससार रहता है किन्तु स्वल्प रहता है अतः ‘नहीं रहता’ ऐसा कहनेमे आता है जैसे स्वल्प वन वालेको निर्धन कहा जाता है । किन्तु जो सम्यग्दर्शन पाकर उससे भ्रष्ट हो जाता है उसका संसार अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण रहनेसे महान् संसार होता है । अतः चारित्र्य भ्रष्टसे दर्शन भ्रष्ट अति निकृष्ट होता है ॥७३८॥

गा०-टी०—एकाकी सम्यग्दर्शनका माहात्म्यं कहते हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान

अर्जयति । विनयसम्पन्ननादिरपि तीर्थकरनामकर्मणो हेतुरेव ततः कीर्तितशयो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने सत्येव तेषां तीर्थकरनामकर्मणः कारणता, नाम्यथेति मन्यते । 'आवो खू' जात खलु । 'श्रेणिको' श्रेणिक । 'आम-  
नेसि' भविष्यति काले । अहो अहं 'अविरवो वि' असंयतोऽपि सन् । ननु श्रेणिको भविष्यत्यहं न त्वहंत्त्वं  
तस्यातीत तेन कथमुच्यते जात इति ? भविष्यदहंत्वं न निष्पन्न इति युक्तमुच्यते जात इति ॥७३९॥

**कल्लाणपरंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।**

**सम्महंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥७४०॥**

'कल्लाणपरंपरयं' कल्याणपरम्परा इन्द्रत्व, सकलचक्रलाघनता, अहमिन्द्रत्व, तीर्थकुत्त्वमित्यादिक  
लभन्ते जीवा । 'विसुद्धसम्मत्ता' विशुद्धसम्भक्त्वा । 'सम्महंसणरयणं' सम्यग्दर्शनरत्न 'णग्घदि ससुरासुरो  
लोओ' सकलो लोको मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः ॥७४०॥

**सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य ह्वेज्ज जो लंभो ।**

**सम्महंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७४१॥**

**लद्धूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिमिदेण कालेण ।**

**लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि भोक्खं ॥७४२॥**

स्पष्टार्थतया न व्याख्यायते गाथाद्वयम् अनन्तर सम्मत्ते भावना इत्येतद्व्याख्यात । सम्मत्त ॥७४२॥

माया लोभके उदयमे हिंसा आदिकी निवृत्ति रूप परिणामोसे रहित अविरत भी शका आदि अति-  
चांगेसे गहित शुद्ध सम्यक्त्वके होने पर तीर्थकर पदके कारणभूत कर्मका उपार्जन करता है ।

**शंका**—विनय सम्पन्नता आदि भी तीर्थकर नाम कर्मके आख्रवमे कारण होते है तब  
उनसे सम्यग्दर्शनकी क्या विशेषता हुई ?

**समाधान**—सम्यग्दर्शनके होने पर ही विनय सम्पन्नता आदि तीर्थकर नाम कर्मके कारण  
होते है, उसके अभावमे कारण नहीं होते । देखो, असयमी भी श्रेणिक भविष्यमे तीर्थकर हुआ ।

**शङ्का**—श्रेणिक तीर्थकर होगा, भविष्यकालमे, अभी वह हुआ नहीं है, फिर उसे 'हुआ'  
क्यो कहा ?

**समाधान**—श्रेणिकका अहंनपना आगे होगा, अभी हुआ नहीं है इसलिए 'भविष्यमे  
हुआ' ऐसा कहा है ॥७३९॥

**गा०**—विशुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रपद, चक्रवर्तिपद, अहमिन्द्रपद, तीर्थकरपद आदि  
कल्याणपरम्पराको प्राप्त करते है । मूल्यके रूपमे समस्तलोक देनेपर भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नहीं  
होता ॥७४०॥

**गा०**—सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बदलेमे यदि तीनों लोक प्राप्त होते ही तो त्रेलोक्यकी प्राप्तिसे  
सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति श्रेष्ठ है ॥७४१॥

**गा०**—तीनों लोक प्राप्त करके भी कुछ काल बीतनेपर वे छूट जाते है । किन्तु सम्यक्त्वको  
प्राप्त करके अविनाशी सुखवाला मोक्ष प्राप्त होता है ॥७४२॥

सम्यक्त्वभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

परा भक्ती इत्येतद्व्याख्यानाय प्रबन्ध उत्तर—

**अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहुसु ।**

**तिव्वं करेहि भक्ती णिव्विदिगिच्छेण भावेण ॥७४३॥**

‘अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहुसु’ अहंत्सिद्धेसु तत्प्रतिबिम्बेषु, प्रवचने, आचार्येषु सर्व-साधुषु च । ‘तिव्वं भस्ति करेहि’ तीव्रा भक्ति कुविति । ‘णिव्विदिगिच्छेण’ विचिकित्सारहितेन । ‘भावेण’ परिणामेन ॥७४३॥

जिनभक्तिमाहात्म्य कथयन्ति—

**संवेगजणिदकरणा णिससल्ला मंदरोव्व णिव्वकंपा ।**

**जस्म दढा जिणभक्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥७४४॥**

‘संवेगजणिदकरणा’ मसारभोरुतया उत्पावितात्मलाभा । ‘णिससल्ला’ मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन, च रहिता । ‘मंदरोव्व णिव्वकंपा’ मन्दर इव निवचला । ‘जस्स दढा जिणभक्ती’ यस्य दृढा जिनभक्ति । ‘तस्स संसारे भय णत्थि’ तस्य ससारनिमित्त भयं नास्ति ॥७४४॥

**एया वि सा समत्था जिणभक्ती दुग्गहं णिवारेदि ।**

**पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥७४५॥**

**तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ।**

**भक्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥७४६॥**

**विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।**

**किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ॥७४७॥**

‘विज्जा’ विद्यापि । ‘भत्तिवंतस्स’ भक्तिमत । ‘सिद्धिमुवयादि’ सिद्धिमुपयाति । ‘होदि सफला य’ फलवती च भवति । ‘किह पुण’ कथ पुन । ‘णिव्वुदिबीजं’ निर्वृतिबीज रत्नत्रय ‘सिज्झहिदि’ सेत्स्यति ।

अब ‘परा भक्ति’ का व्याख्यान करते हैं—

गा०—हे क्षपक । ग्लानिरहित भावसे अहंन्त, सिद्ध, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओंमें तीव्र भक्ति करो ॥७४३॥

जिन भक्तिका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—संसारके भयसे उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व माया और निदान शक्तियोंसे रहित तथा सुमेरुकी तरह निवचल दृढ़ जिनभक्ति जिसको है उसे संसारका भय नहीं है ॥७४४॥

गा०—एक ही जिनभक्ति दुर्गतिका निवारण करनेमें, पुण्यकर्मोंको पूर्ण करनेमें और मोक्षपर्यन्त सुखांको परम्पराको देनेमें समर्थ है ॥७४५॥

गा०—तथा सिद्ध, परमेष्ठी, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओंमें तीव्र भक्ति संसारका विनाश करनेमें समर्थ है ॥७४६॥

‘अभक्तिमंतस्त’ भक्ति रहितस्य क्व ? अर्हदादिषु ॥७४७॥

तेसिं आराधणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति ।

धत्तिं पि संजमंतो सालिं सो ऊसरे ववदि ॥७४८॥

‘तेसिं आराधणायगाण’ अर्हदादीना आराधनाया नायकाना । ‘ण करिज्ज जो णरो भत्ति’ यो नरो भक्ति न करोति । सो धत्तिं पि संजमंतो’ नितरा समये उद्यतोऽपि शालीनूपरे देशे वपति । ऊसरे शालिवपन अफलं यथा क. करोत्येव दुद्वरं संयमं चरत्यय अर्हदादिषु भक्तिरहितो मिथ्यादृष्टिः सन्निति भावः ॥७४८॥

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमग्गएण विणा ।

आराधणमिच्छन्तो आराधणमत्तिमकरंतो ॥७४९॥

‘बीएण विणा सस्सं’ शस्यमिच्छति बीजेन विना । ‘वासमग्गएण विणा’ वर्षं वाञ्छति अन्धेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । ‘आराधणं’ रत्नत्रयसंसिद्धिं इच्छति अकुर्वन्नाराधनाभक्तिं हेतु-भूता ॥७४९॥

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।

तह अरहादिगमत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ॥७५०॥

‘विधिणा कदस्स’ विधीयते जन्यते कार्यमनेनेति कारणसदोहो विधि । तेन कारणकलापेन कृत-स्योप्तस्य । ‘सस्सस्स’ सत्यस्य । ‘वास जह’ णिप्पादय हवदि’ वर्षं यथा फलनिष्पाति करोति । ‘तह’ तथैव । ‘आराहगमत्ती’ आराधकेषु अर्हदादिषु ‘भत्ती’ भक्ति । ‘णाणचरणदंसणतवाणं’ ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च निष्पादिका भवति ॥७५०॥

गा०—विद्या भी भक्तिमानकी ही सिद्ध और सफल होती है । तब जो अर्हन्त आदिमें भक्ति नहीं रखता उसके मोक्षका बीज रत्नत्रय कैसे सिद्ध-प्राप्त हो सकता है ? ॥७४७॥

गा०—दर्शन आदि आराधनाओके नायक अर्हन्त आदिकी जो मनुष्य भक्ति नहीं करता वह समयमें अत्यन्त तत्पर होते हुए भी धान्यको ऊसर भूमिमें बोता है ॥६४८॥

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि ऊसर भूमिमें कौन धान बोता है । क्योंकि उसका कोई फल नहीं है । उसी प्रकार यह अर्हन्त आदिमें भक्तिरहित अर्थात् मिथ्यादृष्टि होते हुए कठिन समयका आचरण करे तो वह निष्फल है ॥७४८॥

गा०—आराधनाके नायकोकी भक्ति न करके जो आराधना अर्थात् रत्नत्रयकी सिद्धि चाहता है वह बीजके विना धान्य चाहता है और बादलोके विना वर्षा चाहता है ॥७४९॥

गा०—जिससे कार्य किये जाते है उसे विधि कहते हैं अतः विधिकी अर्थ होता है—कारणोंका समूह । उस विधिसे बोये गये धान्यको वर्षा जैसे उत्पन्न करती है उसी प्रकार अर्हन्त आदिकी भक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपकी उत्पादक होती है ॥७५०॥

भक्तिमाहात्म्यं फलातिशयोपवर्धनेन कथयितुकामोऽर्थाख्यानमुपनिषति गाथायाम्—

**चंदणभक्तीमित्तेण मिहिलाहिओ य पउमरहो ।**

**देविंदपाडिहेंरं पचो जादो गणधरो य ॥७५१॥**

‘चंदणभक्तीमित्तेण’ वन्दनानुरागमात्रेण चं वं । ‘मिहिलाहिओ य पउमरहो’ मिथिलानगराधिपति पद्म-  
रथो नाम । ‘देविंदपाडिहेंरं पचो’ देवेन्द्रकृता पूजा प्राप्तवान् । ‘जाओ गणधरो य’ गणधरवच जात ।  
भक्ती ॥७५१॥

**आराधणापुरस्सरमण्णह्दिओ विसुद्धलेस्साओ ।**

**संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥७५२॥**

‘आराधणापुरस्सर णमोक्कार मा मोचीओ’ आराधनाया अग्रसर नमस्कार मा मुख । कीदुभूत ?  
‘संसारस्स खयकरं’ संसारं य पञ्चविधपरिवर्तमानस्य खयकरं । ‘अण्णह्दिओ’ अनन्यगतचित्तं सन् । ‘विसुद्ध-  
लेस्साओ’ विसुद्धलेख्यया परिणतं । तत्र नमस्कार नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पेन चतुर्धा व्यवस्थित । तत्र  
नाम नमस्कारो नाम यस्य कस्यचित्त्रमस्कार इति कृता सज्ञा इदमस्य नामधेय यथा स्यादिति नियुज्यमान पद  
मर्चं सर्वत्र प्रवर्तते । एव नमस्करणव्यापृतो जीवस्तस्य कृताञ्जलिपूटस्य यथाभूतेनाकारेणावस्थापिता मूर्ति  
स्थापनानमस्कारः । नमस्कारप्राभूत नामास्ति ग्रन्थ यत्र नयप्रमाणनिक्षेपादिमुखेन नमस्कारो निरूप्यते, त यो  
वेत्ति न च माप्रत तन्निरूप्येऽर्थे उपयुक्तोऽन्यगतचित्तत्वान् स नमस्कारयाथात्म्यग्राहिश्चतज्ज्ञानस्य कारणत्वादा-  
गमद्रव्यनमस्कार इत्युच्यते । नो आगमद्रव्यनमस्कारस्त्रिविध, ज्ञायकशरीरभाविद्विधतिरिक्तभेदान् । नमस्कार-

विशिष्ट फलके द्वारा भक्तिका माहात्म्य कहनेकी इच्छासे ग्रन्थकार उदाहरण उपस्थित करते हैं—

गा०—तीर्थकरकी वन्दनाके अनुरागमात्रमे मिथिला नगरका स्वामी पद्मरथ देवेन्द्रके द्वारा पूजित हुआ और वासुपूज्य तीर्थकरका गणधर हुआ ॥७५१॥

विशेषार्थ—मिथिलाका राजा पद्मरथ भगवान् वासुपूज्य तीर्थकरकी वन्दनाके लिए गया । मार्गमे दो देवोंने उसकी परीक्षाके लिए घोर उपमर्ग किया । किन्तु वह विचलित नहीं हुआ । देवोंने उसकी दृढभक्तिसे प्रसन्न होकर उसकी पूजा की । और वह भगवान् वासुपूज्यके समव-  
शरणमे जाकर दीक्षा ग्रहण करके उनका गणधर बन गया ॥७५१॥

गा०—नमस्कार मन्त्र आराधनाका अग्रसर है, नमस्कारमन्त्रपूर्वक ही आराधना की जाती है । पांच परावर्तनरूप संसारका क्षय करनेवाला है । सब ओरसे मनको हटाकर विसुद्ध लेश्यापूर्वक नमस्कार मन्त्रकी आराधना कर । इसे छोडना नहीं ॥७५२॥

टी०—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे नमस्कार चार प्रकारका होता है । जिस किसीका नमस्कार नाम रखना नाम नमस्कार है । इसका यह नाम है इस प्रकारका व्यवहार सर्वत्र चलता है । इसी प्रकार नमस्कार करते हुए जीवकी दोनो हाथोंको जोड़े हुए आकारकी स्थापित मूर्ति स्थापना नमस्कार है । नमस्कार प्राभूत नामक ग्रन्थमें नय, प्रमाण, निक्षेप आदिके द्वारा नमस्कारका कथन है । जो उसे जानता है किन्तु वर्तमानमे उसमे कहे हुए अर्थमे उपयुक्त नहीं है, उसका मन अन्यत्र लगा है । वह व्यक्ति नमस्कारके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले ध्रुतज्ञानका कारण होनेसे आगमद्रव्य नमस्कार कहाता है । नो आगमद्रव्य नमस्कारके तीन भेद

प्राभूतज्ञस्य यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तदप्यन्तरेण श्रुतज्ञानं नोपजायते इति शरीरमपि कारणं तत्रापि नमस्कार-  
शब्दो वर्तते । यत् तद् भूतशरीरं त्रिविकल्पं च्युत, च्यावितं त्यक्तमिति । आयुषो नि शेषगलनादात्मनश्च्युत  
एकं । चेतनस्य वा उपसर्गस्य बलाद् च्यावितं च्यावितशब्देनोच्यते । आयुषोऽभावमवेत्य आत्मनैव यत्यक्त तस्य-  
कशब्देनोच्यते । तत्रिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानं, प्रायोपगमन, इङ्गिनीमरण इति । तेष्वन्यतमेन त्यक्त विधिना  
कायकषायसल्लेखानुपुर.सर प्रद्व्यात प्रभूति निर्यापकगुरुसमाश्रयणदिवसमस्य कृत्वा मध्ये प्रवृत्तान् ज्ञानदर्शन-  
चारित्राणा अतिचारानालोच्य तदभिमतप्रायश्चित्तानुसारिणः द्रव्यभावसल्लेखनामुपगतस्य त्रिविधाहारप्रत्या-  
स्थानादिक्रमेण रत्नत्रया राघन भक्तप्रत्याख्यान । इङ्गिनीमरणप्रायोपगमने वक्ष्यमाणलक्षणे । तै परित्यक्त  
त्यक्तमुच्यते । यदेव तस्सति जीवे नमस्कारोपयोगवति जीववदेव कारणमामीन्मस्कारोपयोग्य तदेवेदमिति  
तत्रापि नमस्कारशब्द प्रवर्तते । नमस्कारोपयोगरूपेण यो भविष्यति स भावीति भण्यते । स्थापना अहंदा-  
दीनां नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तनोकर्मनमस्कारशब्देनोच्यते । आगमनस्कारज्ञान आगमभावनमस्कारः । नमस्क्र-  
यमाणहंदादिगुणानुगवत मुकुलीकृतकरकमलस्य, प्रणामो नो आगमभावनमस्कार इह गृह्यते ।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानैरनुयोगद्वारैरिहोच्यते । अहंदादिगुणानुगवत आत्मनो  
वाककायक्रियास्तवनशिरोवनतिरूपो नमस्कारः । सम्यग्दृष्टिर्नो आगमभावनमस्कारस्य स्वामीति । मतिश्रुत-

हे—जायकशरीर, भावि, तद्व्यतिरिक्त । नमस्कार प्राभूतके ज्ञाताका जो त्रिकालवर्ती शरीर है,  
उसके विना भी श्रुतज्ञान नहीं होता, इसलिए शरीर भी कारण है अत उसे भी नमस्कार शब्दसे  
कहते हैं । उनमेसे जो भूत शरीर है उसके तीन भेद है—च्युत, च्यावित, त्यक्त । आयुषोके  
पूर्णरूपसे समाप्त होनेपर छूटा शरीर च्युत कहाता है । उपसर्गके कारण छूटा शरीर च्यावित  
कहाता है । आयुषो अभाव जानकर स्वय ही त्याग किया शरीर त्यक्त कहाता है । उस त्यक्त  
शरीरके तीन भेद है—भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, इङ्गिनीमरण । उनमेसे किसी एक विधिसे  
शरीर और कषायकी सल्लेखनापूर्वक छोडा गया शरीर त्यक्त है । दीक्षा ग्रहण करनेमे लेकर  
निर्यापक गुरुके पास आश्रय लेनेके अन्तिम दिनतक लगे ज्ञान दर्शन और चारित्रके अतिचारोकी  
आलोचना करके गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको स्वीकार करके द्रव्यसल्लेखना और भाव-  
सल्लेखनापूर्वक तीन प्रकारके आहारके त्याग आदिके क्रमसे रत्नत्रयकी आराधना करना भक्त-  
प्रत्याख्यान है । इङ्गिनीमरण और प्रायोपगमनका कथन आगे करेगे । इन तीनोंके द्वारा त्याग  
गया शरीर त्यक्त कहाता है । जब शरीरके रहनेपर जीव नमस्कारमे उपयोग लगाता था तब  
जीवकी तरह ही शरीर भी नमस्कारमे उपयोग लगानेमे कारण था । वही यह शरीर है इस प्रकार  
शरीरमे नमस्कार शब्दकी प्रवृत्ति होती है । जो भविष्यमे नमस्कारमे उपयोगरूपसे परिणत होगा  
उसे भावि कहते हैं । अहंन्त आदिकी स्थापनाको नोआगमद्रव्य व्यतिरिक्त नोकर्म नमस्कार  
शब्दसे कहते हैं ।

नमस्कार विषयक आगमके ज्ञानको आगमभाव नमस्कार कहते हैं । जिन अहंन्त आदिको  
नमस्कार करता है उनके गुणोमे अनुरागपूर्वक दोनो हाथोंको जोड नमस्कार करनेवालेका जो  
नमस्कार है वह नोआगमभाव नमस्कार है ।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन अनुयोग द्वारोंसे नमस्कार-  
का कथन करते हैं ।

अहंन्त आदिके गुणोमे अनुरागी आत्माका वचनके द्वारा स्तवन और कायके द्वारा सिरको

ज्ञानावरणक्षयोपशमः, दर्शनमोहोपशमः, क्षयः, क्षयोपशमश्च बाह्यं साधन, अन्त्यन्तर आत्मा प्रत्यासन्नमव्य' । आत्मनि वर्तते नमस्कारः । अन्तमुहूर्तस्थितिक' । अर्हदाविनमस्कार्यभेदेन पञ्चविध । अर्हदादीना प्रत्येकमनेक विकल्पस्वात् नमस्कारोऽपि तावद्वा भिद्यते ॥७५२॥

**मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणमासर्णं च पंचगृहं ।**

**काएण संपणामो एस पयत्यो णमोक्कारो ॥७५३॥**

अत्र नमस्कारसूत्रेण 'णमो लोए सव्वसाधूणं' इत्यत्र लोकग्रहणं च सर्वग्रहणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते । णमो लोए सव्वेसि अरहताणं, णमो लोए सव्वेसि सिद्धाणं, णमो लोए सव्वेसि आहरियाणं, णमो लोए सव्वेसि उवज्जायाणं' इति । अरहताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामर्हदादीना ग्रहणं सिद्धमतो न कर्तव्य सर्व-शब्दोपादान इति चेत् । अर्हत्तृतीयद्वीपगतभरतेषु, ऐरावतेषु विदेहेषु च ये अर्हन्तः, सिद्धा, आचार्या, उपाध्याया, साधवश्चातीता, वर्तमाना, भविष्यन्तश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्त । सावरविशेषस्यापनार्थं प्रत्येक नमःशब्दोपादान ॥७५३॥

**अरहंतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ।**

**सो जिणवयणे दिट्ठो संसारुच्छेदणसमत्थो ॥७५४॥**

'अरहंतणमोक्कारो' अर्हता नमस्कार । 'जो मरणकाले भवेच्च एक्को वि' यो मरणकाले भवेदे-कोऽपि । 'सो' सः । जिणवयणे दिट्ठो' जिनवचने दृष्ट । 'संसारुच्छेदणसमत्थो' संसारोच्छेदनसमर्थः ॥७५४॥

झुकाना नमस्कार है । नोआगमभाव-नमस्कारका स्वामी सम्यग्दृष्टी होता है । मतिज्ञाना-वरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम तथा दर्शनमोहका उपशम, क्षय और क्षयोपशम उसका बाह्य साधन है और निकट भव्य आत्मा अन्त्यन्तर साधन है । नमस्कार आत्मामें रहता है । उदासी स्थिति अन्तमुहूर्त है । नमस्कार करनेयोग्य अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुके भेदसे नमस्कारके पाँच भेद हैं । अर्हन्त आदिमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद होनेसे नमस्कारके भी उतने ही भेद होते हैं ॥७५२॥

गा०—अरहन्त आदि पाँचोका मनसे गुणानुस्मरण, वचनसे गुणानुवाद और कायसे नमस्कार यह नमस्कार पदका अर्थ है ॥७५३॥

टी०—नमस्कार मन्त्रमे आये 'णमो लोए सव्वसाधूणं' में जो लोक और सर्वशब्दका ग्रहण किया है उन्हे प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए । लोकके सब अर्हन्तोंको नमस्कार हो । लोकमें सब सिद्धोंको नमस्कार हो । लोकके आचार्योंको नमस्कार हो । लोकके सब उपाध्यायोंको नमस्कार हो ।

शब्दा—'अरहंताणं' इत्यादिमे बहुवचनके निर्देशसे ही मत्र अर्हन्तोंका ग्रहण सिद्ध है अतः सर्वशब्दका ग्रहण उचित नहीं है ?

समाधान—अर्हत्तृतीयके भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु अतीतकालमें हुए, वर्तमानमें हैं और भविष्यमें होंगे उनके ग्रहणके लिए सर्व शब्द ग्रहण किया है । और विशेष आदर बतलानेके लिए प्रत्येकके साथ 'णमो' शब्द लगाया है ॥७५३॥

गा०—मरते समय यदि एक बार भी अर्हन्तोंको नमस्कार किया तो उसे जिनागममें



ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपासि संसारमुच्छिन्दन्ति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्याशंकायामाह—

जो भावनमोक्षकारेण विष्णो सम्भक्षणचरणतवा ।

ण ह्यु ते हीति समत्या संसारुच्छेदणं काहुं ॥७५५॥

‘जो भावनमोक्षकारेण विष्णो’ यो भावनमस्कारेण विना सम्यक्त्वं, ज्ञान, चारित्र, तपश्च । ‘हुं’ शब्द एवकारार्थः । ‘ण ह्यु ते संसारुच्छेदणं काहुं’ समत्या हीति’ न हि ते संसारोच्छेदनं कर्तुं समर्था भवन्ति ॥७५५॥

यद्येव ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग’ इति सूत्रेण विरुध्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणा विनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनावित्याशङ्क्यायामाह—

चतुरंगाए सेणाए णायगो जह पवत्तओ होदि ।

तह भावणमोक्षकारो मरणे तवणाणचरणार्ण ॥७५६॥

‘चतुरंगाए सेणाए णायगो’ चतुरङ्गाया सेनाया नायको । ‘जह पवत्तओ होदि’ यथा प्रवर्तको भवति । ‘तह भावणमोक्षकारो’ तथा भावनमस्कारः । ‘मरणे’ मरणमोचरः । ‘तवणाणचरणार्ण’ तपोज्ञानचरणानां । क्षायिकसम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यगुणात्मका अर्हन्त इत्येव श्रद्धानात्मको भावनमस्कारः सम्यग्दर्शनत्वात् समीचीन तपो, ज्ञान, चारित्र च प्रवर्तयति । न ह्याप्तगुणश्रद्धानं विना शब्दश्रुतस्य प्रामाण्यमय व्यवस्थापयितुमोश । वस्तुप्रामाण्यादिना वचनप्रामाण्यासिद्धे । न ‘ह्यतीन्द्रियविषयज्ञानमयथार्थमिदमेतद्यथार्थमिति वा विवेक्तु शक्यते अस्मदादिना । अर्थयाथात्म्यवेदिनो वीतरागद्वेषस्य च यतो वचस्ततो यथार्थमेव विज्ञानं जनयति, नायथार्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानपुरस्सरतया चरण तपश्च समीचीन सत्कर्मणोदे निमित्तं

ससारका उच्छेद करनेमें समर्थ कहा है ॥७५४॥

नमस्कारके विना भी सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र संसारका उच्छेद करते है ? ऐसी आशंकाके उत्तर देते है—

गा०—भाव नमस्कारके विना जो सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र होते हैं वे ससारका उच्छेद करनेमें समर्थ नहीं है ॥७५५॥

यदि ऐसा है तो ‘सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र मोक्षका मार्ग है’ इस सूत्रके साथ विरोध आता है क्योंकि आप नमस्कार मात्रको ही कर्मके विनाशका उपाय मानकर मुक्तिका एक ही मार्ग कहते हैं ? इसका उत्तर देते है—

गा०-टी०—जैसे चतुरंग सेनाका नायक प्रवर्तक होता है वैसे ही मरते समय भाव नमस्कार—क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक वीर्य गुण वाले अर्हन्त हैं’ इस प्रकार श्रद्धान रूप भाव नमस्कार सम्यग्दर्शन रूप होनेसे समीचीन ज्ञान, तप और चारित्रका प्रवर्तक होता है । आसके गुणोके श्रद्धानके विना शब्दरूप श्रुतके प्रामाण्यकी व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि वक्तके प्रामाण्यके विना वचनोंका प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता । अतीन्द्रिय विषयोका ज्ञान अयथार्थ है और ‘यह’ आदि ज्ञान यथार्थ है, ऐसा विवेक हम लोग नहीं कर सकते । यत्-अर्थके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले और राग द्वेषसे रहित आसका वचन यथार्थ ज्ञानको ही उत्पन्न करता है, अयथार्थ ज्ञानको नहीं. इस प्रकारके सच्चे ज्ञानीका सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्

नान्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः 'प्रधानस्वाद्भावमस्कारः ससारोच्छेदकारीति व्यपविश्यते ॥७५६॥

**आराधनापढार्यं गेणहंतस्स हु करो णमोक्कारो ।  
मल्लस्स जयपढार्यं जह हत्थो घेत्तुकामस्स ॥७५७॥**

आराधनापताका ग्रहीतुकामस्य भावनमस्कार एव करो जयपताका ग्रहीतुकामस्य मल्लस्य हस्त इवेत्युत्तरगाथार्यं ॥७५७॥

**अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं ।  
चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामण्णं ॥७५८॥**

अर्हद्गुणज्ञानरहितोऽपि गोपो द्रव्यनमस्कारमाराध्य मृतश्चम्पापुरे श्रेष्ठिकुले जातः श्रामण्य च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येवं विपुल प्रयच्छति फल किं न कुर्याद् भावनमस्कार इति भावः । भावनमस्कारो व्याख्यातः । णमोक्कार ॥७५८॥

**णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।  
णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७५९॥**

णाणुवओग इत्येतद्व्याख्यानायोत्तर प्रबन्ध — 'णाणोवओगरहिदेण' ज्ञानपरिणामरहितेन पुंसा । 'ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं' चित्तनिग्रहं कर्तुंमशक्य । कस्मात् ज्ञानमन्तरेण न शक्यश्चित्तनिग्रहं कर्तुंमित्यारेकाया—ज्ञानं निग्रहकरणे साधकतम ततस्तदन्तरेण न भवति चित्तनिग्रह इत्याचष्टे । 'णाणं अंकुसभूवं

चारित्र्य और सम्यक् तप विद्यमान कर्मों को दूर करनेमें निमित्त होता है, अन्यथा नहीं होता । इसलिए भाव नमस्कार ज्ञान चारित्र्य और तपका प्रवर्तक होनेसे प्रधान है और संसारका उच्छेद करने वाला कहाता है ॥७५६॥

गा०—जैसे विजय पताकाको ग्रहण करनेके अभिलाषी मल्लके लिए हाथ है । हाथसे ही वह जय पताका ग्रहण करता है । वैसे ही आराधना पताका (ध्वजा) को ग्रहण करनेके इच्छुक आराधकका हाथ भाव नमस्कार है । भाव नमस्कार पूर्वक ही वह आराधनामें सफलता पाता है ॥७५७॥

गा०—सुभग नामका ग्वाला अज्ञानी था, उसे अर्हन्तके गुणोंका ज्ञान नहीं था । वह द्रव्यनमस्कारकी आराधना करके अर्थात् मुखसे णमोकर मन्त्रका जप करते हुए मरा और चम्पा नगरीमें एक श्रेष्ठीके वशमें उत्पन्न हुआ । तथा मुनि पदको धारण कर मुक्त हुआ । इस प्रकार द्रव्यनमस्कारसे भी विपुल फलकी प्राप्ति होती है । तब भावनमस्कारका तो कहना ही क्या है । इस प्रकार भावनमस्कारका कथन समाप्त हुआ ॥७५८॥

अब ज्ञानोपयोगका कथन करते हैं—

गा०—टी०—ज्ञानोपयोगसे रहित मनुष्य अपने चित्तका निग्रह नहीं कर सकता ।

अज्ञान—ज्ञानके बिना चित्तका निग्रह क्यों नहीं कर सकता ?

समाधान—ज्ञान चित्तका निग्रह करनेमें साधकतम है अतः उसके बिना चित्तका निग्रह

मत्सस्तु चित्तहृत्स्वित्त' ज्ञानमक्षुण्णभूतं मत्स्य चित्तहृत्स्वित्तन । इदमत्र बोधते—इह चित्तशब्देन किमुच्यते ? अन्यत्र सचित्तशीतसवृत इत्यादौ चित्तं चैतन्यमिति गृहीतं । इहापि यदि तदेव तस्य निग्रहो नाम क ? अत्रोच्यते—विपर्ययज्ञानमया अक्षुण्णध्यानलेख्यातया वा परिणतिः<sup>१</sup> प्राणभूतो यस्य तस्य निरोधो यथायंज्ञान-परिणामेन क्रियते । परिणामो हि परिणामिन इरुणद्धि, परिणामोऽस्मा<sup>२</sup> द्विरुद्धस्त्वया नादातव्य इति । यथा मत्तो हस्ती न क्वचिदवतिष्ठते बन्धनमर्ह<sup>३</sup>नादिक विना तद्वच्चित्तहृत्स्वित्तपि यत्र क्वचिनाशुभपरिणामे प्रवर्तते इति ॥७५९॥

विज्जा जहा पिसायं सुट्टु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ।

णाणं ह्दिदयपिसायं सुट्टु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥७६०॥

'विज्जा सुट्टु पउत्ता जहा पिसाय पुरिसवसं करेदि' विद्या सुष्ठु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा पिशाच पुरुषस्य वश्य करोति । 'तह णाणं सुट्टुवज्जुत्तं वसं करेदि ह्दिदयपिसायं' । तथा ज्ञान सुष्ठु प्रयुक्त वश करोति कि ? हृदयपिशाच । चित्तं पिशाचवदयोग्यकारितया ज्ञानं समीचीन असकृत्प्रवर्तमान शुभं गुणे वा परिणामे प्रवर्तयति चैतनामिति यावत् ॥७६०॥

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण त्रिधिणा पउत्तेण ।

तह हिदयकिण्हसप्पो सुट्टुवज्जुत्तेण णाणेण ॥७६१॥

'उवसमइ किण्हसप्पो' उपशान्त्यति कृष्णसर्पं । 'जह' यथा । 'मंतेण सुप्पज्जुत्तेण' स्वाहाकारान्ता विद्या<sup>३</sup> नि स्वाहाकारो मन्त्रशब्देनोच्यते । मन्त्रेण सुष्ठु प्रयुक्तेन । 'तह' तथैव । 'ह्दिदयकिण्हसप्पो उवसमइ' हृदयकृष्णसर्पं उपशान्त्यति । 'सुट्टुवज्जुत्तेण णाणेण' सुष्ठु प्रवृत्तेन ज्ञानपरिणामेन । अशुभनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य

नही होता, यह कहते है—मदोन्मत्त चित्तरूपी हाथीके लिए ज्ञान अकुश रूप है ।

शङ्का—यहाँ चित्त शब्दसे क्या लिया है ? तत्त्वार्थ सूत्रमे 'सचित्त शीत संवृत' इत्यादि सूत्रमे चित्तसे चैतन्यका ग्रहण किया है । यहाँ भी यदि चैतन्य ही लिया है तो उसका निग्रह कैसा ?

समाधान—जिस प्राणीकी परिणति विपरीत ज्ञान रूप या अशुभ ध्यान और अशुभ लेख्या रूप होती है उसका निरोध यथार्थ ज्ञानरूप परिणामसे किया जाता है । परिणाम परिणामोको रोकता है जैसे तुम्हे हमारे विरुद्ध परिणाम नहीं करना चाहिए । अत जैसे मत्त हाथी बन्धन मर्दन आदिके विना वशमे नहीं होता वैसे ही चित्तरूपी हाथी भी जिस किसी भी अशुभ परिणाम मे प्रवृत्त होता है ॥७५९॥

शा०—जैसे सम्यक् रीतिसे साधी गई विद्या पिशाचको पुरुषके वशमें कर देती है । वैसे ही सम्यक् रूपसे आराधित ज्ञान हृदय रूपी पिशाचको वशमे करता है । अयोग्य काम करनेसे चित्त पिशाचके समान है । बार-बार प्रयुक्त सम्यग्ज्ञान चेतनाको शुभ अथवा शुद्ध परिणाममें प्रवृत्त करता है ॥७६०॥

शा०—जैसे विधिपूर्वक प्रयोग किये गये मंत्रसे कृष्ण सर्प गान्त हो जाता है । वैसे ही अच्छी तरहसे भावित ज्ञानसे हृदयरूपी कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है । प्रथम गाथा (७५९) से

आद्यया गायथोक्ता । द्वितीयया चित्तस्य स्ववशकारित्वं ज्ञानभावनयोक्तं । अनया तु अशुभपरिणामप्रशान्ति-  
कारिता ज्ञानभावनया निरूप्यते ॥७६१॥

**आरण्यवो वि मनो हृत्वी णियमिज्जदे वरत्ताए ।**

**जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहृत्वी ॥७६२॥**

‘आरण्यवो वि मनो हृत्वी’ अरण्यचारी मनो हृत्वी । ‘णियमिज्जदे वरत्ताए’ नियम्यते निरूप्यते  
वरत्रेण यथा । तथा ‘मणहृत्वी णियमिज्जदे’ मनोहृत्वी नियम्यते । ‘णाणवरत्ताः’ ज्ञानवरत्रेण । प्राणिना-  
महितकारितया, दुनिवारतया च मनो हृत्वीवेति मनोहृत्वीति भण्यते । ज्ञानमशुभप्रवाहं निरुणद्धि ।  
इत्यनयोच्यते ॥७६२॥

ज्ञानवरत्रानियमितस्य मनसो व्यापार निरूपयत्युत्तरगाथा—

**जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु ण सक्केइ ।**

**तह खणमवि मज्झत्थो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥७६३॥**

‘मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु’ ण जहा सक्कवि’ मर्कटकः खणमपि मध्यस्थो निर्विकार  
सन् स्थानु न शक्नोति । ‘तहा मणो विसएहिं विणा मज्झत्थो खणमवि ण होवि’ तथा मनो विषयं शब्दादि-  
विषयनिमित्तं रागादय इह विषयशब्दवाच्या विषयकार्यत्वात् । ततोऽप्यमर्थं, अत्र रागद्वेषो विना मध्यस्थ  
मनो भवति । ज्ञानभावनायामसत्या रागद्वेषयोर्वृत्तिरेव मनसो व्यापार इत्यर्थः । एतया ज्ञान मनसो माध्यस्थ  
करोतीत्याख्यायते । यस्मान्न मनसो माध्यस्थमस्ति सनिहितमनोज्ञानमनोज्ञविषयरागद्वेषसहचारितया ॥७६३॥

**तम्हा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण ।**

**रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥७६४॥**

ज्ञानको अशुभका निग्रह करनेमें हेतु कहा । दूसरी गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा चित्त अपने  
वशमें होता है यह कहा । इस गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा अशुभ परिणामोकी शान्ति होती है  
यह कहा ॥७६१॥

गा०—जैसे चमडके कोड़ेसे जगली भी मस्त हाथी वशमें किया जाता है । वैसे ही ज्ञान  
रूपी चर्मदण्डसे मन रूपी हाथी वशमें किया जाता है । प्राणियोका अहितकारी तथा दुनिवार  
होनेसे मनको हाथीकी तरह कहा है । ज्ञान अशुभ प्रवाहको रोकता है यह इस गाथासे कहा  
है ॥७६२॥

आगे ज्ञानरूपी चर्मदण्डसे वशमें किये गये मनका व्यापार कहते है—

गा०—जैसे बन्दर एक क्षण भी निर्विकार होकर ठहर नहीं सकता, वैसे ही मन एक क्षण  
भी विषयोके विना नहीं रहता । यहाँ विषय शब्दसे शब्द आदिके निमित्तसे होने वाले रागादिको  
लिया है क्योंकि वे विषयोसे उत्पन्न होते हैं । इसलिए ऐसा अर्थ होता है कि रागद्वेषके विना मन  
मध्यस्थ नहीं होता है । अर्थात् ज्ञान भावनाके अभावमें रागद्वेषमें प्रवृत्ति करना ही मनका व्यापार  
है । इस गाथासे कहा है कि ज्ञान मनको मध्यस्थ करता है । निकटवर्ती प्रिय और अप्रिय विषयो-  
में रागद्वेष करनेसे मन मध्यस्थ नहीं होता ॥७६३॥

'तम्हा' तस्मात् । 'सो भगवत्कण्डो' मनोमर्कटः । 'उद्बुद्बुहो' इतस्तत् उल्लंघनपरः । 'राधेवब्बो ग्णियबं' सर्वकालं रमयितव्यं । एव 'जिणोबवेत्तम्मि' जिनागमे । 'सो' ततो जिनागमरते । 'सो' मनोमर्कटः । 'बोत्त' रागद्वेषादिकः । 'ण काहिबि' न करिष्यति । 'सि' तस्य ज्ञानाम्नासकारिणः ॥७६४॥

यस्माज्ज्ञानाम्नासे सति मनोमर्कटको दोषः अशुभपरिणामः न करोति—

तम्हा णाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भण्णदो ।  
जह विघणोवओगो चंदयवेज्झं करंतस्स ॥७६५॥

'तम्हा णाणुवओगो' तस्माज्ज्ञानपरिणामः । 'खवयस्स विसेसदो सदा भण्णदो' क्षपकं यं विशेषतः सदा निरूपितं । 'जह विघणोवओगो' यथा व्यथनाम्नासो विशेषतो भणितं । कस्य ? 'चंदयवेज्झं करंतस्स' चन्द्रकवेषः कुर्वत ॥७६५॥

णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ।  
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥७६६॥

'णाणपदीओ' ध्यानप्रदीपः । 'पज्जलइ' प्रज्वलति । यस्य विशुद्धलेख्यस्य हृदये । तस्य ससारावर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्मीति विनाशप्रयः नास्ति । 'जिणदिट्ठमोक्खमग्गे' जिनदृष्टे श्रुते । रत्नत्रयवृत्तिरपि मोक्षमार्ग-शब्द इह श्रुतवृत्तिर्ग्राह्यः ॥७६६॥

ज्ञानप्रकाशमाहात्म्यं कथयति—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ।  
दीवेइ खेत्तमप्यं सुरो णाणं जगमसेसं ॥७६७॥

'णाणुज्जोवो' ज्ञानोद्योत एव द्योतोऽतिशयितः । कस्तस्यातिशय इत्यत्र आह—'णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो' ज्ञानोद्योतस्य नास्ति प्रतिघातः । 'दीवेइ' प्रकाशयति । 'खेत्तमप्यं' : वक्ष्य क्षेत्र । क ? 'सुरो'

गा०—इसलिये इधर-उधर कूदने वाले मनरूपी बन्दरको जिनागममे सदा लगाना चाहिए । जिनागममे लगे रहनेसे वह मनरूपी बन्दर उस ज्ञानाम्नास करने वालेमे रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकेगा ॥७६४॥

गा०—यत् ज्ञानाम्नास करने पर मनरूपी बन्दर अशुभ परिणामरूप दोष उत्पन्न नहीं करता । इसलिये क्षपकके लिये सदा ज्ञानोपयोग विशेष रूपसे कहा है । जैसे चन्द्रक यत्रका बंध करने वालेके लिये सदा बंधनेका अभ्यास विशेष रूपसे कहा है ॥७६५॥

गा०—जिस विशुद्ध लक्ष्या वालेके हृदयमे ज्ञानरूपी दीपक जलता है उसको जिन भगवान्-के द्वारा कहे गये आगममें प्रवृत्त रहते हुए 'मे ससारकी भँवरमे गिरकर नष्ट होऊँगा', ऐसा भय नहीं रहता ॥७६६॥

ज्ञानरूपी प्रकाशका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—ज्ञानरूप प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है, क्योंकि ज्ञानरूपी प्रकाशमे रहनेवालेका

आदित्यः । 'गार्ध्वं जगत्सैलं' ज्ञानं जगदशेषं । 'दीवेदि' प्रकाशयति । समस्तवस्तुव्यापिजानवदन्यः प्रकाशो नास्तीत्यर्थः ॥७६७॥

णाणं पयासओ सोधओ तवो संजमो य गुत्तियरो ।

तिण्हंपि समाओमे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥७६८॥

'गार्ध्वं पयासम्' ज्ञानं प्रकाशयति 'संसारं' मसारकारण, 'गुत्ति' मुक्तिकारण व ॥ 'सोधवो तवो' नर्जरानिमित्त तपः । 'संजमो य गुत्तियरो' संयमश्च गुत्तिकर । 'तिण्हंपि' त्रयाणामपि । 'समाओमे' संयोगे । 'मोक्खो' मोक्षः । 'जिणसासणे दिट्ठो' जिनशासने दृष्टः ॥७६८॥

णाणं करणविहूणं लिंमग्गहणं च दंसणविहूणं ।

संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥७६९॥

णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खसम्मग्गमुवगतं ।

गतं कडिन्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥७७०॥

'भाणुज्जोएण विणा' ज्ञानोद्योतेन विना । 'जो इच्छवि' यो वाञ्छति । 'मोक्खसम्मग्गमुवगतु' चारित्र तपश्च इह मोक्षमार्गं इत्युच्यते चारित्र तपश्चोपगन्तु । 'गतुं कडिन्लमिच्छवि' गन्तु दुर्गमिच्छति । क ? 'अंधलओ' अन्ध । 'अंधयारम्मि' अन्धकारे तमसि । यथा वृक्षतृणगुल्मादिनिचिते प्रदेशे गमन अतिदुष्कर अप्रकाशे सति । तद्वद्विसादिपरिहारो जीवनिष्कायाकुले दुष्कर इति मन्यते ॥७७०॥

जइदा खंडसिलोणेण जमो मरणादु फेडिदो राया ।

पत्तो य सुसामण्णं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥७७१॥

'जइदा खण्डसिलोणेण' यदि तावत्खण्डेन श्लोकस्य । 'जमो राया मरणादो फेडिदो' यमो राजा मरणा-

पतन नहीं होता । सूर्य तो अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान समस्त जगत्को प्रकाशित करता है । आशय यह है समस्त वस्तुओमे व्याप्त ज्ञानके समान अन्य प्रकाश नहीं है ॥७६७॥

गा०—ज्ञान ससार, ससारके कारण, मोक्ष और मोक्षके कारणोंको प्रकाशित करता है । तप निर्जंराका कारण है । सयम गुप्तिकारक है । इन तीनोंके मिलनेपर जिनागममे मोक्ष कहा है ॥७६८॥

गा०—आचरणहीन ज्ञान, श्रद्धानके विना मुनि दीक्षाका ग्रहण और समयके विना तप जो करता है वह सब निरर्थक करता है ॥७६९॥

गा०—ज्ञानरूप प्रकाशके विना मोक्षमार्गको जो प्राप्त करना चाहता है, यहाँ चारित्र और तपको मोक्षमार्ग कहा है अतः जो ज्ञानके विना चारित्र और तपको प्राप्त करना चाहता है वह अन्धा अन्धकारमे दुर्गम जाना चाहता है । जैसे प्रकाशके अभावमें वृक्ष, तृण, झाड़ी आदिसे भरे प्रदेशमे जाना अति कठिन है वैसे ही जीवसे भरे प्रदेशमे हिंसा आदिका बचाव कठिन है ॥७७०॥

दपसारितः । 'पशो य सुखाम्बु' प्राप्तद्वय घोभनं आमष्य । 'किं पुन जिष्यउत्सुलोण' किं पुनजिनोक्तसूत्रेण प्राप्यफले आश्चर्यं । वाच्यमन्त्राख्यानकं च । तदुक्तं—

'भवत्यम्बेनाजेन जीवितार्थिना यत्किंचिदुक्तं वचनं श्रुत्वा हास्यपरेण राज्ञा भाव्यमान यथापवपसारणे निमित्तं विष्ववेदिना वचो भाव्यमान किमभिलषित न प्रापयति ॥ ७७१॥

स्वल्पस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं ददातीत्येवं तत्कथयति—

ददसुप्पो झलदहो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाने ।

उवजुत्तो कालगदो देवो जावो महइदओ ॥७७२॥

'बहुसुप्पो झलदहो' दृढसूर्पो नाम चोर. शूलमाखड. । 'पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाने उवजुत्तो कालगदो' पञ्चनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्तं सन् कालगत । 'महइदओ देवो जावो' महइदिको देवो जात. ॥७७२॥

ण य तम्मि देसयाले सच्चो वारसविधो सुदक्खंधो ।

सन्नो अणुच्चिंदुं बलिणा वि समत्थच्चित्तेण ॥७७३॥

'सच्चो वारसविधो वि सुदक्खंधो तम्मि देसयाले ण य सक्को अणुच्चिंदुं बलिणा वि समत्थच्चित्तेण' सर्वो द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कंधस्तस्मिन्मरणे देशे काले च नैव शक्योऽनुस्मृतुं नितरामपि समर्थचित्तेन । बहु-श्रुतस्यापि न ध्यानालम्बनं समस्त श्रुतं किं तु किंचिदेव सूत्रं । तथा ह्युक्तं 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमिति' [त० सू० १।४५] ॥७७३॥

एक्कम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ।

गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तच्चं ॥७७४॥

गा०—टी०—यदि श्लोकके एक खण्डके पाठसे राजा यम मृत्युसे बचा और शोभनीय मुनि-पदको प्राप्त हुआ तो जिनभगवान्के द्वारा प्रतिपादित सूत्रकी स्वाध्यायसे प्राप्त होनेवाले फलमे क्या आश्चर्य है । इस विषयमे हरिषेणकृत बृहत् कथाकोशमें यममुनि की कथा है । कहा भी है—

जीवनके अर्थी अज्ञानी अन्धेके द्वारा कहे गये अनर्गलवचनको सुनकर राजाने हँसीमे उसे ग्रहण किया और वह उसकी आपत्ति दूर करनेमे निमित्त हुआ तो सर्वज्ञके वचनका अभ्यास किस इच्छित वस्तुको नहीं देता ? अर्थात् सब देता है ॥७७१॥

आगे कहते हैं कि थोड़े से भी शास्त्र की भावना मरते समय महाफल देती है—

गा०—दृढसूर्प नामक चोरको सूली पर चढ़ाया गया तो वह पंच नमस्कार मन्त्र-मात्र श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाकर मरा अर्थात् पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करते हुए मरा और मरकर महान् ऋद्धिका धारी देव हुआ ॥७७२॥

गा०—मरते समय बलवान भी सामर्थ्यसम्पन्न मनुष्य समस्त द्वादशांग श्रुत स्कन्धका अनुचिन्तन नहीं कर सकता । बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता भी समस्त श्रुतका ध्यान मरते समय नहीं कर सकता । किन्तु किसी एक का ही ध्यान सम्भव है । कहा भी है—एक विषयमें चिन्ताके निरोध को ध्यान कहते हैं ॥७७३॥

'तेषु एकस्मिन् चिदस्मिन् वदे' यस्मिन्नेकस्मिन्नपि पदे युक्तः । 'संवेगं गच्छति' रत्नत्रये श्रद्धामूर्ति । 'अभिक्ल' पुन पुन । 'त' तत्पद । 'मरुन्ते' शरीरादियोगकाले । 'ण मोक्षम्' न मोक्षम् । पाण्डवजीम इत्येतद्व्याख्यातं । पाणं गव ॥७७४॥

पञ्चमहव्यदरकला इत्येतद्व्याचिख्यासुराद्यमहिंसाव्रतं पालयेति कथयति—

**परिहर छज्जीवणिकायवहं मणवयणकायजोगेहिं ।**

**जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुचो ॥७७५॥**

'परिहर छज्जीवणिकायवहं' वण्णा जीवनिकायाना वध मा क्रुवा मनोवाक्काययोगे प्रत्येक कृत-कारितानुमतविकल्पे । कालप्रमाणमाह—'जावज्जीवं' यावज्जीवं । सर्वजीवविषयसर्वप्रकारहिंसापरिहार-रूपत्वात् सर्वस्मिन्नेव भवपर्यायकाले प्रवृत्तत्वादिहास्राव्रतस्य महत्ता निवेदिता । 'छज्जीवणिकाय' इत्यत्र व्यक्तयो जीवनिकायाना परिगृहीता । 'मणवयणकायजोगेहिं कदकारिदाणुमोदेहिं' इत्यनेन हिंसाविकल्पा समुहीता । 'जावज्जीवमित्यनेन निरवशेषमनुजजीवितकालग्रहण । 'उवजुचो समिवीधु' इति शेष उपयुक्त समितिषु समाहितचित्त । इह वा सावज्जकारियापरिहारे इति शेष । मावद्यक्रियापरिहारप्रणिहित-चित्त ॥७७५॥

**जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिपि जाण जीवाणं ।**

**एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा ॥७७६॥**

'जह ते ण पियं दुःख' यथा तव न प्रिय दुःख । 'तथेव तेसिपि जीवाणं दुःखं न पियंति' तथैव तेषामपि जीवाना न दुःख प्रियमिति । 'जाण' जानीहि । 'एवं णच्चा' एव ज्ञात्वा । अप्पोवमिवो आत्मो-पमान । 'सदा होहि जीवेसु' सदा भव जीवेसु । परजीवदुःखाप्रियो भवेति यावत् ॥७७६॥

गा०—अत जिस एक भी पदमें मन लगानेसे मनुष्यमें रत्नत्रयके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है उस पदको बार-बार विचारना चाहिये और मरते समय भी नहीं छोडना चाहिये ॥७७४॥

'पच महाव्रत रक्षा' का व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार अहिंसाव्रतके पालनका कथन करते हैं—

गा०—टी०—मन वचन काय और उनमें से प्रत्येकके कृत कारित और अनुमत भेदोके साथ छह कायके जीवो को हिंसा जीवन पर्यन्त मत करो । क्योंकि सब जीवोको सब प्रकारकी हिंसाका त्याग अहिंसा महाव्रत है सभी भवोमें इसका पालन करना, आवश्यक है । इससे अहिंसाव्रतकी महत्ता सूचित की है । 'छह जीव निकाय' पदमें जीव निकायोके सब जीवोका ग्रहण किया है । मन वचन काय और कृत कारित, अनुमोदनासे हिंसाके भेदोका ग्रहण किया है अर्थात् हिंसा नौ प्रकार से होती है, 'यावज्जीवन' पदसे मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन काल ग्रहण किया है । 'उपयुक्त' पदसे समित्तियो मे सावधान चित्त व्यक्तिका ग्रहण किया है । जो व्यक्ति सावद्य कार्यों के परिहारमें दत्त-चित्त है वही जीवन पर्यन्त छह काय के सब जीवोकी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से हिंसा नहीं करता ॥७७५॥

गा०—जैसे तुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही उन जीवोको भी दुःख प्रिय नहीं है । ऐसा जानकर अपनी ही तरह सदा जीवोमें व्यवहार करो अर्थात् किसी को दुःख मत दो ॥७७६॥



तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि जीवाण घादणं किञ्चा ।

पडियारं कादुं जे मा तं चित्तिसु लभसु सदिं ॥७७७॥

'तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि' तथा, क्षुधा, रोगेण, शीतेन, आतपेन बाधितोऽपि सन् । 'जीवाणं घादणं किञ्चा' जीवानामुपघातं कृत्वा । 'पडियारं कादुं जे' तृहादीनां प्रतिकारं कर्तुं । 'तं मा चित्तेहि' मा कार्थ-  
दिचत् । 'लभसु सदिं' लभस्व स्मृति । पिबामि हिमशोतल जल कपूरक्षोदवासित । अगाध वा सरः सुरभित-  
रोत्पलरजोवगुठित प्रविश्य मदान्धासिन्धु इव निमज्जनोन्मज्जने करोमि । ललाटे, शिरसि, पृथुले चौरस्थले  
करकप्रकरनिपातो यदि म्याद्भूद् भवेत् । कन्हारनिकताधिकपल्लवशयनादिलाभे वा जीवामि इति वा । आत-  
पति वा दिवानिश तर्ष । अपमारतरतीक्ष्णकरकरनिकुरुवमिति व्यजनतालवृन्तसमुपनीतशीतमाशुतापातेन  
श्रममशेषमपाकुर्वन्तु भवन्तः । हिमानी पतन्तु । बान्तु वा मातरिश्चान इति वा । आष्ट्रपक्वानपूपान्पुरभिधृताद्गान्  
भक्षयामीति । सम्यक् क्वथित क्षीर शक्वंगमिश्र सुखोष्ण पिबामीति वा । धगधगायमानं स्नादिरमनि  
कुरुन । शीतेन स्फुटन्ति ममाङ्गानि इत्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कायेत्यर्थ । असद्वैद्योदया 'सनी महति  
निपतति, को नु तस्य प्रतीकार ? तदुपशमकालभाविन एव बाह्यद्रव्यसपाद्या प्रतीकारा इति मनो  
निधेहि ॥७७७॥

रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि ।

भोगपरिभोगहेदुं मा हृ विचित्तेहि जीववहं ॥७७८॥

'रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तोऽपि' । शब्दादिविषया प्रीती रति । अमनोजवियय-  
सन्निधाने या विमुक्ता सा अरति । हास्यकर्मोदयनिमित्त परिणामो हर्ष । भय, उत्सुकता, दीनतेत्येव-  
मादिभिर्युक्तोऽपि । 'भोगपरिभोगहेदुं' भोगोपभोगार्थं वा जीववध मा कृष्या मनसि ॥७७८॥

गा०-टी०—भूख, प्यास, रोग, शीत अथवा आतपसे पीडित होने पर भी जीवोका घात  
करके प्यास आदिका प्रतीकार करनेका विचार मत करो । मैं कपूरके चूर्णसे सुवासित तथा बर्फसे  
शीतल जलका पान करूँ ? अथवा अति मुग्धित कमलकी रजसे व्याप्त गहरे तालावमे घुसकर  
मदोन्मत्त हाथी की तरह डुबकियाँ लूँ । मस्तक, सिर और विशाल छाती पर यदि ओलोधी बर्षा  
हो तो उत्तम हो । अथवा यदि कमल बालु और कोमल पल्लवों आदिकी शय्या मिले तो मैं जीवित  
रह सकूँ । रात दिन प्यास मताती है । सूर्यकी किरणोंके समूह को दूर करके पखेकी शीतल वायु  
से मेरी सब धकान आप दूर करे । बर्फ गिरे । शीतल पवन बहे । मुग्धित घीमे अगार पर पके  
पुओ को खाऊँगा । अथवा सम्यक् रूपसे उबाले गये और शक्कर मिलाये तथा सुखकर उष्णता  
को लिये दूधको पीऊँ । खैरकी लकडीकी धक् धक् करतो हुई आग जलाओ, मेरे अग ठडसे ठिठुर  
रहे हैं । इस प्रकारका प्रतिकार मनमे नहीं लाना चाहिये । यह उक्त कथनका आशय है । महान्  
असाता वेदनीय रूप वज्रपात होने पर उसका क्या प्रतीकार हो सकता है ? उसका उपशमन काल  
आने पर ही बाह्य द्रव्योंके द्वारा प्रतीकार संभव है, ऐसा मनमें विचार होना चाहिये ॥७७७॥

गा०-टी०—शब्द आदि विषयोंमें प्रीतिको रति कहते हैं । अप्रिय विषयोंके प्राप्त होनेपर उनसे  
विमुख होनेको अरति कहते हैं । हास्यकर्मके उदयके निमित्तसे जो भाव होता है उसे हर्ष कहते हैं ।

महुकरिसमज्जियमहुं व संजमं थोवथोवसंगलियं ।  
तेलोककसव्वसारं णो वा पूरेहि मा जहसु ॥७७९॥

‘महुकरिसमज्जियमहुं व’ मधुकरीभिः समर्जितं मध्विव । ‘संजमं’ चारित्रं । ‘थोवथोवसंगलियं’ स्तोत्र-स्तोकेनोपचितं । ‘तेलोककसव्वसारं’ त्रैलोक्यस्य सर्वसारं विष्टपत्रये यदतिशयवत् स्थानं, मान, ऐश्वर्यं सुखं वा तस्य कारणत्वात् त्रैलोक्यसर्वसारं । ‘मा जहसु’ मा त्याक्षी ॥७७९॥

दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणाचरित्तं ।  
दूक्खज्जियसामण्णं मा जहसु तणं व अगणतो ॥७८०॥

‘दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणाचरित्तं’ दुःखेन लभते मनुष्यजन्म जंतु । सूत्रे यद्यपि मणुस्सजादिशब्द सामान्यवाच्युपात्तस्तथापि विशेषेण मन्त्रासौ वदति इति ग्राह्य । मनुजा हि चतु प्रकाराः—

कर्मभूमिसमुत्पाद्यन्न भोगभूमिभवास्तथा ।  
अंतरङ्गीपजायवैव तथा सम्मूर्च्छिमा इति ॥  
असिर्मधिः कृषिः शिल्पं वाणिज्यं व्यबहारिता ।  
इति यत्र प्रवर्तते नृणांमाजीवयोनयः ॥  
प्रपात्यसंयमं यत्र तपःकर्मपरा नराः ।  
सुरसंगंतीव सिद्धिं प्रयाति हृतशत्रव ॥  
एताः कर्मभूतो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता वशा पञ्च च ।  
यत्र संभूय पर्याप्तिं याति ते कर्मभूमिजाः ॥  
महत्पूर्व्याम्बराहारपात्राभरणमात्यर्वाः ॥

इन रति, अरति, हर्ष, भय, उत्सुकता, दीनता आदि भावोंसे युक्त होने पर भी अपने भोग अथवा उगभोगके लिये मनमें जोब हिसाका विचार मत करो ॥७७८॥

गा०—मधु-मक्खियाँ जिस प्रकार थोडा-थोडा करके मधुका मत्तय करती है उसी प्रकार थोडा-थोडा करके संचित किया गया समय तीनों लोकोमें जो सात्त्विक स्थान मान ऐश्वर्य अथवा सुख है उस सबका कारण होनेसे सारभूत है । उसे यदि पूर्ण नहीं कर सकते तो उसका त्याग तो मत करो ॥७७९॥

गा०—टी०—प्राणी बड़े दुःखसे मनुष्य जन्म पाता है । गाथामें यद्यपि मनुष्य जाति शब्द सामान्य वाची है तथापि यह विशेष मनुष्यको कहता है, ऐसा अर्थ लेना चाहिये । मनुष्य चार प्रकारके होते हैं—कर्म भूमिमें उत्पन्न हुए, भोग भूमिमें उत्पन्न हुए, अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुए तथा सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न हुए । जहाँ मनुष्य असि, मधि, कृषि, शिल्प, व्यापार और सेवाके द्वारा जीवन यापन करते हैं, तथा जहाँ मनुष्य संयमका पालन करके तपस्यामें तत्पर होकर देवगति प्राप्त करते हैं अथवा कर्म शत्रुओंको मारकर मोक्ष जाते हैं वे कर्मभूमियाँ हैं । वे कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं । उनमें जन्म लेकर वे कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करते हैं । और

१ धमवसादयति इति आ० ।—धमवसाययति इति मु० ।

२. संगतिवत् सि-आ० ।—संगति वा सि-मु० ।

गृहवीपव्योतिषाख्येस्तर्षमिस्तत्र जीविकाः ॥  
 पुरग्रामावयो यत्र न निवेशा न चाधिषा ।  
 न कुल कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थितिः ॥  
 यत्र नार्यो नराश्चैव मेयुनीभूय नीवजाः ।  
 रमन्ते पूर्वपुष्याना प्राप्नुवन्तः परं फल ॥  
 यत्र प्रकृतिभङ्गत्वात् दिवं यान्ति मृता अपि ।  
 ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्वर्गभूमिभूमिजाः ॥  
 अभाषका एकोक्ता लाङ्गूलिकविषाणिकाः ।  
 आदर्शमुखाहस्त्यश्वविद्युदुल्कमुखा अपि ॥  
 हृयकर्णा गजकर्णाः कर्णप्रावरणास्तथा ।  
 इत्येवमावयो ज्ञेया अन्तरद्वीपजा नराः ॥  
 समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलाग्निः ।  
 बंदयन्ते मनुष्यापुस्ते मृगोपमच्छेष्टिताः ॥  
 कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्भूरभूमिजां ।  
 स्कधावारसमूहेषु प्रलावांचचारभूमिषु ॥  
 शुक्रसिंघाणकफलेष्मकण्ठान्तमलेषु च ।  
 अत्यन्ताङ्गुलिदेशेषु सद्यःसम्मूर्च्छनैः ये ॥  
 भूम्वाङ्गुलस्थासख्येयभागमात्रशरीरकाः ।  
 आशु नश्यन्त्यथर्थास्तास्ते स्युः सम्मूर्च्छमा नराः ॥

एतेषु कर्मभूमिजमानवाना एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतरेषां इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । लब्धेऽपि

जहाँ मनुष्य मद्य, तूर्य, वस्त्र, आहार, पात्र, आभरण, माला, घर, दीप और ज्योति प्रदान करने वाले दस प्रकारके कल्प वृक्षोंसे जीवन यापन करते है, जहाँ पुर ग्राम आदि नही होते, न राजा होते हैं न कुल, न कर्म और न शिल्प होता है, न वर्ण और आश्रमका चलन होता है, जहाँ स्त्री और पुरुष निरोग रहकर पति पत्नी की तरह रमण करते हुए पूर्व जन्ममे किये पुष्य कर्मका फल भोगते है, और जो स्वभावसे ही भद्र होनेके कारण मरकर भी स्वर्गमे जाते है वे भोगभूमियां कही हैं । उनमे जन्म लेने वाले मनुष्य भोगभूमिज होते है । अभाषका—जो भाषा नही जानते-मूक रहते है, एकोक्ता—जिनके एक पैर होता है, लाङ्गूलिका जिनके पूँछ होती है, विषाणिका—जिनके सींग होते है, आदर्शमुखा—जिनका मुख दर्पण की तरह होता है, हस्तिमुखा—हाथी की तरह मुख वाले, अश्वमुख—घोड़ेकी तरह मुखवाले, विद्युन्मुख, विजलीकी तरह मुखवाले, उल्का-मुख, हृयकर्ण—घोड़ेकी तरह कानवाले, गजकर्ण—हाथीकी तरह कान वाले, कर्ण प्रावरण—कान ही जिनका आवरण है, इत्यादि अन्तर्द्वीपज मनुष्य होते है । ये समुद्रके द्वीपोंके मध्यमे रहते है, कन्दमूल फल खाते है, तथा हिरनोकी तरह चेंष्टा करते हुए मनुष्यायु भोगते है । कर्म भूमियोंमे चक्रवर्ती, बलदेव, राजाओंकी सेनाके पडावोंमे मलमूत्र त्यागनेके स्थानोंमें, वीर्य, नाकके मल, कफ, कान और दाँतोंके मलमे और अत्यन्त गन्दे प्रदेशोंमे शीघ्र ही सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होकर तत्काल ही अपर्याप्त दशामे मरणको प्राप्त होनेवाले सम्मूर्च्छन मनुष्य होते है । उनका शरीर अगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है । इन चार प्रकारके मनुष्योंमेसे कर्मभूमि मनुष्योंमें ही रत्नत्रय

तस्मिन् ज्ञानावरणोदयाद्विनाहितपरीक्षाया समर्था बुद्धिर्न सुलभा । तथा विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव दृष्टिरहितमिवापत् लोचन, द्रविणसपद विना कुलीनत्वमिव, सुभगतागम्यरेण रूपमिव, यथार्थतारहित वचनमिव, सत्यामपि मती यदि नाप्ताना वच श्रुणुयात् सापि विफलैव मरोजरहिता सरसीव । इहापि श्रवणं आप्तवचनगोचरमेव गृहीत, श्रवणमपि श्रद्धानरहित सुलभमेव । इद यथा येन प्रतिपादित तथैवेति श्रद्धान दुर्लभ दर्शनमोहोदयान् । सत्यपि श्रद्धाने चारित्रमोहोदयात् जातेऽभिरुचिते मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा । एव 'बुरबस्त्रि-दसामण्ण' दु खेनाञ्जितश्रामण्य । सा अहसु मा त्याक्षी । 'तण व अगणितो' तुणमिव अगणयन् ॥७८०॥

जीवघातदोषमाहान्य कथयति गाथाद्वयेन—

तेलोककजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहिं ।

भणिदो को तेलोककं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८१॥

जं एवं तेलोककं णग्घदि सच्चस्स जीविदं तम्हा ।

जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोककघादसमो ॥७८२॥

त्रैलोक्यजीवितयारैक गृहणति देवैश्चोदित कर्मत्रैलोक्य वृणीते स्वजीवित त्यक्त्वा, जीवनमेव ग्रहीतु वाञ्छति । यस्मादेव त्रैलोक्यस्य मृत्यु जीवित सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघातो । जीवस्य [ जीवितस्य ] जीवादन्यत्रावृत्तेर्जीवस्यैहवचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सम्बन्धान् । जीवरय हतुस्त्रैलोक्यघातसमो महान्दोषो भवतीति यावत् ॥७८१॥

रूप परिणामो की योग्यता होता है, शेष तीन में नहीं होती । इसीलिये यहाँ उसी मनुष्य जन्मका ग्रहण होता है । उस मनुष्य जन्मको प्राप्त करके भी ज्ञानावरण कर्मके उदयसे हित अहितका विचार करनेमें समर्थ बुद्धि सुलभ नहीं है । उसके विना प्राप्त भी मनुष्य जन्म उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे देखनेकी शक्तिसे रहित लम्बी आँखे, धन सम्पत्तिके विना कुलीनता, मौभाग्यके विना रूप, और यथार्थतासे रहित वचन व्यर्थ है । बुद्धिके होनेपर भी यदि आप्त पुरुषोका वचन न सुने तो वह बुद्धि भी कमलोसे रहित संग्रहकी तरह निष्फल ही है । यहाँ श्रवण भी आप्तके वचन विषयक ही ग्रहण किया है । श्रद्धान रहित सुनना भी सुलभ ही है । 'जिम्ने जेमा कहा हे वैसा ही है' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शन मोहके उदयमें दुर्लभ है । श्रद्धान होने पर भी चारित्र मोहके उदयसे जाने हुए और रुचने वाले मार्गमें प्रवृत्ति दुर्लभ है । इस प्रकार बड़े कष्टसे प्राप्त मुनिधर्मको तुणकी तरह मानकर त्यागना नहीं ॥७८०॥

टी०—आगे दो गाथाओंसे जीवघातसे हुए दोषका महत्त्व बतलाने है—

गा०—तीनों लोक और जीवनमेंसे एकको स्वीकार करे ? ऐसा देवोंके द्वारा कहे जानेपर कौन प्राणी अपना जीवन त्यागकर तीनों लोकोंको ग्रहण करेगा ? अत इस प्रकार सब प्राणियोंके जीवनका मूल्य तीनों लोक है अत जीवका घात करनेवालोको तीनों लोकोंका घात करनेके समान दोष होता है ।

शङ्का—जीवितपना जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता अतः 'जीवस्स' यह वचन व्यर्थ है ?

समाधान—गाथामें आये जीवस्सका सम्बन्ध आगेके कथनसे है—जीवके घातकको तीनों लोकोंके घातके समान दोष होता है ॥७८१—७८२॥

अहिंसाव्रतमहत्ता निवेदयन्ति—

**णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि ।**

**जह जह जाण महल्ल ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥७८३॥**

'णत्थि अणूदो अप्पं' नास्त्यणोरूप अन्यत्किचिद्द्रव्य । 'आयासादो अणूणय णत्थि' । आकाशाद्वा अन्यन्महन्नास्ति यथा तथान्यद्ब्रत अहिंसातो महन्नास्ति ॥७८३॥

**जह पव्वदेसु मेरू उच्चावो होइ सव्वलोयम्मि ।**

**तह जाणसु उच्चार्यं सीलेसु वदेसु य अहिंसा ॥७८४॥**

'जह पव्वदेसु' सर्वस्मिल्लोके पर्वतेभ्यो मेरुयथाचरत्तथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि ॥७८४॥

व्रताना, शीलाना, गुणाना च अधिष्ठानमहिंसेति वदन्ति—

**सव्वो हि जहायासे लोभो भूमिण सव्वदीउदधी ।**

**तह जाण अहिंसाए वदगुणशीलाणि तिट्ठंति ॥७८५॥**

यथा सर्वलोक ऊर्ध्वध्वान्निभयविकल्प आकाशाधिकरण । भूमौ च समवस्थिता सर्वे द्वीपा उदध-यश्च । तथैव 'जाण' जानीहि । व्रतगुणशीलान्यहिंसाया तिष्ठन्ति इति ॥७८५॥

**कुव्वतस्म वि जत्तं तुवेण विणा ण टंति जह अरया ।**

**अरएहिं विणा य जहा णट्ठं पेमी दु चक्कस्स ॥७८६॥**

'कुव्वतस्म वि जत्तं' यत्न कुर्वतोऽपि । तुम्बमन्तरण यथा न तिष्ठन्तिराणि । अरविना नेम्यवस्थान चक्रस्य यथा नास्ति ॥७८६॥

**तह जाण अहिंसाए विणा ण मीलाणि टंति सव्वाणि ।**

**तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥७८७॥**

'तह जाण' तथैव जानीहि । अहिंसा विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति इति । अहिंसाया एव रक्षायं शीलानि वृत्तिरिव सस्यस्य ॥७८७॥

गा०—जैसे अणुसे छोटा कोई अन्य द्रव्य नहीं है और आकाशसे बड़ा कोई नहीं है वैसे ही अहिंसासे महान् कोई अन्य व्रत नहीं है ॥७८३॥

गा०—जैसे सब लोकमे मेरु सब पर्वतोसे ऊँचा है वैसे ही शीलो और व्रतोमे अहिंसा सबसे ऊँची है ॥७८४॥

अहिंसा व्रतो शीलो और गुणोका अधिष्ठान है, ऐसा कहते है—

गा०—जैसे ऊर्ध्वलोक, अबोलोक और मध्यलोकके भेदसे सब लोक आकाशके आधार है और सब द्वीप और समुद्र भूमिके आधार है वैसे ही व्रत गुण और शील अहिंसाके आधार रहते हैं ॥७८५॥

गा०—लाख प्रयत्न करनेपर भी जैसे चकेके आरे तुम्बीके विना नहीं ठहरते और आरोके विना नेमि नहीं ठहरती, वैसे ही अहिंसाके विना सब शील नहीं ठहरते । उसीकी रक्षाके लिए शील हैं जैसे धान्यकी रक्षाके लिए बाड़ होती है ॥७८६—७८७॥

अहिंसाव्रतमन्तरेणेतरेषां नैष्कल्यमाचष्टे—

शीलं वदं गुणो वा षाणं जिस्संगदा सुहृत्त्वाओ ।

जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति ॥७८८॥

शीलादीनि हि सवरनिर्जरा बोद्धियानुष्ठीयन्ते । हिंसायां तु सत्या न स्त फलभूते सवरनिर्जरे मुक्त्यु-  
पायभूते इति निष्फलता मन्यते ॥७८८॥

सव्वेसिमासमाणं ह्रियं गढ्मो व सव्वसत्थाणं ।

सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥७८९॥

'सव्वेसिमासमाणं' सर्वेषामाश्रमाणा हृदयं शास्त्राणां गर्भः । सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिण्डीभूतसारो  
भवत्यहिंसा ॥७८९॥

जम्हा असत्त्ववयणादिएहि दुक्खं परस्स होदिति ।

तप्परिहारो तम्हा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥७९०॥

'जम्हा असत्त्ववयणादिएहि' यस्मात्सत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मधुनेन, परिग्रहेण च परस्य दुःख  
भवति । तस्मात्तेषां असत्यवचनादीनां परिहार इति सर्वेऽपि अहिंसायां गुणा ।

गोचंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति जदि ह्वे परमधम्मो ।

परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥७९१॥

'गोचंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति' गवा, ब्राह्मणानां, स्त्रीणां च वधमात्रनिवृत्तिर्यदि भवेदुत्कृष्टो धर्म परमो  
धर्म कथं न भवति या सर्वजीवदया ॥७९१॥

हिंसानिवृत्तिं उपायेन कारयन्ति कृतापकारानपि बान्धवान्स्नेहान्न मारयितुमीहते जन । 'तवपुरस-

अहिंसाव्रतके विना शील आदिकी निष्फलता वतलाते है—

गा०—जीवोकी हिंसा करनेवालेके शील, व्रत, गुण, ज्ञान, नि सगता और विषय सुखका  
त्याग ये सभी ही निरर्थक होते है ॥७८८॥

विशेषार्थ—शील आदि सवर और निर्जंगके उद्देशसे किये जाते हैं । हिंसाके होते हुए  
मुक्तिके उपायभूत सवर निर्जरारूप फल नहीं होते । इसलिए निष्फल कहा है ॥७८८॥

गा०—सब आश्रमोका हृदय, सब शास्त्रोका गर्भ और सब व्रतो और गुणोका पिण्डीभूत  
सार अहिंसा ही है ॥७८९॥

गा०—यत्त असत्य बोलनेसे, विना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे, मैथुनसे, और परिग्रहसे दूसरों-  
को दुःख होता है । इसलिए उन सबका त्याग किया जाता है । अत वे सब सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य  
और अपरिग्रह अहिंसाके ही गुण हैं ॥७९०॥

गा०—यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्रियोके वधमात्रसे निवृत्ति उत्कृष्ट धर्म है तो सब प्राणियों-  
पर दया परमधर्म क्यों नहीं है ? ॥७९१॥

लोग सावधानीपूर्वक हिंसासे बचते है । अपकार करनेवाले भी बन्धु-बान्धवोंको स्नेहवश

कृष्णन्मात्तरे पितृपुत्रादिभावमुपागतानां मारणमयुक्तं इति वदति—

सच्चे वि य संबंधा पत्ता सच्चेण सच्चजीवेहिं ।

तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥७९२॥

'सच्चे वि य' सर्वेऽपि च । 'संबंधा' सम्बन्धा प्राप्ता । 'सच्चेण' सर्वेण जीवेन । 'सच्चजीवेहिं' सर्व जीवे । 'तो' तस्मात् । जीवो मारणोद्यत सम्बन्धिन एव घातयति ॥७९२॥

तच्च सम्बन्धिहनन लोके अतिनिन्दित—

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ।

विसकंटओच्च हिंसा परिहरियच्चा तदो होदि ॥७९३॥

'जीववहो अप्पवहो' जीवाना घात आत्मघात एव । जीवाना क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । सकृदेकजीवघातनोद्यत स्वयमनेकेषु जन्मसु मार्यते । कृतैकजीवदयोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परै रक्ष्यते । इति विषयलिप्तकण्टकवत् परिहार्या हिंसा दुःखभीरुणा ॥७९३॥

हिंसादोषमिदं जन्मनि दर्शयति—

मारणमीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुच्च उच्चवेगं ।

संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारितए जंति ॥७९४॥

'मारणमीलो हु' मारणशील परहनोद्यत । राक्षस इव जीवानामुद्वेग करोति । सम्बन्धिनोऽपि न विस्संभं उपयान्ति तस्मिन्बन्धके ॥७९४॥

वधबंधरोधभ्रणहरणजादणाओ य वेरमिह चेव ।

णिव्विसयमभोजित्तं जीवे मारंतगो लभदि ॥७९५॥

मारना नहीं चाहते । तब पूर्व नाना जन्मोंमें पिता पुत्र आदि सम्बन्ध जिनके साथ रहा है, उन जीवोंको मारना अनुचित है, यह कहते हैं—

गा०—सब जीवोंके साथ मत्र जीवोंके सब प्रकारके सम्बन्ध पूर्वभवोंमें रहे हैं । अत उनको मारनेवाला अपने सम्बन्धीको ही मारता है और सम्बन्धीको मारना लोकमें अत्यन्त निन्दित माना जाता है ॥७९२॥

गा०—टी०—जीवोंका घात अपना ही घात है । और जीवोंपर की गई दया अपनेपर ही की गई दया है । जो एक बार एक जीवका घात करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें मारा जाता है । और जो एक जीवपर दया करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें दूसरे जीवोंके द्वारा रक्षा किया जाता है । इसलिए दुःखसे डरनेवाले मनुष्यको विषैले काँटिकी तरह हिंसासे बचना चाहिए ॥७९३॥

इसी जन्ममें हिंसाके दोष दिखलाते हैं—

गा०—जो दूसरोंका घात करनेमें तत्पर होता है उससे प्राणी बंसे ही डरते हैं जैसे राक्षसों । उस हिंसकका विश्वास सम्बन्धीजन भी नहीं करते ॥७९४॥

'वध बन्ध उत्कोटकादिकं वध बन्धं मारण । रोधन, धनहरण । यातनाश्च वैर विषयाद्वाहन अभो-  
प्यतां च रोषाद्ब्राह्मणादिहिननात् । 'मारैतयो' हन्ता । 'लभवि' लभते ॥७९५॥

रुद्धो परं वधित्ता सयंपि कालेण मरइ जंतेण ।

हृद्घादायाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं कालं ॥७९६॥

<sup>२५</sup>रुद्धो पर वधित्ता—रुष्ट पर वधित्वा । स्वयमपि कालेन जन्तेण—गच्छता कालेन । मरवि—  
मृतिमुपैति । 'हृद्घादायाण'—हतस्य घातकस्य च । णत्थि विसेसो—नास्ति विशेष । तं कालं मुत्तूण—तं कालं  
मुक्त्वा । पूर्वमतो मृत पश्चात्स्वयमिति ॥७९६॥

अप्याउग्रोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य ।

दुम्मेहवण्णरसगंधदा य से होइ परलोए ॥७९७॥

'अप्याउग्रोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य' अल्पजीवितरोगिता विरूपता, विकलेन्द्रियता दुर्बलता ।  
'दुम्मेहवण्णरसगंधदा य' दुर्मेधता, दुर्बलता, दूरसदुर्गन्धता च । 'से' तस्य । 'होवि' भवति । 'परलोए'  
जन्मान्तरे ॥७९७॥

मारोदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु ।

अवसो मारिज्जंतो मरदि विघाणेहिं बहुएहिं ॥७९८॥

'मारोदि' हन्ति । 'एयमवि' एकमपि । 'जो जीवं' यो जीव । 'सो' म । 'बहुसु जम्मकोडीसु' बहुपि  
जन्मकोटीसु । 'अवसो मरदि मारिज्जंतो' परवशो मरति मार्यमाणो । 'विघाणेहिं बहुएहिं' बहुभि प्रकार-  
मार्यमाण ॥७९८॥

जावहयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं ।

सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥७९९॥

गा०—मारनेवाला इमी जन्ममे वध, बन्ध मारण, धनहरण, अनेक यातनाएँ, वैर, देश  
निष्कासन तथा क्रोधमे आकर ब्राह्मण आदिकी हत्या करनेपर जातिबहिष्कारका दण्ड पाता  
है ॥७९५॥

गा०—क्रोधी मनुष्य दूसरेकां मारकर समय आनेपर स्वय भी मर जाता है । अत मरने-  
वाले और मारनेवालेमे कालके सिवाय अन्य भेद नहीं है । पहले वह जिसे मारता है वह मरता है  
और पीछे स्वय भी मरता है ॥७९६॥

गा०—हिंसक परलोक अर्थात् जन्मान्तरमे अल्पायु, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय, दुर्बल,  
मूर्ख, बुरेरूप, बुरेरस और दुर्गन्धयुक्त होता है ॥७९७॥

गा०—जो एक भी जीवको मारता है वह करोड़ों जन्मोमे पशुवश होकर अनेक प्रकारसे  
मारा जाकर मरता है ॥७९८॥

१ वध मारण, वध बन्धन, रोध उत्क टादिक, रोधन धनहरण रिक्थोद्दालन यातनाश्च कवर्धनानि  
वैर—आ० मु० । २ 'रुद्धो पर वधित्ता' रुद्ध मन् परमन्ध वधित्वा स्वयमपि गच्छता कालेन त्रियते हतघात-  
कयोनास्ति विशेष—आ० मु० ।



‘जावदिवार्ह’ यावन्ति । ‘बुधस्ताइ’ दुःखानि । ‘हुंति’ भवन्ति । ‘बहुगवधिगवाइ’ गतिचतुष्टयगतानि ।  
‘सन्वाधि ताणि’ हिंसाफलाणि’ सर्वाणि तानि हिंसाफलानि । ‘जोबस्स जाणाहि’ जीवस्वेति जानीहि ॥७९॥  
का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरूप्यन्ते इत्याचष्टे—

**हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु ।**

**तम्हा पमत्तजोगो पाणव्ववरोबओ णिच्चं ॥८००॥**

‘हिंसादो अविरमणं’ हिंसातोऽविरतिहिंसेति सम्बन्धनीय । प्राणान् प्राणिनो<sup>१</sup> न व्यपरोपयामोति सक-  
ल्पाकरण हिंसा इत्यर्थ । ‘वहपरिणामो वा’ हन्मीति एव परिणामो वा हिंसा । ‘तम्हा’ तस्मात् । ‘पमत्त-  
योगो’ प्रमत्तता सम्बन्ध । पाणव्ववरोबओ प्राणानपनयति । ‘णिच्चं’ नित्य । विकथा, कथाय इत्येवमादय-  
पञ्चदशपरिणामा आत्मनो भावप्राणाना परस्य च द्रव्यभावप्राणाना वियोजका इति हिंसेत्युच्यते । तथा  
चोक्तम्—

रक्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा अं पयुंजवि पजोमं ।

हिंसा वि तत्थ जायवि तम्हा सो हिंसगो होइ ॥ [ ]

रक्तो द्विट्ठो मूढो वा सन् यं प्रयोग प्रारभते तस्मिन्निंसा जायते । न प्राणिनः प्राणाना वियोजन-  
मात्रेण । आत्मनि रागादीनामनुत्पादक सोऽभिधीयते अहिंसक इति । यस्माद्रागाद्युत्पत्तिरेव हिंसा । न हि  
जीवान्तरगतदेशतया अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा, तदभावकृता वा अहिंसा, किन्तु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव  
अहिंसा । प्रमादपरिणत आत्मैव हिंसा अप्रमत्त एव च अहिंसा । उक्तं च—

अत्ता वेव अहिंसा अत्ता हित्तति णिच्छओ समये ।

जो होवि अपमत्तो अहिंसगो हिंसगो इवरो ॥ [ ]

गा०—इस लोकमें चारो गतियोंमें जितने दुःख होते हैं वे सब उस जीवकी हिंसाके फल  
जानो ॥७९॥

जिस्के ये दोष कहे हैं वह हिंसा किसे कहते हैं, यह बतलाते हैं—

गा०—टी०—हिंसासे विरत न होना हिंसा है । अर्थात् ‘मै प्राणीके प्राणोका घात नहीं  
करूँगा’ ऐसा सकल्प न करना हिंसा है । अथवा ‘मै मारूँ’ ऐसा परिणाम हिंसा है । इसलिए  
प्रमादोपना नित्य प्राणोका घातक है । अर्थात् विकथा कथाय इत्यादि पन्द्रह प्रमादरूप परिणाम  
अपने भाव प्राणोके और दूसरेके द्रव्यप्राण तथा भावप्राणोके घातक होनेसे हिंसा कहे जाते हैं ।  
कहा भी है—

रागी, द्वेषी और मोही होकर जो कार्य करता है उसमें हिंसा होती है । प्राणियोंके प्राणो-  
का घात हो जाने मात्रसे हिंसा नहीं होती । जो अपने रागादि भावोको नहीं करता, उसे अहिंसक  
कहते हैं, क्योंकि रागादिको उत्पत्ति ही हिंसा है । अन्य जीवके किसी प्राणके घातकी अपेक्षा  
हिंसा और उसका घात न होना अहिंसा नहीं है । किन्तु आत्मा ही हिंसा और आत्मा ही अहिंसा  
है । प्रमादभावसे युक्त आत्मा ही हिंसा है और अप्रमादी आत्मा ही अहिंसा है । कहा है—

निश्चयसे आगममें आत्माको ही अहिंसा और आत्माको ही हिंसा कहा है । जो अप्रमादी  
आत्मा है वह अहिंसक है और जो प्रमादभावसे युक्त है वह हिंसा है ।

१ नो व्यपरोपयामीति संकल्पक—आ० म० ।

जीवपरिणामायस्तो बन्धो जीवो मृत्तिमुपेतु नोपेयाद्वा । तथा चाभाणि—

‘अज्जलवसिदेण बन्धो सत्तो नु मरेज्ज नो मरिज्जेव ।

एसो बंधसत्तातो जीवानं निज्जयणयस्स ॥ [—मय० २६२ ]

खेबास्तरीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थानं योनिस्त्रित यो च वरोंवगो वेति तत्सम्भवकाल तत्पीडा-  
परिहारेच्छुरसत्कृतपःक्रियाया लोभसत्काराद्यनपेक्ष्य प्रवृत्तो भवत्यहिंसक । उक्त च—

बाणो कन्मस्स ज्ञयत्थमुट्ठिवो षोट्ठिवो य हिंसाए ।

अर्थाव असदो हि यत्थं अप्पमत्तो अवचगो सो ॥ [ ]

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मनः स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण बन्ध' स्थान्न कस्य-  
चिन्मृत्कः स्यात् । योगिनामपि वायुकायिकवर्धनमित्तबन्धसद्भावत् । अभाणि च—

अवि सुद्धस्स य बंधो ह्येहि वि बाहिरंगवत्पुजोमेण ।

अत्थि नु अहिंसलो ज्ञाम होवि वायाविबवहेतु ॥ [ ]

तस्मान्निवचनयाश्रये ण प्राण्यन्तरप्राणवियोगापेक्षा हिंसा ॥८००॥

हिंसागतक्रियाभेदाग्निरूपयति—

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ।

एदे पंचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ ॥८०१॥

जीव मरे या न मरे, जीवके परिणामीके अधीन बन्ध होता है कहा है—

जीव मरे या न मरे हिंसायुक्त परिणामसे बन्ध होता है । निश्चयनयसे यह जीवके बन्धका सार है ।

जीव, उनके शरीर, शरीर ग्रहण करनेके स्थान जिसे योनि कहते है, उनका उत्पत्तिकाल, इन सबको जो जानता है और उनकी पीडाको दूर करना चाहता है तथा लोभ सन्मान आदिकी अपेक्षा न करके मायाचार रहित तपमे लीन है वह अहिंसक है । कहा है—

ज्ञानी कर्मके क्षयके लिए उद्यत होता है, हिंसाके लिए उद्यत नहीं होता । वह मायाचारसे रहित होता है । अतः अप्रमत्त होनेसे वह अहिंसक है । शुभपरिणामसे युक्त आत्माके भी यदि अपने शरीरके निमित्तसे अन्य प्राणियोंके प्राणोंका घात हो जानेमात्रसे बन्ध हो तो किसीकी मुक्ति ही न हो । क्योंकि योगियोंके भी वायुकायिक जीवोंके घातके निमित्तसे बन्धका प्रसंग आता है वे भी स्वास लेते हैं और उससे वायुकायिक जीवोंका घात होता है । कहा है—

यदि बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धसे शुद्धपरिणामवाले जीवके भी बन्ध होता हो तो कोई अहिंसक हो ही नहीं सकता, क्योंकि शुद्धपरिणामीके स्वाससे वायुकायिक जीवोंका वध होता है ।

इसलिए निश्चयनयकी दृष्टिसे दूसरे प्राणियोंके प्राणोंके घातकी अपेक्षामात्रसे हिंसा नहीं होती ॥८००॥

हिंसा सम्बन्धी क्रियाओंके भेदोंका कथन करते हैं—

१. अज्जलवसिदो य बद्धो—आ० मु० । २. रसकृतप—आ० मु० ।

'पादोसियाधिकरणय कायिय परिव्यावनाधिवावाए' पादोसिय शब्देनेष्टदारवित्तहरणादिनिमित्तः क्रोधः प्रद्वेष इत्युच्यते । प्रद्वेष एव प्राद्वेषिको यथा विनय एव वैनयिकनिमित्तः । हिंसाया उपकरणवत्क्रूरणमित्युच्यते । हिंसोपकरणाद्यानक्रिया आधिकरणिकी । दुष्टस्य सत् 'कायेन वा चलनक्रिया कायिकी । परितापो दुःखं दुःखोत्पत्तिनिमित्ता क्रिया पारितापिकी । आयुरिन्द्रियबलप्राणाना वियोगकारिणी प्राणातिपातिकी । 'एवे पंच वचनो' एते पञ्च प्रयोगः । 'हिंसाकरिआब्बो' हिंसासम्बन्धिन्य क्रिया ॥८०१॥

तिहिं चदुहिं पंचहिं वा कमेण हिंसा समप्पदि हुं ठाहिं ।

बंधो वि सिया सरिसो जइ सरिसो काइयपदोसो ॥८०२॥

'तिहिं चदुहिं पंचहिं वा' निभिमनोबावकाये, चतुभिं क्रोधमानमायालोभैः, पञ्चभिं स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैर्वा । 'कमेण हिंसा समप्पदि कुं' क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति । तानिमनसा प्रद्वेषो वचसा विष्टो-ज्जमोति वचन वाद्वेष । कायेन मुखवैवर्ण्यादिकरण कायद्वेष । मनसा हिंसोपकरणाद्यं, वाचा शस्त्र<sup>१</sup> उप-शृङ्खामीति हस्तादिताडन इति अधिकरणमपि त्रिविधं । मनसा उत्तिष्ठामीति चिन्ता कायक्रिया । वचसा उत्तिष्ठामि इति, हस्तु ताडयितुमिति उक्ति । कायेन चलन कायिकी । मनसा दुःखमुत्पादयामीति चिन्ता, दुःखं भवत करोमि इति उचितवांचा पारितापिकी क्रिया । हस्तादिताडनेन दुःखोत्पादन कायेन पारितापिकी क्रिया । प्राणान्वियोजयामीति चिन्ता मनसा प्राणातिपात, हृन्मीति वच वाचप्राणातिपात । कायव्यापारः कायिक-प्राणातिपात क्रोधनिमित्ता कस्मैश्चिवपैति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता, क्रोधादिना शस्त्रग्रहणं

गा०—'पादोसिय' शब्दसे इष्ट स्त्री, धन हरने आदिके निमित्तसे-होनेवाला क्रोध प्रद्वेष कहलाता है । प्रद्वेष ही प्राद्वेषिक है जैसे विनय ही वैनयिक है । हिंसाके उपकरणको अधिकरण कहते हैं । हिंसाके उपकरणको लेन-देन अधिकरणिकी क्रिया है । दुष्टतापूर्वक हलन-चलन कायिकी क्रिया है । परितापका अर्थ दुःख है । दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त क्रिया पारितापिकी है । आयु इन्द्रिय और बल प्राणोका वियोग करनेवाली क्रिया प्राणातिपातिकी है । पांच प्रकारकी प्रयोग हिंसासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ हैं ॥८०१॥

गा०—द्वी०—मन वचन काय इन तीनसे, क्रोध मान माया लोभ इन चारसे और स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोसे क्रमसे हिंसा होती है । मनसे द्वेष करना, वचनसे मैं द्वेषयुक्त हूँ ऐसा कहना वचनद्वेष है । शरीरसे मुखको विकृत आदि करना कायद्वेष है । 'मनसे हिंसाके उपकरण स्वीकार करना, वचनसे मैं शस्त्र ग्रहण करता हूँ ऐसा कहना, कायसे हाथ आदि भाजना ये अधिकरणके तीन भेद हैं । मनसे विचारना 'मैं मारनेके लिए उठूँ' वचनसे कहना मैं मारनेके लिए उठता हूँ । और कायसे हलन-चलन ये तीन कायिकी क्रिया है । मनमें चिन्ता करना 'मैं दुःख हूँ' यह मानसिक पारितापिकी क्रिया है । आपको दुःख हूँ ऐसा कहना वाचनिक पारितापिकी क्रिया है । हाथ आदिके द्वारा ताडन करनेसे दुःख देना कायिक पारितापिकी क्रिया है । मैं प्राणोंका वियोग करूँ ऐसा चिन्तन करना मानसिक प्राणातिपात है । मैं घात करता हूँ ऐसा कहना वाचनिक प्राणातिपात है । शरीरसे व्यापार करना कायिक प्राणातिपात है । यह किसीमें क्रोधके निमित्तसे, किसीमें मानके निमित्तसे, किसीमें मायाके निमित्तसे और किसीमें लोभके निमित्तसे होता है । क्रोध अदि-

क्रोधादिनिमित्त' कायपरिस्पन्द'। क्रोधादिनिमित्तपरपरितापकरण, प्राणातिपातो वा क्रोधादिना भवति। स्पर्शानादीन्द्रियनिमित्तो वा प्रद्वेष', इन्द्रियसुखार्थं वा फलपल्लवपसूनादिछेदननिमित्तसाधनोपादान, तन्सुखार्थमेव विषयप्रत्यासक्तिभिन्नं स्य यतः कायपरिस्पन्द'। परस्य वा गाढालिङ्गयननक्षतादिना सन्तापकरण, मासाद्यर्थं वा प्राणिप्राणवियोजनमिति। किमेताभिर्हिंसाभि सपाद्य कर्मबन्ध समान उत न्यूनाधिकभावो बन्धस्येत्याद्यच्छ्रुयामाचष्टे 'बंधोऽपि' कर्मबन्धोऽपि 'सिष्या सरिसो' स्यात्सदृश'। कथं ? 'अबि सरिसो' यदि सदृशः। 'कायिकपद्मोसे' कायिकी क्रिया प्रद्वेषव च यदि सम स्यात्कारणसामान्यात्कार्यस्यापि बन्धस्य सादृश्य, अन्यथा न सदृशता। तीव्रमध्यमन्दरूपा परिणामा तीव्र, मध्य, मन्द च बन्धमापादयन्ति इति भाव ॥८०२॥

अधिकरणभेद निरूपयति—

वीसं पलिया पंचेत्य मोदया चारि पंच दस पलिया ।

तिणि चदु पंच सत्तमोदय तेसिं पि समो हवे बंधो ॥

वीस पल तिणिण मोदय पण्णरह पला तहेव चचारि ।

वारह पलिया पंच दु तेसिं पि समो हवे बंधो ॥८०३॥

जीवगदमजीवगद समासदो होदि दुविहमधिकरणं ।

अट्टुत्तरसयभेदं पढमं विदियं चदुभेदं ॥८०४॥

के वशमे होकर शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्तसे होने वाला काय परिस्पन्द है। क्रोध आदिके निमित्तसे दूसरोको दु ख देना अथवा प्राणोका घात करना क्रोध आदिसे होता है। अथवा स्पर्शन आदि इन्द्रियोके निमित्तसे प्रद्वेष होता है। इन्द्रिय सुखके लिए फल पत्र, फूल आदि तोड़नेके लिए उसके साधन ग्रहण किये जाते हैं। इन्द्रिय मुखके लिए ही विषयोको स्वीकार किया जाता है, शरीरसे हलन-चलन किया जाता है, गाढ़ आर्लगन तथा नख द्वारा नोचना आदिसे दूसरोको सताप दिया जाता है। अथवा मास आदिके लिये प्राणीके प्राणोका घात किया जाता है।

इस प्रकार प्राद्वेषिकी क्रिया, आधिकरिणकी क्रिया, कायिको क्रिया, पारितापिको क्रिया और प्राणातिपातिकी क्रिया मन वचन काय, क्रोध मान माया लोभ और स्पर्शन रसन घ्राण, चक्षु श्रोत्रसे होती हैं।

शङ्का—इन क्रियाओसे होने वाला कर्मबन्ध समान होता है या होनाधिक होता है ?

समाधान—यदि कायिकी क्रिया और प्रद्वेष समान होता है तो समान कर्मबन्ध होता है। क्योंकि कारणमे समानता होनेसे कार्य बन्धमे भी समानता होती है, अन्यथा समानता नहीं होती। तीव्र मध्य या मन्दरूप परिणामोसे तीव्र मध्य या मन्द बन्ध होता है ॥८०२॥

अधिकरणके भेद कहते है—

[गाथा ८०३ दो रूपोमे मिलती है किन्तु उसका भाव स्पष्ट नहीं होता। प० सदासुखजीने भी ऐसा ही लिखा है। अतः इनका अर्थ नहीं किया। किसी टीकाकारने भी इसकी व्याख्या नहीं की।]

१ आ० प्रति में दोनो गाथायें हैं न० दोनो पर ९६ ही है।

'जीवगत्वमजीवगत्वं इति' जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते । न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसाया उपकरण भवति । किन्तु जीवस्य पर्याय आत्मवस्य हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽभ्यन्तरकारणं । अजीवगतः पर्यायः इत्यत्र स्वयं सदा सन्निहितकार्यं स्यात्कादाचित्कता कथमिव सम्पाद्यति । पर्यायस्तु स्वकारणसाक्षिध्यात्कदाचित्देवेति । यदा स्वयं सन्ति सन्निहितसहकारिकारणभास्तदेव स्वकार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति युक्ता कादाचित्कता कार्यस्येति भावः । 'समासतो बुविचमधिकरणं' सक्षेपतो द्विविधं हिंसाधिकरणं 'अट्टकृत्तरसमभेद' अष्टोत्तरसप्तभेदः । 'पठमं जीवगत्वमधिकरणं' प्रथम जीवगतमधिकरणं । 'द्विविधं' द्वितीय अजीवगतमधिकरणं 'कटुकभेदं' चतुर्विकल्पं ॥८०५॥

प्रथमस्य भवान्तिरूपयति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं ।

कदकारिदानुमोदेहिं तथा गुणिदा पठमभेदा ॥८०५॥

'संरंभसमारंभारंभजोगेहिं तह कसाएहिं' प्राणव्यपरोपणादी प्रमादवत् संरंभः । साध्याया हिंसाधिक्रियाया साधनाना समाहारं समारंभः । सञ्चितहिंसाद्युपकरणस्य आद्य प्रक्रम आरंभः । योगशब्देन मनोवाक्कायव्यापारा उच्यन्ते । गुतं सरंभसमारंभारंभयोगे' । 'तथा' तथा 'कसाएहिं' कषाय 'कवकारिदानुमोदेहिं' कृतकारितानुमोदिनं । 'तथा गुणिदा' तथा गुणिता । 'पठमभेदा' जीवाधिकरणभेदा । प्रयत्नपूर्वकत्वाच्चेतनावतो व्यापारस्यादौ सरंभस्य वचनः । अनुपाया साध्यसिद्धिर्न भवति प्रयत्नवतोऽपि तत् साधनसमाहरणं प्रयत्नादनन्तरमिति समारंभो युक्तः । साध्यं पुनः उपसाधनसहती सत्या प्रक्रमते क्रियामिति आरंभः

गा०-टी०—अधिकरणके दो भेद है—जीवगत और अजीवगत । जीवगतका अर्थ है जीवपर्याय । केवल जीवद्रव्य हिंसामें सहायक नहीं होता किन्तु जीवकी पर्याय होती है । हिंसा आदिसे युक्त जीवका परिणाम हिंसाका अभ्यन्तर कारण होता है । इसी तरह अजीवगतसे अजीवपर्याय लेना चाहिए, क्योंकि अजीवद्रव्य तो सदा रहनेसे सदा कार्यकारी रहता है अतः कार्य सदा होता रहेगा । किन्तु पर्याय तो अपने कारणके होने पर ही होती है अतः कदाचित् होती है । जब सहकारी कारण होते हैं तभी अपना कार्य करते हैं, अन्य कालमें नहीं करते । अतः कार्य सदा न होकर कदाचित् होता है ।

इस तरह सक्षेपसे अधिकरणके दो भेद हैं । उनमेंसे प्रथम जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद हैं और दूसरे अजीवाधिकरणके चार भेद हैं ॥८०५॥

जीवाधिकरणके भेद कहते हैं—

गा०-टी०—प्राणिके घात आदिमें प्रमाद युक्त व्यक्ति जो प्रयत्न करता है वह संरंभ है । साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनको एकत्र करना समारंभ है । हिंसा आदिके उपकरणोंका सचय हो जाने पर हिंसाका आरंभ करना आरंभ है । योग शब्दसे मन वचन और कायका व्यापार लिया गया है । इन सरंभ, समारंभ, आरंभको, योग, कषाय और कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर जीवाधिकरणके भेद होते हैं ।

चेतन जीवका व्यापार प्रयत्नपूर्वक होता है इसलिए प्रथम सरंभ कहा है । प्रयत्न करने पर भी उपायोंके बिना कार्यसिद्धि नहीं होती, अतः संरंभके पश्चात् समारंभ कहा है । साधनोंके एकत्र होनेपर कार्य आरंभ होता है । अतः समारंभके पश्चात् आरंभको रखा है । जीवके द्वारा

पवषादुपपत्तः । स्वतन्त्रत्वविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते तत् कृतं । परस्य पयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपवाति यत्-  
कारितं । स्वयं न करोति न च कारयति, किन्त्वस्म्युपैति यत्तनुमनन अभ्युपगमः । तत्र सरंभस्तावदुच्यते क्रोध-  
निमित्तं स्वतन्त्रस्य हिंसाविषयः प्रयत्नावेशः क्रोधकृतकायसंरम्भः । मानकृतकायसंरम्भः, मायाकृतकायसंरम्भः,  
लोभकृतकायसंरम्भः । क्रोधकारितकायसंरम्भः, मानकारितकायसंरम्भः, मायाकारितकायसंरम्भः, लोभकारित-  
कायसंरम्भः । क्रोधानुमतकायसंरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः, लोभानुमतकायसंरम्भः ।  
इति द्वादशधा संरम्भः । क्रोधकृतकायसमारम्भः, मानकृतकायसमारम्भः, मायाकृतकायसमारम्भः, लोभकृत-  
कायसमारम्भः । क्रोधकारितकायसमारम्भः, मानकारितकायसमारम्भः । मायाकारितकायसमारम्भः, लोभ-  
कारितकायसमारम्भः । क्रोधानुमतकायसमारम्भः, मानानुमतकायसमारम्भः, मायानुमतकायसमारम्भः, लोभानुमत  
कायसमारम्भः इति द्वादशधा समारम्भः । क्रोधकृतकायारम्भः, मानकृतकायारम्भः, मायाकृतकायारम्भः, लोभ-  
कृतकायारम्भः । क्रोधकारितकायारम्भः, मानकारितकायारम्भः, मायाकारितकायारम्भः, लोभकारितकाया-  
रम्भः । क्रोधानुमतकायारम्भः, मानानुमतकायारम्भः, मायानुमतकायारम्भः, लोभानुमतकायारम्भश्च ।  
इत्येव आरम्भोऽपि द्वादशधा । एवं संविदिता कायारम्भा वदन्तिषत् । एते सपिण्डता जीवाधिकरणास्र-  
भेदा अष्टोत्तरशतसख्या भवन्ति ॥८०५॥

सरंभो संकल्पो परिदावकदो ह्ये समारंभो ।

आरंभो उह्वओ सच्चवयाणं विसुद्धानं ॥८०६॥

स्वतन्त्रता पूर्वक जो किया जाता है वह कृत है । जो दूसरेके द्वारा सिद्ध होता है वह कारित है ।  
न स्वयं करता है न कराता है किन्तु जो करता है उसे स्वीकार करता है वह अनुमत है । इनमेसे  
संरम्भके भेद कहते हैं—

क्रोधके निमित्तसे स्वतन्त्रता पूर्वक हिंसा विषयक प्रयत्न करना क्रोध कृत काय संरम्भ है ।  
इसी तरह मान कृत काय संरम्भ, मायाकृत काय संरम्भ, लोभकृत काय संरम्भ, क्रोध कारित  
काय संरम्भ, मान कारित काय संरम्भ, माया कारित काय संरम्भ, लोभ कारित काय संरम्भ ।  
क्रोधानुमत काय संरम्भ, मानानुमत काय संरम्भ, मायानुमत काय संरम्भ, लोभानुमत काय संरम्भ  
इस तरह बारह प्रकारका संरम्भ है । क्रोधकृत काय समारम्भ, मानकृत काय समारम्भ, मायाकृत  
काय समारम्भ, लोभ कृत काय समारम्भ । क्रोध कारित काय समारम्भ, मान कारित काय समा-  
रम्भ, माया कारित काय समारम्भ, लोभ कारित काय समारम्भ । क्रोधानुमत काय समारम्भ,  
मानानुमत काय समारम्भ, मायानुमत काय समारम्भ, लोभानुमत काय समारम्भ । इस तरह  
बारह प्रकारका समारम्भ है । क्रोधकृत काय आरम्भ, मानकृत काय आरम्भ, मायाकृत काय  
आरम्भ, लोभकृत काय आरम्भ, क्रोध कारित काय आरम्भ, मान कारित काय आरम्भ, माया  
कारित काय आरम्भ, लोभ कारित काय आरम्भ, क्रोधानुमत काय आरम्भ, मानानुमत काय  
आरम्भ, मायानुमत काय आरम्भ, लोभानुमत काय आरम्भ । इस प्रकार आरम्भ भी बारह  
प्रकारका है । ये मिलकर कायारम्भके छत्तीस भेद होते हैं । छत्तीस ही भेद वचन सम्बन्धी आरम्भ-  
के और छत्तीस ही भेद मन सम्बन्धी आरम्भके होते हैं । ये सब मिलकर जीवाधिकरण सम्बन्धी  
आस्रवके एक सौ आठ भेद होते हैं ॥८०५॥

षा०—संकल्पको संरम्भ कहते हैं । संताप देनेको समारम्भ कहते हैं और आरम्भ सब

अजीवाधिकरणस्य चतुरो भेदानाचष्टे—

**णिक्खेवो णिव्वत्ति तद्दा य संजोयणा णिसम्मो य ।**

**कमसो च्छु दुग् दुग् तिय भेदा होंति इ बिदियस्स ॥८०७॥**

'णिक्खेवो णिव्वत्ति तद्दा य संजोयणा णिसम्मो य' निक्षेपो निर्वर्तना संयोजना निमगं इति । 'कमसो' यथामरुथेन । 'च्छु दुग् दुग् तिय भेदा' निक्षेपश्चतुःप्रकार । निर्वर्तना द्विप्रकारा । संयोजना द्विप्रकारा । निसर्ग-स्त्विच्छिद्य इति सम्बध्यते ॥८०७॥

निक्षेपस्य चतुरो विकल्पानाचष्टे—

**सहसाणाभोगिय दुप्पमज्जिद् अप्पचवेक्खणिक्खेवो ।**

**देहो व दुप्पउत्तो तहोवक्करणं च णिव्वत्ति ॥८०८॥**

'सहसाणाभोगियदुप्पमज्जिद् अप्पचवेक्खणिक्खेवो' सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमूढनिक्षेपाधिकरण, अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण चेति । निक्षिप्यते इति निक्षेप । उपकरणं पुस्तकविधि, शरीर, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि भयात् कुतश्चित्कान्तिरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन पदजीवनिकायबाधाधिकरणता प्रतिपद्यन्ते । असत्यामपि त्वरायां जीवाः सन्ति न सन्तीति निरूपणामन्तरेण निक्षिप्यमाण तदेवोपकरणादिक अनाभोगनिक्षेपाधिकरणमुच्यते । दुष्प्रमूढसुपकरणादि निक्षिप्यमाण दुष्प्रमूढ-निक्षेपाधिकरण स्थाप्यमानाधिकरण वा दुष्प्रमूढनिक्षेपाधिकरण । प्रमार्जनोत्तरकाले जीवाः सन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षित यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण । निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—'देहो व दुप्पउत्तो' दुःप्रयुक्त शरीर हिमोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति । उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवबाधा-विशुद्ध व्रतोंका धातक है ॥८०६॥

अजीवाधिकरणके चार भेदोको कहते है—

गा०—अजीवाधिकरणके चार भेद है—निक्षेप, निर्वर्तना, संयोजना और निसर्ग । क्रमानुसार निक्षेपके चार भेद हैं । निर्वर्तनाके दो भेद हैं । संयोजनाके दो भेद हैं और निसर्गके तीन भेद हैं ॥८०७॥

निक्षेपके चार भेद कहते है—

गा०—टी०—निक्षेपके चार भेद हैं—सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमूढनिक्षेपाधिकरण और अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण । रखनेको निक्षेप कहते हैं । उपकरण, पुस्तक आदि, शरीर अथवा शरीरके मल भयसे अथवा किसी अन्य कारणान्तरसे सहसा शीघ्र रखनेसे त्यागनेसे छहकायके जीवोको बाधाके आधार हो जाते हैं । यह सहसानिक्षेपाधिकरण है । जल्दी नहीं होनेपर भी 'पृथ्वी आदिपर जन्तु है या नहीं' यह देखे बिना ही उपकरण आदिको रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है । उपकरण आदिको असावधानतासे या दुष्टतासे साफ करके रखना अथवा जिस स्थानपर उन्हें रखना है उस स्थानकी दुष्टतासे सफाई करना, जिससे जीवोको कष्ट पहुंचे, दुष्प्रमूढ निक्षेपाधिकरण है । स्थानकी सफाई करनेके पश्चात् वहाँ जीव है या नहीं यह देखे बिना उपकरणादि रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है । दुष्प्रयुक्त शरीर-शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति हिंसाका कारण होती है इसे निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं । छिद्रवाले

निमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं । अस्मिन्साक्षीराविभाजने प्रविष्टा त्रियन्ते ॥८०८॥

**संजोयणमुक्करणार्थं च तद्वा पाणभोयणार्थं च ।**

**दुदृणिसिद्धा मणवचिकाया भेदा णिसग्सस ॥८०९॥**

‘संजोयणमुक्करणार्थं’ उपकरणानां पिच्छादीनां अन्योन्येन संयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमण्ड-  
स्वादेर्वा आतपादितत्पेन पिच्छेन प्रमाजंन इत्यादिक । ‘तद्वा’ तथा । ‘पाणभोयणार्थं च’ पानभोजनयोश्च पान  
पानेन, पान भोजनेन, भोजन भोजनेन, भोजनं पानेनेत्येवमादिक संयोजन यस्य सम्मूर्च्छनं सम्भवति सा हिंसा-  
धिकरणत्वेनात्रोपात्ता न सर्वा । ‘दुदृणिसिद्धा मणवचिकाया’ दुष्टप्रवृत्ता मनोवाक्कायप्रभेदा निसर्गशब्दे-  
नोच्यन्ते ॥८०९॥

अहिंसारक्षणोपायमाचष्टे—

**जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि ।**

**तम्हि सुहे णिससंगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा ॥८१०॥**

‘जं जीवणिकायवहेण’ यस्मान्जीवनिकायघातं विना । ‘इंदियसुहं’ इन्द्रियमुखं नास्ति । स्त्रोवस्त्रगन्ध-  
माल्यादिवेषा विचित्रा जीवणिकायपीडाकारिणी आरम्भेण महतोपार्जनीयत्वात् । तस्मिन्निन्द्रियमुखे । णिससंगो  
यस्य पाल्यहिंसा नेन्द्रियसुखार्थी । तस्मान्निन्द्रियसुखादर मा कृथा इत्युपदिशति सूत्रि ॥८१०॥

उपकरणं जो जीवोको वाधा पहुँचाते है उनकी निर्वर्तना—रचना करना भी निर्वर्तनाधिकरण  
है । जैसे काजी आदि रखनेके ऐसे सछिद्रपात्र बनाना जिसमें प्रविष्ट जीव मर जाते हैं ।

**विशेषार्थं—**सर्वाथसिद्धिमें पूज्यपाद स्वामीने निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद कहे है एक मूल-  
गुणनिर्वर्तना, एक उत्तरगुण निर्वर्तना । शरीर वचन मन, उच्छ्वास निश्वासकी रचना मूलगुण  
निर्वर्तना है । लकड़ीके पट्टपर चित्रकर्म आदि रचना करना उत्तर गुणनिर्वर्तना है । इन क्रियाओंसे  
जीवोको कष्ट पहुँचता है । चित्रकर्ममें छेदन-भेदनकी भावना उत्पन्न होती है ॥८०८॥

संयोजनाधिकरण और निसर्गाधिकरणका स्वरूप कहते हैं—

**गा०—टी०—**पिच्छी आदि उपकरणोंको परस्परमें मिलाना । जैसे शीतस्पर्शवाली पुस्तक  
अथवा कमडल आदिको धूपसे तप्त पीछीमें साफ करना उपकरण संयोजना है । एक जलमें  
दूसरा जल मिलाना, एक भोजनमें दूसरा भोजन मिलाना अथवा भोजनमें पेय मिलाना आदि  
भक्षण संयोजना है । यहाँ इतना विशेष जानना कि जिस पेय या भोजनमें सम्मूर्च्छन जीव होते  
है उसे ही हिंसाका अधिकरण स्वीकार किया है, सबको नहीं । दुष्टतापूर्वक मन वचन कायकी  
प्रवृत्तिको निसर्गाधिकरण कहते हैं ॥८०९॥

अहिंसाकी रक्षाके उपाय कहते हैं—

**गा०—टी०—**यत छहकायके जीवोकी हिंसाके विना इन्द्रियजन्य सुख नहीं होता । विचित्र  
प्रकारके स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदिका सेवन जीवोंको पीडा करनेवाला होता है क्योंकि बहुत  
आरम्भसे उसकी प्राप्ति होती है । अत जो इन्द्रियजन्य सुखमें आसक्त नहीं है वही अहिंसा की  
रक्षा करता है । जो इन्द्रिय सुखका अमिलाषी है वह नहीं रक्षा करता । अतः आचार्य कहते हैं  
कि इन्द्रियसुखका आदर मत करो ॥८१०॥



हिंसा कषायै प्रवर्तयते, ततोऽहिंसामिच्छता एते परिहर्तव्या इत्युत्तरसूत्रार्थम्—

जीवो कषायबहुलो संतो जीवाण धायणं कुणइ ।

सो जीववहं परिहरइ सया जो णिज्जियकसाओ ॥८११॥

प्रमादो हिंसाया प्रवर्तक स परित्याज्योऽहिंसाव्रताधिना इति गाथार्थम्.—

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणममणसयणेसु ।

सन्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होइ हु अहिंसो ॥८१२॥

काएसु णिरारंमे फासुसभोजिम्मि णाणरइयम्मि ।

मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु ॥८१३॥

परित्यक्तारम्भे य प्रामुकभोजिनि ज्ञानभावनावहितमनसि गुप्तिप्रयोपेते सम्पूर्णा भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थ ॥८१३॥

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो ।

आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ ॥८१४॥

पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरम्भ । तस्मिन्सति तदाश्रयप्राण्युपद्रव इति जीववधो भवति । उद्गमादिदोषोपहतस्य आहारस्य भोजने जीवनिकायवधानुमोदो भवति । ज्ञानरतिमन्तरेण आरम्भे कषाये च मन प्रवर्तते ॥८१४॥

तम्हा इहपरलोए दुक्खाणि सदा अणिच्छमाणेण ।

उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुण्णिणो ॥८१५॥

हिंसा कषायसे होती है । अत अहिंसाके अभिलाषीको कषाय त्यागना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—जो जीव कषायकी अधिकता रखता है वह जीवोका घात करता है । और जो कषायोको जोत लेता है वह सदा जीवोकी हिंसासे दूर रहता है । अत प्रमाद हिंसाका कारण है । अहिंसाव्रतके अभिलाषीको प्रमादको त्यागना चाहिए ॥८११॥

गा०—उपकरणोको ग्रहण करनेमें, रखनेमें, उठने बैठने, चलने और शयनमें जो दयालु सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह अहिंसक होता है ॥८१२॥

गा० जो आरम्भका त्यागी है, प्रामुक भोजन करता है, ज्ञानभावनामें मनको लगाता है और तीन गुप्तियोका धारी है वही सम्पूर्ण अहिंसाका पालक है यह उक्त गाथासूत्रका अर्थ है ॥८१३॥

गा०—टी०—पृथिवी आदिके विषयमें जो खोदना आदि व्यापार किया जाता है उसे आरम्भ कहते हैं । उसके करने पर पृथिवी आदिमें रहने वाले जीवोका घात होता है । उद्गम आदि दोषोसे युक्त आहार ग्रहण करने पर जीव समूहके वधकी अनुमोदना होती है, ज्ञानमें लीनता न होने पर आरम्भ और कषायमें मनकी प्रवृत्ति होती है ॥८१४॥

स्नूहा तस्मात् । आरम्भो भवता त्याज्य', प्रासुकभोजनं भोज्य, ज्ञाने अरतिश्च अपाकार्या इति क्षपक-  
शिक्षा । अहिंसा जीवदया तस्याः फलमुपदर्शयति—तम्हा इत्यनया उभयलोकगतदुःखपरिहारमिच्छता दया-  
भावना कार्या इति कथयति क्षपकस्य ॥८१५॥

स्वल्पकालवर्त्यपि अहिंसाव्रत करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यान कथयति—

पाणो वि पाडिहेरं पत्तो छूढो वि सुंसुमारहदे ।

एगणे एकदिवसकदेण हिंसावदगुणेण ॥८१६॥

'पाणो वि' चण्डालोऽपि 'पाडिहेरं' प्रातिहार्यं 'पत्तो' प्राप्तः । 'सुंसुमारहदे छूढो' शिशुमाराकुले नृदे  
निक्षिप्तोऽपि । 'एगणे हिंसावदगुणेण' एकेनैव अहिंसाव्रताख्येन गुणेन । 'अल्पकालकदेण' अल्पकालकृतेन ।  
अहिंसा ॥८१६॥

द्वितीयव्रतनिरूपणाय उत्तरप्रबन्ध —

परिहर असंतवयणं सच्चं पि चदुच्चिधं पयणेण ।

घत्तं पि संजमित्तो भासादोसेण लिप्पदि हु ॥८१७॥

'परिहर' परित्यज । 'असंतवयणं' असद् अशोभन वचन । यत्कर्मबन्धनिमित्त वचस्तदशोभन । तथा  
चोक्तं—'असन्धियानमनृतं [त० सू० ७] । ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । इव्यान्तर हि तत्पुद्गलाख्य,  
आत्मपरिणामो हि परित्याज्यो यो बन्धस्य बन्धस्थितेर्वा निमित्तभूतो मिथ्यात्वमयम कषायो योग इत्येव-  
प्रकारः । तस्मादसद्बचनपरिहारोपदेशोऽनुपयोगी कस्मात्कृत इति अत्रोच्यते— असयमो हि त्रिप्रकार कृत

गा०—अत इस लोक और परलोकमें दुःखको नहीं चाहने वाले मुनिजनको सदा जीव  
दयामें उपयोग लगाना चाहिए और उसके लिए आरम्भ त्यागना चाहिए, प्रासुक भोजन करना  
चाहिए और ज्ञानमें मन लगाना चाहिए । आचार्य क्षपकको यह उपदेश करते हैं ॥८१५॥

थोड़े समयके लिए पाला गया भी अहिंसा व्रत आत्माका महान् उपकार करता है यह  
दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—यमपाल चण्डाल भी एक चतुर्दशीके दिन किसोको फाँसी न देनेके एक अहिंसाव्रतके  
गुणसे मगरमच्छोसे भरे तालाबमें फेंक दिए जाने पर प्रातिहार्यको प्राप्त हुआ—देवोंने उसकी  
पूजा की ॥८१६॥

अहिंसाव्रतका कथन समाप्त हुआ ।

दूसरे सत्यव्रतका कथन आगे करते हैं—

गा०—टी०—असन् अर्थात् अशोभन वचन मत बोलो । जो वचन कर्मबन्धमें निमित्त होता  
है उसे अशोभन कहते हैं । कहा है—असत् वचन बोलना असत्य है ।

शंका—वचन आत्माका परिणाम नहीं है, पुद्गल नामक बन्ध द्रव्य है । कर्मबन्ध या कर्म  
स्थितिके बन्धमें निमित्त मिथ्यात्व, असयम, कषाय योग, इस प्रकारका आत्मपरिणाम त्यागने  
योग्य है । अतः असत् वचनके त्यागका उपदेश उपयोगी नहीं है उसे क्यों कहा ?

कारितोऽनुमनश्च । इममस्मिन्नसयमे प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्तं वानुजानामि । इत्यभिसन्धिमन्तरेण<sup>१</sup> तस्य वचनस्याप्रवृत्तैस्तद्वचनकारणभूतोऽभिसन्धिवात्परिणामो भवति कर्मनिमित्तमित् परिहृयार्थस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न ह्यसति कारणे कार्यप्रतिपत्तिरित्यसद्वचनपरिहारोऽनेन क्रमेणोपपन्नस्त इति । स्वयमसद्वचनैकदेशपरिहारेऽप्यपहृतमसद्वचनं भवति इत्याशङ्का परिहृरति सर्वमिति चतुर्विधमिति तदीय-भेदोपन्याय । 'पयसेवेति' तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति । 'धत्ते धि संजन्तौ' नितरामपि सयममाचरन्मपि । 'भाषाबोधेण' भाषावचनं तन्निमित्तत्वाद्वाग्योगात्परिणामो भाषाबाधेनोच्यते । भाषादुष्टः भाषादोषः । वाग्योगेन दुष्टेन निमित्तेन जातं यत्कर्म तेन । 'लिप्सधि' लिप्यत एव संबध्यत एव आत्मा । एतेन कर्मबन्ध-निमित्ततादोषकथनेन असद्वचनपरिहारे वाडर्थं करोति क्षपकस्य ॥८१७॥

प्रतिज्ञातं चतुर्विध्यं व्याचष्टे—

पठमं असंतवयणं सभूदत्थस्स होदि पडिसेहो ।

णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥८१८॥

'पठमं असंतवयणं' चतुर्थं आद्यमसद्वचनं 'सभूदत्थस्स होदि पडिसेहो' सतोऽर्थस्य प्रतिषेधः । सतो<sup>२</sup> सतो न वचनं असद्वचनमित्येकोऽर्थः । तन्म्योदाहरणमाह—'णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति' एवमादिकं नास्त्यकाले मनुष्यस्य मूर्तिरिति एवमादिकं वचनं । आयुषः स्थितिकालं कालं इत्युच्यते । तस्मात्कालादन्यं कालोऽकालः । तस्मिन्नकाले । ननु च भोगभूमितराणामनपवर्त्यमायुरतः अकाले मरणं नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते णत्थि णरस्स

**समाधानं**—असंयमके कृतं कारितं औऽनुमतके भेदसे तीन प्रकारं हैं । इस पुरुषको इस असंयममे प्रवृत्तं करता हूँ अथवा असंयममे प्रवृत्तं पुरुषकी इस वचनके द्वारा अनुमोदना करता हूँ । इस अभिप्रायके बिना उस प्रकारका वचन नहीं बोला जाता । अतः उस प्रकारके वचनमे कारण-भूत आत्मपरिणाम कर्मबन्धमे निमित्त होता है अतः त्यागने योग्य है । उस परिणामके त्यागने पर उसका कार्य वचन भी त्यागा जाता है, क्योंकि कारणके अभावमे कार्य नहीं होता । इसलिए असत् वचनका त्याग कहा है । यदि कोई असत् वचनके एक देगका त्याग करे तब भी असत् वचनका त्याग हो जाता है क्या ? ऐसी आशकाका परिहार करते हैं कि चारों ही प्रकारके असत्य वचनका त्याग प्रमाद छोडकर करना चाहिए । क्योंकि अतिशय युक्त सयमका आचरण करता हुआ भी भाषादोषमे कर्मसे लिप्त होता है । यहाँ निमित्त होनेमे भाषा शब्दसे वचन योग रूप आत्मपरिणाम कहा है । दुष्ट भाषाको भाषा दोष कहते है । अतः दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे जो कर्म बन्ध होता है उससे आत्मा लिप्त होता है । इससे असत्य वचनको कर्मबन्धमे निमित्त होनेका दोष बतलाकर उसके त्यागमे क्षपकको दृढ करते हैं ॥८१७॥

असत्य वचनके चार भेद कहते हैं—

गा०-टी०—चार भेदोंमे सद्वचन अर्थका निषेध करना प्रथम असत्य वचन है । जैसे मनुष्यकी अकालमे मृत्यु नहीं होती इत्यादि वचन । आयुके स्थिति कालको काल कहते है । उस कालसे अन्य कालको अकाल कहते है । उसमे मरण नहीं होता । ऐसा कहना सद्भूतका निषेध रूप असत्य वचन है ।

शङ्का—भोगभूमिके मनुष्योंकी आयु अनपवर्त्य होती है अतः मनुष्योका अकालमे मरण

१. ण वास्य-आ० मु० । २. सता सदेतत् वचन सद्वचनमि-आ० । सता सतो नमस-अ० ।

अकाले मच्चुत्ति । नरशब्दस्य सामान्यवाचित्वात्सर्वनरविषय अकालमरणाभावोऽयुक्त केषुचित्कर्मभूविषेषु  
 तस्य सतो निषेधादित्यभिप्राय ॥८१८॥

अहवा सयबुद्धीए पडिसेधे खेचकालभावेहि ।

अविचारिय णत्थि इह घडोत्ति तह एवमादीयं ॥८१९॥

'अथवा विचारबुद्धीए पडिसेधे खेचकालभावेहि अविचारिय भावमिति शेषः' । स्वबुद्ध्या क्षेत्रकाल-  
 नावरभावमविचार्यमाण अत्र नास्ति इदानी न विद्यते, 'शुक्ल कृष्णो न वेत्यनिरूप्य घटस्य भाव इत्थं अनेन-  
 प्रकारेण 'अत्थि घडो अह एवमादि' नास्ति घट इत्येवमादिक । सतो घटस्य अविशेषेण असतवचन असद्वचन-  
 मित्युदाहरणान्तरमिद ॥८१९॥

जं असभूदुभावणमेदं विदियं असंतवयणं तु ।

अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥८२०॥

'जं असभूदुभावणमेदं विदियं असंतवयणं तु' यदसदुद्भावनं द्वितीय असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तर ।  
 'अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीय' सुराणामकाले मृत्युरस्तीत्येवमादिक यथा असदेव अकालमरणमे-  
 नोच्यते इत्यसद्वचनम् ॥८२०॥

नही होता अत उक्त कथन उचित ही है ।

समाधान—गाथामे आगत नर' शब्द सामान्यवाची होनेसे सभी मनुष्योंके अकालमरण-  
 का अभाव कहना अयुक्त है । किन्ही कर्मभूमिज मनुष्योंमे अकाल मरण होता है अत सत्का निषेध  
 करनेसे उक्त कथनको असत्य कहा है ॥८१८॥

गा०—अथवा क्षेत्रकालभावसे अभावका विचार न करके—घट यहाँ नहीं है, इस समय  
 नहीं है, या सफेद अथवा कृष्णरूप नहीं है, ऐसा न विचारकर अपनी बुद्धिसे घटका सर्वथा अभाव  
 कहना असत्य वचन है ॥८१९॥

विशेषार्थ—किसी वस्तुका निषेध या विधि द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे होती  
 है । न तो वस्तुका सर्वथा निषेध होता है और न सर्वथा विधि होती है । प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य  
 क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परद्रव्य क्षेत्रकालभावकी अपेक्षा अस्तिरूप है  
 जैसे घट अपने द्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है और अन्य घटोकी अपेक्षा नास्तिरूप है । तथा जिस  
 क्षेत्रमे वह घट है उस क्षेत्रमे अस्तिरूप है, अन्य घटोके क्षेत्रमे नास्तिरूप है । जिस कालमे है उस  
 कालमे अस्तिरूप है, अन्यकालोमे नास्तिरूप है । जिस भावमें स्थित है उस भावसे अस्तिरूप है  
 अन्यभावकी अपेक्षा नास्तिरूप है । ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भावका विचार किये बिना यह कह देना  
 कि घट नहीं है यह असत्यवचनका दूसरा उदाहरण है ॥८१९॥

गा०—जो नहीं है उसे 'है' कहना दूसरा असत्यवचन है । जैसे देवोके अकालमे मरण  
 होता है ऐसा कहना । किन्तु देवोमे अकालमरण नहीं होता । अतः यह असत्का उद्भावन  
 करनेसे असत्यवचन है ॥८२०॥

अहवा जं उन्मावेदि असंतं खेचकालभावेहिं ।

अविचारिय अत्थि इह षडोत्ति जह एवमादीयं ॥८२१॥

अथवा 'जं उन्मावेदि' यद्बचन उद्भावयति । असन्तं षट् । कथमसन्तं ? खेचकालभावेहिं क्षेत्रान्तर-सम्बन्धित्वेन (अ) सन्त इह्येय षट् कालान्तरसम्बन्धेन अतीते अनागतं वा असन्तं भावान्तरसम्बन्धित्वेन कृष्ण-त्वादिनाऽसन्त । 'अविचारिय' अविचार्य इत्थं सत् इत्थमसत् इति अस्ति षट् इत्येवमादिक सर्वथास्तित्वमस-द्भावयतीति असद्वचन ॥८२१॥

तदियं असंतवयणं सतं जं कुणदि अणजादीगं ।

अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं ॥८२२॥

'तदीयं असंतवयणं' तृतीयमसद्वचनं । 'सतं जं कुणदि अणजादीगं' सद्यत्करोति अन्यजातीय । 'अवि-चारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीया' । अश्वमित्येवमादिक । सतो बलीवद्वात् अश्वत्वं असत्स्य वचन ॥८२२॥

चतुर्थमसद्वचनमावष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जमंजुदं वयणं ।

जं वा अप्पिवयणं असत्तवयणं चउत्थं च ॥८२३॥

'जं वा गरहिवयणं' यद्वा गहित वचन । 'जं वा सावज्जमंजुदं वयणं' यद्वा सावद्यस्युत वचनं । 'जं वा अप्पिवयणं' यद्वा अप्रियवचन । 'तत् चउत्थं' चतुर्थं असत्तवयणं असद्वचन ॥८२३॥

तेषु वचनेषु गहितवचनं व्याचष्टे—

गा०—अथवा जो वचन क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् षटका विचार न करके 'षट है' ऐसा कहता है वह असत्यवचन है ॥८२१॥

विशेषार्थ—यह पहले कहा है कि कोई वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है । जो स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सत् है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् है । जैसे जो षट इस क्षेत्रकी अपेक्षा सत् है वही अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा असत् है । जो इस कालकी अपेक्षा सत् है वही अतीत और अनागतकालकी अपेक्षा असत् है, जो स्वभावकी अपेक्षा सत् है वही भावान्तरकी अपेक्षा असत् है । अतः षट इस रूपसे सत् है और इस रूपसे असत् है ऐसा विचार न करके 'षट है' इस तरह षटको सर्वथा सत् कहना असत्का उद्भावन होनेसे अशक्य वचन है ॥८२१॥

गा०—एक जातिकी वस्तुको अन्य जातिकी कहना तीसरा असत्य वचन है । जैसे विना विचारे बेलको घोडा कहना ॥८२२॥

चतुर्थ असत्य वचनको कहते हैं—

गा०—जो गहित वचन है, सावद्ययुक्त वचन है, अप्रिय वचन है वह चतुर्थ असत्य वचन है ॥८२३॥

उनमेसे गहित वचनको कहते हैं—

ककषस्सवयणं षिट्टुरवयणं वैसुण्णहासवयणं च ।

जं किंचि विप्पलावं गरहिववयणं समासेण ॥८२४॥

'ककषस्सवयणं' ककषवचनं नाम सवयवचनमिति केचिद्वदन्त्यन्ये असत्यवचनमिति । 'षिट्टुरवयणं' निष्टुरवचनं । 'वैसुण्णहासवयणं' च परदोषसूचनपर वचन वैशुन्यवचन हासावहं वचन । 'जं किंचि विप्पलावं' यत्किंचित्प्रलपनं च मुखरतया । 'गरहिववयणं' गहितवचन । 'समासेण' सक्षेपेण ॥८२४॥

सावद्यवचनं निरूपयति—

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च ।

अविचारिस्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं ॥८२५॥

'जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति' यस्माद्बचनाद्धेतो प्राणवधादयो दोषा जायन्ते । 'सावज्जवयणं त' सावद्य वचन पृथिवी स्न', महिषी वोहक (?) पयसा, प्रसूनानि चिनु । इत्येवमादिकानि 'अविचारिस्ता' अविचार्यं किमेव वक्तुं युक्तं न वेति । अथवा दोषोऽनेन वचसा न वेति अपरीक्ष्य चोर चोरोऽयमिति कथन ॥८२५॥

परुसं कडुयं वयणं वेर कलहं च जं भयं कुणइ ।

उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥८२६॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयचेण ।

एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण ॥८२७॥

'हासभय' हास्येन, भयेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रदोषेणैवमादिना कारणेन । 'एवं असंतवयणं' एतदसद्वचन । 'तुमे' त्वया । 'पयसेण' प्रयत्नेन । 'परिहरिदव्वं' परिहृतं च । 'विसेसेण' विशेषेण ॥८२७॥

एवमसद्विवाद परिहार्यमुपदर्श्य सत्यवचनलक्षणमुक्तासद्वचनविलक्षणतया दर्शयति—

गा०—ककषा वचन अर्थात् धमण्डयुक्त वचन, निष्टुर वचन, दूसरेके दोषोका सूचन करने-वाले वचन, हास्यवचन और जो कुछ भी बकवाद करना, ये सब सक्षेपमे गहित वचन हैं ॥८२४॥

सावद्य वचन कहते हैं—

गा०—जिस वचनसे प्राणोका घात आदि दोष उत्पन्न होते है वह सावद्यवचन है । जैसे पृथ्वी खोदो । नादका पानी भँसने पी लिया उस पानीसे भरो । फूल चुनो आदि । अथवा ऐसा कहनेमे दोष है या नहीं, यह विचार न करके चोरको चोर कहना सावद्य वचन है ॥८२५॥

गा०—कठोर वचन, कटुक वचन, जिस वचनसे वैर, कलह और भय पैदा हो, अति त्रास देनेवाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन ये सक्षेपमे अप्रियवचन है ॥८२६॥

गा०—हास्य, भय, लोभ, क्रोध और द्वेष आदि कारणोसे बोले जानेवाले असत्य वचनोंको हे क्षपक, तुम्हे प्रयत्नपूर्वक विशेष रूपसे नहीं बोलना चाहिए ॥८२७॥

इस प्रकार असत्यवचनोंको त्यागने योग्य बतलाकर उक्त असत्यवचनोसे विलक्षण सत्य-वचनोंका लक्षण कहते हैं—

१. स्न । प्रहि पीतावकं पयसा पूरय—आ० । स्न । महिषी पीतोदका पयसा प्रपूरय, मु० ।

२. ममेति—आ० मु० ।

तच्चिबरीदं सच्चं कञ्जे काले मिदं सविसए य ।

भसादिकहारहियं भणाहि तं चैव य सुणाहि ॥८२८॥

'तच्चिबरीदं' असद्वचनविपरीतं । 'सच्चं' सत्यं । 'भणाहि' भण । 'कञ्जे' कार्ये ज्ञानचारित्रादि शिक्षालक्षणे, असंयमपरिहारे परस्य वा सम्मार्गस्थापनारूपे । काले आवश्यककालीना कालादन्धः काल इत्य-  
कालशब्देनोच्यते । अथवा कालशब्देन प्रस्ताय उच्यते । 'मिदं' परिमित वचन । 'सविसए य' भवतो ज्ञानस्य  
विषये प्रवृत्तं वचन । 'भणाहि' भण । ज्ञानमेव वचनानीति यावत् । भसादिकधारहिदं भक्तचोरस्त्रीराजकथादि-  
रहित । 'तं चैव य' तथाभूतमेव सत्यमेव वचन । 'सुणाहि' शृणु । अयमयोग्य न ब्रवीति एतावता सत्यव्रतं  
पालितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचन शृण्वतो मनोज्ञुभतया च कर्मबन्धो महानिति  
भावः ॥८२८॥

सत्यवचनगुण हृदयनिर्वाण स्यापयति गाथोत्तरा स्पष्टा—

जलचंदणससिमुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिच्चणं ।

ण करंति कुणह जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥८२९॥

न सत्यमित्येतावता वचन वक्तव्यं, सत्यमेव सदेव वक्तव्यमेव नेति ब्रवीति—

अण्णस्स अप्पणो वा वि घम्मिए विद्दवंतए कञ्जे ।

जं पि अपुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जप ॥८३०॥

'अण्णस्स अप्पणो वापि' अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिके कार्ये विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि । अनति-  
पातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्ट इत्यर्थं ॥८३०॥

गा०—टी०—हे क्षपक, ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षारूप कार्यमे, असंयमका त्याग कराने या  
दूसरेको सम्मार्गमे स्थापित करनेके कार्यमे, आवश्यक आदिके कालसे भिन्नकालमे, और ज्ञानके  
विषयमे असत्यवचनसे विपरीत सत्यवचन बोले । तथा भक्तकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा और राज-  
कथामे रहित वचन बोले—इन कथाओकी चर्चा मत करो । तथा इसी प्रकारके सत्य वचनोको  
मुनो । अमुक-वक्ता अयोग्य बान नही बोलता अतः यह सत्यव्रतका पालक है ऐसी आशा मत  
करो । दूसरेके द्वारा कहे असत्यवचनको जो सुनता है उसका मन बुरा होता है और मनके बुरे  
होनेसे महान् कर्मबन्ध होता है ॥८२८॥

आगे सत्यवचनका गुण हृदयको सुख देना है, यह कहते हैं—

गा०—अर्थसे भरे हितकारी परिमित मधुर वचन इस जीवको जंसा सुख देते हैं वंसा  
सुख जल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती और चन्द्रकान्तमणि भो नही देते ॥८२९॥

आगे कहते हैं कि सत्य होनेसे बोलना चाहिए ऐसी बात नही है और सदा सत्य बोलना  
ही चाहिए ऐसी भी बात नही है—

गा०—अपना या दूसरोका धार्मिक कार्य नष्ट होता हो तो बिना पूछे भी बोलना चाहिए ।  
किन्तु यदि कार्य नष्ट न होता हो तो पूछनेपर ही बोले, बिना उनके द्वारा पूछे जानेपर मत  
बोले ॥८३०॥

सच्चं वदन्ति रिसजो रिसीहिं विद्दिदाउ सच्च विज्जाओ ।

मिच्छस्स वि सिज्जाति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥८३१॥

'सच्चं वदन्ति रिसजो' सत्यं वदन्ति यतयः । 'रिसीहिं विद्दिदाओ' यतिभिर्विहितता सर्वविद्या । 'मिच्छ-  
स्सवि' म्लेच्छस्यापि । 'सिज्जाति' सिध्यन्ति । 'विज्जाओ' विद्या । 'सच्चवादिस्स' सत्यवादिन ॥८३१॥

ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ ।

सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिकखा गिरिणादी वि ॥८३२॥

'ण डहदि अग्गी णरं' न दहत्यग्नि सत्येन नरः । 'जलं च तन्न बुड्डेइ' जलं च तन्न निमज्जति ।  
'सच्चबलियं' सत्यमेव बलं तद्यस्यास्ति तं 'न वहति' नाकर्षयति । 'तिकखा गिरिणादी' तीव्रवेगा गिरि-  
नद्यपि ॥८३२॥

सच्चेण देवदावो णवन्ति पुरिसस्स ठंति य वसम्मि ।

सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेति रक्खं च ॥८३३॥

'सच्चेण देवदावो णवन्ति' सत्येन देवता नमस्यन्ति । 'पुरिसस्स ठंति य वसम्मि' पुरुषस्य च वशो  
तिष्ठन्ति । 'गहगहिदं सच्चेण मोएइ' पिशाचग्रहणं मोचयन्ति सत्येन । 'करेति सच्चेण रक्खं च' कुर्वन्ति  
सत्येन ग्रहादिरक्षा ॥८३३॥

माया व होइ विस्सस्सणिज्जो पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ।

पुरिसो हु सच्चवाइ होदि हु सणियन्ल्लओ व पिओ ॥८३४॥

'माया व होइ विस्सस्सणिज्जो' मातेव भवति विष्वसनीयः । 'पुज्जो गुरुव्व लोगस्स' पूज्यो गुरु-  
वल्लोकस्स । क ? 'सच्चवाइ पुरिसो' सत्यवादी पुरुषः । 'पिओ होदि सणियन्ल्लओ' प्रियो भवति वन्धु-  
रिव ॥८३४॥

सच्चं अवगददोसं वुचूण जणस्स मज्झयारम्मि ।

पीदिं पावदि परमं जसं च जगविस्सुदं लहइ ॥८३५॥

शा०—ऋषिगण सत्यं बोलते है । ऋषियोने ही सब विद्याओंका विधान किया है । सत्य-  
वादी यदि म्लेच्छ भी हो तो उसे विद्याएँ सिद्ध होती हैं ॥८३१॥

शा०—सत्यवादी मनुष्यको आग नहीं जलाती । पानी उसे नहीं डुवाता । जिसके पास  
सत्यका बल है उसे तीव्र वेगवाली नदी भी नहीं बहाती ॥८३२॥

शा०—सत्यसे देवता नमस्कार करते हैं । सत्यसे देवता पुरुषके वशमे होते हैं । सत्यसे  
पिशाच पकड़ा हुआ मनुष्य भी छूट जाता है और उसकी रक्षा देव करते हैं ॥८३३॥

शा०—सत्यवादी माताके समान विश्वासयोग्य, गुरुके समान पूज्य, और वन्धुके समान  
लोकप्रिय होता है ॥८३४॥



'सत्त्व' वृत्त' सत्यवचनमुक्त्वा । कीदृग्भूतं ? 'अवचनबोध' दोषरहितं । क्व ? 'अवस्स मच्छयारम्मि' जनमध्ये । 'बौद्धि पाववि' परमा प्रीति प्राप्नोति, परा 'अस्सं सत्तवि' यशश्च लभते । 'अगधिसुत्तं' जगति विश्रुत ॥८३५॥

सत्त्वमि तवो सत्त्वमि संजमो तह वसे सया वि गुणा ।

सत्त्वं णिवंधणं हि य गुणाणुद्धधीव मच्छाणं ॥८३६॥

'सत्त्वमि संजमो' सत्याघारो तप संयमो, शेषाश्च गुणाः । 'सत्त्वं णिवंधणं गुणां' गुणाना निबन्धन सत्य । 'मच्छाणं उवंधो' मत्स्यानामुदधिरिव ॥८३६॥

मत्त्वेण जगे होदि पमाणं अणो गुणो जदि वि से णत्थि ।

अदिसज्जदो य मोसेण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥८३७॥

'सत्त्वेण जगे होदि' सत्येन जगति भवति । 'पमाणं' प्रमाणं । यद्यप्यन्यो गुणो नास्ति । अतीव सयतो-  
ऽपि सता मध्ये तृणवत्लघुर्भवति मृषावचनेनेति शाचार्य ॥८३७॥

होदु मिहंडी व जडी मुंडी वा णग्गओ व चीरधरो ।

जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सत्त्वा ॥८३८॥

'होदु मिहंडो' भवतु नाम शिखावान् । 'जडी मुंडो वा' नन्मस्वीवरधरो वा यद्यलीक वदति तस्य सा सर्वा विलम्बना ॥८३८॥

जह परमणस्स विसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा ।

तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसत्त्वं ॥८३९॥

'जह परमणस्स' यथा परमाप्तस्य विनाशक विष । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादि-  
गुणाना विनाशक असत्य ॥८३९॥

गा०—जनसमुदायके बीच में दोषरहित सत्यवचन बोलनेसे मनुष्य जनताका प्रेम तथा जगन्में प्रसिद्ध उत्कृष्ट यश पाता है ॥८३५॥

गा०—तप, सयम तथा अन्यगुण सत्यके आधार हैं । जैसे समुद्र मगरमच्छोका कारण है उसमें मगरमच्छ पैदा होते और रहते हैं वैसे ही सत्य गुणोका कारण है ॥८३६॥

गा०—यदि मनुष्यमे अन्य गुण न हों तब भी वह एक सत्यके कारण जगमें प्रमाण माना जाता है । अति सयमो भी मनुष्य यदि असत्य बोलता है तो सज्जनोंके मध्यमे तृणसे तुच्छ होता है ॥८३७॥

गा०—भले ही मनुष्य शिखाघारी हो, जटाघारी हो, सिर मुड़ाए हो, नगा रहता हो या चौवर धारण किये हो, यदि वह झूठ बोलता है तो यह सब उसकी विडम्बनामात्र है ॥८३८॥

गा०—जैसे विष उत्तमोत्तम भोजनका विनाशक है, बुढ़ापा यौवनका विनाशक है वैसे ही असत्य वचन अहिंसा आदि गुणोंका विनाशक है ॥८३९॥

मादाए वि बेसो पुरिसो अलिण होइ एककेण ।

किं पुण अबसेसाणं ण होइ अलिण सत्तुव्व ॥८४०॥

‘मादाए वि व’ मानुरूप्यविश्वस्वो भवत्यलीकेन एकेन पुरुष । शेषाणा पुनर्न किं भवेदलीकेन क्षत्र-  
रिव ॥८४०॥

अलियं स किं पि भणियं घादं कुणदि बहुगाण सच्चार्णं ।

अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो ॥८४१॥

‘अलियं स किं पि भणियं’ सकृदप्युक्त अलीकं सत्यानि बहूनि नाशयति । अलीकवादी पुरुष-स्वयमपि  
शङ्कितो भवति नितरां ॥८४१॥

अप्यच्चओ अकिञ्ची भंमारदिकलहवेरभयसोगा ।

वघवंधमेयं धणणासा वि य मोसम्मि सण्णिहिदा ॥८४२॥

‘अप्यच्चओ’ अप्रत्ययः । अकोति, संक्लेशः, अरति, कलहो, वंर, भय, शोक, वधो, बन्ध, स्वजन-  
भेद, धननाशश्चेत्यमी दोषा सन्निहिता मूषावचने ॥८४२॥

पापस्सासवदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ।

हिदएण अपावो वि हु मोसेण गदो वधु णिरयं ॥८४३॥

‘पापस्सासवदारं’ पापस्यागमद्वारमिति वदन्यसत्य जिनेन्द्रा । हृदये अपापोऽपि मूषामात्रेण वसुमंतो  
नरकं इत्यास्थानकं वाच्यं ॥८४३॥

परलोगम्मि वि दोसा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ।

मोसादीए दोसे जचेण वि परिहरंतस्स ॥८४४॥

गा०—एक असत्य वचनसे मनुष्य माताका भी विश्वास-भाजन नही रहता । तब असत्य  
बोलनेसे शेषजनोंको वह शत्रुके समान क्यों नहीं प्रतीत होगा ॥८४०॥

गा०—एक बार भी बोला गया झूठ बहुत बार बोले गये सत्यवचनोंका घात कर देता  
है । लोग उसके सत्यकथनको भी झूठ मानने लगते हैं । झूठ बोलनेवाला मनुष्य स्वयं भी अति-  
भीत रहता है ॥८४१॥

गा०—असत्य भाषणमें अविश्वास, अपयश, संक्लेश, अरति, कलह, वंर, भय, शोक, वध,  
बन्ध, कुटुम्बमें फूट, धनका नाश इत्यादि दोष पाये जाते हैं ॥८४२॥

गा०—जिनेन्द्रदेव असत्यको पापारूढका द्वार कहते हैं, उससे पापका आगमन होता है ।  
राजा वसु हृदयसे पापी नहीं था फिर भी झूठ बोलनेसे नरकमें गया । इसकी कथा कथाकोशमें  
है ॥८४३॥

'परलोणमि वि दोसा' परभवेऽपि दोषास्त एव अप्रत्ययवाच्य एव भवन्त्यलोकवाचिनः । यत्नेनापि परिहरत । किं ? 'मोसाग्निं बोसे' मृषाविकान्दोषान् । मृषा आविर्घोषां स्तेयात्प्रहृष्टपरिग्रहाणां ते मृषादयः । अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरत्र शास्त्रः । स्तेयादिदोषात्परिहरतोऽपीत्यर्थः ॥८४४॥

भवतु नाम अप्रत्ययत्वाविका मृषावादस्य दोषा कर्कशावचनादिना परभवे इह वाच के दोषा इत्यथा-  
चष्टे—

**इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवचणस्स ।  
कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादब्बा ॥८४५॥**

'इहलोपिग परलोपिग बोसा' अस्मिञ्जन्मनि परत्र च ये दोषा भवन्ति अलीकवाचिनः । कर्कशावचना-  
दीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्याः ॥८४५॥

उपसंहारगाथा—

**एदेसि दोसाणं मूक्को होदि अलिआदिवचिदोसे ।  
परिहरमाणो साधू तन्निवरीदे य लभदि गुणे ॥८४६॥**

एतेभ्यो दोषेभ्यो मुक्तो भवति व्यलीकादिवचनदोषान्यः परिहरति साधु लभते 'नापि ? दोषप्रति-  
पक्षभूतान्प्रत्ययितत्वादिगुणान् । प्रत्ययः, कीर्तिः, असमलेश, रति, कलहाभावः, निर्भयतादिकश्च ।  
'सम्भ' ॥८४६॥

व्याख्याय मत्यन्नतं तृतीयन्नत निगदति—

**मा कुणसु तुमं बुद्धि बहुमप्पं वा परादियं घेषुं ।  
दंतंतरसोधणयं कलिदमेसं पि अविदिण्णं ॥८४७॥**

गा०—असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप दोषोका प्रयत्नपूर्वक त्याग करनेवाले भी असत्यवादीके परलोकमें भी अविश्वास आदि दोष होते हैं । अर्थात् असत्यवादी मरकर भी इन दोषोंका भागी होता है ॥८४४॥

असत्य भाषणसे अविश्वास आदि दोष भले ही होते हो, किन्तु कर्कश आदि वचन बोलनेसे इस भव या परभवमें क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमें असत्यवादी जिन दोषोका पात्र होता है, कर्कश आदि वचन बोलनेवाला भी उन्हीं दोषोंका पात्र होता है ॥८४५॥

गा०—जो साधु असत्य भाषण आदि दोषोंको दूर कर देता है वह ऊपर कहे दोषोंसे मुक्त होता है—उसमें वे दोष नहीं होते । तथा उन दोषोंसे विपरीत विश्वास, यश, असंलेश, रति कलहका अभाव, निर्भयता आदि गुणोंका भाजन होता है ॥८४६॥

सत्य महाव्रतका कथन समाप्त हुआ ।

सत्य व्रतका कथन करके तीसरे अंशका कथन करते हैं—

१. ते तद्विपरीते नेति नापि—आ० मु० ।

'मा कुण्डलु पुन बुद्धिं' मा कृपास्त्व बुद्धि । कीदृशी ? 'पराविष्यं वेतु' परकीयं वस्तु ग्रहीतु । परकीय-  
वस्तु विशेषणमाचष्ट—'बहुत्स्यं वा' महदल्प वा । अल्पद्रव्यपरिमाणमभिधायति—'वततरशोचनम फलिव-  
केसंपि' दस्तान्तरशुद्धिकारि तृणशालाकामात्रमपि । 'अविशिष्यं' अवत ॥८४७॥

जह मक्कडओ घादो वि फलं दट्टूण लोहिदं तस्स ।  
दूरत्थस्स वि डेवदि जइ वि चित्तूण छंडेदि ॥८४८॥

'जह मक्कडओ' यथा मकड़ो वानर । 'घादो वि' तृप्तोऽपि । 'दट्टूण फलं' दृष्ट्वापि फल । 'लोहिदं'  
रपतं । 'तस्स दूरत्थस्स वि डेवदि' दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योऽस्त्वन करोति । 'जइ वि चित्तूण छंडेदि' यद्यपि  
गृहीत्वा त्यजति ॥८४८॥

वाष्टान्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं ।  
सच्चजगेण वि जीवो लोभाइडो न तिप्पेदि ॥८४९॥

'एव जं पस्सदि' एव यद्यत्पश्यति द्रव्य । 'तं तं पाविदुमहिलसदि' तत्तद्द्रव्यं प्राप्नुयामि लघयति ।  
'सच्चजगेण वि' सर्वेणापि जगता । 'लोभाइडो जीवो न तिप्पेदि' जीवो लोभाविष्टो न तृप्यति ॥८४९॥

जह मारुओ पवड्डुइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ।  
जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥८५०॥

'जह मारुओ पवड्डुइ' यथा मारुत प्रवर्द्धते । 'खणेण' क्षणेन । 'वित्थरवि' विस्तीर्णो भवति ।  
'अब्भयं च जहा' यथा चात्र । 'जीवस्स' जीवस्य । 'तह' तथा । लोभो मन्दोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णता-  
मुपयाति ॥८५०॥

बाह्यद्रव्यसन्निधिमपपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभश्च वद्धंते तदवृद्धी चायं दाय इति  
व्याचष्टे—

लोभे पवड्डिददे पुण कज्जाकज्ज णरो ण चित्तेदि ।  
तो अप्पणो वि मरणं अगणितो साहमं कुणइ ॥८५१॥

गा०—हे क्षपक ! तूम पराईं बहूत या अल्प वस्तुको भो ग्रहण करनेकी भावना मत  
करो । दंतिका मल बोधनेके लिए एक तिनका भी बिना दिया मत ग्रहण करो ॥८४७॥

गा०—जैसे बन्दर पेठ भरा होनेपर भी लाल पके फलको देखकर दूरसे ही फल ग्रहण  
करनेके लिए कूदता है, यद्यपि वह उसे फिर छोड़ देता है ॥८४८॥

गा०—वैसे ही मनुष्य जो जो वस्तु देखता है उस उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करता  
है । लोभसे धिगा मनुष्य समस्त जगत्को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता ॥८४९॥

गा०—जैसे मन्द वायु बढकर क्षणभरमें फेंल जाती है या मेघ बढते-बढते आकाशमे फेंल  
जाते हैं । वैसे ही जीवका थोडा-सा भी लोभ क्षणभरमे वढ जाता है ॥८५०॥

आगे कहते हैं कि बाह्य द्रव्यका सान्निध्य पाकर लोभकर्मका उदय होता है उससे मनुष्य-

‘लोभे पबहिद्वै पुष’ लोभे प्रकथेण बुद्धिमुपगते पुन । ‘कण्ठाकण्ठ करो व चिबेवि’ कार्य अकार्यं च न मनसा निरूपयति । इदं कर्तुं युक्तं न वेति । ‘तो’ ततः युक्तायुक्तविचारणाभावात् । ‘अप्यथो भरषमपि अणपिता’ आत्मनो मृत्युमप्ययणम्य । ‘चोरियं कुणवि’ चीर्यं करोति । बन्दीग्रहणतालौढाटनसंप्रवेशादिकं च अयं मृत्योः कष्टतरमवस्थितमपि न गणयति नररचीर्यं प्रवृत्त इति भावः ॥८५१॥

न केवलमात्मन एवोपद्रवकारि चीर्यं अपि तु परेषामपि महतीमानयति विपदमिति कथयति—

सन्वो उवहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सन्वो वि ।

सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हिययंमि अदिदुहिदो ॥८५२॥

‘सन्वो उवहादबुद्धी’ सर्वो जन उपहितबुद्धिः स्थापितचित्तः । क्व ? ‘अत्थे’ वस्तुनि इदं भवत्विति । ‘अत्थे हिदे य सन्वो वि’ सर्वोऽपि जनो अर्थं हते । ‘अदिदुहिदो’ अतीव दुःखितो भवति । किमिव ? ‘सत्तिप्पहारविद्धोव हिवये’ शक्त्याख्येन शस्त्रेण हृद्ये विद्ध इव ॥८५२॥

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि ।

मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥८५३॥

‘अत्थम्मि हिदे’ अर्थं हते परेणात्मीये ‘पुरिसो’ पुरुषः । ‘उम्मत्तो विगयचेयणो होवि’ उम्मत्तो विगतचेतनो भवति । चेतनाविशेषे ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत् । अन्यथा चैतन्यमय विनाशाभावात् । ‘मरदि व’ म्रियते वा अर्थं हते । अत्थे हक्कारकिदो अर्थं हाकार कुर्वन् । ‘अत्थो जीवं खु पुरिसस्स’ पुरुषस्य जीवितमर्थं ॥८५३॥

का लोभ बढता है । लोभ बढनेपर यह दोष होता है—

गा०—टी०—लोभ बढनेपर मनुष्य ‘यह करना योग्य है और यह योग्य नहीं है’ इस प्रकार मनमे कार्य और अकार्यका विचार नहीं करता । युक्त अयुक्तका विचार न करनेसे अपनी मृत्युकी परवाह न करके चोरी करता है—ताले तोडकर घरमे प्रवेश करता है, जेल जाता है । इस प्रकार चोरीमें लगा मनुष्य मृत्युका कठोर भय उपस्थित होते हुए भी उसकी अवहेलना करता है ॥८५१॥

आगे कहते हैं कि चोरी केवल चोरी करनेवालेपर ही विपत्ति नहीं लाती किन्तु दूसरोपर भी महती विपदा लाती है—

गा०—राभी मनुष्य धनासक्त हैं—उनका मन धनमे लगा रहता है । अतः धन चुरानेपर सभी जन हृदयमे शक्ति नामक अस्त्रसे आघात होनेकी तरह अत्यन्त दुःखी होते है ॥८५२॥

गा०—टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन हरे जानेपर मनुष्य पागल हो जाता है, उसकी चेतना नष्ट हो जाती है । यहाँ चेतना शब्द चेतनाके भेद ज्ञानपर्यायमे प्रयुक्त हुआ है अतः उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि चेतनाका तो विनाश होता नहीं । तथा हाहाकार करके मर जाता है । ठीक ही कहा है—धन मनुष्यका प्राण है ॥८५३॥

अहङ्गिरिदरिसागरजुद्धाणि अहंति अत्थलोभादो ।

पियबंधु चेवि जीवं पि नरा पयहंति घणहेदुं ॥८५४॥

‘अहङ्गिरिदरिसागर’ अटवी, दरी, गिरि, सागरं, युद्ध प्रविशन्ति अर्थलोभात् । प्रियान्बन्धून् जीवन्ति च नरा अहंति घननिमित्तं । सर्वेभ्यो घनं प्रियतम यतस्तदधि न सर्वं त्यजन्ति इति भावार्थो गाथायाः ॥८५४॥

अत्थे संतम्मि सुहं जीवदि सकलत्तपुत्तसंबंधी ।

अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं ॥८५५॥

‘अत्थे संतम्मि सुहं’ अर्थे सति सुखं ‘जीवदि सकलत्तपुत्तसम्बन्धी’ जीवति सह कलत्रंभार्याभिः, पुत्र-बंधुभिरथ । अर्थं हृता तेषां कलत्रादीना जीवितमेव हृतं भवति ॥८५५॥

चोरस्स पत्थि हियए दया य लज्जा दमो व विस्सासो ।

चोरस्स अत्थहेदुं पत्थि अकादब्बयं किं पि ॥८५६॥

‘चोरस्स पत्थि हियए’ चोरस्य नास्ति हृदये । दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा । चोरस्य नास्ति अकर्तव्यं किञ्चित् । अर्थाधि न इति भावार्थः ॥८५६॥

लोगम्मि अत्थि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराघं ।

णीयन्लया वि पक्खे ण होंति चोरिक्कसीलस्स ॥८५७॥

‘लोगम्मि अत्थि पक्खो’ लोकेऽस्ति पक्षोज्यमपराघं हिंसादिकं कुर्वतो बन्धवोऽपि न पक्षता प्रतिपद्यन्ते ये चौर्यकारिणः ॥८५७॥

अण्णं अवरज्जंतस्स दिति णियये घरम्मि ओगामं ।

माया वि य ओगामं ण देह चोरिक्कसीलस्स ॥८५८॥

‘अण्णं अवरज्जंतस्स’ अन्य अपराघं कुर्वत ददति स्वावामे अवकाशं । माताप्यवकाशं न ददाति चुराया प्रवृत्तस्य ॥८५८॥

गा०—घनके लोभसे मनुष्य जंगल, पर्वत, गुफा और समुद्रमें भटकता है, युद्ध करता है । घनके लिए मनुष्य प्रियजनका और अपने जीवनका भी त्याग करता है । सारांश यह है कि मनुष्यको घन सबसे प्रिय है उसके लिए वह सबको छोड़ देता है ॥८५४॥

गा०—घनके होनेपर मनुष्य स्त्री पुत्र और बन्धु बान्धवोंके साथ सुखपूर्वक जीवन यापन करता है । घनके हरे जानेपर उन स्त्री आदिका जीवन ही हर लिया जाता है ॥८५५॥

गा०—चोरके हृदयमें दया, लज्जा, साहस और विश्वास नहीं होते । चोर घनके लिए कुछ भी कर सकता है उसके लिए न करने योग्य कुछ भी नहीं है ॥८५६॥

गा०—हिंसा आदि अन्य अपराघ करनेवालेके पक्षमें तो लोग रहते हैं किन्तु चोरी करनेवालेके पक्षमें बन्धु बान्धव भी नहीं होते ॥८५७॥

गा०—अन्य अपराघ करनेवालेको लोग अपने घरमें आश्रय देते हैं । किन्तु चोरी करनेवालेको माता भी आश्रय नहीं देती ॥८५८॥

परद्वन्द्वहरणभेदं आसवदारं खु वेति पावस्स ।

सोगरियवाहपरदारिण्हि चोरो हु पापदरो ॥८५९॥

‘परद्वन्द्वहरणभेदं’ परद्वन्द्वपाहरणभेदत् पापस्यासवदारं भुवन्ति । शौकरिकात्, व्याघात्, परदाररति-  
प्रियाञ्च चोरः पापीयान् ॥८५९॥

सयणं भित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ।

पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥८६०॥

‘सयणं भित्तं’ बन्धून्मित्राणि आश्रयभूत समीपस्य च महति दोषे बन्धववधनापहरणादिके पातयति  
चौर्यं । महत्पयशसि दुःखे च निपातयति ॥८६०॥

बंधवधजादणाओ छायाघादपरिमवभयं सोयं ।

पावदि चोरो सयमवि मरणं सव्वस्सहरणं वा ॥८६१॥

‘बंधवधजादणाओ’ बन्धु, वध, यातनाश्च, छायाघातं, परिभवं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि  
चोरो मरण सर्वस्वहरण वा ॥८६१॥

णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो ण णिद्दुबलमदि ।

तेणं तओ समंता उव्विग्गमओ य पिच्छंतो ॥८६२॥

‘णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो’ नित्यं विचाराणि शङ्कमान. न निद्रामुपलभते चौरः । समन्ता-  
त्प्रेक्षते उद्विग्नहरिण इव ॥८६२॥

उंदुरकदं पि सद्दं सुच्चा परिवेवमाणसव्वंगो ।

सहसा समुच्छिद्धमओ उव्विग्गो धावदि खल्लतो ॥८६३॥

‘उंदुरकदं पि सद्दं’ मूषकचलनकृतमपि शब्दं श्रुत्वा प्रस्फुरत्सर्वगात्रः सहस्रोत्थभयोद्विग्नो धावति स्खल-  
न्पदे पदे ॥८६३॥

गा०—यह परद्वन्द्वका हरण पापके आनेका द्वार कहा जाता है । मृग पशु पक्षियोंका घात करनेवाले और परस्त्रीगमनके प्रेमीजनोसि चोर अधिक पापी होता है ॥८५९॥

गा०—चोरीका व्यसन बन्धु, मित्र, अपने आश्रित, और निकटमे रहनेवालोको भी वध, बन्ध, धनका हरना आदि दोषोमे डाल देता है वे भो ऐसे बुरे काम करने लगते हैं । तथा वे महान् अपयश और दु खके भागी होते हैं ॥८६०॥

या०—चोर स्वयं भी बन्ध, वध, कष्ट, तिरस्कार, भय, शोक, मरण और सर्वस्व हरणका भागी होता है ॥८६१॥

गा०—चोर दिन रात पकड़े जानेकी आशंकासे सोता नहीं है और भयभीत हरिनकी तरह चारों ओर देखा करता है ॥८६२॥

गा०—चूहेके द्वारा भी किये शब्दको सुनकर उसका सर्वांग धरधर कांपने लगता है, एक-  
दम भयसे भीत हो, धबराकर दौड़ता है और पद-पदपर गिरता उठता है ॥८६३॥

घटिं पि संजमंतो घेतूण किलिचमेत्तमविदिण्णं ।

होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरो व्व ॥८६४॥

‘घटिं पि संजमंतो’ नितरामपि सयमं कुर्वन् । अदत्तं तृणमात्रमाप गृहीत्वा तृणवल्लघुर्भवति, अप्रत्य-  
यितश्चोर इव ॥८६४॥

परलोगम्मि य चोरो करेदि णिरयम्मि अप्पणो वसदिं ।

तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरं पि ॥८६५॥

‘परलोगम्मि य चोरो करेदि’ परलोके चोर करोत्यात्मनो नरके वसति । कीदृग्भूतो यत्र नरकेषु  
सुचिरं दीर्घकाल पच्यमान तीव्रवेदना अनुभवति ॥८६५॥

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिच्चदुक्खाणि ।

पाएण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरं पि ॥८६६॥

‘तिरियगदीए वि तहा’ तिर्यग्गतावपि चोर प्राप्नोति तीव्राणि दुःखानि । प्रायेण नीचयोनिष्वेव मसरति  
सुचिरमपि ॥८६६॥

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ।

ण य से घणसुवचीयदि सयं च ओलहुदि घणादो ॥८६७॥

‘माणुसभवे वि’ मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्था नश्यन्ति हृता वा बहुता वा । न चोपयाति संचय घन,  
तस्य उपचितेऽपि घने स्वयं तस्मादपयाति घनात् ॥८६७॥

परदच्चहरणबुद्धी सिरिभूदी णयरमज्झयारम्मि ।

होदूण हदो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८६८॥

‘परदच्चहरणबुद्धी’ परद्रव्यहरणबुद्धि । ‘सिरिभूदी’ श्रीभूतिर्नगरमध्ये ताडित प्रहृतश्च भूत्वा दीर्घ-  
संसारं प्राप्ति ॥८६८॥

गा०—महान् सयमका धारी साधु भी विना दिया तृणमात्र भी ग्रहण करके अविश्वसनीय  
चोरकी तरह तिनकेके समान लघु हो जाता है ॥८६४॥

गा०—चोर मरकर भी नरकमें वास करता है और वहाँ चिरकालतक तीव्र कष्ट भोगता  
है ॥८६५॥

गा०—तथा चोर तिर्यञ्चगतिमें भी तीव्र दुःख पाता है । वह प्रायः चिरकालतक नीच  
योनियोंमें ही जन्ममरण करता है ॥८६६॥

गा०—मनुष्यभवमें भी उसका घन किसीके द्वारा हरा जाकर अथवा विना हरे नष्ट हो  
जाता है । वह धनका संचय नहीं कर पाता । धनका संचय हुआ भी तो वह स्वयं उस धनसे  
वंचित हो जाता है ॥८६७॥

गा०—परद्रव्यको हरनेमें आसक्त श्रीभूतिनामक ब्राह्मण नगरके मध्यमें मारा गया और  
मरकर दीर्घससारी हुआ इसकी कथा कथाकोशमें है ॥८६८॥



अवस्तावानवोषामुपवर्ष्यं दत्तं गोम्यं गृहाणेति व्याजष्टे—

एदे सव्वे दोसा ण होंति परदव्वहरणविरदस्स ।

तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्तमोहस्स ॥८६९॥

देविंदरायगहवइदेवदसाहम्मि उग्गहं तम्हा ।

उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामण्णसाहणयं ॥८७०॥

'बेविंदराजगहवइ' देवेन्द्राणा, राजा, गृहपतीनां, राष्ट्रकूटाणां, देवतानां, सचर्मणां च परिग्रहं । 'उग्गहविहिणा' अवग्राह्यविधिना । 'विण्णं' दत्त । 'गिण्हसु' गृहाण । 'सामण्णसाहणय' श्रामण्यसाधनं ज्ञानसंयमस्य वा साधनं । अदत्तं ॥८७०॥

चतुर्थं व्रतं निरूपयति—

रक्ख्वाहि बंभचेरं अब्बंभं दसविघं तु वज्जिच्चा ।

णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविघे इत्थिवेरग्गे ॥८७१॥

'रक्ख्वाहि बंभचेरं' पालय ब्रह्मचर्यं । अब्रह्म दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमपमत्त पञ्चविघे स्त्रीवैराग्ये ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यं पालयेत्युक्तं तदेव न ज्ञायते इत्यारेकाया तद्व्याजष्टे—

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।

तं जाण बंभचरं विमुक्कपरदेहतत्तिस्स ॥८७२॥

'जीवो बंभा' ब्रह्मसन्धेन जीवो भण्यते । ज्ञानदर्शनादिरूपेण बद्धंते इति वा । यावत्लोकाकाशं बध्ते लोकपूरणाख्याया क्रियाया इति वा । 'जीवम्मि चेव' ब्रह्मण्येव चर्या । जीवस्वरूपमनन्तपर्यायात्मकमेव निरूप-

अदत्तादानके दोषं बतलाकर योग्यं दत्तवस्तुको ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

गा०—जो परद्रव्य हरनेका त्यागी होता है उसे ये सब दोष नहीं होते । तथा जो दत्तवस्तुका ही उपभोग करता है उसमें उक्त दोषोंसे विपरीत गुण सदा होते हैं ॥८६९॥

गा०—हे क्षपक ! देवेन्द्र, राजा, गृहपति, देवता और साधर्मि साधुओंके द्वारा विधिपूर्वक दी गई परिग्रहको, जो ज्ञान और सयमकी साधक हो, ग्रहण कर ॥८७०॥

अदत्तविरत व्रतका कथन समाप्त हुआ ।

चतुर्थं व्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! दस प्रकारके अब्रह्मको त्याग कर ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर । और पांच प्रकार के स्त्री वैराग्यमे सदा सावधान रह ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेको तो कहा । किन्तु ब्रह्मचर्य क्या है यही नहीं जानते । इसके लिए कहते हैं—

गा०—टी०—ब्रह्म शब्दसे जीव कहा जाता है । अथवा 'बृह' धातुसे ब्रह्म शब्द बना है उसका अर्थ होता है बढ़ना । ज्ञान दर्शन आदि रूपसे बढ़नेको ब्रह्म कहते हैं । अथवा जब सयोग केवली जिन लोकपूरण समुद्धान करते हैं तो उनके ब्राह्म प्रदेश लोकाकाश प्रमाण बढ़कर फैल

यतो वृत्तिर्या 'सं' तां 'आष' जानीहि । 'ब्रह्मचारिण्यं' ब्रह्मचर्यं । 'विमुक्तपरवेहृतसिस्त' विमुक्तपरदेहव्यापा-  
रस्य ॥८७२॥

मनसा वचमा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशय त्यक्तव्रत दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं  
भवतीति वक्तुकामो ब्रह्मभेदमाचष्टे—

**इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्षो य पणिदरससेवा ।**

**संसत्तदव्वसेवा तदिदियालीयणं चैव ॥८७३॥**

'इत्थिविसयाभिलासो' स्त्रीसम्बन्धिनो ये इन्द्रियाणां विषयारतासा रूप, तदीयोऽधररस, तासा वक्त्र-  
प्रभवो गन्धः तासा कल गीत, हासो, मधुर वच, मृदुस्पर्शश्च तत्र अभिलाष । आत्मस्वरूपपरिज्ञानपरिणति-  
लक्षणं ब्रह्मचर्यं 'वहतीति आत्मा ब्रह्म ततोऽन्यो वामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्याय सोऽत्र भण्यतेऽब्रह्मशब्देन  
तत्र चर्या नामाभिलाषपरिणति । 'वत्थिविमोक्षो' मेहनविकारनिवारणं । 'पणिदरससेवा' वृद्ध्याहारसेवना ।  
'संसत्तदव्वसेवा' स्त्रीभिः मसक्ताना सम्बन्धाना शय्यादीना सेवा तदङ्गस्पर्शवदेव कामिना तनुप्राप्तद्रव्यस्पर्शोऽपि  
प्रीति जनयति । 'तदिदियालीयणं चैव' तामा वगङ्गावलोकन च ॥८७३॥

**सत्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासो ।**

**इद्विमयसेवा वि य अन्वभ दसविहं एदं ॥८७४॥**

'सत्कारो' सत्कार सम्मानना । स च तनुरागप्रवर्तित । 'संकारो' सम्कार तासा वस्त्रमाल्यादिभिः ।

जाते हैं । इस प्रकारसे जो बढता है वह ब्रह्म जीव है उस ब्रह्ममें ही चर्या ब्रह्मचर्य है । पराये  
शरीर सम्बन्धी व्यापारसे अर्थात् स्त्री रमणादिसे विरत मुनि अनन्त पर्यायात्मक जीव स्वरूप  
का ही अवलोकन करते हुए जो उसीमें रमण करता है वह ब्रह्मचर्य है ॥८७२॥

मन वचन कायसे पर शरीर सम्बन्धी व्यापार विशेषको जिमने त्याग दिया है उसके दस  
प्रकारके अब्रह्मका त्याग करनेसे दस प्रकारका ब्रह्मचर्य होता है यह कहनेकी इच्छासे आचार्य  
अब्रह्मके भेद कहते हैं—

गा०-टी०—स्त्री सम्बन्धी जो इन्द्रियोंके विषय है—उनका रूप, उनके अधरका रस, उनके  
मुखकी सुगन्ध, उनका मनोहर गायन, हास, मधुर वचन और कोमल स्पर्श, उनकी अभिलाषा  
करना अब्रह्मका प्रथम भेद है । आत्माके स्वरूपको जानकर उसीमे लीन होना ब्रह्मचर्य है । उसको  
वहन करनेसे आत्मा ब्रह्म है । उसमे अन्य स्त्रीके शरीर सम्बन्धी जो रूप रसादि हैं उन्हे यहाँ  
अब्रह्म शब्दसे कहा है । उसमे चर्या अर्थात् अभिलाषा रूप परिणति अब्रह्मचर्य है । लिंगमे हुए  
विकारको दूर न करना दूसरा अब्रह्मका भेद है । इन्द्रियमद कारक आहार करना तीसरा भेद  
है । स्त्रियोसे सम्बद्ध शय्या आदिका सेवन चतुर्थ भेद है । स्त्रियोंके शरीरके स्पर्शकी ही तरह  
उनके शरीरसे सम्बद्ध वस्तुओका स्पर्श भी कामी जनोको रागकारक होता है । स्त्रियोंके उत्तम  
अंगोंका अवलोकन पाँचवाँ भेद है ॥८७३॥

गा०—स्त्रियोंका सम्मान करना छठा भेद है । वस्त्र माला आदिसे उन्हें आभूषित करना

१. विहरति-अ० । २. कारनिवा-अ० आ० ।

'अबीबनुसरणं' अतीतकालवृत्तिरतिक्रीडास्मरणम् । 'अभावबन्धिसाक्षो' भविष्यति काले एवं तामि क्रीडा करि-  
ष्यामि इति रत्यमिलाय । 'इष्टविषयसेवा वि य' इष्टविषयसेवापि च । 'अब्धं दसत्रिं एवं' दशप्रकारम-  
ब्रह्मेतत् । अक्षीयरारागस्य परद्रव्योपयोगाद्रागद्वेषौ भवतः । तेन संबुध्योपयोगं, परद्रव्यात्मन्वने श्रद्धानामिति  
वीतरागतादियु चरणं ब्रह्मचर्यं ततोऽप्यदिदं दशविषयब्रह्मेति निरूपितं ॥८७४॥

एवं विसग्निभूदं अब्धं दसविहंषि षादब्धं ।

आवादे मधुरमिव होदि चिवागे य कहुयदरं ॥८७५॥

'एवं विसग्निभूदं' विषामिना सदृश एतदब्रह्म दशप्रकारमिति ज्ञातव्यं । आपाते मधुरमिव भवति  
विषाके तु कटुकतमं ॥८७५॥

स्त्रीविषयो रागोज्ज्वल म च तत्प्रतिपक्षभूतवैराग्येन नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथना-  
याचष्टे—

कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचितवुद्धसेवा य ।

संसग्गादोसा वि य करति इत्थिसु वैरगं ॥८७६॥

'कामकदा इत्थिकदा' कामकृता स्त्रीकृतापच दोषा । असुचित्वं, बुद्धसेवा, संसर्गदोषाच्च कुर्वन्ति  
स्त्रीषु वैराग्य ॥८७६॥

कामकृतदोषनिरूपणा प्रबन्धेन उत्तरेण क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होति ।

सव्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥८७७॥

'जावविया किर दोसा' इत्यादिना यावन्त किल जन्मदये, 'दुहावहा' दुःखावहा भवन्ति दोषा हिंसाद-  
यस्तान्सर्वानपि आवहति मैथुनसज्ञा मनुष्यस्य ॥८७७॥

सातर्वा भेद है । अतीत कालमें की गई रति क्रीडाका स्मरण करना आठवाँ भेद है । भविष्य काल-  
में उनके साथ इस प्रकार क्रीडा करूँगा इस प्रकार अनागत रतिमें अभिलाषा नौवाँ भेद है ।  
इष्ट विषयोंका सेवन दसवाँ भेद है । इस प्रकार अब्रह्मके ये दस भेद है ॥८७४॥

गा०—इस प्रकार विष और आगके समान अब्रह्मके दस भेद जानना । यह प्रारम्भमें मधुर  
प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें अत्यन्त कटु होता है ॥८७५॥

स्त्री विषयक राग अब्रह्म है । वह अपने विरोधी वैराग्यसे ही नष्ट किया जा सकता है ।  
ऐसा मानकर वैराग्यके उपायोंका कथन करते हैं—

गा०—काम विकारसे उत्पन्न हुए दोष, स्त्रियोंके द्वारा किये गये दोष, शरीरकी अशुचिता,  
बुद्ध जनोंकी सेवा, स्त्रीके ससर्गसे उत्पन्न हुए दोष, इनके चिन्तनसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता  
है ॥८७६॥

आगे कामजन्य दोष कहते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमें दुःखदायी जितने भी दोष है मनुष्यकी मैथुन सज्ञामें वे

सोयदि विलवदि परितप्यदी य कामादुरो विसीयदि य ।

रसिदिया य णिई ण लहदि पज्जादि विमणो य ॥८७८॥

'सोयदि विलवदि' क्षोचते, विलपति । परितप्यते । 'कामादुरो विसीयदि य' कामादुरो विधीयति च । नवतं दिनं निद्रा न लभते । पज्जादि विमनस्को भवति ॥८७८॥

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रणणे वा ।

कामपिसायगग्गहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ॥८७९॥

'सयणे जणे य' स्वजने परजने, शयने, आसने, ग्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनादिक्रियासु च न रमते काम-पिशाचगृहीतः ॥८७९॥

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संबच्छरो व पुरिसस्स ।

सीदति य अंगाई होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥८८०॥

'कामादुरस्स गच्छदि खणो वि' कामव्याधितस्य गच्छति क्षणोऽपि सवत्सर इव । अज्ञानि च सीदन्ति । भवत्युत्कण्ठितश्च पुरुष ॥८८०॥

पाणिदलधरिदगंडो बहुसो चित्तेदि किं पि दीणमुहो ।

सीदे वि णिवाइज्जइ वेवदि य अकारणे अंगं ॥८८१॥

'पाणिदलधरिदगंडो' पाणितलपृतगण्ड, 'बहुसो चित्तेदि' बहुशक्तिता करोति । किमपि दीनमुक्त्वा शीतेऽपि स्विद्यते । वेपते च अङ्ग कारणमन्यदन्तरेण ॥८८१॥

कामुम्मत्तो संतो अंतो डज्जदि य कामचिंताए ।

पीदो व कलकलो मो रदग्गिजाले जलंतम्मि ॥८८२॥

'कामुम्मत्तो' कामोन्मत्त । कामचिन्तया चिर वह्यते । पीतताम्रद्रव इव । अरत्यग्नेर्ज्वालामु त्वलन्तीषु ॥८८२॥

सब दोष वर्तमान हैं ॥८७७॥

गा०—काममे पीडित मनुष्य शोक करता है, विलाप करता है, परिताप करता है, विषाद करता है, रात दिन नहीं सोता । इष्ट स्त्री आदिका स्मरण करता है और अन्यमनस्क होकर धर्म कर्म भी भूल जाता है ॥८७८॥

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यका मन स्वजन्ममें, अन्य मनुष्योंमें, शयनमें, आसनमें, ग्राममें, घरमें, वनमें और भोजन आदिमें नहीं रमता ॥८७९॥

गा०—कामसे पीडित मनुष्यका एक क्षण भी एक वर्षकी तरह बीतता है । उसके सब अंग वेदनाकारक होते हैं । और वह उत्कण्ठित होता है उसका मन उसीमें लगा रहता है खान-पानमें नहीं लगता । वह उसे रुचता नहीं ॥८८०॥

गा०—वह अपनी हथेलीपर गाल रखकर दीनमुक्त्वासे बहृत-सी व्यर्थ चिन्ता किया करता है । शीतकालमें भी पसीनेसे भीग जाता है । बिना कारण ही उसके अंग काँपते हैं ॥८८१॥

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे हु अलहंतो ।

घत्तदि मरिदुं बहुषा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥८८३॥

‘कामादुरो’ कामादुरो नरः । स्वामिलषिते जने अलम्यमाने चेष्टते बहुषा मरुं । पर्वतोदधिनिपातेन तरुशाखावलम्बनेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥८८३॥

संकप्पंडयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण ।

विसयबिलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण ॥८८४॥

‘संकप्पंडयजादेण’ मकल्याणप्रसूतेन । रागद्वेषचलयमलजिह्वेन । विषयबिलवासिणा रतिमुखेन चिन्ता-तिरोपेण ॥८८४॥

कामभुजगेण दट्टा लज्जाणिम्मोगदप्पदाटेण ।

णासंति णरा अवसा अणेयदुक्खावहविसेण ॥८८५॥

‘कामभुजगेण’ कामसर्पेण । लज्जान्वक्त्रनिर्माणनकारिसदपद्रंष्ट्रेण दष्टा अनेकदुःखावहविषेणावशा नरा नश्यन्ति ॥८८५॥

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ।

दस होंति पुणो वेगा कामभुअंगावरुद्धस्स ॥८८६॥

‘आसीविसेण’ आशीविषेण सर्पाघ्निना दष्टस्यापि सर्पत्व वेगा भवन्ति । कामभुजङ्गेन दष्टस्य दशवेगा भवन्ति ॥८८६॥

तान्दशापि वेगान्क्रमेण दर्शयति—

गा०—कामसे उन्मत्त पुरुष अन्तरगमे कामकी चिन्तासे जला करता है । जैसे आगसे तपा ताम्बेका द्रव पीकर मनुष्य अन्तरगमे जलता है वैसे ही वह इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर अन्तरगमे जलती हुई अरतिरूप आगकी ज्वालामें जलता है ॥८८२॥

गा०—कामसे पीड़ित मनुष्य अपनी इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर प्रायः पर्वतसे गिरकर या समुद्रमे डूबकर या वृक्षकी शाखासे लटककर अथवा आगमे कूदकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥८८३॥

गा०—कामरूप सर्प मानसिक संकल्परूप अण्डसे उत्पन्न होता है । उसके रागद्वेषरूप दो जिह्वाएँ होती हैं जो सदा चला करती हैं । विषयरूपी बिलमें उसका निवास है । रति उसका मुख है । चिन्तारूप अतिरोष है । लज्जा उसकी काचली है उसे वह छोड़ देता है । मद उसकी दाढ़ है । अनेक प्रकारके दुःख उसका जहर हैं । ऐसे कामरूप सर्पसे डँसा हुआ मनुष्य नाशको प्राप्त होता है ॥८८४-८८५॥

गा०—सब सर्पोंमे प्रमुख आशीविष सर्प होता है । उसके द्वारा इसे मनुष्यके तो सात ही वेग होते हैं । किन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा इसे मनुष्यके दस वेग होते हैं ॥८८६॥

उन दस वेगोको क्रमसे कहते हैं—

पहमे सोयदि बेगे इट्टुं तं इच्छे विदियवेगे ।

णिससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥८८७॥

'पहमे सोयदि बेगे' प्रथमे वेगे शोचति । द्वितीये वेगे स त द्रष्टुमिच्छति । नि ध्वसिति च तृतीये वेगे । आरोहति ज्वरस्वनुयं वेगे ॥८८७॥

इज्जदि पंचमवेगे अंगं छट्टे ण रोचदे भत्तं ।

मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मचो होइ अट्टमए ॥८८८॥

'इज्जदि पंचमवेगे' पञ्चमवेगेऽङ्ग दहते । भक्तारुचि पष्टे वेगे । सप्तमवेगे मुच्छति । उन्मत्तो भवत्यष्टमे ॥८८८॥

णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मद्दो ।

संकप्पवसेण पुणो वेगा तिच्चा व मंदा वा ॥८८९॥

नवमे नात्मानं वेति । दशमे वेगे प्राणिविमुच्यते । मदान्धस्य मकल्पवशेन पुनस्तीव्रा मन्दा वा भवन्ति वेगाः ॥८८९॥

जेट्टामूले जोणहे सरो विमले णहम्मि मज्झणहे ।

ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि त्रिवड्ढंतओ कामो ॥८९०॥

'जेट्टामूले' ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे विमले नभसि मध्याह्ने रवि म न दहति तथा यथा पुरुष दहति प्रवर्द्धमानः काम ॥८९०॥

सुरग्गी डहदि दिवा रत्ति च दिया य डहइ कामग्गी ।

सुरस्स अत्थि उच्छागारो कामग्गिणो णत्थि ॥८९१॥

'सुरग्गी डहदि दिवा' सूर्याग्निर्दहति दिवा, नक्त दिवा दहति कामाग्निः । सूर्यस्याच्छादनकारी छायादिकमस्ति न कामाग्नेः ॥८९१॥

गा०—कामके प्रथम वेगमें सोचता है जिसको देखा या सुना उसके बारेमें चिन्ता करता है । दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा करता है । तीसरे वेगमें दोष निश्वास लेता है । चतुर्थ वेगमें शरीरमें ज्वर चढ़ जाता है ॥८८७॥

गा०—पाँचवें वेगमें अग जलने लगते हैं । छठे वेगमें भोजन नहीं रुचता । सातवें वेगमें मूर्च्छित हो जाता है । आठवें वेगमें उन्मत्त हो जाता है ॥८८८॥

गा०—नौवें वेगमें अपनेको भी नहीं जानता । दसवें वेगमें मर जाता है । इस प्रकार कामान्ध पुरुषके सकल्पवश तीव्र या मन्द वेग होते हैं ॥८८९॥

गा०—ज्येष्ठमासके शुक्लपक्षमें मध्याह्नकालमें आकाशके निर्मल रहते हुए सूर्य वैसा नहीं जलाता जैसा पुरुषको प्रज्वलित काम जलाता है ॥८९०॥

गा०—सूर्य अग्नि तो केवल दिनको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि गत दिन जलाती है । सूर्यके तापसे बचनेके उपाय तो छाता आदि हैं किन्तु कामाग्निका कोई उपाय नहीं है ॥८९१॥

विज्जायदि सूरग्गी जलादिएहिं ण तहा हु कामग्गी ।

सूरग्गी डहइ तयं अमंतरबाहिरं इदरो ॥८९२॥

'विज्जायदि सूरग्गी' विष्याति सूर्यजनितस्तापो जलादिभिर्न तथा जलादिभि' कामग्निः प्रशाम्यति । सूर्यत्योष्णत्व त्वचं बहति । कामग्निरन्तर्बहिषच दहति ॥८९२॥

जादिकुलं संवासं धम्मं णियबंधवम्मि अगणित्ता ।

कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥८९३॥

'बाधिकुलं' मातृपितृवंश । 'संवासं' सहवसत । धर्म बान्धवानपि प्रवगणय्य पुरुषोऽकार्यं करोति मेधुनसंज्ञामूढः ॥८९३॥

कामपिसायग्गाहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि ।

होइ पिसायग्गाहिदो व सदा पुरिसो अणप्पवसो ॥८९४॥

'कामपिसायग्गाहिदो' कामपिशाचगृहीत हितमहितं वा न वेत्ति, पिशाचं न गृहीत पुरुष इव सदा अनात्मवशो भवति ॥८९४॥

णीचो व णरो बह्वगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ।

काम्मुम्मत्तो लज्जालुओ वि तह होदि णिन्लज्जो ॥८९५॥

'णीचो व णरो' नीच इव नर कृतमपि बहुमुपकारं न गणयति । कुलपुत्रोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जावानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ॥८९५॥

कामी सुसंजदाण वि रूसदि चोरो व जग्गमाणाणं ।

पिच्छदि कामग्घत्थो हिदं भणंते वि सच्चू व ॥८९६॥

'कामी सुसंजदाण वि' कामी सुसयतानामपि कथ्यति । जाग्रता चोर इव कामग्रस्त, प्रेषते हितं प्रति-पावत धशुरिव ॥८९६॥

गा०—सूर्यसे उत्पन्न हुआ ताप तो जल आदिसे शान्त हो जाता है किन्तु कामग्नि जलादिसे शान्त नहीं होती । सूर्यकी गर्मी तो चर्मको ही जलाती है किन्तु कामग्नि शरीर और आत्मा दोनोंको जलाती है ॥८९२॥

गा०—मेधुन सज्ञासे मूढ हुआ मनुष्य मातृवंश, पितृवंश, साथमें रहनेवाले मित्रादि, धर्म, और बन्धु बान्धवोंकी भी परवाह न करके अकार्य करता है ॥८९३॥

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकड़ा गया मनुष्य अपने हित अहितको नहीं जानता । पिशाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यकी तरह अपने वशमें नहीं रहता ॥८९४॥

गा०—जैसे नीच मनुष्य किये गये उपकारको भुला देता है वैसे ही कुलीन वंशका भी व्यक्ति कामसे उन्मत्त होकर पूर्वमें लज्जावान होते हुए निर्लज्ज हो जाता है ॥८९५॥

गा०—जैसे चोर जागते हुए व्यक्तियोंपर रोष करता है वैसे ही कामी संयमीजनोंपर रोष

१. सहवसत—आ० मु० । संवासं सहवसतो जनान् मित्रादीन्—मूलरा० ।

आयरियउवज्झाय कुलगणसंघस्स होदि पडिणीओ ।

कामकणिला हु घत्थो घम्मियभावं पयहिदूणं ॥८९७॥

'आयरियउवज्झाय' आचार्याणा अध्यापकाना, कुलस्य गुरुशिष्यवर्गस्य, गुरुधर्मभ्रातृशिष्याणा वा चानुर्वर्ण्यस्य वा संघस्य च भवति प्रतिकूल. कामकलिना ग्रस्त धार्मिकत्व विहाय ॥८९७॥

कामगघत्थो पुरिसो तिलोयसारं जहदि सुदलाभं ।

तेलोक्कपूइदं पि य माहप्पं जहदि विसयंभो । ८९८॥

'कामगघत्थो' कामग्रस्त । त्रैलोक्यसर्वसारमपि श्रुतलाभ जहाति । त्रैलोक्येन पूजितमपि माहात्म्य त्यजति विषयान्ध ॥८९८॥

तह विसयामिसघत्थो तणं व तवचरणदंसणं जहइ ।

विसयामिसगिद्धस्स हु णत्थि अकायव्वयं किंचि ॥८९९॥

'तह विसयामिसघत्थो' विषयामिषलपट । तृणमिव तपस्चरण दर्शन च जहाति । विषयामिषलपटस्य नास्त्यकार्यं किञ्चित् ॥८९९॥

अरहंतसिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु सन्ववग्गाणं ।

कुणदि अवणणं णिच्चं कामुम्मत्तो विगयवेमो ॥९००॥

'अरहंतसिद्धआयरिय' अर्हता, सिद्धाना, आचार्याणा, उपाध्यायाना, सर्वपा यतीना चावर्णवाद करोति नित्य विकृतवेष. ॥९००॥

अयसमणत्थं दुःखं इहलोए दुग्गादा य परलोए ।

संसारं पि अणंतं ण मुणदि विसयामिसे गिद्धो ॥९०१॥

करता है । तथा कामी हितकारी बात कहनेवालेको शत्रुके समान देखता है ॥८९६॥

गा०—कामरूी कलिकालसे ग्रस्त मनुष्य धार्मिक भावको त्याग आचार्य, उपाध्याय, कुल—गुरुका शिष्य समुदाय, गण—गुरुके धर्मबन्धुओंका शिष्य समुदाय और चतुर्विध मघका विरोधी बन जाता है ॥८९७॥

गा०—कामसे ग्रस्त मनुष्य तीनों लोकोंके सारभूत श्रुतज्ञानके लाभको भी छोड़ देता है । वह विषयान्ध होकर तीनों लोकोंसे पूजित माहात्म्यको भी छोड़ देता है अर्थात् उसे शास्त्र स्वाध्यायमें रस नहीं रहता और कामके पीछे अपना महत्त्व भी भुला देता है ॥८९८॥

गा०—तथा विषयरूपी मांसमे आसक्त होकर तप चारित्र और सम्यग्दर्शनको तिनकेकी तरह त्याग देता है । ठीक ही है विषयरूपी मांसके लोभीके लिए कुछ भी अकार्य नहीं है, वह सब कुछ अनर्थ कर सकता है ॥८९९॥

गा०—कामसे उन्मत्त साधु साधुरूपको त्यागकर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुजनोंका अवर्णवाद करता है, उनपर मिथ्या दोषागेषण करता है ॥९००॥

गा०—विषयरूपी मांसका लोभी मनुष्य अनर्थकारी अपयश, इस लोकके दुःख, परलोकमें दुर्गति और भविष्यमे मसारकी अनन्तताको नहीं जानता । अर्थात् वह इस बातको भुला देता है



'अयसमन्तर्य' अयशः अनर्थ । दुःखं ब्रह्मलोके परलोके दुष्टं वति, ससारमप्यनन्त भाविनं न वेति विषयामिवे गृह्यः ॥९०१॥

णिच्चं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विसयलुद्धमदी ।

बहुगं पि य अवमाणं विसयंघो सहइ माणीवि ॥९०२॥

'णिच्चं पि विसयहेदुं' ज्ञानकुलाविभिरतीव न्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुब्धमतिः । परिभवं महान्तमपि घनिभिः क्रियमाणं सहते विषयान्धः ॥९०२॥

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुत्तदुगुच्छियं विगदमाणो ।

'वारत्तुओ वि कम्मं अकासि जह लंघियाहेदुं ॥९०३॥

'णीचं पि कुणवि' नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टभोजनादिकं कुलीननिन्दित विनष्टाभिमानः । वारत्तुओ नाम यतिरतिगर्हित कर्म कृनवान् तथा कुलीन स्त्रीनिमित्तं ॥९०३॥

सूरो तिवखो युवखो वि होइ बसिओ जणस्स सधणस्स ।

विसयामिसम्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तूणं ॥९०४॥

'सूरो तिवखो मुक्खो वि होइ' सूरस्तीक्ष्णो मुख्योऽपि घनिनो जनस्य वशवर्ती भवति । विषयामिलाषे लुब्धः गृह्य अभिमान रोषं मुक्त्वा ॥९०४॥

माणी वि असरिसस्स वि चडुयम्मं कुणदि णिच्चमविलज्जो ।

मादापिदरे दासं वायाए परस्स कामेतो ॥९०५॥

'माणी वि असरिसस्स वि' मानी असदृशस्यापि चाटुं करोति । वाचा आत्मीया मातरं पितरं वा दास्यमापादयति । तवाह दासो गृहे भवामोति बदनपर कामयमानः ॥९०५॥

कि विषयासक्तिका फल ससारमें अपयश, इस लोकमें कष्ट, परलोकमें दुर्गति है तथा ससारका अन्त होना दुष्कर है ॥९०१॥

गा०—विषयोका लोभी मनुष्य कुलीन और बुद्धिमान् होते हुए भी विषय सेवनके लिए ज्ञान और कुल आदिसे अत्यन्तहीन की भी सेवा करता है । वह विषयान्ध घनी पुरुषोंके द्वारा किये गये महान् तिरस्कारको भी सहन करता है ॥९०२॥

गा०—वह अपना सन्मान खोकर कुलीन पुरुषोंके द्वारा निन्दित उच्छिष्ट भोजन आदि नीचकर्म करता है । जैसे वारत्रक नामक कुलीन यतिने नर्तकीके लिए अत्यन्त निन्दित काम किया ॥९०३॥

गा०—विषयरूपी मांसका लोभी मनुष्य अभिमान और रोष त्यागकर सूरवीर, असहनशील और प्रमुख होते हुए भी घनी मनुष्यके वशमें हो जाता है ॥९०४॥

गा०—अभिमानी भी निर्लज्ज होकर अपनेसे नीच पुरुषका नित्य चाटुकर्म—पैर दबाना आदि करता है । अपने माता पिताको उसका दास दासी कहता है और कहता है कि मैं तुम्हारे

१. वारत्तुओ आ० भू० । वारत्तुओ वारत्रको नाम यति—मूलारा० ।

वयणपडिवत्तिकुसलक्षणं पि णासइ णरस्स कामिस्स ।

सत्थप्पह्व्व तिक्खा वि मदी मंदा तथा हवदि ॥९०६॥

'वयणपडिवत्तिकुसलक्षणं पि' वचने प्रतिपत्तो च कुशलतापि नश्यति कामिनो नरस्य । शास्त्रप्रह्लाशास्त्रे घटिता अतितीक्ष्णापि मति कुंठा भवति ॥९०६॥

होदि सचक्खु वि अचक्खु व वधिरो वा वि होइ सुणमाणो ।

दुट्टकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥९०७॥

'होदि सचक्खु वि अचक्खु व' चक्षुमानपि अचक्षुरिव भवति । पर समीपस्थमपि यतो न पश्यति । 'बहिरो वा वि होदि' वधिरो इव भवति । 'सुणमाणो' शृण्वन्नपि अव्यक्तश्रवणात् । 'दुट्टकरेणुपसत्तो' दुष्टकरिणी-प्रसक्तः । 'वणहत्थो चेव' वनहस्तीव । 'संमूढः' ॥९०७॥

सल्लिणिवुट्ठोव्व णरो बुज्झंतो विगयचेयणो होदि ।

दक्खो वि होइ मंदो विमयपिसाओवहदच्चित्तो ॥९०८॥

'सल्लिणिवुट्ठो बुज्झंतो णरोव्व' सल्लिनिमन्न. प्रवाहेणोद्यमानो नरो यथा । 'विगयचेयणो' विगत-चेतन्यो भवति । 'दक्खो वि होदि मंदो' दक्षोऽपि सर्वकार्येषु प्रवीणोऽपि जडो भवति । 'विमयपिसाओवहदच्चित्तो' विषयपिशाचोपहतचित्त. विषया रूपादयश्चेतोविभ्रमहेतुत्वात्पिशाचा इवेति विषया पिशाचा इत्युक्ता ॥९०८॥

वारसवासाणि वि संवसिच्चु कामादुरो ण णासीय ।

पादंगुट्टमसंतं गणियाए गोरसंदीवो ॥९०९॥

'वारसवासाणि' द्वादशवर्षमात्र सहोषित्वापि । 'कामादुरोपि' कामादुरोऽपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः । किं ? गणिकाया पादागुट्टमस्त ॥९०९॥

घरमे दास वनकर रहँगा ॥९०५॥

गा०—कामी मनुष्यकी वचन कुशलता और समझदारी नष्ट हो जाती है । शास्त्रमे प्रविष्ट अति तीक्ष्ण भी बुद्धि मन्द हो जाती है ॥९०६॥

गा०—दुष्ट हृथनीमे आसक्त जगली हाथीकी तरह मूढ कामी पुरुष नेत्रवाला होकर भी अन्धा होता है क्योंकि उमे समीपकी वस्तु भी नही दिखाई देती । तथा कानवाला होकर भी बहरा होता है ॥९०७॥

गा०—जैसे जलमे डूबा और प्रवाहमे बहता मनुष्य चेतनारहित होता है । वैसे ही जिसका चित्त विषयरूपी पिशाचके द्वारा गृहीत है वह मनुष्य सब कार्योंमें प्रवीण होते हुए भी मन्द होता है । यहाँ विषयोको पिशाच कहा है क्योंकि रूपादि विषय चित्तको मोहमें डाल देते है इसलिए वे पिशाचके समान है ॥९०८॥

गा०—गोरसदीप नामक कामपीडित मनुष्य बारह वर्ष तक गणिकाके साथ रहकर भी यह नही जान सका कि गणिकाके पैर मे अँगूठा नही है ॥९०९॥

मीदं उण्हं तण्हं खुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ।

सुकुमारो वि य कामी सहइ वहइ भार'भवि गरुयं ॥९१०॥

'सीव उण्हं तण्हं' शीतं, उष्णं, तृष्णा, क्षुधा, दुःशयनं, दुराहारं कृत, अध्वगमनधम च सहते । कामी सुकुमारोऽपि गुरुमपि भार वहति ॥९१०॥

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लवदि तह मलेइ णरो ।

तुण्णेइ वुणइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥९११॥

'गायदि णच्चदि' गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, लुनाति, महयति, सीव्यति, पट्टवस्त्रादिव-यनं करोति । याचते कुलप्रसूतांऽपि सन्विषयमुपगत आत्मान भायां च पोषयितु ॥९११॥

सेवदि णियादि रक्खदि गोमहिंसिमजावियं हय इत्थि ।

ववहरदि कुणदि सिप्यं सिणेहपासेण दढबद्धो ॥९१२॥

'सेवति णियादि' सेवति सस्यान्तर्गत तृणादिकमेव । निजति, रक्षति गा, महिषी, अजा, आविक, हर्य, हस्तनो वा । वाणिज्य करोति । समस्तनैपुष्य अतीव तत्कर्मदिक करोति कामिनीगतस्नेहभावेन दृढबद्ध ॥९१२॥

वेडेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ।

कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ॥९१३॥

'वेडेइ विसयहेदुं' वेष्टयति विषयहेतुनिमित्त । आत्मान कलत्रपाशैर्भोचयितुमशक्यं कोशेन कोशकार-कोट इव दुर्मति ॥९१३॥

गा०—सुकुमार भी कामी पुरुष सर्दी, गर्मी, प्यास, भूख, खोटी शय्या, खराब भोजन, मार्गमें चलनेका श्रम सहता है और भारी बोझा ढोता है ॥९१०॥

गा०—उच्चकुलमें जन्मा भी मनुष्य विषयासक्त होकर गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेल जोतता है, अन्न बोता है, खेती काटता है, अनाज निकालता है, कपड़े सीता है, बुनता है ? यह सब काम विषय परवश होकर अपने और अपनी पत्नीके भरणपोषणके लिए करता है ॥९११॥

गा०—स्त्रीके स्नेहजालमें दृढ़तापूर्वक बंधा मनुष्य राजा आदिकी सेवा करता है, धानके खेतमें लगी घासको उपाडता है । गाय, भैंस, बकरी, भेडे, घोडा, हाथी आदि पालता है । व्यापार करता है । शिल्पकर्म-चित्रकला आदि करता है ॥९१२॥

गा०—जैसे रेशमका कीडा अपने ही मुखमेंसे तार निकालकर उससे अपनेको बाँधता है । वैसे ही दुर्बुद्धि मनुष्य विषयोंके लिए स्त्रीरूप पाशके द्वारा, जिसका छूटना अशक्य है, नित्य अपनेको बाँधता है ॥९१३॥

रागो दोसो मोहो कसायपेसुण्ण संकिलेसो य ।

ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिकक कलहो य ॥९१४॥

'रागो दोसो' रागो द्वेष, अज्ञान, कषाया, परदोषसस्तवन, संकलेश, ईर्ष्या, हिंसा, मूषा, परपुणा-सहनं, स्तैन्यं कलहश्च ॥९१४॥

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपूरोगसोगघणणासो ।

विसयाउलम्मि सुलहा सन्वे दुक्खावहा दोसा ॥९१५॥

'जंपणपरिभव' जल्पन परिभव वचना परीक्षेजवाद । शत्रु, रोग शोको, धननाश इत्यादयः ।  
'विसयाउलम्मि सुलहा' विषयाकुले सुलभा सर्वेऽपि दुःखावहा दोषा ॥९१५॥

न केवलमात्मन एव उपद्रवः अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगारणं ।

तिलणालीए तत्ता सलायवेसो व जोणीए ॥९१६॥

'अवि य वहो जीवाणं' अपि च बहूना जीवाना वधो भवति । मंथुनसेवया । 'जोणीए' योन्त्या तिलैः  
पूर्णाया नालिकाया तप्ताय शलाकाप्रवेश इव ॥९१६॥

कामुम्मतो महिलं गम्मागम्मं पुणो अविण्णाय ।

सुलहं दुलहं इण्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ॥९१७॥

'कामुम्मतो' कामोन्मतो । स्त्रिय शरीरमात्मनश्च' गम्य भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्यमिति अविज्ञाय  
इदमित्यमशुचि इति । सुलभा दुर्लभा आत्मन्यभिलाषवती च प्राथ्यते ॥९१७॥

गा०—राग, द्वेष, मोह, कषाया, पैशुन्य—दूसरेके दोष कहना, संकलेश, ईर्ष्या, हिंसा, झूठ, असूया—दूसरेके गुणोको न सहना, चोरी, कलह, बूथा बकवाद, तिस्कार, ठगना, पीठ पीछे बुराई करना, शत्रु, रोग, शोक, धननाश इत्यादि सब दुःखदायी दोष विषयासक्त व्यक्तिये सुलभ होते है ॥९१४-९१५॥

आगे कहते हैं कि कामी पुरुष केवल अपना ही घात नहीं करता. दूसरोंका भी घात करता है—

गा०—जैसे तिलोमे भरी नलिकामे तपाये हुए लोहेकी सलाइके प्रवेशसे तिलोका घात होता है वैसे ही मंथुन सेवनसे योनिमे स्थित बहुतमे जीवोका घात होता है ॥९१६॥

गा०—काममे उन्मत्त पुरुष यह स्त्री भोगने योग्य है या अयोग्य है, सुलभ है या दुर्लभ है, मुसं चाहती है या नहीं चाहती, इत्यादि जाने बिना उसकी याचना करता है ॥९१७॥

१ इच गम्य भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्य मिति अवि—पु० । गम्मागम्म स्त्रिया शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्यमिति टीकाकार । अन्ये तु गम्मागम्ममित्यपि महिलाविशेषणमाह । तथा च तद्ग्रन्थः 'कामोन्मतो गम्मागम्यरूपा च दुर्लभा सुलभा । अज्ञात्वा प्राथ्यते भोक्तुं सेच्छामयानिच्छाम्' ।

—भूलाश० ।

ददृष्ट्वा परकलत्रं किहिदा पत्थेद् गिन्धिणो जीवो ।

ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥९१८

‘ददृष्ट्वा परकलत्रं’ परेषा कलत्रं दृष्ट्वा । कथं तावत् प्रार्थयते जीवो निरस्तलज्जो ममेय भवतीति । एतस्यां प्रार्थनामात्राधिगतायां दुःखं प्राप्नोति । पार्षं नियोगेनार्जयति ॥९१८॥

आहङ्घिद्वं चिरमवि परस्स महिलं लमित्तु दुक्खेण ।

उप्पित्थमवीसत्थं अणिव्वुदं तारिसं चेव ॥९१९॥

‘आहङ्घिद्वं चिरमवि’ चिरकालमभिलष्यापि । ‘परस्स महिलं’ परस्य महिला परस्य स्त्रिय । ‘दुक्खेण लमित्तु’ क्लेशेन लब्ध्वा । ‘उप्पित्थं’ व्याकुलवदविश्वस्तमनिर्वृत चरण इति क्रियाधिसोपत्त्वेन नेयं । ‘तारिसो चेव’ यथा तद्वैवाप्राप्ते पूर्वमतृप्तहृदय-पश्चादपि तर्बैवातृप्तहृदयत्वासादृश इत्युच्यते ॥९१९॥

कहमवि तमंघयारे संपत्तो जत्थ तत्थ वा देसे ।

किं पावदि रइसुक्कं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥९२०॥

‘कथमपि तमंघकारे’ केनचित्प्रकारेण परवञ्चनं ज्ञात्वा<sup>१</sup> । अघकार<sup>२</sup> सप्राप्तः । ता यत्र तत्र वा देसे, शून्यगृहे शून्यायतने, अटव्या च किं प्राप्नोति ? रतिसीस्य । प्रकाशे स्वाभिलषितानवयवास्तस्या पश्यतो मुदुर्नि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुखं भवति । नान्यथेति भावः । किं प्राप्नोति रतिसुखं भोत सन् राज-पुरुषेभ्यस्तस्य वा सवन्धिभ्यः । पश्यन्ति मा परं, वदन्ति मा, परपत्नी<sup>३</sup>निवास भाषण अपि तया स्वरित किं पुना रतम् ॥९२०॥

परमहिलं सेवतो वेरं वधबंघकलहधणनासं ।

पावदि रायकुलादो तिस्से णीयल्लयादो वा ॥९२१॥

गा०—पर स्त्रीको देखकर कामान्ध पुरुष लज्जा त्याग बंसे प्रार्थना करता है कि यह मेरी होवे : उसमे उसे कुछ भी सुख नहीं उल्टे, पापका ही उपाजर्न करता है ॥९१८॥

गा०—चिरकाल तक अभिलाषा करनेपर कदाचित् बड़े कष्टसे परस्त्रीका लाभ भी हो जाये तो उसके मिलनेसे पूर्व वह जंसा व्याकुल, अविश्वस्त और अतृप्त रहता है मिलनेपर भी वैसा ही रहता है ॥९१९॥

गा०—टी०—किसी प्रकार दूसरोको धोखा देकर अन्धकारमे किसी शून्य घरमे या जगलमे उसे पाकर भी क्या रति सुख पाता है वह कामी । प्रकाशमे कोमल शय्यापर मनकी व्याकुलताके अभावमे उस नारीके इच्छित अगोको देखते हुए सुख होता है, अन्यथा नहीं होता । किन्तु राज-पुरुषोसे अथवा उस नारीके सम्बन्धियोसे भयके होते हुए कि मुझे कोई देखे नहीं, कोई बांधे नहीं, कि पर पत्नीके साथ निवास करता है, ऐसी स्थितिमे भाषण करनेकी भी जल्दी रहती है, रमण करनेकी तो बात ही क्या ? तब क्या सुख मिल सकता है ? ॥९२०॥

१. कुत्वा—आ० । २. अन्वकाल—अ० । अन्धकालं आ०—अन्वकाल ज० । ३. लीति वा संभा०—आ० मू० ।

'परमहिलं सेवते' परस्त्रियं सेवमान, वरं, वध, वन्ध, कलह, धननाश च प्राप्नोति राजमूलात् तस्याः स्वजनादा ॥९२१॥

जदि दा जणेइ मेहुणसेवा प्पवंस दारम्मि ।

अदितिव्वं क्ह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥९२२॥

'जदि ता जणेइ' यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा । किं ? पाप स्वभार्याया । अतितीव्र कथ पाप न भवेत् 'परदारसेविस्स' परस्त्रीसेविन अदत्तादानमङ्गहोति द्वी यतो दोषो ॥९२२॥

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि क्के ।

जह दुक्खमप्पणो होइ तथा अण्णस्स वि णरस्स ॥९२३॥

'मादा धूदा' मातरि दुहितरि भगिन्या परेण विप्रिये क्लृते कर्मण यथा दुःखमात्मनो भवति । तथाऽन्य-  
स्यापि नरस्य दुःख भवति । तन्मात्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥९२३॥

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खवीयमज्जेदि ।

णीयं गोदं इत्थीणउंसवेदं च अदितिव्वं ॥९२४॥

'एव परजणदुःखे' एवमन्यजनदुःखे निरपेक्ष परदाररतिप्रियो दुःखबीज मन्त्रिनोति । किं ? असद्वेदं कर्म, नीचगोत्र, स्त्रीत्व, नपुंसकत्व च ॥९२४॥

जमणिच्छंती महिलं अवसं परिभुंजदे जहिच्छाए ।

तह य किलिस्मइ जं सो तं मे परदारगमणफलं ॥९२५॥

'जमणिच्छंती महिलं' यन्नेच्छन्ती पुमान् स्त्रीत्वं अवशा यथेच्छया परिभुज्यमाना यत्किल्बयति तत्तस्या जन्मान्तराचरितपरदारगमनफल ॥९२५॥

गा०—परस्त्रीका सेवन करने वालेके सब बंधे होते हैं । वह राजाके पुरुषोंमें अथवा उस स्त्रीके सम्बन्धियोंसे वध, वन्धन, कलह और धन नाशका कष्ट पाता है ॥९२१॥

गा०—यदि अपनी पत्नीमें भी मैथुन सेवनसे पाप कर्मका बन्ध होता है तो परस्त्री सेवीको अति तीव्र पापका बन्ध क्यों नहीं होगा; क्योंकि उममें चोगी और अब्रह्म सेवन दो दोष है ॥९२२॥

गा०—अपनी माता, पुत्री और बहिनके प्रति यदि कोई अप्रिय व्यवहार करे तो जैसे हमें दुःख होता है वैसे ही दूसरोकी माता आदिके विषयमें असद्व्यवहार करने पर दूसरो को भी दुःख होता है ॥९२३॥

गा०—इस प्रकार दूसरोके दुःखका ध्यान न रखनेवाला परस्त्रीगामी पुरुष दुःखके बीज नीचगोत्र, स्त्रीवेद और नपुंसक वेदका अति तीव्र बन्ध करता है ॥९२४॥

गा०—इस जन्ममें जो स्त्री परवश होकर ऐसे पुरुषके द्वारा, जिसे वह नहीं चाहती, यथेच्छ भोगी जाती और कष्ट पाती है यह उसके पूर्वजन्ममें किये गये पर स्त्री-गमनका फल है ॥९२५॥

महिलावेसविलंबी जं णीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ।

तह वि ण पूरइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥९२६॥

‘महिलावेसविलंबी’ स्त्रीवेसविलम्बनापरः पुरुषो यन्नीचं कर्म करोति । तथापि न पूर्यते इच्छा तत्तस्य षंडत्वं परदारगमनफलम् ॥९२६॥

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु भवसयसहस्सेसु ।

अयसायामकरीओ होंति विसीला य णिच्चं से ॥९२७॥

‘भज्जा भगिणी मादा’ भार्या भगिनी माता मुता च बहुषु भवसहस्रेषु अयत् । आयास कुर्वन्त्यो भवन्ति नित्यं विशीलास्मदा तस्य ॥९२७॥

होइ सयं पि विसीलो पुरिसो अदिदुम्मगो परभवेसु ।

पावइ वधबंधादि कलहं णिच्चं अदोसो वि ॥९२८॥

‘होवि सयं पि’ भवति स्वयमपि विशील, पुरुषो<sup>१</sup> दुर्भगश्च प्राप्नोति नित्यं च वधबन्ध आत्मा सकलं च अदोषोऽपि ॥९२८॥

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ।

कालगदो वि य पच्छा कडारपिंगो गदो गिरयं ॥९२९॥

‘इहलोए वि महल्लं कडारपिंगो’ इहलोकेऽपि महाम्त दोष प्राप्त कामवशङ्कत । काल कृत्वा पञ्चान्तरके प्रविष्ट कडारपिङ्गु । वाच्यमन्त्राख्यानकम् ॥९२९॥

एदे सच्चे दोसा ण होंति पुरिसस्स बंमचारिस्स ।

तच्चिवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥९३०॥

विशेषार्थं—प० आशाधरजीने अपनी टीकामें ‘अन्ये’ कहकर इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार लिखा है—जो पुरुष उसे न चाहनेवाली नारीको बलपूर्वक यथेच्छ भोगता है और भोगते हुए भी सुख नहीं पाता, यह उसके परस्त्री भोगका फल है जो कष्टरूप है ॥९२९॥

गा०—स्त्रीका वेश धारण करनेवाला जो पुरुष (नपुंसक) नीच कर्म करता है, और यहाँ वहाँ काम क्रीडा करके भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसका यह नपुंसकपना परस्त्रीगमनका फल है ॥९२६॥

गा०—परस्त्रीगामीकी भार्या, बहन, माता, पुत्री, लाखों जन्मोंमें अपयश और दुःख देनेवाली सदा व्यभिचारिणी होती हैं ॥९२७॥

गा०—परस्त्रीगामी स्वयं भी परभवोंमें (आगामी जन्मोंमें) दुराचारी और अभाग होता है और बिना अपराधके भी कलहपूर्वक नित्य बध, बन्ध आदिका कष्ट उठाता है ॥९२८॥

गा०—कामके बशीभूत होकर कडारपिंगु इसी जन्ममें महान् दोषका भागी हुआ । पीछे मरकर नरकमें गया ॥९२९॥

'एते सव्वे' एते सर्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिणः पुंसः । तद्विपरीताश्च गुणा भवन्ति बहवो विरा-  
गत्य ॥९३०॥

कामग्निणा धगधगंतेण य डज्झंतयं जगं सव्वं ।

पिच्छइ पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥९३१॥

'कामग्निणा' कामाग्निना । जगज्जगद्यमानेन दह्यमानेन । दह्यमान जगत्सर्वं प्रेक्षते प्रेक्षकभूत स्वयं  
विरतीभूतः । कः ? वीतरागः ॥९३१॥

इत्थिकथा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तर प्रबन्ध । कामकदा—

महिला कुलं सवासं पदिं सुदं मादरं च पिदरं च ।

विसयंथा अगणंती दुक्खसमुद्धम्मि पाडेइ ॥९३२॥

महिला दुःखसमुद्रे पातयति विषयाथा अगणयन्ती । किं ? कुलं महवासिनः पति, सुत, मातरं च  
पितरं च ॥९३२॥

माणुण्ययस्स पुरिसद्दुमस्स णीचो वि आरुहदि सीसं ।

महिलाणिस्सेणीए णिस्सेणीए व्व दीहदुमं ॥९३३॥

'माणुण्ययस्स' मानोन्नतस्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलानि श्रेयिण्या निश्रेण्या  
दोषमिव द्रुम ॥९३३॥

पव्वदमित्ता माणा पुंसाणं होंदि कुलबलघणेहिं ।

बलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोणप्पयासा य ॥९३४॥

'पव्वदमित्ता माणा' भवन्ति मानानि पुरुषाणां कुलबलघनैः । बलिभिः अक्षोभ्याणि गिरिवल्लोके  
प्रकाशभूतानि च ॥९३४॥

विशेषार्थ—कडारपिगकी कथा सोमदेवके उपासकाध्ययनमे आई है ।

गा०—ब्रह्मचारी पुरुषके ये सब दोष नहीं होते । प्रत्युत विरागीके इन दोषोसे विपरीत  
बहुतसे गुण होते हैं ॥९३०॥

गा०—विरागी मुक्तात्माकी तरह प्रज्वलित कामाग्निसे जलते हुए सब जगत्को एक  
प्रेक्षकके रूपमें देखता है । अर्थात् वह केवल द्रष्टा ही रहता है उसके कष्टसे स्वयं पीड़ित नहीं  
होता ॥९३१॥

आगे 'इत्थी कथा'—स्त्री कथाका व्याख्यान करते हैं—

गा०—विषयसे अन्धी हुई स्त्री किमीकी परवाह न करके अपने कुलको, साथमें रहने वाले  
पति, पुत्र, माता और पिताको दुःखके समुद्रमें गिरा देती है ॥९३२॥

गा०—जैसे नमैनीके द्वारा छोटा आदमी भी ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाता है वैसे ही महिला  
रूपी नमैनीके द्वारा नीच पुरुष भी मानसे उन्नत पुरुष रूपी वृक्षके सिर पर चढ़ जाता है अर्थात्  
स्त्रीके कारण नीच पुरुषके हाग गर्वोन्नत मनुष्यका भी सिर नीचा हो जाता है ॥९३३॥

गा०—कुल बल और धनसे पुरुषोका अहंकार सुभेरुपर्वतके समान जगत्में विख्यात है ।



ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जंति दुट्टमहिलाहिं ।

जह अंकुसेण णिस्साइज्ज हत्थी अदिबलो वि ॥९३५॥

‘ते तारिसया माणा’ तानि तथाभूतानि मानानि अवमध्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः । यथा अङ्कुरेण निषद्या कार्यते हस्तो अतिबलोऽपि ॥९३५॥

आसीय महाजुद्धाई इत्थिहेदुं जणम्मि बहुगाणि ।

भयजणणाणि जणाणं भारहरामायणादीणि ॥९३६॥

‘आसीय महाजुद्धाणि’ आसन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिमित्तानि बहूनि भयजननानि जनानां भारत-रामायणादीनि ॥९३६॥

महिलासु णत्थि वीसमपणयपरिचयकदण्णदा जेहो ।

लहुमेव परगयमणा ताओ सक्कुलपि जहति ॥९३७॥

‘महिलासु’ स्त्रीषु न मन्ति विस्रम्भ प्रणय, परिचय, कृतज्ञता, स्नेहश्च । महिमा परगतचित्तास्ता स्वकुलं जहति ॥९३७॥

परिसस्स दु वीसंभ करेदि महिला बहुप्पयारेहिं ।

महिला वीसंमेदुं बहुप्पयारेहिं वि ण सक्का ॥९३८॥

‘परिसस्स दु वीसंभं’ पुरुषस्य विस्रम्भ जनयन्ति स्त्रियो बहुभिः प्रकारैर्युवतीविस्रम्भं नेतु न शक्ताः पुमांसः ॥९३८॥

अदिल्लुहयगे वि दोसे कदम्मि सुकदस्सहस्समगणंती ।

पइ अप्पाणं च कुलं धणं च णासंति महिलाओ ॥९३९॥

‘अदिल्लुहयगे वि दोसे’ स्वल्पेऽपि दोषे कृते सुकृतशतमप्यगणय्य पतिं, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयन्ति युवतयः ॥९३९॥

उसे बलवान भी नहीं हिला सकते ॥९३४॥

गा०—किन्तु इम प्रकारके अहंकार भी दुष्ट स्त्रियोके द्वारा नष्ट कर दिये जाते है । जैसे अंकुशसे अति बलवान हाथी भी बंठा दिया जाता है ॥९३५॥

गा०—स्त्रीके कारण इस जगत्मे भारत रामायण आदिमे वर्णित अनेक महायुद्ध हुए जो लोगोंके लिये भयकारक थे ॥९३६॥

गा०—स्त्रियोमे विश्वास, स्नेह, परिचय, कृतज्ञता नहीं है । वे पर पुरुषपर आसक्त होने-पर शीघ्र ही अपने कुलको अथवा कुलीन भी पतिको छोड़ देती है ॥९३७॥

गा०—स्त्री अनेक प्रकारोंसे पुरुषमे विश्वास उत्पन्न करती हैं किन्तु पुरुष अनेक उपायोसे भी स्त्रीमे विश्वास उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता ॥९३८॥

गा०—थोड़ा-सा भी अपराध होनेपर स्त्री सैकड़ो उपकारोंको भुलाकर अपना, पतिका,

१ णिसियाविज्जादि—भूलारा० । २ णाओ—आ० मु० ।

आसीबिसो ञ्व कुविदा ताओ दूरेण णिहुदपावाओ ।

सुहो चंडो राया व ताओ कुब्बंति कुलघादं ॥९४०॥

‘आसीबिसो ञ्व’ आसीबिण इव कुपितस्ता दूरेण ढीकितु न शक्या । रुष्टवचण्डो राजेव ताः कुर्वन्ति कुलघात ॥९४०॥

अकदम्मि वि अवराधे ताओ बीसत्थमिच्छमाणीओ ।

कुब्बंति वहं पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिटुणो वा ॥९४१॥

‘अकदम्मि वि’ अकृतेऽपि । ‘अवराधे’ अपराधे । ‘ताओ’ ता । ‘बीसत्थमिच्छमाणीओ’ स्वेच्छाप्रवृत्ति-मभिलषन्त्यः । ‘पदिणो वधं कुब्बंति’ पत्युबंधं कुर्वन्ति, ‘सुदस्स’ सुतस्य, ‘ससुरस्स’ इवशुरस्यापि । ‘पिटुणो वा’ पितुर्वा वधं कुर्वन्ति ॥९४१॥

सक्कारं उवकारं गुणं व सुहलालणं च णेहो वा ।

मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चित्तेइ ॥ ९४२॥

‘सक्कारं’ सत्कार सम्मानं । ‘उवकारं’ उपकार, ‘गुणं’ कुलरूपयौवनानादिकं गुणं च पत्यु । ‘सुहलालणं’ सुखेन पोषणं च । ‘णेहो वा’ स्नेहं च ‘मधुरवयणं च’ मधुरवचनं च । ‘महिला’ युवति । ‘परगदहिदया’ परपुरुषानुरक्तचित्ता । ‘ण चित्तेइ’ न चिन्तयति ॥९४२॥

साकेदपुराधिबदी देवरदी रज्जसुक्खपग्ग्भट्टो ।

पंगुलहेट्टुं छूडो गदीए रत्ताए देवीए ॥९४३॥

‘साकेदपुराधिबदी’ साकेतपुरस्य स्वामी । ‘देवरदी’ देवरतिसंज्ञित । ‘रज्जसोक्खपग्ग्भट्टो’ राज्येन सोख्येन च नितरा भ्रष्ट । ‘पंगुलहेट्टुं’ पङ्कलनिमित्तं गन्धर्वप्रवीणेन पङ्कना महं जीवितुमभिलषन्त्या । ‘छूडो’ विक्षिप्त । ‘गदीए’ नद्या । ‘रत्ताए देवीए’ रक्तानामधेयया देव्या ॥९४३॥

कुलका और धनका नाश कर देती है ॥९३९॥

गा०—ऋद्ध सर्पकी तरह उन स्त्रियोंको दूरसे ही त्यागना चाहिए । रुष्ट प्रचण्ड राजाकी तरह वे कुलका नाश कर देती हैं ॥९४०॥

गा०—वे स्वच्छन्द प्रवृत्तिकी इच्छासे बिना किसी अपराधके पति, पुत्र, इवसुर अथवा पिताका घात कर देती हैं ॥९४१॥

गा०—परपुरुषमे जिसका चित्त लग जाता है वह स्त्री अपने पतिके, सम्मानं, उपकार, कुल, रूप, यौवन आदि गुण, स्नेह, मुखपूर्वक लालन-पालन और मधुर वचनोका भी विचार नहीं करती ॥९४२॥

गा०—अयोध्या नगरीका स्वामी देवरति राज्य सुखसे वाञ्छित हो गया उसकी रक्ता नामकी रानीने गान-विद्यामे प्रवीण एक लगडे व्यक्तिपर आसक्त होकर अपने पतिको नदीमें फेंक दिया ॥९४३॥

ईसालुयाए गोववदीए 'गामकूडधूयिया चैव ।  
छिण्णं प्हदो सीसं भल्लेण पासे सीहबलो ॥९४४॥

'ईसालुयाए' ईव्यावित्या । 'गोववदीए' कोपवतीनामधेया तथा । 'गामकूडधूयिया एव' ग्रामकूटस्य कुहितु । 'सीसं छिण्णं' शिरसि छन्नं । 'पहवो' प्रहतस्तथा । 'भल्लएण' सक्त्या । 'पासम्मि' पासवदेशे ।  
• 'सीहबलो' सिंहबलसंज्ञित ॥९४४॥

वीरमदीए शूलगदचोरदड्डोड्डिगाए वाणियओ ।  
पहदो दत्तो य तथा छिण्णो ओड्डोत्ति आलविदो ॥९४५॥

'वीरमदीए' <sup>३</sup>वीरपतीमज्ञिकया । 'शूलगदचोरदड्डोड्डिगाए' शूलगदचोरदण्डाघरया । 'वाणियओ' वणि-  
कमुत । 'पहवो' प्रहत । 'दत्तो य' दत्तस्य । 'तथा' तथा । 'छिण्णो ओड्डोत्ति' ओष्ठच्छेदं ज्ञेन कृत. इति  
च । 'आलविदो' मणित ॥९४५॥

वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हमप्पसत्तु ।  
सो वीसंभं गच्छदि वीसंभदि जो महिलियासु ॥९४६॥

'वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हमप्पसत्तु' व्याघ्रे, विषे, चोरे, अग्नी, जले, मत्तगजे, कृष्णसर्पे,  
शत्रौ च । 'सो विसंभं गच्छदि' स विसम्भ गच्छति । 'विसंभदि जो महिलियासु' विसम्भ य करोति  
वनितासु ॥९४६॥

वग्घादीया एदे दोसो ण णरस्स तह करेज्जण्ह ।  
जं कुणइ महादोसं दुट्ठा महिला मणुस्सस्स ॥९४७॥

गा०—ईष्यालु कोपवतीने ग्रामकूटकी पुत्रीका सिर काट दिया और सिंहबलकी कोखमे भाला भोक दिया ॥९४४॥

विशेषार्थं देवरति और सिंहबलकी कथा बृहत्कथाकोशमे ८५-८६ नम्बरपर हैं । उसमे गोमती नाम है ॥९४४॥

गा०—वीरमती एक चोरसे फँसी थी । उसे सूली दी गई तो वह उससे मिलने गई । चोरने कहा—अपने मुखका पान दो । इस बहाने चोरने उसका ओठ काट लिया । उसने कहा कि मेरे बति दत्तने मेरा ओठ काट लिया ॥९४५॥

विशेषार्थं—बृहत्कथाकोशमे वीरवतीकी कथाका क्रमाङ्क ८७ है ॥९४५॥

गा०—जो स्त्रियोका विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, चोर, आग, पानी, मत्त हाथी, कृष्ण सर्प, और शत्रुका विश्वास करता है अर्थात् स्त्रीपर विश्वास ऐसा ही भयानक है जंसा इनपर विश्वास करना भयानक है ॥९४६॥

१ 'गामकूडधूयिया सीसं । छिण्णं प्हदो तथ भल्लएण पासम्मि' ।—मु० ।  
गोपवती'—मु० । गोववदीए गोपवती संज्ञया—मूलारा० । ३. वीरमती—आ० ।

२ गोववदीए

व्याघ्रादिषु विश्रम्भगमनात्पापीषो विश्रम्भभ्रमन वनितास्त्रिभि कथयत्सुत्रगाथा । 'बन्धाबीया' व्याघ्र-  
विषाधय पूर्वसूत्रनिदिष्टा । 'बोस' दोष । 'नरस्य' नरस्य । 'न करिञ्जणू' न कुर्युः । 'जं कुणदि यहादोसं'  
यं करोति महान्तं दोष । 'बुढ्ठा महिला' दुष्टा वनिता । 'मणुस्सस्स' मनुष्यस्य ॥९४७॥

पाउसकालणदीवोव्व ताओ णिच्चं पि कलुसहिदयाओ ।

धणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जगुण्याओ ॥९४८॥

'पाउसकालणदीवोव्व' प्रायुट्कालस्य नद्य इव । 'ताओ' ता । 'णिच्च पि' नित्यमपि । 'कलुस्स-  
हिदयाओ' कलुषहृदया । स्त्रीषु हृदयशब्देन चित्तमुच्यते । नदीष्वभ्यन्तर । रामेण, द्वेषेण, मोहेन, ईर्ष्याया,  
असूयया, मायया वा कलुषोक्तमेव चित्त तासा । 'चोरोव्व' चोर इव । 'सकज्जगुण्याओ' स्वकार्ये गुर्य्य ।  
'धणहरणकदमदीओ' धनापहरणे कृतबुद्धय । चोरा अपि कथमस्माभिरिदमेतदीयमात्मसाकृत भवतीति कृत-  
बुद्धय । ता अपि मधुरवचनेन रतिक्रीडानुकूलतया वा पुरुषस्य द्रव्यमाहनु मुचता ॥९४८॥

रोगो दारिहं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिमस्स ।

ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥९४९॥

'रोगो दारिहं वा' व्याधिरदारिद्र्य वा । जरा वा । 'ण उववि' न ढोकते यावत्पुष्य । 'ताव पिओ होवि  
णरो' तावत्प्रियो भवति नर । 'कुलपुत्तीए वि' कुलपुत्र्या अपि । महिलाए कान्ताया । कुलपुत्रीषु वान्या ।  
किमस्ति साध्वो हि प्रायेण कुलपुत्र्य पतिमेव देवतेति मन्थमाना प्रिय त्यजन्तीति ॥९४९॥

जुण्णो व दरिहो वा रोगी सो चेव ढोइ से वेमो ।

णिप्पीलिओव्व उच्छू मालाव मिलाय गदगंधा ॥९५०॥

व्याघ्रादिमे विश्वास करनेकी अपेक्षा स्त्रियोंमें विश्वास करना अधिक खतरनाक है यह  
कहते हैं—

गा०—पूर्वगाथामे कहे गये व्याघ्र आदि मनुष्यका उतना अहित नहीं करने, जितना  
महान् अहित दुष्ट स्त्री करती है ॥९४७॥

गा०—टी०—वर्षाकालकी नदियोंकी तरह स्त्रियाका हृदय भी नित्य कलुषित रहता है ।  
स्त्रियोंके पक्षमे हृदय शब्दका अर्थ चित्त है और नदियोंके पक्षमे अभ्यन्तर है । राग, द्वेष, मोह,  
ईर्ष्या, परनिन्दा अथवा मायाचांगसे स्त्रियोंका चित्त सदा कलुषित रहता है । चोरकी तरह वे  
भी अपना कार्य करनेमे तत्पर रहती है और उनकी बुद्धि मनुष्यका धन हरनेमे रहती है । चोर  
भी यही विचारते रहते है कि कैसे हम इनका धन हरण करे । स्त्रियाँ भी मोटे वचनोसे अथवा  
रतिक्रीडामें अनुकूल बनकर पुरुषका द्रव्य हरनेमे तत्पर रहती है ॥९४८॥

गा०—कुलीन महिलाएँ प्रायः पतिको ही देवता मानकर अपने प्रियको छोड़ देती है ।  
किन्तु कुलीन नारियोंका भी मनुष्य तभी तक प्रिय रहता है जब तक उसे रोग या दारिद्र्य,  
बुढ़ापा नहीं सताता ॥९४९॥

'जुण्णो' वृद्धो वा 'वरिष्ठो' वरिष्ठः । 'रोगिणो' व्याधित । 'सो वेव' स एव युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे वा य. प्रिय स एव 'होवि' भवति । 'से' तस्याः । 'वेसो' द्वेष्य । 'निष्पीलितोष्ण' निष्पीडित इव 'उच्छू' इक्षु । 'मालाव मिलाय गवगवा' मालेव म्लाना नष्टगन्धा । अपहृतस इक्षु शोभारहितनिर्गन्धमाला च यथाऽप्रिया । यौवन, धन, शक्तिश्च पुंसोऽतिशयस्तदपाये नैवासाविष्यते स्त्रीभिः ॥१५०॥

**महिला पुरिसभवण्णाए चैव बंचइ णियडिकवडेहिं ।**

**महिला पुण पुरिसकदं जाणइ कवडं अवण्णाए ॥१५१॥**

'महिला पुरिसभवण्णाए' वनिता पुरुषमनादरेणैव वञ्चयति । निकृत्या कपटतया च स्त्रीभिः कृतां निरुक्तिं वञ्चना शठता च न जानन्ति पुमांसः । 'महिला पुण' वामलोचना पुन 'जाणवि' जानाति । किं ? कपटघात 'पुरिसकदं' पुरुषेण कृत । 'अवण्णाए' अवज्ञया औदासीन्येनैव अवलेशेनेति यावत् ॥१५१॥

नरो होय मन्यते प्रियोऽहमेतस्या इति न' च सा इत्याचष्टे—

**जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ त णरं महिला ।**

**जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥१५२॥**

'जह जह मण्णेइ णरो' यथा यथा मानयति नर तथा तथा परिभवति त नर युवति । 'जह जह कामेइ णरो' यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा 'पुरिसं विमाणेइ' तथा तथा पुरुष विमानयति ॥१५२॥

**मत्तो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविंभलाओ महिलाओ ।**

**दासेव मगे पुरिसे किं पि य ण गणंति महिलाओ ॥१५३॥**

'मत्तो गउव्व' मत्तगज इव । 'णिच्चं' नित्य । 'ताओ मदविंभलाओ' मदेन विह्वला युवतय । 'बासे व सगे पुरिसे' दामे वा स्वपुरुषे वा । 'किं पि य ण गणंति' किञ्चिदपि विशेषजात । 'ण गणंति' नैव गणयन्ति । कुलीनोऽय मान्यो भर्ता स्वामी मम । दास्या पुत्रोऽयं जघन्य अहमस्य स्वामिनोति विवेक (न) करोति ॥१५३॥

गा०—टी०—युवावस्थामे, धनी अवस्थामे अथवा नीरोग अवस्थामे जो मनुष्य स्त्रियोंको प्रिय होता है वही मनुष्य वृद्ध, वरिष्ठ अथवा रोगी होने पर रस निकाली हुई ईखकी तरह अथवा गन्ध रहित मलिन मालाकी तरह अप्रिय होता है । अर्थात् रस निकाली हुई ईख और शोभा रहित गन्धहीन माला जैसे अप्रिय होती है वैसे ही यौवन धन और शक्ति पुरुष की विशेषताएँ हैं, उनके न रहने पर उसे स्त्रियाँ पसन्द नहीं करती ॥१५०॥

गा०—स्त्री पुरुषको छल कपटके द्वारा अनायास ही ठग लेती है, पुरुष स्त्रियोंके छल कपटको जान भी नहीं पाता । किन्तु पुरुषके द्वारा किये गये कपटको स्त्री तुरन्त जान लेती है उसे उसके लिये कुछ भी कष्ट उठाना नहीं होता ॥१५१॥

पुरुष समझता है कि मे इसको प्रिय हैं किन्तु स्त्री ऐसा नहीं समझती, यह कहते हैं—

गा०—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे वैसे स्त्री उसका निरादर करती है । जैसे जैसे मनुष्य उसकी कामना करता है वैसे वैसे वह पुरुषको अवज्ञा करती है ॥१५२॥

गा०—मत्त हाथीको तरह स्त्रियाँ मदसे उन्मत्त रहती हैं । वे अपने दासमे और पतिमें कुछ

१ न चासी प्रिय इ—आ० मु० ; २ स्वामी नेति—ज० ।

अग्निहृत्परश्वदहृदया तावो बग्धीव दुदुहृदयाओ ।  
पुरिस्सस ताव सत् व सदा पावं विचिंतति ॥९५४॥

'अग्निहृत्परश्वदहृदया तावो' अनिभूत परगत हृदयमासांमिति अनिभूतपरगतहृदया भवन्ति । अनिवा-  
रितपरासक्तचित्ततावोषा । 'बग्धीव दुदुहृदयाओ' दुष्टहृदयमासा अकृतेऽप्यकारे यथा व्याघ्री पर मारयितु-  
मेव कृतचित्तेति दुष्टहृदया एवमिमा अपि । 'पुरिस्सस ताव' पुरुषस्य तावत् । 'सत् व सदा पावं विचिंतति'  
शत्रुरिव सदा पापमेव अनुभवेव चेतसि कुर्वन्ति । यथा यो रिपु कश्चित्कस्यचित्सर्वदा धनमस्य विनश्यतु,  
विपदोऽस्य भवन्तिविति चित्त करोति तथैव ता अपि ॥९५४॥

संज्ञाव नरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ।  
वादोव महिलियाण हृदयं अदिचंचलं णिच्चं ॥९५५॥

'संज्ञाव नरेसु सदा ताओ हुंति' सध्या इव नरेषु मदा ता भवन्ति । 'खणमित्तरागाओ' अल्पकाल-  
रागा । अस्थिररागता नाम दोष प्रकटित । यथा सध्याया रक्तता विनाशनी । 'महिलियाण हृदयं अदि-  
चंचलं णिच्चं' स्त्रीणा हृदय अतिचञ्चल नित्य । किमिव ? 'तावो व' वात इव ॥९५५॥

जावइयाइं तणाइ वीचीओ वालिगाव रोमाइं ।  
लोए हवेज्ज ततो महिलाचिंताइ चहुगाइं ॥९५६॥

'जावइयाइ' यावन्ति तृणानि, 'वीचय', बालुका, 'रोमाणि' च जगति ततो युवतीना चिन्ता  
बह्व्यः ॥९५६॥

आगास भूमि उदधी जल मेरू वाउणो वि परिमाण ।  
मादुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण चित्ताइं ॥९५७॥

भी अन्तर नहीं करती । यह मेरा मान्य कुलीन पति है और यह दासीका पुत्र नीच है, मैं इसकी  
स्वामिनी हूँ यह भेद नहीं करती ॥९५३॥

गा०—टी०—उनका चित्त निरन्तर पर पुरुषमें रहना है । तथा व्याघ्रीकी तरह उनका  
हृदय दुष्ट होता है । जैसे व्याघ्री कोई अपकार न करने पर भी दूसरेको मारनेका ही विचार  
रखती है उसी तरह ये स्त्रियाँ भी होती हैं । वे शत्रुके समान सदा पुरुषके अशुभका ही चिन्तन  
करती हैं । जैसे किसीका कोई शत्रु सदा चित्तमें सोचता रहता है—इसका धन नष्ट हो जाये,  
इस पर विपत्तियाँ आयें, वैसे ही स्त्रियाँ भी सदा बुरा विचारा करती हैं ॥९५४॥

गा०—सन्ध्याकी तरह स्त्रियोका राग भी अल्प काल रहता है । जैसे सन्ध्याकी लालिमा  
विनाशक है वैसे ही स्त्रियोका अनुराग भी विनाशक है । इससे अस्थिर रागता नामक दोष  
प्रकट किया है । तथा महिलाओका हृदय वायु को तरह सदा अति चंचल होता है ॥९५५॥

गा०—लोकमें जितने तृण हैं, (समुद्रमें) जितनी लहरें हैं, बालुके जितने कण हैं तथा  
जितने रोम हैं, उनसे भी अधिक स्त्रियोके मनोबिकल्प हैं ॥९५६॥

'आकाशभूमि' आकाशस्य भूमेरुदधेर्जलस्य, मेरोवायोश्च परिमाणमस्ति । स्त्रीणां चित्तं पुनर्मातुं न शक्यमस्ति ॥१५७॥

चिह्नंति जहा ण चिरं विज्जुज्जलमुब्बुदो व उक्का वा ।

तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे ह्वदि पीदी ॥१५८॥

'जहा ण चिरं चिट्ठंति' यथा न चिरं तिष्ठन्ति विद्युत् । जलबुद्बुदा उल्काश्च तथा बनितानां न कस्मिश्चित्पुरुषे प्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥१५८॥

परमाणू वि क्कहंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुस्सस्स ।

ण य सक्का घेतुं जे चित्तं महिलाए अदिसण्हं ॥१५९॥

परमाणुरपि कथचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमागच्छेत् । बनितानां चित्तं पुन ग्रहीतुं न शक्यमस्ति-सूक्ष्मं ॥१५९॥

कुविदो व किण्हसप्पो दुट्ठो सीहो गओ मदगलो वा ।

सक्का ह्वेज्ज घेतुं ण य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥१६०॥

'कुविदो व' कुपित कृष्णसर्पः दुष्टः सिंहो, मदगजो वा ग्रहीतुं शक्यते । न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्ट-बनितचित्तम् ॥१६०॥

मक्कं ह्विज्ज दट्ठुं विज्जुज्जोएण रूवमच्छिम्मि ।

ण य महिलाए चित्तं सक्का अदिचंचलं णादुं ॥१६१॥

'सक्कं ह्वेज्ज' विद्युद्द्योतेन अक्षिस्य रूपं द्रष्टुं शक्यं न पुन्युवतिचित्तमतिचपलं अवगन्तुं शक्यम् ॥१६१॥

गा०—आकाशकी भूमि, समुद्रके जल, सुमेरु और वायुका भी परिमाण मापना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके चित्तका मापना शक्य नहीं है ॥१५७॥

गा०—जैसे विजली, पानीका बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नहीं रहते, वैसे ही स्त्रियोंकी प्रीति एक पुरुषमे बहुत समय तक नहीं रहती ॥१५८॥

गा०—परमाणु भी किसी प्रकार मनुष्यकी पकड़मे आ सकता है । किन्तु स्त्रियोंका चित्त पकड़में आना शक्य नहीं है वह परमाणुसे भी अति सूक्ष्म है ॥१५९॥

गा०—ऋद्ध कृष्ण सर्प, दुष्ट सिंह, मदोन्मत् हाथीको पकड़ना शक्य हो सकता है किन्तु दुष्ट स्त्रियोंके चित्तको पकड़ पाना शक्य नहीं है ॥१६०॥

गा०—विजलीके प्रकाशमे नेत्रमें स्थित रूपको देखना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके अति चंचल चित्तको जान लेना शक्य नहीं है ॥१६१॥

'अणुवचणाए गुणवयणेहि य चित्तं हरंति पुरिसस्स ।  
 मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिस ण याणंति ॥९६२॥  
 'अलिएहिं इसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ।  
 पुरिसस्स चलं चित्तं हरंति कवडाओ महिलाओ ॥९६३॥  
 महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पहणदि य पावहिदएण ।  
 वयणे अमयं चिट्ठदि हियए य विसं महिलियाए ॥९६४॥

'महिला पुरिसं वयणेहिं' यनिता पुरुष वचनंहरति । हन्ति च पापेन हृदयेन । वाक्ये मधु तिष्ठति ।  
 हृदये विषं युवतीनाम् ॥९६४॥

<sup>३</sup>तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्टिमंसपरिसेसं ।  
 उदाहति वर्धति य बडिसामिसलग्गमच्छं व ॥९६५॥  
 उदए पवेज्ज हि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ।  
 ण य महिलाण कदाई उज्जुयभावो णरेसु हवे ॥९६६॥

'उदए पवेज्ज लु' उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न दहेत्, शीतलो वा भवेत् । नैव यनिताना कदा-  
 चिन्नरेषु ऋजु भवति मन ॥९६६॥

उज्जुयभावम्मि असनयम्मि किंघ होदि तासु वीसभो ।  
 विस्संभम्मि असंते का होज्ज रदी महिलियासु ॥९६७॥

गा०—जब तक वे पुरुषको अपनेमे अनुरक्त नहीं जानती तब तक वे पुरुषके अनुकूल वर्तन-  
 के द्वारा तथा प्रशंसा परक वचनोके द्वारा पुरुषके मनको उसी प्रकार आकृष्ट करती है जैसे माता  
 बालकके मनको आकृष्ट करती है ॥९६२॥

गा०—बनावटी हास्य वचनोसे, बनावटी रुदनसे, झूठी शपथोसे कपटी स्त्रियां पुरुषके  
 चंचल चित्तको हरती है ॥९६३॥

गा०—स्त्री वचनोके द्वारा पुरुषको आकृष्ट करती है और पापपूर्ण हृदयसे उसका घात  
 करती है । स्त्रीके वचनोमे अमृत भरा रहता है और हृदयमे विष भरा होता है ॥९६४॥

गा०—जब वे जानती हैं कि हमारेमे अनुरक्त पुरुषके पास चाम हड्डी और मांस ही शेष है  
 तो उसे बशोमे लगे मासके लोभसे फैसे मत्स्यकी तरह संताप देकर मार डालती हैं ॥९६५॥

गा०—शिला पानीमे तिर सकती है । आग भी न जलाकर शीतल हो सकती है किन्तु  
 स्त्रीका मनुष्यके प्रति कभी भी सरल भाव नहीं होता ॥९६६॥

गा०—सरल भावके अभावमें कैसे उनमे विश्वास हो सकता है । और विश्वासके अभावमे  
 स्त्रियोमें प्रेम कैसे हो सकता है ॥९६७॥

१-२. एते द्वे अपि गाये टीकाकारो नेच्छति । ३. एता टीकाकारो नेच्छति ।



'उच्चुपमावन्धि' ऋजुभावे असति कथं भवति तामु विस्मयम् । असति विस्मये का वनितामु रतिः ॥९६७॥

गच्छिञ्ज समुद्रस्स वि पारं पुरिसो तरित्तु ओषवलो ।

मायाजलमहिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥९६८॥

'गच्छिञ्ज' गच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः । मायाजलवनितादधिपारं नैव गन्तुं शक्नोति ॥९६८॥

रदणाउला सवग्भावगुहा गाहाउला च रम्मणदी ।

मधुरा रमणिज्जावि य सदा य महिला सदोसा य ॥९६९॥

'रदणाउला' रत्नसंकीर्णा सव्याघ्रा गुहेन रम्या नदी प्राहाकुलेन मधुरा रम्या सदा सदोषा च वनिता ॥९६९॥

दिट्ठं पि सम्भावं पडिज्जदि णियडिमेव उद्देदि ।

गोघाणुलुकमिच्छी करोदि पुरिस्स कुलजावि ॥९७०॥

'दिट्ठं'पि' दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निकृतिमेवोपन्यस्यति ॥९७०॥

पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि बहुगा णिरुत्तिवादिम्मि ।

दोसे 'संघादिदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥९७१॥

'पुरिसं वधमुवणेदित्ति' पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते । मनुष्यस्य दोषान्सहताम्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥९७१॥

शा०—महाबलशाली मनुष्य समुद्रको भी पार करके जा सकता है । किन्तु मायारूपी जलसे भरे स्त्रीरूपी समुद्रको पार नहीं कर सकता ॥९६८॥

शा०—रत्नोंसे भरी किन्तु व्याघ्रके निवाससे युक्त गुफा और मगरमच्छसे भरी सुन्दर नदीकी तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है ॥९६९॥

शा०—दूसरेने स्त्रीमे दोष देखा हो तो भी स्त्री यह स्वीकार नहीं करती कि मेरेमे यह दोष है । प्रत्यत यही कहती है कि मेरा यह दोष नहीं है या मैंने ऐसा नहीं किया है । इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे गौह जिस भूमिको पकड लेती है, बलपूर्वक छुडाने पर भी उसे नहीं छोडती । उसी प्रकार स्त्री भी अपने द्वारा गृहीत पदको नहीं छोडती । अन्य भी अर्थ टीकाकारोंने किया है—जैसे गौह पुरुषको देखकर उससे अपनेको छिपाती है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषको देखकर अपनेको छिपाती है कि यह मुझे न देख सकें । अथवा दूसरेने कोई अच्छा कार्य किया और स्त्रीने उसे देखा भी, फिर भी वह उसे स्वीकार नहीं करती, बल्कि व्यंग रूपसे उसको बुरा ही कहती है ॥९७०॥

शा०—स्त्री वाचक शब्दोंकी निरुक्तिके द्वारा भी स्त्रीके दोष प्रकट होते हैं—पुरुषका वध करती है इसलिये उसे वधू कहते है । मनुष्यमे दोषोंको एकत्र करती है इसलिये स्त्री कहते है ॥९७१॥

तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे णारी ।

पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ॥९७२॥

'तारिसओ' तादृगन्म्यो नरस्य नारिरस्तीति नारीत्युच्यते । पुरुषं सदा प्रमत्तं करोतीति प्रमदेति निरुच्यते ॥९७२॥

'गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ।

जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥९७३॥

'अवलत्ति होदि जं से ण दढं हियम्मि चिदिबलं अत्थि ।

कुम्भरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥९७४॥

'आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा ।

एयं महिलाणामाणि होंति असुभाणि सन्वाणि ॥९७५॥

णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ।

आयसस्सावसघो महिला मूलं च कलहस्स ॥९७६॥

'णिलओ कलीए' कलेनिलय । व्यलीकस्यालय' । अविनयस्याकर । आयासस्यावकाशः । कलहस्य च मूलं युवति । ॥९७६॥

सोगस्स सरी वेरस्स खणी णिवहो वि होइ कोहस्स ।

णिचओ णियडीणं आसवो महिला अकित्तीए ॥९७७॥

'सोगस्स सरो' शोकनिम्नगाया नदी । वेरस्य खनि । निवह कोपस्य । निचयो निकृतीनां । अकीर्तैराश्रयो युवति । ॥९७७॥

गा०—मनुष्यका ऐसा 'अरि' शत्रु दूसरा नहीं है इसलिए उसे नारी कहते हैं । पुरुषको सदा प्रमत्त करती है इसलिये उसे प्रमदा कहते हैं ॥९७२॥

गा०—पुरुषके गलेमें अनर्थ लाती है । अथवा पुरुषको देखकर विलीन होनी है इसलिए विलया कहते हैं । पुरुषको दुःखसे योजित करती है इससे युवती और योषा कहते हैं ॥९७३॥

गा०—उसके हृदयमें धैर्यरूपी बल नहीं होता अतः वह अबला कही जाती है । कुमरणका उपाय उत्पन्न करनेसे कुमारी कहते हैं ॥९७४॥

गा०—पुरुष पर आल—दोषारोप करती है इसलिए महिला कहते हैं । इस प्रकार स्त्रियोके सब नाम अशुभ होते हैं ॥९७५॥

गा०—स्त्री रागद्वेषका घर है । असत्यका आश्रय है । अविनयका आवास है, कष्टका निकेतन है और कलहका मूल है ॥९७६॥

गा०—शोकको नदी है । वेरकी खान है । क्रोधका पुंज है । मायाचारका ढेर है । अपयशका आश्रय है ॥९७७॥

पासो अत्यस्स खजो देहस्स य दुग्गदीपमग्गो य ।

आवाहो य अणत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥९७८॥

'पासो अत्यस्स' अर्धस्य नाशः । देहस्य क्षयः । दुर्गतेर्मार्गः । अनर्धस्य कुल्या । दोषाणां प्रभवः ॥९७८॥

महिला विग्घो घम्मस्स होदि परिहो य मोक्खमग्गस्स ।

दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विपत्ती' ॥९७९॥

'महिला विग्घो' वनिता विघ्नो भवति । 'घम्मस्स' धर्मस्य । 'परिहो' मोक्षमार्गस्य । दुःखानां उत्पत्तिः । सुखानां च विपत्तिः ॥९७९॥

पासो व बंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ।

सिल्लं व विंधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥९८०॥

'पासो व बंधिदुं जे' पास इव बंधितुं । सुगमा गाथा इति नादरो व्याख्यानं ॥९८०॥

सूलो इव भित्तुं जे होइ पवोदुं तहा गिरिणदी वा ।

पुरिसस्स खुप्पदुं कइमोव मचुव्व मरिदुं जे ॥९८१॥

अग्गीवि य डहिदुं जे मदोव पुरिसस्स मुज्जिदुं महिला ।

महिला णिकत्तिदुं करकचोव कंइव पउलेदुं ॥९८२॥

पाडेदुं परसू वा होदि तह मुग्गरो व ताडेदुं ।

अवहणणं पि य चुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥९८३॥

गा०—धनका नाश करने वाली है । शरीरका क्षय करती है । दुर्गंतिका मार्ग है । अनर्थके लिए प्याऊ है और दोषोका उत्पत्ति स्थान है ॥९७८॥

गा०—स्त्री धर्ममे विघ्नरूप है । मोक्षमार्गके लिए अर्गला (साकल) है, दुःखोकी उत्पत्तिका स्थान है और सुखोके लिए विपत्ति है ॥९७९॥

गा०—स्त्री पुरुषको बांधनेके लिए पासके समान है । मनुष्यको काटनेके लिए तलवारके समान है । बीधनेके लिये भालके समान है और डूबनेके लिये पकके समान है ॥९८०॥

गा०—स्त्री मनुष्यके भेदनेके लिए शूलके समान है । सप्सर रूपी समुद्रमे गिरनेके लिए नदीके समान है । खपानेके लिए दलदलके समान है । मारनेको मृत्युके समान है ॥९८१॥

गा०—जलानेको आगके समान है । मदहोश करनेके लिए मदिराके समान है । काटनेके लिए धारके समान है । पकानेके लिए हलवाईके समान है ॥९८२॥

गा०—विदारण करनेके लिए फरसाके समान है । तोड़नेके लिए मुद्गरके समान है, चूर्ण करनेके लिए लुहारके घनके समान है ॥९८३॥

चंदो हविज्ज उण्हो सीदो स्रो वि थड्डमागासं ।  
 ण य होज्ज अदोसा महिया वि कुलबालिया महिला ॥९८४॥  
 एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चित्तयदो ।  
 महिलाहितो विचित्तं उच्चियदि विसग्गिसरसीहिं ॥९८५॥  
 वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ।  
 तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ ॥९८६॥  
 महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीयाणं ।  
 तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसच्चिजुचाणं ॥९८७॥  
 जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिदिदाओ महिलाओ ।  
 तह सीलरक्खियाणं महिलाणं णिदिदा पुरिसा ॥९८८॥  
 किं पुण गुणसहिदाओ इत्थिओ अत्थि वित्थडजसाओ ।  
 णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥९८९॥  
 तित्थयरचक्कघरवासुदेवबलदेवगणघरवराण ।  
 जणणीओ महिलाओ सुरणरवरोहिं महियाओ ॥९९०॥

गा०—कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो जाय, सूर्य भीतल हो जाय, आकाश कठोर हो जाय, किन्तु कुलीन स्त्री भी निर्दोष और भद्र परिणामी नहीं होती ॥९८४॥

गा०—स्त्रियोंके इन तथा अन्य बहुतसे दोषोंका विचार करने वाले पुरुषोंका मन विप और आगके समान स्त्रियोंसे विमुख हो जाता है ॥९८५॥

गा०—जैसे पुरुष व्याघ्र आदिके दोष देखकर व्याघ्र आदिकोंका त्याग देना है उनसे दूर रहता है, वैसे ही स्त्रियोंके दोष देखकर मनुष्य स्त्रियोंसे दूर हो जाता है ॥९८६॥

गा०—स्त्रियोंमें जो दोष होते हैं वे दोष नीच पुरुषोंमें भी होते हैं अथवा मनुष्योंमें जो बल और शक्तिसे युक्त होते हैं उनमें स्त्रियोंसे भी अधिक दोष होते हैं ॥९८७॥

गा०—जैसे अपने शीलकी रक्षा करने वाले पुरुषोंके लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं। वैसे ही अपने शीलकी रक्षा करने वाली स्त्रियोंके लिए पुरुष निन्दनीय हैं ॥९८८॥

गा०—जो गुणसहित स्त्रियाँ हैं, जिनका यश लोकमें फैला हुआ है, तथा जो मनुष्य लोकमें देवता समान हैं और देवोंसे पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है ॥९८९॥

गा०—तीर्थकर, चक्रवर्ती, वामुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरोंको जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषोंके द्वारा पूजनीय होती हैं ॥९९०॥

एगपदिष्वइकृष्णावयाणि धारिति किति<sup>१</sup> महिलाओ ।  
 वेधन्वतिष्वदुक्खं आजीवं णिति काओ वि ॥९९१॥  
 शीलवदीवो सुच्चंति महीयले पचयाडिहेराओ ।  
 सावाणुग्गाहसमत्थाओ वि य काओवि महिलाओ ॥९९२॥  
 ओग्घेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण दड्ढाओ ।  
 सप्पेहिं सावदेहिं य परिहरिदाओव काओ वि ॥९९३॥  
 सच्चगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं ।  
 चरमाणं जणणित्तं पचाओ हवंति काओ वि ॥९९४॥  
 मोहोदयेण जीवो सच्चो दुस्सीलमइल्लिदो होदि ।  
 सो पुण सच्चो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णो ॥९९५॥  
 तम्हा सा पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिक्किच्चा ।  
 शीलवदीओ भणिदे दोसे किह णाम पावंति ॥९९६॥

इत्थिगदा ॥९९६॥

स्त्रीगतान्दोषानभिवाच्य अशुचिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

देहस्स चीयणिप्पत्तिस्सेत्तआहारजम्मवुड्ढीओ ।  
 अवयवणिग्गामअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥९९७॥

गा०—कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कौमार ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती है । कितनी ही जीवन पर्यन्त वेधव्यका तीव्र दुःख भोगती हैं ॥९९१॥ ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हे देवोके द्वारा सन्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शीलके प्रभावसे शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ थी ॥९९२॥ कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदीके जल प्रवाहमें भी नहीं डूब सकीं और प्रज्वलित घोर आगमें भी नहीं जल सकी तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके ॥९९३॥ कितनी ही स्त्रियाँ सर्व गुणोंसे सम्पन्न साधुओं और पुरुषोंमें श्रेष्ठ चरम शरीरी पुरुषोंको जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं ॥९९४॥ सब जीव मोहके उदयसे कुशीलसे मलिन होते हैं । और वह मोहका उदय स्त्री-पुरुषोंके समान रूपसे होता है ॥९९५॥

गा०—अतः ऊपर जो स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन किया है वह स्त्री सामान्यकी दृष्टिसे किया है । शीलवती स्त्रियोंमें ऊपर कहे दोष कैसे हो सकते हैं ॥९९६॥

इस प्रकार स्त्रियोंके गुण-दोषोंका वर्णन सम्पूर्ण हुआ । स्त्रियोंके दोषोंको कहनेके पश्चात् अशुचित्वका कथन करते हैं—

१. कितिमालाओ इति पाठान्तरं मूलारा० । २. सावज्जेहि वि हरिवा सद्धान काओवि—आ०मु० ।

३. पणवणा आ० ।

देहस्य बीज इत्यादिकः । देहस्य बीजं, निष्पत्ति, क्षेत्रं, आहारः, जन्म, वृद्धिः, अवयव, निर्गमः, अशुचिः, व्याधिरध्नु बलेत्येतान्पश्येति सूरिर्ब्रवीति क्षपकं ॥१९७॥

देहस्य बीजमित्येतद्व्याख्यानायोत्तरगाथा—

देहस्स सुष्कसोणिय असुई परिणामिकारणं जग्हा ।

देहो वि होइ असुई अमेज्जघदपरओ व तदो ॥१९८॥

'देहस्य बीजं' मनुजाना शुक्रशोणितं । अशुचि शुक्रं पुस, शोणितं च वनिताया परिणामि कारण । 'जग्हा' यस्मात् । परिणामिकारण शरीरत्वेन तदुभय परिणमति तस्मात्परिणामिकारण । 'देहोवि अशुच' शरीर-मपि अशुचि तत एव । 'अमेज्जघदपरओ व' अमेध्यघृतपूरक इव । यदशुचिपरिणामि कारणं तदशुचि यथाऽ-मेध्यघृतपूरकः अशुचिपरिणामिकारणं च शरीर इति सूत्रार्थं ॥१९८॥

दट्ठुं वि अमेज्जमिव विहिसणीयं कुदो पुणो होज्ज ।

ओज्जिग्घिदुमालद्धुं परिभोत्तुं चावि तं वीयं ॥१९९॥

'दट्ठुं वि य' द्रष्टुमपि । 'विहिसणीय' जुगुप्सनीय । 'अमेज्जमिव' अमेध्यमिव । 'कुदो पुणो होज्ज ओज्जिग्घिदु' कुत पुनर्भवेदाघातु । 'आलद्धु' आलिङ्गितु । 'परिभोत्तुं चावि' परिभोक्तु चापि । 'त वीयं' तत् शुक्रशोणिताख्य बीज । तत्परिणामत्वाच्छरीरमपि तदेव बीजमिद शरीरमिति मत्वा बीजमिति उक्तं ॥१९९॥

परिणामिकारणशुद्ध्या तत्परिणामरूप कार्यं शुद्ध भवति शरीर न तथेति कथयति—

समिदकदो घदपुणो सुज्जदि सुदत्तणेण समिदस्स ।

असुचिम्मि तम्मि बीए क्ह देहो सो हवे सुद्धो ॥१००॥

गा०—हे क्षपक ! ब्रह्मचर्यं व्रतकी सिद्धिके लिए मनुष्योंके शरीरके बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, जन्मके पश्चात् होने वाली वृद्धि, अवयव, कान आदि अंगोसे निकलने वाला मल, अशुचिता, व्याधि और अध्रुवपनको देखो । ऐसा आचार्य कहते है ॥१९७॥

गा०—टी०—मनुष्योंके शरीरका बीज रज और वीर्य है जो अशुचि है । वही परिणामिकारण है । पुष्पका वीर्य और स्त्रीका रज ये दोनो शरीर रूपसे परिणमन करते है इसलिए ये दोनों परिणामिकारण है । इसीसे शरीर भी अशुचि है जैसे मलमे बना घेवर अशुचि होता है । जिसका परिणामिकारण अशुचि होता है वह अशुचि होता है । जैसे मलिन वस्तुसे बना घेवर । शरीरका परिणामिकारण रज और वीर्य अशुचि है इसलिए शरीर अशुचि है । यह इस गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥१९८॥

गा०—जो विद्याकी तरह देवनेमे भी ग्लानिके योग्य है वह रज और वीर्य नामक बीज सूषने, आलिंगन करने और भोगनेके योग्य कैसे हो सकता है ? रज और वीर्य रूप बीज शरीरका परिणामिकारण है अतः शरीरको बीज मानकर 'बीज' शब्दसे शरीरका निर्देश किया है ॥१९९॥

आगे कहते हैं कि परिणामिकारणके शुद्ध होनेसे उसका परिणाम रूप कार्य शुद्ध होता है—

गा०—जैसे 'समिद' अर्थात् गेहूँके चूर्णसे बना घेवर शुद्ध होता है क्योंकि उसका परिणामि-

'समिबन्धो छवपुणो सुखसि' कणिकाकृत घृतपूर्णकं 'सुखसि' शुद्धयति । 'शुद्धसन्धेन' शुद्धतया । 'समिबन्ध' कणिकाद्रव्यस्य । 'असुखिन्मि बीए' असुखिबीजे तस्मिन्स्थिते । 'कह देहो सो हवे सुद्धो' देह-परिणाम-कथं शुद्धयति । बीयं ॥१०००॥

शरीरनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं ।

थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गन्मम्मि तं बीयं ॥१००१॥

'कललगद' कललत्व नाम पर्यायं त गत प्राप्त बीज दश दिनमात्र । 'अच्छदि' आस्ते । 'कलुसीकदं' च कलुषीकृतं च । दश रात्रमात्रं अवतिष्ठते । 'थिरभूदं दसरत्तं' स्थिरभूत यावद्दशदिनमात्र । 'अच्छदि' आस्ते । 'गन्मम्मि' गर्भे । 'तं बीजं' तद्बीज ॥१००१॥

ततो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं ।

जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥१००२॥

'ततो' स्थिरभावोत्तरकाल । 'मासं बुब्बुदभूत अच्छदि' मासमात्र बुद्बुद इव आस्ते । 'पुणो वि घणभूदं' पुनरपि घनभूत । 'जायदि मासेण' जायते मासेन ततोऽपि घनभावादुत्तरकाल । 'मासेण' मासेन । 'मंसप्पेसीय' मामपेशो भवति ॥१००२॥

मासेण पंच पुलगा ततो हुंति हु पुणो वि मासेण ।

अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायति गन्मम्मि ॥१००३॥

'मासेण पंच पुलगा' मासेन पञ्च पुलका भवन्ति । 'पुणो वि मासेण' पुनस्तरेण मासेन । 'अंगाणि उवंगाणि य' अङ्गान्युपाङ्गानि च । 'णरस्स जायति गन्मम्मि' नरस्य जायन्ते गर्भे ॥१००३॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ।

फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००४॥

कारण गेहूँका चूर्णं शुद्ध है । किन्तु जिसका बीज अशुद्ध है उससे बना शरीर शुद्ध कैसे हो सकता है ॥१०००॥

शरीरकी रचनाका क्रम कहते हैं—

गा०—गर्भमें स्थित माताका रज और पिताका वीर्यरूप बीज दस दिनतक कललरूपमें रहता है । फिर दस दिन तक कालमारूप होता है फिर दस दिन तक स्थिर रहता है ॥१००१॥

गा०—स्थिर होनेके पश्चात् एक मास तक बुलबुलेकी तरह रहता है । पुनः एक मास तक घनभूत अर्थात् कठोररूप रहता है । फिर एकमासमें मांसके पिण्डरूप होता है ॥१००२॥

गा०—पाँचवें मासमें उस मांसपिण्डमेंसे दो हाथ, दो पैर और सिरके रूपमें पाँच अंकुर उगते हैं । छठे मासमें उस बालकके अंग और उपांग बनते हैं ॥१००३॥

बिषेवाचार्थ—दो पैर, दो हाथ, एक नितम्ब, एक छाती, एक पीठ, एक सिर ये आठ अंग हैं । और कान, नाक, गाल, ओठ, आँख, अँगुलि आदि उपांग हैं ॥१००३॥

'मासग्नि सप्तमे' सप्तमे मासे । 'तस्य' तस्य गर्भस्थस्य । 'बन्धनहरोत्तमिष्यती होषि' नर्मनक्षरोम-  
निष्पत्तिर्भवति । 'पञ्चममहोत्तममासे' स्पन्दनमीषच्छलनं अष्टमे मासे । 'नवमे दसमे य जिन्माम्ब' नवमे दशमे  
चोदराग्निर्गमनं भवति ॥१००४॥

सञ्चासु अवत्थासु वि कल्लादीयाणि ताणि सञ्चाणि ।

असुईणि अमिज्जाणि य विहिंसणिज्जाणि णिच्चंपि ॥१००५॥

'सञ्चासु अवत्थासु वि' सर्वास्वप्यवत्थासु शूक्रशोणितयो । 'कल्लादियाणि' कललमनुदमित्यादि-  
कानि । 'सञ्चाणि असुईणि' सर्वाणि अशुचोनि । 'अमेष्ठाणि' अमेध्यमिव । 'विहिंसणिज्जाणि' जुगुप्सनी-  
यानि । 'णिच्चं पि' नित्यमपि ॥१००५॥ जिप्पत्ति गद ।

गर्भेऽवस्थानक्रमं अशुभं कथयत्युत्तरगाथया—

आमासयम्मि पक्कासयस्स उवरिं अमेज्जमज्जम्मि ।

वत्थिपडलपच्छण्णो अच्छइ गन्मे हु णवमासं ॥१००६॥

'आमासयम्मि' आमाशये । आममुच्यते भुक्तमशनमुदराग्निना अपक्व तस्य आशय स्थानं तस्मिन् ।  
'पक्कासयस्स उवरिं' जाठरेण अग्निना पक्व आहारं पक्व तस्य आशय स्थानं । तत उपरि । 'अमेज्जमज्जम्मि'  
अमेध्ययोः पक्वापक्वयोर्मध्ये । 'गन्मे अच्छइ' आस्ते गर्भे । कीदृक् 'वत्थिपडलपच्छण्णो' वितत मास-  
शोणित जालसंस्थानीयं वत्थिपडलशब्देनोच्यते तेन प्रतिच्छन्नं । कियन्त कालमास्ते ? णवमासं उपलक्षणं नव-  
मासप्रहणं दशमासमात्रमप्यवस्थानात् ॥१००६॥

अशुचिस्थाने अवस्थितः स्वल्पकालं यदि जुगुप्स्यते चिरकालावस्थित कथमयं न जुगुप्सनीय इत्यावष्टे—

वमिदा अमेज्जमज्जे मासंपि समक्खमच्छिदो पुरिसो ।

होदि हु विहिंसणिज्जो अदि वि सयणीयन्लओ होज्ज ॥१००७॥

गा०—सातवें मासमें उस गर्भस्थ पिण्डपर चर्म, नख और रोम बनते हैं । आठवें मासमें  
उसमें हलन-चलन होने लगता है । नौवें अथवा दसवें मासमें उसका जन्म होता है ॥१००८॥

गा०—रज और वीर्यकी सब अवस्थानोंमें वे सब कलिल आदि अशुचि और विष्टाकी  
तरह सदा ग्लानिकारक होते हैं ॥१००५॥

आगे गर्भका स्थान और उसकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—आमाशयसे नीचे और पक्वाशयसे ऊपर इन दोनों अशुचि स्थानोंके मध्यमें गर्भाशय  
होता है । उसमें वस्तिपटलसे वेष्टित होकर प्राणी नीमास तक रहता है ॥१००६॥

टी०—खाया हुआ भोजन, उदराग्निसे द्वारा पकता नहीं है उसे आम कहते हैं उसके  
स्थानको आमाशय कहते हैं । और उदराग्निसे द्वारा पके आहारको पक्व कहते हैं । उसके स्थान-  
को पक्वाशय कहते हैं । इन अपक्व और पक्वके मध्यमें गर्भस्थान होता है । उसमें शिशु नौ मास  
तक रहता है । नौ मास तो उपलक्षण है अतः दस मासमात्र भी रहता है । रुधिर और मांसके  
जालको वस्तिपटल कहते हैं । उससे गर्भस्थ बालक चारों ओरसे वेष्टित रहता है ॥१००६॥

आगे कहते हैं कि अपवित्र गन्धे स्थानमें धोड़े समयके लिए भी यदि रहना पड़े तो ग्लानि  
होती है तब नौ दस मास तक ऐसे स्थानमें रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है ?



'बमिगा अमेज्जमज्जम्मे' वाण्तस्य अमेध्यस्य च मध्ये । 'मासंभि' मासमात्रमपि 'समकालमण्डलो' स्वप्रत्य-  
क्षात्वा विव्यतः पुरुषः । क्षु शब्द एवकारार्थः स च क्रियापवात्परौ ब्रूष्य' । 'बिहिसणिको' इत्यतः परतः ।  
'बिहिसणो होबि' इति जुगुप्सनीय एव भवति नाजुगुप्स्य इति यावत् । 'अवि वि सयणीयस्सलो होज्ज'  
यद्यपि बन्धुमंत्रेत् ॥१००७॥

किह पुण णवदसमासे उसिदो बमिगा अमेज्जमज्जम्मि ।

होज्ज ण विहिसणिको जदि वि सय णीयन्लओ होज्ज ॥१००८॥

'किह पुण' कथ पुन । 'न होज्ज बिहिसणिको' न भवेज्जुगुप्सनीय । 'णवदसमासे उसिदो' नवमास  
दशमासं वावस्थित । 'बमिगा अमेज्जमज्जम्मि' मात्रा उपयुक्त आहारो विमिगाशब्देनोच्यते । शेष  
सुगमः ॥१००८॥ खित्त गर्द ।

येनाहारेणासाक्षुपचित्तरीरो जातस्तमाचष्टे—

दंतोहि चच्चिदं वीलण च सिमेण मेलिदं सतं ।

मायाहारियमण्णं जुत्तं पित्तेण कडुएण ॥१००९॥

'दंतोहि चच्चिदं' दंतचूर्णित । 'वीलणं' पिच्छल । कथ 'सिमेण मेलिदं सतं' श्लेष्मणा मिश्रित सत् ।  
'मायाहारिवमण्णं' मात्रा भुक्तमन्न । 'कडुएण पित्तेण क्षुत्त' कटुकेन पित्तंन युक्तं ॥१००९॥

बमिगं अमेज्जसरिसं वादविओजिदरसं खलं गग्गे ।

आहारेदि समंता उवरि चिप्पंतगं णिच्चं ॥१०१०॥

'बमिगं' वान्त । 'अमिज्जसरिसं' अमेध्येन सदृश । 'वादविओजिदरसं खलं' वातेन पृथक्कृत रस खल-  
भाग । 'गग्गे आहारेदि णिच्चं' नित्य गर्भस्थो भुङ्क्ते । 'समंता' समन्तात् । 'उवरि' उपरि । 'चिप्पंतगं'  
विगलद्विन्दुक । 'एतेनान्तर समाहारयतीति ज्ञायते ॥१०१०॥

तो सत्तमम्मि मासे उप्पलणालसरिसी हवइ णाही ।

तचो पभूदि पाए वमियं त आहारेदि णाहीए ॥१०११॥

गा०—गन्दे वमनके मध्यमे एकमास पर्यन्त प्रत्यक्षरूपसे रहनेवाला पुरुष, यदि अपना  
इष्टमित्र भी हो तो भी ग्लानिका ही पात्र होता है ॥१००७॥

गा०—तब माताके द्वारा खाये गये वमनरूप आहारको खाकर गन्दे स्थानमे नौ दस मास  
रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है, भले ही वह अपना निकट बन्धु हो ॥१००८॥

गा०—जिस आहारसे उसका शरीर बना उसे कहते है—माताके द्वारा खाया हुआ अन्न  
पहले दाँतोसे चबाया गया। फिर कफके साथ मिलकर चिकना हुआ फिर कटुक पित्तसे युक्त  
हुआ ॥१००९॥

गा०—ऐसा होनेपर वह वमनके ममान गन्दा होता है। वायुके द्वारा उसका रस भाग अलग  
हो जाता है और खलभाग अलग। उसमेसे गिरती हुई बूदको सर्वांगसे गर्भस्थविण्डु नित्य ग्रहण  
करता है। इससे यह ज्ञात होता है कि वह अन्नका रस ग्रहण करता है ॥१०१०॥

१ एतेनान्तरसमाहर्त्तीति घु०, मूलारा० । २ दि माये व-आ० । ततो पाण, म०, मूलारा० ।

तेषां मासानां 'रसं सप्तमन्मि भस्त्रे' रक्तं सप्तमे मासे । 'उष्णलणालसरिती नाहौ हृदइ' उत्पलना-  
रुसदुखीनाभिर्भवति । 'सतो' नाभिनिष्पत्त्युत्तरकालं । 'वमिणं तं आहारेवि जाभोए' वान्तमाहारयति  
नाभ्या ॥१०११॥

वमिणं व अमेज्जं वा आहारिदवं स किं पि ससमक्खं ।

होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि य णियन्लओ होज्ज ॥१०१२॥

'वमिणं व अमिज्जं वा' वान्तममेध्य वा । 'आहारिदवं' भुक्तवान् । 'स किं पि' सकृदपि एकवार ।  
'ससमक्खं' स्वप्रत्यक्त । 'होदि हु विहिंसणिज्जो' भवति जुगुप्सनीयो । 'यदि वि य णियन्लओ होज्ज'  
यद्यपि वन्धुर्गवेत् ॥१०१२॥

किह पुण णवदसमासे आहारेदूण तं णरो वमिणं ।

होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयन्लओ होज्ज ॥१०१३॥

स्पष्टोत्तरा गाथा । आहारगदं सम्भक्त । आहारो निरूपित ॥१०१३॥

जन्मनिरूपणायोक्त रगाथा—

अशुचिं अपेच्छणिज्जं दुग्गंधं मृत्तसोणियदुवारं ।

बोत्तुं पि लज्जणिज्ज पोट्टुमूह जम्मभूमी से ॥१०१४॥

'अशुचिं' अशुचि । 'अपेच्छणिज्जं' अप्रेक्षणीय । 'दुग्गंधं' दुर्गन्ध । 'मृत्तसोणियदुवारं' मृत्तम्य सोणि-  
तस्य व द्वार । 'बोत्तुं पि लज्जणिज्जं' वक्तुमपि स्वनाम्ना लज्जनीय । 'पोट्टुमूहं' उदरमुख वगङ्ग । 'जम्म-  
भूमी से' जन्मभूमिस्तस्य ॥१०१४॥

जदि दाव विहिंसज्जइ वत्थीए मुहं परस्स आलेट्टु ।

कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सन्लीढपोट्टुमुहो ॥१०१५॥

गा०—इसके पश्चात् सातवें मासमें कमलकी नालके समान नाभि होती है । नाभिके  
बननेके पश्चात् उस वमन किये आहारको नाभिके द्वारा ग्रहण करता है ॥१०११॥

गा०—यदि कोई अपने सामने एक बार भी वमन किये गये आहारको या गन्दे विष्टाको  
खाता है तो अपना प्रिय बन्धु भो यदि हो तो उससे ग्लानि होती है ॥१०१२॥

गा०—तब जो मनुष्य नौ दस महीने उस वमन तुल्य आहारको खाता है वह ग्लानिका  
पात्र क्यों नहीं होगा, भले ही वह अपना प्रियबन्धु हो ॥१०१३॥

इस प्रकार आहारकी अशुचितताका कथन हुआ ।

आगे जन्मका कथन करते हैं—

गा०—उदरका मुख योनि उसका जन्मस्थान है । वहीसे उसका जन्म होता है । वह  
स्थान अशुचि है, देखने योग्य नहीं है, दुर्गन्धयुक्त है, मूत्र और रक्तके निकलनेका द्वार है । उसका  
नाम लेनेमें भी लज्जा आती है ॥१०१४॥

गा०—यदि दूसरेके वस्तिमुख—गुदा अथवा योनिको देखनेमें भी ग्लानि होती है तो जो  
उसका आस्वादन करता है वह ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है ॥१०१५॥

'अवि बाब विहिंसणजवि' यदि तावज्जुगुप्स्यते । 'बत्थोए भूह' वस्तिमुखं । 'परस्स आलट्टु' परस्य द्रष्टुं । 'क्खि सो विहिंसणिज्जो न होज्ज' कथमसौ न जुगुप्सनीयो भवेत् । 'सल्लोडधोदुणुहो' आस्नादित-  
बराङ्ग । ॥१०१५॥

जन्मवृद्धि निरूपयति—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणादि तह चैव लज्जणिज्जाणि ।

मेज्जाभेज्जां कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥१०१६॥

'बालो विहिंसणिज्जाणि कुणवि' बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि करोति । 'तथा चैव लज्जणिज्जाणि'  
तथा चैव लज्जनीयानि । 'मेज्जाभेज्जां' शुच्यशुचि च । 'कज्जाकज्जं किं चि वि अयाणंतो' कार्याकार्यं किंचि-  
दप्यजानन् ॥१०१६॥

अण्णस्स अप्पणो वा सिहाणयस्सेल्लमुत्तपुरिसाणि ।

चम्मट्टिवसापूयादीणि य तुंठे सगे छुमदि ॥१०१७॥

'अण्णस्स अप्पणो वा' अन्यस्यात्मनो वा । सिंघाणं श्लेष्माण । मूत्र, पुरीष, 'चम्मट्टिवसापूयाणि'  
यं चर्म अम्यि वसा पूयादिक वा । 'सगे तुंठे छुमदि' आत्मीये मुखे क्षिपति ॥१०१७॥

जं किं चि खादि जं किं चि कुणादि जं किं चि जंपदि अलज्जो ।

ज किं चि जत्थ तत्थ वि बोसरदि अयाणगो बालो ॥१०१८॥

'जं किं चि खादि' यत्किंचिदत्ति, यत्किंचित्करोति, यत्किंचिज्जत्पत्यलज्ज । 'जं किं चि जत्थ  
तत्थ वि' यत्किंचिद्यत्र तत्र वा शुचावगुचौ वा देशे । 'बोसरदि' भ्युत्सृजति । 'अयाणगो बालो' अज्ञो  
बाल ॥१०१८॥

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभारिंज्ज तदो ।

अप्पाणम्मि वि गच्छे णिव्वेदं किं पुण परंमि ॥१०१९॥

'बालत्तणे कदं' बालत्वे कृत । सर्वमेव यदि स्मरेत्त आत्मन्यपि गच्छेन्निरवेदं किं पुनरन्यस्मिन् ।  
उद्धिद ॥१०१९॥

जन्मके पश्चात् शरीरकी वृद्धिका कथन करते है—

गा०—बालक शुचि अशुचि और कार्य अकार्यको कुछ भी नहीं जानता । तथा निन्दनीय  
और लज्जाके योग्य कार्य करता है ॥१०१६॥

गा०—अपना अथवा दूसरेका कफ, मूत्र, विषा, चमड़ा, हड्डी, चर्बी, पीव, आदि अपने  
मुखमे रख लेता है ॥१०१७॥

गा०—अनजान बालक जो कुछ भी खा लेता है, जो कुछ भी करता है, निर्लज्ज होकर  
जो कुछ भी बोलता है । जिस किसी भी पवित्र या अपवित्र स्थानमे टट्टी पेशाव कर देता  
है ॥१०१८॥

गा०—यदि बचपनमे किये गये सब कार्योंको याद किया जाये तो दूसरेकी तो बात ही  
क्या, अपनेसे ही बैराग्य हो जाय ॥१०१९॥

कुण्मिक्कुडी कुण्मिमेहिं य भरिदा कुण्मिं च सवदि सच्चवो ।

'ताणं व अमेज्जमयं अमेज्जभरिदं सरीरमिणं ॥१०२०॥

'कुण्मिक्कुवी' कुण्मिता कुटी, 'कुण्मिमेहिं भरिदा' कुण्मितैभरिता । 'कुण्मिं च सवदि सच्चवो' कुण्मितं सर्वत सवति समस्तत् । 'ताणं व अमेज्जमयं' ताणमिव अमेध्यमय । 'अमेज्जभरिदं' अमेध्यपूर्ण । 'सरीरमिणं' शरीरमिदं ॥१०२०॥

वृद्धिक्रमं निरूप्य शरीरावयवानावष्टे—

अट्टीणि हुंति तिण्णि ङ्गु सदाणि भरिदाणि कुण्मिमज्जाए ।

सच्चवम्मि चैव देहे संघीणि हवंति तावदिया ॥१०२१॥

'अट्टीणि हुंति तिण्णि ङ्गु सदाणि' त्रिशतान्वस्थीनि । 'भरिदाणि कुण्मिमज्जाए' पूर्णानि कुण्मितेन मज्जासज्जितेन । 'सच्चवम्मि चैव देहम्मि' सर्वस्मिन्नेव शरीरे । 'संघीणि हवति तावदिया' भन्धिप्रमाणमपि त्रिशतमेव ॥१०२१॥

ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि हवंति सत्तेव ।

देहम्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥१०२२॥

'ण्हारूण णवसदाइं' स्नायुना नवशतानि । 'सिरासदाणि य हवंति सत्तेव' म्रिगणा सप्तशतानि । 'देहम्मि मंसपेसीण हवंति पंचेव य सदाणि' पचशतानि शरीरे मामपेक्ष्य ॥१०२२॥

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तद्दा ।

छच्चेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥१०२३॥

'चत्तारि सिराजालाणि' चत्वारि गिराजालानि गिरासघाता । 'सोलस य कंडराणि तद्दा' षोडश कण्डरसंज्ञितानि तथा । 'छच्चेव सिराकुच्चा' षडेव शिगमूलानि । 'देहे दो मंसरज्जू य' शरीरे मांसरज्जूद्वय ॥१०२३॥

गा०—यह शरीर कुण्मित अर्थात् मलिन वस्तुओंकी कुटी है और मलिन वस्तुओंसे ही भरी है । सब तरफसे महामलिन मल ही उससे बहता रहता है । मलसे भरे पात्रके समान यह शरीर मलसे भरा होनेसे मलमय ही है ॥१०२०॥

शरीरकी वृद्धिका क्रम कहकर शरीरके अवयवोंको कहते हैं—

गा०—इस शरीरमें तीन सौ हड्डियाँ हैं जो कुण्मित मज्जासे भरी हैं । तथा सम्पूर्ण शरीरमें तीन सौ ही सन्धियाँ हैं ॥१०२१॥

गा०—नौ सौ स्नायु हैं । सिराएँ सात सौ हैं । पाँच सौ मास पेशिया हैं १०२२॥

गा०—चाह गिराजाल है । सोलह रक्तसे पूर्ण महाशिगाएँ हैं । छह सिराओंके मूल हैं । दो मास रज्जू है एक पीठ और एक पेटके आश्रित है ॥१०२३॥

सत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि ।

देहम्मि रोमकोडीण होंति 'असीदिं सदसहस्सा ॥१०२४॥

'सत्त तयाओ' सत्त त्वच । 'कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि' सत्तरे कालेयकानि देहे । 'देहम्मि रोमकोडीण' 'असीदिं सदसहस्सा' शरीरे रोमकोटीनां अक्षीतिसत्तसहजाणि ॥१०२४॥

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति ।

कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स ॥१०२५॥

'पक्कामयासयत्था' पक्वाणये आमाशये अवस्थिता । 'अंतगुंजाओ' अन्वयष्टय । 'सोलस हवंति' षोडशैव भवन्ति । 'कुणिमस्स आसया' कुणितस्य आश्रया सत्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥१०२५॥

धूणाओ तिणिण देहम्मि होंति सत्तत्तरं च मम्मसदं ।

णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सर्वंताइं ॥१०२६॥

'धूणाओ तिणिण देहम्मि होंति' म्यूणास्तिस्वो भवन्ति देहे । 'सत्तत्तरं च मम्मसदं' मर्मणा शत सप्त-  
धिक । 'णव होंति वणमुहाइं' व्रणमुखानि नव भवन्ति । 'णिच्चं कुणिमं' नित्यं कुणित भवन्ति यानि ॥१०२६॥

देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमिच्चं सयप्पमाणेण ।

अंजलिमिच्चो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥१०२७॥

'देहम्मि' शरीरे । 'मच्छुलिंगं' मस्तिष्क । 'अंजलिमिच्चो सयप्पमाणेण' स्वाञ्जलिप्रमाण परिच्छिन्न ।  
मेदोऽप्यञ्जलिप्रमाण । 'ओजोवि तत्तिओ चेव' शुकमपि तावन्मात्रमेव ॥१०२७॥

तिणिण य वसंजलीओ छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ।

सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्दाढगं होदि ॥१०२८॥

'तिणिण य वसंजलीओ' तिष्ठो वसाञ्जलय । 'छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स' पञ्जलय पित्तस्य ।  
'सिंभो पित्तसमाणो' श्लेष्मा पित्तप्रमाण । 'लोहिदमद्दाढगं होदि' लोहितोऽप्यर्धाढक भवति ॥१०२८॥

गा०—सात त्वचाएँ हैं । सात कालेयक-मांसखण्ड है । और अस्सी लाख करोड रोम हैं ॥१०२४॥

गा०—पक्वाशय और आमाशयमे सोलह आते है । तथा मनुष्यके शरीरमें सात मलस्थान है ॥१०२५॥

गा०—शरीरमे बात पित्त कफ ये तीन धूणाए है । एक सौ सात मर्मस्थान है । नौ व्रण-  
मुख-मलद्वार हैं जिनसे सदा मल बहता रहता है ॥१०२६॥

गा०—तथा अपनी एक अंजुलीप्रमाण मस्तिष्क है । एक अजुलिप्रमाण मेद है और एक अंगुलिप्रमाण वीर्य है ॥१०२७॥

गा०—तीन अजुलिप्रमाण बसा—चर्बी है । छह अजुलिप्रमाण पित्त है । पित्त प्रमाण ही कफ है । रुधिर आधे आठक या बत्तीस पल प्रमाण है ॥१०२८॥

मूत्रं आढयमेत्तं उच्चारस्स य ह्वंति छप्पच्छा ।

वीसं षट्ठाणि दंता बत्तीसं ह्वंति पगदीए ॥१०२९॥

'मूत्रं आढयमेत्तं' मूत्रं आढकमात्रं । 'उच्चारस्स य ह्वंति छप्पच्छा' षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । 'वीसं षट्ठाणि' विंशतिसंख्या नखानां । 'दंता बत्तीसं ह्वंति' द्वात्रिंशद्भवन्ति दन्ता । 'पगदीए' प्रकृत्या ॥१०२९॥

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिक्कुलेहिं बहुगेहिं ।

सव्वं देहं अप्फंदिदूष वादा ठिदा पंच ॥१०३०॥

'किमिणो व वणो' संजातकिमिन्नगवत् । 'बहुगेहिं किमिक्कुलेहिं भरिदं सरीरमिति' सम्बन्ध । बहुभि किमीया कुलेभरित । 'सव्वं देहं अप्फंदिदूष वाता ठिदा पंच' समस्त शरीर व्याप्य पञ्च वायव स्थिता ॥१०३०॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।

एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुच्चियं च जं होज्ज ॥१०३१॥

'एवं' उक्तेन प्रकारेण । 'देहम्मि सव्वे अवयवा' शरीराधारा सर्वे अवयवा । 'कुणिमपुग्गला चेव' अशुभपुद्गला एव । 'एक्कं पि णत्थि अंगं' एकोऽपि नास्त्यवयव । ज पूय सुच्चियं च होज्ज' योज्यव पूत सुचिर्वा भवेत् ॥१०३१॥

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मयंतवणरसियं ।

सुट्ठु वि दइदं महिलं दट्ठुपि णरो ण इच्छेज्ज ॥१०३२॥

'परिदड्ढसव्वचम्मं' परितो दग्धसर्वत्वक्पटल । 'पंडुरगत्तं' पाण्डुरतनु । 'मयंतवणरसियं' विगलग्रस 'सुट्ठु वि दइदं महिलं' प्रियतमामपि वनिता । 'दट्ठुपि णरो ण इच्छेज्ज' द्रष्टुमपि नरो न वाञ्छति ॥१०३२॥

जदि होज्ज मच्छियापत्तसगसियाए णो थगिदं ।

को णाम कुणिमभरियं सरीरमालदुधुमिच्छेज्ज ॥१०३३॥

गा०—मूत्र एक आठक प्रमाण है । विष्टा छह प्रस्थ प्रमाण है । स्वाभाविकरूपमे वीस नख और बत्तीस दाँत होते हैं ॥१०२९॥

गा०—जैसे घावमे कीडे भरे रहते हैं वैसे ही शरीर बहुतसे कीडोसे भरा है । समस्त शरीरको घेरे हुए पाँच वायु हैं ॥१०३०॥

गा०—इस प्रकार शरीरके सब अवयव अशुभ पुद्गलरूप ही हैं । एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र और सुन्दर हो ॥१०३१॥

गा०—जिसकी सब चमड़ी जल जानेसे शरीर सफेद वर्णका हो गया है, और उससे पीव बहता है ऐसी नारी अतिप्रिय भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नहीं चाहता ॥१०३२॥

'अभि होञ्ज तयाए न धगिर्ब' यदि त्वचा न स्वगित भवेत् । कीदृश्या ? 'मच्छिवापत्सरिसियाए' मलिकापत्रवदिति । 'तथा को नाम इच्छेञ्ज कुणिमन्त्रिर्ब' शरीरं' को नाम वाञ्छेत् ? किं कुणितपूणं शरीरं । 'वालुङ्कु' स्पष्ट् । अवयवा ॥१०३३॥

कण्णेषु कण्णगूषो जायदि अञ्छीसु चिक्कणंसूणि ।

णासागूषो सिंघाणयं च णासापुडेसु तथा ॥१०३४॥

'कण्णेषु' कर्णयोः । 'कण्णगूषो' कर्णगूय । 'जायदि' जायते । 'अञ्छो सु' अक्षयोः । 'चिक्कणंसूणि' मलमश्रुविन्दवश्च । 'णासागूषो' नामिकाफलं । 'सिंघाणयं च' सिंघाणकं च 'णासापुडेसु' नासापुटयोः ॥१०३४॥

खेलो पिचो सिंभो वमिया जिंभामलो य दंतमलो ।

लाला जायदि 'तुंडम्मिणिच्चं मुत्तपुरिससुक्कमुदरत्थं' ॥१०३५॥

स्पष्टार्थोत्तराया—

सेदो जायदि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमकूबेसु ।

जायति ज्वलिक्खा छप्पदियासो य सेदेण ॥१०३६॥

'सेदो जायदि' स्वेदो जायते । 'सिलेसो व चिक्कणो' चकारदलेष्मवच्चिककण । 'सव्वरोमकूबेसु' सर्वलोमकूपेषु । 'जायति' जायन्ते । 'क्का' यूका । 'लिक्खा' लिखाश्च । 'छप्पदियासो व' चर्मयूकाश्च । 'सेदेण' स्वेदेन हेतुना । एतावता प्रबन्धेन शरीरावयवा व्याख्याता ॥१०३६॥

निर्गमन । निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विट्ठापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गल्ल ।

पूर्दिगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥१०३७॥

गा०—यदि शरीर मक्खीके पंखके समान त्वचासे वेष्टित न हो तो मलसे भरे शरीरको कौन छूना पसन्द करेगा ॥१०३३॥

गा०—कानोंसे कानका मल उत्पन्न होता है । आँखोंसे आँखका मल और आँसू रहते हैं । तथा नाकमें नाकका मल और सिंघाडे रहते हैं ॥१०३४॥

गा०—मुखसे खखार, पित्त, कफ, वमन, जीभका मल, दन्तमल और लार उत्पन्न होते हैं । और उदरसे मूत्र, विष्टा तथा वीर्य उत्पन्न होते हैं ॥१०३५॥

गा०—शरीरके सब रोमकूपोंसे चमारके सिरसके समान चिपचिपा पसीना निकलता है । और पसीनेके कारण लीख और जूं उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार शरीरके अवयवोंका कथन हुआ ॥१०३६॥

अब मलके निकलनेका कथन करते हैं—

गा०—जैसे विष्टासे भरे और फूटे हुए घड़ेसे चारों ओरसे गन्दगी बहती है अथवा जैसे कुमियोंसे भरे धावसे दुर्गन्धयुक्त पीव बहती है वैसे ही शरीरसे निरन्तर मल बहता है ॥१०३७॥

निर्गमनका कथन समाप्त हुआ ।

१ म्मि मूत्त पुरिसं च सु-आ० म० ।  
गृधयोः—मूलारा० ।

२ मिदरत्थ-ज० म० । इदरत्ये मेहन गोनि-

'विष्टाशुष्को' विष्टाभिः पूर्णः । 'भिष्णो व चको' भिष्णपट इव । 'कुषिमं कुषितं' । 'समंततो' समन्तात् । 'बलवि' शरति 'पुष्टंशालोष्णयो' गलत्पुतिनिषितकिमिन्नयवत् । 'पूर्वि व वावि सदा' दुरभिवाति सदा । 'विष्यासक्तं सम्मसं' ॥१०३७॥

इंगालो धोवते ण सुज्जदि जहा पयसेण ।

सञ्चेहिं समुद्देहिमिं सुज्जदि देहो ण धुव्वतो ॥१०३८॥

सिण्हाणुम्भगुव्वट्टणेहिं मुहदंतअच्छिधुवणेहिं ।

णिच्च पि चोवमाणो वादि सदा पूदियं देहो ॥१०३९॥

'सिन्हाणुम्भगुव्वट्टणेहिं' स्नानेन, अम्यङ्गेन, उदरनेन । 'मुहदंतअच्छिधुवणेहिं' मुखस्य दन्तानामण्योश्च प्रक्षालनेन । 'णिच्चपि धुव्वमाणो' नित्यमपि क्रियामाणशीच । 'वाति सदा पूर्वियं देहो' दुरभिगन्धता न त्यजति देह ॥१०३९॥

पाहाणघादुअंजणपुद्धवितयाछल्लिल्लमूलेहिं ।

मुहकेसवासतंचोलगंधमल्लेहिं धूवेहिं ॥१०४०॥

'पाहाणघादुअंजणपुद्धवितयाछल्लिल्लमूलेहिं' पाषाणशब्देन रत्नान्युच्यन्ते । घातुर्जल । अंजण अञ्जनं मयी च । 'पुद्धवी' मृत्तिका । 'तया' त्वक् । 'मूलासतः' । मुख वास्यते मुख गन्धता नीयते येनासो मुखवासः । केशा सुरभिता प्राप्नुवन्ति येनासो केशवासः, एतं पाषाणादिभि ॥१०४०॥

अभिभूददुव्विगंधं परिशुज्जदि मोहिएहिं परदेहं ।

खज्जति पूइयमं संजुत्तं जह कडुगभंढेण ॥१०४१॥

'अभिभूददुव्विगंधो' निरस्ताशुभगन्धः । 'परदेहं संजुत्तं' परस्य देहं समुत्त । 'मोहिरेहिं' मूर्धे । परिभुज्यते । 'खज्जति' भुज्यते । 'पूइयमं मांसं' यथा युक्तं नस्कृतं । 'कडुगभंढेण' मरिचैर्हिवादिभिश्च ॥१०४१॥

गा०—जैसे कौयलेको मब ममुद्रके जलसे प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी वह उजला नहीं होता, उसमेंसे कालापन ही निकलता है, वैसे ही शरीरको बहुत जलादिसे धोनेपर भी वह शुद्ध नहीं होता, उसमेंसे मल ही निकलता है ॥१०३८॥

गा०—स्नान, इत्र फुल्ल, उबटन आदिसे तथा मुख दाँत और आँसुका धोनेसे नित्य ही स्वच्छ करनेपर भी शरीर सदा दुर्गन्ध देता है, वह उसे छोड़ता नहीं ॥१०३९॥

गा०—टी०—पाषाण शब्दसे रत्नोंको कहा है । घातुसे जल लिया है । पृथ्वीसे मिट्टीका ग्रहण किया है । त्वचासे मध्यकी त्वचा ली है और छालसे ऊपरकी छाल ली है । अतः रत्न, जल, अंजन, मिट्टी, त्वचा, छाल देल और जड़से तथा मुखको सुवासित करनेवाले ताम्बूल आदि और केशोको सुगन्धित करनेवाले गन्धमाला घूप आदिसे परके शरीरकी दुर्गन्ध दूर करके मूह-जन मोहित होकर पराये शरीरको भोगते हैं । जैसे मिर्च, हींग आदि मसालें मिलाकर, दुर्गन्धयुक्त



अम्भंगादीहिं विणा सभावदो चैव जदि सरीरमिं ।

सोमेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोमा ॥१०४२॥

‘अम्भंगादीहिं विणा’ सुगन्धतैलेन प्रघर्षणं, उद्धर्तनं, स्नानमालेपनमित्यादिभिर्विना । ‘सभावदो चैव यदि सोमेज्ज इमं शरीरं’ स्वभावत एव यदि सोमेत इदं शरीरं । ‘मोरदेहुव्व’ मयूरदेहवत् । ‘होज्ज तो णाम से सोमा’ भवेत्स्फुटं स्फुटं देहस्य शोभा ॥१०४२॥

जदि दा विहिंसदि षरो आलवुधुं पडिदमप्पणो खेलं ।

कधदा णिपिबेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमज्जलं ॥१०४३॥

‘जदि दा विहिंसदि षरो आलवुधुं पडिदमप्पणो खेलं’ यदि तावन्नरो जुगुप्सते स्पष्टमात्मनोऽपि कासं । ‘कधदा णिपिबेज्ज बुधो’ कथमितानी पिबेद्बुधः । ‘महिलामुहजायकुणिमज्जलं’ युवतिमुखसमुद्भवम-  
शुचिजलं ॥१०४३॥

अतो बहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।

एरुडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चैव ॥१०४४॥

‘अतो बहिं च मज्जे’ अन्तर्बिंध्ये । ‘को वि सारो सरीरगे णत्थि’ शरीरेऽङ्गे सारभूतं न किञ्चिदस्ति । ‘एरुडगो वा णिस्सारो सव्वहिं चैव’ साररहितं सर्वत्र चैव ॥१०४४॥

चमरीबालं खग्गिचिसाणं गयदंतसप्पमणिगद्दी ।

दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि ॥१०४५॥

‘चमरीबालं’ चमरीणा रोमाणि । ‘खग्गिचिसाणं’ खङ्गिन्ना मृगाणा विषाणं । गजाना दन्ता । सर्पाणा रत्नादिकं च दृष्टं सारभूतं । ‘ण य अत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि’ नास्ति किञ्चित्सारं मनुष्यदेहे ॥१०४५॥

मासको मासभोजी जन खाते है वैसे ही कामीजन स्त्रीके दुर्गन्धयुक्त शरीरको तेल फुलेल आदिसे सुवासित करके भोगते है ॥१०४०-१०४१॥

गा०—जैसे मोरका शरीर स्वभावसे ही सुन्दर होता है वैसे ही यदि सुगन्धयुक्त तेलसे मालिश, उबटन, स्नान, आदिके विना स्वभावसे यह शरीर शोभायुक्त होता तो उसे सुन्दर कहना उचित होता ॥१०४२॥

गा०—यदि मनुष्य बाहरमे पडे अपने कफको भी छूनेमें ग्लानि करता है तो ज्ञानीपुरुष युवती स्त्रीके मुखसे उत्पन्न हुई दुर्गन्धयुक्त लारको कैसे पीवेंगा ॥१०४३॥

गा०—अन्तरमे, बाहरमे और मध्यमे शरीरमे कुछ भी सार नहीं है । ऐरण्डके वृक्षकी तरह शरीर पूर्णरूपसे निःसार है ॥१०४४॥

गा०—चमरी गायकी पूँछके बाल, गेडे वा झिरनके सोग, हाथीके दाँत, सर्पकी मणि, आदि शब्दसे मयूरके पख, मृगकी कस्तूरी आदि अवयव तो सारभूत देखे गये है अर्थात् इन सबके शरीरोंमें तो कुछ सार है किन्तु मनुष्यके शरीरमे कोई सार नहीं है ॥१०४५॥

छगलं मुचं दुद्धं गोणीए रोयणा य गोणस्स ।

सुचिया दिहा ण य अत्थि किंचि सुचि मणुयदेहे ॥१०४६॥

अनुद् ॥१०४६॥

व्याधि इत्येदधाचष्टे प्रवन्धेनोत्तरेण—

वाइयपित्तियसिभियरोगा तण्हा छुहा समादी य ।

णिच्चं तवंति देहं अह्हिदजलं व जह अग्गी ॥१०४७॥

‘वाइयपित्तियसिभियरोगा’ दोषत्रयप्रभवा व्याधयः । तृष्णादुष्पाश्रम इत्याद्ययश्च । देहं नित्यं तपन्ति  
ज्वलितोऽग्निर्जलमिव बुत्त्युपरिस्थितभाजनगत ॥१०४७॥

जदिदा रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होति छण्णउदी ।

सव्वम्मि दाइं देहे होद्व्वं कदिहिं रोगेहिं ॥१०४८॥

‘जदिदा रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होति छण्णउदी’ यदि तावद्रोगा एकस्मिन्नेव नेत्रे पण्णवति-  
सख्या भवन्ति । ‘सव्वम्मि दाइं देहे’ समस्ते इदानीं शरीरे । ‘होद्व्वं कदिहिं रोगेहिं’ कतिभिर्व्याधिभिर्भवि-  
तव्यम् ॥वाधिगद॥१०४८॥

अध्रुवतामुत्तरया गाथयाचष्टे—

पीणत्थणिंदुवदणा जा पुव्वं णयणदइदिया आसे ।

सा चेव होदि संकुडिदंगी विरसा य परिज्जुण्णा ॥१०४९॥

‘पीणत्थणिंदुवदणा’ पीनस्तनभागासम्पूर्णचन्द्रानना । ‘जा पुव्वं’ या पूर्व । ‘णयणवविदिया’ नयनबल्लभा

गा०—बकरेका मूत्र, गायका दूध, बैलका गोरचन लोकमे पवित्र माने गये है परन्तु  
मनुष्यके शरीरमे किञ्चित् भी शुचिता नही है ॥१०४६॥

इस तरह शरीरकी अशुचिताका कथन क्रिया, आगे व्याधिका कथन करते हैं—

गा०—जैसे आग चूल्हेके ऊपर स्थित पात्रके जलको तपाती है वैसे ही वात पित्त और  
कफसे उत्पन्न हुए रोग तथा भूख प्यास श्रम आदि शरीरको सदा तपाते है दुःख दते है ॥१०४७॥

गा०—यदि एक नेत्रमे ही छियानबे रोग होते है तो समस्त शरीरमे कितने रोग  
होगे ॥१०४८॥

आगेकी गाथासे अध्रुवत्वका कथन करते हैं—

गा०—इस शरीरका स्वरूप तो देखो । जो स्त्री पूर्व यौवन अवस्थामे पुष्टस्तनवाली,  
सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली और नेत्रोको प्रिय थी वही स्त्री वृद्धावस्थामे मकुचित

१. म्मि चेव दे—अ० ।

२. उस गाथाके पश्चात् आशाधरने नीचे लिखी गाथा दी है—

पचेव य कोवीओ भवति तह अट्टमट्टिलक्खाइ ।

णवणवणिं व सहस्सा पचसया होति बुलमीदी ॥

पाँच करोड़ अड़सठ लाख, निग्यानबे हजार पाँच सौ चौरासी रोग शरीरमें होते है ।

जाता । 'सा चेव होदि संकुटिबंगी' सैव भवति संकुटिततनुः । 'विरसा' कामरसरहिता । 'परिकुष्णा' परितो जीर्णा जरत्कुटीव ॥१०४९॥

जा सन्वसुंदरंगी सबिलासा पढमजोव्वणे कंता ।

सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य वीभच्छा ॥१०५०॥

'जा सन्वसुवरंगी' यस्या सर्वाणि अङ्गानि सुन्दराणि । 'सबिलासा' विलाससहिता । 'पढमजोव्वणा' प्रथमयोवना । 'कता' कान्ता । 'सा चेव मदा संती' संब मृता सती । 'होहि हु विरसा' भवति विरसा । 'वीभच्छा' जुगुप्सनीया ॥१०५०॥

शरीरमम्पदोऽध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । दम्पत्यो सयोगस्याध्रुवता व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुव्वं सा वा पुव्वं मरिज्ज से कंता ।

जीवंतस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिण्हि ॥१०५१॥

'मरदि सयं वा पुव्वं' म्रियते स्वयं वा पूर्वं पुमान् । 'सा वा पुव्वं म्रियेत' । 'से' तस्य पुनः कान्ता । 'जीवंतस्स' जीवतो वा, सा जीवन्ती ह्रियते 'बलिण्हि' बलिभिरपरं । इत्थं सयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥१०५१॥

सा वा हवे विरसा महिला अण्णेण सह पलाएज्ज ।

अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमणस्साणि ॥१०५२॥

'सा वा होव्व विरसा' सा भवेद्विरक्ता पुण्वे तथापि तयो सगति । 'महिला अण्णेण सह पलाएज्ज' सा विरक्ता युवतिरन्वयेन वा सह पलायनं कुयति । 'अपलायन्ती' अपलायमाना वा । 'तगी' सा । 'करिज्ज से वेमणस्साणि' कुर्यात्तस्य चेतोदुःखानि ॥१०५२॥

शरीरस्याध्रुवतामाचष्टे—

अगवाली, शृङ्गार हास्य आदि काम रससे रहित अत्यन्त जीर्ण शोषणकी तरह दिखाई देती है ॥१०४९॥

गा०—जा स्त्री यौवनके प्रारम्भमें सर्वांगसुन्दर तथा विलाससे पूर्ण थी वहाँ मरनेपर विरस और ग्लानियोग्य दिखाई देती है ॥१०५०॥

इस प्रकार दो गाथाओंसे शरीरकी सुन्दरताको अस्थायी कहा । अब पति-पत्नीके सयोगको अस्थायी कहते हैं—

गा०—पहले पति मर जाता है अथवा पहले पत्नी मर जाती है । अथवा पतिके जीवित रहते हुए अन्य बलवान् पुरुष उसकी जीवित पत्नीको हरकर ले जाते है । इस प्रकार पति-पत्नी-सयोग अनित्य होता है ॥१०५१॥

गा०—अथवा पत्नी पतिसे विरक्त हो जाती है और विरक्त होकर वह दूसरेके साथ भाग जाती है । न भी भागे तो पतिके चित्तको दुःख देनेवाले कार्य करती है ॥१०५२॥

अब शरीरकी अस्थिरता बतलाते हैं—

रूपाणि कटुकम्मादियाणि चिद्वृत्ति सारवैतस्स ।

घणिदं पि सारवैतस्स ठादि ण चिरं शरीरमिमं ॥१०५३॥

‘कृवाणि कटुकम्मादियाणि’ काष्ठे उत्कीर्णाणि रूपाणि स्त्रीणां पुसा अन्येषां च आदिषाम्बेन शिला-  
वन्तादिरूपपरिग्रहचिरं ‘चिद्वृत्ति सारवैतस्स’ चिर तिष्ठन्ति संस्क्रुवन्त । ‘घणिदं पि सारवैतस्स’ नितरा-  
मपि संस्क्रुवन्त । ‘ठादि ण चिरं शरीरमिमं’ न तिष्ठति चिर शरीरमिद ॥१०५३॥

न च केवल शरीरमेव अनित्यमपि त्वम्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंज्ञाजलबुब्बुदो व मणुगाणं ।

इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं ॥१०५४॥

‘मेघहिमफेणउक्कासंज्ञाजलबुब्बुदो’ मेघवद्विमवल्फेनवदुत्कावल्सन्ध्यावज्जलबुद्बुदवल्ब । ‘मणुगाणं’  
मनुजाना । ‘इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं’ इन्द्रियाणि, यौवन, मति, रूपं तेजो, बल वीर्यं,  
चानित्यं ॥१०५४॥

झटिति शरीरसम्पदघावर्तते इत्याख्यानक दर्शयति—

साधुं पडिलाहेदुं गदस्स सुरयस्स अगमहिस्सीए ।

णट्टं सदीए अंगं कोठेण जहा म्मुत्तेण ॥१०५५॥

‘साधुं पडिलाहेदुं गदस्स’ साधोराहारदानार्थं गतस्य । ‘सुरयस्स’ सुरतनामधेयस्य राज । ‘अग-  
महिस्सीए’ अप्रमहिष्या । ‘सबोए’ सत्या शोभनाया । ‘अंगं षट्ठं’ शरीर नष्ट । ‘कोठेण’ कुण्ठेन ।  
‘जहा म्मुत्तेण’ यथा मूर्हतें ॥१०५५॥

वज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुरं च खादि तबोलं ।

कालेण य णिज्जतां विसए सेवंति तह मूढा ॥१०५६॥

शा०—सार सम्हाल करनेपर काष्ठ, पाषाण, हाथी दाँत आदिमें अकित किये गये स्त्री  
पुरुषोंके रूप चिरकाल तक रहते हैं। किन्तु यह शरीर अति सम्हाल करनेपर भी चिरकाल तक  
नहीं रहता ॥१०५३॥

आगे कहते हैं कि केवल शरीर ही अनित्य नहीं है किन्तु वस्तुएँ भी अनित्य हैं—

शा०—मनुष्योंके इन्द्रियाँ, यौवन, मति, रूप, तेज, बल और वीर्य ये सब मेघ, बर्फ, फेन,  
उल्का, सन्ध्या और जलके बुलबुलेकी तरह अनित्य हैं ॥१०५४॥

शरीररूप सम्पदा झट नष्ट हो जाती है यह एक कथा द्वारा कहते हैं—

शा०—गजा सुरत साधुको आहार देने गया। इतनेमें ही उसकी पटरानी सतीका शरीर  
एक मूर्हत्तमें ही कोढसे नष्ट हो गया ॥१०५५॥

शा०—जैसे मारनेके लिए कोई किसी पुरुषको ले जाये और वह पुरुष मरनेकी चिन्ता  
न करके शराब पिये और पान खाये। वैसे ही मूढ़ मनुष्य मृत्युकी चिन्ता न करके विषयोंका  
सेवन करते हैं ॥१०५६॥

'बल्लो य निज्जमाचो' हन्तु नियमानः । 'बह पियह' यथा सुरा पिबति । 'आधि तंबोलं' ताम्बूल भक्षयति । तथा 'कालेण य पिज्जंता' मृत्युना नीयमाना मुखाः । 'बिसए सेवति' विषयाननुभवन्ति ॥१०५६॥

वग्घपरदो लम्भो मूले य जहा ससप्पविलपडिदो ।

पडिदमधुविंदुचक्खणरदिओ मूलम्मि छिज्जंते ॥१०५७॥

'वग्घपरदो' व्याघ्रेणामिदृत । 'लम्भो' लम्बः । 'मूलम्मि' लतायाः मूले । 'ससप्पविलपडिदो' ससर्प-वति विले पतितः । 'पडिदमधुविंदुचक्खणरदिओ' स स्वसुकवस्थानपतितमधुविन्द्वास्वावनरतिक । 'मूलम्मि' 'छिज्जंते' मूले छिद्यमाने मूषिकामिर्यया ॥१०५७॥

तह चेव मच्चुवग्घपरदो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि ।

संसारविले पडिदो आसामूलम्मि संलम्भो ॥१०५८॥

'तह चेव' तथैव । 'मच्चुवग्घपरदो' मृत्युव्याघ्रेण उपदृतः । 'संसारविले पडिदो' संसार एव विल-तस्मिन्पतित । कीदृभूते ? बहुदुःखसर्पाकुले आशामूले । 'संलम्भो' सम्यगलम्बः ॥१०५८॥

बहुविग्घमूसएहिं आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते ।

लेहदि तहवि अलज्जो अप्पसुहं विसयमधुविंदुं ॥१०५९॥

'बहुविग्घमूसएहिं' बहुभिविघ्नमूपकं । 'आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते' आशास्थे मूले तस्मिच्छिद्य-मानं । 'लेहदि' खादति । 'विषयविलज्जो' निर्भयो निर्लज्जश्च । 'अप्पसुहं विसयमधुविंदुं' अल्पसुख विषय-मधुविन्दु । अल्पसुखनिमित्तत्वादल्पसुखमित्युच्यते । विषयमधुविन्दुं विषयशब्देन रूपादय इत्युच्यन्ते । तेषु पुरो-जस्थित पुद्गलस्कन्धस्य वर्तमाना कतिपया पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुविन्दवः । अधुवत् ॥१०५९॥

गा०—टी०—जैसे पीछे लगे व्याघ्रके भयसे भागता हुआ कोई मनुष्य एक ऐसे कूपमें गिरा जिसमें सर्प रहता था । उस कूपकी दीवारमें एक वृक्ष उगा था । उसकी जड़को पकड़कर वह लटक गया । उस जड़को चूहे काट रहे थे । किन्तु उस वृक्षपर मधुमक्खियोंका एक छत्ता लगा था और उसमेंसे मधुकी बूँद टपककर उसके ओठोंमें आती थी । वह सकट भूल उसी मधु-विन्दुके स्वादमें आसक्त था ॥१०५७॥

गा०—उसी मनुष्यकी तरह मृत्युरूपी व्याघ्रसे भीत प्राणी अनेक दुःखरूपी सर्पोंसे भरे ससार कूपमें पड़ा है और आशारूपी जड़को पकड़े हुए है ॥१०५८॥

गा०—टी०—किन्तु उस आशारूप जड़को बहुतसे विघ्नरूपी चूहे काट रहे हैं । फिर भी वह निर्लज्ज निर्भय होकर क्षणिक सुखमें निमित्त विषयरूपी मधुकी बूँदके आस्वादमें डूबा हुआ है । यहाँ विषय शब्दसे रूप आदिको कहा है । उसके सामने वर्तमान जो पुद्गल स्कन्धकी कुछ थोड़ी-सी पर्याय है वे ही मधुकी बूँद है । उसीमें वह आसक्त है ॥१०५९॥

इस प्रकार ससारकी अनित्यताका कथन किया ।

बालो अमेज्जलित्तो अमेज्जमज्जम्मि च्वेव जह रमदि ।

तह रमदि णरो मूढो महिलामेज्जो सयममेज्जो ॥१०६०॥

'बालो अमेज्जलित्तो' बालोअमेधेन लिप्तः । 'अमेज्जमज्जम्मि च्वेव' अमेध्यमध्ये एव । 'जह रमदि' यथा रमते प्रीतिमुर्षति । 'तथा रमदि णरो मूढो' तथा रमते मूढ नरः । 'महिलामेज्जो' योधिदेव अनेकाशुचि-पूर्णशरीरतया अमेध्यघट्टेनोच्यते । सयममेज्जो स्वयममेध्यभूतः ॥१०६०॥

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविता महिलियाए कुणिमकुडी ।

जं होति सोचयत्ता एदं हासावहं तेसिं ॥१०६१॥

'कुणिमरसकुणिमगंधं' अशुचिरसमशुचिगन्धं । 'सेविता' सेवमाना । 'महिलियाए' महिलाया युवत्याः । 'कुणिमकुडी' अशुचिशरीरकुटिः । 'जं होति सोचयत्ता' यद्भवन्ति शौचवन्तः । 'एदं हासावहं' एतच्छौचवत्त्वं हासावहः । 'तेसिं' तेषां ॥१०६१॥

एवं एदे अत्थे देहे चितंतयस्स पुरिसस्स ।

परदेहं परिभोचुं इच्छा कह होज्ज सधिणस्स ॥१०६२॥

'एवं एदे अत्थे' एवमेतानर्थान् । 'देहे' शरीरविषयान् । 'चितंतयस्स' चिन्तयत । 'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'परदेहं' परम्य शरीरं । 'परिभोचुं' परितो भोक्तुं । 'इच्छा किह होज्ज' इच्छा कथं भवेत् । 'सधिणस्स' लज्जावतः ॥१०६२॥

एदे अत्थे सम्मं दोसं पिच्छंतओ णरो मधिणो ।

ससरीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि ॥१०६३॥

'एदे अत्थे देहस्स बीजणिप्पत्तिस्सेत्त' इत्येतत्सूत्रनिदिष्टानेतानर्थान् । 'देहे' शरीरे । 'पिच्छंतओ' सम्यह् निरूपयन् । 'ससरीरे वि विरज्जइ' आत्मनोऽपि शरीरे विरक्ततामुर्षति । 'किं पुण अण्णस्स देहम्मि' किं पुनरन्यशरीरे विरक्तता नोपेयात् । 'अशुचिं' अशुचित्वं व्याख्यातः ॥१०६३॥

गा०—जैसे मलसे लिप्त बालक मलमे ही रमता है वैसे ही मूढ मनुष्य स्वयं अत्यन्त मलिन है और मलिनता भरे स्त्रीके शरीरमे रमण करता है ॥१०६०॥

गा०—युवतीका शरीर अशुचि रस और दुर्गन्धसे पूर्ण है । ऐसे अशुचि शरीरको सेवन करता हुआ कामी पुरुष अपनेको शुचि-शुचि मानता है उसको यह पवित्रता हास्यास्पद है ॥१०६१॥

गा०—इस प्रकार शरीरके विषयमें विचार करनेवाले पुरुषको शरीरसे मलिन हो जाती है तब उसे स्त्रीके शरीरको भोगनेको इच्छा कैसे हो सकती है ॥१०६२॥

गा०—शरीरका बीज, उसकी निष्पत्ति आदिको सम्यक् रूपसे निरीक्षण करनेवाला लज्जाशील मनुष्य अपने शरीरसे भी विरक्त हो जाता है तब अन्यके शरीरमे क्यों विरक्त नहीं होगा ॥१०६३॥

इस प्रकार शरीरकी अशुचित्ताका कथन हुआ ।

वृद्धसेवानिरूपणाय उत्तरः प्रबन्धः बेरावा तरुणा वा इत्यादिक. । शीलवृद्धता भवति न केवलेन वयसा इत्याचष्टे—

बेरा वा तरुणा वा बुद्धा सीलेहिं होंति बुद्धीहिं ।

बेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ॥१०६४॥

'बेरा वा तरुणा वा' स्वविरास्तरुणाश्च । 'बुद्धा होंति' वृद्धा भवन्ति । 'सीलेहिं बुद्धेहिं' शीलं प्रवृद्धं । क्षमा, मार्दवं, ऋजुत्व, सन्तोष, इत्यादिकं शीलशब्देनोच्यन्ते । 'बेरा वा तरुणा वा' स्वविरास्तरुणाश्च । तरुणा एव । 'सीलेहिं तरुणेहिं' तरुणं शीलं । एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धशब्देन गृहीता । एतेषा सेवा वृद्धसेवेति कथित भवति । वृद्धगुणाना सेवात स्वयमपि गुणोत्कर्षमुपैतीति मन्यते ॥१०६४॥

अपि 'बेहवत्यादिनामभवोवृद्धानामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेऽपि वयसैव' मन्दीभूतकामरतिवर्षक्रीडा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह णरस्सदि णरस्स बलरूवं ।

मंदा य ह्वदि कामरदिदप्पकीडा य लोभे य ॥१०६५॥

'अह जह वयपरिणामो' अतिक्रामति यथा यथा वय.परिणामो युवत्वमध्यमत्वसञ्जित । 'णरस्स परिणामो' प्राणिन परिणाम नश्यति । 'तथ तथ से' तथा तथा तस्य 'मंदा ह्वन्ति' मन्दा भवन्ति । 'कामर-विषयकीडा' काम्यन्त इति कामा विषयान्तत्र रतिवर्ष, क्रीडा, 'लोभे य' लोभश्च । मन्दविषयरत्यादिपरिणामेन वृद्धेन मह संवासात् स्वयमेवापि मन्दकामादिपरिणामो भवतीति भाव ॥१०६५॥

खोमेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसणमवि पंकं ।

खोमेह तहा मोहं पसणमवि तरुणसंसग्गी ॥१०६६॥

आगे वृद्धसेवाका कथन करते हुए कहते हैं कि केवल अवस्थासे वृद्धता नहीं होती—

गा०—टी०—अवस्थासे वृद्ध हो अथवा तरुण हो, जिसके शील अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि बडे हुए है वे वृद्ध हैं । तथा अवस्थासे वृद्ध हो अथवा तरुण हो जिनके शील तरुण है—वृद्धिको प्राप्त नहीं है वे तरुण है । अतः यहाँ जो शीलसे वृद्ध है वृद्ध शब्दसे उनका ग्रहण किया है । उनकी सेवा वृद्ध सेवा है, यह कथनका अभिप्राय है । गुणोसे वृद्ध पुरुषोकी सेवा करनेसे स्वयं भी मनुष्य गुणोसे उत्कर्षको प्राप्त होता है ॥१०६४॥

आगे कहते है कि अवस्थासे वृद्धाका संसर्ग भी लाभकारी है क्योंकि अवस्थाके कारण ही उनका कामज्वर आदि मन्द हुआ है—

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यकी युवावस्था, मध्यावस्था बीतती जाती है वैसे-वैसे उसकी काम-विषयक रति, मद, लोभ आदि मन्द होते जाते है । इसका भाव यह है कि जिसका कामभावरूप परिणाम मन्द होता है उस वृद्धके साथ रहनेसे मनुष्य स्वयं भी मन्द कामभाव आदिसे युक्त होता है ॥१०६५॥

१. बेह यत्यादीनामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेपि तपसैव—आ० मु० । २ तपसैव सम्यभूत

'कोभेवि' कोभयति । 'कल्परो' शिला महती । 'बह' यथा । 'बहे' हृदे 'वर्तते' पतन् । 'वसण्णमवि' वंक्' प्रशान्तमपि पङ्क्तु । 'कोभेवि' चालयति । 'तथा मोह' । 'वसण्णमवि' प्रशान्तमपि । 'तवचसंस्सगो' तरुणगोष्ठी ॥१०६६॥

कलुसीकदपि उदगं अचछं जह होइ कदयजोएण ।

कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु बुद्धसेवाए ॥१०६७॥

'कलुसीकदपि उदगं' कलुवीकृतमप्युदक । 'कदयजोएण' कतकफलसम्बन्धेन । 'अचछं' स्वच्छ । 'कव' 'कोवि' यथा भवति । 'कलुसोऽपि' कलुषितोऽपि । 'मोहो' मोह । 'उवसमवि' उपशाम्यति । 'बुद्धसेवाए' बुद्धसेवया ॥१०६७॥

लीणो वि मड्डियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ।

लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणामयेण तहा ॥१०६८॥

'लीणो वि' लीनोऽपि । 'मड्डियाए' मृत्तिकाया । 'गंधो' गन्ध । यथा 'जलासयेण' जलाश्रयेण । 'उदीरवि' उदयमुपैति । 'लीणो वि मोहो' लीनोऽपि नरे मोह । 'उदीरवि' उदयमुपनीयते । 'तरुणासयेण' तरुणाश्रयेण तथा ॥१०६८॥

संतो वि मड्डियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ।

जह तह गुट्टीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥१०६९॥

'संतो वि' सन्नपि मृत्तिकाया गन्ध । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठया विना मोहो नरस्य लीनो भवति ॥१०६९॥

तरुणो वि बुद्धसीलो होदि णरो बुद्धमंसिओ अचिरा ।

लज्जासंक्रामाणावमाणभयधम्मबुद्धीहि ॥१०७०॥

भा०—जैसे तालाबमें गिरकर पत्थर उसकी तलसे बैठी हुई पंक्तो उभारकर निर्मल जलको मलिन कर देता है, वैसे ही तरुण/का ससर्ग प्रशान्त पुरुषके भी मोहको उद्विक्त कर देता है ॥१०६६॥

भा०—और जैसे कतकफल डालनेसे गदला पानी भी निर्मल हो जाता है वैसे ही बुद्ध पुरुषोंकी सेवासे कलुषित मोह भी शान्त हो जाता है ॥१०६७॥

भा०—जैसे मिट्टीमे छिपी हुई गन्ध जलका आश्रय पाकर प्रकट हो जाती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गसे मनुष्यमे छिपा हुआ मोह उदयमे आ जाता है ॥१०६८॥

भा०—और जैसे मिट्टीमे वर्तमान होते हुए भी गन्ध जलके बिना मिट्टीमें ही लीन रहती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गके बिना मनुष्यका मोह उसीमें लीन रहता है, बाहरमे प्रकट नहीं होता ॥१०६९॥

भा०—बुद्ध पुरुषोंके संसर्गसे तरुण भी शीघ्र ही लज्जासे, शंकासे, मानसे, अपमानके भयसे और धर्मबुद्धिसं बुद्धशैल हो जाता है ॥१०७०॥



'तरुणो वि' तरुणोऽपि । वृद्धशीलो भवति । वृद्धं संश्रितोऽचिरत् लज्जया, शंकाया, मानेन, अपमान-  
भयेन धर्मवृद्धया च ॥१०७०॥

बुद्धो वि तरुणशीलो होइ ञरो तरुणसंसिओ अचिरा ।  
वीसंभणिव्विसंको समोहणिज्जो य पयडीए ॥१०७१॥

'बुद्धो वि' बुद्धोऽपि तरुणशीलो भवति तरुणसंश्रितः क्षिप्रं । 'विसंभणिव्विसंको' विश्रमेन निविशक  
'समोहणिज्जो य' सह मोहनीयेन वर्तमानः । 'पयडीए' प्रकृत्या ॥१०७१॥

सुंडयसंसग्गीए जह पाटुं सुंडओऽभिलसदि सुरं ।  
विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोठ्ठीए ॥१०७२॥

'सुंडयसंसग्गीए' यथा शीङ्गोष्ठया । 'जह पाटुं सुरमभिलसदि' यथा पाटु सुरामभिलसति । तथा  
'पयडीए संमोहो' तथा प्रकृत्या समोहः । 'तरुणगोठ्ठीए विसए अभिलसदि' तरुणगोष्ठ्या विषयान-  
भिलसति ॥१०७२॥

तरुणेहिं सह वसंतो च्छलिंदिओ चलमणो य वीसत्थो ।  
अचिरेण सहरचारी पावदि महिलाकदं दांसं ॥१०७३॥

'तरुणेहिं' तरुणे सह वसन् चलेन्द्रियश्चलचित्तं, सुष्ठु विश्वस्त' अचिरेण स्वरंचारी । 'पावदि'  
प्राप्नोति । 'महिलाकदं दोसं' वनिताविषयं दोषं ॥१०७३॥

पुरिसस्स अप्पसत्थो भाषे तिहिं कारणेहिं संभवह ।  
'विरहम्मि अंधयारे कुसीलसेवाए ससमवस्स ॥१०७४॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य अप्रशस्तो भावस्त्वभि' कारणे संभवति । एकान्ते, अन्धकारे, कुसीलसेवादशनेन  
च प्रत्यक्षम् ॥१०७४॥

गा०—तथा तरुण पुरुषोकी संगतिसे वृद्ध पुरुष भी शीघ्र ही विषवासके कारण निर्भय  
होनेसे और स्वभावमे ही मोहयुक्त होनेसे तरुणशील तरुणोंके स्वभाववाला हो जाता है ॥१०७१॥

गा०—जैसे मद्य पीनेवालोके ससर्गसे मद्यपी मद्यपान करनेको अभिलाषा करने लगता है  
वैसे ही स्वभावसे ही मोही जीव तरुणोंके ससर्गसे विषयोकी अभिलाषा करता है ॥१०७२॥

गा०—जो तरुणोकी संगतिमे रहता है उसकी इन्द्रियाँ चंचल होती है, मन चंचल होता  
है, और पूरा विश्वास ही होता है । फलत शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर स्त्रीविषयक दोषोंका भागी  
होता है ॥१०७३॥

पुरुषमे (और स्त्रीमें भी) तीन कारणोसे अप्रशस्तभाव अर्थात् काम सेवनकी अभिलाषा  
युक्तभाव होता है—

गा०—एकान्तमें स्त्रीके साथ पुरुषका और पुरुषके साथ स्त्रीका होना, अन्धकारमे तथा  
स्त्री पुरुषके काम सेवनको प्रत्यक्ष देखनेपर ॥१०७४॥

पासिय सुच्चा व सुरं पिज्जंतं सुंढजो मिलसदि जहा ।

विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व मिलसइ ॥१०७५॥

'पासिया सुच्चा व सुरं' सुरा पीयमानां दृष्ट्वा वा श्रुत्वा वा शौडोऽभिलषति । यथा तथा समोहो विषयानभिलषति दृष्ट्वा श्रुत्वा वा ॥१०७५॥

जादो खु चारुदत्तो गोड्डीदोसेण तह विणीदो वि ।

गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तथा ॥१०७६॥

'जादो खु चारुदत्तो' विनीतोऽपि चारुदत्तो गोष्ठीदोषेण गणिकासको जात मद्यावसक्तः कुल दूषकरव ॥१०७६॥

तरुणस्स वि वेरगं पण्हाविज्जदि णरस्स बुद्धेहिं ।

पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥१०७७॥

'तरुणस्स वि' तरुणस्यापि वैराग्य जन्धते ज्ञानवयस्तपोवृद्धे । वत्सस्य स्वर्णेन यथा गौ प्रस्नुतक्षीरा क्रियते ॥१०७७॥

परिहरइ तरुणगोड्डी विसं व बुद्धाउले य आयदणे ।

जो वसइ कुणइ गुरुणिइ सं सो णिच्छरइ वंभं ॥१०७८॥

'परिहरइ तरुणगोड्डी' परिहरति तरुणे सह गोष्ठीं विषमिव य., वृद्धेराकीर्णे चायतने यो वसति । करोति च गुर्वाज्ञा स निस्तरनि ब्रह्मचर्यमिति संक्षेपोपदेश । बुद्धसेवा गता ॥१०७८॥

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेलक्षणं स्वमनसा ससम्पीदोसावि य इत्यस्य सूत्रपदस्यार्थं माध्याहारतया सूत्राणा पिच्छञ्जता इति वाक्यशेषात्—

शा०—जैसे मद्यपी किसीको मद्य पीते देखकर अथवा सुनकर मद्यपानकी अभिलाषा करता है । वैसे ही मोही मनुष्य विषयोको देखकर अथवा सुनकर विषयोकी अभिलाषा करता है ॥१०७५॥

शा०—विनयवान भी चारुदत्तसेठ संगतिके दोषसे गणिकामे आसक्त हुआ, मद्यपानमे आसक्त हुआ और अपने कुलका दूषक हुआ ॥१०७६॥

शा०—ज्ञान, वय और तपसे बुद्ध पुरुषोंकी संगति तरुणपुरुषोमे भी वैराग्य उत्पन्न करती है जैसे बछड़ेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दूध उत्पन्न होता है ॥१०७७॥

शा०—जो तरुणोंकी संगतिको विषकी तरह जानकर छोड़ देता है और ज्ञान तप शीलसे बुद्ध पुरुषोंके वासस्थानमे रहता है वह गुरुकी आज्ञाका पालन करता है और ब्रह्मचर्यको पारुता है ॥१०७८॥

बुद्ध संगतिका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोषोंको कहते है—

आलोग्येण हृदयं पचलदि पुरिसस्स अप्पसारस्स ।

पेच्छंतयस्स बहुसो इत्थीथणजहणवदणाणि ॥१०७९॥

आलोग्येण आलोकनेन । 'हृदयं' हृदयं प्रचलति । मत्पृथितकस्य पुंसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीना वदनपयोधरपुपुजघनानि ॥१०७९॥

लज्जं तदो विहिंसं परिजयमच्च णिव्विसंकिदं चैव ।

लज्जालुओ कमेणारुहंतओ होदि वीसत्थो ॥१०८०॥

'लज्जं तदो विहिंसं' ततो हृदयचलनोत्तरकाळ लज्जां विनाशयति । विनष्टलज्जः परिचयमुर्पति । ताभिर्दर्शनसमीपगमनहसनानादिकं करोतीति यावत् । पश्चात्त्रिविधको भवतीति मामनया सह स्थित पश्यन्ति इति या शंका तामपाकरोति । लज्जावानपि नर क्रमेण अभिहिता अवस्था उपारोहन्, विश्वस्तो भवति ॥१०८०॥

वीसत्थदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयांदि ।

वीसंभादो पणयो पणयादो रदि हवदि पच्छा ॥१०८१॥

'वीसत्थदाए' विश्वस्ततया मनस विश्रममुपयाति युवतिषु । विश्रमात्प्रणयं प्रणयाद्गतिर्भवति ॥१०८१॥

उल्लावसमुल्लावएहिं चा वि अल्लियणपेच्छणेहिं तथा ।

महिलासु सइरचारिस्स मणो अचिरेण सुग्गमदि हु ॥१०८२॥

'उल्लावसमुल्लावएहिं' मभाषणप्रतिवचने, ढोकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्वेच्छाचारी तस्य क्षीघ्रं मनश्चलति ॥१०८२॥

ठिदिगदिविलासविग्गमसहासचेट्टिदकडक्खदिट्ठीहिं ।

लीलाजुदिरदिसम्मेलणोवयारेहिं इत्थीणं ॥१०८३॥

गा०—युवती स्त्रियोका मुख, स्तन और स्थूल नितम्बोंको बराबर ताकते रहनेसे चंचल चित्त मनुष्यका हृदय विचलित हो जाता है ॥१०७९॥

गा०-टी०—हृदयके विचलित होनेके पश्चात् उसकी लज्जा जाती रहती है । निर्लज्ज होनेके पश्चात् वह उन स्त्रियोको देखना, उनके समीप जाना, उनसे हँसी ठठोली करना आदिके द्वारा परिचय प्राप्त करता है । पीछे उसका यह भय जाता रहता है कि लोग मुझे इनके साथ देखेंगे । इस तरह लज्जाशील मनुष्य भी क्रमसे कहीं गई अवस्थाओंको प्राप्त करता हुआ स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त हो जाता है कि यह मुझसे अनुराग करती है और किसीसे यह कहेगी नहीं आदि ॥१०८०॥

गा०—अपने मनमें ऐसा विश्वास होनेसे वह स्त्रियोंमें भी विश्वास करने लगता है और प्रेमसे आसक्ति बढ़ती है ॥१०८१॥

गा०—आसक्ति बढ़नेसे परस्परमें वार्तालाप होने लगता है । बार-बार मिलना और परस्पर देखना होता है । इससे स्त्रियोंके सम्बन्धमें स्वेच्छाचारी मनुष्यका चित्त शीघ्र ही विचलित हो जाता है ॥१०८२॥

'ठिठिगधि'—स्त्रीया स्मित्या, यत्या विभ्रमेण, नर्तनाभिप्रायेण, निगूहनेन, कटासावलोकनेन, शोभया, सुत्या, क्रीडया, सहगमनासनादिना उपचारेण च ॥१०८३॥

हासोवहासक्रीडारहस्सवीसत्थजंपिएहिं तहा ।

लज्जामज्जादीणं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥१०८४॥

'हासोपहासक्रीडा' हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकान्ते विष्वस्तर्जल्पतेन च लज्जामर्यावयो सीमातिक्रम करोति नरः ॥१०८४॥

ठाणगदिपेच्छिदुल्लावादी सच्चेसिमेव इत्थीणं ।

सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुति ॥१०८५॥

'ठाणगधि' स्थान, गति, प्रेषितमुल्लापमत्यादय सर्वासामेव स्त्रीणा सर्विलासा पुरुषस्य मनः सदा-पहरन्ति ॥५०८५॥

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ।

अग्गिसमीवे' व चयं मणो लहुमेव हि विलाइ ॥१०८६॥

'संसग्गीए' सहगमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अप्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मना द्रवीभवति । अग्निनिकटस्थिता लासेव ॥१०८६॥

संसग्गीसम्मूढो मेहुणसहिदो मणो हु 'दुम्मैरो ।

पुच्चावरमगणतो 'लषेज्ज सुसीलपायारं ॥१०८७॥

'संसग्गीसम्मूढो' स्त्रीससंममूढ मनो मिथुनकर्मपरिणत निर्मर्याद पूर्वापरमगणयदुल्लस्येच्छी लप्राकार ॥१०८७॥

गा०—टी०—तथा स्त्रियोके खडे होने, गमन करने नेत्रोके अनुराग, कटाक्ष क्षेप, हास्य-पूर्ण चेष्टा, शोभा, कान्ति, क्रीडा, साथ-साथ चलना, बैठना आदि उपचांगसे, हास उपहाससे, तथा एकान्तमे विश्वासयुक्त वार्तालापसे पुरुष लज्जा और मर्यादाकी सीमाका उल्लंघन करता है ॥१०८३-१०८४॥

गा०—सब ही स्त्रियोंका विलास सहित खडा होना, गमन करना, देखना, बोलना आदि सदा पुरुषोके मनको हरता है ॥१०८५॥

गा०—निर्बल चित्त और स्वेच्छाचारी मनुष्यका मन स्त्रियोके संसर्गसे उनके साथ उठने बैठने और आने जानेसे आगके पासमे रखे घी या लालकी तरह द्रवीभूत हो जाता है ॥१०८६॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके सहवाससे मूढ-मोहित हुआ मन मैथुन संज्ञासे पीड़ित होकर निर्मर्याद हो जाता है और आगे पीछे न देखते हुए सुन्दर शीलरूपी परिकोटको लींच जाता है ॥१०८७॥

इंद्रियकसयसपणागारवगुरुया सभावदो सव्वे ।  
संसंगिलद्धपसरस्स ते उदीरंति अचिरेण ॥१०८८॥

'इंद्रियकसयसपणागारवगुरुया' इन्द्रिय, कषायः, संज्ञाभिराहारभयमैथुनपरिग्रहविषयानि' ऋद्धिरस-  
सातगौरवैवच गुरुका । स्वभावात् सर्वे एव प्राणमृतः ससर्गलब्धप्रसरस्य अतीव अशुभपरिणामा अचिरादेवो-  
त्पद्यन्ते ॥१०८८॥

मादं सुदं च भगिणीमेगंते अन्लियंतगस्स मणो ।  
खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुण सेसामु महिलासु ॥१०८९॥

स्पष्टार्था ॥१०८९॥

उत्तरा—

जुण्णं पोच्चलमइलं रोगियबीभस्सदंसणविरुवं ।  
मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥१०९०॥

'जुण्णं' जीर्णतरा । 'पोच्चलमइलं' निःसारमलिना । 'रोगियबीभस्सदंसणविरुवं' व्याधिता बीभत्स-  
लोचना विरूपामपि स्त्रिय । 'मेहुणपडिगं' मैथुनकर्मनिमित्तं 'पच्छेदि' प्रायंयते । 'मणो' मन 'तिरियं खु'  
तिरिहवी वा दृष्ट्वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यक्त्वपि नराणा प्रवृत्ति ॥१०९०॥

दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण अभिलाससुमरणं सव्वं ।  
एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥१०९१॥

'दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण' दृष्टाना, अनुभूताना, श्रुताना च विषयाणा । 'अभिलाससुमरणं' अभिलाष-  
स्मरण । 'सव्वं एसोधि होवि महिलासंसग्गी' एषोऽपि भवति युवतिसंसर्गं । 'इत्थिविरहे' स्त्रीविरहे ॥१०९१॥

थेरो बहुस्सुदो वा पच्चई ओ तह गणी तवस्सिस्सि ।  
अचिरेण लभदि दोसं महिलावग्गम्मि वीसत्थो ॥१०९२॥

गा०—स्वभावसे ही सब प्राणी इन्द्रिय, कषाय, आहार भय मैथुन और परिग्रह विषयक  
सज्ञा तथा ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरवसे युक्त होते हैं । अतः स्त्रीकी संगतिकी  
साहाय्य पाकर वे इन्द्रियादिरूप अशुभ परिणाम तत्काल प्रबल हो उठते हैं ॥१०८८॥

गा०—एकान्तमे माता, पुत्री और बहनको पाकर जब मनुष्यका मन सहसा चंचल हो  
उठता है तब शेष स्त्रियोंके सम्बन्धमे तो कहना ही क्या है ॥१०८९॥

गा०—मनुष्यका मन अति वृद्धा, सारहीन, मैली, कुचैली, रोगी, देखनेमे भयानक कुरूप  
स्त्रीको भी मैथुन करनेके लिए चाहता है । तथा तीव्र कामके आवेशमे पशुओंके साथ भी मनुष्य  
मैथुन कर्म करता है ॥१०९०॥

अन्य प्रकारसे स्त्री संसर्ग दिखलाते हैं—

गा०—स्त्रीके अभावमें देखे हुए, भोगे हुए, सुने हुए विषयोंकी अभिलाषा करना, स्मरण  
करना, ये सब भी स्त्री संसर्ग ही है ॥१०९१॥

१. दो पच्चई पमाण गणी—पृ० ।

'बेरो' स्वविरः, बहुश्रुत, प्रत्ययित, प्रमाणभूत' गणधरः, तपस्वीत्येव प्रकारः । 'अचिरेण' चिर-कालमन्तरेण । 'कृन्धि बोसं' अयधो लभते । 'महिलाबन्धुम्भि' युवतिवर्गे । 'बोसस्थो' विश्वस्तः ॥१०९२॥

किं पुण तरुणा अबहुस्तुदा य सहारा य विगदवेसा य ।

महिलासंसग्गीए णट्टा अचिरेण होहंति ॥१०९३॥

'किं पुण तरुणा' सयौवना, अबहुश्रुता, स्वैरचारिण, विकृतवेगाश्च युवतिससर्गेण झटिति नष्टा न भवन्ति ? किं पुनर्भवन्त्येवेति यावत् ॥१०९३॥

सगडो हु जइणिगाए संसग्गीए दु चरणपम्भट्ठो ।

गणियासंसग्गीय य कूबवारो तथा णट्ठो ॥१०९४॥

'सगडो हु' सगडा नामधेयः । 'जइणिगाए ससग्गीए' जइणिगासज्ञायाः ससर्गेण । 'चरणपम्भट्ठो' चारित्राद्भटः । 'गणियासंसग्गीए' गणिकामोष्ठया । 'कूबवारो वि' कूपारनामकः । 'तथा णट्ठो' तथा चारित्रान्नष्टः ॥१०९४॥

रुदो पगसरो सच्चईय रायरिसि देवपुत्तो य ।

महिलारूवालोई णट्टा संसच्चिदुट्ठीए ॥१०९५॥

'रुदो पगसरो' रुद्र, पाराशरः, सात्यकिः, राजषिर्देवपुत्रश्च युवतिरूपावलोकितः । ससक्त्या दृष्टया नष्टः ॥१०९५॥

जो महिलासंसग्गी विसंव दट्टूण परिहरह णिच्चं ।

णित्थरह बंभचेरं जावज्जीवं अकंपा सो ॥१०९६॥

जो महिलाया स्त्रीणा ससर्गं विषमिव दृष्ट्वा नित्यं परिहरति । असी ब्रह्मचर्यं उद्वहति यावज्जीव निश्चलः ॥१०९६॥

शा०—वृद्ध, बहुश्रुत, सबका विश्वास भाजन, सबके लिए प्राणभूत, गणधर और तपस्वी मनुष्य भो यदि स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त है उनसे ससर्ग रखता है तो वह भी शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ॥१०९२॥

शा०—तब जो तरुण हैं, अल्पज्ञानी हैं, स्वच्छन्द और विकार पंदा करनेवाला वेष रखते हैं वे स्त्रियोंके ससर्गसे शीघ्र ही नष्ट क्यों न होंगे ? अवश्य ही होंगे ॥१०९३॥

शा०—शकट नामक मुनि जैनिका नामक ब्राह्मणीके ससर्गसे चारित्रसे भ्रष्ट हुए । और कूपार नामक मुनि वैश्याकी संगतिके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हुए ॥१०९४॥

शा०—रुद्र, पाराशर ऋषि, सात्यकि मुनि, राजषि, और देवपुत्र ये स्त्रीके रूपको देखनेमें आसक्त होकर भ्रष्ट हुए ॥१०९५॥

शा०—जो पुरुष स्त्रीके ससर्गको विषकी तरह देखकर नित्य ही उससे बचता है वह निश्चल होकर जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥१०९६॥

सञ्चमि इत्थिवग्गमि अप्पमत्तो सदा अब्बोमत्थो ।

बंमं निच्छरदि चदं चरिसमूलं चरणसारं ॥१०९७॥

'सञ्चमि' सर्वस्त्रोवर्गे । अप्रमत्त सदा अविवक्षस्तः, ब्रह्मचरतमुद्रहति चारित्र्यस्य मूल सारं च ॥१०९७॥

किं मे जंपदि किं मे पस्सदि अण्णो क्हं च वड्डामि ।

इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढबंभव्वदो होदि ॥१०९८॥

'किं मे जंपदि' किं जल्पति मा जनोज्ञ्यः । किं पश्यति, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति य सवानुप्रेक्षते असौ दृढब्रह्मचर्यव्रतो भवति ॥१०९८॥

मज्झण्हतिक्खसुरं व इत्थिरूवं ण पासदि चिरं जो ।

खिप्पं पडिसंहरदि दिट्ठिं सो णिच्छरदि बंमं ॥१०९९॥

'मज्झण्हतिक्खसुरं व' मध्यान्हे स्थित तीक्ष्णमादित्यमिव स्त्रीणां रूपं चिरं यो न पश्यति । क्षिप्रमुप-संहरति दृष्टिं य स निस्तरति ब्रह्मचर्यं ॥१०९९॥

एवं जो महिलाए सद्दं रूवे तहेव संफासे ।

ण चिरं जस्स सज्जदि दु मणं खु णिच्छरदि सो बंमं ॥११००॥

'एवं जो महिलाए' एव यो युवतिशब्दे, रूपे, ससर्गं च चिरं मनो न सधत्तेऽतो ब्रह्म निस्तरति । 'संसर्गो' ॥११००॥

इह परलोए जदि दे मेहुणविस्सुत्तिया हवे जण्हु ।

तो होहि तमुवउत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥११०१॥

'इह परलोए' इह परलोके च यदि मैथुनपरिणामो भवेत् । पंचविधे स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तदु-पयोगाद्विनश्यत्यमावशुभतम परिणाम इति सूरेरुपदेश ॥११०१॥

शा०—जो पुरुष सम्पूर्ण स्त्री वर्गमें प्रमाद रहित है और सदा स्त्रियोका विश्वास नहीं करता । वह ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है जो ब्रह्मचर्य व्रत चारित्रका मूल और उसका सार है ॥१०९७॥

शा०—अन्य लोग मेरे सम्बन्धमे क्या कहते हैं ? मुझे किस दृष्टिसे देखते हैं ? मेरी प्रवृत्ति कैसी है ? ऐसा जो सदा विचार करता है उसका ब्रह्मचर्यव्रत दृढ होता है ॥१०९८॥

शा०—जो मध्याह्नकालके तीक्ष्ण सूर्यकी तरह स्त्रीके रूपकी ओर देर तक नहीं देखता और शीघ्र ही अपनी दृष्टिको उसकी ओरसे हटा लेता है वह ब्रह्मचर्यका निर्वाह करता है ॥१०९९॥

शा०—इस प्रकार स्त्रीके शब्द, रूप और स्पर्शमे जिसका मन चिरकाल तक नहीं ठहरता, वह ब्रह्मचर्यका पालक होता है ॥११००॥

इस प्रकार स्त्री ससर्गके दोषोंका कथन किया ।

शा०—टी०—हे क्षपक । यदि इस लोक और परलोकमें तुम्हारे मैथुन सेवनके परिणाम हों तो पाँच प्रकारके स्त्री वैराग्यमें मनको लगाओ । अर्थात् स्त्रीकृत दोष, मैथुनके दोष, स्त्री-

उद्यम्भि जायवद्द्विदय उदएण ण लिप्पदे जहा पउमं ।

तह विसएई ण लिप्पदि साह विसएसु उसिओ वि ॥११०२॥

'उद्यम्भि जायवद्द्विदय' उदके जातं परिवृद्धं च यथा पप उदकेन न लिप्यते । तथा न लिप्यते विषयैः साधुविषयेषु वर्तमानोऽपि ॥११०२॥

उग्गाहिंतस्सुदधिं अच्छेरमणोन्लणं जह जलेण ।

तह विसयजलमणोमच्छेऽं विसयजलहिम्मि ॥११०३॥

'ओग्गाहंतस्सुदधिं' अवगाहमानस्योदधिं आश्चर्यं यथा जलेनास्पर्शनं । तथा विषयजलेनाऽर्चितता आश्चर्यं विषयजलधिमध्येमध्यासीनस्य ॥११०३॥

मायागहणे बहुदोसमावए अलियदुमगणे भीमे ।

असुइतणिल्ले साह ण विप्पणस्मंति इत्थिवणे ॥११०४॥

'मायागहणे' यथा गहन परेषां दुःप्रवेश एव मायापि परैर्दुरधिगमेति मायापि गहनमित्युच्यते । मायागहनं यस्मिन्नेव तन्मायागहनं तस्मिन् । 'बहुदोसमावडे' बहवो दोषा बहुदोषा असूया, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितरा प्रमत्तता चैत्येवमादयस्ते श्वापदा यस्मिन् । 'अलियदुमगणे' यथा द्रुमो महाननेकशाखोपशाखाकुलवच तद्द्रव्यलीकता द्रुमगणो यस्मिन् । भीमे भयकरे । 'अशुचित्तणिल्ले' अशुचिन्तणकुले । यतयो न विप्रणश्यन्ति स्त्रीवने ॥११०४॥

सिंमारतरंगाए विलासवेगाए जोव्वणजलाए ।

विहसियफेणाए सुणी णारिणईए ण बुज्झंति ॥११०५॥

संसर्गके दोष, शरीरकी अशुचिता और वृद्धसेवाका चिन्तन करे । ऐसा करनेसे तुम्हारे अति अशुभ परिणाम नष्ट होंगे ॥११०५॥

गा०—जैसे जलमें उत्पन्न हुआ और जलमें ही बढ़ा कमल जलसे लिप्त नहीं होता । वैसे ही विषयोंके मध्यमें रहते हुए भी साधु विषयोसे लिप्त नहीं होता ॥११०२॥

गा०—जैसे समुद्रका अवगाहन करके भी समुद्रके जलसे शरीरका निर्लिप्त रहना आश्चर्यकारी है । वैसे ही विषयरूपी समुद्रके मध्यमें रहकर विषयरूपी जलसे चित्तका न भोगना आश्चर्यकारी है ॥११०३॥

गा०—टी०—यह स्त्री रूपी वन मायाचाम्भे गहन है । जैसे गहन वनमें दूसरोका प्रवेश करना कठिन होता है वैसे ही मायाको भी जानना कठिन है इसलिए मायाको गहन कहा है । अतः स्त्रीरूपी वनमें माया ही गहनबेल आदि झाड़ियोंका समूह है । वनमें हिसक जन्तु रहते हैं । स्त्रीरूप वनमें परनिन्दा, चुगली, चंचलता, भीरुता, प्रमत्तपना आदि बहुदोषरूपी हिसक जन्तुओंका आवास है । वनमें वृक्ष होते हैं जो अनेक शाखा उपशाखाओंसे फैले रहते हैं । स्त्रीरूपी वनमें झूठरूपी वृक्ष अपने भेद प्रभेदोंके साथ रहता है । वनकी तरह स्त्रीरूप वन भी भ्रमंकर है । वनमें घास फूस रहता है । स्त्री रूपी वनमें अशुचि शरीरके अंग-उपांग ही घास फूस हैं । ऐसे स्त्रीरूपी वनमें साधु नहीं भटकता ॥११०४॥



'किन्नरतरंग' शृङ्गारतरङ्गया, विलासवेगया, यौवनजलया, विहसितफेनया, नारीनद्या मुनिर्नो-  
हते ॥११०५॥

ते अदिसुरा जे ते विलाससलिलमदिषवलरदिवेगं ।

जोव्वणणईसु तिण्णा ण य गहिया इत्थिगाहेहिं ॥११०६॥

'ते अदिसुरा' ते अतिसुरा । ये विलाससलिलामतिषपलरतिवेगा यौवननदीमुत्तीर्णं, न च गुहीता  
युवतिप्राहै ॥११०६॥

महिलावाहविमुक्का विलासपुंक्खा कडक्खदिट्ठिगरा ।

जण्ण वधंति सदा विसयवणचरं सो हवइ धण्णो ॥११०७॥

'महिलावाहविमुक्का' युवतिव्याधविमुक्ता । विलासपुषत्का, कटाक्षदृष्टिधराः । यं न ज्ञन्ति सदा  
विषयवने चरन्त भवति स धन्य ॥११०७॥

विब्वोगतिक्खदंतो विलासखंधो कडक्खदिट्ठिगहो ।

पगिहरदि जोव्वणवणे जमित्थिवग्घो तगो घणो ॥११०८॥

'विब्वोगतिक्खदंतो' विलासकन्धो । विभ्रमतीक्ष्णदन्तो विलासस्कन्ध कटाक्षदृष्टिनसः परिहरति  
यौवनवने य युवतिव्याध स धन्य ॥११०८॥

तेन्लोककाडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।

जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥११०९॥

गा०—स्त्री एक नदीके समान है । उसमें शृङ्गाररूप तरंगे हैं । विलासरूप वेग है ।  
यौवनरूप जल है तथा मन्द-मन्द हँसना ही भाग है । ऐसी स्त्रीरूपी नदी मुनिको नहीं बहा  
सकती ॥११०५॥

गा०—यह यौवनरूप नदी विलासरूप जलसे पूर्ण है अति चंचल रतिरूप इसका प्रवाह  
है । जो इस यौवनरूप नदीको पारकर गये और स्त्रीरूपी मगरमच्छोने जिन्हे नहीं पकडा वे इस  
जगतमें अति शूरवीर हैं अर्थात् जवानिमें भी जिन्हे स्त्रीकी चाहने नहीं घेरा वे ही सच्चे शूरवीर  
हैं ॥११०६॥

गा०—टी०—विषयरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको स्त्रीरूपी शिकारीके द्वारा  
छोडे गये कटाक्षदृष्टिरूपी बाणोने नहीं बीधा वह धन्य है । इन बाणोमें लगा पक्ष स्त्रीका  
विलास है । विलासके साथ कटाक्ष दृष्टिरूपी बाण स्त्रीरूपी शिकारी विषयरूपी बनमें विचरण  
करने वालो पर चलाता है । जो उससे बचे रहते हैं वे धन्य है ॥११०७॥

गा०—स्त्री व्याघ्रके समान है मृकुटि विकार उसके तीक्ष्ण दाँत है । विलासरूपी कन्धा  
है । कटाक्षदृष्टि उसके नख है । यौवनरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको यह स्त्रीरूपी  
व्याघ्र नहीं पकड़ता, वह धन्य है ॥११०८॥

गा०—तीनों लोकरूपी बनको जलाने वाली और विषयरूपी वृक्षोसे प्रज्वलित यह काम-  
रूप आग यौवन रूपी तृणो पर चलने में चतुर जिस मनुष्यको नहीं जलाती वह धन्य है ॥११०९॥

'तिस्रोक्काश्चिद्वह्नौ' नैकोनयाटचिद्वहनः । कामान्निविषयवृक्षे प्रज्वलिते यौवनतृणसञ्चरणकतुरं यन्म  
वहत्यसौ धन्यः ॥११०९॥

**विसयसमुद्गं जौवणसलिलं हसियगइपेक्खिदुम्मीयं ।**

**धण्णा समुत्तरन्ति हु महिलामयरोहिं अच्छिक्का ॥१११०॥**

'विसयसमुद्गं' विषयसमुद्गं । 'जौवणसलिलं' हसनयमनप्रेक्षणतरङ्गनिचित । धन्यां सम्मुत्तरन्ति  
युवतिमकरैरस्पृष्टाः ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यात ॥ चतुर्थ ॥१११०॥

पञ्चममहाव्रतनिरूपणायोत्तरप्रबन्ध—

**अन्मंतरबाहिरए सव्वे गथे तुमं विवज्जेहि ।**

**कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥११११॥**

'अन्मंतरबाहिरए' अन्मन्तरान्वाहाश्च । 'सव्वे गथे' सर्वान्ग्रन्थान् । 'तुमं विवज्जेहि' व्रजं भवान् ।  
'कदकारिदाणुमोदेहिं' कृतकारितानुमननैः । 'कायमणवयणजोगेहिं' कायेन मनसा वाचा वा ॥११११॥

तथाम्यन्तरपरिग्रहमेव निरूपयति गाथा—

**मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छदोसा ।**

**चत्तारि तह कसाया चउदस अन्मंतरा गथा ॥१११२॥**

'मिच्छत्तवेदरागा' वस्तुवाचात्म्याश्रद्धान् मिथ्यात्व, वेदशब्देन स्त्रीपुंसकवेदशब्दानां कर्मणा ग्रहण ।  
तज्जनिताः स्यादीना अन्येन्यविषयरागाः । स्त्रिय पुंसु राग, पुंसो युवतिषु, नपुंसकस्योभयत्र । 'हस्तादिगा  
य छदोसा' हास्यं, रतिररतिः शोको, भय जुगुप्सेति । एते षडदोषा । 'चत्तारि तह कसाया चोदस अन्मंतरा  
गथा' चत्वारस्तथा कषयाश्चतुर्दशैते अन्मन्तरा परिग्रहा ॥१११२॥

**बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं धणषण्णकुप्पमंडाणि ।**

**दुपयचउप्पय जाणाणि खेव सयणासणे य तहा ॥१११३॥**

गा०—इस विषयरूप समुद्गमें यौवनरूप जल है, स्त्रीका हँसना चलना देखना उसके लहरे  
हैं । और स्त्रीरूप मगरमच्छ है जो इन मगरमच्छोंसे अछूते रहकर इस समुद्गको पार करते हैं वे  
धन्य हैं ॥१११०॥

इस प्रकार चतुर्थं ब्रह्मचर्यं व्रतका व्याख्यान हुआ । पंचम महाव्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ? कृत कारित अनुमोदना और मन वचन कायसे तुम सब अन्तरग और  
बहिरग परिग्रहका त्याग करो ॥११११॥ मिथ्यात्व, वेद राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय,  
जुगुप्सा और चार कषाय ये चौदह अन्तरग परिग्रह हैं ॥१११२॥

टी०—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है । वेद शब्दसे स्त्रीवेद,  
पुरुषवेद और नपुंसकवेद नामक कर्मोंका ग्रहण किया है । उनके उदयसे उत्पन्न स्त्री आदिके पार-  
स्परिक रागको यहाँ अन्तरग परिग्रह कहा है । स्त्रियोंका पुरुषोंमें राग, पुरुषोंका स्त्रियोंमें राग  
और नपुंसकोंका दोनोंमें राग पारस्परिक राग है ॥१११२॥

‘बाहिरसंवा’ बाह्यपरिग्रहा । ‘श्लेष’ कर्षणाद्यधिकरणं । ‘वस्तु’ वास्तु गृहं । ‘वर्ण’ सुवर्णादि । ‘वपुः’ धान्यं व्रीह्यादि । ‘कुप्य’ कुप्यं वस्त्र । ‘भंड’ भाण्डशब्देन हिङ्गुमरिचादिकमुच्यते । दुपदशब्देन दास-दासीभृत्यवर्गादि । ‘खड्गव्य’ गजतुरवादयश्चतुष्यदा । ‘आवासीय’ शिबिकाविमानादिक यान । ‘स्वयणासणे’ शयनानि आसनानि च ॥१०१३॥

बाह्यमननिराकृत्याभ्यन्तरकर्ममलं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रवीर्याव्याबाधत्वानामात्मगुणानां छादने व्यापृतं न निराकर्तुं शक्यते इत्येतद्दृष्टान्तमुखेनाचष्टे—

जह कुंडओ ण सक्को सोचेदुं तंदुलस्स सतुसस्स ।

तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥१११४॥

‘जह कुंडओ ण सक्का’ तुषसहितस्य तन्दुलस्यान्तर्मलं बाह्ये तुषेऽनपनीते यथा शोधयितुमशक्य । तथा बाह्यपरिग्रहमलमसक्तस्याभ्यन्तरकर्ममलं अशक्यं शोधयितुमिति मायार्थं । सपरिग्रहस्य कस्मान्न कर्मविमोक्षो ? जीवाजीवद्रव्ये बाह्यपरिग्रहशब्दनोच्येते । तौ च सर्वदा सर्वत्र सन्निहिताविति बन्धक एवायमात्मा स्यादिति । एवं च मुक्त्यभाव इति वीचिते, न तयोः सम्बन्धहेतुरपि तु लोभादयः परिणामाः । लोभादिपरिणामहेतुकं बाह्यद्रव्यग्रहणं ॥१०१४॥

अतो यो बाह्यमुपादत्तेऽभ्यन्तरपरिणाममन्तरेण नैवादत्ते इति वदति—

गगो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ।

तो तइया वेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ ॥१११५॥

गा०—खेती आदिका स्थान क्षेत्र, मकान, सुवर्ण आदि धन, जी आदि धान्य, कुप्य अर्थात् वस्त्र, भाण्ड शब्दसे हींग मिच आदि, दुपद शब्दसे दास दासी सेवक आदि, हाथी घोड़े आदि चौपाये, पालकी विमान आदि यान तथा शयन आसन आदि ये दस बाह्य परिग्रह है ॥१११३॥

बाह्य परिग्रहके त्याग किये बिना ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अव्याबाधत्व नामक आत्म गुणोको ढाँकने वाले अभ्यन्तर कर्ममलको दूर नहीं किया जा सकता, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—टी०—जैसे तुष सहित चावलका तुष दूर किये बिना उसका अन्तर्मलका शोधन करना शक्य नहीं है । वैसे ही जो बाह्य परिग्रहरूपी मलसे सम्बद्ध है उसका अभ्यन्तर कर्ममल शोधन करना शक्य नहीं है ।

शंका—परिग्रह सहित व्यक्तिका कर्मबन्धनसे छुटकारा क्यों नहीं होता । जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य बाह्य परिग्रह कहे जाते हैं । और वे दोनों सदा सर्वत्र जीवके समीप रहते हैं अतः आत्मा सदा कर्मका बन्धक ही रहेगा । और उसे कभी मुक्ति नहीं होगी ।

समाधान—ऐसा नहीं है, उन जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यके निकट रहते हुए भी लोभादिरूप परिणाम उनसे सम्बन्धमें कारण होते हैं । लोभादिरूप परिणामोके कारण जीव बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है ॥१११४॥

अतः जो अभ्यन्तर लोभादि परिणामके बिना बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है, वह ग्रहण नहीं करता, यह कहते हैं—

रागो लोभोऽहो ममेदं भावो रावः, द्रव्यगतगुणासकिलोम, परिग्रहेच्छा मोहो। ममेदं भावः सजा। किञ्चित् मम भवति शोभनमिति इच्छन्नुगतं ज्ञान। तीव्रोऽभिलाषो यः परिग्रहगतः स गौरवशब्देनोच्यते। एते यदोदिता परिणामास्तदा यन्मान्माह्वान् ग्रहीतुं मन करोति नान्यथा। तस्माद्यो बाह्यं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्युभपरिणामवानेवेति कर्मणा बन्धको भवति। ततस्त्याग्या परिग्रहाः॥११११५॥

स च परिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकाचचितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्यं तयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसञ्चसंगच्छाओ पदमो हु होदि ठिदिकप्पो ।

इहपरलोइयदोसे सञ्चे आवहदि संगो हु ॥११११६॥

'चेलादिसञ्चसंगच्छाओ इति' दशविधा हि स्थितिकल्या निरूपिता अचेलतादयः। तत्र आचेलक्य नाम चेलमात्रत्यागो न भवति। किन्तु चेलादिसर्वसगत्याग प्रथम स्थितिकल्पो दशानामाद्यः। 'इहपरलोइयदोसे' ऐहिकामुष्मिकाश्च दोषानावहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारोऽपराधवता सकल परिग्रहस्त्याज्यः। इति भावः ॥११११६॥

श्रुतं चेलपरित्यागमेव सूचयति आचेलक्यमिति न इतरत्यागमित्याशङ्क्यामाचष्टे—

देसामासियसुत्तं आचेलक्यकंति तं सु ठिदिकप्पे ।

लुत्तोत्थ आदिसदो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥११११७॥

'देसामासियसुत्तं' परिग्रहकदेशामर्शकारिसूत्र 'आचेलक्यकंति' आचेलक्यमिति। 'तं सु' तत्। 'ठिदि-

गा०—टी०—'यह मेरा है' ऐसे भावको राग कहते हैं। द्रव्यके गुणोंमें आसक्तिको लोभ कहते हैं। परिग्रहकी इच्छाको मोह कहते हैं। मेरे पास कुछ होता तो अच्छा होता, इस प्रकारके ममत्व भावको सजा कहते हैं। परिग्रहविषयक तीव्र अभिलाषाको गारव शब्दसे कहते हैं। ये परिणाम जब उत्पन्न होते हैं तब बाह्य परिग्रहको ग्रहण करनेका मन होता है, उनके अभावमें नहीं होता। अतः जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करता है वह नियमसे लोभ आदि रूप अशुभ परिणाम वाला होनेसे कर्मका बन्ध करता है। अतः परिग्रह त्याज्य है ॥११११५॥

आगे कहते हैं कि यह परिग्रह त्याग हमने अपनी बुद्धिसे नहीं कहा, किन्तु निश्चयसे आगममें इसके पालनेका उपदेश है—

गा०—आगममें दस प्रकारका स्थितिकल्प कहा है। उसमें पहला कल्प आचेलक्य है। आचेलक्यका अर्थ केवल वस्त्र मात्रका त्याग नहीं है किन्तु वस्त्र आदि सर्व परिग्रहका त्याग है। यह दस कल्पोंमेंसे पहला स्थितिकल्प है। यतः परिग्रह इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषोंको लाती है अतः जो दोनो लोक सम्बन्धी दोषोंसे बचना चाहता है उसे सब परिग्रह छोड़ना चाहिए। यह इस गाथाका भाव है ॥११११६॥

कोई आशंका करता है कि आगममें वस्त्र मात्रके त्यागकी सूचना है अन्यके त्यागकी नहीं? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—टी०—स्थितिकल्पका कथन करते हुए जो 'आचेलक्य' आदि सूत्र कहा है वह देशा-

कल्पे' स्थितिकल्पे वाच्ये प्रवृत्तं सूत्रं नियोगतो ममुक्षुणां यत्कर्तव्यतया स्थितं तस्मिन् स्थितमुच्यते स्थितकल्पः, स्थित-प्रकारः । एतदुक्तं भवति—चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलग्रन्थत्यागं आचेलक्यशब्दस्यार्थः इति । तालपलम्बं च कल्पयित्वा सूत्रे तालशब्दो न तत्रविशेषवचनम् । किन्तु वनस्पत्येकदेशतर्कविशेष उपलक्षणाय वनस्पतीनां गृहीत । तथाचोक्तं कल्पे—

हरिततपोतहिगुच्छा गुम्फा बल्बोल्बा य वल्बा य ।

एवं वणफवीवो तालोद्देशेन आचिदृठा ॥ इति ॥

तालैवि वलेवित्तिव तलेव आवैत्ति उस्सिवो वत्ति ।

तालाविनो तवत्तियववणफवीर्धं हववि वार्धं ॥

प्रलम्ब द्विविध मूलप्रलम्बं च, अग्रप्रलम्बं च कन्दमूलफलाक्षयं, भूम्यनुप्रवेशितमूलप्रलम्बं, अकुरप्रवालफल-पत्राणि अग्रप्रलम्बानि । तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बं वनस्पतेरंकुरादिकं च लम्पते इति यथा सूत्रार्थतथेहापीति मन्यते । अथवा 'लुप्तोच आविशाब्धो' लुप्तोच सूत्रे आविशाब्दः । अचंचादित्वमिति प्राप्ते । यथा 'तालपलम्ब-सुप्तम्' यथा तालप्रलम्बसूत्रं । तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलम्बमित्युक्तं । तथाचोक्तं सिद्धान्ताविति' निषचयेनैव सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्रं ह्येतत्कृतं । आदिशब्दलोपोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रं न तु देशामर्शकं भवतीति ॥१११७॥

मर्शकं है । ममुक्षुओको जो नियमसे करना चाहिए उसे स्थित कहते हैं और उसके मेदोको स्थिति-कल्प कहते है । उसमें 'चेल' शब्द परिग्रहका उपलक्षण है । अतः आचेलक्य शब्दका अर्थ सर्व परिग्रहका त्याग है । जैसे 'तालपलव ण कल्पदि' इस सूत्रमे ताल शब्द वृक्ष विशेष ताडका वाचक नहीं है, किन्तु वनस्पतिका एक देश वृक्ष विशेष सब वनस्पतियोके उपलक्षणके लिये रखा है । कल्पसूत्रमे कहा है—

'ताल शब्दसे हरित तृण, औषधि, गुच्छा, बेल, लता, वृक्ष इत्यादि वनस्पतियोका कथन किया है ।' 'ताल शब्द तल धातुसे निष्पन्न हुआ है । तल शब्दका अर्थ ऊँचाई भी है । जो स्कन्ध रूपसे ऊँचा वृक्ष विशेष होता है वह ताल वृक्ष है । तालादिमे आदि शब्दसे वृक्ष फूल पत्ता आदि वनस्पति लेना चाहिए ।

प्रलम्बके दो प्रकार है—मूल प्रलम्ब और अग्रप्रलम्ब । कन्दमूल फल जो भूमिमे रहते है वे मूल प्रलम्ब हैं । और अकुर, प्रवाल, फल, पत्ते अग्रप्रलम्ब है । तालके प्रलम्बको ताल प्रलम्ब कहते हैं । इससे वनस्पतिके अंकुर आदिका ग्रहण होता है । अतः जैसे तालप्रलम्बसूत्रमें ताल प्रलम्बसे अन्य वनस्पतियोका ग्रहण किया है वैसे ही आचेलक्यसे अन्य परिग्रहका भी ग्रहण किया है । अथवा सूत्रमे अचेलत्वादिका आदि शब्द लुप्त हो गया है । जैसे तालप्रलम्ब सूत्रमे 'तालादि' शब्दका प्रयोग न करके 'तालप्रलम्ब' कहा है । आचेलक्य आदि सूत्रको सूत्रकारने देशामर्शक सूत्ररूपसे बनाया है अर्थात् परिग्रहके एक देश वस्त्रका ग्रहण न करनेका निर्देश करके समस्त परिग्रहका त्याग बतलाया है । किन्तु ताल प्रलम्ब सूत्रमे आदि शब्दका लोप है अतः वह सूत्र देशामर्शक नहीं है ॥१११७॥

विशेषार्थ—दस स्थितकल्पोंमें पहला स्थितिकल्प आचेलक्य है । चेलका अर्थ वस्त्र है । अतः कोई शक्य करता है कि आचेलक्यसे केवल वस्त्रका ही त्याग कहा है । सब परिग्रहका

य य होदि संजदो वत्थमिच्चचागेण सेससंगेहिं ।

तम्हा आचेलक्कं चाओ सव्वेसि होइ संग्गाणं ॥१११८॥

'य य होदि संजदो' नैव संयतो भवति इति वस्त्रमात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वित । वस्त्रादन्य. शेष. इत्युच्यते । आचेलक्कमित्यत्र चेलत्यागमात्रमेव यदि निदिष्टं स्याच्चेलादन्यपरिग्रह गृह्णन् सयतः स न भवति यस्मात्स्मादाचेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मन्तव्य इति युक्तिरुपन्यस्ता चेलशब्दस्य परिग्रहोपलक्षण-तायां । किं च महाव्रतोपदेशप्रवृत्तानि च सूत्राणि ज्ञापकानि सर्वसंगत्याग आचेलक्कमित्यत्र निदिष्ट इत्यस्य ॥१११८॥

कथं यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यान्नेतर अहिंसादिप्रवृत्तानि न स्यु इत्येतदधाचष्टे उत्तरगाथाया—

संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिककं ।

भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥१११९॥

'संगणिमित्तं मारेवि' परिग्रहनिमित्त प्राणिनो हिनस्ति षट्कर्मप्रवृत्ते । अथ द्रव्य परकीय ग्रहीणु-कामस्त हिनस्ति, भणत्यलोक, करोति स्तन्य, भजते अपरिमितामिच्छा, मधुने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसादि-

त्याग नहीं कहा । इसके समाधानमें दो बातें कही हैं । प्रथम यह सूत्र देशामपेक्षक है—एक देश चेलके द्वारा सब परिग्रहका त्याग कहा है । दूसरे, इसमें आदि शब्दका लोप हो गया है आचेल-क्यादिको जगह आचेलक्य कहा है अत आदि शब्दसे सब परिग्रहका त्याग बतलाया है । अपने इस कथनकी पुष्टिमें ग्रन्थकारने ताल प्रलम्ब सूत्रका उदाहरण दिया है ।

कल्पसूत्रमें पहला सूत्र है—

'नो कप्पइ निग्गयाण वा निग्गयोण वा आमे तालपल्लवे अभिन्ने पडिगाहिताए ।'

अर्थात् निग्रन्थ साधु और साध्वियोंको ताल प्रलम्ब ग्रहण नहीं करना चाहिए । इसके भाष्यमें कहा है कि तालवृक्षके फलको ताल कहते हैं उसे अप्रलम्ब कहते हैं । और उसके आधारभूत वृक्षको तल कहते हैं । और प्रलम्ब मूलको कहते हैं । यहाँ यद्यपि सूत्रमें तालप्रलम्ब जो कच्चा हो और टूटा न हो उसके ग्रहणका निषेध किया है । तथापि तालफलसे नारियल, लकुच, कैथ, आम्र आदि सभी लिए हैं । इसी तरह आचेलक्यमें भी केवल वस्त्रका ही त्याग नहीं कहा किन्तु सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११७॥

गा०—टी०—केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेमें और शेष परिग्रह रखनेसे साधु नहीं होता । यदि 'आचेलक्य' से वस्त्रमात्रका त्याग ही कहा होता तो वस्त्रके सिवाय अन्य परिग्रहको ग्रहण करनेवाला साधु नहीं हो सकता । अतः आचेलक्यका अर्थ सर्वपरिग्रहका त्याग मानना चाहिए । 'चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है' इसके सम्बन्धमें यह युक्ति दी गई है । तथा महाव्रतका कथन करनेवाले सूत्र इस बातके ज्ञापक है कि आचेलक्यमें सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११८॥

आगे कहते हैं कि यदि साधुके लिए केवल वस्त्रमात्र ही त्याज्य है, अन्य परिग्रह त्याज्य नहीं है तो अहिंसादिव्रत नहीं हो सकते—

गा०—टी०—परिग्रहके लिए अंसि मंसि कृपि आदि षट्कर्म करके मनुष्य प्राणियोंका घात करता है । पराये द्रव्योंको ग्रहण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी

प्रतानि न स्युः । परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठन्ति निवचलान्यहिंसादीनि ॥१११९॥

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमन्तरेण प्रत्यग्रकर्मोपचयः कथं निवार्यते । प्रत्यग्रकर्मोपचयेन कर्मणां सैवानन्तकाला संसृतिरित्येतच्चैतसि कृत्वा परिग्रहग्रहणमात्रिनोऽशुभान्परिणामानाचष्टे—

**सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिड्ढरविवादा ।**

**संगणमिच्चं ईसाअयासल्लाणि जायंति ॥११२०॥**

‘सण्णागारवपेसुण्ण’ परिग्रहसज्ञा ‘तस्तन्निषेर्गौरथं’ च जायते सपरिग्रहरय । पिशुनयति मूचयति पर-  
दोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म वैश्वस्यं । परिग्रहव्यानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छु परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धन  
हारयति, कलह वा करोति । धनार्थं पुरुष वचो वदति, विवाद वा कुर्वति, ईष्यासूयाशल्यानि च जायन्ते ।  
अयमेतस्मै प्रयच्छति न मह्य इति संकल्प्य ईष्या । परस्य धनवत्तासहनप्रसूया ॥११२०॥

**क्रोधो माणो माया लोभो हास रइ अरदि भयसोगा ।**

**संगणमिच्चं जायइ दुगुंछ तइ रादिभच्चं च ॥११२१॥**

‘तहा क्रोधो माणो’ क्रोध परिग्रहतरस्तस्य परिणामो<sup>२</sup> दाने जायते । धन्योऽश्नुमिति गचितो भवति ।  
परो धन दृष्ट्वा गृह्णातीति तन्निगृहणकरणात्माया च भवति । काकणिलाभे कार्षापण वाञ्छति ।  
तल्लब्ध्या कार्षापणसहस्रादिकमिति लोभस्य हेतुद्वयलाभ । निर्द्विषिण लोको हसतीति हासस्यापि कारणं ।  
द्रव्यमात्मीय पश्यत तत्रानुरागो रति । तद्विनाशो अरति । तदव्ये हरति इति भय । शोको वा । जुगुप्सते

करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है और मैथुन करता है । ऐसा करनेपर अहिंसा आदि व्रत  
नहीं हो सकते । किन्तु पूर्ण ग्रहका त्याग करनेपर अहिंसादिव्रत स्थिर रहते हैं ॥१११९॥

तथा अशुभ परिणामोके संवरके विना नवीन कर्मोका संचय कैसे रोका जा सकता है ?  
श्री नवीन कर्मोका संचय होनेमे वही अनन्तकालीन ससार है । ऐसा चिन्तने स्थिर करके ग्रन्थ-  
कार परिग्रहके ग्रहणसे होनेवाले अशुभ परिणामोको कहते हैं—

गा०—टी०—परिग्रहीके परिग्रह सज्ञा और परिग्रहमे आसक्ति होती । वह दूसरेके दोषोको  
इधर-उधर कहता है । परिग्रही पुरुष दूसरेका धन लेनेके लिए दूसरोके दोष प्रकट करके उसका  
धन हरता है । कलह करता है । धनके लिए कठोर वचन बोलता है, झगडा करता है । ईर्ष्या  
और अमूया करता है । यह व्यक्ति अमुकको तो देता है मुझे नहीं देता, इस प्रकारके संकल्पको  
ईर्ष्या कहते हैं । दूसरेके धनी होनेको न सहना असूया है ॥११२०॥

गा०—टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन ग्रहण किये जाने पर क्रोध होता है । मैं धनाढ्य हूँ  
ऐसा गर्व होता है । दूसरा व्यक्ति मेरा धन देखकर उसे ले लेगा, इस भयसे उसे छिपाता है अतः  
माया होती है । एक कौड़ीका लाभ होने पर एक रुपया आदिका लाभ चाहता है । या धनका लाभ  
होनेसे लोभ होता है । धनी निर्धनको देखकर हँसता है अतः परिग्रह हास्यका भी कारण है ।  
अपना द्रव्य देखकर उससे अनुराग होता है । अतः परिग्रह रतिका कारण है । द्रव्यका नाश होने  
पर अरति होती है । उसे दूसरे हर लेगे यह भय होता है । धन हर लेने पर शोक होता है ।

वा विरूपं परिग्रहं । परिग्रहपरिपाकनाथं रात्रारविं भुङ्क्ते मदीयं भोजनं परे वृष्ट्वापिनो भवन्ति इति  
मन्यमानः ॥११२१॥

**गंधो भयं नराणां ग्रन्थो नराणां भयं ।**

**अण्णोण्णं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिमकासी ॥११२२॥**

'गंधो भयं नराणां' ग्रन्थो नराणां भयं । ननु भयसंज्ञस्य कर्मणः उदयादुपजातः परिणाम आत्मनो भयं न वास्तुतोत्रादिको ग्रन्थः तथाभूतस्ततः किमुच्यते ग्रन्थो भयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोषः । 'सहोबरा' एकोदरे प्रसवा अपि सन्तः 'एयरत्थजा' एकरथ्यनगरे जाता । 'जं' यस्मात् । 'ते अण्णोण्णं मारेदुं' अण्योन्यं हन्तुं । 'अत्थणिमित्तं' वसुनिमित्तं 'मदिमकासी' दुग्धि कृतवन्तः ॥११२२॥

**अत्थणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेक्कमेक्केहिं ।**

**मज्जे मसे य विसं संजोइय मारिया जं ते ॥११२३॥**

'अत्थणिमित्तं' धननिमित्तं । 'अदिभयं जादं' अतीव भयं जातं । 'चोराणं' एकमेककेहिं चोराणां-अण्योन्यैः सह । 'मज्जे मसे य विसं संजोइय' मद्ये मामे च विषं सयोज्य । 'मारिया जं ते' यस्मात्सं मारिताः ॥११२३॥

**संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ।**

**पुत्तेण चेव अत्थे हिदम्मि णिहिदेण्णए साहुं ॥११२४॥**

'संगो महाभयं' परिग्रहो महद्भयं । 'जं' यस्मात् । 'विहेडिदो' बाधितः । 'सावगेण संतेण' श्रावकेण सता । 'पुत्तेण चेव' पुत्रेणैव । 'णिहिदेण्णए अत्थे हिदंमि' निक्षिप्तैः ज्ञैः हृते साधुं ॥११२४॥

विरूप परिग्रह होने पर रूग्नि होती है। मेरा भोजन देखकर दूसरे मंगिगे इसलिए रातमे भी भोजन करता है। अथवा मालिककी सेवामे रहनेसे रातमे भोजन करता है। इस तरह परिग्रहके कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुत्सा और रात्रि भोजन होते है ॥११२१॥

**गा०—टी०—**परिग्रह मनुष्यमे भय उत्पन्न करता है ।

**शब्दाः—**भय नामक कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ आत्माका परिणाम भय है। घर खेत आदि परिग्रह भय नहीं है तब आप परिग्रहको भय कैसे कहते हैं ?

**समाधान—**परिग्रह भयका कारण होनेसे भय कही जाती है। एक ही माताके उदरसे उत्पन्न हुए और एक ही नगरमें उत्पन्न हुए भी धनके लिए परस्परमे मारनेका भाव करते हैं ॥११२२॥

**गा०—**धनके कारण चोरोको परस्परमें एक दूसरेसे भय उत्पन्न हुआ। और उन्होंने मद्य और मांसमे विष मिलाकर एक दूसरेको मार डाला ॥११२३॥

**गा०—**परिग्रह महाभयरूप है क्योंकि जमीनमे गाड़े गये धनको अपना पुत्र ही ले गया और सत्पुरुष श्रावकको भी यह सन्देश हुआ कि मेरे इस पुत्रकोमे गड़े धनको साधु जानता था। सो कहीं इसी साधुने मेरा धन हरा हो। ऐसा सन्देश करके उस श्रावकने साधुपर कथाओके द्वारा अपना सन्देश प्रकट किया ॥११२४॥



दुजो वंमणि वण्णो लोजो हत्थी च तद्द य रीयसुयं ।  
 परियणरो वि य राया सुवण्णरथणस्स' अक्खाणं ॥११२५॥  
 वण्णणउलो विज्जो वसहो तावस तद्देव च्चूदवणं ।  
 रुक्खसिवण्णीडु इह मेदज्ज सुणिस्स अक्खाणं ॥११२६॥  
 'सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा कुहासमं पयं ।  
 दुस्सेज्ज दुज्जणं सइइ वइइ आरमवि गुरुयं ॥११२७॥  
 गायादि णच्चइ भावइ कसइ ववइ लवदि तद्द मलेइ णरो ।  
 तुण्णदि वुणइ याचइ कुलम्मि जादो वि गंयत्थी ॥११२८॥

'गायति' गायति, नृत्यति, धावति, कृपति, वपति, कथिष्यन्तेव करोति, मर्दनं करोति, सोम्यति, वयति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥११२८॥

सेवइ णियादि रक्खइ गोमहिंसिमजावियं इयं हत्थिं ।  
 ववहरदि कुणदि सिप्यं अहो य रत्थी य गवणिहो ॥११२९॥

गा०—टी०—ये कथाएँ इस प्रकार हैं। पहले श्रावक जिनदत्तने दूत और बन्दरकी कथा कही। फिर साधुने ब्राह्मणी और नेवलेकी कथा कही। फिर श्रावकने व्याघ्र और वेद्यकी कथा कही। तब साधुने बैल और लोगोंकी कही। फिर श्रावकने हाथी और तापसकी कथा कही। तब साधुने राजा और ब्राह्मवनकी कथा कही। फिर श्रावकने पार्थक मनुष्य और शिवनिवृक्षकी कथा कही। तब साधुने राजा और सर्पकी कथा कही। तब श्रावकने एक चोर और सेठकी कथा कही। अन्तमे साधुने मणिपालक और मेतार्यमुनिकी कथा कही ॥११२५-११२६॥

विशेषार्थ—इन दोनो गाथाओमें उस श्रावक और साधुके मध्यमे हुई कथाओके पात्रोके नाम दिये है। ये दस कथाएँ बृहत्कथाकोशमे जिनदत्त कथानक १०२ के अवान्तरमे दी गई है। दसवीं कथाके अन्तमे धन चुरानेवाला पुत्र प्रबुद्ध होकर पिताको धन अर्पित करके उन साधुके समीप दीक्षा ग्रहण करता है। इन दोनो गाथाओपर न तो अपराजित सूरिकी टीका है। न आशाधरकी और न अमितगतिके संस्कृत पद्य ही हैं ॥११२५-११२६॥

गा०—परिग्रहका इच्छुक मनुष्य गर्मी, सर्दी, घाम, वायु, वर्षा, प्यास, भूख, श्रम, मार्ग चलना आदिका दुस्सह कष्ट सहन करता है और अपनी शक्तिसे भी अधिक भार ढोता है ॥११२७॥

गा०—तथा श्रेष्ठकुलमें जन्म लेकर भी धनके लिए गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेती करता है, बीज बोता है, धान्य काटता है, मालिश करता है, कपड़े सीता है, कपड़े बुनता है, और भीख मांगता है ॥११२८॥

गा०—रात दिन न सोकर सेवा करता है, घर छोड़कर देशान्तर जाता है। गाय, भैंस,

१. णरथस्स—अ० । णयारस्स—आ० मु० । २. क्यवणं—अ० ज० । ३. एता टीकाकारो नेच्छति ।  
 ५३

आउधवासस्त उरं देह रण्णुहम्मि गंधलोभादो ।

भगरादिभीमसाधबहुलं अदिगच्छदि सहस्रवदं ॥११३०॥

‘आउधवासस्त उरं देह’ आयुधवर्षत्य उरो वदाति । ‘रण्णुह’ रणमुखे । ‘गंधलोहाधो’ ग्रन्थलोभात् मकरादिभीमं स्वापबहुलं प्रविशति समुद्र ॥११३०॥

अदि सौ तत्त्व भरिज्जो गंधो भोगा य कस्स ते होज्ज ।

महिलाविहिंसणिज्जो लूसिद्देहो व सो होज्ज ॥११३१॥

‘अदि सौ तत्त्व भरिज्जो’ यद्यसौ रणमुखे मृतिमियात् । ग्रन्था भोगाश्च ते तावत्कस्य भवेयुः । वनिता-  
विनिन्दः विनष्टकरचरणोद्ययवो भवेद्यद्यपि न मृतः ॥११३१॥

गंधणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अढवीओ ।

गंधणमित्तं कम्मं कुण्ह अकादव्वयंपि षरो ॥११३२॥

‘गंधणमित्तमदीदिय’ ग्रन्थनिमित्तं प्रविशति गुहा तथा भीमाश्चाटवी । ग्रन्थनिमित्तं कर्म अकलक्य-  
मपि करोति नरः ॥११३२॥

सुरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सघणस्स ।

माणी वि सहइ गंधणमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥११३३॥

‘सुरो तिक्खो मुक्खो वि’ शूरस्तीक्ष्णो मूर्खश्च वधवर्ती भवति जनस्य सघनस्य । अभिमानवानपि सहते  
ग्रन्थनिमित्तं महान्तं अपि परिभवं ॥११३३॥

गंधणमित्तं घोरं परितावं पाविदूण कपिण्णे ।

लल्लककं संपत्तो णिरयं पिण्णागगंधो खु ॥११३४॥

‘अथणमित्तं’ वसुनिमित्तं महत् दुःख प्राप्य । ‘कपिण्णे’ कम्पितलनगरे । ‘लल्लककं’ लल्लकनामघेयं  
संप्राप्तो नरकं पिण्याकगन्धसंज्ञ ॥११३४॥

बकरी, भेड़, हाथी, घोड़े पालता है । लेन-देन करता है । शिल्पकर्म करता है ॥११२९॥

गा०—परिग्रहके लोभसे युद्धभूमिमें अपनी छातीपर आयुधोकी वर्षा सहता है । मगरमच्छ  
आदि भयंकर जन्तुओसे भरे समुद्रमें प्रवेश करता है ॥११३०॥

गा०—यदि कदाचित् धनका लोभी रणमें मर जावे तो परिग्रह और भोग कौन करेगा ।  
यदि न भी मरे और हाथ पैर कट जाये तो भी स्त्रियोंके द्वारा तिरस्कृत होगा ॥११३१॥

गा०—परिग्रहके निमित्त भयानक गुफामें प्रवेश करता है, भयानक जंगलमें जाता है ।  
इस प्रकार मनुष्य परिग्रहके लिए नहीं करने योग्य काम भी करता है ॥११३२॥

गा०—परिग्रहके निमित्त शूरवीर, असहनशील और मूर्ख पुरुष भी धनी मनुष्यके वशमें  
होता है और अभिमानी भी बहुत अपमान सहता है ॥११३३॥

गा०—परिग्रहके निमित्तसे कपिला नगरीमें पिण्याकगन्ध नामका लोभी पुरुष घोर दुःख  
सहकर मरकर लल्लक नामक नरक बिलमें उत्पन्न हुआ ॥११३४॥

एवं चेदुंसस्स वि संसद्दो वेव गंधलाहो दु ।

ण य संचीयदि गंधो सुदरेणवि मंदभागस्स ॥११३५॥

'एवं चेदुंसस्स वि' एवं श्रेष्ठमानस्यापि संशयित एव ग्रन्थलामः । न च सचयमुपयाति ग्रन्थः । सुचिरे-  
णापि मन्दभाग्यस्य ॥११३५॥

जदि वि कइचि वि गंधा संचीएजण्ह तह वि से णत्थि ।

तिची गंधेहि सदा लोभो लाभेण वहुदि खु ॥११३६॥

'जदि वि' यद्यपि कर्त्तव्यत्वेनचित् प्रकारेण ग्रन्थाः सचयमुपेयुः । तथापि तस्य तृप्तिर्नास्ति ग्रन्थः ।  
सदा लोभो लाभेन बद्धते ॥११३६॥

जघ इंधणेहि अग्गी लवणसंमुद्धो णदीसहस्सेहि ।

तह जीवस्स ण तिचो अत्थि तिल्लेगे वि लद्धम्मि ॥११३७॥

'जघ इंधणेहि' इन्धनैर्वयान्तिः, यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः । तथा परिग्रहं तृप्यति जीवस्त्रैलोक्ये  
लब्धेऽपि ॥११३७॥

पटहत्थस्स ण तिची आसी य महाधनस्स लुद्धस्स ।

संगेसु मुच्छिद्धमदी जादो सो दीहसंसारी ॥११३८॥

'पटहत्थस्स' पटहस्तनामधेयस्य वणिजः न तृप्तिरासीत्तथा महाधनस्य लुब्धस्य । परिग्रहं मुच्छित-  
मतिरसो जातो दीर्घससारः ॥११३८॥

तिचीए असंतीण हाहाभूदस्स षण्णचित्तस्स ।

किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥११३९॥

'तिचीए असंतीए' तृप्तावसत्या । 'हाहाभूदस्य' लम्पटचित्तस्य किं तत्र सुख भवेत् । आशया गृही-  
तस्य ॥११३९॥

शा०—इस प्रकार नाना चेष्टाएँ करनेपर भी परिग्रहकी प्राप्तिमें सन्देह ही रहता है ।  
क्योंकि अभागे पुरुषको चिरकाल प्रयत्न करनेपर भी धनकी प्राप्ति नहीं होती ॥११३५॥

शा०—यदि किसी प्रकार धन मिल भी जाये तो उससे सन्तोष नहीं होता; क्योंकि धन-  
लाभ होनेसे लोभ बढ़ता है ॥११३६॥

शा०—जैसे इंधनसे आगकी तृप्ति नहीं होती, और हजारों नदियोंके मिलनेसे लवण-  
समुद्रकी तृप्ति नहीं होती । वैसे ही तीनों लोक मिल जानेपर भी जीवकी परिग्रहसे तृप्ति नहीं  
होती ॥११३७॥

शा०—पटहस्त नामक वणिक्के पास बहुत धन था । किन्तु वह बड़ा लोभी था । उसे  
सन्तोष नहीं था । अतः परिग्रहमें आसक्त रहते हुए उसका मरण हुआ और वह दीर्घसंसारी  
हुआ ॥११३८॥

शा०—परिग्रहसे तृप्ति नहीं होनेपर हाय-न्हाय करनेवाले परिग्रहके लम्पटीको, जो सदा  
तृष्णासे व्याकुल रहता है, परिग्रहसे क्या सुख हो सकता है ॥११३९॥

हम्मदि मारिज्जदि वा बज्जदि कंभदि य अणवराधो वि ।

आमिसहेदुं षण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥११४०॥

‘हम्मदि’ आह्वयते । ‘मारिज्जदि’ मार्यते, बध्यते कथ्यते चानपराधोऽपि । आमिषनिमित्तं लम्पट-  
खाद्यते यथा पक्षिभिः पक्षी गृहीताहारः ॥११४०॥

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ।

गंथणिमित्तं जग्गइ रेक्खंतो सच्चरसीए ॥११४१॥

‘मादुपिदुपुत्तदारेसु वि’ विश्वसनीयेष्वपि मात्रादिवु विश्रम गोपयाति । जायति सर्वराषीः पाल-  
यन् ॥११४१॥

सब्बं पि संकमाणो गामे जयरे घरे व रण्णे वा ।

आधारमगणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥११४२॥

‘सब्बं पि संकमाणो’ सर्वमपि शङ्कमान ग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽज्ञातवशः  
सदा भवति ॥११४२॥

गंथपडियाए लुद्धो धीराचरियं विचिन्तभावसचं ।

जेच्छदि बहुजणमज्जे वसदि य सागारिगावसए ॥११४३॥

‘गंथपडियाए लुद्धो’ ग्रन्थनिमित्तं लुब्धो धीरैवाचरित विविक्रमावसचं नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति ।  
गृहस्थाना वा वेदमनि ॥११४३॥

सोदण किंचि सवुदं सग्गंघो होइ उड्ढिदो सहसा ।

सव्वचो पिच्छंत्तो परिमस द पलादि मुज्जदि य ॥११४४॥

गा०—जैसे मासके लिए मासका लोभी पक्षी दूसरे मांस ले जाते पक्षीको मारता काटता है वेसे ही लोभी घनाढ्य मनुष्य विना अपराधके ही दूसरोके द्वारा घाता जाता है, मारा जाता है और पकडा जाता है ॥११४०॥

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य माता, पिता, पुत्र और पत्नीका भी विश्वास नही करता । और रातभर जागकर परिग्रहकी रखवाली करता है ॥११४१॥

गा०—वह सबको शकाकी दृष्टिसे देखता है कि ये मेरा धन हरनेवाले हैं । और गाँव, नगर, घर अथवा वनमें किसीका आश्रय खोजता फिरता है इस तरह वह सदा पराधीन रहता है ॥११४२॥

गा०—वह परिग्रहका लोभी धीर पुरुषोके रहने योग्य एकान्त स्थानमें रहना पसन्द नहीं करता । वह बहुत जनसमुदायके मध्य गृहस्थोके घरमें रहना पसन्द करता है ॥११४३॥

गा०—किञ्चित् भी शब्द सुनकर परिग्रही एकदम उठकर सब ओर देखता है, अपने धनको टटोल्ता है और लेकर भागता है अथवा मूर्छित हो जाता है ॥११४४॥

‘सोपूष किञ्चि सद्’ सूत्रा कञ्चन शब्दं परिग्रहवाच्यहोत्थितः सर्वा विश्वः प्रथमाद्यः परामृशति स्वं  
द्रव्यं, परावते, मृशति वा ॥११४४॥

तेणमएणारोहइ तर्कं निरि उप्पहेण व फलादि ।

पविसंदि य दइ दुग्गं जीवाणं सइ करेयाणो ॥११४५॥

‘तेणमएण’ स्तेनभयेन । ‘आरोहइ’ आरोहति तर्कं निरि वा । उन्मात्तं वा धावति । प्रविशति वा ह्रद्  
दुर्गं वा स्थानं जीवानां घातनं कुर्वन् ॥११४५॥

तह यि चोरा चारमढा वा गच्छं हरेज्ज अबसस्स ।

गेण्हज्ज ष्दाइया वा रायाणो वा विलुंपिज्ज ॥११४६॥

तथापि पलायनधावनादिकं कुर्वतो द्रव्यं हरन्ति चोरा वा चारमढा वा । परवशस्य धम्यावा वा गृह्णन्ति  
राजानो वा विलुम्पन्ति ॥११४६॥

संगणमित्तं कुद्धो कलहं रोळं करिज्ज वेरं वा ।

पहणेज्ज व मारेज्ज व मरिजेज्ज व तह यि हम्मोज्ज ॥११४७॥

‘संगणमित्तं कुद्धो’ कष्टः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हन्ति, ताडयति । पर स्वयं प्राणाग्नि-  
योजयति वा परेण वा ताडयते मार्यते वा परं ॥११४७॥

अहवा होइ विणासो गंथस्स जलग्गिमूसयादीहिं ।

णट्ठे गंथे य पुणो तिब्बं पुरिसो लहदि दुस्सं ॥११४८॥

‘अथवा होइ विणासो’ अथवा ग्रन्थस्य विनाशो भवेत् अग्निजलमूषकादिभिः । णट्ठे पुनर्ग्रन्थे तीव्र  
दुःखं लभते मनुष्यः ॥११४८॥

सोयइ विलवइ कंदइ णट्ठे गंथम्मि होइ विसण्णो ।

पज्झादि णिवाइज्जइ वेवइ उक्कंठिओ होइ ॥११४९॥

शा०—चोरके भयसे वृक्ष अथवा पहाड़पर चढ़ जाता है । अथवा मार्गसे न जाकर कुमार्ग-  
से जाता है और जोवोंका घात करते हुए तालाब या किलेमें छिप जाता है ॥११४९॥

शा०—इस प्रकार दौड़-धूप करनेपर भी चोर अथवा बलवान् मनुष्य उसे परवश करके  
उसके द्रव्यको हर लेते है । अथवा भाई वगैरह ले लेते है या राजा लूट लेता है ॥११४६॥

शा०—परिग्रहके कारण मनुष्य क्रोध करता है, कलह करता है, विवाद करता है, वैर  
करता है, मारपीट करता है, दूसरोंके द्वारा मारा जाता है, पीटा जाता है, या स्वयं मर जाता  
है ॥११४७॥

शा०—अथवा आगसे, जलसे और मूषकों आदिसे परिग्रहका विनाश हो जाता है तब  
विनाश होनेपर मनुष्यको तीव्र दुःख होता है ॥११४८॥

'सोषधि चिलम्बि' घोषति, विलपति, क्लम्बति नष्टे परिग्रहे विषम्बाद्य भवति । चिन्तां करोति ।  
पिबत्यन्तस्सत्तापाञ्जलाधिकं, वेपते उत्कण्ठितो भवति ॥११४९॥

इज्ज्वादि अंतो पुरितो अप्यिवे ञ्ठे समम्मि गंधम्मि ।

बाधावि य अदिस्सप्पइ बुद्धी विव्व होइ से मूढा ॥११५०॥

'इज्ज्वादि' दहते अन्तः पुरुष आत्मीये नष्टे परिग्रहे । बागपि नश्यति बुद्धिरपि मन्दा भवति ॥११५०॥

उम्मत्तो होइ ञरो ञ्ठे गंधे गहोवसिद्धो वा ।

घट्टदि मरुप्पवादादिग्रहिं बहुधा ञरो मरिदुं ॥११५१॥

'उम्मत्तो होइ ञरो' उन्मत्तो भवति नरः । नष्टे परिग्रहे ग्रहगृहीत इव चेष्टते मत्प्रतापादि-  
किर्मदुं ॥११५१॥

चेलादीया संग्गा संसज्जंति विविहेहिं जंतुहिं ।

आगंतुगा वि जंतू हवति गंधेसु सण्णिहिदा ॥११५२॥

'चेलाविगा' सगायचेलप्रावरगादय परिग्रहा । 'संसज्जंति' सन्मुच्छंतामुपयान्ति । 'विविहेहिं जंतुहिं'  
नानाप्रकारैर्जन्तुभि । 'आगंतुगा वि जंतू' आगन्तुकार्थे जन्तवः । 'गंधेसु सण्णिहिदा भवति' ग्रन्थेषु सन्निहिता  
भवन्ति यूकापिपीलिकामत्कुणादयः । धान्येषु कीटादयः गुडपूपादिषु रमजा तेषामावासे ॥११५२॥

आदाणे णिक्खेवे 'सरेमणे चावि तेसि गंधाणं ।

उक्कस्सणे वेकस्सणे 'फालभपप्फोडणे वेव ॥११५३॥

आदाने, निक्षेपे, संस्कारणे, बहिर्नयने, बन्धने, मोचने, तथा ग्रन्थाना पाटने विधूयने च ॥११५३॥

छेदणबंधणवेदणआदावणधोव्वणादिकिरियासु ।

संघट्टणपग्गिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥११५४॥

गा०—बहु शोक करता है, विलाप करता है, चिल्लाता है, खेद-सिन्न होता है । चिन्ता  
करता है । अन्तरंगमें सन्नाप होनेसे जलादि पीता है, कांपता है, उत्कण्ठित होता है ॥११४९॥

गा०—अपने परिग्रहके नष्ट होनेपर पुरुष अन्दर ही अन्दर जला करता है । उसकी वाणी  
नष्ट हो जाती है तथा बुद्धि भी मूढ़ हो जाती है ॥११५०॥

गा०—परिग्रहके नष्ट होनेपर मनुष्य पिशाचसे पकड़े हुए मनुष्यकी तरह उन्मत्त हो जाता  
है । और प्रायः पर्वत आदिसे गिरकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥११५१॥

गा०—वस्त्रादि परिग्रहमें नाना प्रकार सम्मुच्छंन जीव उत्पन्न हो जाते हैं । बाहरसे  
आकर भी जू, चींटी, खटमल वगैरह बस जाते हैं । धान्यमे कीड़े लग जाते हैं । गुड़ आदि सबय  
करनेपर उसमें भी जीव पैदा हो जाते हैं ॥११५२॥

गा०—परिग्रहके ग्रहण करने, रखने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने,

छेदने, ध्वने, बँधने, शोषणे प्रकालने च । सम्बन्धने परित्तापमहननाधिकं भवति जीवार्ता ॥११५४॥

जदि वि विक्किचदि जंतू दोसा ते चेष हुंति से लम्गा ।

होदि य विक्किचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णिययं ॥११५५॥

'अवि वि विक्किचदि' यद्यपि निराक्रियन्ते जीवास्त एव सषट्पादयो दोषा भवन्ति । भवति च पृथक्करणे तथा तद्योनिवियोजना निवचनेन ॥११५५॥

एवमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंधा बधंति जीवे सयं च दुक्खंति ।

पावं च तण्णिमिचं परिगिण्हंतस्स से होई ॥११५६॥

'सच्चित्ता पुण गंधा बधंति जीवे' परिग्रहा दासीदासगोमहिष्यादयो भ्नन्ति जीवास्त्वयं च दुःखिता भवन्ति । कर्मणि नियुज्यमाना कृष्यादिके पावं च स्वपरिगृहीतजीवकृतासंयमनिमित्त तस्य भवति ॥११५६॥

इंदियमयं सरीरं गंधं गेण्हदि य देहसुक्खत्थं ।

इंदियसुहाभिलासो गंधमाहणेण तो सिद्धो ॥११५७॥

'इंदियमयं सरीरं' इन्द्रियमयं शरीरं । स्पृशनाविपञ्चेन्द्रियाधारत्वात् । परिग्रहं च चेलप्रावरणादिक इन्द्रियमुखाधर्ममे गृह्णाति वातातपाद्यनभिमत्स्पर्शनिषेधाय । आत्मशरीरे वस्त्रालङ्कारादिभिरलंकृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदङ्गासंगजनितप्रीत्यथितया अभिमत् मापाययति । सेवनाद्यं च तत् इन्द्रियसुखाभिलाषो ग्रन्थं गृह्णाति सिध्यति ॥११५७॥

फाडने, झाडने, छेदने, बाधने, ढांकने, सुखाने, धोने, मलने आदिमे जीवोंका घात आदि होता है ॥११५३-५४॥

गा०—यदि वस्त्रादि परिग्रहसे जन्तुओको अलग किया जाये तब भी वे ही दोष लगते हैं । क्योंकि उन जन्तुओको दूर करनेपर उनका योनिस्थान छूट जाता है और इससे उनका मरण हो जाता है ॥११५५॥

इस प्रकार अचित्त परिग्रहके दोष कहकर सचित्त परिग्रहके दोष कहते हैं—

गा०—दासी-दास, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह जीवोंका घात करते हैं और स्वयं दुखी होते हैं । तथा उन्हें खेती आदि कामोंमें लगानेपर वे जो पापाचरण करते हैं उसका भामो उनका स्वामी भी होता है ॥११५६॥

इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा कर्मबन्धमें निमित्त होती है अतः मुमुक्षुको उसे छोड़ना चाहिए । परिग्रह स्वीकार करनेपर इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा अवश्य होती है, यह कहते हैं—

गा०—टी०—शरीर इन्द्रियमय है क्योंकि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंका आधार है । वस्त्र ओढ़ना आदि परिग्रह मनुष्य इन्द्रियजन्य सुखके लिए ही ग्रहण करता है । ऐसा वह हवा धूप आदिके अनिष्ट स्पर्शसे बचनेके लिए करता है । तथा वस्त्र अलंकार आदिसे अपने शरीरको

स्वाध्यायध्यानाध्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभयं चान्तरेण न संवरनिर्जरे । तयोरभावे कुतो निरमद्येषकर्मपायो भवतीति कथयति—

गंधस्स गहजरक्खणसारवणाणि जियदं करेमाणो ।

विक्खित्तमणो ज्झाणं उबेदि क्ह मुक्कसज्जाओ ॥११५८॥

‘गंधस्स गहजरक्खण’ परिग्रहादानं, तद्रक्षणं, तरसंस्कारं च नित्यं कुर्वन् व्याख्येयचित्तं कथं शुभ-  
ध्यानं कुर्यात् विमुक्तवाध्याय । एतदुक्तं भवति—व्याख्येयचित्तस्य न स्वाध्यायः असति तस्मिन्वस्तुयाथास्थ्या-  
विदुषः ध्येयैकनिष्ठं ध्यानं कथमिव वर्तते ॥११५८॥

परभवध्याय्य दोष परिग्रहमुक्त्वायातमुपदर्शयति—

गंधेसु घडिदहिदओ होइ दरिदो भवेसु बहुगेसु ।

होदि कुणंतो णिच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥११५९॥

‘गंधेसु घडिदहिदओ’ ग्रन्थासक्तचित्तं बहुषु भवेषु दरिद्रो भवति । आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी  
भविष्यति । शिविकोद्वहनं, उपानद्वेषनं, पुरीषमृशाद्यपनयनं इत्यादिकं नीचं कर्म ॥११५९॥

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि धणहेदुं ।

लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥११६०॥

‘विविहाओ जायणाओ पावदि’ विविधा यातनाः प्राप्स्यति । परभवगतोऽपि धननिमित्तं लुब्ध आशया

भूषितं करके मनुष्य वृत्तरेमें अभिलाषा उत्पन्न करता है और इस तरह उसके शरीरके ससर्गसे  
उत्पन्न अनुरागका इच्छुक होकर उसका सेवन करता है अतः परिग्रहको स्वीकार करनेवालेके  
इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा सिद्ध होती है ॥११५७॥

परिग्रह स्वाध्याय और ध्यान नामक तपमें विघ्न पैदा करता है तथा स्वाध्याय और  
ध्यानके बिना संवर और निर्जरा नहीं होती । और संवर निर्जराके अभावमें समस्त कर्मों का  
विनाश कैसे हो सकता है ? यह कहते हैं—

गा०—टी०—परिग्रहको ग्रहण, रक्षण और उसके सार सम्हालने सदा लगा रहनेवाले  
पुरुषका मन उसीमें व्याकुल रहता है । तब वह स्वाध्याय छूट जानेसे शुभध्यान कैसे कर  
सकता है । कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसका चित्त व्याकुल रहता है वह स्वाध्याय नहीं कर  
सकता । और स्वाध्यायके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपको न जानते हुए ध्येयमें एकनिष्ठ ध्यान  
कैसे हो सकता है ॥११५८॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष भव-भयमें दुःख देता है यह कहते हैं—

गा०—जिसका चित्त परिग्रहमें आसक्त होता है वह भव-भयमें दरिद्र होता है । केवल पेट  
भरनेके लिए उसे पालकी उठाना, जूते बेचना, टट्टी पेशाब साफ करने आदिका नीच काम करना  
पड़ता है ॥११५९॥

गा०—परिग्रहमें आसक्त पुरुष पर भयमें भी धनके लिए अनेक कष्ट उठाता है । लोभके





चारित्रमन्त्रविद्योषधिरहितो विषयारण्ये रागादिसंबद्धले सावधानोऽपि भवेत् ॥११६३॥

**रागो हवे मणुष्णे शंथे दोसो य होइ अमणुष्णे ।**

**शंथच्चाएण पुणो रागदोसा हवे च्चा ॥११६४॥**

रागद्वेषयो कर्मणा मूलयोनिमित्त परिग्रह, परिग्रहत्यागे रागद्वेषो एव त्यक्तौ भवत । बाह्यद्रव्य मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीज, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्वागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दण्डाघ-  
नन्तकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते ॥११६४॥

कर्मणा निर्जरणे उपाय परीषहसह्य । तथा चोक्त 'पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरायं परिषोढव्या परीषहा'  
[त०सू० १।८] ते च परीषहा षोढा भवन्ति ग्रन्थचेलप्रावरणादिक त्यजतेति व्याचष्टे—

**सीदुण्हदंसमसयादिषाण दिण्णो परीसहाण उरो ।**

**सीदादिणिवारणए शंथे णिययं जहतेण ॥११६५॥**

'सोदुण्हवसमसयादिषाण' । ननु च दु खोपनिपाते सकलेशरहितता परीषहजय, न तु शीतोष्णादयो ।  
नहि ते आत्मपरिणामा । अनात्मपरिणामाश्च बन्धसंवरनिर्जरादीनामुपायो न भवन्ति । योज्ञात्मपरिणामो

चारित्ररूप मंत्र विद्या और औषधिसे रहित है अर्थात् जिसे इन सबकी प्राप्ति अभी नहीं हुई है वह रागद्वेषरूप सगों से भरे विषयरूप वनमें सावधान रहता है ॥११६३॥

**विशेषार्थ—**इसका भाव यह है कि मनमें बाह्य द्रव्यके प्रति अनुराग रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले मोहनीयकर्मका सहकारी कारण है अतः उसका त्याग करनेपर रागद्वेषरूप प्रवृत्ति नहीं होती । उसके अभावमें नवीन कर्मबन्ध नहीं होता । अतः परिग्रहका त्याग ही मोक्षका उपाय है ॥११६३॥

**गा०—**मनोज्ञ विषयमें राग होता है और अमनोज्ञ विषयमें द्वेष होता है । अतः परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेषका त्याग हो जाता है ॥११६४॥

**टी०—**कर्मबन्धके मूल रागद्वेष है और रागद्वेषका निमित्त परिग्रह है । परिग्रहको त्यागने पर रागद्वेषका त्याग हो जाता है । बाह्य द्रव्यको मनमें स्वीकार करना ही रागद्वेषका बीज है । उस सहकारी कारणके अभावमें केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष नहीं होता । जैसे मिट्टीके होने पर भी दण्ड आदि सहायक कारणोंके अभावमें घटकी उत्पत्ति नहीं होती ॥११६४॥

परीषहोंका सहना कर्मोंकी निर्जराका उपाय है । कहा भी है—पूर्वमें दीधे गये कर्मोंकी निर्जराके लिए परीषह सहना चाहिए । बस्त्रादि परिग्रहका त्याग करनेसे उन परीषहोंका सहना होता है, यह कहते हैं—

**गा०—टी०—**शीत आदिका निवारण करने वाले वस्त्र आदि परिग्रहोंको जो नियमसे त्याग देता है वह शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषहोंको सहनेके लिए अपनी छाती आगे कर देता है ।

**शंका—**दु ख आने पर संकलेश न करना परीषह जय है । शीत उष्ण आदि परीषह जय नहीं हैं, क्योंकि वे आत्माके परिणाम नहीं हैं । और जो आत्माके परिणाम नहीं हैं वे बन्ध, संवर,

नासौ निर्जराहेतु यथा पुद्गलद्रव्यगतरूपादय । अनात्मपरिणामाच्च शीतादय क्षुत्पिपासादयो दुःखहेतवः , न तु दुःख, तत् किमुच्यते क्षुत्पिपासादय परीषहा इति । नैव दोष । क्षुदादिजन्यदुःखविषयत्वात् क्षुदादि-शब्दानां । तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्ण-रक्षमशकनाग्न्यादीनां परीषहवाचोयुनिर्न विरुध्यते । 'सोऽनुग्रहदंसमसयाविधाच्च' शीतोष्णदंसमशकादीनां । 'परिस्सहृणं उरो विष्णो' परीषहाणां उरो दत्त । वेन ' 'सोऽविधिवारणने' शीतादीनां निषेधकान् । 'गेषे गियव अहेतेण' ग्रन्थान्निवयत् त्यजता ॥११६५॥

देहे आदर सर्वस्य हिंसादिरसयमस्य मूल परिस्थको भवति परिग्रह त्यजतेत्याचष्टे—

**जम्हा णिगंथो सो वादादवसीददंसमसयाणं ।**

**सहदि य विविधा बाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥११६६॥**

'जम्हा' यस्मान् । 'णिगंथो सो' निष्परिग्रहोऽसौ 'बादाववसोवसमसयाण' विविधा बाधा वातात-पशीतदंसमशकानां विविध दुःख 'सहदि' सहते । 'तेण' सहनेन । 'सदेहे' स्वदेहे 'अणादरदा' आदराभाव । शरीरे अकृतादरश्च जहारायशे- हिंसादिक, तपमि च स्वशक्त्यनिगूहनेन प्रयतते ॥११६६॥

**संगपरिमग्गणादी णिम्मंगे णत्थि मन्वविकखेवा ।**

**ज्झाणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्घेण वच्चंति ॥११६७॥**

'संगपरिमग्गणादी' परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वाभिलषितस्य अस्तित्वगवेषणे क्लेशमस्तीति । तथा तत्स्वामिना कोऽप्य 'स्वामित्व वा क्वाशो अवातिष्ठते इति पुनर्पाञ्चा ? लाभे सन्तोषः, अलाभे दीनमनस्कता,

निर्जरा आदिके उपाय नहीं होते । जो आत्माका परिणाम नहीं है वह निर्जराका कारण नहीं है । जैसे पुद्गल द्रव्यके रूपादि । शीत आदि आत्माके परिणाम नहीं है । तथा भूख प्यास आदि दुःखके कारण है किन्तु स्वयं दुःखरूप नहीं है । तब आप कैसे कहते हैं कि भूख प्यास आदि परीषह हैं ?

**समाधान—**उक्त दोष ठीक नहीं है क्योंकि भूख आदि शब्दोका अर्थ भूख आदिसे होने वाला दुःख है । अतः भूख, प्यास, शीत, उष्ण, ड्रास-मच्छर, नाग्न्य आदिको परीषह कहनेमें कोई विरोध नहीं है । अन. जो इन परीषहोको दूर करनेके उपायोको त्याग देता है वह शीत आदिका कष्ट होने पर भी अपने मनमें कोई सकलेश नहीं करता ॥११६५॥

समस्त हिंसा आदि असयमका मूल शरीरमें आदरभाव है । परिग्रहको त्यागने पर वह भी त्याग दिया जाता है, यह कहते हैं—

**गा०—**यत् परिग्रहका त्यागी निर्ग्रन्थ वायु, धूप, शीत, ड्रासमच्छर आदिके अनेक कष्टोको सहता है । उस सहनेसे उसका शरीरमें अनादरभाव प्रकट होता है । और शरीरका आदर न करने वाला समस्त हिंसा आदिको छोड़ देता है और अपनी शक्तिको न छिपाकर तपका प्रयत्न करता है ॥११६६॥

**गा०—टी०—**अपनेको इष्ट परिग्रहको खोजनेमें कष्ट होता है । तथा वह मिल भी जाये तो उसके स्वामीको खोजनेमें कष्ट होता है कि वह कहाँ रहता है । स्वामी मिल जाये तो उससे

तदानयनं तत्संस्करणं, तद्दक्षणं इत्यादिक आदिशब्देन गृहीतं । 'निःसने' सङ्गरहिते 'णस्थि सञ्चविकल्पेण' न सन्ति सर्वे व्याखेपाः । 'ज्ज्जाणज्जेणाणि' ध्यानं अध्ययनं च । 'तबो' व्याखेपाभावान् चेतसि । 'तस्स' अपरिग्रहस्य । 'अविग्गेषेण वचवति' विघ्नमन्तरेण वर्तते । सर्वेषु तपसु प्रधानयोर्ध्यानस्वाध्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गायया ॥११६७॥

गृथञ्चाएण पुणो भावसिसुद्धी वि ष्दाविदा होइ ।

ण हु सगघडिदबुद्धी संगे जहिदु कुणादि बुद्धी ॥११६८॥

'संगञ्चाएण पुणो' मङ्गत्यागेन पुन । 'भावसिसुद्धी वि ष्दाविदा होइ' परिणामस्य विगृह्यद्विर्दीक्षता भवति । 'ण हु सगघडिदबुद्धी' नैव परिग्रहपटितबुद्धि । 'संगे जहिदु कुणवि बुद्धी' परिग्रहास्त्यवतु करोति बुद्धि ॥११६८॥

या च प्रक्रान्ता सत्लेखना कषायविषया सा च परिग्रहत्यागमूलेति कथयति—

णिस्संगो चैव सदा कसायसल्लेहणं कुणादि भिक्खु ।

सगा हु उदीरेंति कसाय अग्गीव कट्टाणि ॥११६९॥

णिस्संगो चैव' निष्परिग्रहस्यैव सदा कषायपरिणामस्तनूनं करोति न सपरिग्रह । कथ इति तदा-  
चष्टे—'संगा खु उदीरेंति' परिग्रहा उदीरयन्ति । 'कसाए' कषायान् । 'अग्गीव' अग्निविव 'कट्टाणि'  
काष्ठानि ॥११६९॥

सञ्चन्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासिय हवदि तस्स ।

गुरुगो हि संगसत्तो संकिज्जइ चावि मञ्चन्थ ॥११७०॥

याचना करनी होती है । याचना करने पर मिल जाये तो सन्तोष होता है न मिले तो मनमें दीनताका भाव रहता है । मिलने पर उसको लाना, उसका गस्कार करना, उसकी रक्षा करना 'आदि' शब्दसे लिया है । इस तरह परिग्रहके निमित्त ये सब करना पड़ता है । किन्तु परिग्रहका त्याग करके निग्रन्थ बन जाने पर ये सब परेशानियाँ नहीं होती । सब चिन्तन किमा प्रकारकी आकुलता न होनेसे उम निग्रन्थ माधुका ध्यान और स्वाध्याय बिना विघ्नके चलते है । अतः इस गाथाके द्वारा कहा है कि सब तपोमें ध्यान और स्वाध्याय प्रधान है और परिग्रहका त्याग उनका उपाय है ॥११६७॥

गा०—परिग्रहके त्यागसे परिणामोकी निर्मलता भी प्रकट होती है, क्योंकि जिसकी मति परिग्रहमें आसक्त होती है वह परिग्रहको छोड़नका विचार नहीं रखता ॥११६८॥

आगे कहते है कि यज्ञ जिस कषाय विषयक सल्लेखनाका प्रकरण चला है उसका मूल परिग्रहत्याग ही है—

गा०—जो परिग्रहमें रहित है वही सदा कषाय रूप परिणामोको कृण करता है परिग्रही नहीं । क्योंकि जैसे लकड़ी डालनेसे आग भडकती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय भडकती है ॥११६९॥

'सख्यत्वं होइ' सर्वत्र भवति गमने आगमने च 'लघुगो' लघुः । 'रुचं वेत्तासिगं' रूपं विश्वासकारि च भवति । 'तस्त' निर्गन्धस्य । वस्त्रप्रावरणादिकप्रच्छादितवास्त्रोऽस्माकमुपद्रव करोति घन वा स्वेन चीवरदिना प्रच्छाद्य नयतीति वाङ्मा कुर्वन्ति परिग्रहं दृष्ट्वा ॥११७०॥

सख्यत्वं अप्यवसिओ णिस्संगो णिम्मओ य सख्यत्वं ।

हो द य णिप्परियम्मो णिप्पलिकम्मो य सख्यत्वं ॥११७१॥

'सख्यत्वं अप्यवसिओ' सर्वत्र ग्रामे, नगरे, अरण्ये च आत्मवशक । 'णिस्संगो' निष्परिग्रहः । 'सख्यत्वं य णिम्मओ' सर्वत्र निर्भयश्च । 'हो द य णिप्परिकम्मो' भवति च निष्कारिणः कृष्यादिक्रियाप्रारम्भरहित । 'णिप्पलिकम्मा य' इदं पूर्वकृतं इदं परत्रावशिष्टं कार्यमित्येतच्चास्य न विद्यते ॥११७१॥

सुखापिनो महत्सुखं भवति मशपारत्यागेनेति वदति—

भारककंती पुरिसो भार ऊरुहिय णिव्वुदो होइ ।

जह तह पयहिय गंधे णिस्संगो णिव्वुदो होइ ॥११७२॥

'भारककंती पुरिसो' भाराकान्तं पुरुष । 'भारं ऊरुहिय' भारमवतार्य । 'णिव्वुदो होइ' सुखी भवति । यथा तथा 'णिस्संगो णिव्वुदो होइ' निष्परिग्रहं सुखी भवति । 'गंधे पयहिय' ग्रन्थान्परित्यज्य । बाधाभाव-लक्षणं हि सुखं सर्वमेव । तथाहि—अशनादिना क्षुधादावपगतं जातं स्वास्थ्यमेव सुखमिति 'लोके मन्यते ॥११७२॥

यस्मादेव परिग्रहणेऽतिबहवो जन्मद्वयभाविनो दोषाश्च—

तम्हा सख्मे मंगे अणागए वट्टमाणए तीदे ।

तं सख्यत्वं णिव्वारग्हं करणकारावणणुमोदेहिं ॥११७३॥

गा०—अपरिग्रही सर्वत्र जाने आनेमे हल्का रहता है । उसका रूप नग्न दिगम्बर विश्वाम-कारी हाना है । और परिग्रही परिग्रहके भारसे भारी होता है । और उसके परिग्रहको देखकर लोग शङ्का करने हैं कि यह अपने वस्त्रोम यस्त्र छिपाये हुए है कोई उपद्रव न करे । अथवा यह अपने चीवर आदिमें छिपाकर घन तो नहीं ले जाता ? ॥११७०॥

गा०—जो अपरिग्रही होता है वह सर्वत्र गाँव, नगर और वनमें स्वाधीन रहता है । उसे किसीका आश्रय लेना नहीं होता । और वह सर्वत्र निर्भय रहता है । उसे कृषि आदि काम करना नहीं होता । तथा इतना काम पहले कर लिया, इतना करना शेष है, इत्यादि चिन्ता उसे नहीं रहती ॥११७१॥

आगे कहते हैं कि सुखके अभिलाषीको परिग्रहके त्यागसे महान् सुख होता है—

गा०—जैसे भागसे लदा हुआ मनुष्य भारको उतारकर सुखी होता है वैसे ही परिग्रहको त्यागकर परिग्रहरहित साधु सुखी होता है । सर्वत्र सुखका लक्षण बाधाका अभाव है । लोकमें भी भोजनके द्वारा भूख प्यास चले जाने पर उत्पन्न हुई स्वस्थताको ही सुख माना जाता है ॥११७२॥

'तच्छू' तस्मात् । 'सम्बन्धे संवे' सर्वाङ्परिग्रहान् । 'अनागतौ' अनागतान् । 'बहुनागणे तीरे' वर्तमानानतीतांश्च 'त' भवान् । 'सम्बन्धे चित्तवारेहि' सर्वथा निवारय । करणकाराधनापुण्याहि कृतकारिताभ्यामनुभोचनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारण येन निवार्यते ? अयमभिप्राय अतीतम्बन्धामिसम्बन्धेषुपि वस्तुनि ममेवं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरण अनुरागं वा । एव भविष्यति इत्यभूत मम द्रविण इति ॥११७३॥

जावन्ति केह संगं विराधया तिविहकालसंभूदा ।

तेहिं तिविधेण विरदो विमुक्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावन्ति केह संगं' यावन्त केचन परिग्रहा । 'विराधया' विनाशका । कस्य ? रत्नत्रयस्य । 'तिविध-कालसंभूदा' कालत्रयेऽपि । 'तेहिं तिविधेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्यादिविरत सन् 'विमुक्तसंगो' विमुक्तसङ्ग । 'जह सरीरं' त्यज शरीर ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चैव सन्वत्थ ।

आसं तण्ह संगं छिद ममसिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एवं कदकरणिज्जो' एव कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना वाछता आहारशरीरन्यायादिकं स एव भूतः । 'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सम्बन्धे' सर्वविषया मुखसाधनगोचरा । 'आसं' आशा । 'तच्छू' तृष्णा । 'संगं' परिग्रहभूता । 'छिद ममसिं' ममेदमिति सकल्प छिद्धि । 'मुच्छं' मोहमिति यावत् ॥११७५॥

शा०—टी०—यत् परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोको कृतकारिण अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो ।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे है जिससे उसका त्याग करते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोंसे बन्ध होना है इमार्थ उसका स्मरण वा अनुराग मत करो । इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेमें भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

शा०—अत हे क्षपक ! तीनों कालोका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोड़कर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

शा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, सग, ममत्व और मूर्च्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हो यह आशा है । ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हो इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है । परिग्रहमें आसक्ति संग है । ये मेरे भोग्य हैं मैं इनका भोक्ता हूँ ऐसा सकल्प ममत्व है । अत्यासक्ति मूर्च्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यं निदिशत्युत्तरगाथा—

**सव्वगंगंधविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।**

**जं पावइ पीयसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥**

'सव्वगंगंधविमुक्को' परित्यक्ताशेषबाह्याम्यन्तरग्रन्थः । 'सीदीभूदो' शीतीभूतः । 'पसण्णचित्तो य' प्रसन्नचित्तः सन् । 'जं पावइ पीयसुहं' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुख । 'न चक्कवट्टी वि तं लभइ' चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पताया कारणमाचष्टे—

**रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।**

**णित्स्संगणिवुइसुहस्स कइं अघइ अणंतभागं पि ॥११७७॥**

रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं । रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकरूप विषय-सुखमायेव्यमानं रञ्जयति विषयान्विति रागो विपाकः फलं सुखम्येत्यच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्ण, अतिरायेन गूढि काङ्क्षा जनयति इति अतिगूढि । न विद्यते तृप्तिरग्निमन्लित्यतृप्ति । यदेवभूतं चक्रवर्तिसुखं 'णित्स्संगणिवुइसुहस्स' नि मंगम्य यन्निवृत्तिमुखं 'तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाव्रतगजा अहिगादीना अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहोव्ययं ।

**साधेति ज महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।**

**जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥**

'साधेति जं महत्थं' माधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं अमयमनिमित्तप्रत्यग्रकमकदम्बकनिवारणं महत्प्रयो-

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममे प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्नचित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमे अनुरक्त करता है । तथा वह तृष्णाको बढ़ाता है । अत्यन्त गूढिको—लम्पटताको उत्पन्न करता है । उसमे तृप्ति नहीं है । अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवे भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महाव्र-

जनं सम्पादयन्तीति महाव्रतानि । 'आयरिवाद्' च ङं महल्लोहं' यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निरुक्तं । 'ङं च' यस्मात् 'महल्लाणि' स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलहिमादिविरूप- तथा वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चैव वदाणं रक्खट्टं रादिभोयणणियत्ती ।

अट्टप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चैव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रतानां । 'रक्खत्थं' रक्षणार्थं । 'रादिभोयणणियत्ती' रात्रिभोज- नान्निवृत्तिः । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावराश्च हन्याद्दुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, तस्यान्नावस्थानदेश, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेश, दीयमान वाहार योग्य न वेति विरूपयितुमय कथं समर्थं ? दिवापि दु परिहारान् जानाति रसमूक्षमानय कथं परिहरेत् । 'कट्टुक्कुरं करं वा' दायिकाया भाजनं वा कथं शोधयति । पदविभागिका वा एषणाममित्यालोचना नम्यगपरीक्षितविषया कुर्वतः कथमिव । सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तं स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽज्ञतादानं स्यात् । क्वचिद्भाजने दिवैव स्थापित, आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात् । रात्रिभोजनात् ध्यावृत्ते सकलानि व्रतान्यवतिष्ठन्ते सम्पूर्णानि । 'अट्टप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्ब्रतपरिपालनायाः । एव पञ्च समितयः तिष्ठो

प्रयोजनको साधते है, इसलिए महाव्रत है । यतः महान् पुरुषोके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत है । और यत ये स्वयं महान् है—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिका इससे त्याग होता है अतः इन्हे महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

**विशेषार्थं**—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरुतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप है । नो-आ-गमभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मे जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन नहीं करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत है ॥११७८॥

**गा०—टी०**—उन्ही अहिंसा आदि व्रतकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है । यदि मूर्ति रात्रिमे भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोका घात करता है क्योंकि रात्रिमे उनका देख सकना कठिन है । देनेवालेके आनेका मार्ग, उमके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नहीं, ये सब वह कैसे देख सकता है ? दिनमे भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवों-का परिहार रात्रिमे कैसे कर सकता है । कण्ठूल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रका देखे बिना कैसे शोधन कर सकता है ? इन सबकी सम्यक् रूपसे परीक्षा किये बिना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा । किसी भाजनमे दिनमे लाकर रखे और रात्रिमे भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा । किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं ।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं । पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ



गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राया अपाय-परिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावनाशो व सखाशो' भावनाश्च सर्वा । वीर्यन्ति-रायजयोपशम-चारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षोत्पन्ना भाव्यतेऽसकृत्प्रवर्षते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? श्रावणीवं न हिनस्मि, नानृतं वयामि, नादत्तमावदे, न मियुनकर्मं करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येव व्रतं आत्मपरिणाम उत्पन्नः कश्चित्तथैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्ध । जीवादितत्त्व-परिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्यमुपयोगामावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ अवसति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा ततः किमुच्यते व्रतामां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्यु-पयोगो न तदा नानृतं वयामीत्येवमादय सन्ति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरं वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिसादिनिवृत्ति-परिणामव्रत आत्मन शरीरस्य बन्धं प्रत्येकत्वात् आकार सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रत । भाविव्रतत्वप्राप्तिज्ञानपरिणतिरिक्ता आगमद्रव्यव्रत । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालोच्चरं, शायकशरीरं व्रत । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रत । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थित चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तौ हिसादि-

प्रवचनं माता है । रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं । जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियां व्रतोंकी रक्षा करती हैं । तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं । वीर्यन्तिरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती है बारबार की जाती है वे भावना हैं ।

शङ्का—मे जीवन पर्यन्त हिसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैद्युन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसे ही बना रहना तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमे प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता । यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसे ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है । तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है । जिस समय 'मै हिसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मै झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते । तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं । किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है । आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है । भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है । व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर शायक शरीर व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है । उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है । 'मै हिसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

परिष्कारात्तत्रः अहिंसाव्रतं । प्राणिको विद्योक्तं प्राणानां, असद्विधाने, असत्साधाने, निष्पन्नकर्मविशेषे, भूच्छरीयां बाह्यैरिणितिरिति यावत् । तथा कोक्तं—'हिंसाभूस्ततेयाकदापरिग्रहेभ्यो विरतिर्गतमिति' [स०सू० ७।१] हिंसाशब्दः क्रियाविशेषा आत्मनः परिष्कारात्तेभ्यो आत्मनो व्यावृत्तिहिंसावृत्त्यपरिणतव्रतमिति सूत्रार्थः । हिंसा-शब्दोऽस्मिन्नात्मनस्त्वं नाम यद्रूपं जीवस्य व्रतसंज्ञितं तत्परिपात्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमात्कामिष्व । यस्मिन्-व्यावृत्ति तद्विनश्यति सति च न विनश्यति तत्तत्प्राप्तयति यथा दुर्गो राजानं । सत्यां रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचन-मात्कामिष्व भावनासु वा सतीषु हिंसाविव्यावृत्तत्वं भवति, न तास्वसतीषु इति युक्तमुक्त सूत्रकारेण ॥११७९॥

तेसि पंचण्डं पि य अह्याणमावज्जणं व संका वा ।

आदविवृत्ती य ह्वे रादीभत्तप्पसंगम्भि ॥११८०॥

'तेसि पंचण्डं पि य अह्याणमावज्जणं' तेषा पञ्चानां हिंसादीनां प्राप्तिः । 'संका वा' शङ्का वा मम हिंसादयः किं संवृत्ता न वेति । 'ह्वे' भवेत् । 'रादीभत्तप्पसंगम्भि' रात्रावाहाराप्रसंगे सति न केवलं हिंसा-विषु परिणतिः । 'विवृत्ती वा ह्विषण्' आत्मनश्च यते स्वस्यापि विपद्भवेत् स्थाणुसंपर्ककष्टकादिभिः ॥११८०॥

हिंसादि परिणामोका अभाव रूप अहिंसादि व्रत नोआगमभाव व्रत है । इसका मतलब है प्राणियों के प्राणिके घातमें, झूठ बोलनेमें, विना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें, मंथन रूप विशेष कर्ममें तथा ममत्व भावमें परिणतिका न होना । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा भी है—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरति व्रत है। हिंसा आदि क्रिया विशेष आत्माके परिणाम है । उनसे आत्माकी निवृत्ति अर्थात् हिंसादि रूप परिणतिका न होना व्रत है । यह सूत्रका अर्थ है । जीवकी हिंसा आदिसे व्यावृत्ति रूप जो अवस्था है उसका नाम व्रत है । रात्रि भोजन त्याग और प्रवचन माताओके द्वारा जीवके उस रूपका संरक्षण होता है । जिसके नहीं होने पर जो नष्ट हो जाता है और जिसके होने पर जो नष्ट नहीं होता वह उसका रक्षक होता है । जैसे दुर्ग राजाका रक्षक है । रात्रि भोजनसे निवृत्ति और प्रवचन माता तथा भावनाओके होने पर हिंसादिसे निवृत्ति होती है और उनके नहीं होने पर नहीं होती है । अतः गाथा सूत्रकारने ठीक ही कहा है कि ये व्रतोंकी रक्षक हैं । आशय यह है कि जीवन पर्यन्त हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणत आत्माका कथंचित् उसी रूपसे बने रहना ही यहाँ विवक्षित है । परिणामोंमें परिवर्तन होते हुए भी निवृत्ति रूप परिणाम तदवस्थ रहता है ॥११७९॥

गा०—रात्रिमें आहार करने पर उन हिंसा आदि पावों पापोंकी प्राप्ति होती है अथवा यह शंका रहती है कि हिंसा आदि पाप हुए तो नहीं ? इसके सिवाय साधुको स्वयं भी टूठ, सर्प, कष्टक आदिसे विपत्तिका सामना करना पड़ सकता है ॥११८०॥

१. इस गाथाके पश्चात् मूत्रित प्रतिमें नीचे लिखी गाथा है जिसपर आशाधरकी टीका है किन्तु यह किसी प्रतिमें नहीं है । पं० जिनदासजी ने भी न तो इसका अर्थ किया है और न इसपर पृथक् क्लमांक किया है—

अव्ययदारोप रमणवरस्स गुसीओ होन्ति तिष्णोच ।

चेद्धिकामस्स पुणो समिदीओ पच्च विदुओ ॥

आत्मके द्वारको रोकनेमें आसक भिक्षुके तीन गुणियां होती हैं । और भयन तथा बोलने आदिकी चेष्टा करने पर पांच समिदियां कही हैं ।

